भारतीय अर्थशास्त्र

MEGHRAJ SEN
II year art
Govt college Kota
(Raj)

भारतीय अर्थशास्त्र

[INDIAN ECONOMICS]

लेखक
डॉ. हरिश्चन्द्र शर्मा
एवं
डॉ. आर एन सिंह
कॉलिज ऑफ कॉमर्स
राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर

सप्तम पूर्णत संशोधित एवं परिमार्जित संस्करण

१९७२



साहित्य भवन : आगरा-३

प्रथम संस्करण : १९६४
द्वितीय संस्करण : १९६६
तृतीय संस्करण : १९६७
चतुर्थ संस्करण : १९६८
पंचम संस्करण : १९६९
षष्ठम संस्करण : १९७०
सप्तम संस्करण : १९७२

मूल्य : ~~सोलह रुपये~~

आर. एस. बंसल के लिए साहित्य भवन, हॉस्पिटल रोड, आगरा-३ द्वारा प्रकाशित
एवं श्री देवी प्रिंटर्स, आगरा द्वारा मुद्रित

सप्तम संस्करण की भूमिका

भारत की अर्थ-व्यवस्था सम्बन्धी इस पुस्तक का सप्तम सस्करण पाठको की सेवा में प्रस्तुत है। इस सस्करण की साज-सज्जा मुख्यत. आर्थिक सर्वेक्षण १९७०-७१, चतुर्थ पचवर्षीय योजना (१९६९-७४) तथा विविध मन्त्रालयो के १९७०-७१ के वार्षिक प्रतिवेदनो पर आधारित है। अत सभी तथ्य एव समक अधुनातन एव अधिकृत हैं। आशा है, यह सस्करण भी अध्यापक वन्धुओ एव विद्यार्थी-वृन्द को रुचिकर लगेगा।

—लेखकगण

Section C

विषय-सूची

स्वातन्त्र्योपरान्त भारतीय अर्थ व्यवस्था

आर्थिक विकास की भूमिका

(INTRODUCTION TO ECONOMIC DEVELOPMENT)

"An effective strategy for economic development requires an acceptable philosophy, capital to sustain it and man competent to carry it out"
—***Barbara Ward***

वर्तमान युग की सबसे महत्त्वपूर्ण समस्या 'आर्थिक विकास' की समस्या है। द्वितीय विश्व-युद्ध के पश्चात् उपनिवेशवाद समाप्त होने लगा है। उपनिवेशवाद की समाप्ति का उल्लेखनीय परिणाम यह हुआ है कि एशिया, अफरीका तथा लेटिन अमरीका के लगभग १ ५ अरब जन समुदाय को राजनीतिक स्वतन्त्रता प्राप्त हुई है। यह स्वतन्त्रता शताब्दियों से चले आ रहे संघर्ष का परिणाम है परन्तु राजनीतिक स्वतन्त्रता के अभाव से अर्थहीन है। सामान्य आवश्यकताओं की पूर्ति के अभाव में, भूख से पीड़ित, अर्द्धनग्न अशिक्षित तथा जीवन के प्रति निराश मानव के लिए राजनीतिक स्वतन्त्रता निरर्थक है। अत राजनीतिक स्वतन्त्रता को सार्थक बनाने हेतु यह आवश्यक है कि *निर्धनता को अधिकतम सीमा तक दूर किया जाय। यह कार्य आर्थिक विकास तथा सम्पत्ति* के उचित वितरण द्वारा किया जा सकता है। अत यह जानना आवश्यक है कि आर्थिक विकास का क्या अर्थ है।

१. आर्थिक विकास का अर्थ

कुछ अर्थशास्त्रियों ने 'आर्थिक विकास' (economic development), 'आर्थिक प्रगति' (economic growth) और 'दीर्घकालीन परिवर्तन' (secular change) की अलग-अलग परिभाषाएँ दी हैं। इन तीनों शब्दों में पर्याप्त अन्तर भी है। मायर एव बाल्डविन ने इन तीनों शब्द-समूहों का एक ही अर्थ में प्रयोग किया है तथा इनमें अन्तर प्रदर्शित करने को बाल की खाल निकालना कहा है। उनके अनुसार, 'आर्थिक विकास एक प्रक्रिया है जिसके द्वारा एक अर्थ व्यवस्था की वास्तविक राष्ट्रीय आय में दीर्घकाल में वृद्धि होती है।" इस परिभाषा में तीन शब्द महत्त्वपूर्ण हैं— प्रक्रिया', 'वास्तविक राष्ट्रीय आय' तथा 'दीर्घ काल'।

(१) प्रक्रिया (Process)—इसका अर्थ अर्थ व्यवस्था के विभिन्न अवयवों में परिवर्तन से है। ये परिवर्तन कई तत्त्वों से प्रभावित होते हैं। इन परिवर्तनों का सम्बन्ध साधनों की पूर्ति तथा *उनकी मांग में परिवर्तन से है। साधनों की पूर्ति में परिवर्तन* के अन्तर्गत जनसंख्या में वृद्धि, पूंजी संग्रह (capital accumulation), अतिरिक्त साधनों की खोज, उत्पादन की नयी विधियों का प्रयोग तथा अन्य संस्थागत परिवर्तन (institutional change) सम्मिलित हैं।

---

1 'Economic Development is a process whereby an economy's real national income increases over a long period of time.'
—*Mier and Baldwin*

पूर्ति पक्ष के अवयवो मे परिवर्तन के साथ ही साथ मांग के स्वरूप मे भी परिवर्तन होता है। वस्तुत मांग व पूर्ति के स्वरूप मे होने वाले परिवर्तन एक-दूसरे पर निर्भर करते हैं। ये परिवर्तन आर्थिक विकास के कारण व परिणाम दोनो हैं। विकास के फलस्वरूप मांग के स्वरूप मे सामान्यत निम्नलिखित परिवर्तन होते हैं—आय-स्तर तथा उसके वितरण के स्वरूप मे परिवर्तन, उपभोक्ताओ के अभिमान (consumers' preferences) मे परिवर्तन तथा अन्य सस्थागत एव सगठनात्मक परिवर्तन। इस प्रकार आर्थिक विकास के फलस्वरूप मांग व पूर्ति के स्वरूप मे कई प्रकार के परिवर्तन होते हैं। इन परिवर्तनो की सीमा आर्थिक विकास की गति तथा समय पर निर्भर करती है।

(२) **वास्तविक राष्ट्रीय आय** (Real National Income)—इसका अर्थ देश मे उत्पादित अन्तिम वस्तुओ एव सेवाओ के कुल योग (Total output of final goods and services) के समायोजित मूल्य से है। सर्वप्रथम समस्त वस्तुओं तथा सेवाओ का मूल्याकन करते हैं, फिर इस मूल्य मे किसी आधार वर्ष के सन्दर्भ मे, मूल्य-स्तर मे हुए परिवर्तन के लिए आवश्यक समायोजन करते हैं। आर्थिक विकास नापने के लिए 'कुल राष्ट्रीय उत्पादन' (Gross National Product) का प्रयोग न करके 'शुद्ध राष्ट्रीय उत्पादन' (Net National Product) का प्रयोग करते हैं क्योकि कुल राष्ट्रीय उत्पादन के अन्तर्गत पूंजी प्रतिस्थापन (capital replacement) पर ध्यान नही दिया जाता। इस प्रकार जब हम यह कहते हैं कि किसी देश का आर्थिक विकास उस समय होता है जबकि उस देश की वास्तविक राष्ट्रीय आय मे दीर्घकाल मे वृद्धि होती है, तो हम 'वास्तविक राष्ट्रीय आय' शब्द समूह का प्रयोग 'मूल्य स्तर' मे हुए परिवर्तन के लिए समायोजित शुद्ध राष्ट्रीय उत्पादन (Net National Product adjusted for price change) के लिए करते हैं।

(३) **दीर्घकाल** (Long Period of Time)—आर्थिक विकास के लिए यह आवश्यक है कि शुद्ध राष्ट्रीय उत्पादन मे उत्तरोत्तर वृद्धि हो। एक वर्ष मे अनुकूल परिस्थितियो के कारण हुई वृद्धि को हम आर्थिक विकास का सूचक नही मान सकते अथवा आर्थिक विकास नापने के लिए सामान्यत दस, बीस, या पच्चीस वर्ष की अवधि मे हुए परिवर्तनो पर विचार किया जाता है। इस प्रकार आर्थिक विकास का सम्बन्ध अल्पकालीन परिवर्तनो से नही अपितु दीर्घकालीन परिवर्तनो से है।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि आर्थिक विकास का अर्थ शुद्ध राष्ट्रीय आय मे दीर्घकालीन वृद्धि है। यह सम्भव है कि किसी देश की राष्ट्रीय आय मे वृद्धि हो परन्तु जनता का जीवन स्तर ऊँचा न उठे। आर्थिक विकास का प्रभाव जनता के जीवन-स्तर पर पडना चाहिए। अत आर्थिक विकास का अर्थ केवल शुद्ध राष्ट्रीय आय मे वृद्धि ही नही है, बल्कि इसके साथ ही साथ जनता के जीवन-स्तर मे भी सुधार होना चाहिए। इसके लिए यह आवश्यक है कि **'प्रति व्यक्ति शुद्ध राष्ट्रीय आय'** मे वृद्धि हो। हो सकता है, शुद्ध राष्ट्रीय आय मे वृद्धि हो परन्तु 'जनसख्या-वृद्धि-दर' ऊँची होने के कारण प्रति व्यक्ति आय मे वृद्धि न हो और प्रति व्यक्ति आय कम हो जाय। अत जनता के जीवन स्तर मे सुधार को विकास की शर्त मानते हुए हम आर्थिक विकास को इस प्रकार परिभाषित कर सकते हैं. **आर्थिक विकास वह प्रक्रिया है जिसके फलस्वरूप किसी अर्थव्यवस्था की प्रति व्यक्ति शुद्ध राष्ट्रीय आय मे दीर्घकाल में वृद्धि होती है।**

अधिकाश अर्थशास्त्री आर्थिक विकास की उपर्युक्त परिभाषा को अधूरी मानते हैं। वस्तुत उपर्युक्त परिभाषा आर्थिक प्रगति को स्पष्ट करती है परन्तु आर्थिक विकास (economic development) आर्थिक प्रगति (economic growth) से अधिक विस्तृत है। सामान्यत आर्थिक विकास का अर्थ आर्थिक प्रगति + परिवर्तन से लिया जाता है। प्रति व्यक्ति राष्ट्रीय आय की दीर्घकालीन वृद्धि ही आर्थिक विकास है। आर्थिक विकास का तात्पर्य राष्ट्रीय आय मे वृद्धि, अर्थव्यवस्था के ढाँचे मे परिवर्तन, जनता के उच्चतर जीवन स्तर, उसकी मान्यताओ एव दृष्टिकोणो मे परिवर्तन, देश की उत्पादन क्षमता मे वृद्धि तथा मानव के सर्वांगीण विकास से है। मानव की भौतिक उन्नति

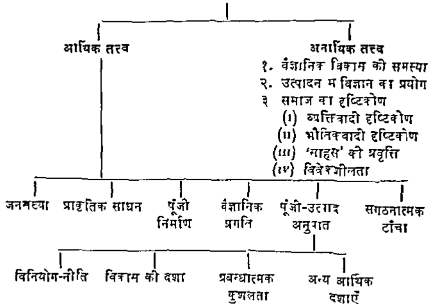
के साथ ही साथ, आर्थिक विकास परोक्ष रूप से मानव के अधिकारों तथा उसके गुणों के विकास की ओर इंगित करता है। अतः विस्तृत अर्थ में मानव का सर्वांगीण विकास ही आर्थिक विकास है। संयुक्त राष्ट्र संघ की एक रिपोर्ट में आर्थिक विकास की जो परिभाषा दी गयी है वह सर्वथा उपयुक्त है "*विकास मानव की केवल भौतिक आवश्यकताओं से ही नहीं बल्कि उसके जीवन की सामाजिक दशाओं की समुन्नति से भी सम्बन्धित होता है। विकास केवल आर्थिक प्रगति ही नहीं है बल्कि उसमें मानव के सामाजिक, सांस्कृतिक, संस्थागत तथा आर्थिक परिवर्तन भी सम्मिलित हैं।*"[1]

प्रो० बाई ने भी आर्थिक विकास व प्रगति में निम्न प्रकार भेद किया है "The growth *of an economy is generally* characterised by growth of net real income per capita The development of an economy is its growth in conditions of changing structure with relatively higher per capita productivity"[2]

प्रो० किंडल बर्जर ने भी आर्थिक-विकास व आर्थिक प्रगति में निम्नलिखित प्रकार से भेद किया है 'Economic growth means more output and economic development implies both more output and changes in the technical and constitutional arrangements by which it is produced"[3]

२. आर्थिक विकास के निर्धारक तत्त्व

आर्थिक विकास देश की उत्पादन शक्ति के विकास का प्रतीक है कि किसी देश के उत्पादन में वृद्धि उत्पादन के साधनों—प्राकृतिक साधन, श्रम, पूंजी आदि—की वृद्धि अथवा उत्पादन प्रणाली में सुधार के फलस्वरूप हो सकती है। अतः यहां पर यह आवश्यक है कि हम आर्थिक विकास के निर्धारक तत्त्वों का संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत करें। आर्थिक विकास के निर्धारक तत्त्वों को दो श्रेणियों में विभाजित किया जा सकता है—(अ) विकास तत्त्व, तथा (ब) अनार्थिक या सामाजिक तत्त्व।



---

1 'Development concerns not only man's material needs but also the improvement of the social conditions of his life Development is, therefore not only economic growth, but growth plus change- social, cultural and institutional as well as economic"
—U N O, *The U N Development Decade*

2 Maurice Bye's article in H S Ellis and H C Wallich (ed) *Economic Development for Latin America*, p 10

3 C P. Kindleberger, *Economic Development*, p 3

(अ) आर्थिक तत्व

आर्थिक विकास में आर्थिक तत्वों का महत्त्वपूर्ण स्थान है। ये तत्व उत्पादन के साधनों की पूर्ति या उत्पादन के साधनों की प्रयोग विधि को प्रभावित करते हैं। ये आर्थिक तत्व निम्नलिखित हैं

(१) जनसंख्या—मानव आर्थिक क्रियाओं का साधन व साध्य दोनों है। जनसंख्या की वृद्धि ने विश्व के आर्थिक विकास को प्रभावित किया है। जनसंख्या में वृद्धि के कारण उत्पादन के एक साधन (श्रम) की पूर्ति में वृद्धि होती है। काफी समय तक जनसंख्या में वृद्धि के कारण कुल उत्पादन में वृद्धि होती रही है। मानव श्रम मानव जाति की सर्वश्रेष्ठ उत्पादक सम्पत्ति है। जनसंख्या में वृद्धि से प्रति व्यक्ति उत्पादन प्रायः कम होता जाता है। एक सीमित भौगोलिक क्षेत्र में यदि जनसंख्या बढ़ती जाती है तो इस वृद्धि का दबाव प्राकृतिक साधनों पर प्रतिकूल पड़ेगा। अधिक जनसंख्या होने पर देश की सीमित पूंजी उपकरण आदि बँट जाते हैं, अतः उनका अनुकूलतम प्रयोग नहीं हो पाता। पश्चिमी देशों में जनसंख्या वृद्धि के साथ ही साथ आर्थिक विकास तेजी से हुआ क्योंकि जनसंख्या वृद्धि के कारण वस्तुओं की माँग में वृद्धि हुई जिसके फलस्वरूप उत्पादन बढ़ा। परन्तु अर्द्ध-विकसित देशों में जनसंख्या में वृद्धि आर्थिक विकास की गति को कम कर देती है क्योंकि इन देशों में पूंजी का अभाव है तथा उत्पादन प्रणाली में भी पश्चिम की भाँति क्रान्तिकारी परिवर्तन लाने में समय लगने की सम्भावना है।

(२) प्राकृतिक साधन—श्रम की पूर्ति की ही भाँति, प्राकृतिक साधनों का आर्थिक विकास के लिए अत्यधिक महत्त्व है। किसी भी अर्थ-व्यवस्था का उत्पादन उसकी मिट्टी, जंगल, खनिज पदार्थ, पानी आदि की स्थिति, गुण एवं मात्रा पर निर्भर करता है। नये प्राकृतिक साधनों की खोज द्वारा उत्पादन में वृद्धि की जा सकती है। उत्पादन विधि में सुधार करके वैज्ञानिक तथा प्राविधिक प्रगति द्वारा नये साधनों का पता लगाया जा सकता है तथा कृत्रिम साधनों का भी प्राकृतिक साधनों की भाँति उपयोग किया जा सकता है। प्राकृतिक साधनों में सम्पन्न राष्ट्र के आर्थिक विकास की सम्भावनाएँ प्रायः अधिक होती हैं।

(३) पूंजी निर्माण—पूंजी आधुनिक आर्थिक विकास का मूलाधार है। औद्योगीकरण, कृषि के आधुनिकीकरण तथा परिवहन आदि के साधनों के विकास के लिए अधिक पूंजी की आवश्यकता पड़ती है। पूंजी के अधिकाधिक प्रयोग द्वारा उत्पादन की नवीनतम विधियों का प्रयोग सम्भव होता है, नये नये उपकरण प्राप्त किए जाते हैं तथा अधिक से अधिक जनसंख्या को उत्पादन में लगाना सम्भव होता है। किसी देश का तेजी से आर्थिक विकास करने के लिए पूंजी निर्माण की दर का ऊँचा होना आवश्यक है। सामान्यतः आर्थिक विकास को गति प्रदान करने के लिए कुल राष्ट्रीय आय के २०% भाग का उपयोग पूंजी के रूप में किया जाना चाहिए। पूंजी निर्माण की दर में वृद्धि आर्थिक विकास में सहायक होती है। पूंजी निर्माण के लिए (i) **'बचत'** की आवश्यकता होती है अर्थात् सम्पूर्ण आय के कुछ भाग को बचाकर पूंजी निर्माण किया जाता है। (ii) केवल **'बचत'** से ही पूंजी निर्माण का काम पूरा नहीं होता, देश में ऐसी साख एवं वित्तीय संस्थाएँ होनी चाहिए जो बचत का संग्रह एवं वितरण कर सकें। (iii) विनियोग **बचत** को पूंजीगत वस्तुओं का उत्पादन करने के लिए विनियोग किया जाना चाहिए। प्राविधिक विधियों में परिवर्तन, उत्पादन-मान में परिवर्तन आदि पूंजी निर्माण *द्वारा ही सम्भव हो पाते हैं।*

(४) वैज्ञानिक तथा प्राविधिक प्रगति—क्या पूंजी-निर्माण वैज्ञानिक एवं प्राविधिक प्रगति के बिना सम्भव है? एक देश के परिवहन के साधनों शक्ति के साधनों आदि के विकास के लिए पूंजी का अधिकाधिक प्रयोग कर सकता है तथा इस प्रकार की वर्तमान सुविधाओं में वृद्धि कर सकता है। इस प्रक्रिया को पूंजी का विस्तार (widening of capital) कहते हैं। वैज्ञानिक एवं प्राविधिक प्रगति द्वारा उत्पादन की नयी विधियों का ज्ञान होता है। वैज्ञानिक प्रगति के साथ ही

साथ पूँजी की अधिकाधिक आवश्यकता होती है और पूँजी प्रधान (capital intensive) उत्पादन विधियों का प्रयोग बढ़ता जाता है। इसे 'पूँजी की सघनता' (deepening of capital) कहते हैं। वस्तुतः पूँजी-निर्माण तथा 'प्राविधिक प्रगति' साथ-साथ होते हैं। वैज्ञानिक एवं प्राविधिक प्रगति ने मानव समाज के विकास में महत्त्वपूर्ण योग दिया है। यदि केवल उत्पादक साधनों की वृद्धि पर ही आर्थिक विकास निर्भर रहता तो गत तीन सौ वर्षों में जो आश्चर्यजनक आर्थिक प्रगति हुई है, वह इस पैमाने पर सम्भव न हो पाती। वस्तुतः इस आर्थिक विकास में उत्पादन के साधनों के साथ-साथ संगठनात्मक परिवर्तनों तथा उत्पादन विधियों में तकनीकी परिवर्तनों का महत्त्वपूर्ण योग रहा है। वैज्ञानिक एवं प्राविधिक प्रगति द्वारा उत्पादन विधियों में मौलिक परिवर्तन होते हैं तथा नयी-नयी वस्तुओं का उत्पादन किया जाता है। प्रो० शुम्पीटर ने आर्थिक विकास के लिए साहसियों द्वारा प्रयुक्त नवप्रवर्तनों (innovations) को आवश्यक माना है। किसी देश का आर्थिक विकास अधिकांशतः इस बात पर निर्भर करता है कि उस देश में किस प्रकार के साहसी हैं तथा वे उच्चतम तथा आधुनिकतम उत्पादन विधियों का किस सीमा तक प्रयोग करते हैं।

(५) संगठन, विशिष्टीकरण तथा उत्पादन-मान—उत्पादक साधनों की प्रचुरता मात्र से ही उत्पादन में अधिक वृद्धि नहीं की जा सकती। साधनों की प्रचुरता के साथ ही साथ यह भी आवश्यक है कि उत्पादन-विधि तथा संगठन में, आवश्यक परिवर्तन किये जाएँ। आर्थिक विकास में उत्पादन साधनों की प्रयोग विधि का महत्त्वपूर्ण स्थान है। श्रम विभाजन तथा विशिष्टीकरण द्वारा उत्पादकता में वृद्धि होती है। आदम स्मिथ ने श्रम-विभाजन को उत्पादकता-वृद्धि का प्रमुख कारण माना है।[1] विशिष्टीकरण द्वारा बड़े पैमाने पर उत्पादन सम्भव होता है जिसमें उत्पादन के साधनों का समुचित उपयोग होता है और आर्थिक विकास को गति मिलती है।

(६) पूँजी उत्पाद अनुपात (Capital Output Ratio)—पूँजी-उत्पाद अनुपात भी आर्थिक विकास का महत्त्वपूर्ण तत्त्व है। यह अनुपात पूँजी की उत्पादकता प्रकट करता है। यह अनुपात प्रकट करता है कि उत्पादन की एक इकाई पैदा करने के लिए पूँजी की कितनी इकाइयों की आवश्यकता होगी। किसी भी देश का आर्थिक विकास केवल पूँजी-निर्माण-दर पर ही निर्भर नहीं करता बल्कि 'पूँजी-उत्पाद अनुपात' पर भी निर्भर करता है। 'पूँजी-उत्पाद अनुपात' यह निश्चित करता है कि उपलब्ध पूँजी का विनियोजन करने में उत्पादन में किस गति या दर से वृद्धि होगी। जैसे, यदि पूँजी उत्पाद अनुपात एक योजना (project) के लिए २ : १ तथा दूसरी योजना के लिए ३ : १ है तो इसका अर्थ यह होगा कि यदि प्रथम योजना में दो रुपये पूँजी लगायी जाय तो उत्पादन एक रुपये के बराबर होगा अर्थात् प्रथम योजना में अपेक्षाकृत कम पूँजी लगाने पर भी द्वितीय योजना की अपेक्षा अधिक उत्पादन होगा (तुलनात्मक रूप से)। यदि किसी देश में ऐसी योजनाओं में विनियोग किया जाता है जिसमें पूँजी-उत्पाद अनुपात कम है तो उस देश की आर्थिक विकास दर अधिक होगी।

पूँजी की उत्पादकता कई तत्त्वों पर निर्भर है जैसे प्राविधिक विकास की अवस्था, विनियोग की प्रकृति, प्रबन्ध कुशलता तथा अन्य सुविधाएँ। अतः पूँजी-उत्पाद अनुपात ज्ञात करना बहुत कठिन है। अर्थशास्त्रियों की यह धारणा है कि अल्प-विकसित देशों में पूँजी कम उत्पादक होती है अर्थात् पूँजी-उत्पाद-अनुपात अधिक होता है। इसका कारण प्रबन्ध-कुशलता की कमी, विज्ञान व तकनीक की कम प्रगति, साधनों का दुरुपयोग आदि है। प्रो० कुरिहारा के अनुसार, अर्द्ध-विकसित देशों में पूँजी-उत्पाद अनुपात ५ : १ है। सिंगर (Singer) के अनुसार, यह अनुपात कृषि क्षेत्र में ४ : १ तथा अन्य क्षेत्रों में ६ : १ है।

[1] "The greatest improvement in the productive powers of labour and the greater part of the skill, dexterity and judgment with which it is anywhere directed or applied seem to have been the effects of the division of labour." —*Adam Smith*

आर्थिक विकास के उपर्युक्त सहायक तत्त्व एक दूसरे से पूर्णतया सम्बन्धित हैं। इन तत्त्वों में से कौन सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है, यह कहना अत्यन्त कठिन है। उनका व्यक्तिगत महत्त्व देश व काल पर निर्भर है परन्तु यह स्मरणीय है कि आर्थिक विकास की आधारशिला रखने तथा उसे गति प्रदान करने में इन सभी साधनों का महत्त्वपूर्ण स्थान है।

(ब) सामाजिक या अनार्थिक तत्त्व

आर्थिक विकास के लिए कुछ अनार्थिक तत्त्वों की भी आवश्यकता होती है। आर्थिक विकास एक जटिल प्रक्रिया है तथा उस पर केवल आर्थिक घटकों का ही नहीं बल्कि अनार्थिक घटकों—राजनीतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक आदि—का भी प्रभाव पड़ता है। रैगनर नर्कसे (Ragnar Nurkse) के अनुसार, "Economic development has much to do with human endowments, *social attitudes political conditions* and historical accidents Capital is a necessary but not a sufficient condition of progress" अनार्थिक तत्त्व आर्थिक विकास के लिए आवश्यक पृष्ठभूमि तथा उपयुक्त सामाजिक वातावरण तैयार करते हैं। अतः आर्थिक विकास में सामाजिक एवं मनोवैज्ञानिक तत्त्वों का भी अत्यधिक महत्त्वपूर्ण स्थान है। आर्थिक विकास को गतिमान बनाये रखने के लिए प्रो० *रास्टव ने देश की राजनीतिक एवं सामाजिक* दशाओं में अपेक्षित परिवर्तन, सामाजिक संस्थाओं में उपयुक्त सुधार तथा जनता के दृष्टिकोण में आवश्यक परिवर्तनों को आवश्यक माना है। आर्थिक विकास की गति विभिन्न प्रकार के साधनों या तत्त्वों पर अवलम्बित है जो किसी अर्थ व्यवस्था के मनोवैज्ञानिक तथा सामाजिक वातावरण से सम्बन्धित हैं। इस वातावरण में एक तत्त्व समाज की उन्नति करने की इच्छा, विकास के प्रति तत्परता तथा नवीन एवं अधिक कार्यक्षम उत्पादन विधियों का प्रयोग है। परम्परावादी, रूढ़िग्रस्त तथा अभौतिकतावादी समाज आर्थिक विकास में बाधा उपस्थित करता है तथा वैज्ञानिक एवं प्रगतिशील दृष्टिकोण वाला भौतिकतावादी समाज आर्थिक विकास को गति प्रदान करता है। यदि समाज आर्कराइट जैसे वैज्ञानिक तथा हेनरी फोर्ड जैसे साहसोद्यमी को पैदा करने तथा प्रोत्साहन देने में समर्थ है तो निश्चय ही उस समाज का आर्थिक विकास तेजी से होगा। आर्थिक विकास एक मशीनी प्रक्रिया नहीं है बल्कि मानवीय प्रयत्न (human enterprise) है। इस प्रयत्न का फल अन्तिम रूप में मानव के गुणों, उसकी कुशलता तथा दृष्टिकोण पर निर्भर है।"[1]

संयुक्त राष्ट्र संघ की एक रिपोर्ट के *अनुसार*, '*Economic progress will not* occur unless the atmosphere is favourable to it The people of a country must desire progress and their social, economic, legal and political constituents must be favourable to it'[2]

किसी भी देश के आर्थिक विकास में मानवीय तत्त्व का महत्त्व सर्वाधिक होता है। अधिकाधिक प्राकृतिक साधन होने पर भी मानवीय तत्त्व के अशक्त अथवा निर्बल होने पर देश का विकास धीमी गति से होता है किन्तु यदि मानव तत्त्व सबल, साहसी तथा तेजस्वी होता है तो वह परिश्रम तथा उत्साह के बल पर अपने देश को उन्नति के शिखर पर पहुँचा देता है। जर्मनी का आर्थिक जादू (economic miracle) तथा जापान का अनुकरणीय आर्थिक विकास वहाँ के मानवीय तत्त्वों के सक्षम होने के उदाहरण हैं। जापान में लोहा तथा कपास न होने पर भी वह संसार के इस्पात उत्पन्न करने वाले देशों में तृतीय तथा वस्त्र का निर्यात करने वाले देशों में प्रथम स्थान रखता है।

---

1 '*Economic development is not a mechanical* process it is not a simple adding up of assorted factors Ultimately it is a human enterprise And, like all human enterprises, its outcome will depend finally on the skill quality and attitudes of the men who undertake it"
— Gill, Richard T *Economic Development*, p 19

2 U N, *Measures for the Economic Development of Under developed Countries*, p 83

जर्मनी के विलक्षण नागरिकों ने १५ वर्ष मे ही युद्ध-जर्जरित देश को ससार के अत्यन्त विकसित देशों की श्रेणी मे ला बिठाया है।

आर्थिक विकास के निर्धारक घटको या तत्वो के उपर्युक्त विवरण मे स्पष्ट है कि आर्थिक विकास एक जटिल प्रक्रिया है जो आर्थिक-अनार्थिक विभिन्न तत्वों मे प्रभावित होती है। शेपर्ड क्लो (Clough Shepard B) का यह कथन सर्वथा उपयुक्त है "Economic growth takes place when there is convergence of several strategic factors in the right proportions and with a propitious timing"

३. आर्थिक विकास की अवस्थाएँ
(STAGES OF ECONOMIC GROWTH)

विभिन्न अर्थशास्त्रियों ने आर्थिक विकास के ऐतिहासिक क्रम को विभिन्न अवस्थाओ मे विभाजित करने का प्रयत्न किया है। उनके विचार वस्तुत सैद्धान्तिक न होकर, वर्णनात्मक हैं। उनके अनुसार, प्रत्येक अर्थ व्यवस्था आर्थिक विकास की विभिन्न अवस्थाओ से एक निश्चित क्रम मे गुजरती है। कुछ अर्थशास्त्रियों ने यह विचार प्रकट किया है कि प्रत्येक अर्थ-व्यवस्था विकास की तीन अवस्थाओ से गुजरती है—(क) वस्तु-परिवर्तन अर्थ-व्यवस्था (barter economy), (ख) मौद्रिक अर्थ व्यवस्था (money economy) तथा (ग) साख अर्थ-व्यवस्था (credit economy)। कुछ अर्थशास्त्रियों ने जनसख्या के पेशेवार विभाजन के आधार पर आर्थिक विकास की अवस्थाओ का वर्णन किया है तथा यह बताया है कि आर्थिक विकास के साथ ही साथ कृषि पर निर्भर रहने वाली जनसंख्या का प्रतिशत भाग घटता जाता है तथा औद्योगिक जनसंख्या का प्रतिशत क्रमश. बढता जाता है। उनके अनुसार, कृषि आर्थिक पिछड़ेपन तथा उद्योग आर्थिक विकास का सूचक है। प्रसिद्ध अर्थशास्त्री कॉलिन क्लार्क ने आर्थिक विकास की तीन अवस्थाओ का वर्णन किया है—(अ) अल्प विकसित समाज मे कृषि सबसे महत्त्वपूर्ण व्यवसाय तथा आय का साधन है; (ब) ज्यो-ज्यो समाज का आर्थिक विकास होता है, कृषि की तुलना मे निर्माणकारी उद्योगो का महत्त्व बढता जाता है, तथा (स) अर्थ व्यवस्था का अधिक विकास होने पर टर्शियरी (tertairy) या सेवा सम्बन्धी उद्योगो—परिवहन आदि—का अधिक विकास होता है।[1]

प्रसिद्ध अमरीकी अर्थशास्त्री प्रो० रास्टव (W W Rostow) ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक *'The Stages of Economic Growth'* मे आर्थिक विकास की पाँच अवस्थाओ का वर्णन किया है। उनका विवेचन अधिक युक्तिसगत एव मान्य प्रतीत होता है। उनके अनुसार, आर्थिक विकास की व्यवस्थाएँ निम्नलिखित हैं

(१) परम्परावादी (Traditional) अवस्था,
(२) पूर्व-गतिशील (Pre-conditions to Take-off) अवस्था,
(३) गतिशील (Take off) अवस्था,
(४) परिपक्वता की दशा मे (Drive to Maturity), तथा
(५) अधिकाधिक उपभोग की अवस्था (Stage of High Mass Consumption)।

(१) परम्परावादी अवस्था—इसके अन्तर्गत समाज के अधिकाश साधन कृषि मे विनियोजित होते हैं। कृषि की रीतियाँ भी पुरातन एव रूढिवादी होती हैं क्योंकि समाज मे अन्धविश्वास एव जडता का प्रभुत्व होता है। प्राय सभी आर्थिक एव सामाजिक कार्य पुरानी अथवा चालू पद्धतियो के अनुसार सचालित होते है जिसके कारण उत्पादन तथा आय बहुत कम होती है। वस्तुत परम्परावादी समाज मे विज्ञान तथा प्रौद्योगिकी (technology) की प्रगति का विशेष प्रभाव दृष्टिगोचर नही होता। इस प्रकार के समाज मे राजनीतिक सत्ता भूमिधारियो के हाथ मे

[1] Sir Colin Clark, *Conditions of Economic Progress*

केन्द्रित होती है क्योंकि उद्योग अत्यन्त अविकसित अवस्था मे होते है और भूमि के मालिक भूमि की उपज के बल पर आर्थिक शक्ति केन्द्रित कर लेते हैं। आर्थिक शक्ति के कारण ही भूमिधारी वर्ग समाज के अन्य वर्गों पर शासन करने लगता है ।

परम्परावादी समाज म व्यवसाय तथा उद्योग प्राय पिछडी हुई अवस्था मे होते हैं। कही-कही कृषि की नवीन पद्धतियो अथवा व्यवसाय एव उद्योगो म नये आविष्कारो के प्रयोग होते दिखायी पडते है परन्तु मौलिक रूप मे सम्पूर्ण आर्थिक ढाँचा दुर्बल तथा अविकसित रहता है।

(२) पूर्व-गतिशील अवस्था—यह वास्तव मे गतिशील अवस्था की भूमिका मात्र है। परम्परावादी समाज क्रमश प्रगति की ओर अग्रसर होने लगता है, उसमे उद्योग, आवागमन तथा *व्यावसायिक साधनों का विकास आरम्भ हो जाता है, जनता के 'शत पुत्रवती भव'* (सौ पुत्रो वाली हो) के विचार मे क्रान्तिकारी परिवर्तन होने लगते है और जनसख्या निरोधक उपायो का सहारा लिया जाता है जिसमे जन्म दर मे कमी होन लगती है।

कृषि उद्योग तथा व्यवसाय म नवीन एव प्रगतिशील वैज्ञानिक पद्धतियो के प्रयोग होन आरम्भ हो जाते हैं तथा भूमिधारियो का महत्त्व कुछ कम होन लगता है। प्रो० रास्टव के अनुसार, परम्परावादी समाज मे राष्ट्रीय आय की केवल ५ प्रतिशत पूँजी विनियोजित होती है जबकि पूर्व-गतिशील अवस्था मे विनियोजन की मात्रा १० प्रतिशत तक पहुँच जाती है और यह दर जनसख्या की वृद्धि दर से इस सीमा तक अधिक होती है कि प्रति व्यक्ति उत्पादन पहले से बढ जाता है। सडको, रेलो तथा बिजली की अधिक सुविधाएँ प्राप्त होने के कारण लोग गामो से नगरो मे जाकर बसने लगते हैं।

कृषि—प्रो० रास्टव की धारणा के अनुसार, पूर्व गतिशील अवस्था के अन्तर्गत कृषि-उत्पादन मे तीन परिवर्तन स्पष्टत दृष्टिगोचर होते हैं

(क) पर्याप्त भोजन—देश मे खाद्य सामग्री का उत्पादन आवश्यकतानुसार होने लगता है।

(ख) उद्योगो को सहायता—खाद्य सामिग्री के अतिरिक्त औद्योगिक कच्चे माल यथा—रुई जूट, तिलहन आदि—का उत्पादन बढ जाता है। फलस्वरूप, कृषि एक लाभदायक व्यवसाय बन जाता है।

(ग) पूंजी—इतना ही नही, कृषि की बचत आधुनिक उद्योगो म विनियोजित होनी आरम्भ हो जाती है। सक्षेप मे, कृषि अधिक खाद्यान्न, विस्तृत बाजार तथा अधिक पूजी की व्यवस्था करने मे सफल होती है।

अधिक सहकारी योगदान—परम्परावादी समाज से गतिशील अवस्था तक पहुँचने के सक्रमण काल म सरकार को अत्यधिक सामाजिक पूंजी (social capital) लगानी पडती है। सामाजिक पूँजी से तात्पर्य ऐसी पूँजी से है जो परिवहन, सिचाई योजना अथवा गन्दी बस्तियो की सफाई आदि के लिए प्रयुक्त की जाती है। इस प्रकार की पूंजी की निम्न तीन विशपताएँ होती हैं

(१) इनसे लाभ प्राप्त करने मे बहुत समय लगता है।

(२) इनमे सामूहिक रूप म अधिक पूँजी लगानी पडती है। जैसे, एक सडक अथवा रेलवे लाइन जब तक दो महत्त्वपूर्ण केन्द्रो को मिला न दे, उसका कोई महत्त्व नही है।

(३) इस प्रकार के विनियोजन से प्राप्त होन वाला लाभ परोक्ष तथा सम्पूर्ण समाज को प्राप्त होता है, किसी वर्ग विशप को नही।

उपर्युक्त तीनो विशेषताओ के कारण सामाजिक पूंजी सरकार को ही विनियोजित करनी पडती है क्योंकि वर्तमान सरकारें अधिकाशत प्रजातन्त्रवादी हैं और वे 'कल्याणकारी राज्य' होने का दावा करती है। भारत सरकार द्वारा सामुदायिक योजनाओ के अन्तगत रेल, सडक, नहरें,

चिकित्सा एव स्वास्थ्य तथा अन्य सामाजिक सुविधाओं की व्यवस्था इस प्रकार की पूंजी विनियोजन के प्रत्यक्ष उदाहरण हैं।

(३) गतिशील अवस्था (The Take-off)—यह आर्थिक विकास का तीसरा चरण है। प्रो० रास्टव के शब्दों म, "यह एक मध्यान्तर काल है, जिसम विनियोग की दर इस प्रकार बढती है, जिसम प्रति व्यक्ति वास्तविक उत्पादन मे वृद्धि होती है और इस आरम्भिक वृद्धि के साथ ही साथ उत्पादन विधियों म क्रान्तिकारी परिवर्तन होते हैं।" इसका तात्पर्य यह है कि अर्थ-व्यवस्था एक ऐसी अवस्था मे पहुँच जाती है जबकि विकास स्वय-उद्भुत (automatic) होने लगता है, उसके लिए विशेष प्रयत्नों की आवश्यकता नही पडती। प्राविधिक एव प्रौद्योगिक (technological) प्रगति का प्रभाव कृषि तथा औद्योगिक क्षेत्रो मे स्पष्ट दृष्टिगोचर होने लगता है और उत्पादन की मात्रा तथा किस्म मे आशातीत सुधार दिखायी पडता है।

गतिशील अवस्था मे प्राय तीन महत्त्वपूर्ण तथ्य प्रकट होते हैं

(क) देश मे उत्पादन विनियोजन की दर राष्ट्रीय आय के दस प्रतिशत अथवा उससे अधिक हो जाती है।

(ख) निर्माणकारी उद्योगो का तीव्र गति से विकास होने लगना है।

(ग) एक ऐसा राजनीतिक, सामाजिक तथा सस्थागत ढाँचा स्थापित हो जाता है जो आधुनिक क्षेत्र मे विकास की भावना को प्रोत्साहित करता है तथा विकास को गति प्रदान करता है।[1]

गतिशील अवस्था के अन्तर्गत देश मे कृषि एव औद्योगिक व्यवसायो की यथेष्ट प्रगति हो जाती है और उनमे समुचित लाभ प्राप्त होन लगन हैं। सक्षेप मे, इस प्रकार की परिस्थितियाँ निर्मित हो जाती हैं कि देश का अर्थतन्त्र आधार रूप मे स्वस्थ एव सबल दिखाई पडने लगता है और भविष्य की प्रगति कुण्ठित होन का कोई भय नही रहता।

(४) परिपक्वता की ओर (Drive to Maturity)—गतिशील अवस्था तक पहुँच जाने पर देश के अर्थतन्त्र मे एक विचित्र हलचल-सी प्रकट होन लगती है और प्रौद्योगिक एव वैज्ञानिक साधनो का उपयोग इस सीमा तक होन लगता है कि देश मे किसी भी वस्तु का उत्पादन आवश्यक मात्रा मे करना सम्भव हो जाता है। परिपक्वता की दशा मे पूंजी विनियोजन की मात्रा राष्ट्रीय आय की २० प्रतिशत तक हो जाती है और अर्थतन्त्र की सबलता के कारण अनेक नये उद्योगो की स्थापना हो जाती है। इन उद्योगो के उत्पादन स्तर मे अन्तरराष्ट्रीय उत्पादन से स्पर्द्धा करने की क्षमता होती है।

परिपक्व अर्थ व्यवस्था की प्राप्ति के फलस्वरूप देश की अन्य देशो पर सामान्य निर्भरता समाप्त हो जाती है और उसका व्यवसाय केवल आर्थिक आधार पर किया जाता है, अर्थात् ऐसा माल जिसका निर्माण विशेष लाभदायक नही है, आयात कर लिया जाता है और उच्चस्तरीय प्रौद्योगिक एव वैज्ञानिक साधनो की सहायता से उत्पन्न माल निर्यात किया जाता है। वस्तुत परिपक्व अवस्था प्राप्त कर लेने वाला देश आर्थिक दृष्टि से यथेष्ट सबल एव सम्पन्न हो जाता है।

(५) अधिकाधिक उपभोग की अवस्था (Stage of High Mass Consumption)—परिपक्व अर्थ-व्यवस्था मे सामान्य जनता की उपभोग सम्बन्धी सभी आवश्यकताओं की पूर्ति सामान्य श्रम द्वारा हो जाती है और उपभोग का स्तर प्राय ऊँचा हो जाता है। यह अवस्था प्राप्त कर लेने के पश्चात समाज का प्रत्येक व्यक्ति उपभोग की उच्चतम एव विशिष्ट सेवाएँ उपलब्ध करने का

---

1 'The existence or quick emergence of political, social and institutional framework which exploits the impulse to expansion in modern sector and potential economy effects the take off and gives to growth an outgoing character"
—Rostow, W. W, *Stages of Economic Growth*

प्रयत्न करता है फलत मोटरकार रेफ्रीजरेटर वस्त्र धोने की मशीन आदि महँगे साधनों की माँग केवल कुछ व्यक्तियों द्वारा नहीं बल्कि सामान्य जनता द्वारा की जाने लगती है और अधिक आय प्राप्त करने वाला वर्ग इन वस्तुओं के नये से नये मॉडल प्राप्त करने को उत्सुक हो जाता है।

अधिकाधिक उपभोग की अवस्था में प्रौद्योगिक एवं प्राविधिक विकास इस सीमा तक हो जाता है कि उसमें विशेष सुधार करने की गुंजाइश नहीं रह जाती। उत्पादक विभिन्न वस्तुओं के आवरण में परिवर्तन करते रहते हैं अथवा सामान्य सुविधाओं में वृद्धि द्वारा नये ग्राहकों को आकर्षित करते हैं।

भारत किस अवस्था में है ?

भारत की प्रति व्यक्ति राष्ट्रीय आय सन् १९६६ ६७ में (चालू मूल्यों पर) केवल ४६५ रुपये वार्षिक थी। इतनी राशि से एक सामान्य व्यक्ति के लिए प्रतिदिन दोनों समय सामान्य भोजन की व्यवस्था करनी भी कठिन है परन्तु फिर भी योजनाओं के फलस्वरूप तृतीय योजना के अन्त में भारत में पूँजी विनियोजन की मात्रा सम्पूर्ण राष्ट्रीय आय की १४ प्रतिशत तक पहुँच गयी। यह राशि निश्चित ही उत्साहजनक है किन्तु केवल इस आधार पर यह मान लेना कि देश गतिशील (take off) अवस्था तक पहुँच गया है उचित नहीं है। वस्तुतः भारतीय अर्थतन्त्र अभी गतिशील अवस्था तक पहुँचने का प्रयत्न कर रहा है। यह बात निम्न तथ्यों से स्पष्ट हो जायगी

(अ) कृषि प्राधान्य—भारतीय अर्थतन्त्र में अभी कृषि की प्रधानता है और कृषि उद्योग में अभी तक आधुनिकतम वैज्ञानिक एवं प्रौद्योगिक उपकरणों का समुचित प्रयोग नहीं हुआ है। फलत भारत को खाद्यान्न रुई जूट आदि कच्चा माल विदेशों से आयात करना पड़ता है।

(ब) विदेशों पर निर्भरता—भारतीय उद्योगों में यद्यपि गत पन्द्रह वर्षों में आशातीत प्रगति हुई है परन्तु अधिकांश क्षेत्रों में अब भी विदेशों पर निर्भर रहना पड़ रहा है। वस्तुतः उद्योग की प्रगति किसी भी दृष्टि से तीव्र अथवा श्रेष्ठ नहीं कही जा सकती है।

उपर्युक्त दोनों कमियों के अतिरिक्त भारतीय कृषि तथा उद्योगों के लिए अभी तक उपयुक्त प्राविधिक अथवा प्रौद्योगिक साधनों का विकास नहीं किया जा सका है जो भारतीय साधनों का ध्यान रखते हुए तीव्र गति से विकास करने में सहायक हो सकें।

प्रो० रास्टव के अनुसार, भारत सन् १९५२ में ही गतिशील अवस्था में पहुँच चुका था। परन्तु हम इस मत से सहमत नहीं हैं। भारत में व्याप्त निर्धनता अशिक्षा विदेशी सहायता पर निर्भरता कृषि की व्यापक प्रधानता, औद्योगिक पिछड़ापन वैज्ञानिक एवं तकनीकी की अपर्याप्तता आदि तथ्यों को ध्यान में रखते हुए यह निर्विवाद रूप से कहा जा सकता है कि भारत अब भी गतिशील अवस्था में नहीं पहुँचा है। अधिक से अधिक हम इतना ही कह सकते हैं कि भारतीय अर्थ व्यवस्था गतिशील अवस्था की ओर अग्रसर हो रही है।

४ आर्थिक विकास की संयोजना
(THE STRATEGY OF ECONOMIC DEVELOPMENT)

एक अल्प विकसित अर्थ व्यवस्था को किन विधियों द्वारा विकसित अर्थव्यवस्था में परिणत किया जाय ? आर्थिक विकास के किन सिद्धान्तों के प्रयोग से किसी अर्थ व्यवस्था का विकास किया जा सकता है ? इस सम्बन्ध में अर्थशास्त्रियों ने न तो विकास का कोई सर्वमान्य सिद्धान्त बनाया है और न वे किसी एक आर्थिक विकास के सिद्धान्त पर सहमत ही हैं।[1] सामान्यतः आर्थिक विकास

---

1 Probably economists have not been able to construct, much less agree on, a single and unbroken chain of causes and effects that would neatly explain the transition from underdevelopment to development

—Hirschman Albert O *The Strategy of Economic Development* p 50

के सम्बन्ध मे दो प्रकार की विचारधाराएँ पायी जाती है—(१) सन्तुलित आर्थिक विकास, तथा (२) असन्तुलित आर्थिक विकास।

(१) सन्तुलित विकास (Balanced Growth)—सन्तुलित विकास सिद्धान्त के प्रतिपादक कई अर्थशास्त्री है, जिन्होने इस सिद्धान्त के विभिन्न रूप प्रस्तुत किये हैं, यद्यपि उनकी मूल धाराओं मे कोई मौलिक अन्तर नही है। इस सिद्धान्त के प्रमुख प्रतिपादकों मे रोस्टीन रोडा (Rhsenstein-Rodan), नर्कस (Nurkse) ल्युइस (Lews) तथा सित्वोस्की (Scitvosky) प्रमुख हैं। विकास सिद्धान्त के अनुसार, अर्थ-व्यवस्था के विभिन्न क्षेत्रों मे एक ही साथ विनियोजन (*simultaneous investment in many sectors*) किया जाना चाहिए जैसे कृषि, उद्योग, परिवहन तथा अन्य सभी क्षेत्रो मे विनियोजन एक साथ ही किया जाना चाहिए। इस प्रकार सन्तुलित विकास का अर्थ है—'अर्थ-व्यवस्था के सभी क्षेत्रो का सभी ओर से एक ही साथ विकास।'

नर्कस ने सन्तुलित विकास सिद्धान्त का स्पष्टीकरण इस प्रकार किया है अल्प-विकसित देशों मे विपाक्त चक्र (Vicious circle) क्रियाशील होता है। इस चक्र के कारण इन देशों का आर्थिक विकास नहीं हो पाता। आर्थिक विकास के लिए इस चक्र को तोडना आवश्यक है। यह चक्र इस प्रकार क्रियाशील होता रहता है—कोई भी साहसी उसी समय किसी उद्योग मे विनियोजन करता है, जबकि उद्योग द्वारा उत्पादित वस्तु के लिए माँग हो अर्थात् यदि किसी वस्तु का बाजार विस्तृत है तो साहसी उस वस्तु के उत्पादन के लिए विनियोजन करेंगे। बाजार का आकार उत्पादकता (Productivity) पर निर्भर है क्योंकि 'माँग' के लिए क्रय शक्ति आवश्यक है और क्रय-शक्ति उत्पादकता पर निर्भर है। उत्पादकता पूँजी के प्रयोग पर निर्भर है। सीमित बाजार के कारण पूँजीपति पूँजी का विनियोजन नही करते, अतः उत्पादकता कम रहती है जिसके कारण क्रय-शक्ति व माँग कम होती है तथा वस्तु का बाजार सकुचित रहता है। इस प्रकार यह विषाक्त चक्र क्रियाशील रहता है।

इस विपाक्त चक्र को तोडने के लिए नर्कस ने 'सन्तुलित विकास' नीति पर जोर दिया है। उन्ही के शब्दों मे, 'बाजार के लघु आकार के कारण उत्पन्न कठिनाई का सम्बन्ध 'उत्पादन विशेष' मे व्यक्ति द्वारा विनियोजन की प्रेरणाओं मे है। कम से कम सिद्धान्त रूप मे तो इस कठिनाई को दूर किया जा सकता है, यदि पूँजी का विनियोजन, एक ही साथ विभिन्न प्रकार के उद्योगो मे किया जाय। इससे हम गतिरोध से बच जाते हैं तथा बाजार का पूरा विस्तार हो जाता है।"[1]

सन्तुलित विकास सिद्धान्त के समर्थकों के अनुसार, विभिन्न क्षेत्रों मे विनियोग करने से माँग की समस्या का समाधान हो जाता है, विभिन्न उद्योग एक दूसरे के द्वारा उत्पादित वस्तुओं की माँग करते हैं, इस प्रकार उनके समक्ष माँग की समस्या नही रहती तथा उद्योगों का विकास एक-दूसरे के पूरक के रूप मे होता रहता है। इस प्रकार सम्पूर्ण अर्थ-व्यवस्था का विकास होता रहता है।

अब प्रश्न यह उठता है कि—क्या आर्थिक विकास की यह नीति अर्द्ध-विकसित देशो के लिए उपयुक्त है? सिंगर ने सन्तुलित आर्थिक विकास को इस प्रकार प्रकट किया है, "A hundred flowers may grow, whereas a single flower would wither for lack of nourishment." यह सम्भव है कि विभिन्न उद्योगों का विकास करने मे कृषि की उपेक्षा कर दी जाय। यदि कृषि, उद्योग आदि सभी का विकास एक ही साथ किया जाय तो 'अल्प विकसित' देश

---

1 "The difficulty caused by the small size of the market relates to individual investment incentives in any single line of production taken by itself At least in principle, the difficulty vanishes in the case of more or less syncronized application of capital to a wide range of different industries Here is an escape from the deadlock; here the result is an overall enlargement of the market"
—*R. Nurkse*

इतने विशाल पैमाने पर आर्थिक विकास नहीं कर सकते क्योंकि ऐसे देशों में पूँजी की बहुत कमी रहती है। अतः सन्तुलित आर्थिक विकास उनकी क्षमता के बाहर है।

(२) असन्तुलित विकास (Unbalanced Growth)—पाल स्टीटन (Paul Streeten) हर्शमन (A O Hirschman) तथा प्रो० रास्टोव (W W Rostow) असन्तुलित आर्थिक विकास के समर्थक हैं। उनके अनुसार अर्द्ध विकसित देशों में विनियोजन नीति इस प्रकार की होनी चाहिए जिससे अर्थ व्यवस्था के कुछ चुने हुए क्षेत्रों को ही विकसित किया जा सके। केवल उन्हीं क्षेत्रों (sectors) अथवा उद्योगों पर ध्यान केन्द्रित करना चाहिए जिनकी विकास सम्भावनाएं तथा शक्ति अधिक है। असन्तुलित विकास के समर्थकों के अनुसार अल्पकाल में कृषि की तुलना में उद्योगों को प्राथमिकता दी जा सकती है। यदि प्राथमिक क्षेत्र (Primary sector) के विकास की प्रतीक्षा किये बिना उद्योगों का विकास किया जाय तो इसका परिणाम यह होगा कि औद्योगिक वस्तुओं का बाजार विस्तृत होगा तथा परोक्ष रूप से कृषि भी लाभान्वित होगी। उद्योगों के विकास के लिए अन्य साधनों—परिवहन आदि—का विकास करना आवश्यक होगा जिससे सम्पूर्ण अर्थ व्यवस्था लाभान्वित होगी। असन्तुलित आर्थिक विकास सिद्धान्त इस मान्यता पर *आधारित है कि पूर्ण स्पर्द्धा द्वारा देशों के साधनों का अनुकूलतम बटवारा नहीं हो सकता।*

असन्तुलित आर्थिक विकास के अनुसार विनियोजन को दो भागों में बाँटा जा सकता है[1] (i) सामाजिक उपरिव्यय पूँजी (Social Overhead Capital या SOC) तथा (ii) प्रत्यक्ष उत्पादन क्रियाओं (Direct Productivity Activities या DPA) में विनियोजन। अर्द्धविकसित देशों में पूँजी की कमी होती है अतः उन्हें इन दोनों में से किसी एक प्रकार की क्रियाओं में विनियोजन करना चाहिए। उपयुक्त दोनों में से एक का चुनाव करके बड़े पैमाने पर विनियोजन किया जाना चाहिए। इस चुनाव के पश्चात् व्यक्तिगत योजनाओं (Individual projects) *के चुनाव का प्रश्न उठेगा। उन योजनाओं को प्राथमिकता दी जानी चाहिए जिनका 'कुल* सम्बन्ध (Total linkage) तुलनात्मक दृष्टि से अधिक है। किसी भी योजना में दो प्रकार के सम्बन्ध हो सकते है—अग्रगामी सम्बन्ध (Forward linkage अर्थात् उत्पादन के उत्तरोत्तर चरणों के विनियोगों को प्रोत्साहन[2] तथा अधोगामी सम्बन्ध (Backward linkage) अर्थात् उत्पादन के पूर्व चरणों में विनियोग को प्रोत्साहन।[3] जिन योजनाओं में अग्रगामी सम्बन्ध + अधोगामी सम्बन्ध अधिक हों उन्हें प्राथमिकता देनी चाहिए।

सन्तुलित तथा असन्तुलित विकास सिद्धान्तों में कौनसा सिद्धान्त अल्प विकसित देशों के लिए *अधिक उपयुक्त है इस प्रश्न का उत्तर कठिन है।* वस्तुतः विभिन्न परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुए ही निर्णय लेना पड़ता है।

---

1 A O Hirschman *Strategy of Economic Development*
2 Which encourages investment in subsequent stages of production
3 Which encourages investment in earlier stages of production

2 अल्प-विकसित अर्थ-व्यवस्था

(THE UNDER-DEVELOPED ECONOMY)

"An underdeveloped country is one which is characterised by the co-existence in greater or less degree, unutilized or underutilized man-power on the one hand, and of unexploited natural resources on the other"

—***The First Five-Year Plan***

अल्प-विकसित अथवा अर्द्ध-विकसित देश क्या है ?

वर्तमान समय में अर्द्ध-विकसित देशों की समस्याओं ने सम्पूर्ण संसार का ध्यान आकर्षित किया है। संसार के देशों को—विकसित तथा अर्द्ध-विकसित—दो श्रेणियों में रखना तथा उनकी आर्थिक समस्याओं का अलग-अलग दृष्टिकोण से अध्ययन करना एक परम्परा-सी हो गयी है। परन्तु कौनसा देश विकसित है तथा कौनसा देश अविकसित है, इस प्रश्न का उत्तर देना अत्यन्त कठिन है। प्राकृतिक साधनों, आर्थिक परिस्थितियों, सामाजिक संगठनों तथा सांस्कृतिक एवं राजनीतिक परम्पराओं में विभिन्नता होने के कारण कोई ऐसा सर्वमान्य मापदण्ड नहीं है जिसके आधार पर देशों का वर्गीकरण 'विकसित' तथा 'अर्द्ध-विकसित' श्रेणियों में किया जा सके। वस्तुत 'अर्द्ध-विकसित' एक सापेक्षिक (relative) शब्द है। एक देश अपने से निर्धन देश की तुलना में विकसित हो सकता है, परन्तु अपने से अधिक विकसित देश की तुलना में अर्द्ध-विकसित हो सकता है। वस्तुतः संसार के देशों को 'विकसित' तथा 'अर्द्ध-विकसित' की श्रेणियों में विभाजित करना समस्या का अत्यधिक सरलीकरण (over-simplification) है।

कुछ अर्थशास्त्री औद्योगीकरण को आर्थिक विकास तथा कृषि को आर्थिक पिछड़ेपन का प्रतीक मानते हैं परन्तु यह विचार भी भ्रामक है। उदाहरण के लिए, न्यूजीलैण्ड, हालैण्ड, डेनमार्क तथा आस्ट्रेलिया में कृषि तथा प्रारम्भिक उद्योगों (primary industries) की प्रधानता है परन्तु ये देश वास्तविक रूप में अर्द्ध-विकसित नहीं कहे जा सकते। विकसित देश ब्रिटेन की भी प्रति व्यक्ति राष्ट्रीय आय आस्ट्रेलिया तथा न्यूजीलैण्ड से कम है। इसी प्रकार जापान एक औद्योगिक देश है परन्तु वहाँ की जनता का जीवन स्तर आस्ट्रेलिया की जनता से भी नीचा है। उक्त विवरण से यह निष्कर्ष निकलता है कि देशों को 'विकसित' तथा 'अर्द्ध-विकसित' श्रेणियों में विभाजित करना अत्यन्त कठिन है, परन्तु इस बात पर सभी सहमत हैं कि अर्द्ध-विकसित देश निर्धन होते हैं तथा उनकी प्रति व्यक्ति राष्ट्रीय आय कम होती है। कुछ अर्थशास्त्रियों ने अर्द्ध-विकसित का अर्थ वर्तमान निर्धनता तथा भविष्य में उन्नति एवं विकास की आशा से लिया है। इसका अर्थ यह है कि प्राकृतिक साधनों एवं मानवीय साधनों का समुचित उपयोग न करने के कारण ही ये देश पिछड़े हुए होते

हैं। यदि उनके साधनों का समुचित उपयोग किया जाय तो इन देशों में विकास की समस्त सम्भावनाएँ विद्यमान हैं। यूजीन स्टेनले (Eugene Stanley) ने अर्द्ध-विकसित देश की परिभाषा देते समय इस तथ्य पर पर्याप्त ध्यान दिया है :

"A country characterised by mass poverty, which is chronic and not result of some temporary misfortune, and by obsolete methods of production and social organization which means that the poverty is not entirely due to poor natural resources and hence could presumably be lessened by methods already proved in other countries."[1]

उपर्युक्त परिभाषा के अनुसार, अर्द्ध विकसित अर्थ-व्यवस्था उस अर्थ-व्यवस्था को कहते हैं जिसमें निम्नलिखित विशेषताएँ पायी जाती हों—(क) जिसकी प्रति व्यक्ति राष्ट्रीय आय कम हो, फलस्वरूप, अधिकांश जनसंख्या निर्धन हो, (ख) यह निर्धनता पिछड़े हुए आर्थिक विकास का कारण तथा परिणाम दोनों होती है, (ग) यह निर्धनता प्राकृतिक साधनों की कमी के कारण नहीं बल्कि पुरानी व परम्परावादी उत्पादन प्रणाली तथा दोषपूर्ण सामाजिक सगठन के कारण पायी जाती है। *आधुनिक एवं उन्नत वैज्ञानिक उत्पादन प्रणाली द्वारा उत्पादन में आशातीत वृद्धि की जा सकती है* तथा निर्धनता को दूर किया जा सकता है।

प्रो० जैकोब वाइनर के अनुसार, 'अर्द्ध विकसित देश वह है जो अधिक पूँजी अथवा अधिक श्रम अथवा प्राकृतिक साधन या इन सभी के प्रयोग द्वारा वर्तमान जनसंख्या के जीवन-स्तर को ऊँचा उठा सकता है या यदि उसकी प्रति व्यक्ति आय ऊँची है तो वह पहले से अधिक जनसंख्या का जीवन-स्तर गिराये बिना निर्वाह कर सकता है।'[2] वाइनर के अनुसार, आर्थिक विकास का सम्बन्ध मुख्यत प्रत्येक व्यक्ति के जीवन-स्तर से है।

उपर्युक्त सभी परिभाषाओं से यह स्पष्ट है कि 'अर्द्ध विकसित' शब्द का प्रयोग किसी अर्थ-व्यवस्था के लिए सापेक्षिक रूप में ही किया जा सकता है। हम किस देश को विकसित तथा किस देश को अल्प या अर्द्ध-विकसित कहे, यह इस बात पर निर्भर है कि हम विकास के मापक, किन मापदण्डों का प्रयोग करते हैं। प्रो० हरबर्ट फ्रैंकेल ने इसी तथ्य पर जोर दिया है

"Whether a society is regarded as economically developed or under-developed will depend, therefore, on the specific criteria of development by the observer and the position occupied by him."[3]

अल्प-विकास की अवस्था के कई मापक हो सकते हैं—जैसे, (१) *अन्य उत्पादक साधनों की* तुलना में पूँजी का कम प्रयोग, (२) कुल उत्पादन में औद्योगिक उत्पादन का कम भाग, (३) कुल जनसंख्या का कम भाग, (४) निर्यात व्यापार में कृषि-वस्तुओं का अधिक भाग (परन्तु इस दशा में हमें कृषि की उत्पादकता को ध्यान में रखना चाहिए। न्यूजीलैण्ड, डेनमार्क आदि देशों की कृषि-उत्पादकता अधिक होने के कारण हम उन्हें अल्पविकसित देशों की श्रेणी में नहीं रख सकते), (५) प्रति व्यक्ति निम्न आय, तथा (६) परम्परा व रूढ़िग्रस्तता का समाज में आदर।

किसी देश को अल्प विकसित कहने के लिए हम उपर्युक्त मापकों में से किस मापक का प्रयोग करें, यह विवादग्रस्त प्रश्न है। उपर्युक्त मापकों में से कुछ मापक गुणात्मक हैं, उनकी

---

1 Eugene Stanley, *The Future of Under-developed Countries* p 13

2 'A more useful definition of an under developed country is that it is a country which has good potential prospects for using more capital or more labour or more available natural resources, or all of these, to support its present population on a higher level of living or if its per capita income level is already fairly high to support a larger population on a not lower level of living." Jacob Viner, 'Approaches to the Proplem of Under-development published in *The Economics of Development* edited by A N Agarwala & S P Singh, p 12

3 S Herbert Frankel, *The Economic Impact on Under developed Societies*, p 56

व्यक्ति हम सख्यात्मक (quantitative) रूप मे नही कर सकते। अत संयुक्त राष्ट्र संघ द्वारा नियुक्त विशेषज्ञों के एक दल ने 'प्रति व्यक्ति वास्तविक आय' को मापदण्ड स्वीकार करते हुए अल्प-विकसित देश को निम्नांकित शब्दो मे परिभाषित किया है

'We have had some difficulty in interpreting the term 'under-developed countries' We use it to mean countries in which per capita real income is low when compared with the per capita real incomes of the United Stated of America, Canada Australia and Western Europe In this sense, an adequate synonym would be poor countries "[1]

अत जिन देशो की प्रति व्यक्ति वास्तविक आय अमरीका, कनाडा, ब्रिटेन, आदि मे कम है, उन्हें हम अल्प विकसित देश कह सकते हैं। उपर्युक्त समस्त परिभाषाओं के आधार पर हम मोटे रूप मे कह सकते हैं कि जिन देशों में कृषि, उद्योग तथा परिवहन के साधनों का समुचित विकास हो जाता है, उत्पादन के क्षेत्रों मे यन्त्र विद्युत एव आधुनिकतम पद्धतियो का प्रयोग होने लगता है तथा सामान्य एव प्राविधिक शिक्षा प्रत्येक व्यक्ति को सुलभ होती है वे देश विकसित देशों की श्रेणी में गिने जाते हैं। इन राष्ट्रों का पूँजी निर्मित माल, प्राविधिक ज्ञान आदि के लिए दूसरे देशो पर निर्भर नही रहना पड़ता। वस्तुत य देश पूँजी, निर्मित माल तथा प्राविधिक कौशल अन्य देशो को निर्यात करते हैं। कुछ विकसित देश (जैसे अमरीका) कच्ची सामग्री, यथा—खाद्य पदार्थ, रुई, कोयला आदि, भी इतनी अधिक मात्रा मे उत्पन्न करते हैं कि व इन वस्तुओं का भी निर्यात करते हैं। इन सब अवस्थाओ का परिणाम यह होता है कि देश की अर्थ व्यवस्था बहुत सबल होती है तथा प्रति व्यक्ति आय का स्तर ऊँचा होने के कारण जनता का भौतिक जीवन अधिक सम्पन्न एव सुखी होता है।

जिन देशो मे आर्थिक साधनो का अभाव होता है अर्थात् जनता के लिए खाद्य पदार्थ एव वस्त्र तथा आवास-व्यवस्था की कमी होती है, जनसख्या का अधिकाश भाग आजीविका के लिए कृषि पर निर्भर करता है, कृषि की पद्धतियाँ पुरातन एव रूढिवादी होती हैं उद्योग अविकसित अथवा अल्प विकसित होते हैं तथा देश का कच्चा माल विदेशो मे निर्यात होकर वहाँ से निर्मित रूप मे पुन आयात होता है, वे देश अविकसित माने जाते हैं। ऐसे देशो मे बिजली तथा प्राविधिक कौशल का सर्वथा अभाव अथवा कमी दृष्टिगोचर होती है एव जनता मे शिक्षा के अभाव के फलस्वरूप सर्वत्र अज्ञान एव अन्धविश्वास का वातावरण दिखायी पडता है। उपर्युक्त परिस्थितियों के कारण जनता की आय बहुत कम, जीवन स्तर निम्न तथा आर्थिक स्थिति दयनीय होती है।

अर्द्ध-विकसित देशो की विशेषताएँ

अर्द्ध-विकसित देशो मे पर्याप्त भिन्नताएँ पायी जाती हैं अत उनकी सर्वमान्य विशेषताएँ बताना अत्यन्त कठिन है। यह आवश्यक नही है कि एक अर्द्ध विकसित देश की सभी विशेषताएँ दूसरे अर्द्ध विकसित देश मे भी पायी जाती हो। फिर भी हम कुछ सामान्य विशेषताओ का उल्लेख कर सकते हैं, जो लगभग सभी अर्द्ध विकसित देशो मे न्यूनाधिक रूप म पायी जाती हैं। प्रो० हार्वे लिबेन्सटीन (Harvey Leibenstein) ने अर्द्ध विकसित देशो की विशेषताओ का वर्गीकरण चार श्रेणियो के अन्तर्गत किया है[2]—आर्थिक जनसख्या सम्बन्धी, प्राविधिक और सास्कृतिक व राज-नीतिक। इनका विवरण निम्नलिखित है

(१) आर्थिक (Economic) विशेषताएं—आर्थिक विशेषताओ के अन्तर्गत कृषि की प्रधानता (जहाँ ७०% स ९०% जनसख्या कृषि मे लगी हुई हो), प्रति व्यक्ति कम पूँजी, अधिकाश

---

[1] U N O, *Measures for the Economic Development of Under developed Countries* p 3
[2] Harvey Leibenstein *Economic Backwardness and Economic Growth*, pp 38–45

जनसंख्या के लिए बचत की दर लगभग शून्य होना, प्रच्छन्न बेरोजगारी (disguised unemployment), आय का अधिक भाग भोजन पर व्यय करना, प्रति व्यक्ति व्यापार की मात्रा का कम होना साख सुविधाओं की यथेष्ट व्यवस्था का अभाव, गृह-समस्या का विकट होना आदि।

(२) जनसंख्या सम्बन्धी (Demographic) विशेषताएँ—जन्म तथा मृत्युदर का अधिक ऊँचा होना, स्वास्थ्य सुविधाओं की कमी भोजन की अल्पता के कारण दोषपूर्ण शारीरिक विकास, सफाई सुविधाओं की कमी आदि।

(३) प्राविधिक (Technological) विशेषताएँ—उत्पादन की पुरातन तथा परम्परागत विधियों का प्रयोग, भूमि की उत्पादकता का कम होना, वैज्ञानिक एवं प्राविधिक ज्ञान का अभाव, परिवहन तथा संवादवाहन के साधनों का अविकसित होना।

(४) सांस्कृतिक एवं राजनीतिक (Cultural Political) विशेषताएँ—ये विशेषताएँ हैं—अधिकांश जनता का अशिक्षित होना, बच्चों का श्रमिकों के रूप में कार्य करना, मध्यम वर्ग की अनुपस्थिति स्त्रियों का समाज में निम्न स्थान तथा परम्परा एवं रूढ़ियों की प्रधानता।

अब हम उपर्युक्त विशेषताओं पर प्रकाश डालेंगे।

(१) *निर्धनता (प्रति व्यक्ति कम आय)—अर्द्ध-विकसित देशों की प्रति व्यक्ति आय अत्यन्त* कम होती है। संसार की सम्पूर्ण जनसंख्या की ६५% अथवा दो तिहाई जनसंख्या की प्रति व्यक्ति राष्ट्रीय आय ३०० डालर वार्षिक से कम है। अत विश्व की अधिकांश जनसंख्या अत्यन्त निम्न जीवन स्तर व्यतीत करती है। निम्न सारणी से यह अनुमान लगाया जा सकता है कि अर्द्ध विकसित देशों की प्रति व्यक्ति आय विकसित देशों की तुलना से कितनी कम है

प्रति व्यक्ति आय (डालरों में)[1]

आय	देशों की संख्या	कुल जनसंख्या (मिलियन)
१०० से कम	३६	१,६७४
१००-३००	१३	४६४
३०० ७५०	३३	२१३
७५० के ऊपर	६६	६४०
	१५८	३,२९१

विश्व बैंक द्वारा प्रकाशित किये गये इन अंकों से स्पष्ट है कि संसार के १५८ देशों में से, जिनकी कुल जनसंख्या ३२६ करोड़ है, ३६ ऐसे देश हैं जिनकी प्रति व्यक्ति आय १०० डालर वार्षिक से भी कम है। इन देशों की जनसंख्या १६७ करोड़ अर्थात् लगभग ५० प्रतिशत है। वास्तविक स्थिति इससे भी गम्भीर है क्योंकि इनमें से २४ देश ऐसे हैं जिनकी प्रति व्यक्ति आय ६५ डालर वार्षिक से भी कम है। उदाहरणत मलावी (४०), बुरुण्डी (४५), अपर वोल्टा (५०), रुआंडा (५०) सोमालिया (५५) इथियोपिया (५५), बोट्स्वाना (५५), माली (६०), दाहोमी (६०), नेपाल (६५), मोजम्बीक (६५), लाओस (६५), कांगो (६५), बर्मा (६५), अफगानिस्तान, तंजानियां मादजर हेरी आदि की स्थिति अत्यन्त हीन है।

अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर गरीबी और अमीरी की विषमता का अनुमान इस बात से लगाया जा सकता है कि मलावी की प्रति व्यक्ति वार्षिक आय केवल ४० डालर है जबकि कुवैत की प्रति व्यक्ति वार्षिक आय ३ २७० डालर और अमरीका की ३ ९४० डालर है।

---

[1] विश्व बैंक द्वारा प्रकाशित . इकॉनॉमिक टाइम्स, फरवरी १, १९६८ में उद्धृत।

विश्व बैंक द्वारा प्रकाशित आंकडे इस बात की ओर स्पष्ट सकेत देते हैं कि ससार मे भयानक आर्थिक विपमता विद्यमान है। इसका अनुमान निम्नलिखित तथ्यों से लग सकता है

विश्व में आर्थिक नियमता

जनसख्या (प्रतिशत)	कुल आय (प्रतिशत)
२६	८०
७	६
१४	५
५०	६
१००	१००

इससे स्पष्ट है कि विश्व की कुल जनसख्या के ५० प्रतिशत की आय केवल ६ प्रतिशत है और शेप ५० प्रतिशत की ६१ प्रतिशत। इससे भी अधिक गम्भीर तथ्य यह है कि विश्व जनसख्या की २६ प्रतिशत को ससार की कुल ाय का ८० प्रतिशत भाग उपलब्ध होता है।

अधिकाश अल्प विकसित देशो की प्रति व्यक्ति वार्षिक आय १०० अमरीकी डालर से कम तथा विकसित देशो की एक हजार डालर से भी अधिक है। अत इन्हें क्रमश '१०० डालर वाले देश' व '१,००० डालर वाले देश' कहा जाता है।

(२) कृषि की प्रधानता—दूसरी उल्लखनीय बात यह है कि अविकसित देशो मे प्रायः कृषि की प्रधानता मिलती है। इन देशो की अधिकाश जनसख्या कृषि पर निर्भर रहती है। इसका अनुमान निम्न सारणी से लगाया जा सकता है

विकसित तथा अल्प विकसित देशों में कृषि
(जनसख्या का प्रतिशत)

अर्द्ध विकसित देश		विकसित देश	
देश	कृषि में लगी कार्यशील जनसख्या	देश	कृषि मे लगी कार्यशील जनसख्या
भारत	७० ०	फास	२७ ०
लका	५३ ०	आस्ट्रेलिया	१६ ०
ब्राजील	५८ ०	कनाडा	१६ ०
मलाया	६४ ०	अमरीका	६·०
कोलम्बिया	७२ ०	ब्रिटेन	४ ०

उपर्युक्त सारणी से यह स्पष्ट है कि अर्द्ध विकसित देशो मे कुल कार्यशील जनसख्या का अधिक प्रतिशत भाग कृषि मे लगा हुआ है जबकि विकसित देशो मे कृषि जनसख्या का प्रतिशत अपेक्षाकृत कम है। इसका प्रमुख कारण औद्योगिक पिछडापन है।

इसी प्रकार कुल राष्ट्रीय उत्पादन मे कृषि उत्पादन का महत्त्वपूर्ण स्थान होता है। लगभग सभी अर्द्ध विकसित देशों में कुल राष्ट्रीय आय में कृषि का भाग, उद्योगो की अपेक्षा अधिक होता है। इस तथ्य का स्पष्टीकरण अग्र तालिका द्वारा किया जा सकता है

कुल राष्ट्रीय उत्पादन में कृषि का प्रतिशत भाग

विकसित देश	कृषि का भाग (प्रतिशत)	अर्द्ध-विकसित देश	कृषि का भाग (प्रतिशत)
संयुक्त राज्य अमरीका (१९६०)	४ ०	नाइजीरिया (१९५७)	६३ ०
ब्रिटेन (१९६०)	४·०	ब्राजील (१९५९)	२७ ०
कनाडा (१९६०)	७ ०	भारत (१९६९-७०)	५०·०

(३) **औद्योगिक पिछड़ापन** (Industrial Backwardness)—अल्प विकसित देश औद्योगिक विकास की दृष्टि से पिछड़े हुए होते हैं। कृषि, उत्पादन का प्रमुख स्रोत होती है। कुछ देशों मे औद्योगिक विकास भी यत्र-तत्र दृष्टिगोचर होता है, परन्तु मुख्यत. उपभोक्ता-उद्योग ही कुछ सीमा तक विकसित होते हैं। पूंजीगत तथा उत्पादक उद्योग जैसे लोहा-इस्पात, विद्युत-उत्पादन, मशीन निर्माण आदि उद्योग पिछड़े हुए होते हैं और यदि इनका विकास कुछ सीमा तक किया भी जाता है तो उनमें आधुनिक ढंग या बड़े पैमाने पर उत्पादन नहीं किया जाता है। अल्प-विकसित देशों के औद्योगिक पिछड़ेपन का अनुमान इस तथ्य से लगाया जा सकता है कि संयुक्त राज्य अमरीका, पश्चिम यूरोप तथा रूस (ये सभी विकसित क्षेत्र हैं) की सम्मिलित जनसंख्या कुल विश्व जनसंख्या की केवल २६% है, परन्तु विश्व के कुल औद्योगिक उत्पादन मे इनका भाग ८०% है। शेष ७४% जनसंख्या वाले देशों का विश्व औद्योगिक उत्पादन मे केवल १९% भाग है। निम्न सारिणी से यह तथ्य स्पष्ट हो जाता है

विश्व औद्योगिक उत्पादन में विभिन्न क्षेत्रों का भाग

देश या क्षेत्र	विश्व जनसंख्या का प्रतिशत	विश्व-औद्योगिक उत्पादन का प्रतिशत
अमरीका (U S. A)	६ ०	३१ ०
पश्चिम यूरोप	१०·०	२६·०
रूस तथा पूर्वी यूरोप	१०·०	२४ ०
चीन	२२ ०	५·०
अन्य देश	५२ ०	१४ ०
योग	१०० ०	१०० ०

(४) **जनसंख्या का अधिक भार**—अर्द्ध-विकसित देशों मे जनसंख्या का भार अधिक होता है। जन्म-दर तथा मृत्यु-दर दोनों ऊँची होती हैं। जन्म-दर अधिक ऊँची होने के कारण जनसंख्या तेजी से बढ़ती है। जनसंख्या की अधिकता के कारण निर्धनता तथा बेरोजगारी बढ़ती है। सामान्यत विकसित देशो मे जन्म-दर तथा मृत्यु-दर १५-२० तथा ९-२० प्रति हजार होती है परन्तु अर्द्ध-विकसित देशों मे ये दरें क्रमश ३०-५० तथा १५-३० होती हैं। विकसित देशो की जनसंख्या वृद्धि की दर लगभग १% वार्षिक है जबकि अर्द्ध-विकसित देशो में यह २% से अधिक होती है। जनसंख्या में तीव्र गति से वृद्धि के कारण भूमि पर जनसंख्या का भार बढ़ता जाता है। इस तथ्य का स्पष्टीकरण इस बात से होता है कि प्रति व्यक्ति भूमि की उपलब्धि (कृषि योग्य भूमि, पहाड़, पठार तथा अन्य सभी को सम्मिलित करते हुए) आस्ट्रेलिया मे १८१ ९ एकड़, अमरीका मे १२ ८ एकड़, तथा रूस में २९ ५ एकड़ है जबकि भारत मे यह औसत केवल १·४ एकड़ है। भारत मे कृषि-योग्य भूमि का प्रति व्यक्ति औसत केवल ० ५ एकड़ है।

जनसंख्या के सम्बन्ध में एक बात यह भी स्मरणीय है कि अर्द्ध-विकसित देशों में कार्यशील जनसंख्या का अनुपात, विकसित देशों की तुलना में कम होता है, १५ वर्ष से कम आयु के बच्चों का अनुपात अधिक होता है। उदाहरण के लिए, भारत, लंका, पाकिस्तान आदि देशों में १५ वर्ष से कम आयु के बच्चों का अनुपात कुल जनसंख्या में ४०% है, जबकि अमरीका व ब्रिटेन में यह अनुपात क्रमशः २३% व २५% है।

(५) पूंजी निर्माण की कमी—अर्द्ध-विकसित देशों में प्रति व्यक्ति राष्ट्रीय आय कम होने के कारण आय का अधिकांश भाग उपभोग में प्रयुक्त हो जाता है अतः बचत तथा विनियोग बहुत कम दर पर होता है। पूंजी-निर्माण की कमी के कारण, इन देशों का आर्थिक विकास तेजी से नहीं किया जा सकता है। संयुक्त राष्ट्र संघ के World Economic Survey के अनुसार, कुल पूंजी-निर्माण दर (Rate of Gross Capital Formation) ब्रिटेन में १५ ६ प्रतिशत, अमरीका में १८ प्रतिशत, पश्चिम जर्मनी में २८ ६ प्रतिशत, जापान में २८ ५ प्रतिशत थी, जबकि ईराक, लंका *तथा भारत में यह दर क्रमशः १३, ११ तथा ८ प्रतिशत मात्र थी। भारत में सन् १९६५-६६ में* विदेशी सहायता को सम्मिलित करने के पश्चात् यह दर १८ प्रतिशत थी। आर्थिक विकास के लिए पूंजी निर्माण की दर में वृद्धि करना अत्यन्त आवश्यक है।

(६) व्यापक बेरोजगारी—भूमि पर जनसंख्या का अधिक भार, औद्योगीकरण की कमी तथा पूंजी निर्माण के अभाव में अर्द्ध विकसित देशों में बेरोजगारी व्यापक रूप में पायी जाती है। इसके साथ ही साथ अर्द्ध बेरोजगारी की भी समस्या होती है। इन देशों में उत्पादन-कार्य, विशेषतया कृषि से, यदि कुछ श्रम शक्ति हटा भी जाय तो भी कुल उत्पादन पूर्ववत रहेगा क्योंकि बहुत से श्रमिकों की सीमान्त उत्पादकता शून्य होती है। अनुमान लगाया गया है कि भारत, पाकिस्तान, इन्डोनेशिया आदि देशों में लगभग २५ प्रतिशत श्रम शक्ति को कृषि का कुल उत्पादन कम किये बिना अन्य व्यवसायों में लगाया जा सकता है। वुल्फ तथा सफरिन ने भारत की बेरोजगारी तथा अर्द्ध-बेरोजगारी की समस्या का वर्णन करते हुए कहा है :

"Unemployment and under employment in India may annually waste as many gross man years of labour as is contributed by the entire labour force of United States."[1]

(७) मानव पूंजी अविकसित—अर्द्ध विकसित देशों में सुविधाओं की कमी के कारण अधिकांश जनता अशिक्षित होती है। वैज्ञानिक तथा प्राविधिक शिक्षा सम्बन्धी सुविधाओं का तो बहुत ही अधिक अभाव होता है। आर्थिक विकास में मानवीय पूंजी का अत्यधिक महत्त्व है। विकसित मानव-पूंजी देश के नव निर्माण में सहायक होती है। आजकल शिक्षा, स्वास्थ्य तथा अन्य समाज सेवाओं पर किया गया व्यय, मानव-पूंजी सम्बन्धी विनियोग माना जाता है। वैज्ञानिक अनुसन्धान तथा शोध कार्यों ने आर्थिक प्रगति में सर्वाधिक योग दिया है परन्तु अर्द्ध-विकसित देशों में अशिक्षा व्याप्त है। इतने प्रयत्नों के पश्चात् भी आज भारत में ७६ प्रतिशत जनता अशिक्षित है। पूंजी की कमी के कारण वैज्ञानिक शोध कार्यों पर भी बहुत कम व्यय किया जाता है। उदाहरण के लिए, भारत में वैज्ञानिक शोध पर प्रति वर्ष १५ पैसे मात्र प्रति व्यक्ति की दर से व्यय किया जाता है, जबकि अमरीका तथा रूस में यह औसत क्रमशः १५४ रुपये तथा ११० रुपये है।

(८) परम्परावादी समाज—अर्द्ध-विकसित देशों की अधिकांश जनता रूढ़िवादी तथा परम्परावादी होती है। धर्म की प्रधानता तथा अशिक्षा इसके प्रमुख कारण हैं। परम्परा के प्रति आस्था होने के कारण जनता का दृष्टिकोण अवैज्ञानिक होता है तथा लोग नवीन उत्पादन विधियों

---

1 C Wolf and S C Sufrin, *Capital Formation and Foreign Investment in Under-developed Areas*, pp 13-14

का प्रयोग नही करते हैं। वे परम्परागत उत्पादन विधियो को ही श्रेष्ठ समझते हैं। भारत मे सामुदायिक विकास कार्यक्रम के अन्तर्गत कृषि की उन्नत एव श्रेष्ठ विधियो का प्रचार किये जाने पर भी भारतीय कृषक ने कृषि की प्राचीन अवैज्ञानिक प्रणाली का त्याग नही किया है। पूँजी की कमी तथा उच्चकोटि के विशेषज्ञो की कमी के कारण उद्योगो मे भी आधुनिकतम वैज्ञानिक उत्पादन प्रणाली अपनाने मे कठिनाई होती है। निर्धनता तथा धार्मिक अन्धविश्वास के कारण जन-साधारण का दृष्टिकोण भाग्यवादी बन जाता है जिससे जनता भौतिक उत्थान के लिए अपेक्षित प्रयत्न नही कर पाती है।

(६) दोषपूर्ण आर्थिक सगठन—अर्द्ध विकसित देशो मे आर्थिक विकास के लिए आवश्यक वित्तीय तथा अन्य सस्थाओ का अभाव होता है। पूँजी बाजार (capital market) अविकसित होता है और मुद्रा बाजार भी असगठित होता है। अर्थ व्यवस्था का एक भाग तो विकसित होता है जिसमे सामान्यत विकसित देशो की समस्त विशेषताएँ न्यूनाधिक मात्रा मे पायी हैं, परन्तु दूसरा भाग—मुख्यत ग्रामीण क्षत्र—आर्थिक पिछडेपन का प्रतीक होता है। सरकार की वित्तीय, मौद्रिक तथा अन्य आर्थिक नीतियाँ इस क्षेत्र मे अर्थहीन सिद्ध होती हैं। अत सस्थागत अवरोध (institutional bottlenecks) आर्थिक विकास मे बाधक सिद्ध होते हैं।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि अर्द्ध विकसित देशो मे निर्धनता विस्तृत रूप से व्याप्त है। पूँजी का अभाव, अकुशल श्रम, दोषपूर्ण आर्थिक व सामाजिक सगठन आदि आर्थिक विकास को अवरुद्ध करते हैं। अत इन सभी दोषो को दूर करना तथा अभावो की पूर्ति करना, इन देशो के आर्थिक विकास के लिए आवश्यक है। द्वितीय महायुद्ध के पश्चात् विश्व के उन्नतिशील देशो का ध्यान, इन निर्धन देशो के लिए एक चुनौती है। 'Poverty anywhere is a danger to prosperity everywhere' इस तथ्य के प्रति विकसित देश भी जागरूक प्रतीत होते हैं तथा वे निर्धन देशो की यथासम्भव सहायता कर रहे हैं।

3 भारतीय अर्थ-व्यवस्था की विशेषताएँ

(CHARACTERISTICS OF INDIAN ECONOMY)

'The most arresting fact about India is that her soil is rich and her people are poor
—M L Darling

भारत—एक सामान्य परिचय

भारत एक विशाल देश है। क्षेत्रफल की दृष्टि से विश्व में भारत का सातवाँ तथा पुन: जनसंख्या की दृष्टि से दूसरा स्थान है। इसमें अनेक प्रकार की भूमि, जलवायु, वनस्पति तथा उपज मिलती है। सम्भवत इसके आकार तथा इन विविधताओं के कारण ही भारत को एक उप-महाद्वीप का नाम दिया गया है।

निम्नलिखित तथ्यों से भारत का सामान्य परिचय मिलता है,

१. क्षेत्रफल ३२,६८,०९० वर्ग किलोमीटर[1] (विश्व क्षेत्रफल का २·२ प्रतिशत)।
२ भू-सीमा १५,१६८ किलोमीटर।
३ तट-सीमा : ५,६८९ किलोमीटर।
४ जनसंख्या (१९७१) लगभग ५४ ७ करोड़ (विश्व का १५ प्रतिशत)।
५ औसत आयु · ५० वर्ष।
६ प्रति व्यक्ति औसत वार्षिक आय · सन् १९६७ ६८ के चालू मूल्यों पर ५४१ ८ रुपये। सन् १९४८-४९ के मूल्यों पर ३२४ ४ रुपये।
७ खाद्यान्नों की उत्पत्ति लगभग ९९·५ मिलियन टन (सन् १९६९-७०)।
८ प्रति व्यक्ति खाद्यान्नों की खपत १५ औंस प्रतिदिन।
९ प्रति व्यक्ति के लिए उपलब्ध कलरी (calories) २,१४५ प्रतिदिन।
१० प्रति व्यक्ति वस्त्र की उपलब्धि १५ मीटर वार्षिक।

भारतीय अर्थ-व्यवस्था की सामान्य विशेषताएँ

भारतीय अर्थ व्यवस्था के विभिन्न अवयवों (aspects) का व्यवस्थित रूप से अध्ययन करने के पूर्व यह आवश्यक है कि हम उसकी सामान्य आर्थिक विशेषताओं पर एक विहगम दृष्टि डालें। इससे भारतीय अर्थ व्यवस्था का संक्षिप्त रूप हमारे समक्ष उपस्थित होगा तथा विभिन्न

---

[1] इण्डिया, १९७० पृष्ठ १।

आर्थिक समस्याओ को समझने मे सहायता मिलेगी। भारत की सामान्य आर्थिक विशेषताएँ निम्नलिखित है

(१) **एक अर्द्ध-विकसित अर्थ-व्यवस्था (An Under-developed Economy)**—भारत एक अर्द्ध-विकसित देश है। अर्द्ध-विकसित देशो की सामान्यतया सभी विशेषताएँ भारतीय अर्थ-व्यवस्था मे पायी जाती हैं। अर्द्ध-विकसित का अर्थ भूतकाल मे सामाजिक एव आर्थिक अवरोध तथा भविष्य मे उन्नति एव विकास की आशा से है। प्राय समस्त अर्द्ध-विकसित देशो मे कृषि की प्रधानता, औद्योगीकरण की दृष्टि से पिछड़ापन, निम्न जीवन-स्तर, निर्धनता, बेरोजगारी तथा अर्द्ध-बेरोजगारी, जनसख्या का आधिक्य तथा उसमे तीव्र गति से वृद्धि, आर्थिक विकास की दर का कम होना, पूंजी का अभाव, प्राविधिक ज्ञान की कमी, अविकसित आर्थिक सस्थाएं तथा विदेशी व्यापार, अल्प राष्ट्रीय आय, अशिक्षा, अन्धविश्वास तथा रूढिग्रस्तता, बचत तथा विनियोग की निम्न दर, कुशल श्रमिकों का अभाव आदि विशेषताएँ पायी जाती हैं। एक विकसित अर्थ-व्यवस्था मे मध्य-युगीन विशेषताओं के साथ ही साथ कही कही और किसी-किसी क्षेत्र मे अनियोजित आधुनिकता भी पायी जाती है। भारतीय अर्थ-व्यवस्था मे ये सभी विशेषताएँ किसी न किसी रूप मे पायी जाती हैं।

(२) **कृषि की प्रधानता (Predominance of Agriculture)**—भारतीय अर्थ-व्यवस्था मे कृषि का स्थान सर्वोपरि है। प्राचीन काल से ही कृषि अधिकाश जनसख्या का प्रमुख व्यवसाय है। *वर्तमान समय मे भी, देश की अर्थ-व्यवस्था मे कृषि का महत्त्वपूर्ण स्थान है। कृषि की प्रधानता* का अनुमान निम्नलिखित तथ्यो से लगाया जा सकता है

(क) *राष्ट्रीय आय तथा कृषि (National Income and Agriculture)*—राष्ट्रीय आय मे कृषि क्षेत्र द्वारा प्राप्त आय का महत्त्वपूर्ण स्थान है। कृषि-उत्पादन का प्रभाव राष्ट्रीय आय पर सदैव पड़ता रहा है। ऐसा प्रतीत होता है कि भारत की राष्ट्रीय आय तथा कृषि उत्पादन मे सहसम्बन्ध (correlation) है। वे एक दूसरे पर आश्रित हैं। सन् १९५०-५१, १९५५-५६ तथा १९६९-७० मे कुल राष्ट्रीय उत्पादन मे कृषि उत्पादन का भाग क्रमश ५१%, ४५% और ५०% था। इस प्रकार राष्ट्रीय उत्पादन मे कृषि-उत्पादन का अश काफी अधिक है। भविष्य मे भी कृषि का राष्ट्रीय उत्पादन मे महत्त्वपूर्ण स्थान रहेगा। ससार के उन्नतिशील देशो मे कृषि-उत्पादन का प्रतिशत भाग, कुल राष्ट्रीय उत्पादन मे भारत की तुलना म बहुत कम है, जैसे जापान, हालैण्ड, न्यूजीलैण्ड, ब्रिटेन तथा सयुक्त राज्य अमरीका मे कुल राष्ट्रीय उत्पादन मे कृषि का भाग क्रमश २२%, १३%, २७%, ५% ६% है।

(ख) **कृषि तथा जीविका के साधन (Agriculture and Living Pattern)**—कृषि भारत की अधिकाश जनता के लिए जीविका का साधन है। समस्त ग्रामीण जनसख्या प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप मे कृषि व्यवसाय से सम्बन्धित है। जनसख्या मे वृद्धि के साथ ही भूमि पर दबाव बढ़ता गया है। सन् १९६१ की जनगणना रिपोर्ट के अनुसार, विभिन्न प्रकार के उद्योगो मे (कृषि सहित) लगी कुल श्रम शक्ति का ७०% भाग कृषि व्यवसाय मे लगा हुआ है। यदि कृषि के सहायक व्यवसाय, जैसे—*पशुपालन, मछली पालन, जगल व बागान उद्योग आदि, को सम्मिलित* कर लें तो कृषि तथा उसके सहायक व्यवसायो मे कुल श्रम-शक्ति का ७२% भाग लगा हुआ है। इस जनगणना के ही अनुसार, कृषि के अतिरिक्त उद्योगो मे कुल श्रम शक्ति का केवल १२% लगा हुआ है। इसी प्रकार अन्य सेवाओं मे १६% श्रम शक्ति लगी हुई है। भारत मे कृषि व्यवसाय म लगी श्रम-शक्ति, अन्य समस्त व्यवसायो मे लगी श्रम-शक्ति के दुगुने से भी अधिक है। इससे कृषि व्यवसाय के महत्व का अनुमान लगाया जा सकता है।

ससार के कुछ देशो मे इस सन्दर्भ मे तुलना करने से यह ज्ञात होगा कि भारत मे कुल

कार्य-रत जनसंख्या (economically active population) का अधिकांश भाग कृषि में लगा हुआ है जबकि अन्य देशों में कृषि में कार्यरत जनसंख्या का अपेक्षाकृत कम भाग लगा हुआ है। उदाहरणतः, आस्ट्रेलिया में कुल कार्यरत जनसंख्या का केवल १५.४% भाग कृषि में लगा हुआ है। इसी प्रकार यह भाग कनाडा में १६%, संयुक्त अरब गणराज्य में ५०.६%, फ्रांस में ३६.५%, जापान में ४४.५%, ब्रिटेन में ४.०% और अमरीका में ६.०% मात्र है।

(ग) ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था (Rural Eocnomy)—भारत गाँवों का देश है। सन् १९६१ की जनगणना के अनुसार, भारत में ५,६६,८७८ गाँव तथा २,६९९ शहर थे। प्राचीन काल से ही गाँव भारतीय अर्थ-व्यवस्था तथा सामाजिक संगठन के आधार स्तम्भ हैं। नगरीकरण (urbanization) की दिशा में प्रगति होते हुए भी, गाँव की प्रधानता यथावत् बनी हुई है। सन् १८८१–१९११ की अवधि में भारत की कुल जनसंख्या का लगभग ९१% भाग गाँवों में रहता था। सन् १९७१ में ग्रामीण जनसंख्या कुल जनसंख्या की ८२% व शहरी जनसंख्या १९% थी। इस प्रकार वर्तमान समय में प्रत्येक ५ में से ४ व्यक्ति गाँव में रहते हैं। उन्नतिशील देशों में जनसंख्या का अधिक भाग शहरों में रहता है, ग्रामों में कम जनसंख्या रहती है। उदाहरण के लिए, फ्रांस की ग्रामीण जनसंख्या कुल जनसंख्या की ४७% है। यह प्रतिशत भाग अमरीका में ३६%, कनाडा में ३६%, तथा ब्रिटेन में १९% है। सामान्यतः ग्रामप्रधान देश निर्धन होते हैं। भारत में केवल १८% जनसंख्या शहरों में रहती है। यह हमारी अर्थ-व्यवस्था के पिछड़ेपन का प्रतीक है।

(३) जनसंख्या में तीव्र गति से वृद्धि (Rapid Increase in Population)—सन् १९५१ से १९६१ के बीच भारत की जनसंख्या में २१.५% वृद्धि हुई। १९६१-७१ के दशाब्द में वृद्धि २४.६ प्रतिशत हुई है। इस प्रकार १९६१-७१ के बीच जनसंख्या ४३.९ करोड़ से बढ़कर ५४.७ करोड़ हो गयी है। यह वृद्धि निश्चय ही बहुत अधिक है।

(४) बेरोजगारी तथा प्रच्छन्न बेरोजगारी (Unemployment and Disguised Unemployment)—पंचवर्षीय योजनाओं के अन्तर्गत आर्थिक विकास के प्रयत्नों के बावजूद भारत में बेकारी की समस्या बढ़ती जा रही है। प्रत्येक योजना के अन्त में बेकारों की संख्या बढ़ती जाती है। प्रथम योजना प्रारम्भ करते समय बेरोजगार व्यक्तियों की संख्या ५० लाख थी। द्वितीय योजना के प्रारम्भ में बेरोजगार व्यक्तियों की संख्या बढ़कर ७० लाख हो गयी। तृतीय योजना के प्रारम्भ में बेकारों की संख्या ९० लाख हो गयी। १९६५-६६ में कुल १ करोड़ व्यक्ति बेकार थे। १९७१ में भी लगभग १.४ करोड़ व्यक्ति बेरोजगार हैं। रोजगार की यह स्थिति निश्चय ही चिन्ताजनक है।

(५) नियोजित एवं मिश्रित अर्द्ध-व्यवस्था (Planned Economy and Mixed Economy)—भारतीय अर्थ-व्यवस्था एक नियोजित अर्थ-व्यवस्था है। भारत में नियोजित (Planned development) १ अप्रैल, १९५१ से प्रारम्भ किया गया।

तीन योजनाओं तथा बाकी पाँच वर्षों में (१९७०-७१ तक) अकेले लोक क्षेत्र में ही लगभग ३०० अरब रुपया खर्च किया गया है।

भारतीय अर्थ-व्यवस्था नियोजित होने के साथ ही साथ मिश्रित भी है। सार्वजनिक व निजी क्षेत्र का सह-अस्तित्व हमारी अर्थ व्यवस्था की प्रमुख विशेषता है। सरकार विभिन्न प्रकार के अधिनियमों द्वारा निजी क्षेत्र को नियन्त्रित करती है। सन् १९४८ की औद्योगिक नीति द्वारा मिश्रित अर्थ-व्यवस्था की स्थापना का लक्ष्य घोषित किया गया। कालान्तर में, हमारी आर्थिक नीतियों का उद्देश्य 'समाजवादी समाज' की स्थापना करना निश्चित किया गया। देश धीरे धीरे इस लक्ष्य की ओर अग्रसर हो रहा है। राष्ट्रीय आय तथा व्यय दोनों में सार्वजनिक क्षेत्र का प्रभाव

शनैः शनैः बढ़ रहा है। चतुर्थ योजना (१९६९–७४) में सार्वजनिक क्षेत्र में १५,९०२.२ करोड़ रुपये तथा निजी क्षेत्र में, ८,९८० करोड़ रुपये खर्च करने का अनुमान है।

(९) सम्पन्नता में दरिद्रता (Poverty in the midst of Plenty)—'भारत एक धनी देश है जहाँ के निवासी निर्धन हैं'—इस प्रचलित कहावत में निहित विरोधाभास का समाधान भारत के प्राकृतिक साधनों पर दृष्टिपात करने तथा उसके निवासियों की आर्थिक स्थिति का अध्ययन करने से ही हो सकता है। अतः यहाँ भारत की प्राकृतिक सम्पत्ति तथा निवासियों की आर्थिक स्थिति पर एक विहगम दृष्टि डालना उचित होगा।

(अ) सम्पन्नता (i) विस्तृत उपजाऊ क्षेत्र—भारत एक विशाल राष्ट्र है जिसका क्षेत्रफल (सिक्किम को मिलाकर) लगभग ३२.६८ लाख वर्ग किलोमीटर है। विस्तार की दृष्टि से संसार के देशों में भारत का सातवाँ नम्बर है और जनसंख्या की दृष्टि से दूसरा। भारत की सीमा-रेखा १५,१६८ किलोमीटर लम्बी है तथा समुद्रतट ५,६८९ किलोमीटर है। इस विशाल देश में गंगा, यमुना तथा ब्रह्मपुत्र का मैदान स्थित है जो उत्तर भारत में लगभग २,४०० किलोमीटर (१,५०० मील) लम्बा व २४० से ३२० किलोमीटर (१५०-२०० मील) चौड़ा है। यह मैदान संसार के सबसे उपजाऊ मैदानों में से एक है क्योंकि इसका निर्माण हिमालय से निकलने वाली अनेक नदियों की उपजाऊ मिट्टी से हुआ है। इन्हीं नदियों से इस मैदान की सिंचाई के लिए पर्याप्त जल उपलब्ध हो जाता है। इस मैदान के बल पर ही भारत को सुजला, सुफला तथा शस्य श्यामला धरती कहा जाता है। इसकी उपजाऊ मिट्टी के कारण ही इस मैदान में जनसंख्या अत्यन्त घनी है।

(ii) खनिज पदार्थ—उपजाऊ धरती के अतिरिक्त भारत में अनेक पठार हैं जो लावा अथवा भू-परिवर्तनों के कारण निर्मित हुए हैं। गोंडवाना शृंखला की कोयले की खानों में असीमित राशि अच्छे कोयले की है। इसके अतिरिक्त आसाम तथा दक्षिण भारत में भूरा कोयला पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध होता है। सिंहभूमि, मानभूमि, क्योंझर तथा गोआ के लोहे के भण्डार संसार में सर्वश्रेष्ठ बताये जाते हैं। इन भण्डारों में श्रेष्ठ किस्म का लगभग २,१६० करोड़ टन लोहा दबा हुआ है जिसके प्रयोग से भारत के मशीन एवं इस्पात उद्योग को विकसित करने का यथेष्ट अवसर मिल सकता है।

लोहे और कोयले के अतिरिक्त अभ्रक के निष्कासन में भारत का प्रथम स्थान है और मैंगनीज के खनन में तीसरा। वस्तुतः भारत अभ्रक और मैंगनीज का अधिकांश भाग अमरीका तथा यूरोप के देशों को निर्यात कर देता है। यदि इनका प्रयोग भारत में ही किया जाय तो हमारे विद्युत सम्बन्धी सामान तथा लोहा इस्पात उद्योग बहुत विकसित हो सकते हैं और करोड़ों रुपयों के मूल्य की विदेशी मुद्रा (जो बिजली का सामान तथा इस्पात आयात करने पर व्यय करनी पड़ती है) बच सकती है। इसी प्रकार भारत में प्रचुर मात्रा में खड़िया मिट्टी (Gypsum) उपलब्ध होती है जिसके प्रयोग द्वारा अधिकाधिक रासायनिक खाद तैयार की जा सकती है। चेस्टर बोल्स के मतानुसार अधिक खाद और पानी की सहायता से भारत का कृषि उत्पादन तिगुना हो सकता है।

उपर्युक्त पदार्थों के अतिरिक्त भारत में अणु शक्ति उत्पन्न करने के लिए आवश्यक सभी पदार्थ (यूरेनियम, थोरियम आदि) प्रचुर मात्रा में उपलब्ध हैं जिनके प्रयोग से यदि अणु-शक्ति का विकास किया जाय तो वह भारतीय उद्योगों के लिए वरदान सिद्ध हो सकती है। ऐसा अनुमान लगाया गया है कि भारतीय नदियों में प्रति वर्ष जितना जल बहकर व्यर्थ हो जाता है उसका प्रयोग करने पर यथेष्ट सिंचाई सुविधाएँ उपलब्ध हो सकती हैं तथा ४११ लाख किलोवाट बिजली उत्पन्न की जा सकती है जबकि वर्तमान उत्पादन केवल १०० लाख किलोवाट है।

गत वर्षों में अंकलेश्वर तथा नाहरकटिया में जो तेल भण्डार उपलब्ध हुए हैं वे इस बात के द्योतक हैं कि भारत के प्राकृतिक साधन अत्यन्त प्रचुर एवं विस्तृत हैं। उनका पता लगाकर उन्हें

यथोचित रूप मे प्रयोग करने से देश की अधिकाश औद्योगिक समस्याएँ हल हो सकती हैं यह निर्विवाद सत्य है ।[1]

(iii) वन-सम्पदा—भारत की लगभग २ ७४ लाख वर्गमील भूमि पर वन हैं जिनसे ईंधन, इमारती लकडी, चमडा रगने के पदार्थ, कई प्रकार के तेल, गोद, लाख तथा अनेक अन्य वस्तुएँ उपलब्ध होती हैं । इनमे से अकेली लाख ही प्रतिवर्ष १० करोड रुपये की आय देती है । वास्तव मे, भारतीय वन-सम्पदा का यदि सावधानी से प्रयोग किया जाय तो यह देश की कृषि एव औद्योगिक विकास के लिए बहुत उपयोगी सिद्ध हो सकती है ।

(iv) जन शक्ति—मनुष्य अपने साथ एक मुख और दो हाथ लेकर आता है । यदि दोनो हाथो का सामूहिक सदुपयोग किया जाय तो निश्चित ही मनुष्य अपना ही नही बल्कि सारे राष्ट्र का भाग्य बदल सकते हैं । इस दृष्टि से यदि चाहें तो भारत के ५३ करोड व्यक्ति लगन तथा उत्साह से किसी भी कठिन से कठिन कार्य को पलक मारते सम्पन्न कर सकते हैं । चीन द्वारा अपने देश की 'ह्वाई' नामक नदी पर अपार जन शक्ति के प्रयोग द्वारा बाँध बना लेना श्रम के महत्त्व एव सदुपयोग का ज्वलन्त उदाहरण है । भारत की कोसी, महानदी, दामोदर तथा अन्य नदियो पर बाँध निर्मित करने, दलदल वाली अथवा घासयुक्त भूमि को खेती योग्य बनाने, सडकें तथा नहरें आदि खोदने के विकास कार्यो को सम्पन्न करने मे यदि भारत की असीम जन-शक्ति का प्रयोग किया जाय तो देश का कल्याण हो सकता है ।

उपर्युक्त चारो बातो से यह स्पष्ट है कि भारत के पास प्रचुर मूल्यवान प्राकृतिक स्रोत हैं अर्थात वह एक सम्पत्तिशाली देश कहा जा सकता है ।

(ब) दरिद्रता का साम्राज्य—भारत के साधन-सम्पन्न होते हुए भी उसके निवासी निर्धन एव दरिद्र हैं इसका कारण यह है कि इन साधनो का यथोचित विदोहन कर इनमे से पूरा लाभ नहीं उठाया गया है । भारतीयो की दरिद्रता एव विपन्न आर्थिक अवस्था का अनुमान निम्न तथ्यो से लग सकता है .

(i) निर्धनता (Poverty)—भारत की अधिकाश जनता ग्रामो मे रहती है तथा उसकी आय का प्रमुख साधन कृषि अथवा आसपास के नगरो मे स्थित कारखानो की मजदूरी है । ग्रामो के अधिकाश व्यक्ति अर्द्ध-नियोजित हैं । इनके अतिरिक्त, कृषि उत्पादन बहुधा मानसून पर निर्भर करता है जो कभी तो यथेष्ट वर्षा कर किसान को मालामाल कर देती है किन्तु बहुधा अनिश्चित तथा असमय पर जल बरसाती है । इन दोनो बातो के परिणामस्वरूप ग्राम निवासियो की आय बहुत कम है और अधिकाश व्यक्तियो के लिए दोनो समय यथेष्ट भोजन की व्यवस्था करना ही कठिन होता है । अधिकतर व्यक्ति मिट्टी के कच्चे मकानो मे रहते हैं जो वर्षा ऋतु मे टपकते रहते हैं ।

भोजन एव आवास के अतिरिक्त किसान प्राय गरमी मे एक धोती से ही काम चला लेते हैं जबकि सरदी मे भी उन्हे एक सामान्य कुरते-धोती तथा एक सूती चादर के अतिरिक्त तन ढकने को कुछ भी उपलब्ध नही होता ।

उपर्युक्त दीन-हीन परिस्थितियो का अनुमान भारतीयो की आर्थिक आय से भी लगाया जा सकता है जिसके तुलनात्मक अक अग्रलिखित हैं :

---

[1] इन साधनो का विस्तृत अध्ययन आगे एक अध्याय मे किया गया है ।

प्रति व्यक्ति राष्ट्रीय आय—अमरीकी डालरों में

देश	आय	देश	आय
१ कुवैत	३,२६०	११. जापान	७६०
२ अमरीका	३,२४०	१२ मलेशिया	२६०
३ स्विटजरलैण्ड	२,१५०	१३. घाना	२३०
४ स्वीडेन	२,१३०	१४ संयुक्त अरब गणराज्य	१५०
५ कनाडा	२,१००	१५ लंका	१४०
६ आस्ट्रेलिया	१,७५०	१६. थाईलैण्ड	१२०
७ फ्रांस	१,६२०	१७ भारत	९०
८ जर्मनी	१,६२०	१८ पाकिस्तान	८५
९ इंगलैण्ड	१,५५०	१९. अफगानिस्तान	६५
१० सोवियत संघ	१०००	२० बर्मा	६५

प्रति व्यक्ति राष्ट्रीय आय के अंकों से भारतीय नागरिक की आर्थिक स्थिति का अनुमान भर लग सकता है। वास्तव में ९० डालर (या १९६५ के अनुसार ४२७ रुपये) तो औसत वार्षिक आय है। ग्रामीण व्यक्तियों की प्रति व्यक्ति वार्षिक आय का अनुमान तो केवल १०७ रुपये लगाया गया है जो केवल एक दुर्भाग्यपूर्ण स्थिति का द्योतक है।

(ii) **निम्न जीवन स्तर** (Low Standard of Living)—इतनी कम आय में जीवन-निर्वाह की कल्पना करना ही विडम्बना है क्योंकि इससे सामान्य आवश्यकताओं की पूर्ति हो सकना ही सम्भव नहीं है। ग्रामीण क्षेत्रों में तो दैनिक आय ६८ पैसे प्रति व्यक्ति है। उनमें भी लगभग १ करोड़ व्यक्ति २७ पैसे प्रतिदिन, ५ करोड़ व्यक्ति ३२ पैसे प्रतिदिन और १० करोड़ व्यक्ति ४२ पैसे प्रतिदिन कमाते हैं। यह आँकडे व्यावहारिक अर्थ-शोध राष्ट्रीय परिषद (N C A E R.) द्वारा दिये गये हैं।

इन तथ्यों से यह पता चलता है कि भारत की अधिकांश जनता का जीवन-स्तर अत्यन्त निम्न है। एक भारतीय को प्रतिदिन खाद्य पदार्थों से केवल २,१४५ कलरी प्राप्त होती है जबकि उन्नतिशील देशों में प्रति व्यक्ति को प्रतिदिन औसत रूप से ३,००० से अधिक कलरी भोजन से प्राप्त होती है।

भारत में कपड़े का उपभोग प्रति व्यक्ति १५ मीटर वार्षिक है जबकि विकसित देशों में यह औसत लगभग ५० मीटर है।

(iii) **अन्य वस्तुओं का उपयोग** (Use of other Commodities)—भारत में अन्य वस्तुओं का प्रति व्यक्ति उपयोग भी अत्यन्त कम है। उदाहरणार्थ, अमरीका व ब्रिटेन में प्रति ५ व्यक्ति एक वर्ष में क्रमशः १८ जोड़ी व १४ जोड़ी जूतों का उपयोग करते हैं। जिन वस्तुओं का उपयोग विदेशों में आवश्यक माना जाता है वे भी भारत में विलासिता सम्बन्धी आवश्यकताओं की श्रेणी में आ जाती हैं। भारत में प्रति ३०० व्यक्ति एक रेडियो सेट, प्रति १००० पक्के मकानों में केवल एक रेफ्रीजरेटर तथा प्रति ८० व्यक्ति एक घड़ी उपलब्ध है। यह विकसित देशों की तुलना में बहुत कम है।

(iv) **अन्य तथ्य** (Other Facts)—भारत में प्रति व्यक्ति विद्युत शक्ति का उपयोग ब्रिटेन में प्रति व्यक्ति के विद्युत शक्ति के उपयोग का केवल $\frac{1}{५५}$ भाग है। इसी प्रकार भारत में यह उपयोग कनाडा तथा अमरीका का क्रमशः $\frac{1}{९६}$ तथा $\frac{1}{५९}$ है। इस्पात व कोयले के प्रति व्यक्ति उपयोग में भी भारत उन्नतिशील देशों से बहुत पीछे है। अमरीका, ब्रिटेन तथा पश्चिमी जर्मनी में प्रति व्यक्ति इस्पात का उपयोग क्रमशः १००, ५० व ४५ गुना है।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि भारत जहाँ एक ओर प्राकृतिक साधनों से सम्पन्न है, वहीं दूसरी ओर उसकी जनता अत्यन्त निम्न जीवन-स्तर व्यतीत करती है। अतः भारत में सम्पन्नता के साथ दरिद्रता का साम्राज्य है।

(७) विदेशी व्यापार तथा परिवहन (Foreign Trade and Transport)—भारत के विदेशी व्यापार में वृद्धि होते हुए भी, व्यापार की दृष्टि से भारत एक पिछड़ा हुआ देश है। सन् १९४० में विश्व के कुल व्यापार में भारत का भाग २.०% था जो सन् १९५९ में बढ़कर ३.६% हो गया। किन्तु निर्यात सम्वर्द्धन के प्रयत्नों के होते हुए भी विश्व निर्यात व्यापार में भारत का अंश घटता जा रहा है। सन् १९५१ में विश्व निर्यात व्यापार में भारत का भाग २ प्रतिशत था, जो घटकर सन् १९७० में ०.७ प्रतिशत मात्र रह गया है।

परिवहन के क्षेत्र में भी भारत पिछड़ा हुआ है। डॉ० जानसन के अनुसार, भारत में प्रति १,००० वर्गमील क्षेत्र में केवल २३ मील रेल-मार्ग हैं जबकि इंगलैण्ड, फ्रांस तथा अमरीका में यह औसत क्रमशः २०४, १२० तथा ७४ मील है। भारत में प्रति वर्गमील केवल ०.३ मील लम्बी सड़कें हैं, जबकि इंगलैण्ड, फ्रांस व अमरीका में यह औसत क्रमशः ३.२५, ३ व १ मील है। भारतीय जहाजों द्वारा भारत के कुल विदेशी व्यापार का केवल २०% भाग ले जाया जाता है।

(८) पूँजी का अभाव (Dearth of Capital)—भारत की औसत आय विकसित देशों की तुलना में बहुत कम है अतः व्यक्तियों की बचाने की शक्ति स्वभावतः कम है, किन्तु फिर भी गत वर्षों में बचत की गति बढ़ रही है। १९५५-५६ में बचत की दर कुल राष्ट्रीय आय की ७.३ प्रतिशत थी जो १९६५-६६ में बढ़कर ११.५ प्रतिशत हो गयी। १९७०-७१ में यह प्रतिशत १७ तक पहुँचने की आशा है। यह आकांक्षा पूरी होने में एक बड़ी बाधा यह है कि गत वर्षों में वस्तुओं के मूल्य में तीव्र गति से वृद्धि हो रही है, जिससे जनता की बचत की इच्छा एवं शक्ति दोनों पर प्रभाव पड़ रहा है।

(९) प्राविधिक ज्ञान एवं शिक्षा का अभाव (Lack of Technical Know how and Education)—भारत में गत वर्षों में विभिन्न वैज्ञानिक एवं प्राविधिक क्षेत्रों में प्रगति होने पर भी बाँध बनाने, विशेष बड़े पैमाने के उद्योग स्थापित करने तथा मशीनों आदि का निर्माण करने सम्बन्धी प्राविधिक ज्ञान का अभाव है। इस प्राविधिक ज्ञान के अभाव में कृषि, उद्योग तथा यातायात आदि क्षेत्रों में उन्नति की गति शिथिल एवं असन्तोषजनक है।

आर्थिक विकास में शिक्षा का महत्त्व बताते हुए चेस्टर बोल्स ने यह मत व्यक्त किया है कि *"प्राकृतिक शक्तियों का नियन्त्रण करने और यथोचित रूप देने तथा एक न्यायपूर्ण, अनुशासित एवं गतिशील समाज की स्थापना करने के लिए शिक्षा सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण उपकरण है।"*[1] संसार विज्ञान तथा प्राविधिक क्षेत्रों में जिस गति से बढ़ रहा है उसका लाभ उठाने के लिए शत प्रतिशत व्यक्तियों का शिक्षित होना आवश्यक है। १९७१ की जनगणना के अनुसार, भारत में केवल २९.३५ प्रतिशत व्यक्ति साक्षर हैं जबकि शिक्षितों की संख्या सम्भवतः ५ प्रतिशत से भी कम होगी। फलतः जिन व्यक्तियों को जो सुविधाएँ सरकार द्वारा दी जाती हैं, शिक्षा के अभाव में उन सुविधाओं को समझना और उनसे लाभ उठाना उनके लिए सम्भव नहीं है। अशिक्षा के कारण भारत का औसत नागरिक रूढ़िवादी है एवं अन्धविश्वासों से ग्रस्त है जिसके कारण वह नवीन पद्धतियों एवं प्राविधियों को अपनाने में हिचकता है। यह एक दुर्भाग्यपूर्ण स्थिति है।

(१०) परम्परावादी समाज (Conservative Society)—साधन सम्पन्न होने पर भी एक औसत भारतीय की आर्थिक दीनता समाज में व्याप्त अनेक कुरीतियों के कारण है। बाल-

---

[1] "Education is the most powerful of all our tools for controlling and shaping the forces of nature and creating an orderly dynamic and just society."

विवाह, मृतक भोज, विवाह तथा अन्य अवसरो पर अनुचित व्यय करने की परम्परा तथा अनेकानेक रीति-रिवाजो पर ऋण लेकर अनाप-शनाप धन व्यय किया जाता है। यह अनुत्पादक ऋण किसी भी दृष्टि से चुकाना सम्भव नहीं है। फलत अनेक परिवार जो सामान्य रूप मे एक स्वस्थ एव सुखी जीवन बिताते, ऋण के दुखद भार से दबे रहते हैं और उनके अवाछनीय कार्यों का फल उनके बाल-बच्चो तक को भुगतना पडता है।

(११) आर्थिक विषमता (Economic Disparity)—भारत मे आर्थिक विषमता विद्यमान है। कुछ धनी व्यक्तियो के हाथो मे कुल आय का अधिक भाग केन्द्रित है तथा अधिकाश व्यक्ति निर्धन हैं, जिनके पास कुल आय का बहुत कम भाग जाता है।

महालनोविस समिति के अनुसार देश मे केवल १% व्यक्तियो को कुल आय का १०% भाग प्राप्त होता है जबकि ५०% व्यक्तियो को कुल आय का केवल २२% भाग प्राप्त होता है। इस प्रकार भारत मे आर्थिक विषमता अत्यधिक है।

(१२) एक विकासोन्मुखी अर्थ-व्यवस्था (A Developing Economy)—भारतीय अर्थ-व्यवस्था की उपर्युक्त विशेषताओ से यह आभास होता है कि यह एक पिछडी हुई अर्थ व्यवस्था है। परन्तु देश मे जब से योजनाबद्ध विकास प्रारम्भ हुआ है तब से भारतीय अर्थ व्यवस्था विकास-पथ पर अग्रसर हो रही है। औद्योगिक दृष्टि से भारत का पर्याप्त विकास नही हुआ है फिर भी देश का तेजी से औद्योगीकरण किया जा रहा है। योजनाबद्ध आर्थिक विकास के बीस वर्षों मे भारत का औद्योगिक उत्पादन तीन गुने से भी अधिक हो गया है।

उपर्युक्त विशेषताओ से स्पष्ट है कि भारत मे अब भी एक अल्प विकसित देश है। कृषि की प्रधानता तथा उद्योग व सेवाओ का कम अश आर्थिक पिछडेपन का ही प्रतीक है। भारत के आर्थिक ढांचे में, विकास के होते हुए भी मूल परिवर्तन नहीं हुए हैं। कृषि का राष्ट्रीय आय मे अब भी ५० प्रतिशत योगदान है। अमेरिका, जापान तथा ब्रिटेन जैसे देशों मे आर्थिक विकास प्रारम्भ होने के कुछ काल पश्चात् कृषि का राष्ट्रीय उत्पादन मे भाग ३ व १२ प्रतिशत के बीच है। उद्योगों का अशदान क्रमश बढता गया है। भारत के आर्थिक ढांचे मे इस प्रकार का भी परिवर्तन अति दीर्घकाल मे भी सम्भव नही प्रतीत होता है। सार्वजनिक क्षेत्र का विकास होते हुए भी इस क्षेत्र का अर्थ व्यवस्था मे अश आठवां भाग मात्र है, शेष अश निजी क्षेत्र का है। अत भारतीय अर्थ-व्यवस्था मूलत एक अल्प विकसित व निजी क्षेत्र प्रधान अर्थ-व्यवस्था है।[1]

---

1 *Commerce*, January 30, 1971

स्वातन्त्र्योपरान्त भारतीय अर्थ-व्यवस्था
(INDIAN ECONOMY SINCE INDEPENDENCE)

भौगोलिक परिस्थितियाँ

(PHYSICAL ENVIRONMENTS)

"India is well marked off from the rest of Asia by mountains and the sea which give the country an unmistakable geogra phical unity"

एशिया महाद्वीप के मानचित्र मे भारत का एक विशिष्ट स्थान है, क्योंकि जहाँ उत्तर मे साइबेरिया के बर्फील मैदान दिखायी पडते हैं, जो प्राय जन शून्य हैं, वहाँ दक्षिण मे एक विशाल देश दृष्टिगोचर होता है जो धन जन से भरपूर है। एशिया का एक महत्त्वपूर्ण भाग होते हुए भी भारत एशिया के अधिकतर देशो मे प्रकृति द्वारा अलग कर दिया गया है। उत्तर मे हिमालय की विस्तृत श्रेणियाँ उसे चीन, अफगानिस्तान आदि से अलग करती हैं तो पूर्व मे बर्मा भी इन्ही पर्वत-शृखलाओ के कारण भारत स अलग दिखायी पडता है। इसी प्रकार पश्चिम म अरब सागर तथा दक्षिण मे बगाल की खाडी भारत की सीमा रेखा निर्मित करते हैं।

भारत उत्तरी गोलार्द्ध मे लगभग ८°४' उत्तर मे ३७°६' उत्तरी अक्षाश तथा ६८°७' से ९७°२५' पूर्वी देशान्तर रेखाओ के बीच फैला हुआ है। इसका विस्तार उत्तर से दक्षिण ३,२१९ किलोमीटर तथा पश्चिम से पूर्व लगभग २ ९७७ किलोमीटर है। इसका क्षेत्रफल लगभग ३२·९८ लाख वर्ग किलोमीटर है।

भारत की स्थल सीमा १५,१६८ किलोमीटर तथा समुद्र तट का विस्तार ५ ६८९ किलोमीटर है।

भारत का क्षेत्रफल सम्पूर्ण ससार का २ ४ प्रतिशत है। इस विशाल भूखण्ड को उप-महाद्वीप की सज्ञा दी जाती है। क्षेत्रफल की दृष्टि से सोवियत रूस, अमेरिका, कनाडा, चीन, ब्राजील तथा आस्ट्रेलिया के पश्चात विश्व मे भारत का क्षेत्रफल सयुक्तराज्य अमेरिका का एक तिहाई तथा सोवियत रूस का सातवाँ भाग है। क्षेत्रफल की दृष्टि मे भारत ब्रिटेन का तेरह गुना तथा जापान का आठ गुना है। भारत की लगभग ५५ करोड जनसख्या (सन १९७१) विश्व की कुल जनसख्या की १४ प्रतिशत है। जनसख्या की दृष्टि से विश्व मे भारत का चीन के पश्चात दूसरा स्थान है। भारत की जनसख्या सोवियत रूस सयुक्तराज्य अमेरिका तथा ब्रिटेन की मिली जुली जनसख्या से भी अधिक है। रूस के अतिरिक्त यूरोप का प्रत्येक देश भारत के राज्य मध्य प्रदेश से छोटा है। अकेले उत्तर प्रदेश की जनसख्या ब्रिटेन तथा कनाडा की मिली-जुली जनसख्या से भी अधिक है। भारत की विशालता, उसका विपुल जन-समुदाय, उसके निवासियो की विविधता, उसका गौरवमय प्राचीन वैभव, उसकी अनूठी सस्कृति, उसकी भाषाएँ, उसकी राजनीतिक श्रेष्ठता तथा उसकी भू सरचना

जलवायु, वनस्पति व प्राकृतिक साधनों की विविधता, उसे एक उप-महाद्वीप की श्रेणी में खड़ा करते हैं। भारत विश्व का सबसे बड़ा प्रजातन्त्रात्मक देश है।

प्राकृतिक विभाग
(NATURAL DIVISION)

भारत को प्राकृतिक दृष्टि से पांच स्पष्ट भागों में बांटा जा सकता है

(१) हिमालय का पर्वतीय प्रदेश,

(२) गंगा और यमुना का मैदान,

(३) दक्षिणी प्रायद्वीप,

(४) समुद्रतटीय मैदान,

(५) पश्चिम का मरुस्थल।

१ **हिमालय का पर्वतीय प्रदेश**—भारत के उत्तरी भाग में हिमालय की तीन समानान्तर शृङ्खलाएं हैं जो पूर्व से पश्चिम तक लगभग २,४१४ किलोमीटर की लम्बाई में फैली हुई हैं। उत्तरी भाग में ये शृङ्खलाएँ बहुत ऊंची हैं और संसार की कुछ ऊँची से ऊँची चोटियाँ इसी भाग में विद्यमान है। यह भाग वर्ष के प्राय सभी महीनों में बरफ से ढका रहता है। केवल ग्रीष्म ऋतु के कुछ महीनों में जब जेलेपला तथा नानूला आदि दर्रे खुल जाते हैं, तब तिब्बत से व्यापार सम्भव हो जाता है। इन महीनों में *तिब्बत से ऊन, सुहागा तथा टट्टू भारत आते रहते हैं* और वस्त्र, शक्कर तथा अन्य निर्मित माल निर्यात होता रहता है। तिब्बत पर चीन का आधिपत्य होने के बाद यह व्यापार प्राय समाप्त हो गया है।

उत्तरी श्रेणियां—उत्तरी भाग की पर्वत श्रेणियाँ ऊंची होने के कारण इस क्षेत्र में जनसंख्या बहुत कम है किन्तु दस हजार फुट की ऊँचाई तक जगह-जगह पर ग्राम बसे हुए हैं। इन क्षेत्रों के लोग भेड-बकरियाँ पालते है तथा कही कही ग्रीष्म ऋतु मे चावल की खेती भी करते हैं। कुछ लोग जड़ी-बूटियाँ एकत्र करते हैं तथा उन्हें मैदानों मे लाकर बेच देते है। इस भाग में चीड, देवदार तथा अखरोट के पेड है जिनकी लकड़ी काटकर नदियो मे बहा दी जाती है। मैदानी भाग में लोग इन लकडियो को एकत्र कर लेते हैं और फर्नीचर तथा खेलो का सामान बनाने और खुदाई आदि करने के लिए प्रयोग करते हैं। इस भाग के लोग बहुत दरिद्र किन्तु सशक्त हैं, क्योंकि उनका जीवन अत्यन्त कठिन है।

पश्चिमी भाग—पश्चिमी हिमालय प्रदेश में काश्मीर घाटी है तथा उत्तर के कुछ निचले भागों म कांगड़ा और कुल्लू की घाटियां है। य घाटियाँ बहुत सुरम्य तथा रमणीक हैं। इनमें *अनेक प्रकार के फल तथा सब्जियां उत्पन्न होती हैं। लोगो का मुख्य पेशा खेती करना है* जिसके साथ साथ भेड-बकरियाँ पालने का व्यवसाय भी होता है। खेती की मुख्य उत्पत्ति चावल है। इसके अतिरिक्त कहीं कहीं लोग ऊन से नमद, कम्बल अथवा शाल बनाने का व्यवसाय भी करते हैं अथवा अखरोट की लकड़ी पर खुदाई का काम करते हैं। इस क्षेत्र मे उत्तरी क्षेत्र से आवागमन के साधन कुछ ठीक हैं क्योंकि कहीं-कहीं सड़कें निर्मित कर दी गयी हैं। इन प्रदेशो के सौन्दर्य के कारण इन स्थानो पर प्रतिवर्ष बहुत से पर्यटक देश विदेशो से आते रहते हैं।

पूर्वी-प्रदेश—पूर्वी हिमालय में खासी, जयन्तिया तथा गारो की पहाड़ियाँ भी बहुत नीची हैं। इस भाग में अत्यधिक वर्षा होने के कारण बहुत घने वन हैं। इन वनों में अनेक स्थानो पर शहतूत के कीडे पाले जाते हैं जिनसे रेशम तैयार किया जाता है। जहाँ वन अधिक नहीं हैं वहाँ चावल तथा चाय की खेती की जाती है। इस भाग के वनों में ही नागा जाति के लोग रहते हैं जो प्राय असभ्य एव खूंखार हैं। इस क्षेत्र मे भी आवागमन के साधनो का अभाव है।

संक्षेप में, हिमालय के पर्वतीय प्रदेश में जनसंख्या साधारण है, आने-जाने के साधन अविकसित हैं तथा उद्योग एव व्यवसाय का प्राय अभाव है। इस प्रदेश के लोग बहुत परिश्रमी

तथा सबल हैं किन्तु उनकी आर्थिक स्थिति अच्छी नही है। इन सब परिस्थितियों का कारण यही है कि भौगोलिक वातावरण उनके अनुकूल नहीं है।

हिमालय के अन्य प्रभाव—हिमालय भारत के आर्थिक जीवन पर व्यापक प्रभाव डालता है जिसका अनुमान निम्न तथ्यों से हो सकता है

(i) **वर्षा**—यह अरब सागर एव बगाल की खाडी की मानसून हवाओं को रोककर सम्पूर्ण उत्तर भारत मे वर्षा करवाता है। इसके साथ ही यह साइबेरिया म आने वाली शीत लहरों को भारत मे आने स रोकता है जिससे यहाँ की जलवायु तथा फसलें उन लहरों के दुष्प्रभाव से बची रहती हैं।

(ii) **नदियाँ और सिंचाई**—हिमालय से अनेक नदियाँ निकलकर उत्तरी मैदान मे बहती हैं और उनम सदा पर्याप्त जल बना रहता है। इस जल से मैदान मे उत्पन्न की जाने वाली फसलों की नियमित सिंचाई सम्भव होती है। वास्तव मे, इस मैदान का निर्माण एव विकास ही इन नदियों द्वारा हुआ है और भविष्य भी इन नदियों पर ही निर्भर है। इस दृष्टि से यह कहना सर्वथा सत्य है कि उत्तरी मैदान 'हिमालय का वरदान' है।

(iii) **वनस्पति**—हिमालय म अनेक प्रकार की जडी बूटियाँ, लकडी तथा घास आदि प्राप्त होती है जिनके आधार पर अनेक प्रकार के व्यवसाय सचालित किये जाते हैं।

(iv) **स्वास्थ्यवर्द्धक स्थान**—हिमालय की सुरम्य घाटियाँ अनेक व्यक्तियों के आकर्षण का केन्द्र हैं तथा इस क्षेत्र के स्वास्थ्यवर्द्धक स्थानों पर अनेक व्यक्ति स्वास्थ्य लाभ के लिए जाते हैं।

(v) **पशुपालन**—हिमालय क्षेत्र मे जो भेड बकरियाँ पाली जाती हैं उनके बाल तथा ऊन बहुत उपयोगी हैं और वह ऊनी वस्त्र बनाने के लिए काम म लाये जाते हैं जिससे अनेक व्यक्तियों को रोजगार मिलता है।

(vi) **खनिज**—भूगर्भशास्त्रियों का अनुमान है कि हिमालय क्षेत्र मे पर्याप्त मात्रा मे खनिज तेल हैं जिसकी खोज की जा रही है। तेल प्राप्त होने पर इस क्षेत्र का विकास करने मे अधिकाधिक सहायता मिल सकेगी तथा देश के आर्थिक विकास मे भी समुचित योग मिल सकेगा।

२ **गगा और सिन्धु का मैदान**—यह मैदान लगभग २,४०० किलोमीटर लम्बा है तथा इसकी चौडाई अनेक स्थानों पर २०० ३०० किलोमीटर है। कहा जाता है कि इस मैदान के स्थान पर किसी समय 'टिथीस' नाम का सागर था जो उत्तर मे ईरानी पठार तक फैला हुआ था। सिन्धु, गगा तथा ब्रह्मपुत्र नदियाँ इस सागर मे गिरती थीं। यह सागर बहुत उथला था और इसमे गिरने वाली नदियाँ अपने साथ अत्यधिक मिट्टी लाकर जमा करती रही। शताब्दियों तक चलने वाले इस क्रम से कालान्तर मे यह सागर मिट्टी से पूर्ण हो गया और मैदान के रूप म परिवर्तित हो गया। नदियों की कछारी मिट्टी द्वारा निर्मित होने के कारण ही यह मैदान इतना अधिक उपजाऊ है।

उपज और जनसंख्या—भारत की सबसे अधिक उपजाऊ भूमि से युक्त यह मैदान अनेक फसलें उत्पन्न करता है जिनमें गेहूँ, चावल, गन्ना, कपास, तिलहन आदि सम्मिलित हैं। इस प्रकार कृषि की दृष्टि से यह मैदान बहुत सम्पन्न है। समतल होने के कारण इस मैदान पर परिवहन के साधनों का यथेष्ट विकास हो गया है। इसके अतिरिक्त इस क्षेत्र म उद्योगों का भी काफी विकास हो गया है। फलत इस मैदान मे जनसंख्या बहुत घनी है।

व्यवसाय—स्वभावत इस मैदान के निवासियों के व्यवसाय मे खेती तथा उद्योग दोनों का समान महत्त्व है। वस्त्र, चीनी, पटसन, सीमेण्ट, कागज तथा चमडा उद्योग इस क्षेत्र के प्रमुख उद्योग है जिनमें लाखों श्रमिक काम करते है। इन उद्योगों द्वारा उत्पन्न माल से न केवल देश के लोगों की उपभोग सम्बन्धी आवश्यकताओं की पूर्ति होती है बल्कि निर्यात से विदेशी विनिमय की आय भी होती है।

सामाजिक महत्त्व—उत्तरी मैदान का भारत के आर्थिक, सामाजिक एवं राजनीतिक जीवन में अत्यधिक महत्त्व है क्योंकि एक ओर तो यह राष्ट्र के धनधान्य-वृद्धि में अधिकांश योगदान करता है, दूसरी ओर यह देश के प्राय सभी अन्य भागों के आकर्षण का केन्द्र है। देश की सामाजिक, सांस्कृतिक एवं नैतिक परम्पराओं का *समन्वय करने में इस भू-भाग का अत्यधिक सहयोग रहा है* क्योंकि इस क्षेत्र में देश के प्राय सभी भागों के लोग निवास करते हैं तथा इसके मूल निवासी भारत के प्राय सभी भागों में फैले हुए हैं। उत्तरी मैदान वास्तव में भारत का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण क्षेत्र है।

३ दक्षिणी प्रायद्वीप—गंगा यमुना के मैदान के दक्षिण में जो पठारी भाग है यह ज्वालामुखी पर्वतों से निकले हुए लावा से निर्मित है। इसलिए इसकी मिट्टी काली या लाल है। इस पठार में अनेक प्रकार के खनिज पदार्थ उपलब्ध हैं। कोयला, लोहा, मैंगनीज, डोलोमाइट, चूने का पत्थर, *थोरियम, स्वर्ण तथा बॉक्साइट आदि अनेक मूल्यवान पदार्थ इस क्षेत्र में मिलते हैं।* खनिज पदार्थों की उपलब्धि के कारण इस भाग में लौह-इस्पात, जहाज, सीमेण्ट तथा अन्य कई प्रकार के उद्योग स्थापित हो गये हैं, इस क्षेत्र में मूंगफली तथा कपास प्रचुर मात्रा में पैदा होती है जिसके कारण वनस्पति तेल तथा वस्त्र उद्योग का भी इस क्षेत्र में यथेष्ट विकास हो गया है।

सिंचाई और उपज—पठारी भाग होने के कारण इस क्षेत्र में जो नदियाँ हैं (महानदी, गोदावरी, कृष्णा, कावेरी, नर्मदा, ताप्ती आदि) वे अधिक वेग से चलने वाली हैं। उनसे नहरें निकालना भी सम्भव नहीं है क्योंकि न तो उनमें बारह महीने जल रहता है और न ही इस भाग में *नहरें खोदना सम्भव है। अनेक स्थानों पर बड़े बड़े तालाब या तो अपने आप बन गये हैं या* लोगों द्वारा बना लिये गये हैं जिनमें वर्षा-काल में पानी जमा हो जाता है और सिंचाई के काम आता है, इनके द्वारा ही तिलहन, कपास तथा गरम मसाले और तम्बाकू उत्पन्न किये जाते हैं। इनके अतिरिक्त इस भाग में यथेष्ट मात्रा में (नीलगिरि की पहाड़ियों में) चाय भी उत्पन्न होती है। वस्तुत पठारी भाग होने के कारण यह भाग कृषि की दृष्टि से अधिक महत्त्वपूर्ण नहीं है किन्तु उद्योग की दृष्टि से इसका यथेष्ट विकास हो गया है।

४ तटीय मैदान—दक्षिणी प्रायद्वीप के पश्चिमी तथा पूर्वी किनारों की भूमि मैदानी है। ये मैदान भी नदियों की मिट्टी से बने हैं तथा बहुत उपजाऊ हैं। तटीय मैदान दो हैं (१) पूर्वी तटीय मैदान तथा (२) पश्चिमी तटीय मैदान। पूर्वी तटीय मैदान पूर्वी घाट तथा बंगाल की खाड़ी के बीच उत्तर में उड़ीसा के तट से दक्षिण में कन्याकुमारी तक फैला हुआ है। पश्चिमी तटीय मैदान अरब सागर के किनारे-किनारे सूरत से कुमारी अन्तरीप तक फैला हुआ है। इस मैदान की लम्बाई लगभग १,५०० किलोमीटर तथा चौड़ाई २५ किलोमीटर मात्र है। इन मैदानों में (जिन्हें नदियों के डेल्टे कहना अधिक उपयुक्त होगा) चावल, गन्ना, नारियल तथा पटसन प्रचुर मात्रा में उत्पन्न होता है। पश्चिमी तट के मैदान में वर्षा अधिक होती है, अत वहाँ गरम मसाले तथा नारियल अधिक मात्रा में उत्पन्न होते हैं।

५ पश्चिमी मरुस्थल—भारत के पश्चिम में (पाकिस्तान की सीमा से लगा हुआ थार का मरुस्थल है। इस मरुस्थल का विस्तार लगभग एक लाख वर्ग किलोमीटर है। इस मरुस्थल में राजस्थान के जोधपुर तथा बीकानेर विभाग के अधिकांश क्षेत्र सम्मिलित हैं। मरुस्थल प्रदेश की जलवायु अत्यधिक गर्म है। *रात तथा दिन के तापक्रम में पर्याप्त अन्तर पाया जाता है।* वर्षा का वार्षिक औसत अधिकांश भागों में ५ इंच है। यह भाग प्राकृतिक दृष्टि से अन्य भागों से सर्वथा भिन्न है क्योंकि इसके अधिकांश भागों में बालू-रेत फैली हुई है, मीलों तक जल उपलब्ध नहीं होता और कांटेदार झाड़ियों के अतिरिक्त किसी प्रकार की वनस्पति दृष्टिगोचर नहीं होती।

इस मरुस्थलीय प्रदेश में प्राय एक फसल होती है जो गरमी की मानसूनी वर्षा द्वारा

उत्पन्न की जाती है। मूंग, मोठ, बाजरा, तिल तथा ग्वार इस प्रदेश की मुख्य उपज हैं। लोगों का मुख्य व्यवसाय खेती और पशुपालन है। जिन क्षेत्रों में भेड़ बकरियाँ पाली जाती हैं वहाँ ऊन का व्यवसाय बहुत उन्नत हो गया है। बीकानेर से नमदे तथा गलीचे विदेशों को निर्यात किए जाते हैं। इस मरुस्थल के अनेक भागों में आने जाने का एकमात्र साधन ऊँट है जो सवारी तथा सामान ढोने के काम आता है।

इस प्रदेश के कुछ भागों में भाखरा की नहरें पहुँच गयी हैं जिनके कारण गेहूँ, चना, कपास तथा गन्ना उत्पन्न होने लगा है। गंगानगर जिले के अनेक भाग गंगा नहर के कारण हरे-भरे हो गये हैं। इन भागों में रेलों तथा सड़कों का भी यथेष्ट विकास हो गया है और चीनी, वस्त्र तथा तेल के कारखाने स्थापित हो गए हैं। राजस्थान नहर योजना के कार्यान्वित होने से इस प्रदेश में कृषि एवं उद्योगों का समुचित विकास हो सकेगा जिससे यहाँ के निवासियों को अधिकाधिक सुख समृद्धि सुलभ हो सकेगी।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि भारत के विभिन्न भागों में रहने वाले लोगों के व्यवसाय, उद्योग तथा सामाजिक जीवन उन क्षेत्रों के धरातल एवं भौगोलिक परिस्थितियों पर निर्भर करते हैं। पर्वत, मैदान तथा पठारी प्रदेशों में कृषि, उद्योग तथा व्यवसाय मुख्यतः वहाँ की प्राकृतिक बनावट पर आधारित हैं। इन पर जलवायु का भी प्रभाव पड़ता है जिसका वर्णन निम्न प्रकार है

जलवायु

जलवायु सम्बन्धी जितनी विभिन्नताएँ भारत में पायी जाती हैं, उतनी संसार के किसी भी अन्य देश में नहीं पायी जाती। भारत की जलवायु की विषमता को दृष्टिगत रखते हुए प्रसिद्ध भूगोलशास्त्री मार्सडेन ने कहा है, 'विश्व की समस्त जलवायु भारत में मिलती है।" भारत की जलवायु मानसूनी है। उत्तरी भारत की जलवायु शीतोष्ण कटिबन्धीय तथा दक्षिणी भारत की जलवायु उष्ण कटिबन्धीय है। मुख्य रूप से भारत की जलवायु ट्रापिकल मानसूनी है, परन्तु देश के विभिन्न भागों में विभिन्न प्रकार की जलवायु पायी जाती है। भारतीय प्रायद्वीप की आकृति, उसकी विषुवतरेखा से दूरी, उसके उत्तरी भाग का हिमालय पर्वत द्वारा घेराव, समुद्र से घिरा होना उसके जलवायु को प्रभावित करती हैं।

भारत विषुवतरेखा के उत्तर में स्थित है और दक्षिणी प्रायद्वीप के कुछ भाग विषुवतरेखा के बहुत निकट पड़ते हैं। इन भागों में साल भर गरम जलवायु रहती है, केवल दिसम्बर-जनवरी के महीनों में जबकि सूर्य मकररेखा (आस्ट्रेलिया के उत्तरी भाग) पर लम्बवत् चमकता है, सामान्य शीत होती है। दूसरी बात यह है कि दक्षिण के अधिकांश भाग समुद्र से भी अधिक दूर नहीं हैं अतः वहाँ गरमी और सरदी के तापमानों में अत्यधिक अन्तर नहीं होता। मैंगलोर के अधिकतम तथा न्यूनतम तापमान से इस तथ्य की पुष्टि हो जाती है-

मैंगलोर में तापक्रम (सेण्टीग्रेड)

	न्यूनतम	अधिकतम
जनवरी	२१ ४	३१ ७
जून	२३ ८	२६ २

इसके विपरीत, कर्करेखा उत्तरी भाग को लगभग विभाजित करती हुई जाती है। जून के महीने में सूर्य कर्करेखा पर लम्बवत् चमकता है, अतः उत्तर भारत में बहुत अधिक गरम वातावरण हो जाता है। यहाँ तक कि नागपुर में तापमान ४२°—४४° सेण्टीग्रेड तक ऊँचा चला जाता है। झुलसाने वाली गरमी से भूमि तप उठती है और लखनऊ, वाराणसी, नागपुर आदि स्थानों पर लुओं से अनेक व्यक्तियों की मृत्यु हो जाती है। दिसम्बर तथा जनवरी में जब सूर्य मकररेखा पर

होता है तो उत्तर भारत उससे बहुत दूर होता है अत वहाँ तापमान बहुत गिर जाता है। उदाहरणत नागपुर का जनवरी का न्यूनतम तापमान १४° सेण्टीग्रेड तक पहुँच जाता है। अनेक अन्य स्थानों (जैसे आगरा, दिल्ली, सीकर) में वह शून्य दर्जे तक भी पहुँच जाता है।

उपर्युक्त विवरण से हम निम्न निष्कर्षों पर पहुँचते हैं

(१) दक्षिण भारत में (विषुवतरेखा के निकट होने के कारण) तापमान प्राय वर्ष भर ऊँचा रहता है और वहाँ सरदी कम पडती है। दक्षिणी क्षेत्रों में विभिन्न ऋतुओं के तापमान में अन्तर भी कम होता है।

(२) उत्तर भारत में जलवायु प्राय अधिक गरम और अधिक ठण्डी होती है। वहाँ दिसम्बर-जनवरी में कडाके की सरदी और मई जून म अत्यधिक गरमी पडती है। इसके अतिरिक्त, इस क्षेत्र में न्यूनतम एव अधिकतम तापमान में अन्तर भी अत्यधिक होता है।

(३) समुद्र के किनारे बसे स्थानों में जलवायु समशीतोष्ण होती है।

तापमान का प्रभाव—तापमान का लोगों के रहन-सहन, खान-पान तथा वर्षा पर बहुत प्रभाव पडता है। दक्षिण भारत में शीत कम होने के कारण वहाँ के निवासियों को गरम वस्त्र पहनने की आवश्यकता नहीं पडती। इतना ही नहीं, लोग ढीले श्वेत वस्त्र अधिक पहनते हैं। उत्तर भारत में स्थिति सर्वथा भिन्न है जहाँ अधिक गरमी तथा अधिक सरदी होने के कारण लोगों को गरम वस्त्र पहनने पडते है।

जिन भागों म तापमान अधिक होता है उन भागों में प्राय वर्षा अधिक होती है। विषुवत्-रेखीय प्रदेशो म प्राय साल भर वर्षा होती रहती है। भारत में भी अधिक वर्षा गरमी के महीनों (जुलाई-सितम्बर) में ही होती है। अधिक वर्षा वाले प्रदेशों म चावल तथा मक्का अधिक उत्पन्न होते है और यही लोगों के भोजन का प्रमुख अग बन जाते है। दक्षिण तथा पूर्वी भारत के निवासियों का प्रमुख भोजन चावल ही है।

ऋतुएँ—भारत म सामान्यत तीन ऋतुएँ होती है जिनका क्रम इस प्रकार है—मार्च से जून तक गरमी, जुलाई से सितम्बर तक वर्षा तथा अक्टूबर से फरवरी तक सरदी। गरमी, सरदी, तथा वर्षा के असली मास तो दो दो ही होते हैं, जैसे—गरमी मुख्यत मई-जून, वर्षा जुलाई अगस्त तथा सरदी दिसम्बर-जनवरी में अधिक होती है। सरदी की समाप्ति पर वसन्त तथा वर्षा की समाप्ति पर हेमन्त ऋतु आरम्भ होती है।

वर्षा—भारत विषुवत्‌रेखा के उत्तर म है तथा कर्करेखा उसके उत्तरी भाग के बीच में होकर निकलती है। अत यहाँ अधिकतर वर्षा गरमी की ऋतु में ही होती है। जून में सूर्य कर्क-रेखा पर लम्बवत् चमकता है। अत उत्तर भारत का स्थल प्रदेश अत्यधिक गरम हो जाता है। इस भाग में हवा भी बहुत गरम हो जाती है और गरम होकर ऊपर उठती है। पश्चिम तथा दक्षिण के समुद्री भाग अपेक्षाकृत कम गरम होते है अत गरम हवाओं का स्थान ग्रहण करने के लिए समुद्र की ओर से हवाएँ स्थल की ओर चलने लगती है। समुद्र की ओर से आने के कारण इन हवाओं में जल होता है, अत जहाँ इन्हे पर्वतीय रुकावट मिल जाती है वहीं वर्षा कर देती हैं। ग्रीष्मकालीन मानसून की दो शाखाएँ हैं प्रथम शाखा अरब सागर शाखा है। जून जुलाई में जब उत्तर भारत में अत्यधिक गरमी होती है तो अरब सागर से स्थल की ओर हवाएँ चलने लगती हैं जो पश्चिमी घाट महाराष्ट्र, मलाबार, कोंकण आदि में लगभग १०० इंच वार्षिक वर्षा करती हैं। इसी प्रकार दूसरी शाखा बगाल की खाडी शाखा है। बगाल की खाडी से उठने वाली हवाएँ सीधे आसाम की पहाडियों से टकराती हैं और वहाँ असीमित मात्रा में जल बरसाती हैं।

दिसम्बर-जनवरी के महीनो मे फारस की खाडी की ओर से चक्रवात आकर उत्तरी भारत के कुछ भागो मे वर्षा कर देते है तथा सरदी की मानसून हवाएँ भारत के पूर्वी तट पर भी कुछ वर्षा करती है।

वर्षा का प्रभाव— भारत के प्राय सभी क्षेत्रो मे वर्षा का व्यापक प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। जिन क्षेत्रो मे अधिक वर्षा होती है वहाँ घने वन तथा वनस्पति दृष्टिगोचर होती है और कम वर्षा वाले प्रदेशो मे वनस्पति का सर्वथा अभाव है। हिमाचल प्रदेश, आसाम, मध्य प्रदेश तथा पश्चिमी घाटो पर वनस्पति की प्रचुरता का एकमात्र कारण वर्षा का बाहुल्य है। इन भागो मे १०० इच से अधिक वार्षिक वर्षा होती है। इसके विपरीत, पजाब तथा राजस्थान मे वनस्पति का प्राय अभाव है। इन प्रदेशो मे काटेदार झाडियाँ अथवा सामान्य पेड-पौधे ही दृष्टिगोचर होते है क्योकि इनमे वार्षिक वर्षा प्राय २० इच से कम होती है।

वर्षा का दूसरा प्रभाव फसलों पर पडता है। जिन भागो मे अधिक वर्षा होती है वहाँ प्रायः चावल, गन्ना, आदि फसले उत्पन्न होती है। इस सम्बन्ध मे यह स्पष्ट करना बहुत आवश्यक है कि फसलो के उत्पन्न करने मे भूमि का उतना अधिक महत्त्व नही है जितना जल का। इसीलिए राजस्थान के गगानगर जिले मे जहाँ पानी का अभाव नही है, यथेष्ट मात्रा मे गेहूँ, चावल, कपास तथा गन्ना उत्पन्न होने लगा है।

वर्षा का प्रभाव भूमि तथा जन-जीवन पर भी बहुत पडता है। जिन भागो मे वर्षा अच्छी होती है वहाँ की भूमि क्रमश उपजाऊ होती चली जाती है। वास्तव मे, भूमि का सबसे महत्त्वपूर्ण खाद्य जल होता है। इसी प्रकार वर्षा के कारण लोगो के रहन-सहन पर भी व्यापक प्रभाव पडता है। अधिक वर्षा वाले भागो मे लोग हलके वस्त्र धारण करते है तथा मजबूत मकानो का निर्माण करते है। बिहार तथा आसाम के अनेक भागो मे लोग नावें रखते है ताकि वर्षा से बाढ आने पर उनका प्रयोग किया जा सके। आसाम, बम्बई तथा कलकत्ता के निवासी वर्षा ऋतु आने के पूर्व उचित वस्त्रो तथा अन्य उपकरणो की व्यवस्था कर लेते है ताकि उन्हे कठिनाई न हो। राजस्थान, पजाब तथा उत्तर प्रदेश मे वर्षा के लिए कोई विशेष व्यवस्था करने की आवश्यकता नही पडती।

मानसून और भारतीय अर्थ-व्यवस्था

भारत मे लगभग सम्पूर्ण वर्षा ही मानसून द्वारा होती है। मानसून का अर्थ मौसम है और इनसे वर्षा गरमी तथा सरदी के मौसम मे विशेष समय पर होती है। मानसून हवाएँ सर्वथा अनिश्चित होती हैं, अत इन पर निर्भर रहने से भारतीय कृषि भी अत्यन्त अनिश्चित अवस्था मे रहती है। मानसून हवाओ की कुछ विशेषताएँ निम्नलिखित हैं

(१) **अनियमितता**—ये कभी जुलाई मे आरम्भ हो जाती है तो कभी-कभी अगस्त तक भी आरम्भ नही होती। इससे फसलो की बुवाई मे बहुत अनिश्चितता रहती है।

(२) **वर्षा की अनिश्चितता**—इन हवाओ से कभी कभी आवश्यक वर्षा हो जाती है किन्तु कभी-कभी अतिवृष्टि अथवा अनावृष्टि की स्थिति उत्पन्न हो जाती है।

(३) **वर्षा की मात्रा**—मानसून हवाएँ कुछ क्षेत्रो मे प्रचुर मात्रा मे वर्षा करती हैं और कुछ लगभग सूखा छोड देती है। इसकी पुष्टि इस तथ्य से होती है कि आसाम तथा पश्चिमी घाटो पर अधिक वर्षा होती है जबकि पजाब तथा राजस्थान के बहुत से भाग प्राय वर्षाहीन ही रह जाते हैं।

भारत की अर्थ व्यवस्था मानसून हवाओं पर बहुत अधिक निर्भर करती है इसीलिए भारतीय कृषि को 'मानसून का जुआ' (Gamble in the monsoons) कहा गया है। वस्तुत भारतीय कृषि ही नही, भारतीय अर्थ व्यवस्था भी मानसून का जुआ है।

सम्पन्नता का कारण

जिस वर्ष मानसून हवाओं से समय पर वर्षा हो जाती है तथा इनकी मात्रा यथेष्ठ होती है उस वर्ष खाद्यान्न तथा अन्य फसलें प्रचुर मात्रा में उत्पन्न हो जाती हैं। फलत भारत को विदेशों से खाद्यान्न बहुत कम आयात करने पड़ते हैं जिससे विदेशी विनिमय की बचत हो जाती है। इसके अतिरिक्त देश में खाद्यान्नों के मूल्यों में विशेष वृद्धि नहीं होती जिससे जनता को कठिनाई का सामना नहीं करना पड़ता। किसानों को भी फसलों के विक्रय से अच्छी आय हो जाती है जिससे उनको अधिक सम्मानजनक जीवन बिताने का अवसर मिल जाता है। उनका ऋण-भार भी कम हो जाता है जिससे भविष्य में कृषि की उन्नति की सम्भावनाएँ बढ़ जाती हैं। इसके अतिरिक्त किसानों को अगले मौसम में भी हल, बैल या बीज के लिए ऋण लेने की आवश्यकता नहीं पड़ती। इन सब तथ्यों से यह स्पष्ट होता है कि मानसून द्वारा उचित मात्रा में वर्षा कर देने से भारतीय कृषि तथा किसान दोनों की स्थिति में सुधार हो जाता है।

उद्योग—कृषि के अतिरिक्त उद्योगों पर भी अच्छे मानसून का अच्छा प्रभाव पड़ता है। कपास, जूट, गन्ना, तिलहन आदि की फसलें अच्छी होने पर स्वभावत मिलों तथा कारखानों को पर्याप्त मात्रा में उचित मूल्य पर कच्चा माल मिल जाता है जिससे सम्बन्धित उद्योगों को उत्पादन बढ़ाने का अवसर मिल जाता है। इन कारखानों में अधिक व्यक्तियों को रोजगार मिलता है और मजदूरों तथा उद्योगपतियों की आर्थिक स्थिति में सुधार हो जाता है। उद्योगों का उत्पादन बढ़ने से निर्यात व्यापार में भी उन्नति होती है जिससे भारत के व्यापार सन्तुलन में आशातीत लाभ होने लगता है। इस प्रकार मानसून देश की कृषि व्यवसाय, उद्योग, किसान तथा मजदूर सभी के लिए लाभदायक परिस्थितियाँ उत्पन्न करने में सहायक हो सकती है।

विपन्नता (गरीबी) की द्योतक—कभी-कभी मानसून के कारण देश में अत्यधिक वर्षा हो जाती है या बिल्कुल सूखा पड़ जाता है। ऐसी स्थिति में फसलें नष्ट हो जाती हैं या बहुत कम उत्पन्न होती हैं। इसके फलस्वरूप देश में कृषि वस्तुओं के मूल्य बढ़ने लगते हैं। अनाज, कपास तथा पटसन विदेशों से आयात भी करना पड़ता है जिससे विदेशी मुद्रा की कठिनाई उत्पन्न हो जाती है। किसानों को जीवन निर्वाह तथा खेती के कार्यों के वास्ते ऋण लेना पड़ता है। सरकार को भी विदेशी माल का भुगतान करने के लिए विदेशों से ऋण लेना पड़ता है।

मानसून की असफलता का एक प्रभाव यह होता है कि उद्योगों के वास्ते कच्चे माल की कमी पड़ जाती है और उनका उत्पादन कम हो जाता है। इसका परिणाम यह निकलता है कि उद्योगों में कम मजदूरों को रोजगार मिलता है। इस प्रकार देश में कृषि तथा उद्योग दोनों क्षेत्रों में बेरोजगारी फैल जाती है। देश में सब जगह अशान्ति और असन्तोष का वातावरण उत्पन्न हो जाता है। इसके फलस्वरूप सरकार को भूमि पर लगान वसूली में छूट देनी पड़ती है। लोगों की आय कम हो जाने से सरकार को अन्य करों से भी कम रकम प्राप्त होती है। इस आर्थिक कठिनाई का सामना करने के लिए घाटे के बजट का सहारा लेना पड़ता है जिससे देश में मुद्रा-स्फीति का भय उत्पन्न हो जाता है तथा मूल्यों में अधिक वृद्धि होने लगती है।

इस प्रकार समय पर पर्याप्त मात्रा में आने पर मानसून एक वरदान होती है जबकि अतिवृष्टि अथवा अनावृष्टि देश के लिए अभिशाप बन जाती है।

प्रश्न

१. भारत के आर्थिक विकास पर वहाँ की भौगोलिक परिस्थितियों का क्या प्रभाव पड़ा है? विस्तृत विवेचना कीजिए। (आगरा, बी० कॉम०, १९५४, ५४)

२ "किसी देश के आर्थिक विकास पर वहाँ के प्राकृतिक साधनों का महत्त्वपूर्ण प्रभाव पड़ता है।" इस कथन की पुष्टि भारत की दशाओं को ध्यान में रखते हुए कीजिए।

३ भारत के भौगोलिक वातावरण का वर्णन कीजिए। इसका देश के आर्थिक विकास पर क्या प्रभाव पड़ा है? (विक्रम, बी० ए०, १९६१)

४. भारत के आर्थिक विकास पर जलवायु, परिस्थितियों तथा भौगोलिक स्थिति के प्रभावों की विवेचना कीजिए। (आगरा, बी० कॉम०, १९५८)

५. "भौगोलिक परिस्थिति देश का वह नींव का पत्थर है जिस पर किसी देश के आर्थिक विकास का महल खड़ा होता है।" विवेचना कीजिए। (आगरा, बी० कॉम०, १९६१)

६ भारत के आर्थिक जीवन पर भौगोलिक तत्वों का क्या प्रभाव पड़ा है? स्पष्ट कीजिए। (पंजाब, बी० ए०, १९६१)

७ "आर्थिक विकास एक देश के प्राकृतिक वातावरण तथा जनता के प्रशिक्षण की एक क्रिया है।" इस कथन का विवेचन भारतीय आर्थिक प्रगति के उदाहरण से कीजिए। (राजस्थान, बी० कॉम०, १९५६)

८. भारत के आर्थिक विकास पर भौतिक वातावरण का प्रभाव बतलाइए। (राजस्थान, बी० कॉम०, १९६२)

2 प्राकृतिक साधन एवं उनका विकास

(NATURAL RESOURCES & THEIR DEVELOPMENT)

"With her coal her iron, her man power, India could share Asiatic leadership with China or perhaps assume the outstanding role in the industrial development of Asia"

—An American Professor of Geology

प्राकृतिक साधन तथा आर्थिक विकास
(NATURAL RESOURCES AND ECONOMIC DEVELOPMENT)

किसी देश का आर्थिक विकास उसके प्राकृतिक साधनों एवं मानवीय तत्वों पर निर्भर करता है। अनेक बार प्राकृतिक साधनों से सम्पन्न देश भी मानवीय तत्व के अभाव अथवा दुर्बलता के कारण आर्थिक विकास मे पीछे रह जाते है और कम प्राकृतिक साधनों वाले देश सबल मानवीय शक्ति के सहयोग से त्वरित गति से विकास करने में सफलता प्राप्त कर लेते है। जापान इसका ज्वलन्त उदाहरण है। भारत को शताब्दियों की दासता के कारण अपने प्राकृतिक साधनों का विकास करने का अवसर अथवा उत्साह प्राप्त नही हुआ जिसके फलस्वरूप वह सम्पन्न होते हुए भी दरिद्र बना रहा।

आर्थिक विकास के लिए प्राकृतिक साधन, मानवीय साधन, पूंजी तथा उन्नत उत्पादन विधि की आवश्यकता होती है। अन्य बातों के समान होने पर, प्राकृतिक साधनों से सम्पन्न देश का आर्थिक विकास तेजी से होता है, केवल प्राकृतिक साधनों का ही पाया जाना आर्थिक विकास के लिए पर्याप्त नही है। प्रो० लेविस के शब्दों में, "The extent of a country's resources is quite obviously a limit on the amount and type of development which it can undergo It is not the only limit, or even the primary limit"[1] केवल प्राकृतिक साधनों की उपलब्धि ही एक देश को विकसित नही कर सकती। भारत इसका ज्वलन्त उदाहरण है। अर्द्ध विकसित देशों को पूंजीगत वस्तुओं, प्राविधिक ज्ञान आदि के लिए विकसित देशों पर निर्भर रहना पड़ता है। अत यदि किसी अर्द्ध विकसित देश के पास प्राकृतिक साधन भी नही हैं तो उसका आर्थिक विकास करना कठिन होगा। कम से कम कुछ मुख्य प्राकृतिक साधनों का पाया जाना आवश्यक है। ब्रिटेन एक विकसित देश है, उसके पास प्राकृतिक साधनों की बहुलता नही है। परन्तु यह निर्विवाद सत्य है कि ब्रिटेन का आर्थिक विकास सम्भवत इस सीमा तक नही हो पाता और वहाँ पर औद्योगिक क्रान्ति को भी इतनी सफलता नहीं मिलती यदि ब्रिटेन के पास मूल

---

1 W. A Lewis *The Theory of Economic Growth*, p 52

प्राकृतिक साधन कोयला तथा लोहा नहीं होता। इस प्रकार प्राकृतिक साधनों के महत्व को अस्वीकार नहीं किया जा सकता।

यह सम्भव है कि एक देश जिसके पास वर्तमान समय में प्राकृतिक साधन प्रचुर मात्रा में उपलब्ध नहीं हैं भविष्य में प्राकृतिक साधनों में धनी हो सकता है। समय व्यतीत होने तथा आवश्यकता से प्रेरित होकर विज्ञान की सहायता से नये नये प्राकृतिक साधनों का पता लगाया जा सकता है या वर्तमान प्राकृतिक साधनों का भी नयी विधियों द्वारा उपयोग तथा महत्त्व बढ़ाया जा सकता है। आज से पन्द्रह वर्ष पूर्व यह कहा जाता था कि भारत के पास प्राकृतिक तेल बहुत ही अपर्याप्त तथा सीमित मात्रा में है। परन्तु आज स्थिति बिलकुल भिन्न है। आज हम जानते हैं कि भारत में नये तेल क्षेत्रों का पता लगाया गया है तथा प्राकृतिक तेल के मामले में भारत अपने ही साधनों पर काफी लम्बे समय तक निर्भर रह सकता है।

आर्थिक विकास के साथ ही साथ प्राकृतिक साधनों के महत्त्व एवं उपयोग में परिवर्तन होता रहता है। प्राकृतिक साधनों का उपयोग बड़ी सतर्कता से करना चाहिए। सामान्यतः प्राकृतिक साधनों का उपयोग करते समय निम्नलिखित बातों पर ध्यान देना चाहिए।

(१) प्राकृतिक साधनों का उपयोग मितव्ययितापूर्ण होना चाहिए, उनके दुरुपयोग से बचना चाहिए।

(२) साधनों का प्रयोग इस प्रकार नियोजित एवं व्यवस्थित ढंग से किया जाय, जिससे दीर्घकाल में भी देश को अन्य देशों पर निर्भर न रहना पड़े।

(३) कुछ प्राकृतिक साधन ऐसे होते हैं जिनका प्रयोग बहुउद्देशीय होता है, जैसे जल। ऐसे साधनों का प्रयोग बहुत ही सावधानी से करना चाहिए। विभिन्न उद्देश्यों की पूर्ति में साधनों का अधिकतम उपयोग होना चाहिए।

(४) जहाँ तक सम्भव हो, सम्बन्धित उद्योगों की स्थापना प्राकृतिक साधनों के पास होनी चाहिए।

भारत के प्राकृतिक साधन

'प्राकृतिक साधन' के अन्तर्गत उन सभी पदार्थों को सम्मिलित किया जाता है जो मनुष्य को प्रकृति द्वारा उपहारस्वरूप पृथ्वी के गर्भ में तथा पृथ्वी की सतह पर प्रदान किये गये हैं। इस प्रकार भूमि या मिट्टी, जल, पशु, वन, मछली खनिज प्रसाधन, यहाँ तक कि जलवायु तथा प्राकृतिक स्थिति को भी प्राकृतिक साधन का अंग माना जाता है। भारत प्राकृतिक साधनों से सम्पन्न देश है। यहाँ पर प्रायः सभी प्रकार के प्राकृतिक साधनों का पर्याप्त मात्रा में भण्डार पाया जाता है।

भारत में उपलब्ध विभिन्न प्राकृतिक साधनों का अध्ययन निम्न शीर्षकों के अन्तर्गत किया जा सकता है :

(१) भूमि तथा मिट्टी (Land and soil),
(२) खनिज सम्पत्ति (Mineral wealth),
(३) शक्ति के साधन (Power resources),
(४) वन सम्पत्ति (Forest wealth),
(५) सामुद्रिक सम्पत्ति—मछली (Sea-wealth—Fishes),
(६) पशुधन (Livestock)।

१. भूमि तथा मिट्टी
(LAND AND SOIL)

देश का सबसे महत्त्वपूर्ण साधन भूमि है जो कृषि के लिए अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। गत वर्षों में रेल, सड़क तथा नहरों के निर्माण के कारण भारत की कुछ कृषि योग्य भूमि इनके अन्तर्गत आ

गयी है। जनसंख्या की वृद्धि तथा औद्योगिक विकास की प्रगति के फलस्वरूप कृषि भूमि का एक भाग भवन निर्माण में भी प्रयुक्त हो गया है। कुछ भूमि सिंचाई के लिए बनाये गये बाँधों में विलीन हो गयी है।

भूमि उपयोग (Land utilization)—भारत का भौगोलिक क्षेत्रफल ३२.६८ करोड़ हेक्टर है, परन्तु भूमि के उपयोग सम्बन्धी सूचनाएँ केवल ३०.५६ करोड़ हेक्टर अर्थात् ६२.२% भूमि के सम्बन्ध में उपलब्ध हैं। ये सूचनाएँ निम्न सारणी में प्रस्तुत की गयी हैं

भारत में भूमि का उपयोग

(करोड़ हेक्टर में)

विवरण	
१ कुल भौगोलिक क्षेत्रफल	३२.६८
२ कुल भूमि जिसकी सूचना उपलब्ध है	३०.५६
३ वन	६.११
४ भूमि जो खेती के लिए उपलब्ध नहीं है	५.०१
५ अन्य भूमि जिस पर खेती नहीं होती	३.६३
६ परती भूमि	२.०३
७ शुद्ध बोयी गयी भूमि	१३.७८
८ एक से अधिक बार बोयी गयी भूमि	२.०२
९ फसल के अन्तर्गत कुल भूमि	१५.८०

जितनी भूमि उपलब्ध है वह भी समान उपजाऊ नहीं है क्योंकि भारत में अनेक प्रकार की मिट्टी वाली भूमि है। संक्षेप में विभिन्न मिट्टियों का ब्यौरा निम्न प्रकार है

(अ) कछारी अथवा दोमट मिट्टी (Alluvial soil)—यह मिट्टी प्राय नदियों द्वारा अपने साथ बहाकर लायी जाती है और मैदानों अथवा नीचे भागों में जमा कर दी जाती है। नदियों के डेल्टों जैसे—महानदी, गोदावरी, कृष्णा, कावेरी, गंगा, यमुना, ब्रह्मपुत्र आदि के बहने के क्षेत्र तथा डेल्टे इस प्रकार की मिट्टी से आच्छादित हैं। एक अनुमान के अनुसार भारत का लगभग ३ लाख वर्ग मील का क्षेत्र कछारी मिट्टी से बना हुआ है। उत्तर प्रदेश, पंजाब, बिहार, बंगाल तथा नदियों के डेल्टों में गेहूँ चावल, गन्ना, पटसन इसी मिट्टी की देन है।

(ब) काली मिट्टी—*कछारी मिट्टी की भाँति ही काली मिट्टी भी अत्यधिक उपजाऊ होती* है। इसमें नमी अधिक समय तक बनाये रखने की शक्ति होती है, अत यह कपास के उत्पादन के लिए अधिक उपयुक्त होती है। इस मिट्टी में पोटाश तथा चूना यथेष्ट होता है, अत नाइट्रोजन तथा फास्फोरिक एसिड की खाद देकर इसमें पर्याप्त उत्पत्ति प्राप्त की जा सकती है।

गुजरात, काठियावाड़, दक्षिणी-पश्चिमी मध्य प्रदेश तथा महाराष्ट्र और मद्रास के लगभग २ लाख वर्गमील के क्षेत्रफल में काली मिट्टी पायी जाती है। इसमें कपास और ज्वार की फसलें प्रचुर मात्रा में उत्पन्न होती हैं।

(स) लाल मिट्टी—भारत के दक्षिणी प्रायद्वीप की अधिकांश मिट्टी का रंग लाल है। कहा जाता है कि यह मिट्टी लोहे की खानों वाले प्रदेशों में विशेष उपलब्ध होती है क्योंकि लोहे के जंग का इस पर व्यापक प्रभाव पड़ता है। वस्तुत यह मिट्टी भी ज्वालामुखी पर्वतों के फटने के फल-स्वरूप बिखरे हुए लावा से बनी है। *इस मिट्टी में मूँगफली तथा अन्य* तिलहन, कपास, ज्वार, गन्ना [illegible] में उत्पन्न होते हैं।

लाल मिट्टी की ही भाँति एक अन्य प्रकार की मिट्टी भी दक्षिणी पठार में प्रचुर मात्रा में पायी जाती है। इस लेटराइट मिट्टी कहते हैं। इसमें भी लोहा तथा अन्य खनिजों के तत्व का मिश्रण होता है। यह मिट्टी नमी बनाये रखने में असमर्थ होती है, अतः इस पर कृषि करने के लिए निरन्तर सिंचाई की आवश्यकता होती है। चाय इस मिट्टी की मुख्य उपज है।

(द) बलुही मिट्टी—पश्चिमी भारत अर्थात् राजस्थान, पंजाब, गुजरात एवं सौराष्ट्र के कुछ भागों में बलुही मिट्टी पायी जाती है। यह मिट्टी मोटे कणों वाली होती है और इसमें पानी अधिक समय तक नहीं ठहर सकता। यह मिट्टी बहुत कम उपजाऊ होती है और इसमें बाजरा, दालें तथा तिलहन उत्पन्न होते हैं।

भूमि की समस्याएँ

भारतीय भूमि में शताब्दियों से निरन्तर खेती की जा रही है। इस प्रकार निरन्तर प्रयोग के कारण उसकी उपजाऊ शक्ति में क्रमिक ह्रास होता जा रहा है। इस ह्रास के अनेक कारण हैं जिनमें मुख्य भू-क्षरण तथा जलाधिक्य एवं लवणता है।

१. भू-क्षरण (Soil Erosion)

भूतत्ववेत्ताओं का कथन है कि भूमि के ऊपर की एक या डेढ़ इंच मोटी परत में भूमि की वास्तविक जीवन-शक्ति रहती है अर्थात् वह भाग भूमि का सर्वाधिक उपजाऊ भाग होता है। भूमि के इस भाग का अनेक कारणों से क्षरण अथवा कटाव होता रहता है जिनमें प्रमुख निम्नलिखित हैं:

(१) वर्षा—मैदानी भागों में जब अधिक वेग से वर्षा होती है तो पानी के गिरने से भूमि के ऊपर की परत में कटाव आ जाते हैं और पानी के बहाव के साथ ही यह मिट्टी ढालू क्षेत्रों की ओर बहने लगती है।

(२) बाढ़—नदियों में बाढ़ आने पर भी भूमि की ऊपरी परत का कुछ भाग कट जाता है।

(३) धूप तथा हवा—वर्षा के पश्चात् जब अधिक तेज धूप पड़ती है तो भूमि की ऊपरी गीली परत जल्दी सूखती है और यह पपड़ी-सी बनकर भूमि से अलग हो जाती है। तत्पश्चात् तेज हवा के झोंके इस मिट्टी को उड़ा ले जाते हैं और भूमि का उपजाऊपन कम हो जाता है।

भू-क्षरण में सहायक तत्व—भू-क्षरण प्रायः ढालू मैदानों में अधिक होता है। अतः जिन प्रदेशों के वन काट दिये जाते हैं उन प्रदेशों में जल का शोषण कम हो जाता है और जल के बहाव की बाधाएँ भी समाप्त हो जाती हैं। फलतः जल, धूप तथा हवा के प्रबल वेग भूमि को निरन्तर काटते रहते हैं।

पशुओं को अनियन्त्रित रूप में चराने से भी भूमि के क्षरण की आशंकाएँ बढ़ जाती हैं क्योंकि मिट्टी को भूमि के साथ दृढ़तापूर्वक संयोजित करने वाली घास को पशु जड़ से खा जाते हैं, अतः मैदान साफ हो जाने से क्षरण के मार्ग में कोई बाधा नहीं रहती।

कभी कभी सड़कों के निर्माण से भी भू-क्षरण को प्रोत्साहन मिलता है। ग्रामीण सड़कें प्रायः कच्ची होती हैं अतः वह वर्षा में टूट-फूट जाती हैं। उनका सुधार करने के लिए निकटवर्ती क्षेत्रों से मिट्टी काटकर डाली जाती है। यह क्रिया सम्बन्धित क्षेत्रों की भूमि की उपजाऊ शक्ति को बहुत हानि पहुँचाती है।

भारत में भू-क्षरण और उपाय—यह अनुमान लगाया गया है कि भारत में लगभग २० करोड़ एकड़ भूमि (अर्थात् कुल भूमि का एक-चौथाई) का निरन्तर क्षरण हो रहा है। यह क्षरण उत्तर भारत के मैदानों तथा दक्षिण भारत के पठारी भागों में विशेष होता है।

दोष—भू-क्षरण से अनेक भागों की भूमि ऊबड़-खाबड़ हो गयी है जिससे (१) वहाँ खेती करना भी कठिन हो गया है। क्षरण का दूसरा प्रभाव यह है कि (२) नदियों तथा तालाबों में मिट्टी जमा हो जाती है जिससे अनेक स्थानों पर तो नदियाँ अपना मार्ग बदलने को बाध्य हो

जाती हैं। फलत उन नदियों के किनारे बसने वाले लोगों को बहुत कष्ट होता है। इसके अतिरिक्त नदियाँ समुद्र तट (जहाँ वह समुद्र में गिरती हैं) पर मिट्टी जमा कर देती हैं जिससे (३) जहाजों के आने-जाने में बहुत कठिनाई होती है। भारत में कलकत्ता के बन्दरगाह को चालू रखने के लिए हुगली नदी की मिट्टी नियमित रूप से निकालनी पडती है।

उपर्युक्त दोषों के अतिरिक्त भू क्षरण से जलाशयों अथवा बाँधों में भी मिट्टी भरने का डर रहता है जिससे (४) बाढ आने की आशका उत्पन्न हो जाती है। भू-क्षरण का सबसे गम्भीर दोष यह है कि (५) क्षरित हुए स्थान की भूमि की उपजाऊ शक्ति कम हो जाती है जिसे पूरा करने में बहुत कठिनाई का सामना करना पडता है।

क्षरण को रोकने के उपाय—भूमि के कटाव को रोकने के लिए प्राय निम्नलिखित उपाय काम मे लाये जाते हैं

(१) अधिक वन लगाना,
(२) भूमि के असम भागों को सम बनाना,
(३) वर्षा के जल के निकास की उचित व्यवस्था करना,
(४) पशुओं के चरने की व्यवस्था को नियन्त्रित करना,
(५) खेतों की आधुनिक एव वैज्ञानिक पद्धति अपनाना।

शोध कार्य—भारत मे भू क्षरण को रोकने के लिए १९५३ मे केन्द्रीय भू सरक्षण मण्डल (Central Soil Conservation Board) बनाया गया था जिसका उद्देश्य भूमि तथा जल सरक्षण योजनाओं की समस्याओं के सम्बन्ध मे शोध कार्य कर इनको सफल बनाना है। इस मण्डल द्वारा योजनाकाल मे भू-सरक्षण के लिए लगभग ९० करोड रुपये खर्च किये गये हैं। मण्डल द्वारा मैदानी, पर्वतीय तथा रेगिस्तानी आदि सभी भागों में भू-सरक्षण के कार्य आरम्भ किये गये हैं। इन कार्यों की सफलता के लिए देश मे ६ केन्द्रों मे भू-सरक्षण सम्बन्धी प्रशिक्षण दिया जा रहा है।

२ जलाधिक्य एव लवणता की समस्या

उत्तर प्रदेश, आसाम, बगाल तथा पजाब के अनेक भागों में जहाँ सिंचाई की सुविधाएँ अधिक हैं अथवा वर्षा के जल की निकासी की सुविधाएँ पर्याप्त नहीं है एक नयी समस्या उत्पन्न हो गयी है जिसे जलानुवेधन अथवा जलाधिक्य (waterlogging) कहते हैं। अधिक सिंचाई से प्राय भूमि के नीचे पानी की सतह ऊँची होती जाती है जिससे भूमि मे सदा नमी रहती है, जिसके कारण वह भूमि खेती के सर्वथा अयोग्य हो जाती है अथवा उसकी उत्पादन शक्ति का ह्रास होने लगता है। इसका कारण यह है कि जलाधिक्य वाली भूमि को न केवल बोने के लिए तैयार करना कठिन होता है, बल्कि उसमें डाले हुए बीजो को यथेष्ट ऑक्सीजन न मिलने से वह सड जाते हैं, उगते नहीं। इस भूमि में डाली हुई (गोबर आदि की) खाद भी सडकर बदबू देने लगती है। इसमे कार्बन डाइ-ऑक्साइड तथा हाइड्रोजन सल्फाइड जैसी गैसें उत्पन्न होकर फसल की वृद्धि में बाधा पहुँचाती हैं।

जलाधिक्य के अतिरिक्त दूसरी समस्या भूमि मे लवणता उत्पन्न होने की है। भूमि के साथ जल का अधिक सम्पर्क होने से अनेक बार भूमि के ऊपरी भाग पर एक सफेद-सफेद परत-सी जम जाती है जो भूमि की उपजाऊ शक्ति को कम कर देती है।

सीमा—भारत मे जलाधिक्य तथा लवणता से प्रभावित क्षेत्र का कुल विस्तार १ २ करोड एकड है जिसमे से लगभग ६५ लाख एकड केवल जलाधिक्य अथवा अत्यधिक नमी द्वारा प्रभावित है। इस समस्या के हल के लिए बाढ़ नियन्त्रण तथा जल निकासी की व्यवस्था (नहरो तथा नलकूपो) अधिक व्यवस्थित एव कुशल बनाने की आवश्यकता है।

समाधान के लिए प्रयत्न—जलाधिक्य से प्रभावित चार राज्यो—पजाब, उत्तर प्रदेश,

दिल्ली तथा राजस्थान—में इस समस्या को सुलझाने के लिए एक वृहत् योजना (master plan) बनायी गयी है। कृषि उत्पादन मण्डल (Agricultural Production Board) ने इस सम्बन्ध में निम्न समाधान प्रस्तुत किये हैं :

(क) नदियों के अतिरिक्त जल को भूमि पर बिखरने में रोका जाना चाहिए।

(ख) जल-प्रवाह की उचित व्यवस्था की जानी चाहिए।

(ग) कम गहरे नलकूप (tube wells) बनाये जाने चाहिए जो भूमि के अन्तर्गत जल का धरातल ठीक स्तर पर बनाये रखने में सहायक हो सकें।

(घ) नयी सिंचाई योजनाएं बनानी चाहिए जिनमें अतिरिक्त जल का शोषण किया जा सके।

मण्डल ने जलाधिक्य में प्रभावित भूमि को खेती के उपयुक्त बनाने का सुझाव दिया है। इसके लिए डेल्टा क्षेत्रों तथा अन्य भू खण्डों में जल प्रवाह (drainage) की सुविधाओं में वृद्धि की जा रही है।

केन्द्रीय सरकार ने जलाधिक्य एवं बाढ़ की समस्या का अध्ययन करने के पश्चात् राज्य सरकारों को निम्नलिखित कार्य करने के सुझाव दिये हैं

(१) राज्यों में बाढ़ का पूर्वानुमान लगाने वाली इकाइयां स्थापित की जानी चाहिए तथा उनके द्वारा यथासमय बाढ़ की पूर्व सूचना देनी चाहिए।

(२) भूमि-संरक्षण सम्बन्धी कार्यक्रमों को प्राथमिकता देनी चाहिए।

(३) नदियों के डेल्टा क्षेत्रों में पानी निकल जाने के लिए नालियों की व्यवस्था करनी चाहिए।

(४) बाढ़ के एकत्रित जल को बिखराने की योजनाएँ तैयार करनी चाहिए।

(५) नदियों में जल की मात्रा के नियन्त्रण की व्यवस्था करनी चाहिए।

(६) अतिरिक्त जल को रोकने के लिए जलाशय बनाने चाहिए।

सरकार रामनाथन समिति की सिफारिशों पर विचार कर रही है जिसमें केन्द्रीय बाढ़ पूर्वानुमान एवं चेतावनी मण्डल (Central Flood Forecasting and Warning Board) की स्थापना, जल सम्बन्धी अध्ययन करने तथा अनेक प्रकार की प्राविधिक सुविधाएँ उपलब्ध कराने के सुझाव दिये गये हैं।

२. खनिज सम्पत्ति
(MINERAL WEALTH)

भारत खनिज साधन से सम्पन्न देश है। विभिन्न प्रकार के खनिजों के भारत में अतुलित भण्डार हैं। भारत के खनिज साधनों का अभी तक पूर्ण रूप से पता नहीं लगाया जा सका है। भारत में लोहा, खनिज तेल, कोयला, मैंगनीज, अभ्रक, तांबा, सोना, सीसा, जस्ता तथा विभिन्न प्रकार के आणविक खनिज पाये जाते हैं परन्तु विभिन्न प्रकार के खनिजों का यथोचित रूप से खनन एवं प्रयोग नहीं होता है।

भारतीय अर्थ व्यवस्था में खनिज सम्पत्ति के महत्त्व का अनुमान इस तथ्य से लगाया जा सकता है कि **सन् १९६९ ७० में कुल खनिज उत्पादन का मूल्य लगभग चार सौ करोड़ रुपया था।** सन् १९६०-६१ की तुलना में सन् १९६९-७० में खनिज उत्पादन में १५० प्रतिशत वृद्धि हुई, जो खनिज विकास की दिशा में किये गये प्रयत्नों का बोध कराती है। इसी अवधि में खनिजों पर आधारित उद्योगों का उत्पादन दुगुना हो गया। सन् १९६८ ६९ में विभिन्न प्रकार के खनिजों के निर्यात से १६५ करोड़ रुपये विदेशी मुद्रा अर्जित की गयी, जो देश के कुल निर्यात मूल्य का १२ प्रतिशत था।

भारत में खनिजों के विकास के लिए एक २५ वर्षीय योजना (१९५१-१९७६) बनायी गयी है। इस योजना की पूर्ति पर देश में खनिज पदार्थों का उत्पादन मूल्य १०५ करोड़ रुपये से बढ़कर ७३० करोड़ रुपये हो जाने की आशा है।

भारतीय भू गर्भ सर्वेक्षण विभाग के एक अनुमान के अनुसार भारत मे प्रति वर्ष लगभग ४०० करोड रुपय के खनिज पदार्थों का खनन होता है। बिहार पश्चिमी बंगाल तथा मध्य प्रदेश कुल उपलब्धि के क्रमश ३६, २१ तथा १२ प्रतिशत खनिज पदार्थ की पूर्ति करते हैं। अन्य राज्यो मे क्रमश उडीसा, आन्ध्र, मैसूर, महाराष्ट्र तथा राजस्थान के नाम उल्लेखनीय हैं।

(१) लोहा—भारत मे ससार के कुल लोहे का लगभग एक-चौथाई भाग सुरक्षित बताया जाता है। इसकी राशि अमरीका के कुल भण्डार की आठ गुनी बतायी जाती है। इस सम्बन्ध म अधिक महत्त्वपूर्ण बात यह है कि भारतीय लोहा बहुत बढिया किस्म का माना जाता है। सम्भवत इसीलिए भारत स अनेक देश लोहा आयात करन के लिए उत्सुक हैं। भारतीय राज्य व्यापार निगम ने विदेशों को प्रति वर्ष २०-४० लाख टन लोहा निर्यात करने के जो सौदे किये हैं उनके अ तर्गत ६५ प्रतिशत शुद्धता का लोहा निर्यात किया जा रहा है।

भारत म लोहे का वार्षिक खनन १.६६ करोड टन स कुछ अधिक है। इसका अधिकाश भाग सिंहभूमि, बोनाई, क्योंझर तथा मयूरभज के क्षेत्रों से प्राप्त होता है। कुछ समय से गोआ से भी लोहा प्राप्त होना आरम्भ हो गया है। बस्तर (मध्य प्रदेश) मे भी लोहे के भण्डार मिल हैं। आगामी वर्षा म भारत मे इस्पात का उत्पादन निरन्तर बढ़ेगा जिसके लिए स्वाभाविक रूप में लोहे की अधिकाधिक माग होगी। इस मांग को पूरा करने के लिए नयी खानो का विकास करना अत्यन्त आवश्यक है। हाल ही मे, बोनाई क्षेत्र मे किरीबुरु तथा बोलाडिला मे लोहे की खानें मिली हैं। किरीबुरु की खान का अनुमानित भण्डार लगभग १२ करोड टन लोहा है। यह खान पूर्णत यन्त्र चालित है और इसका अधिकाश खनन जापान को निर्यात किया जायगा। भारतीय लाहे के मुख्य ग्राहक पूर्वी यूरोप के देश तथा जापान हैं।

निम्नलिखित सारिणी द्वारा भारत म खनिज लोहा (Iron-ore) के उत्पादन तथा व्यापार पर प्रकाश पडता है

भारत में खनिज लोहे का उत्पादन व निर्यात

(करोड रुपये)

वर्ष	उत्पादन (मिलियन टन)	निर्यात माता (मि० टन)	मूल्य
१९५६	४ ६८	१ ८	६ ३
१९६१	१२ २८	३ ३	१७ ६
१९६६	२६ ८०	१३ ३	५८ ६
१९६८	२६ ७०	१५ ७	८७ ५
१९६९	२८ ००	—	—

(२) मैंगनीज—भारत के सम्पूर्ण मैंगनीज भण्डार अर्थात १८ करोड टन मे से लगभग १४ करोड टन मध्य प्रदश, महाराष्ट्र तथा गुजरात मे स्थित है। मैंगनीज का मुख्य प्रयोग लोहा इस्पात उद्योग मे होता है। भारत मे प्रतिवर्ष लगभग १५ लाख टन मैंगनीज निकाली जाती है जिसका लगभग ७५ प्रतिशत भाग इगलैण्ड, अमरीका जर्मनी तथा अन्य यूरोपीय देशो को निर्यात कर दिया जाता है। भारतीय इस्पात उद्योग के विकास के साथ साथ भारत म मैंगनीज की खपत बढन की सम्भावना बहुत प्रबल हो गयी है।

निम्न सारिणी द्वारा भारत में मैंगनीज के उत्पादन का ज्ञान होता है

भारत में मैंगनीज का उत्पादन

वर्ष	उत्पादन (लाख टनों में)
१९५१	५.२७
१९६१	१२·४०
१९६६	१७.०७
१९६९	१७.५०

भारतीय मैंगनीज उद्योग को सरकार की कर एवं कोटा निर्धारण करने सम्बन्धी अनिश्चित नीति से बहुत धक्का पहुँचा है। निर्यात की मात्रा तथा करों की दर में बार-बार परिवर्तन करने से भारत को बहुत से विदेशी बाजारों से हाथ धोना पड़ा है। इस दृष्टि से सरकार को चाहिए कि मैंगनीज के निर्यात सम्बन्धी दीर्घकालीन (कम से कम ४-५ वर्ष) नीति निश्चित कर दी जाय ताकि विदेशी बाजार में भारतीय मैंगनीज का स्थान बनाये रखा जा सके।

सरकार द्वारा स्थापित मिनरल एण्ड मेटल ट्रेडिंग कारपोरेशन (MMTC) ने मैंगनीज धातु का निर्यात अपने नियन्त्रण में ले लिया है।

(३) अभ्रक—भारत का अभ्रक के उत्पादन में विश्व बाजार में प्रथम स्थान है। अभ्रक का प्रयोग बिजली की भट्टियों के द्वार बनाने, बिजली के तारों पर खोल चढ़ाने तथा इसी प्रकार के अन्य कार्यों में किया जाता है। अभ्रक का प्रयोग रोगन, वार्निश, प्लास्टिक तथा रबड़ आदि से सम्बन्धित उद्योगों में भी किया जाता है। अभ्रक की प्राप्ति मुख्यत बिहार के हजारीबाग, गया, मुंगेर जिलों तथा राजस्थान में अजमेर, भीलवाड़ा तथा जयपुर जिलों से होती है। आन्ध्र राज्य में भी नेलोर जिले में अभ्रक की कुछ खानें हैं। भारत संसार की अभ्रक की आवश्यकताओं के लगभग ७५ प्रतिशत भाग की पूर्ति करता है।

निम्न सारिणी द्वारा भारत में अभ्रक के उत्पादन पर प्रकाश पड़ता है :

भारत में अभ्रक का उत्पादन

वर्ष	उत्पादन (हजार टनों में)
१९५१	१०·०
१९६१	२८.३
१९६७	२४.३
१९६९	२६.२

(४) ताँबा—भारत में दो महत्त्वपूर्ण तांबे के क्षेत्र हैं, अर्थात बिहार राज्य में सिंहभूमि जिला तथा राजस्थान में खेतड़ी और दरीबा की पेटियों में ताँबा उपलब्ध होता है। खेतड़ी में ३.५६ करोड़ टन तांबे के भण्डार मिले हैं जिनमें एक प्रतिशत तांबे का अनुमान है। इस क्षेत्र में तांबे के कुल भण्डार का अनुमान ९.८ करोड़ टन लगाया जाता है। सिंहभूमि जिले में रोम सिद्धेश्वर क्षेत्र में लगभग २.०७ करोड़ टन तांबे के भण्डार हैं जिनमें ०.८ प्रतिशत शुद्ध ताँबा माना गया है। कुल्लू जिले (लाहुलस्पीति) तथा आन्ध्र प्रदेश के गुण्टूर जिले में भी तांबे के भण्डार मिले हैं।

उपर्युक्त भण्डारों के आधार पर ही खेतड़ी में एक ताँबा साफ करने का कारखाना लगाया जा रहा है। इस पर लगभग २५.७५ करोड़ रुपये विनियोजित किये जा चुके हैं। चतुर्थ योजना के अन्तर्गत आन्ध्र राज्य में भी एक ताँबा शोधन करने का कारखाना स्थापित करने का प्रावधान है।

(५) स्वर्ण—कोलार की स्वर्ण खानो मे ३८ लाख टन स्वर्ण कोषो का अनुमान किया गया है और रायचूर जिले के हट्टी नामक स्थान पर भी ५ लाख टन स्वर्ण बताया जाता है। कोलार स्वर्ण क्षेत्र के अनुसंधान से यह ज्ञात हुआ है कि उसमे घटिया किस्म के स्वर्ण के काफी अधिक भण्डार विद्यमान हैं। इन भण्डारो को निकालने के लिए अत्यधिक प्राविधिक कुशलता एवं सतर्कता की आवश्यकता है। कोलार की खान अब भारत सरकार के अधिकार मे है अत यह आशा की जानी चाहिए कि इसके उत्पादन के स्तर मे यथेष्ट उन्नति होगी। हट्टी स्वर्ण खान का भी विकास करने की आवश्यकता है अन्यथा उसे बन्द करना पड़ेगा। भारत की सोने की खानो का वार्षिक उत्पादन लगभग एक लाख औंस है।

आन्ध्र प्रदेश मे रामगिरी मे स्वर्ण भण्डारो का पता चला है। इसके अतिरिक्त चतुर्थ योजना के अन्तर्गत दक्षिण भारत म अनेक स्थानो पर (नीलगिरि, सलेम, आयजानाहाली तथा बिलागी, मैंगलोर केम्पीकोट खोराल्ली, शिमोगा, चित्तूर और अनन्तपुर) तथा बिहार मे सिंहभूमि और धनबाद जिलो मे स्वर्ण मिलने की आशा है।

(६) अन्य खनिज—उपर्युक्त पदार्थों के अतिरिक्त भारत के विभिन्न भागो मे अनेक अन्य खनिज उपलब्ध हैं

जस्ता तथा सीसा—यह दोनो खनिज प्राय साथ साथ मिलते हैं। भारत मे उदयपुर (राजस्थान) जिले के जावर नामक स्थान पर स्थित खानो म ही जस्ता और सीसा मुख्यत उपलब्ध होता है। इन खानों के भण्डारो की अनुमानित मात्रा लगभग २ ७४ करोड टन है।

खडिया (Gypsum)—भारत मे खडिया का कुल भण्डार लगभग ६६ ८ करोड टन है जिसम से ६२ करोड टन राजस्थान म है। शेष भण्डार मद्रास, उत्तर प्रदेश आन्ध्र हिमाचल तथा जम्मू और काश्मीर मे है।

चूने का पत्थर (Limestone)—आसाम मे मिकिर पहाडियो तथा कुलियाजान क्षेत्र मे *लगभग ३ करोड टन चूने के पत्थर के भण्डार मिले हैं। उपर्युक्त खनिजो के अतिरिक्त भारत मे* यूरेनियम बॉक्साइड, पाइराइट तथा अनेक अन्य प्रकार के खनिज मिलते हैं। सन् १९६९ मे चूने के पत्थर का उत्पादन २२ मिलियन टन हुआ।

भारत में सामरिक महत्व के खनिज—भारत पर चीन का आक्रमण होने के पश्चात देश मे प्राप्त होने वाले युद्धोपयोगी खनिजो का महत्व बढ गया है। इन खनिजो मे मुख्यत खनिज तेल (पेट्रोल आदि) अणु शक्ति उत्पन्न करने वाले तत्व (यूरेनियम थोरियम) तथा वायुयान, हथियार तथा विस्फोटक पदार्थ बनाने वाले पदार्थ सम्मिलित हैं। भारत मे इनकी उपलब्धि निम्न प्रकार है

(१) खनिज तेल—चीनी आक्रमण के पश्चात भारत मे तेल की वार्षिक आवश्यकता का अनुमान १७० लाख टन हो गया जबकि वार्षिक उत्पत्ति लगभग १ करोड टन है। तेल की आवश्यकता वायुसेना को शक्तिशाली बनाये रखने के लिए है। मोटरें तथा ट्रक चालू रखने के लिए भी तेल की आवश्यकता है।

(२) लोहा कोयला-मैंगनीज—युद्ध के लिए बन्दूकें तथा तोपें, टैंक, ट्रक एव अन्य सामान बनाने के लिए इस्पात की आवश्यकता होती है जो लोहे कोयले तथा मैंगनीज की सहायता से बनाया जा सकता है। इन धातुओ का ब्यौरा पीछे दिया जा चुका है।

(३) यूरेनियम तथा थोरियम—अणु शक्ति उत्पन्न करने के लिए यूरेनियम एव थोरियम की आवश्यकता होती है। भारत म थोरियम के भण्डार संसार के श्रेष्ठतम भण्डारो मे से माने जाते हैं। दक्षिण भारत की थोरियम की पेटी सुदूर बिहार तक फैली हुई है। विश्व मे सबसे अधिक थोरियम का भण्डार भारत म है।

(४) गन्धक—गन्धक का प्रयोग विस्फोटक पदार्थों के निर्माण के लिए होता है। भारत मे

गन्धक के भंडार दो क्षेत्रों में प्रमुख हैं—प्रथम बिहार में अमजोर नामक स्थान पर जहाँ के पाइराइट्स (pyrites) के भण्डार लगभग ३८.४ करोड़ टन हैं जिनमें ४० प्रतिशत गन्धक का अनुमान लगाया जाता है, दूसरा क्षेत्र मैसूर में इगनराज है जहाँ पाइराइट्स के भण्डार २० लाख टन के लगभग हैं और जिनमें २०-३० प्रतिशत गन्धक उपलब्ध है।

(५) **बॉक्साइट**—भारत में बॉक्साइट काफी बिखरा हुआ है किन्तु बिहार, जम्मू, मध्य प्रदेश, मद्रास, महाराष्ट्र, मैसूर, उड़ीसा और गुजरात में बॉक्साइट के लगभग २७.५ करोड़ टन के भण्डार हैं। इनमें से लगभग ७.८ करोड़ टन बॉक्साइट अत्यन्त उच्चकोटि का बताया जाता है। सन् १९६६ में १० लाख टन बॉक्साइट का उत्पादन हुआ।

उपर्युक्त खनिजों के अतिरिक्त अनेक प्रकार के खनिज भारत में उपलब्ध हैं जिनका यथोचित विकास किया जाना अत्यन्त आवश्यक है।

भारत सरकार की खनिज नीति

खनिज सम्पत्ति अन्य प्राकृतिक साधनों से इस महत्त्वपूर्ण दृष्टि से भिन्न है कि मानवीय, जल एवं भूमि साधन प्रायः समाप्त नहीं होते जबकि खनिज साधन निरन्तर प्रयोग के कारण समाप्त हो जाते हैं। इस दृष्टि से खनिज साधनों का प्रयोग सावधानी से करने की आवश्यकता है। दूसरी ओर खनिज साधनों की एक और विशेषता है, वह भूमि के अन्तस्तल में दबे हुए रहते हैं अतः भू-गर्भीय खोज के बिना उनकी मात्रा एवं विस्तार की जानकारी प्राप्त करना असम्भव है।

स्वतन्त्रता से पूर्व ब्रिटिश सरकार ने भारतीय खनिजों का न तो नियमित ढंग से सर्वेक्षण कराया और न ही उनके यथोचित विकास की दिशा में विशेष ध्यान दिया, फलतः भारतीय खनिज पदार्थ देश के विकास में विशेष योगदान नहीं दे सके। किन्तु स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात भारत सरकार ने १९४८ में 'खान एवं खनिज व्यवस्था तथा विकास अधिनियम' (Mines and Minerals Regulation and Development Act of 1948) पास किया। १९४८ में ही भारतीय खनिज संस्थान (Indian Bureau of Mines) की स्थापना की गयी, जियोलॉजिकल सर्वे ऑफ इण्डिया का विस्तार किया गया तथा खनिजों के विकास एवं प्रयोग की दिशा में यथोचित ध्यान देने का कार्य आरम्भ किया गया।

योजना आयोग के सुझाव—प्रथम पंचवर्षीय योजना के अन्तर्गत भारतीय योजना आयोग ने भारतीय खनिजों के विकास के लिए निम्नलिखित नीति निर्देश किया :

(१) **खोज एवं विकास**—आयोग ने यह मत प्रकट किया कि देश की खनिज सम्पत्ति सम्बन्धी अनुमान उपलब्ध नहीं हैं अतः सर्वेक्षण और खोज द्वारा यह अनुमान लगाये जाने चाहिए और इनसे सम्बन्धित अंक प्रकाशित किये जाने चाहिए ताकि विभिन्न खनिजों के विकास की योजनाएँ बनाने में सुविधा हो सके।

(२) **खनन व्यवस्था**—योजना आयोग का मत था कि भारत में खनन कार्य गत पचास वर्षों से हो रहा था किन्तु बहुत कम खानों में प्राविधिक विशेषज्ञों की सहायता से खनन की उचित व्यवस्था थी। खानों से खनिज प्राप्त करना उन्हें सुरक्षित रखना तथा बरबादी को रोकना आदि महत्त्वपूर्ण समस्याएँ थीं जिन्हें हल करने की ओर बल दिया गया।

इस दिशा में भारतीय खनिज संस्थान (Indian Bureau of Mines) द्वारा देश की विभिन्न खानों की क्रियाओं का अध्ययन कर उनमें सुधार के लिए सहायता करने की आवश्यकता बतायी गयी।

(३) **युद्धोपयोगी खनिजों की ओर ध्यान देना**—आयोग ने गन्धक, टंगस्टन, टिन, वेनेडियम आदि खनिजों की उत्पत्ति एवं प्रयोग की ओर विशेष ध्यान देने की सलाह दी क्योंकि इनका खनन शान्तिकाल में विनियमित करना युक्तिसंगत है।

(४) **खानें ठेके पर देना**—भारतीय खान तथा खनिज (व्यवस्था एवं विकास) अधिनियम, १९४८ सरकार को खानों के नियमन सम्बन्धी अधिकार प्रदान करता है। इस अधिनियम के अन्तर्गत आणविक शक्ति वाले खनिज (यूरेनियम, थोरियम वेनेडियम, बेरीलियम, टाइटेनियम, वोल्फ्राम तथा कोलम्बियम आदि) निकालने के लिए सरकार से लाइसेंस प्राप्त करना अनिवार्य किया गया था। आयोग ने यह मत प्रकट किया कि इन खनिजों के अतिरिक्त अन्य महत्वपूर्ण खनिजों—लोहा, मैंगनीज, क्रोमाइट, बॉक्साइट तथा अभ्रक—के लिए भी लाइसेंस व्यवस्था लागू कर दी जानी चाहिए। दूसरा सुझाव यह था कि खानों के ठेके देते समय यह ध्यान रखना चाहिए कि वह ठेके बहुत छोटे या बड़े न हों।

(५) **खनिज समंक**—आयोग ने संकेत किया कि विभिन्न खनिज पदार्थों सम्बन्धी मासिक, त्रैमासिक अथवा वार्षिक आँकड़े उपलब्ध थे, किन्तु खनन उद्योग की आर्थिक प्रगति सम्बन्धी आँकड़ों का सर्वथा अभाव था। १९४८ के अधिनियम में खानों सम्बन्धी आँकड़े संग्रह करने की व्यवस्था की गयी थी। आयोग ने यह मत प्रकट किया कि भारतीय खनिज संस्थान (Indian Bureau of Mines) द्वारा विभिन्न खनिजों सम्बन्धी देश-विदेशों के आँकड़े संग्रह कर प्रकाशित करने चाहिए ताकि विभिन्न खनिजों सम्बन्धी विकास योजनाएँ बनायी जा सकें।

(६) **निर्यात नीति**—अभ्रक तथा मैंगनीज सरीखी खनिजें मुख्यतः निर्यात की जाती रही हैं और प्रायः कच्ची हालत में निर्यात होती रही है। आयोग ने सुझाव दिया कि इन खनिजों को निर्मित अथवा अर्द्ध निर्मित रूप में निर्यात करने की नीति अपनायी जानी चाहिए ताकि इनसे अधिक विदेशी विनिमय अर्जित किया जा सके।

(७) **घटिया स्तर की खनिजें**—आयोग ने इस तथ्य की ओर असन्तोष व्यक्त किया कि घटिया स्तर की खनिजों के सम्बन्ध में सम्पूर्ण तथ्य उपलब्ध नहीं हैं जिससे उनके विकास का प्रयत्न कर सकना कठिन है। इस सम्बन्ध में घटिया खनिजों की वास्तविक किस्म का व्यावसायिक विश्लेषण होना चाहिए तथा उन्हें लाभदायक बनाने की दिशा में कदम बढ़ाये जाने चाहिए।

सुझावों पर कार्य—प्रथम योजनाकाल में भारतीय खनिजों के विकास के लिए निम्नलिखित कार्य किये गये

(क) कोयला, लोहा, तेल, मैंगनीज तथा अन्य खनिजों की प्राप्ति सम्बन्धी सर्वेक्षण किये गये।

(ख) विभिन्न खनिजों की उपलब्धि एवं कठिनाइयों सम्बन्धी जाँच इण्डियन ब्यूरो ऑफ माइन्स द्वारा की गयी। इन खानों के कार्यों सम्बन्धी जाँच कर उनमें सुधार सम्बन्धी कदम उठाये गये हैं।

(ग) घटिया मैंगनीज, कोयला तथा अन्य खनिजों को लाभदायक बनाने सम्बन्धी अनुसन्धान किये गये हैं।

(घ) कोयले सम्बन्धी अनुसन्धान में फ्युअल रिसर्च इन्स्टीट्यूट (Fuel Research Institute) ने महत्वपूर्ण प्रगति की है तथा कोयला धोने, ब्लेंड करने आदि में उल्लेखनीय प्रगति की है।

(च) खानों के संरक्षण सम्बन्धी अधिनियम (The Coal Mines Conservation and Safety Act, 1952) द्वारा केन्द्रीय सरकार को कोयला खानों के संरक्षण के अधिकार दिये गये हैं। इस अधिनियम के अन्तर्गत एक कोयला मण्डल (Coal Board) स्थापित किया गया है जो कोयले की उत्पत्ति एवं विकास सम्बन्धी सलाह देने का कार्य करता है।

(छ) भारतीय भूगर्भ पर्यवेक्षण संस्था (Geological Survey of India) के सहयोग से सेण्ट्रल ग्लास एण्ड सेरामिक रिसर्च इन्स्टीट्यूट (The Central Glass and Ceramic Research Institute) ने शीशा तथा विभिन्न प्रकार की मिट्टियों पर शोध कार्य किया है। इस सम्बन्ध में रद्दी अभ्रक का सदुपयोग करने सम्बन्धी दिशा में भी महत्वपूर्ण प्रगति हुई है।

(ब) भारत सरकार ने कई विदेशी कम्पनियों से तेल की खोज के लिए समझौते किये और प्राकृतिक शोध एवं वैज्ञानिक शोध मन्त्रालय में प्राकृतिक गैस विभाग (Oil and Natural Gas Division) की स्थापना की गयी।

द्वितीय योजनाकाल—दूसरी योजनाकाल में कोयले की उत्पत्ति बढ़ाने के लिए १९५८ में राष्ट्रीय कोयला विकास निगम (National Coal Development Corporation) स्थापित किया और इसके द्वारा १ २० करोड़ टन अतिरिक्त कोयला निकालने का लक्ष्य निर्धारित किया गया। १९५९ में 'Oil India Ltd' की स्थापना की गयी जिसमें भारत सरकार तथा बर्मा आयल कम्पनी की समान पूँजी है। इसका काम देश के विभिन्न भागों में खनिज तेल की खोज कर उत्पादन बढ़ाना तथा कच्चे तेल को पाइप लाइनों द्वारा शोधनशालाओं तक भेजने की व्यवस्था करना है। इसके अतिरिक्त भारत सोवियत सहयोग से भी खनिज तेल की खोज में अत्यधिक प्रगति हुई है। तेल तथा प्राकृतिक गैस विभाग को अब तेल तथा प्राकृतिक गैस आयोग (Oil and Natural Gas Commission) का रूप दे दिया गया है।

आधुनिक प्रवृत्तियाँ—खनिज उद्योग के विकास के लिए प्रथम योजनाकाल में जिन कार्यों को आरम्भ किया गया था, उन प्रवृत्तियों को दूसरी तथा तीसरी योजना में बढ़ाया गया है। इस दिशा में विशेष उल्लेखनीय तथ्य निम्नलिखित हैं

(१) सार्वजनिक क्षेत्र—कोयला, तेल (उपलब्धि एवं शोधन) तथा लोहे की खनिजों का विकास निजी क्षेत्र के साथ साथ सार्वजनिक क्षेत्र में भी किया जा रहा है। इस सम्बन्ध में राष्ट्रीय खनिज विकास निगम (National Mineral Development Corporation) की स्थापना सन् १९५८ में की गयी थी। निगम द्वारा बोनाई क्षेत्र में कीरीबुरु की लोहे की खानों का विकास किया गया है। कोयले तथा पैट्रोल के क्षेत्र में सार्वजनिक अथवा सरकारी योगदान का विवरण आगे दिया जा रहा है।

कोलार की सोने की खानों का राष्ट्रीयकरण किया जा चुका है और अब उनका प्रबन्ध भारत सरकार के हाथ में है। इससे प्रकट है कि सरकार खनिज उद्योग में सार्वजनिक स्वामित्व में निरन्तर वृद्धि कर रही है।

(२) उत्पत्ति में विस्तार—पंचवर्षीय योजनकाल में विभिन्न उद्योगों में जो विकास हुआ है उसके कारण अनेक पुरानी खानों की उत्पत्ति में वृद्धि की गयी है तथा नयी खानों की खोज हुई है। उदाहरणतः कोयला, लोहा, बॉक्साइट, खड़िया, चूने का पत्थर, ताँबा तथा विविध प्रकार के आणविक खनिज अधिकाधिक मात्रा में खोज निकाले गये हैं। इस सम्बन्ध में लोहे तथा तेल क्षेत्रों में उल्लेखनीय प्रगति हुई है। इस प्रगति के फलस्वरूप गत वर्षों में अधिकाधिक मूल्य की खनिज सम्पत्ति खानों से निकाली गयी है जो निम्नलिखित अंकों से स्पष्ट है

भारत में खनिजों की उत्पत्ति

(करोड़ रुपयों में)

वर्ष	मूल्य	वर्ष	मूल्य
१९११	११·४०	१९४८	६४ ००
१९२१	३२ ९०	१९५५	९४ ४०
१९३१	२३ ९०	१९६१	१७९ ५०
१९३९	२० २०	१९६५	२२२·००
		१९६६	४०० ००

उपर्युक्त आँकड़ों से स्पष्ट है कि गत वर्षों में खनिज उत्पत्ति का मूल्य दुगने से अधिक हो गया है।

(३) **खनिज व्यापार**—भारत के विदेशी व्यापार में खनिजो का महत्त्व बढ़ता जा रहा है। सन् १९६६ में खनिजो के निर्यात से ११३ करोड रुपये प्राप्त हुए। इनका निर्यात बढकर सन् १९६७ में १३६ करोड रुपये तथा सन् १९६८ में १६२ करोड रुपये हो गया। सन् १९६८ में भारत के कुल निर्यात व्यापार में खनिजो का अंशदान १२ प्रतिशत था। सन् १९६८-६९ में १६५ करोड रुपये के खनिजो का निर्यात किया गया। खनिजो के निर्यात में प्रथम स्थान खनिज लोहा (८८४ करोड रुपये), द्वितीय स्थान अभ्रक (१३४ करोड रुपये) तथा तृतीय स्थान मैंगनीज (१३ करोड रुपये) का था। अप्रैल १९६३ में राज्य व्यापार निगम (State Trading Corporation) को दो भागो में बाँट दिया गया है जिनमें से एक खनिज एवं धातु व्यापार निगम (Minerals and Metals Trading Corporation) स्थापित किया गया है। इसका कार्य भारतीय खनिज पदार्थों के लिए यथोचित विदेशी मण्डियाँ तलाश करना है। इस निगम का वार्षिक व्यापार २५० करोड रुपये वार्षिक तक बढ़ गया। निगम के प्रयत्नो से मैंगनीज, अभ्रक लोहा तथा कोयला आदि खनिज पदार्थों का निर्यात किया जाता है।

भारत कुछ महत्त्वपूर्ण खनिजो का आयात भी करता है। वस्तुत सन् १९६८ ६९ में भारत के कुल आयात व्यापार में खनिज तथा धातुओं के आयात का हिस्सा १६ प्रतिशत था (खनिज ७% व धातुएँ ९%)। सन् १९६०-६९ की अवधि में इनके आयात में अढ़ाई गुनी वृद्धि हुई है। पेट्रोलियम, ताँबा, एल्यूमिनियम, जिंक, जस्ता तथा टिन का भारत को आयात करना पड़ता है।

खनिज पदार्थ औद्योगिक विकास के लिए महत्त्वपूर्ण आधार का काम कर सकते हैं। इस दृष्टि से इनके विकास में सरकार का योगदान सर्वथा स्तुत्य है परन्तु सरकार को यह ध्यान रखना चाहिए कि इस व्यवसाय को सर्वथा व्यापारिक दृष्टि से सचालित किया जाय ताकि उत्पादन में वृद्धि हो सके और लागत में वृद्धि न हो।

३ शक्ति के साधन
(SOURCES OF POWER)

१ कोयला

शक्ति के स्रोतो में कोयला प्रमुख है। कोयला जलाने के काम में भी आता है और इस्पात बनाने के लिए कच्चे माल का भी काम देता है। इस्पात बनाने के लिए जो कोयला काम में आता है उसे साफ करके कोक के रूप में परिवर्तित कर लिया जाता है। कोयले के प्रयोग से कोलतार तथा बेन्जोल जैसे सहायक तत्त्व भी उपलब्ध होते हैं।

भारत में ४,००० फुट गहराई तक कोयले के कुल भण्डार ५,१३१ करोड टन आँके गये हैं। इनमें से बढ़िया किस्म का कोयला २ प्रतिशत, मध्यम किस्म का ७ प्रतिशत तथा घटिया प्रकार का कोयला ९१ प्रतिशत है। भारत में कोयले का भण्डार कुल विश्व भण्डार का केवल १ ३% है। भारत में लिगनाइट का भण्डार लगभग ४५० करोड टन है। भारत में अधिकांश कोयला घटिया किस्म का पाया जाता है।

भारत में कोयला दामोदर घाटी, रानीगंज, झरिया, गिरीडीह, बोकारो तथा करनपुरा में प्रमुख रूप से पाया जाता है। इनके अतिरिक्त राजस्थान (बीकानेर में पलाना में लिगनाइट की खान है), जम्मू व कश्मीर, असम तथा तमिलनाडु में भी कोयले के सीमित भण्डार हैं।

कोयला-उत्पादन में, विश्व में भारत का छठवाँ स्थान है। अग्र सारणी द्वारा भारत में कोयले तथा लिगनाइट के उत्पादन का ज्ञान होता है

भारत में कोयला व लिगनाइट का उत्पादन

वर्ष	उत्पादन (मिलियन टन)
१९५१	३४.९
१९५६	४०.१
१९६१	५६.१
१९६६	७०.५
१९६९	७०.५

भारत बहुत कम मात्रा में कोयले का निर्यात करता है। कोयले का निर्यात MMTC द्वारा लंका, बर्मा, जापान, सिंगापुर व कुछ अन्य पड़ोसी देशों को किया जाता है। भारत में कोयले की माँग सदैव अधिक रहती है। कुल उत्पादन के ४५ प्रतिशत भाग का उपयोग उद्योगों द्वारा, ३०% रेलों द्वारा तथा २५ प्रतिशत का उपयोग विविध कार्यों के लिए किया जाता है। भारत में कोयले के नये क्षेत्रों का पता लगाया जा रहा है।

२ तेल तथा गैस

कोयले के पश्चात शक्ति का दूसरा महत्त्वपूर्ण साधन तेल है। कई दृष्टिकोणों से तो आधुनिक युग में तेल का महत्त्व कोयले से भी अधिक है क्योंकि सामरिक दृष्टि से तेल अधिक काम की वस्तु है। विभाजन से पूर्व भारत में दो तेल क्षेत्र थे जिनमें से एक पाकिस्तान के हिस्से में आया और दूसरा असम स्थित डिगबोई का तेल क्षेत्र भारत में रहा। इसका उत्पादन भारत की आवश्यकता का लगभग ७ प्रतिशत था। भारत में डिगबोई, सुरमाघाटी, नाहरकटिया, खम्भात, अंकलेश्वर तथा बादरपुर क्षेत्रों में खनिज तेल के भण्डार हैं। इनके अतिरिक्त पंजाब में ज्वालामुखी व होशियारपुर, राजस्थान में जैसलमेर, कश्मीर में मानसर, उत्तर प्रदेश में बदायूँ तथा तमिलनाडु में कावेरी घाटी में भी तेल प्राप्ति की सम्भावनाएँ हैं।

गत वर्षों में असम में नाहरकटिया क्षेत्र में तेल के नये कुएँ मिले हैं जिनसे ५० लाख टन तेल वार्षिक मिलने की सम्भावना है। इस तेल साफ करने के लिए नूनमाटी (गौहाटी के समीप) तथा बरौनी (बिहार) में दो शोधशालाएँ (refineries) स्थापित कर दी गयी हैं। इसके अतिरिक्त गुजरात में अंकलेश्वर तथा उसके निकट कलोल और नवगाँव में भी तेल प्राप्त हो गया है। इस तेल के शोधन के लिए भी बड़ौदा के निकट कोयली में एक शोधशाला स्थापित की गयी है जो प्रारम्भ में २० लाख टन तथा बाद में ३० लाख टन तक तेल शोधन करेगी।

कोयला शोधशाला के लिए सोवियत रूस द्वारा प्राविधिक सहयोग तथा १० करोड़ रुपये के मूल्य का आर्थिक ऋण भी प्राप्त हुआ है। इसके अतिरिक्त कोचीन में भी एक शोधशाला स्थापित की गयी है। इसमें एक अमरीकन फर्म से सहयोग मिला है।

सार्वजनिक क्षेत्रों में स्थापित इन शोधशालाओं के अतिरिक्त तमिलनाडु में एक शोधशाला स्थापित की जा रही है जिसमें ईरानियन ऑयल कम्पनी तथा अमरीकन इण्टरनेशनल ऑयल कम्पनी का सहयोग प्राप्त हो रहा है। कलकत्ता के समीप हल्दिया में भी एक शोधशाला स्थापित की जा रही है। इन दोनों शोधशालाओं की शोधन शक्ति २५-२५ लाख टन वार्षिक होगी।

नाहरकटिया तथा अंकलेश्वर के तेलकूपों में पर्याप्त मात्रा में गैस भी उपलब्ध हुई है जिसका उपयोग करने के लिए विशेष योजनाएँ बनायी गयी हैं।

भारत में पेट्रोल तथा उनसे बने हुए पदार्थों की माँग १९६० में ७५ लाख टन थी। सामान्यतः यह माँग १९६५-६६ में ११० लाख टन तक बढ़ती परन्तु चीनी आक्रमण के कारण

इसका अनुमान १६६ लाख टन तक पहुँच गया। भारतीय उत्पादन लगभग १५ टन तक है। अतः लगभग ७७ लाख टन तेल तथा सम्बन्धित पदार्थ प्रति वर्ष विदेशों से आयात करने पड़ते हैं जिन पर लगभग १ अरब रुपये का विदेशी विनिमय खर्च करना पड़ता है। आवश्यक मात्रा में तेल का शोधन करने के लिए शोधशालाओं की शोधन शक्ति बढ़ायी जा रही है। सन् १९६८-६९ में भारत में कुल १६५ लाख टन क्रूड तेल का उत्पादन हुआ, जिसमें से सार्वजनिक क्षेत्र के तेल के कारखानों का उत्पादन ७७ लाख टन था।

सार्वजनिक क्षेत्र की ६ शोधशालाओं (नूनमाटी, बरौनी, कोयली, हल्दिया, तमिलनाडु तथा कोचीन) के अतिरिक्त तीन शोधशालाएँ निजी क्षेत्र में भी कार्य कर रही हैं। इनमें से दो (बर्मा शैल तथा एस्सो कम्पनियों द्वारा संचालित) बम्बई में हैं तथा एक (कॉलटैक्स द्वारा संचालित) विशाखापत्तनम में है। इन तीनों की शोधन शक्ति ३० लाख टन तेल वार्षिक है। कोचीन शोधशाला की स्थापना में अमरीका की एक तेल कम्पनी ने सहयोग दिया है। तमिलनाडु की तेल शोधशाला ने १९६९ से कार्य आरम्भ कर दिया। इसकी क्षमता २५ लाख टन है।

तेल तथा उससे सम्बन्धित पदार्थों की कुल माँग का २५ प्रतिशत प्रकाश के लिए मिट्टी के तेल के रूप में, ३० प्रतिशत यातायात उद्योग द्वारा डीजल तथा गैसोलीन के रूप में तथा २० प्रतिशत ईंधन तेल के रूप में उद्योगों द्वारा उपयोग किया जाता है। शेष तेल का उपयोग फुटकर कार्यों में होता है।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि तेल की दृष्टि में भारत अभी विदेशी आयात पर निर्भर है। अधिकांश तेल ईरान, ईराक तथा रूस से आयात किया जाता है।

वर्तमान स्थिति एवं भविष्य—भारत में तेल उत्पादों की आवश्यकता १९४७ में केवल २२ लाख टन थी जो बढ़कर १९५७ में ५६ लाख टन और १९६७ में १४७ लाख टन हो गयी। अब हम अपनी आवश्यकता का लगभग २० प्रतिशत विशिष्ट तेल तथा कुछ स्नेहक (Lubricants) आयात करते पड़ते हैं।

भारत में तेल शोधन व्यवसाय पर २४० करोड़ रुपये की पूँजी लगी हुई है जिसमें से १८० करोड़ रुपये की पूँजी लोक क्षेत्र में है। देश तेल उद्योग में आत्मनिर्भर होता जा रहा है, वह दिन दूर नहीं जबकि हम तेल उत्पादों का अधिकाधिक मात्रा में निर्यात कर सकेंगे।

३ जल शक्ति

वैसे तो बिजली का उत्पादन कोयले और तेल से भी हो सकता है परन्तु जल शक्ति से उत्पन्न बिजली सबसे सस्ती होती है। इसका अनुमान योजना आयोग द्वारा दिये गये तुलनात्मक अंकों से लग सकता है

विभिन्न साधनों द्वारा उत्पन्न बिजली की लागत

जल शक्ति	१.२	पैसे प्रति किलोवाट घण्टे
कोयले द्वारा उत्पन्न	३.०	,, ,, ,, ,,
डीजल	२५.०	,, ,, ,, ,,
अणु शक्ति	३.५ से ४	,, ,, ,, ,,

सस्ती—इस प्रकार जल शक्ति से प्राप्त बिजली लगभग सवा पैसे प्रति इकाई पड़ती है जो अन्य सब शक्तियों की लागत में सस्ती है। इसके अतिरिक्त कोयले द्वारा बिजली उत्पादन करने वाले केन्द्रों की स्थापना के लिए जलविद्युत केन्द्रों की स्थापना की तुलना में से दो-तीन गुना विदेशी विनिमय खर्च करना आवश्यक है। अतः सामान्य रूप में भारत जैसे विकासशील राष्ट्र के लिए जल विद्युत का अधिकाधिक विकास करना श्रेयस्कर है।

असीमित—जल विद्युत के पक्ष में एक और तर्क यह है कि भारत की नदियों में बहने वाले जल में कभी कमी आने की आशंका नहीं है जबकि कोयला, तेल आदि के भण्डार अत्यन्त सीमित मात्रा में उपलब्ध हैं जो किसी भी समय समाप्त हो सकते हैं। एक अनुमान के अनुसार भारतीय नदियों में बहने वाले जल के प्रयोग द्वारा प्रति वर्ष लगभग ४ १ करोड़ किलोवाट बिजली उत्पन्न की जा सकती है।

विस्तार—कोयले अथवा तेल से बिजली उत्पन्न करने में बिजली उत्पन्न करने वाले केन्द्र तक कोयला या तेल ले जाना पड़ता है जिस पर हर बार परिवहन व्यय करना पड़ता है। इसके विपरीत, जल विद्युत पर केवल एक बार बाँध आदि बनाने में व्यय होता है। दूसरी महत्त्वपूर्ण बात यह है कि जल विद्युत एक केन्द्र में ही काफी अधिक मात्रा में उत्पन्न हो जाती है जिसे दूर दूर तक ग्राम ग्राम में पहुँचाया जा सकता है और सस्ते मूल्य पर उद्योगों का विकास, यातायात का विस्तार (बिजली की रेलें), खेती का यन्त्रीकरण तथा घरों में शीतलता तथा उष्णता के साधनों की उपलब्धि आदि लाभ उठाये जा सकते हैं।

कनाडा, फ्रांस, स्विट्जरलैण्ड, स्वीडन तथा रूस आदि देशों ने अपने औद्योगिक विकास तथा आर्थिक प्रगति में जल विद्युत का महत्त्वपूर्ण सहयोग प्राप्त किया है जो भारत जैसे देश के लिए सर्वथा अनुकरणीय है।

भारत में विद्युत का उत्पादन—प्रथम पंचवर्षीय योजना के आरम्भ में भारत में सब प्रकार की विद्युत शक्ति के साधन २ ३ मिलियन किलोवाट थे। दूसरी योजना के आरम्भ में कुल शक्ति ३ ४२ मिलियन किलोवाट तथा तीसरी योजना के आरम्भ में वह ५ ७ मिलियन किलोवाट हो गयी। तीसरी योजना के अन्त तक १२ ५ मिलियन किलोवाट बिजली उत्पन्न करने का निश्चय किया गया था किन्तु उस लक्ष्य की पूर्ति नहीं हो सकी। तृतीय योजना के अन्त में (१९६५ ६६) देश में कुल विद्युत उत्पादन क्षमता १० १७ मिलियन किलोवाट थी। सन् १९६६-६७ से सन् १९६८-६९ तक की तीन वार्षिक योजनाओं द्वारा देश में विद्युत उत्पादन क्षमता बढ़ाकर १४ २८ मिलियन किलोवाट कर दी गई। सन् १९६९-७० के अन्त में कुल विद्युत उत्पादन क्षमता १५ ८ मिलियन किलोवाट हो गई। मार्च सन् १९७० में १५ ६ मिलियन किलोवाट की विद्युत उत्पादन क्षमता में ६ २५ मिलियन किलोवाट जल विद्युत, ९ ०१ मिलियन किलोवाट थर्मल विद्युत तथा ० ४ मिलियन किलोवाट अणु विद्युत थी।

विद्युत में विनियोग—योजनाओं के अन्तर्गत विद्युत विकास पर विशेष जोर दिया गया। तृतीय योजना के अन्त तक विद्युत शक्ति विकास कार्य पर कुल २,३५० करोड़ रुपये का विनियोजन हो चुका था। सन् १९६६-६७ व १९६८-६९ की अवधि (तीन वर्ष) में औसतन वार्षिक विनियोजन ४१८ करोड़ रुपये था। सन् १९६९ ७० में ३६७ करोड़ रुपये विनियोजित किये गये। इस प्रकार मार्च १९७० तक विद्युत विकास पर कुल ३,९७० करोड़ रुपये का विनियोजन हो चुका था।

विद्युत का उपभोग—प्रथम पंचवर्षीय योजना के प्रारम्भ में देश में विद्युत का प्रति व्यक्ति उपभोग १८ किलोवाट घण्टा से बढ़कर तृतीय योजना के अन्त में ६१ किलोवाट घण्टा हो गया। सन् १९६८ ६९ के अन्त में यह औसत उपभोग बढ़कर ७८ किलोवाट घण्टा हो गया।

चतुर्थ योजनाकाल (१९६९-७० से १९७३-७४) में विद्युत विकास पर कुल २,४४८ करोड़ रुपय व्यय किये जायेंगे। योजना के अन्त में देश में कुल विद्युत उत्पादन क्षमता २२ मिलियन किलोवाट होगी।

विभिन्न राज्यों में स्थिति—भारत में जल विद्युत का विकास समान रूप से नहीं हुआ है, कुछ राज्यों में बिजली की प्रति व्यक्ति खपत केवल ४ किलोवाट प्रति घण्टे (kwh) है जबकि कुछ राज्यों में यह ९५ किलोवाट प्रति घण्टे से भी अधिक है।

वास्तविक स्थिति यह है कि आसाम, हिमाचल प्रदेश, राजस्थान, उत्तर प्रदेश, जम्मू एवं काश्मीर तथा मध्य प्रदेश राज्यों में बिजली का प्रति व्यक्ति उपभोग बहुत कम है जबकि बंगाल, पंजाब, महाराष्ट्र, तमिलनाडु तथा गुजरात में विद्युत उपभोग की औसत बहुत ऊँची है। दिल्ली नागरिक क्षेत्र है अतः वहाँ का प्रति व्यक्ति उपभोग स्वाभाविक रूप में अधिक है।

गाँवों का विद्युतीकरण (Rural Electrification)—तृतीय योजना के अन्त तक भारत के ५.६७ लाख गाँवों में से ४३,६७० गाँवों में बिजली पहुँचाई जा चुकी थी। सन् १९६९ के अन्त तक कुल १३ प्रतिशत गाँवों (७३,५५४ गाँव) का विद्युतीकरण किया जा चुका था जिससे ११ करोड़ ग्रामीण जनता अर्थात् कुल ग्रामीण जनसंख्या का ३१ प्रतिशत लाभान्वित हो चुका था। दिसम्बर १९६९ तक कुल १२ लाख सिंचाई पम्पों को विद्युत चालित कर दिया गया।

ग्राम विद्युतीकरण निगम (Rural Electrification Corporation)—ग्रामीण साख समीक्षा समिति (All India Rural Credit Review Committee)—ने यह सुझाव दिया था कि गाँवों के विद्युतीकरण के लिए एक विशेष कोष की स्थापना की जाय। इस सुझाव के फलस्वरूप भारत सरकार ने १० करोड़ रुपये की पूँजी से २५ जुलाई, १९६९ को भारतीय कम्पनी विधान के अन्तर्गत एक निगम की स्थापना की। चतुर्थ योजना में इस निगम के लिए ४५ करोड़ रुपये की व्यवस्था की गई। इस निगम ने २६ जुलाई १९६९ को 'U S AID' के साथ एक समझौता किया जिसके अनुसार पी एल ४८० कोष से चतुर्थ योजनाकाल में अमरीका इस निगम को १०५ करोड़ रुपये की सहायता देगा। इस निगम का प्रमुख उद्देश्य गाँवों के विद्युतीकरण सम्बन्धी योजनाओं को वित्तीय सहायता देना, ग्रामीण विद्युत सहकारी समितियों की स्थापना में सहायता देना तथा राज्य विद्युत मण्डलों द्वारा जारी किये गये ऋणपत्रों को खरीदना है। आशा है यह निगम गाँवों के विद्युतीकरण के क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा करेगा।

४ अणु तथा अन्य शक्तियाँ

यह अनुमान लगाया गया है कि भारत में थोरियम (thorium) के श्रेष्ठतम भण्डार विद्यमान हैं और वह यूरेनियम के भण्डारों से कहीं अधिक है परन्तु थोरियम से शक्ति प्राप्त करने के लिए तीन अवस्थाओं में से गुजरना पड़ता है। यह भी अनुमान लगाया गया है कि एक टन यूरेनियम से उतनी ही बिजली प्राप्त की जा सकती है जितनी १०-११ हजार टन कोयले से। इससे स्पष्ट है कि अणु शक्ति का प्रयोग करने पर परिवहन सम्बन्धी एक बहुत बड़ी कठिनाई हल हो जायगी। किन्तु अणु शक्ति के बिजलीघर का निर्माण एवं संचालन करने के लिए अत्यन्त उच्चस्तरीय वैज्ञानिक एवं तकनीकी कौशल की आवश्यकता है। अतः भारत को अणु शक्ति क्षेत्र में नवयुवक वैज्ञानिकों का प्रशिक्षित कराने की चेष्टा करनी चाहिए।

सिंहभूमि जिले में प्रतिदिन १,००० टन यूरेनियम निकाला जा रहा है तथा जादुगुडा (बिहार) में यूरेनियम धातु सम्बन्धी एक फैक्टरी स्थापित की जा रही है। इसके अतिरिक्त कुल्लू (पंजाब), चमोली (उत्तर प्रदेश) तथा महासू (हिमाचल प्रदेश) में भी यूरेनियम उपलब्ध है।

बम्बई के निकट तारापुर में एक अणु शक्ति वाला बिजलीघर बनाया गया है जिसके दो केन्द्र हैं और प्रत्येक केन्द्र १५० मेगावाट बिजली उत्पन्न करेगा। सोवियत रूस के सहयोग से एक अन्य अणु बिजलीघर कोटा (राजस्थान) में बनाया जा रहा है तथा तीसरा अणु शक्ति केन्द्र तमिलनाडु में बनाया जायेगा।

वायुशक्ति—राष्ट्रीय वैज्ञानिक अनुसन्धानशाला, बंगलौर ने यह विचार प्रकट किया है कि भारत में वायु का वेग देखते हुए यहाँ २ से ५ किलोवाट बिजली उत्पन्न करने वाले जेनरेटर लगाये जा सकते हैं। अनुसन्धानशाला के वायुशक्ति विभाग ने दो प्रकार की पवन चक्कियों (wind mills) का आविष्कार किया है। इनसे भारत के २३ स्थानों पर छः प्रकार के विद्युत उत्पन्न

करने वाले यन्त्रों का परीक्षण किया है। सम्भव है निकट भविष्य में कोई ऐसा यन्त्र खोज लिया जाय जिसकी सहायता से देश के विभिन्न भागों स चलने वाली प्रबल वायु के वेग का प्रयोग कर देश के उद्योगों को विकसित किया जा सके।

४ वन-सम्पत्ति
(FOREST RESOURCES)

भू तत्ववेत्ताओं का कथन है कि भारत की गरम जलवायु, अनिश्चित मानसून तथा कृषि-प्रधान अर्थ व्यवस्था को देखते हुए देश के कम से कम एक-तिहाई क्षेत्र पर वन होना अत्यन्त आवश्यक है।

भारत म वनों का क्षेत्रफल ५१२ लाख हैक्टर है जो देश के कुल भौगोलिक क्षेत्रफल का २२% है।

उत्तर भारत (मैदानी भाग) में वनों का सर्वथा अभाव है। अनेक कारणों से भारतीय वनों का क्षेत्र विस्तृत करने की आवश्यकता है। यह कारण निम्न हैं:

वनों की उपयोगिता—राष्ट्रीय अर्थ व्यवस्था में वन अनेक प्रकार से उपयोगी हैं

(१) वन भू-क्षरण रोकने में सहायक होते हैं।

(२) वन वर्षा को आकर्षित करते है।

(३) वन बाढ़ के प्रभाव को कम करते हैं क्योंकि वह अतिरिक्त जल को सोख लेते हैं।

(४) वन पशुओं के लिए चारे की पूर्ति करते हैं।

(५) वनों से पत्तियों के रूप में भूमि को हरी खाद उपलब्ध होती है।

(६) वनों से ईंधन, इमारती लकड़ी, लाख, गोंद, तेल तथा अन्य अनेक प्रकार के पदार्थ प्राप्त होते हैं। इनके बल पर अनेक उद्योगों का सचालन होता है।

(७) वनों से जड़ी बूटियाँ भी उपलब्ध होती हैं।

भारतीय वनों की उत्पत्ति—भारतीय वनों में अनेक प्रकार की लकडी उपलब्ध होती है परन्तु वह आवश्यकता से कम है। अनुमान लगाया जाता है कि औद्योगिक कार्यों के लिए वर्तमान काल में लगभग ४५ लाख टन लकडी की आवश्यकता है। यह आवश्यकता १९७५ तक बढ़कर ६५ लाख टन हो जाने की सम्भावना है जबकि उस समय तक पूर्ति सम्भवत ५५ लाख टन से अधिक होने की आशा नहीं है। अत औद्योगिक लकडी की ऐसी किस्में ज्ञात की जानी चाहिए जो शीघ्र पनप सकें तथा जिनका उत्पादन सामान्य से अधिक होता हो।

(१) **ईंधन**—औद्योगिक लकडी के अतिरिक्त भारत में जलाने की लकडी का भी अभाव है जिसके कारण ग्रामवासी प्रति वर्ष लगभग ४० करोड टन गोबर (जो ६ करोड टन ईंधन के तुल्य होता है) जला देते हैं। ईंधन की यह कमी १९७५ तक ६ करोड टन से बढ़कर १० करोड टन हो जाने की आशका है। अत इस दिशा म भी अधिक प्रयत्न करना आवश्यक है।

(२) **रंगने का सामान**—लकडी के अतिरिक्त भारत में प्रति वर्ष लगभग ३०००० टन चमड़ा रंगने के पदार्थ की मांग है जिसका लगभग ३० प्रतिशत विदेशों से आयात करना पडता है। बबूल, कीकर तथा अन्य ऐसी छाल वृक्षों का रोपण किया जाना चाहिए जो चमड़ा रंगने के पदार्थों की पूर्ति अधिकाधिक मात्रा में कर सकें।

यह अनुमान लगाया गया है कि देश में प्रति वर्ष लगभग २९ करोड रुपये के मूल्य की लकडी उपलब्ध होती है।

(३) **अन्य पदार्थ**—लकडी के अतिरिक्त भारतीय वनों से अनेक प्रकार के अन्य पदार्थ उपलब्ध होते हैं जिनमें गोंद, कई प्रकार के तेल, लाख, गन्दा बिरोजा, तारपीन का तेल तथा कई प्रकार की औषधियाँ सम्मिलित हैं। इनका वार्षिक मूल्य १० से १५ करोड रुपये के मध्य आंका जा सकता है।

सुझाव—वनों के विकास की सरल एवं उपयोगी रीति यह है कि सड़कों, रेलवे लाइनों तथा नहरों के किनारों पर शीघ्र पनपने वाले वृक्ष लगाये जायें तथा कुछ वर्ष तक सार्वजनिक निर्माण विभाग (P W D) द्वारा इनकी रक्षा का भार लिया जाय। इसके अतिरिक्त औषधियों, लाख, चन्दन तथा अन्य महँगी वस्तुओं से सम्बन्धित वृक्ष कुछ विशेष क्षेत्रों में व्यावसायिक आधार पर लगाये जा सकते हैं ताकि उनका उत्पादन शीघ्रतापूर्वक बढ़ सके। वनों की उत्पत्ति की किस्म के सुधार के सम्बन्ध में भी यत्न करना आवश्यक है तथा उनसे प्राप्त माल के यथासमय विक्रय की भी उचित व्यवस्था की जानी चाहिए।

भारत में वन नीति—भारत सरकार ने १९५० में केन्द्रीय वन मण्डल (Central Board of Forestry) स्थापित किया और १९५२ में एक राष्ट्रीय वन नीति प्रस्ताव पास किया जिसमें यह निश्चय किया गया कि देश में वनों का विकास किया जाना चाहिए ताकि सम्पूर्ण भूमि के कम से कम एक-तिहाई भाग पर वनों का विस्तार हो सके। तदनुसार पहाड़ी क्षेत्रों की ६० प्रतिशत तथा मैदानी क्षेत्रों की २० प्रतिशत भूमि पर वनों का विकास करने का निश्चय किया गया।

जमींदारी उन्मूलन के कारण सरकार के नियन्त्रण में बहुत सी ऐसी भूमि आ गयी थी जिस पर वन काट दिये गये थे। इन क्षेत्रों में पुनः वन उगाने का कार्य आरम्भ किया गया। प्रथम तथा द्वितीय योजनाओं में ५५,००० एकड़ भूमि पर नरम लकड़ी (दियासलाई बनाने के काम आने वाली) तथा ३ ३ लाख एकड़ भूमि पर इमारती तथा अन्य औद्योगिक लकड़ी के वन लगाने का कार्य हाथ में लिया गया। इसके अतिरिक्त लगभग ९,००० मील वन सड़कें निर्मित की गयीं। लगभग ४ लाख एकड़ भूमि के वनों की व्यवस्था में सुधार करने का भी प्रयत्न किया गया। इन सब कार्यों पर प्रथम योजनाकाल में लगभग ९ ५ करोड़ रुपये तथा द्वितीय योजनाकाल में १९ ३ करोड़ रुपये व्यय किये गये।

तृतीय योजना—तीसरी योजना की अवधि में वनों के विकास पर ५२ करोड़ रुपये व्यय करने का प्रावधान किया गया था परन्तु वास्तविक व्यय ४६ करोड़ रुपये हुआ। इस योजना के अन्तर्गत लगभग १० लाख एकड़ भूमि पर वन लगाने की व्यवस्था की गयी जिसमें से लगभग ६ लाख एकड़ भूमि पर इमारती लकड़ी के वन लगाये जाने की योजना थी। इसके अतिरिक्त लगभग ११ लाख एकड़ खेती वाली भूमि में (चारों ओर) वृक्ष लगाने की व्यवस्था की गयी है। इसके अतिरिक्त निम्नलिखित अन्य कार्य भी किये गये हैं

(१) वन सम्पत्ति की औद्योगिक उत्पत्ति का विकास करना तथा अधिक वस्तुएँ विदेशों को निर्यात करना,

(२) इमारती लकड़ी की विभिन्न किस्मों के समुचित उपयोग की व्यवस्था करना,

(३) ग्राम निवासियों के लिए जलाने के लिए अधिक ईंधन उत्पन्न करना,

(४) पशुओं के चराने के लिए १ ५ लाख एकड़ भूमि में चरागाहों का विकास करना,

(५) वन अनुसन्धान तथा प्रशिक्षण की व्यवस्था में वृद्धि करना,

उपर्युक्त कार्यों में सफलता प्राप्त करने के लिए **वन महोत्सव तथा वन जीव सुरक्षा सप्ताह** मनाये जाते हैं ताकि जनता में वनों के महत्त्व तथा उनके संरक्षण के प्रति उत्साह उत्पन्न हो सके।

शोध एवं प्रशिक्षण—द्वितीय योजनाकाल में वन शोध संस्था (Forest Research Institute), देहरादून में लकड़ी की विभिन्न किस्मों के सम्बन्ध में शोधकार्य आरम्भ किया गया था। उसके अन्तर्गत न केवल विभिन्न प्रकार की लकड़ी के उचित प्रयोग सम्बन्धी शोध की जा रही है बल्कि चन्दन, लाख, गोंद आदि के उत्पादन बढ़ाने के उपायों की भी खोज चालू है।

वनों के विकास के लिए स्वभावत प्रशिक्षित कर्मचारियों की आवश्यकता होगी जिसकी पूर्ति के लिए फॉरेस्ट कालिज, देहरादून मे अधिकारियों के प्रशिक्षण के लिए ८५ के स्थान पर १०० व्यक्तियों को प्रति वर्ष प्रवेश दिया जायेगा तथा देहरादून और कोयम्बटूर के कालेजों में रेंजर्स कोर्स मे २०० के स्थान पर ३०० व्यक्तियों को भर्ती किया जा सकेगा। सरकार का अनुमान है कि इन सुविधाओं की वृद्धि के फलस्वरूप योजनाकाल मे ४८० प्रशिक्षित अधिकारी तथा १,५२० रेंजर्स उपलब्ध हो सकेंगे।

सन् १९६६ ६७ से सन् १९६८-६९ तक वार्षिक योजनाओं के अन्तर्गत वनों के विकास पर कुल ४४ करोड रुपया व्यय किया गया। चतुर्थ पचवर्षीय योजना मे वनों के विकास के लिए कुल ६२ करोड रुपये खर्च करने का प्रावधान है।

वर्तमान समय मे विश्व के कुल वन-क्षेत्र का केवल १ ६ प्रतिशत भाग भारत मे है।

५ मछलियां
(FISHES)

प्रकृति द्वारा प्रदत्त साधनों मे मछली एक महत्त्वपूर्ण देन है। ऐसे देशों मे, जहाँ खाद्यान्नों का प्राय अभाव रहता है, मछली की प्रचुरता एक ईश्वरीय वरदान मानी जाती है। इस कारण से जापान के मछुए प्रशान्त महासागर मे जापानी तट से सौ सौ मील दूर तक जाकर मछलियां पकड़ते हैं। इगलैण्ड तथा नार्वे के समुद्र-तट तथा अमरीका के पूर्वी तटों पर प्राय: साल भर मछली पकड़ने का व्यवसाय अबाध गति से होता है। जापान तथा इगलैण्ड तो मछली को बहुत बहुत कुछ अपने आहार का महत्त्वपूर्ण अग समझते हैं।

भारत मे भी गत वर्षों मे मत्स्य उद्योग अथवा मछली पकडने की ओर विशेष ध्यान दिया गया है। खाद्यान्नों की कमी के कारण मछली पालने तथा प्रयोग करने का प्रचार भी किया जा रहा है।

आन्तरिक स्रोत—मछलियाँ तालाबों, नदियों, नहरों, अथवा जलाशयों में प्राय. सभी स्थानों मे उपलब्ध होती हैं। भारत में आन्तरिक स्रोतों का बाहुल्य होने के कारण काफी मछली इन साधनों से प्राप्त होती है। उदाहरणत, देश मे मछलियों की वार्षिक उपलब्धि १७ लाख टन है, जिसमे से ३ लाख टन आन्तरिक स्रोतों से प्राप्त की जाती है। वास्तव मे, देश के आन्तरिक जल स्रोतों का विस्तृत सर्वेक्षण कर मछली पालन की नियमित व्यवस्था करनी चाहिए। प्रथम दो योजनाओं मे लगभग १३ ५ लाख एकड आन्तरिक जल स्रोतों का सर्वेक्षण किया गया और ८ लाख एकड जलक्षेत्र मे मछली पालने की व्यवस्था की गयी। तृतीय योजना मे भी ५०,००० एकड से अधिक जलक्षेत्र मे मछलियाँ पालने की व्यवस्था करने तथा लगभग १,५००-२,००० एकड जल-क्षेत्र (जो दलदलयुक्त है) को मछली पालन के उपयुक्त बनाने का प्रबन्ध किया गया। वस्तुत इन सब क्षेत्रों का सम्पूर्ण रूप मे विकास होने पर देश की खाद्य समस्या हल करने मे बहुत सहयोग मिलने की आशा है।

सामुद्रिक स्रोत—भारतीय समुद्रतट लगभग ५,६८९ किलोमीटर लम्बा है तथा अनेक स्थानों पर काफी कटा-फटा है जहाँ मछली पकडने का व्यवसाय सरलतापूर्वक हो सकता है। भारत मे मछली पकडने के आधुनिकतम साधनों का विकास न होने के कारण समुद्रतट से केवल ८ से १२ किलोमीटर की दूरी तक ही मछलियाँ पकडी जाती हैं।

भारत मे मछली की वार्षिक मांग लगभग ४० लाख टन है किन्तु उत्पादन केवल १७ लाख टन (११ लाख टन सामुद्रिक तथा ३ लाख टन आन्तरिक) है। भारत के मछली स्रोतों का एक गहन सर्वेक्षण करना चाहिए और मछली पकडने की प्रणालियों मे सुधार करना चाहिए। ऐसा करने से तमिलनाडु कोचीन, विशाखापत्तनम, बम्बई तथा कलकत्ता आदि केन्द्रों के अतिरिक्त अनेक स्थानों

पर मछली पकड़ने के केन्द्र स्थापित किये जा सकते हैं जो देश के लिए अत्यन्त उपयोगी एवं महत्त्वपूर्ण सिद्ध होंगे।

६ पशुधन
(LIVESTOCK)

भारत में अनादिकाल से कृषि का अत्यधिक महत्त्व रहा है और गाय तथा बैल कृषि के आधारभूत अंग रहे हैं। सम्भवतः इस कारण से ही भारतीय सामाजिक जीवन में गौ को माता के समान आदर दिया जा रहा है और उसे एक महत्त्वपूर्ण धन माना गया है। वर्तमान युग में भी जबकि अन्य देशों में कृषि का तीव्र गति से यन्त्रीकरण हो रहा है, भारत के अधिकतर क्षेत्रों में बैल से ही खेती होती है। चेस्टर बोल्स के शब्दों में बैलों से खेती करना अनेक दृष्टिकोणों से उपयोगी है।[1]

(१) बैलों से खेती करने में गैसोलीन या अतिरिक्त कल-पुर्जों की आवश्यकता नहीं होती।

(२) यह प्रायः नियमित रूप से कार्य कर सकते हैं जबकि मशीनें अनेक बार काम बन्द कर देती हैं।

(३) बैलों से प्रचुर मात्रा में प्राकृतिक खाद (गोबर तथा मूत्र) मिलती है।

इसके अतिरिक्त भारत जैसे देश में जहाँ जनसंख्या का बाहुल्य है, बैलों द्वारा खेती करना ही अधिक युक्तिसंगत लगता है क्योंकि इसमें किसानों को काम मिलता रहता है और गाय आदि पालने से दूध की पूर्ति भी होती रहती है जिससे बच्चों तथा युवकों का स्वास्थ्य ठीक रहता है।

चेस्टर बोल्स द्वारा बताये गये लाभों के अतिरिक्त बैलों के और भी कुछ उपयोग हैं :

(१) वह फसल तैयार होने पर अन्न निकालने में मदद करते हैं।

(२) इन्हें गाड़ी में जोतकर फसल को मण्डी तक पहुँचाया जा सकता है।

(३) मृत्यु के उपरान्त उनका चमड़ा बहुत उपयोगी होता है।

सम्भवतः इन सब कारणों से ही भारतीय समाज में गाय तथा बैल को अधिक महत्त्व दिया गया था।

पशुधन का बाहुल्य—अन्तर्राष्ट्रीय कृषि उत्पादक संघ (International Federation of Agricultural Producers) के अनुसार संसार के कुल दूध देने वाले पशुओं की संख्या ११० करोड़ है जिसमें भारत का भाग लगभग एक-चौथाई है जो कि संसार के सब देशों से अधिक है।

१९६६ में विश्व में दूध का कुल उत्पादन ३४२.६ मिलियन टन हुआ था, जबकि इस वर्ष भारत में दूध का कुल उत्पादन १६.३ मिलियन टन मात्र था। इसी वर्ष भारत में घी का उत्पादन १४० लाख टन हुआ। इस प्रकार भारत में कुल पशुधन की संख्या लगभग ३४ करोड़ है। इस संख्या के अतिरिक्त मुर्गे मुर्गियों की संख्या ११ करोड़ से कुछ अधिक आंकी गयी है।

गुणात्मक हीनता—पशुओं की संख्या सर्वाधिक होने पर भी भारत के पशु अत्यन्त हीन अवस्था में हैं। उदाहरणतः संसार में दूध की कुल उत्पत्ति ३४ करोड़ टन आंकी गयी है जिसमें से भारत केवल २·०६ करोड़ टन अर्थात् लगभग ६ प्रतिशत उत्पन्न करता है। इसका कारण यह है कि भारत की गायें अन्य देशों की गायों की तुलना में बहुत कम दूध देती हैं, जो निम्न अंकों से स्पष्ट है

गायों के दूध का औसत डेनमार्क में ३,२७०, स्विट्जरलैण्ड में ३,२८०, संयुक्त राज्य अमरीका में ३,१८० और भारत में २२० किलोग्राम है।

यह भी अनुमान किया जाता है कि भारत की ६८·३ प्रतिशत गायें एक किलोग्राम से भी कम दूध देती हैं और केवल ०·८ प्रतिशत दो किलोग्राम दूध प्रतिदिन देती हैं। १६·२ प्रतिशत भैंसें भी १ किलोग्राम प्रतिदिन से कम दूध देने वाली हैं।

---

1 *The Makings of a Just Society*, p 67.

दूध की उपलब्धि—इस हीनता के कारण ही भारत मे दूध का वार्षिक उत्पादन बहुत कम है। १९५१ मे यह १७ करोड टन था किन्तु १९६६ मे बढकर २०१ करोड टन हो गया।

भारत मे दूध तथा दुग्ध पदार्थो का प्रति व्यक्ति उपभोग १९५१ मे ४७६ औंस प्रतिदिन था जो बढकर १९६१ मे ४९ औस प्रतिदिन हो गया। वर्तमान मे यह केवल ४६२ औस दैनिक है जो आदर्श आवश्यकता के आधे से भी कम है। ससार भर की दूध एव दुग्ध पदार्थों के उपभोग की दैनिक औसत १०७ औस है। भारत म दूध की इतनी कम प्राप्ति मे भी विभिन्न राज्यो की खपत मे बहुत भिन्नता है। पजाब, राजस्थान, हिमाचल प्रदेश तथा उत्तर प्रदेश मे दूध का प्रयोग अन्य राज्यों की तुलना मे अधिक होता है। यह अनुमान लगाया गया है कि स्वास्थ्य का सामान्य स्तर बनाए रखन के लिए देश के प्रत्येक व्यक्ति को कम से कम १० औंस दूध प्रतिदिन मिलना चाहिए किन्तु चौथी योजना के समापन पर भी दूध की प्रति व्यक्ति उपलब्धि केवल ५५ औंस हो सकेगी। इससे स्थिति की गम्भीरता का अनुमान लगाया जा सकता है।

दूध देने वाले पशुओ की भाँति ही अन्य पशुओ की स्थिति भी बहुत सन्तोषजनक नही है। इस हीन स्थिति के निम्न कारण हैं

(१) अनुपयोगी पशुओ का बाहुल्य—भारतीय योजना आयोग के अनुसार भारत मे फालतू तथा अनुपयोगी पशुओं की सख्या बहुत अधिक है। इनमे मे बहुत से पशु खराब नस्ल के हैं और अच्छी नस्ल के पशुओ के साथ मिलने से उनकी नस्ल भी खराब होने का भय रहता है।

(२) घटिया आहार—पशुओं की दुर्बलता का दूसरा कारण यथेष्ट एव पौष्टिक आहार का अभाव है। देश के अनेक भागो मे पशुओं को जो चारा अथवा खाद्य दिय जाते हैं वह बहुत कम और घटिया किस्म के होत हैं। इसके साथ साथ उनसे काम काफी मात्रा मे लिया जाता है जिससे पशुओ की शारीरिक दुर्बलता मे वृद्धि हो जाती है।

(३) रोगों का बाहुल्य—देश के अनेक भागो मे पशुओ को विभिन्न प्रकार के रोग लग जाते हैं जिनकी चिकित्सा की सुविधाएँ बहुत कम हैं।

(४) अच्छे सांडों की उपलब्धि—पशुओ की अच्छी नस्लो का विकास करने के लिए यह भी आवश्यक है कि यथेष्ट सख्या म अच्छी नस्ल के सांड उपलब्ध हो। भारत के अनेक भागो मे पर्याप्त मात्रा मे अच्छी नस्ल के सांड उपलब्ध नही होत जिससे गाय तथा बैलो की नस्ल खराब हो जाती है।

(५) गायों की देख-रेख—गाय को माता मानने वाले भारत मे भी अनेक व्यक्ति गायो को गलियो मे भटकने के लिए छोड देते हैं। यह गायें विभिन्न प्रकार की गन्दी और अस्वास्थ्यप्रद वस्तुएँ खाती रहती हैं जिसस न केवल उनका स्वास्थ्य खराब होता है बल्कि वह जो दूध देती हैं वह भी हानिकारक एव रोग उत्पन्न करने वाला होता है।

योजनाकाल में पशुधन का विकास

(१) कृत्रिम गर्भाधान व्यवस्था—देश मे अच्छी नस्ल के पशुओ का विकास करने के लिए भटकने वाले रोगी अथवा दुर्बल सांडो को बधिया करना आवश्यक है ताकि उनके सयोग से गायो की नस्ल को हानि न पहुँच सक। इसके अतिरिक्त यथेष्ट सख्या मे अच्छे सांडो की व्यवस्था करना भी आवश्यक है। भारत सरकार ने अच्छी नस्ल के सांड तैयार करने के लिए केन्द्रीय ग्राम योजना (Key Village Scheme) लागू की है। प्रथम दोनो योजनाओ म इस प्रकार के ४०७ खण्ड स्थापित किये गये जहाँ स पचायतो को अच्छे सांड दिये जाते है। इसके अतिरिक्त पशुओ के लिए कृत्रिम गर्भाधान की भी व्यवस्था की गयी है जिसके द्वारा केवल श्रेष्ठ नस्ल के पशु उत्पन्न किये जा सकते हैं। द्वितीय योजना के अन्त तक कृत्रिम गर्भाधान के ६७० केन्द्र स्थापित किये जा चुके थे। योजना आयोग की एक विशेषज्ञ समिति ने सुझाव दिया है कि नस्ल सुधार के लिए प्रयुक्त किये

जाने वाले पशुओं की सरकारी केन्द्रों में जाँच की जानी चाहिए तथा अधिक केन्द्रों की स्थापना की जानी चाहिए। फलत हरियाणा तथा मुर्राह (भैंसों) नस्लों के सांडों तथा भैंसों की जाँच एवं विकास का कार्य आरम्भ कर दिया गया है। दुर्बल एवं खराब नस्ल के पशुओं को बधिया करने की योजना भी तेजी से कार्यान्वित की जा रही है।

वर्तमान में १२५ सरकारी पशुपालन केन्द्र हैं जिनमें प्रति वर्ष ५,००० सांड तैयार किये जा रहे हैं। तृतीय योजना काल में ३०,००० सांड पालने के लिए आर्थिक सहायता देने की व्यवस्था की गयी।

(२) **रोगों की रोकथाम तथा चिकित्सा**—पशुओं में लाल बीमारी विशेष रूप से फैलती है जिसकी रोकथाम करने के लिए टीके लगाने की व्यवस्था की गयी है। इसके अतिरिक्त २८ ऐसे केन्द्र निर्मित किये जा रहे हैं जिनमें रुग्ण पशुओं को रखा जा सकेगा। इनमें से १८ केन्द्र स्थापित हो चुके हैं।

(३) **भोजन एवं पोषण-व्यवस्था**—अकाल के समय मनुष्यों के लिए तो विदेशों से खाद्य-सामग्री का आयात हो जाता है परन्तु पशुओं के लिए चारे की व्यवस्था करना बहुत कठिन होता है। सामान्य परिस्थितियों में भी कभी-कभी चारे का अभाव हो जाता है। इसका अनुमान इस बात से लगता है कि भारत में कुल पशुसंख्या के लिए कम से कम ४ करोड़ टन विशिष्ट भोजन (concentrates) तथा ९३ करोड़ टन चारे की आवश्यकता है जबकि वास्तविक उपलब्धि केवल १.३८ करोड़ टन विशिष्ट भोजन तथा ८० करोड़ टन चारा है। ऐसी स्थिति का सामना करने के लिए चारा बैंक स्थापित किये गये है।

चारे के भण्डार निर्मित करने के अतिरिक्त एक घास अनुसन्धान संस्था भी स्थापित की जा रही है जो तीव्रगति से बढ़ने वाली घासों को सरकारी खेतों में उत्पन्न करने के सम्बन्ध में सुझाव देगी। इस प्रकार की सुधरी हुई घास नदी घाटी योजनाओं के क्षेत्रों में उत्पन्न करने की व्यवस्था की जायेगी।

यह अनुसन्धान केन्द्र घास उत्पन्न करने के केन्द्रों के प्रदर्शन की व्यवस्था भी करेगा तथा फसलों के साथ अदला बदली के रूप में घास उत्पन्न करने की योजना को भी प्रोत्साहन देगा।

(४) **अतिरिक्त पशुओं की व्यवस्था**—देश में एक बड़ी संख्या ऐसे पशुओं की है जो अनुत्पादक क्षीण तथा बेकार हैं। इनके कारण अच्छे पशुओं को भी पर्याप्त मात्रा में भोजन मिलने में कठिनाई होती है। वस्तुत इन पशुओं को समाप्त करना ही उचित इलाज है परन्तु देश की धार्मिक एवं सामाजिक भावनाओं की दृष्टि से १९४८ में पशु परिरक्षण तथा विकास (Cattle Preservation and Development Committee) ने बेकार पशुओं के लिए गौ-सदन स्थापित करने का सुझाव दिया था। इन सदनों की स्थापना इसलिए की जा रही है कि इनमें निकम्मे तथा बीमार पशुओं को अच्छे पशुओं से अलग रखा जा सके ताकि खराब नस्ल के पशुओं की वृद्धि न हो। इस कार्यक्रम को सफल बनाने के लिए भटकने वाले पशुओं को पकड़कर गौ-सदनों में भेजने की व्यवस्था भी सम्मिलित है।

(५) **कुक्कुट पालन**—भारत में दालें, दूध, घी तथा अन्य पौष्टिक पदार्थों का अभाव है। इस कमी की पूर्ति करने के लिए किसी सस्ते पौष्टिक साधन का विकास करने की आवश्यकता है। मुर्गी-पालन व्यवसाय इस कमी की पूर्ति करने में सहायक हो सकता है। भारत में बड़े पैमाने पर मुर्गी पालन का रिवाज नहीं है। यह व्यवसाय कुटीर उद्योग के रूप में ही चलाया जा रहा है। बड़े-बड़े नगरों में प्राय अण्डे तथा मुर्गियाँ (अथवा उनका मांस) बाजार में बिकता है।

(६) **भेड़पालन तथा ऊन**—भारत में लगभग ७.२ करोड़ पौण्ड ऊन प्राप्त होती है जिसका लगभग ५० प्रतिशत भाग गलीचे बुनने के लिए निर्यात कर दिया जाता है। अनुमान लगाया जाता

है कि ऊन तथा भेड़ों से सम्बन्धित अन्य वस्तुओं के निर्यात से भारत को प्रति वर्ष लगभग २६-२७ करोड़ रुपये विदेशी विनिमय के रूप में प्राप्त होते हैं। इसके अतिरिक्त लगभग ८ करोड़ रुपये की बढ़िया किस्म की ऊन आयात भी की जाती है।

भेड़पालन व्यवसाय में भी दो समस्याएँ मुख्य रूप से प्रकट होती हैं। प्रथम समस्या अच्छी नस्ल के मेंढ़े (rams) प्राप्त करने तथा दूसरी ऊन को ठीक प्रकार से कटाने से सम्बन्धित है। द्वितीय योजनाकाल में अच्छी नस्ल के मेढ़े पालने के चार केन्द्र स्थापित किये गये। इन केन्द्रों से भेड़ें तथा ऊन का विकास करने वाले ३०५ केन्द्रों को मेढ़े दिये गये। यह विकास केन्द्र अच्छी नस्ल की भेड़ें पालने के अतिरिक्त ऊन काटने, वर्गीकृत करने तथा विक्रय की आधुनिक रीतियों का प्रदर्शन भी करते हैं।

चीनी आक्रमणजनित सकटकालीन परिस्थिति के कारण ऊन का उत्पादन बढ़ाने का अत्यधिक प्रयत्न किया जा रहा है। तदनुसार भेड़ों का विकास करने की दृष्टि से ऊन कतरने तथा वर्गीकृत करने सम्बन्धी एक योजना राजस्थान में आरम्भ कर दी गयी है। इसका सचालन सयुक्त राष्ट्र सघ विशिष्ट कोष (United Nations Special Fund) के अन्तर्गत किया जा रहा है। इसके अतिरिक्त ऊन के वर्गीकरण करने सम्बन्धी प्रशिक्षण देने के लिए जोधपुर (राजस्थान) में एक प्रशिक्षण स्कूल स्थापित किया गया है जिसका निर्देशन आस्ट्रेलिया के पांच विशेषज्ञों द्वारा हो रहा है। राजस्थान में भेड़ तथा ऊन उत्पादन का विकास करने के लिए एक केन्द्रीय सस्था की स्थापना भी की गयी है।

(७) पशु बीमा तथा अन्य योजनाएँ—कभी-कभी पशुओं में महामारी फैल जाने से एक साथ बहुत-से पशुओं की मृत्यु हो जाती है जिससे पशुपालकों को बहुत हानि होती है। बम्बई की सहकारी म्युचुअल इन्श्योरेंस कम्पनी ने महाराष्ट्र और गुजरात में दूध देने वाले तथा बोझ ढोने वाले पशुओं का बीमा आरम्भ कर दिया है। केरल, आन्ध्र प्रदेश, उत्तर प्रदेश, राजस्थान, मैसूर, तमिलनाडु तथा पजाब आदि राज्यों में भी पशु बीमा योजना के सम्बन्ध में विचार किया जा रहा है।

(८) दुग्ध एवं दुग्ध पदार्थ—भारत में दूध का उत्पादन पर्याप्त नहीं है। इसके अतिरिक्त दूध का वितरण भी वैज्ञानिक तथा स्वस्थ रीतियों द्वारा नहीं किया जाता। देश के बहुत-से भाग ऐसे भी हैं जहाँ दूध अतिरेक (Surplus) मात्रा में होता है किन्तु आवागमन तथा शीत-प्रसाधनों के अभाव के कारण उस दूध का श्रेष्ठतम उपयोग नहीं हो पाता। इन सब दृष्टिकोणों से दूध का उत्पादन बढ़ाने, उसका यथासमय एवं यथोचित रूप में वितरण करने तथा अतिरिक्त दूध को चूर्ण, मलाई अथवा मक्खन के रूप में परिवर्तित करने के लिए साधन जुटाने की अत्यन्त आवश्यकता है।

योजनाकाल में भारत में २९ डेयरी फार्मों की स्थापना की गयी है जिनमें प्रतिदिन लगभग १० लाख लिटर दूध का वितरण किया जाता है। कुछ बड़े नगरों में नये दुग्ध उत्पादन केन्द्र स्थापित किये जा रहे हैं जिनमें न्यूजीलैण्ड तथा अन्य विदेशी सरकारों का सहयोग प्राप्त हो रहा है।

प्रस्तुत विवरण से स्पष्ट है कि भारत का पशु धन मात्रा में अत्यधिक है किन्तु उसे सबल और उपयोगी बनाना आवश्यक है। इस दिशा में गत वर्षों में जो प्रयत्न किये गये हैं वह बहुत महत्त्वपूर्ण और लाभदायक हैं।

प्रश्न

१. भारत के खनिज पदार्थों का वर्णन कीजिए और बताइए कि भारत की औद्योगिक उन्नति में उनका क्या महत्त्व है ? (विक्रम, बी० ए०, १९६०)

२. भारत की खनिज सम्पत्ति का वर्णन कीजिए तथा इसके भविष्यकालीन विकास के सम्बन्ध में विवेचन कीजिए ? (आगरा, बी० ए०, १९५२, १९६२)

३ भारत की अथ-व्यवस्था मे वनो का क्या महत्त्व है ? इनके विकास के लिए की गयी कार्यवाही का विवेचन कीजिए। (आगरा, बी० ए०, १९५१; पटना, बी० ए०, १९५२)

४ भारतीय अथ व्यवस्था मे वनो का क्या महत्त्व है ? भारत सरकार की वन नीति का वणन कीजिए। (आगरा, बी० कॉम०, १९५७, राजस्थान, बी० ए०, १९५६)

५ भारतीय कृषि की समृद्धि म वनो का महत्त्व स्पष्ट कीजिए। वन उपज पर आधारित उद्योगो का उल्लख कीजिए और भविष्य मे वन नीति का वर्णन कीजिए। (राजस्थान, बी० ए०, १९५४)

६ भारत मे कितन प्रकार के वन पाय जात हैं ? भारतीय अथ-व्यवस्था मे इनका क्या महत्व है ? इनकी उन्नति के लिए क्या कार्यवाही की गयी है ? क्या इस सम्बन्ध म आप कोई सुझाव देंगे ? (पजाब, बी० ए०, १९५२)

७. भारत मे शक्ति के प्रमुख स्रोत क्या हैं ? जलशक्ति का इस देश के लिए क्या महत्त्व है ? समझाइए। (बिहार, बी० ए०, १९५३, पटना, बी० ए०, १९५०)

८ भारत मे शक्ति के कौन-कौन से साधन सुलभ है ? राष्ट्रीय अर्थ-व्यवस्था म उनके सापेक्षिक महत्त्व की विवेचना कीजिए। (विक्रम, बी० ए०, १९६३)

९ भारत के आर्थिक विकास मे जल विद्युत का क्या महत्त्व है ? भारत की महत्त्वपूर्ण जल-विद्युत योजनाओं का उल्लेख कीजिए। (राजस्थान, बी० ए०, १९५४, बिहार, बी० ए०, १९६१)

१० भारत के जलशक्ति साधनों का विवचन कीजिए। पचवर्षीय योजनाओ मे उनका कहां तक विकास हुआ है ? (बिहार, बी० ए०, १९६३)

११ 'वन भारतीय कृषि के विकास यन्त्र हैं।' स्पष्ट कीजिए तथा योजना काल मे सरकारी नीति का विवेचन कीजिए। (भागलपुर, बी० ए०, १९६३)

१२ भारत के खनिज तेल साधनो का सक्षिप्त विवरण लिखिए। गत दस वर्षो मे खनिज तेल की पूर्ति बढाने मे भारत सरकार द्वारा क्या कार्यवाही की गयी है ? (भागलपुर, बी० ए०, १९६३)

१३ भारत मे जलशक्ति का आर्थिक महत्त्व स्पष्ट कीजिए। इसका कहा तक विकास हो पाया है ? इसके अधिक विकास के लिए सुझाव दीजिए। (गोरखपुर, बी० ए०, १९६३)

१४ भारत क आर्थिक जीवन म वनो का महत्त्व स्पष्ट कीजिए। गत दो योजनाओ मे सरकार ने वनो क विकास के लिए क्या प्रयत्न किय है ? (मगध, बी० ए०, १९६३)

१५ भारत मे शक्ति के कौन कौन स साधन सुलभ हैं ? राष्ट्रीय अथ-व्यवस्था मे उनके सापेक्षिक महत्त्व का विवेचन कीजिए। (विक्रम, बी० ए०, १९६३)

१६ 'पशु समस्या भारतीय कृषि की प्रधान समस्या है।' इस कथन की सच्चाई पर विचार प्रकट कीजिए। (आगरा, बी० कॉम०, १९६१)

१७ क्या भारत के खनिज स्रोत देश के औद्योगिक विकास के लिए यथेष्ट हैं ? विवेचन कीजिए। (दिल्ली, बी० ए०, १९६३)

१८ भारतीय अर्थ व्यवस्था म वनो के महत्त्व पर प्रकाश डालिए। (राजस्थान, बी० ए०, १९५९)

१९ भारत के आर्थिक विकास पर प्राकृतिक साधनो के प्रभाव का विवचन कीजिए। (विक्रम, बी० ए०, १९६१)

२० भारत मे पशु समस्या का विश्लेषणात्मक विवेचन कीजिए। (विक्रम, बी० ए०, १९६३)

3 जनसंख्या की समस्या

(THE POPULATION PROBLEM)

"The real economic cost of continued rapid population growth n such already crowded nations as India, Pakistan, Ceylon, Indonesia and China stems from the drag it places on the increase in per capita incomes" —**Chester Bowls**

किसी देश के आर्थिक विकास के लिए मानव, मुद्रा तथा माल (man, money and material) अत्यन्त महत्त्वपूर्ण होते हैं। इनमे से माल अर्थात प्राकृतिक साधनों पर विचार किया जा चुका है। प्रस्तुत अध्याय मे मानवीय तत्व का विश्लेषण करने का प्रयत्न किया जा रहा है।

किसी भी देश की जनसख्या सम्बन्धी समस्याओं के अध्ययन के दो पहलू हो सकते हैं—(१) सख्यात्मक (quantitative), तथा (२) गुणात्मक (qualitative)। जहाँ तक सख्यात्मक पहलू का प्रश्न है, यह देखना बहुत आवश्यक है कि जनसख्या के बढने की गति क्या है और वह गति खाद्यान्न तथा उत्पादन के अन्य क्षेत्रो की तुलना मे कितनी कम या अधिक बढ रही है। इस सम्बन्ध मे दूसरी महत्त्वपूर्ण बात यह है कि जनसख्या की कुल वृद्धि मे श्रमिको की सख्या अथवा प्रतिशत मे कितनी वृद्धि हो रही है। इन दोनो तथ्यों के अध्ययन से किसी देश के उत्पादन (कृषि तथा उद्योग) तथा रोजगार सम्बन्धी आयोजन करने मे सहायता मिलती है।

जनसख्या का गुणात्मक पहलू भी सख्यात्मक पहलू से कम महत्त्वपूर्ण नही है। इस पहलू के अन्तगत जनता का स्वास्थ्य, जीवन स्तर, कार्यानुसार वर्गीकरण तथा शिक्षा एव कुशलता का स्तर सम्मिलित है। अतः देश मे सामाजिक बीमा, शिक्षा तथा पारिश्रमिक सम्बन्धी आयोजन के लिए जनसख्या के गुणात्मक पहलुओ का पर्याप्त ज्ञान प्राप्त कर लेना आवश्यक है।

सक्षेप मे, किसी देश की आर्थिक प्रगति का उचित स्तर निर्धारित करने तथा विकास का शुद्ध मूल्याकन करने के लिए जनसख्या के विभिन्न पहलुओं की विस्तृत जानकारी कर लेना आवश्यक है।

भारतीय जनसख्या की प्रवृत्ति
(TRENDS IN INDIA'S POPULATION)

मोरलैण्ड तथा चटर्जी के अनुसार, सत्रहवी शताब्दी के आरम्भ मे भारत की जनसख्या केवल १० करोड थी। इसके १५० वर्ष बाद अर्थात सन् १७५० मे यह १३ करोड हुई, अर्थात किण्डले शिराज के इस अनुमान के अनुसार जनसख्या की वृद्धि की गति २ प्रतिशत प्रति दशाब्द (decade) थी। १८४७ तथा १८५० मे भारत की अनुमानित जनसख्या लगभग १५ करोड बतायी गयी है।

मकूलोक (McCullock) तथा मुखर्जी के इस अनुमान के अनुसार पूरी एक शताब्दी म भारतीय जनसख्या मे २ करोड की वृद्धि हुई जो लगभग १ ५ प्रतिशत प्रति दशाब्दी होती है। इस प्रकार १६वी शताब्दी मे भारतीय जनसख्या की शुद्ध वृद्धि १८वी शताब्दी की तुलना मे बहुत कम रही है।

१ सख्यात्मक वृद्धि के अनुमान

भारतीय जनसख्या म सख्यात्मक वृद्धि के जो अनुमान लगाये गये हैं उनमे अतिम अनुमान सन १६७१ की जनगणना का है जिसके अनुसार भारत की जनसख्या ५४ ७० करोड है। इस प्रकार जनसख्या की दृष्टि से भारत का ससार म द्वितीय स्थान है क्योकि चीन की जनसख्या ७५ ८० करोड के लगभग बतायी जाती है। वतमान शताब्दी मे भारत की जनसख्या मे निम्न क्रम म वृद्धि हुई है

गणना वष	जनसख्या (करोड मे)	वृद्धि प्रतिशत	वार्षिक वृद्धि प्रतिशत
१८६१	२३ ५६	—	—
१६०१	२३ ८३	+ १०	१०
१६११	२५ २०	+ ५ ७	६७
१६२१	२५ १३	— ० ३	— ०३
१६३१	२७ ८६	+११०	११०
१६४१	३१ ८६	+१४ २	१ ४२
१६५१	३६ १०	+१३ ३	१ ३३
१६६१	४३ ६१	+२१ ६	२ १६
१६७१	५४ ७०	+२४ ६	२ ४६

उपयुक्त तालिका स स्पष्ट है कि १८६१ से १६२१ के बीच भारत की कुल जनसख्या मे १ ५४ करोड की वृद्धि हुई जो केवल ६ ५ प्रतिशत होती है। इसके विपरीत १६२१ से १६३१ के बीच के अकेले दशाब्द मे जनसख्या वृद्धि की दर ११ प्रतिशत और तीस वष (१६५१ तक) म ३८ ५ प्रतिशत अर्थात् छह गुनी हुई है। यह अ तर वास्तव म बहुत गम्भीर एव चौका देने वाला है। १६२१ से १६५१ के तीस वर्षों म जनसख्या वृद्धि की भीषण गति निम्न कारणो से हो सकती है

(१) ज म दर मे अत्यधिक वृद्धि

(२) मृत्यु दर म अत्यधिक कमी

(३) सामा य स्वास्थ्य म अत्यधिक सुधार

(४) आकडो के सग्रहण म दोष।

मुख्य कारण अकाल तथा महामारी—सन् १६५१ की जनगणना के आयुक्त गोपालास्वामी के मतानुसार इनम एक भी मा यता सही नही है। उनका मत यह है कि सन् १८६१ से १६२१ के काल मे अकाल तथा महामारियो (प्लग हैजा तथा फ्लू) के कारण करोडो व्यक्तियो की मृत्यु हो गयी जिमस जनसख्या की वृद्धि बहुत सीमित रही।

अत्यधिक वृद्धि के कारण—सन् १६२१ के पश्चात् भारतीय जनसख्या मे सवथा नया मोड दृष्टिगोचर होता है क्योकि इसके पश्चात् जनसख्या के बढने की गति अत्य त तीव्र होती गयी। इस वृद्धि के मुख्य कारण निम्नलिखित हैं

(१) अकालो पर नियन्त्रण—सन् १६२१ से पूव के अकाल प्राय स्थानीय होते थे और आवागमन के साधनो की कमी के कारण उन पर काबू नही पाया जा सकता था। प्रथम युद्धकाल म प्रयुक्त किये गय ट्रक जीप आदि क इजनो का प्रयोग युद्ध के पश्चात् यातायात के साधनों का

विकास करने में किया गया। फलतः खाद्यान्न तथा अन्य वस्तुओं को एक केन्द्र से दूसरे किसी भी केन्द्र में ले जाना सरल हो गया और अकाल का प्रकोप कम हो गया। किन्तु १९४३ में बंगाल में पुनः एक भीषण अकाल पड़ा। इस अकाल के फलस्वरूप मरने वाले व्यक्तियों की संख्या २० से ३५ लाख तक बतायी जाती है। ऐसा भीषण अकाल पड़ने पर भी १९४१-१९५० के दशाब्द में भारत की जनसंख्या में लगभग १३ ३ प्रतिशत की वृद्धि हुई किन्तु यह वृद्धि स्वभावतः गत दशाब्द में हुई वृद्धि से लगभग १ प्रतिशत कम थी।

(२) राष्ट्रीय चेतना—सन् १९२१ के पश्चात् जनसंख्या में वृद्धि की गति तीव्र होने का एक कारण यह भी था कि आगामी वर्षों में देश में राष्ट्रीय चेतना और स्वातन्त्र्य आन्दोलन निरन्तर सबल होते चले गये अतः सामाजिक हित के कार्यों तथा चिकित्सा व्यवस्था में बहुत सुधार किये गये। देश की स्वतन्त्रता के पश्चात् पंचवर्षीय योजनाओं के अन्तर्गत सामाजिक एवं आर्थिक प्रगति के अनेक कार्य सम्पन्न किये गये हैं जिनके कारण मृत्यु-दर में आशातीत कमी हो गयी है।

(३) मृत्यु दर में कमी—बीसवीं शताब्दी विशेषकर स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् चिकित्सा सुविधाओं तथा समाज कल्याण सम्बन्धी सुविधाओं में तीव्र गति से वृद्धि हुई है। मलेरिया, चेचक, प्लेग तथा क्षय जैसे संक्रामक व नर संहारक रोगों पर नियन्त्रण कर लिया गया है। इन सब प्रयत्नों के कारण मृत्यु-दर में काफी कमी हुई है दूसरी ओर जन्म दर में बहुत कमी हुई है। अतः जनसंख्या में वृद्धि सन् १९२१ के पश्चात् बड़ी तेजी से हुई है।

२ जन्म-दर तथा मृत्यु-दर

जनसंख्या की वृद्धि जन्म दर तथा मृत्यु-दर पर निर्भर है। सामान्यतः जन्म तथा मृत्यु दरें प्रति हजार वार्षिक के सन्दर्भ में प्रकट की जाती हैं। निम्न सारणी द्वारा भारत में जन्म-दर तथा मृत्यु दर पर प्रकाश पड़ता है

भारत में जन्म दर तथा मृत्यु दर

(प्रति हजार जनसंख्या पर)

अवधि	जन्म दर	मृत्यु-दर
१९०१–१९१०	४८ १	४२ ६
१९११–१९२०	४९ २	४८ ६
१९२१–१९३०	४६ ४	३८ २
१९३१–१९४०	४५ २	३१ २
१९४१–१९५०	३९ ९	२७ ४
१९५१–१९६०	४१ ७	२२ ८
१९६१–१९६५	४२ ०	१७ २

सन् १९५१ तथा १९६१ के सेंसस के अनुसार भारत में जन्म-दर ४२ तथा मृत्यु दर २३ प्रति हजार वार्षिक थी। इस प्रकार जनसंख्या में १९ प्रति हजार वार्षिक की दर से वृद्धि हुई है। १९६१ ७१ के बीच वृद्धि दर २१ ६ प्रति हजार हो गयी है।

भारत में जन्म दर अधिक होने के कारण—भारत में प्रति सहस्र जन्म दर (१९७१ में) ३९ है जबकि अमरीका, इंग्लैण्ड, जापान, फ्रांस तथा आस्ट्रेलिया में यह दर क्रमशः २४ ३, १५ ९ २५ ३, १९ ४ तथा २० ६ प्रति सहस्र है। भारत में इतनी ऊँची जन्म दर के कारण निम्नलिखित हैं

(क) गर्म जलवायु—भारत की जलवायु गर्म होने के कारण इस देश की स्त्रियों की प्रजनन शक्ति प्रायः अधिक है।

(ख) बाल-विवाह—ग्रामीण क्षेत्रों में अब भी विवाह छोटी आयु में होते हैं जिसका प्रभाव यह होता है कि छोटी छोटी बालिकाओं के सन्तान होनी आरम्भ हो जाती है।

(ग) विवाह की अनिवार्यता—भारत में विवाह एक धार्मिक क्रिया मानी जाती है और माता-पिता अपनी सन्तान का विवाह करना अनिवार्य समझते हैं और वह इस कर्तव्य से शीघ्रातिशीघ्र उऋण होना चाहते हैं। अतः जनसंख्या में वृद्धि होना स्वाभाविक है।

(घ) संयुक्त परिवार प्रणाली—भारत में अब भी ग्रामीण क्षेत्रों में संयुक्त परिवार प्रणाली प्रचलित है जिसमें छोटे बालकों का पालन पोषण करना बहुत कठिन नहीं है। पाश्चात्य देशों में जहाँ नव दम्पति को विवाह होते ही अलग रहना पड़ता है, एक शिशु का ही दायित्व वहन करना बहुत कठिन हो जाता है। अतः उन देशों में जनसंख्या-वृद्धि पर नियन्त्रण करने की चेष्टा की जाती है।

(ङ) अशिक्षा एवं अन्धविश्वास—भारत में शिक्षा का प्रचार बहुत कम हुआ है अतः समाज के अधिकांश व्यक्ति अब भी 'दूधों नहाओ पूतो फलो' के सिद्धान्त में विश्वास रखते हैं और कुछ परिवारों में यह समझा जाता है कि पुत्र के बिना सारा परिवार ही नरकगामी होगा। अतः पुत्र की आशा में जनसंख्या की वृद्धि निरन्तर प्रोत्साहित होती रहती है।

(च) निम्न आय तथा घटिया जीवन स्तर—भारत में प्रति व्यक्ति आय बहुत कम है और एक बच्चा ६-७ वर्ष की आयु में ही काम करने लायक समझा जाने लगता है और वह खेती में हाथ बटाने लगता है अथवा अन्य मजदूरी करने लगता है जिससे परिवार की आय में वृद्धि होने की आशा रहती है। इस प्रकार अधिक सन्तान एक ओर तो अधिक आय प्राप्त करने में सहायक होती है दूसरी ओर उनका जीवन स्तर अत्यन्त निम्न होने के कारण व्यय बहुत कम होता है। देश के अधिकांश परिवार बाजरा, ज्वार, जौ या मक्का की सूखी रोटी खाकर गुजारा कर लेते हैं जबकि परिवार का प्रत्येक व्यक्ति (पुरुष, स्त्री बालक आदि) अपने व्यय से अधिक कमाई कर लेता है। स्वभावतः यह परिस्थिति जनसंख्या-वृद्धि को प्रोत्साहित करती है।

(छ) मनोरंजन का अभाव—भारतीय परिवारों को प्रायः सस्ते मनोरंजन उपलब्ध नहीं होते। नगरों तथा कस्बों में तो थके थकाये श्रमिक सिनेमा से भी मनोरंजन कर लेते हैं परन्तु देहाती क्षेत्रों में उनका एकमात्र आकर्षण घर तथा परिवार होता है अतः यौन सम्पर्क की सम्भावनाएँ अधिक रहती हैं और परिवार की संख्या में निरन्तर वृद्धि होती रहती है।

(ज) आवास स्थान की कमी—आर्थिक एवं सामाजिक दरिद्रता के कारण अधिकांश भारतीय परिवारों के पास निवास के लिए एक कमरे से अधिक नहीं होता जिससे अन्ततोगत्वा जन वृद्धि को प्रोत्साहन मिलता है।

(झ) निरोधक सुविधाओं की कमी—अनेक परिवारों में इच्छा रहते हुए भी परिवार नियोजन नहीं किया जा सकता क्योंकि सुविधाओं तथा जानकारी का अभाव रहता है। भारत में ऐसे सस्ते उपकरण सुलभ कराने की आवश्यकता है जिनकी सहायता से परिवारों की संख्या कम खर्च पर बिना किसी दुविधा के नियन्त्रित की जा सके।

(ञ) पारिवारिक मान्यता—भारत में बड़ा परिवार न केवल सुख समृद्धि का द्योतक माना जाता रहा है वरन् उसे आदर की दृष्टि से देखने की परम्परा है। यह दृष्टिकोण निश्चय ही जनसंख्या-वृद्धि में महत्त्वपूर्ण योगदान देता रहा है।

(५) शैशव मृत्यु—स्वास्थ्य सुविधाओं का दूसरा प्रभाव बाल मृत्यु पर पड़ा है, अर्थात् बाल मृत्यु दर में महत्त्वपूर्ण कमी हुई है। इसका अनुमान इस तथ्य से लगता है कि जहाँ १९४१-५१ में बालक तथा बालिकाओं की मृत्यु क्रमशः १९० तथा १७५ प्रति सहस्र होती थी,

वहाँ १९७१ में दर घटकर क्रमशः १४० तथा १२८ रह गया है। यह स्थिति स्त्रियों के स्वास्थ्य एवं चिकित्सा सुविधाओं में विस्तार तथा शिशु रोगों पर काबू पाने के कारण उत्पन्न हुई है।

(६) औसत आयु में वृद्धि—प्रथम पंचवर्षीय योजना के प्रारम्भ के समय एक भारतीय पुरुष होने की दशा में ३२.४५ वर्ष तथा स्त्री होने की दशा में ३१.६६ वर्ष जीने की आशा कर सकता था जिसका तात्पर्य यह है कि देश में पुरुष तथा स्त्रियों की औसत आयु ३२.४५ तथा ३१.६६ वर्ष थी। देश में रोगों की कमी तथा चिकित्सा व्यवस्थाओं में उन्नति होने के फलस्वरूप १९६१ में यह औसत क्रमशः ४१.६८ तथा ४०.०६ वर्ष हो गया। १९७० के एक अनुमान के अनुसार भारत के नागरिकों की औसत आयु ५० वर्ष तक पहुँच गया है।

३. जनसंख्या का घनत्व

जनसंख्या के घनत्व का आशय यह है कि देश में प्रति वर्गमील अथवा प्रति किलोमीटर कितने व्यक्ति निवास करते हैं। वास्तव में, जिन देशों में जनसंख्या अधिक तथा निवास योग्य भूमि कम होती है उनमें जनसंख्या अधिक घनी बसी हुई होती है अर्थात् उन देशों में जनसंख्या का घनत्व अधिक होता है। विकासशील छोटे देशों में प्रायः अशिक्षा एवं सामाजिक पिछड़ेपन के कारण जनसंख्या के बढ़ने की गति तीव्र होती है अतः उनमें घनत्व अधिक होता है। कृषि प्रधान देशों में भी जनसंख्या का घनत्व अधिक होने की सम्भावना होती है।

विकास और घनत्व—जनसंख्या के घनत्व के विषय में एक विचित्र तथ्य यह है कि जिन देशों का औद्योगिक विकास ज्यादा अधिक हो जाता है उन देशों में भी जनसंख्या का घनत्व अधिक होता है। औद्योगिक बस्तियाँ बनने से प्रायः अन्य क्षेत्रों में घनत्व घट जाता है। जापान, इंग्लैण्ड, डेनमार्क, बेल्जियम, हालैण्ड तथा स्विट्जरलैण्ड सरीखे देश इस बात की पुष्टि करते हैं कि छोटे और विकसित देशों में जनसंख्या अत्यधिक घनी होती है। इसके विपरीत, अमरीका, कनाडा, आस्ट्रेलिया, रूस आदि देश बहुत बड़े देश हैं और यद्यपि विकसित भी हैं परन्तु उनका क्षेत्रफल बहुत होने के कारण उनमें जनसंख्या का घनत्व कम है। अतः घनत्व का अध्ययन करते समय देश के विकास के साथ साथ उसके आकार का ध्यान रखना भी बहुत आवश्यक है।

घनत्व को प्रभावित करने वाली बातें—जनसंख्या के घनत्व को प्रायः निम्नलिखित तत्त्व प्रभावित करते हैं

(१) **भूमि का उपजाऊपन**—जिन भागों में भूमि बहुत उपजाऊ होती है वहाँ लोग प्रायः बसने लगते हैं। स्पष्ट है कि गंगा-यमुना का मैदान तथा नदियों के डेल्टा प्रदेश इसलिए घने आबाद हैं कि वहाँ भूमि उपजाऊ है और जीवन निर्वाह सरलता पूर्वक किया जा सकता है।

(२) **वर्षा और जलवायु**—भूमि के उपजाऊपन के अतिरिक्त वर्षा की मात्रा तथा जलवायु का भी जनसंख्या के घनत्व पर प्रभाव पड़ता है। अत्यधिक वर्षा वाले क्षेत्रों में प्रायः मलेरिया आदि रोग फैल जाते हैं तथा व्यवसाय आदि करने में कठिनाई होती है, अतः ऐसे क्षेत्रों में जनसंख्या अधिक घनी नहीं होती। भारत में हिमाचल प्रदेश इसका ज्वलन्त उदाहरण है जिसकी जनसंख्या का घनत्व केवल ६२ व्यक्ति प्रति वर्ग किलोमीटर है जबकि सम्पूर्ण भारत का औसत १९७१ की जनगणना के अनुसार १८२ व्यक्ति प्रति वर्ग किलोमीटर है।

अधिक वर्षा वाले प्रदेशों की भाँति ही कम वर्षा वाले प्रदेश भी कम घने आबाद होते हैं क्योंकि इन क्षेत्रों में सिंचाई के अतिरिक्त कभी कभी पीने के पानी का भी अभाव रहता है। इसी कारण राजस्थान में जनसंख्या का घनत्व केवल ७५ व्यक्ति प्रति वर्ग किलोमीटर है।

(३) **यातायात के साधन**—जिन क्षेत्रों से देश के अधिक भाग रेल या सड़क से मिले हुए होते हैं वह क्षेत्र भी घने आबाद हो जाते हैं। इसके विपरीत दुर्गम क्षेत्रों में बसे हुए उन क्षेत्रों की जन-

सख्या कम घनी होती है जो यातायात की दृष्टि स पिछडे हुए होत हैं क्योंकि उन स्थानों से व्यक्तियो एव वस्तुओ का आना ही कठिन होता है।

(४) औद्योगिक विकास—यातायात क साधनो का प्राय औद्योगिक विकास से गहरा सम्बन्ध रहता है। जिन नगरो म बहुत से उद्योग धन्धे चालू हो जाते हैं वहाँ जनसख्या का घनत्व बढ जाता है। भारत म पश्चिमी बगाल (विशेषत कलकत्ता), महाराष्ट्र (बम्बई क्षेत्र) तथा उत्तर प्रदेश म कानपुर और बिहार म जमशेदपुर इस तथ्य की पुष्टि करते है।

(५) राजधानियाँ—केन्द्र तथा राज्य सरकारो की राजधानियाँ जिन नगरो मे होती हैं वहाँ प्राय जनसख्या का घनत्व अत्यधिक होता है। भारत मे दिल्ली, बम्बई, कलकत्ता, मद्रास, जयपुर आदि इस तथ्य की पुष्टि करते हैं।

(६) ऐतिहासिक अथवा धार्मिक क्षेत्र—जिन स्थानो का ऐतिहासिक अथवा धार्मिक दृष्टि से बहुत महत्त्व होता है वहाँ प्राय विभिन्न वर्गों के लोग आकर बसने लगते हैं। अजमेर, काशी, आगरा, हरद्वार, पुरी आदि स्थाना म जनसख्या ऐतिहासिक एव धार्मिक कारणो से ही अधिक घनी बसी हुई है।

(७) जान माल की सुरक्षा—जिन क्षेत्रो मे चोर-डाकुओं का आतक रहता है अथवा सैनिक कार्यवाहियाँ निरन्तर चालू रखनी पडती हैं उन क्षेत्रो में जनसख्या का घनत्व प्राय कम हो जाता है। उदाहरणत सीमान्त प्रदेशो मे, जहाँ अन्य देशो की आक्रामक कार्यवाहियो की आशका रहती हैं, कम लोग निवास करना चाहते हैं। भारत मे भी सभी सीमान्त क्षेत्रो मे जनसख्या का घनत्व कम है।

भारत म जनसख्या का घनत्व सन् १९७१ की जनगणना के अनुसार १८२ व्यक्ति प्रति वर्ग किलोमीटर है। ससार म एस भी देश हैं जहाँ जनसख्या का घनत्व भारत की तुलना में बहुत अधिक है। उदाहरणार्थ जनसख्या का घनत्व जापान म २५४, पश्चिमी जर्मनी म २१७, ब्रिटेन म २१५ तथा हालैण्ड म ३४६ है। कुछ देशो मे जनसख्या का घनत्व भारत से कम है, जैसे सन् १९६१ मे प्रति वर्ग किलोमीटर जनसख्या का घनत्व कनाडा में २, अमरीका (U S A) मे २०, रूस मे १० तथा सयुक्त अरब गणराज्य मे २७ था। भारत मे जनसख्या का घनत्व पाँच दशा दो मे लगभग १३० प्रतिशत बढ गया है जिसके परिणामस्वरूप प्रति व्यक्ति कृषि योग्य भूमि की उपलब्धि की मात्रा लगभग ० ६ एकड रह गयी है। *घनत्व की दूसरी विशेषता यह है कि यह १९६१-७१ मे* ही सर्वाधिक बढ़ा है। इसका अनुमान निम्नलिखित तालिका से हो सकता है

भारत में जनसख्या का घनत्व

(घनत्व व्यक्ति प्रति वर्ग किलोमीटर)

वर्ष	घनत्व	वृद्धि प्रतिशत
१९२१	७९	—
१९३१	८८	११ ०
१९४१	१००	१४ २
१९५१	११३	१३ ३
१९६१	१३८	२१ ५
१९७१	१८२	३१ ९

उपर्युक्त तालिका से स्पष्ट है कि घनत्व मे वृद्धि का प्रतिशत जनसख्या वृद्धि के प्रतिशत स अधिक है।

जनसंख्या घनत्व की तीसरी महत्त्वपूर्ण विशेषता यह है कि भारत के विभिन्न राज्यों में घनत्व में अत्यधिक अन्तर है जैसा कि निम्न तालिका में स्पष्ट है

भारत में जनसंख्या का घनत्व, १९७१

(निवासी प्रति वर्ग किलोमीटर)

राज्य		अन्य प्रदेश	
१ केरल	५४८	१ दिल्ली	२,७२३
२. पश्चिमी बंगाल	५०७	२ चण्डीगढ़	२,२५४
३ बिहार	३२४	३. लक्कादिव, मिनिकोय तथा अमीनदिवि द्वीप	९९४
४ तमिलनाडु	३१६	४ पाण्डीचेरी	९८२
५. उत्तर प्रदेश	३००	५ गोआ, दमन, दिऊ	२२५
६ पंजाब	२६८	६ दादरा, नागर हवेली	१५१
७ हरियाणा	२२५	७ त्रिपुरा	१४९
८ महाराष्ट्र	१६३	८ मनीपुर	४८
९ आन्ध्र प्रदेश	१५७	९. अण्डमान निकोबार द्वीप	१४
१०. मैसूर	१५२		
११. असम	१४९		
१२ उड़ीसा	१४१		
१३. गुजरात	१३६		
१४. मध्यप्रदेश	९३		
१५. राजस्थान	७५		
१६. हिमाचल प्रदेश	६२		
१७ मेघालय	४४		
१८. नागालैण्ड	३१		
१९ जम्मू-काश्मीर	—		

उपर्युक्त तालिका से स्पष्ट है कि दिल्ली, लक्कादिव द्वीप तथा पाण्डिचेरी के केन्द्रशासित प्रदेशों को छोड़कर क्रमशः केरल, पश्चिमी बंगाल, बिहार, तमिलनाडु तथा उत्तर प्रदेश सर्वाधिक घने बसे हुए प्रदेश हैं। इसके विपरीत, राजस्थान, हिमाचल प्रदेश तथा मध्य प्रदेश कम बसे हुए प्रदेश हैं।

इन अंकों से निम्नलिखित निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं।

(१) विकास—अधिक उपजाऊ तथा विकसित भूखण्ड घने आबाद हैं और कम उपजाऊ तथा कम विकसित क्षेत्रों में जनसंख्या का घनत्व कम है।

(२) जलवायु—नम जलवायु एवं मैदानी भागों (उत्तर प्रदेश, बिहार, बंगाल, केरल) में जनसंख्या अधिक घनी है तथा पथरीले (आसाम, जम्मू-काश्मीर, मध्य प्रदेश) और रेतीले प्रदेशों (राजस्थान) में जनसंख्या का घनत्व कम है।

(३) कृषि—भारत में कृषि का महत्त्व अब भी अत्यधिक है क्योंकि अंकों से स्पष्ट है कि केरल, बंगाल, उत्तर प्रदेश, बिहार तथा पंजाब में घनत्व अधिक है। इस सम्बन्ध में यह तथ्य भी स्मरण रखना होगा कि इन्हीं प्रदेशों में औद्योगिक विकास की गति भी अन्य क्षेत्रों से अधिक है।

४. लिंग अनुपात

सन् १९७१ की जनगणना के अनुसार भारत में कुल २८·३१ करोड़ पुरुष (५१७ प्रतिशत) तथा २६ ३९ करोड़ स्त्रियाँ (४८ ३ प्रतिशत) थीं। इस सम्बन्ध में एक विलक्षण बात यह है

कि गत सत्तर वर्षों में स्त्रियों का अनुपात पुरुषों की तुलना में निरन्तर कम होता गया है। यह तथ्य निम्नलिखित तालिका से स्पष्ट है

पुरुष तथा स्त्रियों में अनुपात (१६०१ ७१)
(स्त्रियाँ प्रति सहस्र पुरुष)

वर्ष	स्त्रियाँ
१६०१	६७२
१६११	६६४
१६२१	६५५
१६३१	६५०
१६४१	६४५
१६६१	६४६
१६७१	६३२

स्त्रियों के कम होने के कारण—पुरुषों के अनुपात में स्त्रियों की संख्या कम होने के तीन कारण हैं। पहला कारण तो यह है कि भारत में स्त्रियों की अपेक्षा पुरुष शिशु अधिक उत्पन्न होते हैं। दूसरे, भारत में (विशेषकर उत्तर भारत के प्रदेशों में जहाँ लड़कियों की संख्या विशेष कम है) लड़कियों की देखभाल प्रायः कम होती है, अतः बाल्यकाल अथवा प्रसूति अवस्था में उनकी मृत्यु अधिक होती है। तीसरा कारण यह है कि भारत में बाल विवाह बहुत होते हैं और छोटी आयु में ही मातृत्व का भार वहन करने में अयोग्य होने के कारण बहुत सी लड़कियों की प्रसूति-काल में मृत्यु हो जाती है। ग्रामीण क्षेत्रों में प्रायः प्रसूतावस्था में उचित देखभाल न होने के कारण अनेक बालिकाएँ रोगग्रस्त हो जाती हैं। इस प्रकार स्त्रियों की संख्या में कमी होने की प्रवृत्ति दृष्टिगोचर होती है। यह बड़ी ही विलक्षण स्थिति है क्योंकि पाश्चात्य देशों में प्रायः पुरुषों की तुलना में महिलाओं की औसत आयु भी अधिक होती है तथा उनकी संख्या भी अधिक है। इसका सम्भावित कारण यह है कि उन देशों में सामाजिक तथा आर्थिक स्वतन्त्रता के कारण स्त्रियों का स्वास्थ्य अच्छा रहता है क्योंकि वे प्रारम्भ से ही परिवार नियोजन का ध्यान रखती हैं तथा उन्हें पारिवारिक चिन्ता में भारतीय महिलाओं की तुलना में कम से कम घुलना पड़ता है।

लिंगानुपात में भिन्नता—भारत में स्त्री पुरुष अनुपात में एक और महत्वपूर्ण तथ्य प्रकट होता है। विभिन्न राज्यों में लिंगानुपात अत्यधिक भिन्न है जिसका अनुमान निम्नलिखित अंकों से लग सकता है

प्रति सहस्र पुरुष, स्त्रियों की संख्या (१६७१)

राज्य	स्त्रियों की संख्या	राज्य	स्त्रियों की संख्या
१ पंजाब	८०	९ मध्य प्रदेश	६४१
२ हरियाणा	८७४	१० बिहार	६५५
३ जम्मू काश्मीर	८८२	११ मैसूर	६६०
४ उत्तर प्रदेश	८८३	१२ आन्ध्र प्रदेश	६७७
५ पश्चिमी बंगाल	८६२	१३ तमिलनाडु	६७६
६ महाराष्ट्र	६३३	१४ उड़ीसा	६८६
७ गुजरात	६३६	१५ केरल	१,०१६
८ राजस्थान	६१८		

उपर्युक्त अंकों से यह स्पष्ट है कि प्रायः उत्तर भारत के क्षेत्रों में पुरुषों की संख्या से स्त्रियों की संख्या कम है और ज्यों-ज्यों दक्षिण की ओर जाते हैं, स्त्रियों की संख्या अधिक होती जाती है। बंगाल और महाराष्ट्र के औद्योगिक क्षेत्रों में स्त्रियों की संख्या कम होने का एक कारण यह भी है कि अधिकांश पुरुष नौकरी के लिए बड़े बड़े नगरों में (दूसरे राज्यों में) जाते हैं और वे अपनी स्त्रियों को घर पर छोड़ जाते हैं। पंजाब, उत्तर प्रदेश, राजस्थान, जम्मू-काश्मीर, आदि राज्यों में पुरुषों की संख्या प्राकृतिक कारणों से अधिक है।

५. ग्रामीण तथा नागरिक जनसंख्या

भारत को प्राचीन काल से ही ग्रामों का देश कहा गया है। इस स्थिति में गत चालीस वर्षों में भी कोई महत्त्वपूर्ण परिवर्तन नहीं हुआ है जैसा कि निम्नलिखित अंकों से प्रकट होता है :

ग्रामीण तथा नागरिक जनसंख्या (१९२१–१९६१)

(कुल जनसंख्या का प्रतिशत)

वर्ष	ग्रामीण	नागरिक
१९२१	८८·८	११·२
१९३१	८८·०	१२·०
१९४१	८६·१	१३·९
१९५१	८२·७	१७·३
१९६१	८२·०	१८·०

नागरीकरण की प्रवृत्तियाँ—प्रस्तुत तालिका से स्पष्ट है कि १९२१ से १९६१ तक नगरों में बसने वाली जनसंख्या का प्रतिशत ११ से १८ हो गया है, यातायात के साधनों के विकास, बिजली, सिनेमा, उद्योग तथा व्यवसाय के परिवर्तित रूप के कारण ग्रामों के शिक्षित नवयुवक नगरों में बसने लग गये हैं। कुछ प्रगतिशील किसानों ने नगरों में अपना व्यवसाय भी आरम्भ कर दिया है किन्तु यह परिवर्तन बहुत सामान्य है। गत वर्षों में नगरों की भीड़, आवास की कठिनाई तथा वस्तुओं की महँगाई ने लोगों का ध्यान पुनः ग्रामों की ओर आकर्षित कर दिया है। इधर ग्रामों में सड़क, बिजली, शिक्षा संस्थाएँ आदि तीव्रगति से पनप रही हैं। कुछ ग्रामीण क्षेत्रों में तो विश्वविद्यालय तक स्थापित कर दिये गये हैं। सामुदायिक विकास योजनाओं तथा पंचायतों के कारण भी ग्रामीण क्षेत्रों के विकास को बहुत बल मिला है। अतः आगामी वर्षों में भी ग्रामीण जनता का नागरिक क्षेत्रों के प्रति विशेष आकर्षण बढ़ने की सम्भावना नहीं है। ग्रामों में सड़कें, पक्के मकान, जल तथा बिजली की सुविधाएं तथा औद्योगिक एवं शिक्षण-संस्थाएँ अधिक हो जायें तो नगरों की बहुत-सी समस्याएँ हल हो सकती हैं। सरकार द्वारा सभी बड़े नगरों को ४०-५० मील दूरी तक ग्रामों से मिलाने के लिए बिजली से चलने वाली रेलें चालू करनी चाहिए।

नगरीकरण के कारण और प्रभाव—उपर्युक्त विवरण से यह ज्ञात होता है कि ग्रामीणों के नगरों में जाने की प्रवृत्ति कुछ बढ़ी है। इसके मुख्य कारणों का सार इस प्रकार है :

(१) नगर में बसने की प्रवृत्ति—ग्रामों के बालक शिक्षा प्राप्ति के लिए नगरों में जाते हैं, वह पुनः ग्रामों में बसना नहीं चाहते क्योंकि ग्रामों में सड़कें, बिजली, नल तथा सिनेमा की सुविधाएँ कम हैं।

(२) शिक्षा का उचित प्रबन्ध—ग्रामों में उच्च शिक्षा का प्रबन्ध नहीं है अतः लोग कस्बों या नगरों में बसना उचित समझते हैं।

(३) रोजगार—पढ़े-लिखे व्यक्तियों को प्रायः कस्बों या नगरों में रोजगार मिलता है और वह नगरों में ही बस जाते हैं।

(४) **खेती का त्याग**—शिक्षित परिवारों में प्रायः खेती के व्यवसाय को त्यागने की प्रवृत्ति हो चली है अतः ग्रामों का त्याग स्वाभाविक हो गया है।

(५) **नये व्यवसाय**—बहुत-से भूतपूर्व जमींदार या साहूकार नगरों में नये व्यवसायों के आकर्षण के कारण ग्रामों से चले गये हैं।

उपर्युक्त प्रवृत्तियों के प्रभाव— (क) नगरों में जनसंख्या का घनत्व बढ़ने से गन्दगी, जल समस्या तथा स्वास्थ्य सम्बन्धी समस्याएँ बढ़ती जा रही हैं

(ख) रोजगार की समस्या गम्भीर हो रही है।

(ग) कृषि का विकास नहीं हो रहा क्योंकि शिक्षित व्यक्तियों के ज्ञान का ग्रामों को यथोचित लाभ प्राप्त नहीं हो रहा है।

उपचार—इन सब समस्याओं का समाधान करने के लिए निम्नलिखित मार्ग करना आवश्यक है

(१) ग्रामों में अधिक सड़कें, बिजली तथा जल की सुविधाएं तथा मनोरंजन के साधन उपलब्ध कराने चाहिए।

(२) ग्रामों में शिक्षा की अधिक सुविधाएँ प्रदान की जानी चाहिए।

(३) ग्रामों में भवन-निर्माण के लिए सस्ते ऋण दिये जाने चाहिए।

नगरों का विकास—सन् १९६१ की जनगणना के अनुसार भारत में कुल २,६९९ नगर हैं तथा ५,६६,८७८ ग्राम हैं जिनका जनसंख्यानुसार ब्यौरा निम्नलिखित है

भारत में नगरों की जनसंख्या

जनसंख्या	नगर संख्या
१,००,००० से अधिक	१०७
५०,००० से १००,०००	१३९
२०,००० से ५०,०००	५१८
१०,००० से २०,०००	८२०
५,००० से १०,०००	८४७
५,००० से कम	२६८
योग	२,६९९

ग्रामों तथा नगरों के विकास के सम्बन्ध में कुछ महत्त्वपूर्ण तथ्य नीचे दिये हुए हैं

(१) नगरों की सबसे अधिक संख्या (३३९) तमिलनाडु राज्य में तथा सबसे कम संख्या (४३) जम्मू तथा काश्मीर राज्य में है।

(२) एक लाख से अधिक जनसंख्या वाले सबसे अधिक नगर (१७) उत्तर प्रदेश में तथा सबसे कम (१) उड़ीसा तथा आसाम में हैं।

(३) पाँच हजार से कम जनसंख्या वाले सबसे अधिक नगर (४३) पंजाब में तथा सबसे कम (१) केरल में हैं।

(४) दस हजार से बीस हजार जनसंख्या वाले नगरों की सबसे अधिक संख्या (११९) तमिलनाडु में तथा सबसे कम (४) जम्मू तथा काश्मीर में है।

(५) कुल मिलाकर नगरों की संख्या क्रमशः जम्मू तथा काश्मीर, आसाम, उड़ीसा, केरल, राजस्थान तथा बिहार में कम है, और तमिलनाडु, उत्तर प्रदेश, महाराष्ट्र, मैसूर तथा आन्ध्र प्रदेश में अधिक है।

उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट है कि आर्थिक दृष्टि से सम्पन्न राज्यों में नगरों की संख्या अधिक तथा अविकसित राज्यों में कम है।

भारत में ग्रामों का विवरण—सन् १६६१ की जनगणना के अनुसार भारत मे ग्रामो की सख्या निम्नलिखित है

जनसख्या	ग्रामो की संख्या
१०,००० से अधिक	७७६
५००० मे १०,०००	३४२१
२,००० से ५,०००	२६,५६५
१००० से २०००	६५,३७७
५०० मे १,०००	१,१६,०८६
५०० से कम	३,५१,६५०
योग	५,६६८७५

कुल योग ५,६६८७८ होना चाहिए किन्तु नेफा क्षेत्र मे ३ ग्राम ऐसे हैं जिनकी जनसख्या उपलब्ध नही है।

अन्य निष्कर्ष—ग्रामो से सम्बन्धित अन्य उल्लेखनीय तथ्य निम्नलिखित हैं

(१) केरल राज्य बहुत कम विकसित है क्योकि उसमे ५१० ऐसे क्षेत्रो को ग्राम की सज्ञा दी गयी है जिनकी जनसख्या १०,००० से भी अधिक है।

(२) ग्रामो की सख्या क्रमश उत्तर प्रदेश (१ १३ लाख), मध्य प्रदेश (७० हजार), बिहार (६० हजार) तथा उडीसा (४६ हजार) मे अधिक है।

(३) भारत मे सबसे अधिक ग्राम ५०० से कम जनसख्या वाले हैं और इनकी सख्या का क्रम भी उत्तर प्रदेश, मध्य प्रदेश, बिहार तथा उडीसा मे ही अधिक है।

बड़े नगर—भारत मे एक लाख से अधिक जनसख्या वाले नगरो की सख्या ११३ है जिनमे सबसे अधिक (१७) उत्तर प्रदेश मे हैं। शेष की स्थिति निम्न है :

भारत में नगरो की संख्या

उत्तर प्रदेश	१७	मैसूर	६
महाराष्ट्र	१३	राजस्थान	६
आन्ध्र प्रदेश	११	पजाब	५
मद्रास	११	केरल	४
प० बगाल	११	आसाम	२
बिहार	६	जम्मू एव काश्मीर	२
मध्य प्रदेश	८	उडीसा	१
गुजरात	६	दिल्ली	१
		योग	११३

६. व्यवसाय के अनुसार विभाजन

गत साठ वर्षों (१६०१–१६६१) मे देश की सम्पूर्ण जनसख्या मे ८३ ४ प्रतिशत वृद्धि हुई है किन्तु श्रमिको की सख्या केवल ६६ १४ प्रतिशत बढी है। यह प्रवृत्ति १६२१ के पश्चात विशेष रूप मे नियमित रही है जैसा कि निम्न तालिका से स्पष्ट है .

सम्पूर्ण जनसख्या तथा श्रमिको के प्रतिशत मे वृद्धि

(आधार वर्ष १६०१)

वर्ष	सम्पूर्ण जनसख्या	श्रमिक सख्या
१६३१	१६·५७	८·३०
१६५१	५०७०	२६ ५०
१६६१	८३ ४०	६६·१४

प्रस्तुत तालिका यह स्पष्ट करती है कि गत तीस वर्षों मे श्रमिकों की सख्या नियमित रूप मे बढी है *किन्तु इसके बढने की गति सम्पूर्ण जनसख्या की वृद्धि प्रतिशत से कम है।* इसका स्पष्ट कारण यह है कि कोई भी व्यक्ति जन्म के लगभग १५ वर्ष पश्चात ही श्रम करने योग्य होता है।

श्रमिकों की सख्या—सन् १९६१ की जनगणना के अनुसार १५ से ६० वर्ष तक की आयु के व्यक्तियो को श्रमिकों की श्रेणी मे लिया गया है। इसके अनुसार १९६१ मे श्रमिकों की कुल *सख्या लगभग १८ ८८ करोड अर्थात कुल सख्या की लगभग ४२ ९८ प्रतिशत थी।*

पेशेवार विभाजन (Occupational Distribution)—विभिन्न व्यवसायों के अनुसार *भारत की लगभग ७० प्रतिशत जनशक्ति अब भी कृषि मे सलग्न है जबकि उद्योगों मे केवल १२%* व्यक्ति नियोजित है। भारत की कार्यशील जनसख्या (working population) का पेशेवार विभाजन, सन् १९६१ के सेंसस के आधार पर निम्न प्रकार था

कार्यशील जनसख्या का पेशेवार विभाजन[1]

पेशा या व्यवसाय	कुल कार्यशील जनसख्या का प्रतिशत
१. कृषक (*Cultivators*)	५२ ८
२ कृषि श्रमिक (Agriculture Labourers)	१६ ७
३ निर्माण-उद्योग (Manufacturing Industry)	१० ६
४ व्यापार तथा वाणिज्य (Trade & Commerce)	४ १
५ बागान, जगल, मत्स्य, पशुपालन, खान आदि (Plantation, Forestry, Fishing, Livestock, Mining, etc)	२ ८
६ निर्माण (Construction)	१·१
७ परिवहन (Transport)	१ ६
८ अन्य सेवाएँ (Other Services)	१० ३
योग	१०० ०

सारणी से स्पष्ट है कि कार्यशील जनसख्या का लगभग ७०% भाग कृषि पर निर्भर है। यह स्थिति बहुत असन्तोषजनक है क्योंकि कृषि पर अधिक निर्भरता के कारण देश की राष्ट्रीय आय बहुत कम है और जनता का जीवन-स्तर बहुत नीचा है। *भारत मे कृषि पर निर्भर रहने वालो* की सख्या म उत्तरोत्तर वृद्धि होती रही है। १८९१ मे कुल जनसख्या का ६१% कृषि पर निर्भर था। सन् १९११ और सन् १९३१ म कृषि पर निर्भर *रहने वाली जनसख्या का भाग बढकर क्रमश* ७१% व ७३% हो गया। *सन १९४१ की जनगणना मे पेशेवार विभाजन के आँकडे नहीं दिये गये थे।*

७. साक्षरता अनुपात

साक्षर से तात्पर्य उन व्यक्तियों से है जो किसी भाषा को सामान्य रूप मे लिख-पढ सकते हैं। १९५१ की जनगणना के अनुसार भारत मे साक्षरता का प्रतिशत १६ ६ था जो १९७१ मे बढकर २९ ३५ हो गया। *इसमे भी विभिन्न राज्यों मे साक्षरता के स्तर सर्वथा भिन्न हैं, जिनका* अनुमान अग्र तालिका से लग सकता है

[1] *यह सारणी सेंसस रिपोर्ट मे नहीं दी गयी है अपितु सन् १९६१ के सेंसस द्वारा प्राप्त सूचनाओं* के आधार पर तैयार की गयी है।

भारत में साक्षरता का प्रतिशत (१९७१)

राज्य	साक्षरता प्रतिशत	राज्य	साक्षरता प्रतिशत
१ केरल	६०	११ नागालैण्ड	२७
२ तमिलनाडु	३९	१२ हरियाणा	२७
३ महाराष्ट्र	३९	१३ उडीसा	२६
४ गुजरात	३६	१४ आन्ध्र प्रदेश	२५
५ पजाव	३३	१५ मध्य प्रदेश	२२
६ पश्चिमी बगाल	३३	१६ उत्तर प्रदेश	२२
७ मैसूर	३१	१७ बिहार	२०
८ हिमाचल प्रदेश	३१	१८ राजस्थान	१९
९ आसाम	२९	१९ जम्मू काश्मीर	१८
१० मेघालय	२८		

भारत २९ ३५ प्रतिशत

तालिका से स्पष्ट है कि साक्षरता का स्तर केरल राज्य मे अन्य राज्यों से ऊँचा है। राजस्थान तथा जम्मू काश्मीर मे सभी राज्यो से कम व्यक्ति साक्षर हैं।

साक्षरता का यह स्तर देखकर शिक्षित व्यक्तियो का अनुमान लगाना भी व्यर्थ है क्योकि जापान स्वीडन, इगलैण्ड फ्रास, जर्मनी तथा स्विट्जरलैण्ड जैसे देशो म लगभग ९० प्रतिशत व्यक्ति साक्षर या शिक्षित हैं। भारत की अनेक योजनाएँ केवल इसीलिए असफल हो जाती हैं कि जिनके लाभार्थ वे बनायी गयी हैं वे उनको पढकर समझ सकने की स्थिति म नही हैं। चेस्टर बोल्स के शब्दों म, 'जिन जापानी किसानो को १९४६ के महान भूमि सुधार कानून के अन्तर्गत भूमि दी गयी उनमें १० मे से ९ उस कानून को पढ सकते थे।" दुर्भाग्य से भारत मे दस म से एक किसान भी अपने लिए बनाये गय कानूनो को पढकर समझने की स्थिति म नही है।

८ आयु तथा वैवाहिक स्थिति

किसी भी देश म प्राय ४ वर्ष की आयु तक शिशु (infant), ५ से १४ वर्ष तक की आयु वालो को लडके-लडकियां, १५ से ३४ वर्ष तक की आयु वालो को यवयुवक नवयुवतियां, ३५ से ५४ वर्ष तक की आयु वालो को अधेड व्यक्ति तथा इसस अधिक आयु वालो को वयोवृद्ध माना जाता है। तदनुसार १९६१ मे भारत की स्थिति निम्नलिखित थी

भारत मे आयु के अनुसार जनसख्या

	(प्रतिशत मे)
शिशु	१५ १
बालक-बालिकाएँ	२६ ०
युवक-युवतियां	३२·१
अधेड व्यक्ति	१९ ०
वयोवृद्ध	७ ८
योग	१०० ०

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि भारत मे वयोवृद्धो की सख्या बहुत कम है। १९६१ की जनगणना के प्रकाशित अको से ज्ञात होता है कि ७५ वर्ष से अधिक आयु के व्यक्तियो की सख्या केवल ० ९ प्रतिशत है जबकि ५५ वप से अधिक आयु वालो का प्रतिशत भी कुल ७ ८ है। इसका कारण यह है कि उस समय भारत मे औसत जीवन केवल ४२ ०६ वर्ष था।

जहाँ तक विवाह का प्रश्न है, भारत मे विवाह एक धार्मिक एव अनिवार्य क्रिया मानी जाती है और इसलिए विवाह करने मे कुछ शीघ्रता की जाती है। भारत मे बाल विवाह बहुत

होते हैं और छोटी आयु की विधवाओं की संख्या बहुत है जिसका अनुमान निम्न तथ्यों से लग सकता है

भारत में वैवाहिक स्थिति

(संख्या हजारों में)

आयु वर्ग (वर्षों में)	विवाहित महिलाएँ	विधवा महिलाएँ
१०–१४	४४,२६	३०
१५–१९	१२०,२२	९१
२०–२४	१,७५५२	२४८

इससे स्पष्ट है कि १०-१९ वर्ष के वर्ग समूह में लगभग १.६४ करोड़ महिलाएँ (कुल स्त्रियों का लगभग ९ प्रतिशत) विवाहित हैं और इसी वर्ग में लगभग सवा लाख (१.२१ लाख) स्त्रियाँ विधवा हैं। यह एक गम्भीर स्थिति है जिसकी ओर समाज सुधारकों का ध्यान जाना चाहिए।

९. क्या भारत में जनाधिक्य है ?
(IS INDIA OVER POPULATED ?)

भारत में जनसंख्या की समस्या जटिल होती जा रही है। भारत की जनसंख्या में तीव्र गति से वृद्धि हो रही है। *खाद्य समस्या तथा बेरोजगारी समस्या का जनसंख्या वृद्धि से प्रत्यक्ष सम्बन्ध* है। योजनाबद्ध आर्थिक विकास तथा विभिन्न प्रयत्नों द्वारा भारत कृषि प्रधान देश होते हुए भी अपनी खाद्य आवश्यकता की पूर्ति करने में असमर्थ है। अतः अधिकांश लोगों का यह मत है कि भारत में जनाधिक्य है तथा जब तक हम जनसंख्या वृद्धि दर को घटाने में समर्थ नहीं होंगे, तब तक देश का विकास नहीं होगा। भारत में जनाधिक्य को स्वीकार करने वालों ने भारत का भविष्य *अन्धकारपूर्ण बताया है।* दूसरी ओर कुछ ऐसे भी विद्वान हैं जिन्होंने आशावादी दृष्टिकोण प्रस्तुत किया है तथा यह मत व्यक्त किया है कि भारत के प्राकृतिक साधनों तथा विकास सम्बन्धी प्रयत्नों को देखते हुए यह कहा जा सकता है कि भारत में जनाधिक्य नहीं है। अतः हम इन दोनों दृष्टिकोणों—आशावादी तथा निराशावादी—पर प्रकाश डालेंगे

१ आशावादी दृष्टिकोण—भारत में जनाधिक्य नहीं है

भारत की जनसंख्या समस्या के प्रति जो लोग आशावादी दृष्टिकोण अपनाते हैं वे 'अनुकूलतम जनसंख्या सिद्धान्त (optimum population) की शरण लेते हैं। इस दृष्टिकोण के समर्थकों का कहना है कि भारतीय जनता के निम्न जीवन स्तर, खाद्य समस्या तथा आर्थिक पिछड़ेपन के आधार पर ही हम यह नहीं कह सकते कि भारत में जनाधिक्य है। यदि भारत के प्राकृतिक साधनों पर दृष्टिपात किया जाये तो यह बात पूर्ण रूप से स्पष्ट हो जाती है कि भारत के पास प्राकृतिक साधनों का अतुलित भण्डार है। यदि उपलब्ध प्राकृतिक साधनों का समुचित उपयोग किया जाय तो देश का आर्थिक विकास बड़ी तेजी से होगा। इस प्रकार हम जनाधिक्य महसूस ही नहीं होगा। आशावादी विचारधारा के समर्थकों के निम्नलिखित तर्क हैं

(१) *प्रति व्यक्ति राष्ट्रीय आय में वृद्धि*— अनुकूलतम जनसंख्या सिद्धान्त' के अनुसार, यदि किसी देश की प्रति व्यक्ति राष्ट्रीय आय में वृद्धि हो रही हो तो उस देश में जनाधिक्य नहीं होता। भारत की प्रति व्यक्ति राष्ट्रीय आय में प्रति वर्ष वृद्धि हो रही है। सन् १९५०-५१ में भारत की प्रति व्यक्ति राष्ट्रीय आय २४७.५ रुपये थी जो बढ़कर सन् १९५५-५६ में २६७.८ रुपय, १९६०-६१ में २९३.२ रुपये तथा सन १९६८-६९ में ५८२ रुपये हो गयी। प्रति व्यक्ति राष्ट्रीय आय में वृद्धि का होना इस बात का प्रमाण है कि भारत में जनाधिक्य नहीं है।

(२) प्रचुर प्राकृतिक साधन—भारत के पास प्राकृतिक साधनों का असीमित भण्डार है। इन साधनों का प्रयोग बहुत कम मात्रा में किया गया है। यदि भारत के प्राकृतिक साधनों का प्रयोग समुचित ढंग से बड़े पैमाने पर किया जाय तो देश भविष्य में एक सम्पन्न देश हो जायेगा। अत: जनसंख्या के बढ़ते हुए भी देश का भविष्य उज्ज्वल है।

(३) अर्थ-व्यवस्था का पिछड़ापन—भारत एक अल्पविकसित देश है। यह औद्योगिक उत्पादन में बहुत पिछड़ा हुआ है। कृषि की उत्पादकता विकसित देशों की तुलना में अत्यन्त ही कम है। भारतीय अर्थ-व्यवस्था का यह पिछड़ापन इस बात का द्योतक है कि भविष्य में विकास की सम्भावनाएँ अधिक हैं। हम कृषि उत्पादन में वर्तमान की तुलना में कम से कम तीन गुनी तथा औद्योगिक उत्पादन में कई गुनी अधिक वृद्धि कर सकते हैं। अतः भारत की जनसंख्या की समस्या वस्तुतः कोई समस्या नहीं है।

(४) जनसंख्या का घनत्व—भारत में जनसंख्या का घनत्व भी अन्य देशों की तुलना में अधिक नहीं है। सन् १९७१ की जनगणना के अनुसार भारत में जनसंख्या का घनत्व प्रति वर्ग किलोमीटर १७८ है, जबकि ब्रिटेन में जनसंख्या का घनत्व २१५, जापान में २५४, पश्चिमी जर्मनी में २१३ तथा हालैंड में ३४६ है। भारत में जनसंख्या का घनत्व तुलनात्मक दृष्टि से अधिक नहीं है। अतः जनसंख्या अत्यधिक नहीं कही जा सकती।

(५) जनसंख्या वृद्धि-दर—वर्तमान समय में भारत में जनसंख्या वृद्धि-दर २.५% वार्षिक है, परन्तु यदि दीर्घकालीन दर पर दृष्टिपात किया जाय तो ज्ञात होगा कि सन् १९०१-५१ की अवधि में ५२% वृद्धि हुई जबकि अन्य उन्नतिशील देशों की जनसंख्या में इसी अवधि में १००% वृद्धि हुई। अतः भारत में जनसंख्या में वृद्धि अधिक नहीं है।

(६) एक मुख दो हाथ—गांधीवादी विचारधारा के अनुसार जनसंख्या की समस्या कोई समस्या नहीं है। व्यक्ति 'एक मुख दो हाथों' के साथ पैदा होता है। अतः परिश्रम करके (रोजगार की सुविधाएँ उपलब्ध होने पर) वह राष्ट्रीय उत्पादन में अपने द्वारा किए जाने वाले उपभोग की अपेक्षा अधिक वृद्धि कर सकता है। वस्तुतः किसी देश की जनसंख्या उस देश की सम्पत्ति है जो निर्धनता की नहीं बल्कि 'समृद्धि' की प्रतीक है। महात्मा गांधी ने यह विचार व्यक्त किया था कि कृषि, कुटीर तथा लघु उद्योगों के विकास द्वारा हम बेरोजगारी की समस्या का समाधान कर सकते हैं तथा राष्ट्रीय उत्पादन को बढ़ाकर दुगुना कर सकते हैं। अतः समस्या 'जनसंख्या' की नहीं बल्कि उचित आर्थिक नीतियों की है।

(७) जनसंख्या आर्थिक विकास में सहायक—प्रसिद्ध अर्थशास्त्री जे० एम० केन्स के अनुसार, आर्थिक विकास के लिए प्रभावशाली माँग (effective demand) आवश्यक है। जिन देशों की जनसंख्या अधिक है उनकी श्रम शक्ति अधिक है। यद्यपि वर्तमान समय में आय की न्यूनता के कारण अधिक जनसंख्या वाले देशों के निवासियों की क्रय शक्ति सीमित है जिसकी वजह से 'प्रभावशाली माँग' बहुत अधिक नहीं है, परन्तु आर्थिक विकास के अन्य साधनों—पूँजी आदि—की उपलब्धि करा देने पर, इन देशों का आर्थिक विकास 'प्रभावशाली माँग' के कारण बहुत तेजी से किया जा सकता है। अतः अधिक जनसंख्या वस्तुतः एक वरदान है जिसमें आर्थिक विकास की सम्भावनाएँ निहित हैं। प्रो० निर्क्स ने भी यह मत व्यक्त किया है कि भूमि पर जनसंख्या का आधिक्य आर्थिक विकास के लिए अप्रयुक्त शक्ति का प्रतीक है, जो केवल एक टूटी हुई कड़ी—बाह्य पूंजी—की पूर्ति द्वारा आर्थिक विकास में बहुत सहायक हो सकती है।

(८) माल्थस का सिद्धान्त सत्य नहीं—जो लोग जनसंख्या आधिक्य की बात करते हैं वे माल्थस के जनसंख्या सिद्धान्त की शरण लेते हैं। माल्थस के जनसंख्या सिद्धान्त के अनुसार जनसंख्या खाद्य पूर्ति की अपेक्षा तीव्र गति से बढ़ती है। भारत में खाद्य-समस्या प्रायः जटिल ही रही

है। परन्तु इस विचारधारा के समर्थक यह भूल जाते हैं कि माल्थस का जनसंख्या सिद्धान्त आर्थिक विकास की कसौटी पर खरा नहीं उतरा है। यह सिद्धान्त उत्पादन के अन्य स्वरूपों—औद्योगिक उत्पादन—पर ध्यान नहीं देता है। वैज्ञानिक एवं प्राविधिक प्रगति तथा नयी उत्पादन विधियों के निरन्तर आविष्कारों ने माल्थस की भविष्यवाणी को गलत सिद्ध कर दिया है। भारत भी विज्ञान के प्रयोग से कृषि-उत्पादन में बहुत अधिक तथा औद्योगिक उत्पादन में आशातीत वृद्धि द्वारा जनसंख्या की समस्या का समाधान बड़ी सफलतापूर्वक कर सकता है। जिस प्रकार विज्ञान की सहायता से पश्चिमी देशों ने माल्थस की भविष्यवाणी गलत सिद्ध कर दी, उसी प्रकार भारत भी कर सकता है।

उपर्युक्त कारणों से यह कहा जा सकता है कि भारत में जनाधिक्य नहीं है। इस विचारधारा के समर्थकों का कहना है कि यह सम्भव है कि वर्तमान समय में हमारी जनसंख्या अधिक हो, परन्तु यदि हम विकास की सम्भावनाओं को भी दृष्टिगत रखें तो सामान्य रूप से यह नहीं कहा जा सकता कि भारत में जनाधिक्य है।

२ निराशावादी दृष्टिकोण : भारत में जनाधिक्य है

वस्तुत भारत में जनाधिक्य है। ऊँची जन्म दर, खाद्यान्नों का निरन्तर अभाव, अनेक वर्षों के योजनाबद्ध आर्थिक विकास के पश्चात् भी व्यापक निर्धनता का पाया जाना, बेरोजगारी तथा अर्द्ध बेरोजगारी से पीड़ित जनसमुदाय, अधिकांश जनसंख्या को दिन में दो बार साधारण भोजन का भी न मिलना तथा भारत के गाँवों में देश की ८२% जनता का रहना, परन्तु ग्रामीण भारत की आय केवल ६८ पैसे दैनिक होना, ये सब तथ्य जनाधिक्य की उपस्थिति के सूचक हैं। यह कहना कि भारत में जनाधिक्य नहीं है, वास्तविकता से मुँह फेर कर, कोरे कल्पनालोक में विचरण करने के अतिरिक्त कुछ नहीं है। भारत में आज सबसे बड़ी समस्या है जनाधिक्य की समस्या। निम्नलिखित तथ्य इस बात की पुष्टि करते हैं

(१) भारत जनसंख्या सक्रान्ति की द्वितीय अवस्था में—'जनसंख्या-सक्रान्ति सिद्धान्त' (Theory of Demographic Transition) के अनुसार, जनसंख्या विकास की तीन अवस्थाएँ होती हैं—(i) ऊँची जन्म तथा ऊँची मृत्यु दरें—प्रारम्भ में अशिक्षा, अज्ञानता, सामाजिक व धार्मिक प्रथाओं परम्परावादी दृष्टिकोण तथा परिवार परिसीमन विधियों की जानकारी न होने के कारण जन्म-दर बहुत ऊँची होती है। इसी प्रकार, अज्ञानता तथा चिकित्सा सुविधाओं की कमी के कारण मृत्यु दर भी ऊँची होती है। भारत में यह दशा सन् १९३१ तक थी। (ii) ऊँची जन्म दर तथा कम मृत्यु दर—धीरे धीरे आर्थिक विकास के कारण जनता के जीवन स्तर में सुधार होता है, चिकित्सा सुविधाओं की व्यवस्था की जाने लगती है, इस प्रकार मृत्यु-दर बहुत तेजी से कम होने लगती है जन्म-दर लगभग पूर्ववत् रहती है। अत इस अवस्था में जनसंख्या तेजी से बढ़ने लगती है तथा किसी भी देश के लिए यह अवस्था बड़ी नाजुक होती है। (iii) कम जन्म-दर तथा कम मृत्यु दर—जब अर्थ-व्यवस्था का विकास काफी हो जाता है, जनता का जीवन-स्तर काफी ऊँचा हो जाता है शिक्षा का प्रसार हो जाता है तब जन्म दर भी घटने लगती है। इस प्रकार जनसंख्या में तीव्र वृद्धि रुक जाती है।

भारत जनसंख्या सक्रान्ति की द्वितीय अवस्था से गुजर रहा है। द्वितीय अवस्था को जनसंख्या विस्फोट (population explosion) की स्थिति भी कहते हैं। विकास की यह सबसे खतरनाक तथा भयावह स्थिति होती है। सन् १९३१ के पश्चात् विशेषकर सन् १९५१ के पश्चात् भारत इस भयावह स्थिति से गुजर रहा है। आर्थिक विकास के कारण मृत्यु-दर घटकर १६ प्रति हजार व्यक्ति (सन् १९३० में मृत्यु दर ३८ ३ थी) रह गयी है तथा जन्म दर लगभग पूर्ववत् है। जन्म-दर तथा मृत्यु दर में पर्याप्त अन्तर होने के कारण जनसंख्या वृद्धि-दर बढ़ती जा रही है तथा जन-

संख्या की समस्या भयावह होती जा रही है। यह जनाधिक्य का ही सूचक है। जनसंख्या वृद्धि दर में तीव्र गति से वृद्धि 'जनसंख्या विस्फोट' की सूचक है। भारत में जनसंख्या वृद्धि-दर तेजी से बढ़ रही है। उदाहरणार्थ, १९२१-१९३१ में जनसंख्या वृद्धि-दर १.१०% वार्षिक, सन् १९३१-१९४१ में १.४०% वार्षिक, सन् १९५१-१९६१ में २.१६% वार्षिक तथा १९६१-७१ में वृद्धि-दर २.५ प्रतिशत वार्षिक हो गयी है।

(२) जनसंख्या वृद्धि सम्बन्धी कुछ तथ्य—भारत में जनसंख्या वृद्धि सम्बन्धी समंक (Statistics) जनसंख्या आधिक्य की ही ओर संकेत करते हैं। सन् १९६१ में भारत की जनसंख्या ४७.२ करोड़ थी, सन् १९७१ में जनसंख्या बढ़कर ५४.७ करोड़ हो गयी। इस गति से सन् १९९५ में भारत की जनसंख्या १०० करोड़ से अधिक हो जायगी। भारत में पचास हजार से भी अधिक बच्चे प्रतिदिन जन्म लेते हैं। एक वर्ष में कुल २ करोड़ बच्चे पैदा होते हैं। प्रति वर्ष ८० लाख व्यक्ति मरते हैं, इस प्रकार भारत की जनसंख्या प्रति वर्ष एक करोड़ बीस लाख बढ़ती है। दूसरे शब्दों में, भारत जनसंख्या की दृष्टि से प्रति वर्ष एक 'आस्ट्रेलिया' पैदा करता है। जब भारत की जनसंख्या बीसवीं सदी के समाप्त होने के पूर्व ही सौ करोड़ हो जायेगी, उस समय देश के नागरिकों की क्या दशा होगी, इसकी कल्पना ही भयावह है।

(३) बढ़ती जनसंख्या के लिए आवश्यक सुविधाएँ—भारत कठिन आर्थिक परिस्थितियों से गुजर रहा है। जनसंख्या वृद्धि के कारण हमारी कठिनाइयाँ उत्तरोत्तर बढ़ती जा रही हैं। बढ़ती हुई जनसंख्या के लिए आवश्यक मात्रा में खाद्य सामग्री, रोजगार, शिक्षा आदि की व्यवस्था करना कठिन होता जा रहा है। डॉ० चन्द्रशेखर के अनुसार, प्रति वर्ष जनसंख्या १२० से १३० लाख तक बढ़ जाती है। केवल इस बढ़ी हुई जनसंख्या के लिए प्रतिवर्ष भारत को ७५ लाख मकान, १,७६,००० स्कूल ३,७२,००० अध्यापक, १ करोड़ २० लाख क्विंटल अनाज तथा ४३ लाख नये रोजगारों की आवश्यकता पड़ती है। इन समंकों द्वारा हम भारत की बढ़ती हुई जनसंख्या के प्रभावों का अनुमान लगा सकते हैं। भारत बढ़ती हुई जनसंख्या की खाद्य आवश्यकताओं की भी पूर्ति करने में असमर्थ है। अतः भारत में जनाधिक्य के सम्बन्ध में सन्देह का प्रश्न ही नहीं उठता।

(४) भूमि पर जनसंख्या का बढ़ता हुआ भार—जनसंख्या में तीव्र गति से वृद्धि के कारण, भूमि पर जनसंख्या का दबाव बढ़ता जा रहा है। भारत की जनसंख्या विश्व की कुल जनसंख्या की १५ प्रतिशत है जबकि भारत का क्षेत्रफल समस्त विश्व का केवल २.४ प्रतिशत है। भारत में जनसंख्या वृद्धि के कारण प्रति व्यक्ति उपलब्ध भूमि तेजी से घटती जा रही है जो जनाधिक्य की प्रतीक है।

(५) खाद्य-समस्या—भारत बढ़ती हुई जनसंख्या की खाद्य-आवश्यकताओं की पूर्ति करने में अपने को असमर्थ पा रहा है। प्रति वर्ष हमें अधिकाधिक मात्रा में खाद्यान्नों का आयात करना पड़ता है। सन् १९५१-१९७१ की अवधि में भारत ने लगभग ४,००० करोड़ रुपये के खाद्यान्नों का आयात किया। इससे विदेशी मुद्रा का संकट निरन्तर बढ़ता जा रहा है।

(६) बढ़ती हुई बेरोजगारी—जनसंख्या वृद्धि की तुलना में देश का आर्थिक विकास कम हो रहा है, इस प्रकार बेरोजगारी बढ़ती जा रही है। तीसरी योजना के अन्त में (मार्च १९६६) भारत में बेकारों की संख्या एक करोड़ बीस लाख थी। १९७१ में बेरोजगार व्यक्तियों की संख्या बढ़कर डेढ़ करोड़ हो गयी है। बढ़ती हुई बेरोजगारी जनसंख्या आधिक्य की पुष्टि करती है।

(७) निम्न जीवन स्तर—भारत की अधिकांश जनसंख्या जीवन-निर्वाह करने में भी असमर्थ है। अधिकांश जनसंख्या 'जीवन निर्वाह स्तर' से भी नीचे (below subsistence level) स्तर पर जीवनयापन करती है।

(८) ऊँची मृत्यु-दर—भारत में धीरे धीरे मृत्यु-दर नीचे गिर रही है, परन्तु अन्य विकसित

देशो की तुलना मे भारत मे मृत्यु दर बहुत ऊँची है, जो माल्थस द्वारा वर्णित प्राकृतिक अवरोध (positive checks) की सूचक है। अत भारत मे माल्थस के सिद्धान्तो के अनुसार जनाधिक्य है।

उपर्युक्त विवरण मे स्पष्ट है कि भारत मे जनाधिक्य है अत जनसंख्या की समस्या का समाधान भारत की सबसे बडी समस्या है।

१०. भारतीय जन-समस्या सम्बन्धी सुझाव

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि भारत की तीव्र गति से बढती हुई जनसंख्या देश की प्रगति मे बाधक है, अत उसकी गति रोकने के लिए निम्नलिखित प्रयत्न करना आवश्यक है

(१) **शिक्षा सुविधाओ का विस्तार**—भारत मे शिक्षा का स्तर बहुत गिरा हुआ है अत महिलाएँ तथा पुरुष यह समझते ही नही है कि जनसंख्या वृद्धि के क्या दुष्प्रभाव हैं। पाश्चात्य देशो मे शिक्षा का प्रसार अधिक होने के कारण जनसंख्या स्वत नियन्त्रित हो गयी है।

(२) **देर से विवाह** (Late Marriage)—भारत मे लडकियो के विवाह की आयु प्राय १४ वर्ष है जो बहुत नीची है। वस्तुत १४ वर्ष की आयु तक न तो लडकियो की ठीक शिक्षा-दीक्षा हो पाती है, न उनम परिवार सचालन सम्बन्धी विचार-परिपक्वता आती है, अत लडकियो की विवाह-आयु १९ वर्ष कर दी जानी चाहिए। विवाह की आयु कानून द्वारा १९ वर्ष कर दी जाय तो २० वर्ष के भीतर जन्म दर मे ३५ से ५० प्रतिशत कमी आ सकती है।

(३) **विवेकहीन मातृत्व पर रोक**—सन् १९५१ की जनगणना क आयुक्त श्री गोपालास्वामी ने *भारत मे बढती हुई जनसख्या का एक महत्वपूर्ण कारण विवेकहीन मातृत्व (improvident maternity)* बताया है। उनका मत है कि यदि किसी स्त्री के तीन बच्चे हो चुकें और उनमे से एक भी हो तो आगामी मातृत्व पर निरोध लगाना आवश्यक है। इस सम्बन्ध मे कानून का सहारा लिया जाना चाहिए।

(४) **प्रवास** (Emigration)—*जनसंख्या सम्बन्धी समस्याओ के विशेषज्ञ डॉ चन्द्रशेखर ने* यह मत व्यक्त किया है कि ससार के जिन भागो मे जनाधिक्य है वहा से कम जनसख्या वाले क्षेत्र को जन-प्रवास की अनुमति दी जानी चाहिए। यह सत्य है कि आस्ट्रेलिया और दक्षिणी अमरीका के अनेक देशो म विस्तृत भूमि बेकार पडी हुई है किन्तु प्रश्न यह है कि उन क्षेत्रो म भारत *निवासियो को किस प्रकार भेजा जा सकता है। इस कार्य म सर्वप्रथम तो भारतीयो का व्यक्तिगत* विरोध ही बाधक होगा किन्तु विशेष विरोध उन देशो से होगा जहाँ जनसख्या कम तथा भूमि अधिक है।

(५) **उत्पादन-वृद्धि**—जनाधिक्य की समस्या का एक व्यावहारिक हल यह है कि कृषि, *उद्योग तथा अन्य सभी क्षेत्रो मे उत्पादन तजी से बढाया जाय।*

(६) **अधिक कर**—कुछ व्यक्तियो ने बडे परिवारो पर कर लगाने का सुझाव दिया है किन्तु यह व्यावहारिक दृष्टि स उचित नही है।

(७) **ऑपरेशन** (Operation) **तथा गर्भपात**—कुछ व्यक्तियो का यह मत है कि प्रत्येक पुरुष के लिए तीन सन्तानो के पश्चात् ऑपरेशन करवाना अनिवार्य कर देना चाहिए। कुछ अन्य जानकारो का यह मत है कि जापान की भाँति कुछ वर्षों के लिए गर्भपात को कानूनी घोषित कर देना चाहिए।

(८) **परिवार नियोजन** (Family Planning)—जनसख्या की वृद्धि की गति कम करने की दृष्टि से सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण कार्य परिवार नियोजन अथवा परिवार परिसीमन का है जो कई प्रकार से किया जा सकता है।

११. जनसंख्या नीति
(THE POPULATION POLICY)

१. जनसंख्या नीति की आवश्यकता

इस तथ्य पर प्रकाश डाला जा चुका है कि भारत की जनसंख्या प्रति वर्ष १ करोड़ २० लाख की दर से बढ़ रही है। केवल इस बढ़ी हुई जनसंख्या के लिए ही प्रति वर्ष १ करोड़ २० लाख क्विंटल अनाज, २५ लाख मकान, १,२३,००० स्कूल तथा ३७२,००० अध्यापकों की आवश्यकता पड़ती है। जन्म दर के लगभग पूर्ववत होने तथा मृत्यु दर में तेजी से गिरावट के कारण जनसंख्या वृद्धि दर तीव्र हो गयी है। भारत में औसत आयु ५० वर्ष है (सन् १९३१ में ३२ वर्ष थी)। यदि केवल पीने के लिए स्वच्छ जल की व्यवस्था कर दी जाय तो औसत आयु दो वर्ष की अवधि में ही बढ़कर ५५ वर्ष हो जायगी। भारत की जनसंख्या विस्फोटक स्थिति (population explosion) में पहुँच रही है। बड़े पैमाने पर योजनाबद्ध आर्थिक विकास के होते हुए भी भारत खाद्य-समस्या का समाधान नहीं कर पा रहा है। भविष्य में हम आयात द्वारा भी देश की खाद्यान्न समस्या को हल करने में असमर्थ होंगे। वर्तमान गति से (जनसंख्या वृद्धि-दर तथा खाद्य पूर्ति वृद्धि दर को ध्यान में रखते हुए) सन् १९८० तक भारत को ४ करोड़ टन खाद्यान्नों का आयात प्रति वर्ष करना पड़ेगा। स्पष्ट है कि हमारी इस कमी की पूर्ति करने में सभी देश असमर्थ होंगे। व्यापक निर्धनता, बढ़ती हुई बेरोजगारी, खाद्य-समस्या की गम्भीरता तथा निकट भविष्य में ही जनसंख्या की विस्फोटक स्थिति हमें बाध्य करती है कि हम उचित जनसंख्या नीति का निर्माण तथा पूरी शक्ति के साथ उस नीति को क्रियान्वित करें।

२. जनसंख्या नीति का अर्थ

जनसंख्या नीति से तात्पर्य सरकारी मान्यता से है जिसके अनुसार वह जनसंख्या-वृद्धि अथवा निरोध को प्रोत्साहित करती है। यह नीति सब देशों के लिए समान नहीं हो सकती क्योंकि कुछ देशों के प्राकृतिक साधन बहुत अच्छे होते हैं और वहाँ प्राविधिक एवं प्रौद्योगिक स्तर भी यथेष्ट ऊँचा होता है। इन देशों में कभी कभी उपलब्ध साधनों का विकास करने के लिए श्रम-शक्ति का अभाव दृष्टिगोचर होता है अतः वहाँ जनसंख्या की वृद्धि प्रोत्साहित करना आवश्यक होता है। रूस, अमरीका तथा यूरोप के कई देशों के सामने आज यह समस्या है।

इसके विपरीत, भारत जैसे अविकसित देश जहाँ प्राकृतिक साधन तो प्रचुर हैं किन्तु जिनका तीव्र गति से विकास करने के लिए यथोचित प्रौद्योगिकी (technology) का विकास नहीं हुआ है, और जहाँ श्रम शक्ति का एक महत्त्वपूर्ण अंग बेरोजगार है, वहाँ जनसंख्या नीति का स्पष्ट आधार जन्म दर पर नियन्त्रण अथवा निरोध सम्बन्धी उपाय काम में लाना होना चाहिए।

३. वर्तमान जनसंख्या नीति

भारत की वर्तमान जनसंख्या नीति का उद्देश्य जनसंख्या वृद्धि दर को कम करना है। इस नीति के उद्देश्य तथा लक्ष्य निम्नलिखित हैं :

(i) आगामी दस वर्षों के अन्दर जन्म-दर को ४१ प्रति हजार वार्षिक से घटाकर २० या २५ करना है। (यह उल्लेखनीय है कि जापान सन् १९४७—१९५७ के बीच दस वर्षों में ही जन्म-दर को आधा करने में समर्थ हुआ परन्तु जापान में ९८% जनसंख्या शिक्षित है।)

(ii) देश के अधिक से अधिक विवाहित स्त्री तथा पुरुष में परिवार नियोजन विधियों को प्रोत्साहित करना।

(iii) जिस दम्पति की ३ सन्तानें हैं उन्हें अपना ऑपरेशन कराने के लिए प्रोत्साहित करना।

(iv) सरकार ने जून १९७१ में एक कानून पास किया है जिसके अनुसार अनेक परिस्थितियों में गर्भपात को कानूनी मान लिया गया है। इससे भी जनसंख्या सीमित करने में सहायता मिलेगी।

४ परिवार नियोजन तथा योजनाएँ

प्रथम योजना के समय ही यह अनुभव किया गया था कि देश में विकास का सामान्य स्तर उपलब्ध करने के लिए भारतीय परिवारों द्वारा अपनी संख्या सीमित रखने के योजनाबद्ध प्रयत्न किये जाने चाहिए। परिवार नियोजन की आवश्यकता स्त्रियों के स्वास्थ्य तथा बच्चों के उचित पालन पोषण की दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण है। अत इसका प्रचार परिवार के कल्याण की दृष्टि से करने का निश्चय किया गया।

उपर्युक्त निश्चय के अनुसार प्रथम दो योजना के दस वर्षों में ग्राम तथा नगरों में परिवार परिसीमन के प्रचार के अतिरिक्त २,१३६ परिवार नियोजन केन्द्र स्थापित किये गये जिनमें दो बालकों के बीच की अवधि में वृद्धि करने, गर्भाधान रोकने तथा अन्य समस्याओं के सम्बन्ध में निःशुल्क सलाह देने की व्यवस्था है। इसके अतिरिक्त अनेक स्थानों पर गर्भ निरोधक ऑपरेशन करने की व्यवस्था की गयी है। चिकित्सकों तथा नर्सों को भी परिवार नियोजन सम्बन्धी प्रशिक्षण किसी न किसी रूप में अनिवार्य कर दिया गया है।

तृतीय योजना—प्रथम दो योजनाओं के अन्तर्गत परिवार परिसीमन का कार्यक्रम विशेष प्रगति नहीं कर सका क्योंकि न केवल यह कार्य प्रारम्भिक अवस्था में था बल्कि अनेक प्रभावशाली व्यक्ति इसके विरुद्ध थे। आज भी यह विरोध किसी न किसी रूप में चल रहा है किन्तु इसका प्रभाव कम हो गया है। गत वर्षों में समाजशास्त्रियों द्वारा किये गये अनेक सर्वेक्षणों से यह प्रकट हुआ है कि ग्रामवासी भी परिवार परिसीमन करना तो चाहते हैं किन्तु उन्हें यथेष्ट साधन उपलब्ध न होने के कारण वह इस दिशा में शान्त हैं।

इन बातों को ध्यान में रखते हुए तथा जनसंख्या की वृद्धि की गति अधिक तीव्र होने के कारण योजना आयोग को तृतीय योजना के अन्तर्गत परिवार परिसीमन की विस्तृत व्यवस्थाएँ करनी पड़ीं जो निम्नलिखित थीं

(१) परिवार परिसीमन के सम्बन्ध में जन जागरण को प्रोत्साहित करना।

(२) जन्म-निरोधक वस्तु उपकरणों सम्बन्धी खोज कर उन्हें वितरित करने की व्यवस्था करना।

(३) गर्भ-निरोध सम्बन्धी ऑपरेशनों के अधिक केन्द्र स्थापित करना।

(४) जनसंख्या तथा परिवार परिसीमन सम्बन्धी शोध-कार्य को प्रोत्साहित करना।

तृतीय योजनाकाल में 'परिवार नियोजन' पर २४.९ करोड़ रुपये व्यय किये गये। योजना के अन्त में (मार्च १९६६) भारत में लगभग ११,००० परिवार नियोजन केन्द्र खोले जा चुके थे।

गत वर्षों में परिवार नियोजन पर विशेष ध्यान दिया गया है। निम्नलिखित सारणी द्वारा परिवार-नियोजन सम्बन्धी व्यय का अनुमान लगाया जा सकता है

भारत में परिवार नियोजन पर व्यय

(करोड़ रुपयों में)

अवधि	तृतीय योजना	१९६६-६७	१९६७-६८	१९६८-६९	१९६९-७०
व्यय	२४.९	१४.५	२८.४	३१.४	४१.९

चतुर्थ योजनाकाल (१९६९-७० से १९७३-७४) में परिवार नियोजन पर ३१५ करोड़ रुपये व्यय करने का प्रावधान किया गया है। चतुर्थ योजना का लक्ष्य जन्म दर प्रति हजार ३९ से घटाकर सन् १९७३-७४ तक ३२ प्रति हजार करना है।

कानपुर की सरकारी प्लास्टिक फैक्टरी में ३० हजार लूप प्रतिदिन तैयार किये जाते हैं। त्रिवेन्द्रम (तिरुवनन्तपुरम्) में परिवार नियोजन साधनों के निर्माण के लिए एक कारखाना बनाया जा रहा है।

परिवार परिसीमन योजना में कमियाँ—भारत में परिवार परिसीमन योजना का वास्तविक प्रभाव नगरों तक पहुँच पाया है। फलतः परिवार नियोजन सम्बन्धी सुविधाओं का लाभ नगरों के शिक्षित वर्ग ने ही उठाया है। योजना आयोग द्वारा प्रकाशित किया गया प्रचार साहित्य प्रायः ग्रामों तक पहुँचता ही नहीं है और यदि पहुँच जाता है तो देहाती जनता उनके बारे में पूरी जानकारी न होने से उनका लाभ नहीं उठाती।

(i) **रीतियाँ**—गर्भ-निरोध अथवा परिवार परिसीमन के लिए सुझायी गयी रीतियाँ प्रायः विदेशी औषधि विज्ञान पर आधारित हैं तथा वह सभी इतनी महँगी हैं कि सामान्य नागरिक अथवा ग्रामीण उन्हें खरीदने में कठिनाई अनुभव करता है। इसके अतिरिक्त इन रीतियों से सम्बन्धित औषधियाँ तथा उपकरण सभी स्थानों पर सरलता से उपलब्ध नहीं होते।

(ii) भारत की जनता में ऑपरेशन अथवा शल्य चिकित्सा के प्रति एक अज्ञात भय रहता है। इसका कारण यह है कि यहाँ के डाक्टर कुशल होते हुए भी यथेष्ट सतर्कता से ऑपरेशन नहीं करते। अतः गर्भनिरोधक ऑपरेशनों के लिए अधिक उत्तरदायी एवं सतर्क डॉक्टरों की नियुक्ति करना चाहिए ताकि एक भी ऑपरेशन में गड़बड़ होने की आशंका न रहे।

(iii) **जन-सहयोग**—भारत में अशिक्षा, अज्ञानता एवं रूढ़िवाद से युक्त अन्धकारमय वातावरण होने के कारण परिवार परिसीमन के प्रति जनता का यथेष्ट उत्साह नहीं है। लोग वंश-परम्परा से ही 'सन्तति को ईश्वर की देन' स्वरूप मानते हैं और उसमें हस्तक्षेप करने में संकोच करते हैं।

वास्तव में, उपर्युक्त सभी कमियों को उत्साह एवं लगनपूर्वक कार्य करने से दूर किया जा सकता है।

परिवार नियोजन सम्बन्धी सुधार—भारत में परिवार नियोजन के कार्य को युद्धस्तरीय महत्त्व देकर कार्यान्वित करने की आवश्यकता है। परिवार नियोजन के प्रचार के लिए अत्यधिक उत्साह वाले, राष्ट्रीय विचारों से युक्त एवं प्रभावशाली व्यक्तियों को रखा जाना चाहिए जो गाँव-गाँव में जाकर फिल्म प्रदर्शन, भाषण, गीत तथा प्रचार साहित्य की सहायता से इस योजना को सफल बनाने की चेष्टा कर सकें। परिवार नियोजन की सफलता के लिए निम्नलिखित सुझाव दिये जा सकते हैं :

(१) **राष्ट्रीय महत्त्व**—इस कार्यक्रम को राष्ट्रीय महत्त्व का समझा जाय तथा इसे प्राथमिकता के आधार पर क्रियान्वित किया जाय।

(२) **उचित प्रचार व्यवस्था**—इस कार्यक्रम के प्रचार के लिए सिनेमा, फिल्म-प्रदर्शन, गीत, भाषण-मालाएँ तथा प्रचार साहित्य का प्रयोग किया जाना चाहिए। यह सब कार्य पंचायतों तथा सामुदायिक विकास संगठनों के तत्त्वावधान में किये जाने चाहिए।

(३) **सस्ते साधन**—सरकार को चाहिए कि जन्म निरोध के लिए सस्ते उपकरण तथा औषधियों की व्यवस्था करे तथा उन्हें पंचायतों अथवा सहकारी समितियों के कार्यालयों के माध्यम से वितरित करने की व्यवस्था की जाय।

(४) **चलिष्णु चिकित्सालय**—उपर्युक्त सुविधाओं के अतिरिक्त राज्य सरकारों द्वारा चलिष्णु चिकित्सालय (mobile clinics) चालू करने चाहिए जिनमें गर्भ-निरोधक ऑपरेशन की व्यवस्था हो तथा अन्य औषधि एवं उपकरण देने की व्यवस्था हो।

(५) **अन्य सुविधाएँ**—परिवार नियोजन का सम्बन्ध देश की सम्पूर्ण सामाजिक स्थिति एवं मान्यताओं पर आधारित है अतः इसकी सफलता के लिए देश में शिक्षा का अधिकाधिक विकास करने की आवश्यकता है। नगरों तथा ग्रामों में आवास की सुविधाओं में सुधार किया जाना चाहिए तथा जनता के मनोरंजन के लिए नये-नये उपकरण उपलब्ध कराये जाने चाहिए।

सक्षेप मे, यह कहा जा सकता है कि परिवार परिसीमन के सम्बन्ध मे सरकारी नीति अव्यवस्थित एव असन्तोषजनक रही है, उसे अधिक व्यावहारिक तथा कार्यशील बनाने की आवश्यकता है।

आर्थिक सहायता—भारत सरकार द्वारा परिवार नियोजन सम्बन्धी निम्नलिखित कार्यों के लिए आर्थिक सहायता प्रदान की जा रही है :

(१) ऑपरेशन कार्य मे डाक्टरो को प्रशिक्षित करना।

(२) तालुका स्तर पर अस्पतालो को साधन-सम्पन्न करना। इस कार्य के लिए सरकार १०,००० रुपये तक सहायता देती है।

(३) राज्य सरकारें समय-समय पर परिवार नियोजन सम्बन्धी ऑपरेशन कैम्प लगाती हैं। उनम काम करने वाले सर्जनो के लिए प्रति दस ऑपरेशन पर १०० रुपये प्रतिदिन की सहायता देना।

(४) ऑपरेशन करवाने वाले केन्द्रीय सरकार के कर्मचारियो को छ दिन का विशेष आकस्मिक अवकाश मिलता है।

कुछ राज्य सरकारें ऑपरेशन करवाने वाले व्यक्तियो को १० से ३० रुपये तक आर्थिक अनुदान भी दे रही है।

चतुर्थ योजना तथा जनसख्या—चतुर्थ योजनाकाल मे जनसख्या म वृद्धि लगभग २ ५ प्रतिशत वार्षिक दर से होगी। इसके पश्चात वृद्धि दर मे धीरे-धीरे कमी होगी तथा १९८०-८१ तक जनसख्या वृद्धि दर घटकर १ ७ प्रतिशत वार्षिक हो जायगी। यह अनुमान इस आधार पर लगाया गया है कि सन् १९७० मे जन्म-दर प्रति हजार ३९ थी जो घटकर सन १९८०-८१ मे २५ हो जायगी। इसी अवधि मे मृत्यु-दर १४ मे घटकर ९ प्रति हजार हो जायगी। उस समय भारत की जनसख्या ८९ करोड हो जायगी। परन्तु यदि वर्तमान गति स ही जनसख्या बढती रही तो बीसवी शताब्दी के अन्त मे भारत की जनसख्या ११५ करोड होने का भय है। अत योजनाकाल मे परिवार परिसीमन पर युद्ध स्तर पर जोर दिया जायगा। चतुर्थ योजना मे परिवार परिसीमन तथा जन-सख्या नियन्त्रण सम्बन्धी कार्यक्रमो के लिए कुल ३१५ करोड रुपये की राशि का प्रावधान किया गया है।

उपसहार—प्रस्तुत अध्याय मे किय गये विवेचनो से यह सार निकलता है कि भारतीय जनसख्या सख्यात्मक दृष्टि स अवश्य ही सबल है किन्तु गुणात्मक दृष्टि से वह अत्यन्त दुर्बल अवस्था मे है। यह सख्यात्मक सबलता देश के आर्थिक विकास मे बहुत बाधक है अत इसकी भावी वृद्धि पर शक्तिशाली ढग से रोक लगाना आवश्यक है, अन्यथा देश की जनता के स्वास्थ्य, आय तथा जीवन-स्तर मे कभी पर्याप्त सुधार होना सम्भव नही होगा। जनसख्या की वृद्धि की गति कम करने के लिए देश मे शिक्षा का विकास बहुत तीव्र गति से करना आवश्यक है ताकि जनता का मानसिक विकास हो सके और वह राष्ट्र-कल्याण के लिए बनायी गयी योजनाओ मे तन, मन, धन से सक्रिय सहयोग दे सके।

प्रश्न

१ "भारत की सबसे कठिन समस्या उसकी तेजी से बढती हुई जनसख्या है।" समझाइए। इसको रोकने के लिए सरकार ने क्या उपाय किय हैं ? अपने सुझाव दीजिए।

(आगरा, बी० कॉम, १९६२, विक्रम, बी० कॉम०, १९६४)

२ भारत मे जनसख्या के व्यावसायिक वितरण का परीक्षण कीजिए और इससे देश की निर्धनता का क्या सम्बन्ध है, बतलाइए। अपने उत्तर की पुष्टि अकों द्वारा कीजिए।

(राजस्थान बी० ए०, १९५८)

३ भारत में जनसंख्या की समस्या का विवेचन कीजिए तथा इसके समाधान के लिए उचित सुझाव दीजिए। (विक्रम, बी० ए०, १६६१)

४ क्या भारत में जनसंख्या का आधिक्य है? क्या पंचवर्षीय योजनाओं से स्थिति में सुधार होगा? (आगरा, बी० ए०, १६५५)

५ भारत में जनसंख्या की तीव्र गति से वृद्धि होने के कारणों का उल्लेख कीजिए। इसे रोकने के लिए क्या उपाय करने चाहिए? (आगरा, बी० ए०, १६६३)

६ भारत में 'परिवार नियोजन' पर एक टिप्पणी लिखिए।

७ भारत सरकार की जनसंख्या नीति का विश्लेषणात्मक विवेचन कीजिए। (भागलपुर, बी० ए०, १६६३)

८ भारत की जनसंख्या सम्बन्धी समस्या का विवेचन कीजिए। देश की जनसंख्या सम्बन्धी नीति क्या होनी चाहिए। (गोरखपुर, बी० ए०, १६६२)

4 सामाजिक एवं धार्मिक संस्थाएँ

(SOCIAL AND RELIGIOUS INSTITUTIONS)

"It is possible for a nation to stifle its economic growth by adopting passionately and intolerably religious doctrines of a king which are incompatible with growth. Or it is possible, alternatively, for conversion to a new faith to be the spark which sets off economic growth." —**W. A. Lewis**

सामाजिक वातावरण तथा आर्थिक विकास
(ECONOMIC DEVELOPMENT AND SOCIAL ENVIRONMENT)

आर्थिक विकास विभिन्न आर्थिक तथा सामाजिक घटकों का परिणाम है। अतः किसी भी देश के आर्थिक विकास के लिए अनुकूल आर्थिक एवं सामाजिक परिस्थितियों का पाया जाना आवश्यक है। वस्तुतः सामाजिक परिस्थितियों का आर्थिक विकास में महत्वपूर्ण हाथ होता है। सामाजिक वातावरण आर्थिक विकास के लिए आवश्यक पृष्ठभूमि प्रस्तुत करता है। आर्थिक विकास की गति विभिन्न घटकों या तत्वों पर निर्भर है, जो किसी अर्थ व्यवस्था के मनोवैज्ञानिक तथा सामाजिक वातावरण से सम्बन्धित है। इस वातावरण में एक प्रमुख तत्व समाज की उन्नति करने की इच्छा, विकास के प्रति तत्परता तथा नवीन तथा अधिक कुशल उत्पादन विधियों का प्रयोग है। यदि कोई समाज शिक्षित, प्रगतिशील तथा महत्वाकांक्षी है तो उसका आर्थिक विकास तेजी से होगा। जर्मनी, जापान तथा ब्रिटेन इसके ज्वलन्त उदाहरण हैं। प्राकृतिक साधनों की कमी होते हुए भी जापान विश्व का प्रमुख औद्योगिक देश है। विज्ञान प्रेमी जर्मन निवासियों ने पन्द्रह वर्षों के ही अन्दर युद्ध-जर्जरित जर्मनी का विकास कर संसार को आश्चर्यचकित कर दिया तथा जर्मनी के आर्थिक विकास को आर्थिक जादू (economic miracle) की संज्ञा दी गयी। विकास की तीव्र इच्छा तथा नियोजित ढंग पर सतत प्रयत्नों द्वारा रूस पचास वर्षों के अन्दर विश्व के सर्वश्रेष्ठ राष्ट्रों की श्रेणी में आ गया है। धार्मिक अन्धविश्वास से ग्रस्त टर्की में सामाजिक परिवर्तन द्वारा कमाल पाशा ने टर्की को एक उन्नतिशील आधुनिक राष्ट्र बना दिया। संयुक्त राज्य अमरीका जो प्रथम विश्वयुद्ध तक एक ऋणी देश था, आज संसार का सबसे धनी देश है। इन सभी देशों के आर्थिक विकास में वहाँ के सामाजिक वातावरण का महत्वपूर्ण योगदान रहा है। अनुकूल सामाजिक परिस्थितियाँ आर्थिक विकास को गति प्रदान करती हैं।

आर्थिक विकास के लिए आवश्यक सामाजिक शर्तें
(SOCIAL PRE-REQUISITES FOR ECONOMIC DEVELOPMENT)

आर्थिक विकास के लिए उपर्युक्त सामाजिक वातावरण आवश्यक है। प्रतिकूल सामाजिक वातावरण के होते हुए भी आर्थिक विकास हो सकता है परन्तु ऐसी दशा में विकास की गति बहुत मन्द होगी। विकास के लिए सामाजिक वातावरण में परिवर्तन भी आवश्यक है।

आर्थिक विकास के लिए किस प्रकार का सामाजिक वातावरण अधिक अनुकूल है, इसके सम्बन्ध में निश्चित मापदण्ड नहीं है। फिर भी सामान्य रूप से यह कहा जा सकता है कि आर्थिक विकास के लिए वह सामाजिक वातावरण अधिक उपयुक्त होता है जो नागरिकों के दृष्टिकोण को (i) भौतिकवादी, (ii) व्यक्तिवादी, तथा (iii) विवेकपूर्ण बनाता है और उनमें जोखिम उठाने की प्रवृत्ति को जन्म देता है।

(i) **भौतिकवादी दृष्टिकोण** (Materialistic Outlook)—जिस देश के नागरिकों का दृष्टिकोण भौतिकवादी होता है, जो इस संसार की सरता में विश्वास रखते हैं विभिन्न साधनों को अर्जित कर सुखमय जीवन व्यतीत करना चाहते हैं तथा अधिक से अधिक आवश्यकताओं की पूर्ति करना चाहते हैं, उस देश का आर्थिक विकास तेजी से किया जा सकता है। इसके विपरीत, जिस देश का समाज अध्यात्मवादी तथा भौतिक आवश्यकताओं को कम करने में विश्वास रखने वाला होता है, वह देश सामान्यत मन्द गति से विकसित होता है। ब्रिटेन तथा भारत इन दोनों प्रकार के दृष्टिकोणों के उदाहरण हैं।

(ii) **व्यक्तिवादी** (Individualism)—जिस देश में सामाजिक बन्धन ढीले होते हैं, व्यक्ति को काम करने तथा व्यवसाय अपनाने की स्वतन्त्रता होती है उस देश के नागरिक अधिक अध्यवसायी होते हैं, सभी व्यक्ति अपने विकास के लिए प्रयत्नशील रहते हैं, इस प्रकार पूरे समाज की उन्नति होती है। इसके विपरीत, जिस समाज में व्यक्ति को सामाजिक स्वतन्त्रता नहीं होती, व्यक्ति का पेशा उसकी कुशलता तथा योग्यता के द्वारा निर्धारित नहीं होता बल्कि जाति या जन्म से निर्धारित होता है वह समाज तेजी से विकास नहीं कर सकता।

(iii) **जोखिम उठाने की प्रवृत्ति** (Adventurism)—जिस देश के नागरिकों में जोखिम उठाने की प्रवृत्ति होती है, उस देश का विकास तेजी से होता है। ब्रिटेन इसका उदाहरण है। शताब्दियों पूर्व ही, जबकि अधिकांश देशों के नागरिक दूसरे देशों में जाने से डरते थे, ब्रिटेन निवासियों ने दूर-दूर के देशों से व्यापारिक सम्बन्ध स्थापित किया तथा जान की बाजी लगाकर व्यापारिक मार्गों का पता लगाया और सदैव गतिशील रहे। इसका परिणाम यह हुआ कि ब्रिटेन उन्नीसवीं शताब्दी का सर्वश्रेष्ठ राष्ट्र बन गया तथा आधे विश्व पर साम्राज्य स्थापित किया। इसके विपरीत, भारत के लोगों में जोखिम उठाने की प्रवृत्ति कम है। यहाँ के उद्योगपतियों ने उसी उद्योग की स्थापना की जिसमें शीघ्र व अधिक लाभ हो। परिणाम यह हुआ कि देश में उत्पादक वस्तु-उद्योगों (producer's goods industries) की स्थापना नहीं की गयी जो आर्थिक विकास के लिए नींव का काम करते हैं। भारतीयों में गतिशीलता भी कम रही है।

(iv) **विवेकशीलता** (Rationalism)—जो समाज व्यक्ति को विवेकशील तथा विज्ञान-प्रेमी बनाता है, उस देश का विकास तेजी से होता है। इसके विपरीत, जो समाज व्यक्ति को परम्परावादी तथा रूढ़िवादी बनाता है, उसका विकास कम होता है। धार्मिक अन्धविश्वास व पुरानी धार्मिक मान्यताएँ समाज को आगे नहीं बढ़ने देती हैं।

भारत इसका जीता-जागता उदाहरण है। कुछ समय पूर्व भारत में विदेशी यात्रा को पाप माना जाता था। हमारी आर्थिक क्रियाएँ धार्मिक मान्यताओं द्वारा शासित होती थीं। आज भी फसलों को नष्ट करने वाले बन्दरों व जगली जानवरों को मारना पाप समझा जाता है। बहुत से किसान उत्पादन-वृद्धि के लिए हड्डी व मछली की खाद का प्रयोग नहीं करते चाहे उत्पादन कितना ही कम क्यों न हो।

भारत में हिन्दू धर्म भाग्यवाद का समर्थक है। वह सासारिक वस्तुओं के त्याग पर जोर देता है। एक सामान्य हिन्दू अपनी वर्तमान कठिनाइयों तथा परिस्थितियों को ईश्वर-प्रदत्त तथा पूर्वजन्म के कर्मों का फल मानता है। अत वह परिस्थितियों को बदलना दैवी इच्छा के प्रतिकूल

मानता है। व्यक्ति जिस स्थिति म है, उसी मे सन्तुष्ट रहने पर जोर देता है। इस प्रवृत्ति का परिणाम यह है कि देश आर्थिक दृष्टि से पिछडा हुआ है।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि सामाजिक वातावरण आर्थिक विकास को प्रभावित करता है। अनुकूल सामाजिक वातावरण आर्थिक विकास को गति प्रदान करता है। धार्मिक सस्थाएँ तथा धार्मिक नियम व्यक्ति को अनुशासन के अन्तर्गत कार्य करने की प्रेरणा देते हैं। साथ ही साथ यह स्मरणीय है कि आर्थिक विकास भी सामाजिक वातावरण को प्रभावित करता है। आर्थिक विकास के साथ ही साथ सामाजिक परिवर्तन भी होता रहता है। आर्थिक विकास तथा सामाजिक वातावरण मे से कौन एक-दूसरे को अधिक प्रभावित करता है, यह कहना बहुत कठिन है। सामाजिक परिवर्तन धीरे धीरे होते हैं। परम्परागत मान्यताओं तथा दृष्टिकोण को बदलना बडा कठिन कार्य है। यदि कानून द्वारा तथा जबरदस्ती से सामाजिक परिवर्तन लाये जाएँ तो अर्थ-व्यवस्था को क्षति उठानी पड सकती है, जैसा कि चीन मे हो रहा है। वस्तुत सामाजिक क्रान्ति जन समूह पर लादी नही जा सकती अत सामाजिक परिवर्तन धीरे धीरे होना चाहिए और उसके लिए शक्तिशाली वातावरण का निर्माण किया जाना चाहिए।

भारतीय सामाजिक सगठन के मुख्य तत्त्व

भारतीय सामाजिक सगठन का अध्ययन करने पर उसके कुछ तत्त्व उभर कर ऊपर आ जाते हैं। इन तत्वो का हम भारत के आर्थिक विकास पर प्रभाव की दृष्टि से ही विचार करेंगे। यह तत्त्व निम्नलिखित हैं

(१) जाति-प्रथा,
(२) सयुक्त परिवार प्रणाली,
(३) उत्तराधिकार के नियम,
(४) धार्मिक अन्धविश्वास,
(५) सामाजिक रीति रिवाज,
(६) दार्शनिक दृष्टिकोण।

१ जाति प्रथा

जाति-प्रथा का उदय आवश्यकता के कारण हुआ। आर्यों को निरन्तर युद्ध लडने पडते थे तथा शासन सचालन करना पडता था। अत युद्ध के लिए विभिन्न शस्त्र चलाने आदि की शिक्षा तथा शासन सचालन के लिए नीतिशास्त्र का ज्ञान बहुत आवश्यक था। अत शास्त्र एव नीति विशारद पण्डितो को यह काम सौंपा गया और उन्हें ब्राह्मण की सज्ञा दी गयी। जो व्यक्ति सबल होते थे उन्हें युद्ध मे जाकर लडना पडता था अत उन्हें क्षत्रिय नाम से पुकारा गया। युद्ध सचालन एव जनता की दैनिक आवश्यकता की पूर्ति के लिए खेती और व्यापार करना बहुत आवश्यक था। जिन व्यक्तियो को इस दिशा मे रुचि थी उन्हें वैश्य कहा गया तथा शेष व्यक्तियो को जो योग्यता अथवा शक्ति की दृष्टि से अन्य सबसे घटिया थे, शूद्र घोषित किया गया। इनका कार्य तीनो वर्गों की सेवा करना निश्चित किया गया।

कर्म-अनुसार—मनु द्वारा किया गया यह वर्गीकरण बहुत कुछ श्रम-विभाजन मात्र था, अर्थात् जो व्यक्ति जिस कार्य के योग्य होता उसे उसी जाति की सज्ञा दे दी जाती थी। इस वर्गीकरण मे बहुत जडता भी नही थी क्योंकि एक जाति का व्यक्ति दूसरे कार्य मे दक्ष होने पर जाति बदल लेता था। किन्तु कालान्तर मे जाति कर्म स नही बल्कि जन्म के अनुसार मानी जानी आरम्भ हो गयी। फलत विभिन्न जातियो के मौलिक रूप मे जडता आ गयी। इन जातियो म कार्य के अनुसार चमार, लुहार, सुनार, कुम्हार, तेली आदि अनेक उपजातियो का उदय हो गया। उच्च जातियाँ शूद्रों स घृणा करने लगी और उन्हें छूना भी हेय समझा जाने लगा। फलत उच्च जातियों में आपस मे भी विवाद उत्पन्न हो गये और समाज अनेक छोटे-छोटे वर्ग समूहों मे विभाजित हो गया।

आर्थिक लाभ—प्रारम्भिक अवस्था में जाति-प्रथा से आर्थिक विकास को काफी लाभ पहुँचा, जिसका अनुमान निम्नलिखित तथ्यों से किया जा सकता है

(१) **आर्थिक श्रम-विभाजन**—जाति-प्रथा के कारण समाज के विभिन्न वर्गों ने अपनी-अपनी रुचि के अनुसार अपने पेशे निश्चित कर लिए। फलत विभिन्न व्यवसायों की प्रगति सुचारु रूप से होती रही क्योंकि प्रत्येक व्यवसाय विशेषज्ञ द्वारा सचालित था। कहीं कहीं तो कोई व्यवसाय उस स्थान के नाम से प्रसिद्ध हो गये जैसे ढाका की मलमल, लखनऊ और बनारस की सोने-चाँदी की कढ़ाई आदि। इन स्थानों पर ख्यातिप्राप्त कार्य प्राय एक ही वर्ग के लोग करते रहे हैं।

(२) **कौशल में वृद्धि**—जाति प्रथा के कारण अनेक व्यवसाय वश-परम्परा से चलते हैं क्योंकि इनसे सम्बन्धित कलाओं का प्रशिक्षण पिता से पुत्र को प्राप्त होता रहता है।

(३) **रोजगार की समस्या**—जाति-प्रथा के कारण बालकों को नवयुवक होते ही व्यवसाय अथवा रोजगार खोजने की आवश्यकता नहीं थी। इसका परिणाम यह था कि समाज में आर्थिक असन्तोष उत्पन्न नहीं होता था और विभिन्न व्यवसायों में श्रम आन्दोलन अथवा हड़ताल की समस्या भी उत्पन्न नहीं होती थी।

(४) **आर्थिक सहयोग**—प्राय ऐसा देखा गया कि यदि जाति का एक व्यक्ति व्यवसाय अथवा उद्योग में उन्नति कर लेता तो वह दूसरे जाति बन्धुओं को अपने सहयोग से ऊँचा उठाने की चेष्टा करता था। इस प्रकार सक्रिय सहयोग द्वारा जाति के सभी व्यक्तियों को उन्नति करने का अवसर मिल जाता था।

जाति-प्रथा का दुष्प्रभाव—प्रारम्भिक अवस्था में जाति-प्रथा ने भले ही सामाजिक सगठन को एक सूत्र में पिरोकर राष्ट्रीय एकता में सहयोग दिया हो किन्तु इसके रूढ़िवादी बन्धन इतने जड एवं अमानवीय हो गये हैं कि वह समाज के उज्ज्वल मस्तक पर एक कलक का टीका मात्र रह गयी है। आर्थिक विकास में भी जाति प्रथा के कारण बहुत बाधाएँ आयी हैं जिनका ब्यौरा निम्नलिखित है

(१) **स्पर्द्धात्मक भावना की कमी**—उद्योग तथा व्यवसाय की उन्नति एवं कुशलता के लिए बौद्धिक स्पर्द्धा सदा लाभदायक होती है क्योंकि समाज के योग्यतम व्यक्ति नवीन परम्पराओं का आविष्कार करते रहते हैं। जाति-प्रथा में प्रत्येक व्यक्ति अपने वश-परम्परागत व्यवसाय को अपनाता रहा है जिससे पुरानी पीढ़ी के लोग नये आविष्कारों में कोई रुचि न रखने के कारण प्रत्येक परिवर्तन में बाधक रहे हैं फलत व्यवसाय एवं उद्योगों का ढाँचा रूढ़िवादी तथा पुरातनपन्थी रहा है जिससे विकास की गति अवरुद्ध रही है।

(२) **उचित प्रोत्साहन का अभाव**—जाति-प्रथा की जड़ता के कारण अधिक कुशल नवयुवक अधिक जोखिम तथा लाभदायक व्यवसायों में नहीं जा सकते थे फलत उनके बौद्धिक कौशल का यथोचित लाभ देश की व्यावसायिक उन्नति के लिए प्राप्त नहीं हो सकता था।

(३) **गतिशीलता में बाधा**—जाति-प्रथा ने देश के युवकों की क्रियाशील शक्तियों को अपने घर तथा दुकान अथवा दुकान अथवा नगर विशेष तक केन्द्रित कर दिया। एक चमार का बालक लुहार या सुनार का पेशा नहीं अपना सकता था और न ही वह अपने नगर को छोड़कर दूसरे नगर में जा सकता था।

(४) **बड़े पैमाने पर उत्पादन का अभाव**—जाति प्रथा के कारण एक वर्ग के लोग दूसरे वर्ग के व्यवसाय अथवा उद्योगों में पूँजी विनियोजन नहीं कर सकते थे अत भारत में वर्षों तक उद्योग तथा व्यवसाय का आकार बहुत छोटा रहा जिससे आर्थिक उन्नति कुण्ठित रही है।

(५) **श्रम को यथोचित महत्व नहीं**—जाति प्रथा के कारण समाज ऐसे वर्गों में विभाजित हो गया है जिसमें कुछ वर्गों को आदर का स्थान प्राप्त है तथा अन्य को हीन दृष्टि से देखा जाता है।

इसके परिणामस्वरूप एक ब्राह्मण पुत्र यदि अपनी सामाजिक प्रतिष्ठा के अनुरूप नाम के योग्य नही हो तो वह दर्जी, लुहार या अन्य किसी व्यवसाय को नही अपना सकता। इस प्रकार जातिवाद की कुत्सित भावना ने अनेक युवको को यथोचित व्यवसाय से वचित कर रखा है जिसके परिणामस्वरूप समाज का नैतिक धरातल एव आर्थिक स्तर ऊँचा नही उठ सका है।

(६) **सामाजिक अन्याय को बल**—जाति प्रथा के कारण अनेक व्यवसाय तथा उद्योगों मे अधिकारी वर्ग अपनी जाति के व्यक्तियो को ही नियोजित करना चाहते हैं जिसके परिणामस्वरूप योग्य एव कुशल व्यक्तियो को यथोचित कार्य तथा पारिश्रमिक नही मिल पाता। इस सामाजिक अन्याय का प्रभाव सम्बन्धित उद्योग तथा व्यवसाय पर भी पडता है क्योकि सिफारिश अथवा पक्षपात के आधार पर चुने गये व्यक्ति प्राय कम कुशल होते हैं जिससे व्यावसायिक इकाइयो की प्रगति सन्तोषजनक नही हो पाती।

(७) **सामाजिक कुरीतियों को प्रोत्साहन**—जाति-प्रथा के कारण समाज मे अनेक कुरीतियो का उदय हो गया है। उदाहरणत सभी जातियो मे जन्म, विवाह तथा मृत्यु पर किये जाने वाले व्यय प्राय परम्पराओ से निश्चित हो गये हैं और अपनी सामाजिक प्रतिष्ठा बनाये रखने के लिए प्रत्येक व्यक्ति को इन खर्चों का भार उठाना पडता है।

(८) **अमानवीय**—जाति-प्रथा की आधारभूत धारणा ही ऊँच-नीच की सकीर्ण भावनाओ पर अवलम्बित है। मनुष्यमात्र मे भेदभाव करना मानवता का अपमान एव राष्ट्रीय एकता के सर्वथा विरुद्ध है। जिस देश मे रोजगार, स्वास्थ्य सुविधाएँ, सामाजिक तथा राजनीतिक पद केवल रगभेद अथवा जाति के आधार पर दिये जायें तथा योग्यता, परिश्रम एव सद्प्रयत्नो को यथेष्ट महत्व प्राप्त नही हो आर्थिक एव सामाजिक असमानताओ की बेडियो से जकडा हुआ वह राष्ट्र नरक क समान है। उस देश का नैतिक, सामाजिक तथा आर्थिक ढाँचा कभी उन्नत नही हो सकता।

जाति-प्रथा के पतन की प्रवृत्तियां—गत वर्षों मे भारत मे जाति-प्रथा के पतन की प्रवृत्तियाँ दृष्टिगोचर होने लगी हैं। अनेक नवयुवक ऊँची शिक्षा प्राप्त करने के लिए विदेशो मे जाने लगे हैं, अन्तर्जातीय ही नहीं बल्कि अन्तर्देशीय विवाह होने लगे हैं, उच्च एव नीच वर्ण की भावनाएँ समाप्त हो चली हैं तथा अनेक क्षेत्रो मे जात-पांत की अभेद्य दीवारो का खुलआम उल्लघन होने लगा है। यह सामाजिक क्रान्ति का सकेत मात्र कहा जा सकता है।

२ सयुक्त परिवार प्रणाली

भारत मे प्राचीनकाल से ही सयुक्त परिवार-प्रणाली प्रचलित है। इसका यह अर्थ है कि एक परिवार के सभी पुरुष विवाह के पश्चात् भी साथ-साथ रहते हैं, सम्मिलित रूप मे भोजन करते हैं तथा परिवार के सदस्यो की आय, व्यय, ऋण, भुगतान तथा सम्पत्ति आदि सयुक्त रूप मे ही होते हैं। इस प्रकार की व्यवस्था मे परिवार का वयोवृद्ध व्यक्ति मुखिया अथवा कर्ता कहलाता है। यह परिवार के सदस्यो के सम्पूर्ण आय-व्यय का प्रबन्ध करता है तथा परिवार के सदस्यों मे उत्पन्न विवादो का निर्णय करता है।

सयुक्त परिवार प्रणाली के अन्तर्गत मुखिया की मृत्यु के पश्चात् भी सम्पत्ति का विभाजन नही होता बल्कि आयु की दृष्टि से सबसे बडा व्यक्ति मुखिया बन जाता है। इस व्यवस्था मे अधिक वृद्ध, अपग, कम लगाने वाले तथा विधवा स्त्रियो का भी पोषण होता रहता है। कभी-कभी परिवारो के सदस्यो मे आय अथवा व्यय को लेकर मतभेद उत्पन्न हो जाते हैं जिनका समाधान न होने पर घर कलह का अखाडा बन जाता है। विधवा विवाह प्रचलित न होने के कारण सयुक्त परिवार मे स्त्रियों का जीवन प्राय अत्यन्त दयनीय एव कष्टप्रद हो जाता है।

आर्थिक विकास में लाभ—सयुक्त परिवार प्रणाली अग्राकित दृष्टिकोणो से आर्थिक विकास मे सहयोग प्रदान करती है

(क) सामाजिक सुरक्षा—संयुक्त परिवार प्रणाली एक प्रकार के सामाजिक बीमे के समान है। परिवार में यदि कोई व्यक्ति बीमार अथवा अपंग हो जाता है तो परिवार के संयुक्त साधनों से उसको यथोचित सहायता मिल जाती है। उसकी सेवा-सुश्रूषा, दवा तथा पौष्टिक पदार्थों का व्यय तथा उस व्यक्ति के परिवार की देखभाल में कोई कठिनाई उत्पन्न नहीं होती। इसी प्रकार विधवा तथा असहाय स्त्रियों को निरन्तर संरक्षण एवं भरण-पोषण प्राप्त होता रहता है।

(ख) आय का सदुपयोग—संयुक्त परिवार में अधिक सदस्य होने के कारण पारिवारिक आवश्यकता की सभी वस्तुएँ इकट्ठी खरीदी जाती हैं। इससे उनका मूल्य प्रायः कम देना पड़ता है तथा उनकी किस्म भी अच्छी प्राप्त की जा सकती है। इसके अतिरिक्त भोजन एक स्थान पर बनने से ईंधन आदि खर्चों में भी कमी की जा सकती है। वस्तुतः संयुक्त परिवार प्रणाली में परिवार व्यवस्था में बड़े पैमाने के लाभ उठाए जा सकते हैं। इससे परिवार की आय का अधिक भाग बचाकर व्यवसाय तथा उद्योगों में विनियोजित किया जा सकता है जिससे राष्ट्र के आर्थिक विकास को बल मिलता है।

(ग) सम्पत्ति का स्थायित्व एवं श्रेष्ठ उपयोग—संयुक्त परिवार की सम्पत्ति एकत्रित रहने के कारण उस सम्पत्ति का विनाश होने की सम्भावनाएँ कम होती हैं क्योंकि उसकी मरम्मत तथा सुधार आदि के लिए साधनों का अभाव नहीं होता। दूसरे, सम्पत्ति एक स्थान पर केन्द्रित रहती है। अतः उसका अधिकतम लाभ उठाया जा सकता है।

(घ) सर्वोत्तम सहयोग—आधुनिक समाजवादी एक ऐसे समाज की कल्पना करते हैं जिसमें प्रत्येक व्यक्ति से उसकी सामर्थ्यानुसार काम लिया जायगा तथा प्रत्येक व्यक्ति को उसकी आवश्यकतानुसार पारिश्रमिक मिलेगा (from each according to his capacity and to each according to his needs)। संयुक्त परिवार प्रणाली इस सिद्धान्त का व्यावहारिक एवं मूर्त उदाहरण है क्योंकि इस व्यवस्था में सब व्यक्ति शक्ति के अनुसार काम करते हैं और पारिवारिक साधनों में से आवश्यकतानुसार प्राप्त करते हैं। यह प्रणाली पुरुष, स्त्री तथा बच्चों के सम्मिलित सहयोग का अपूर्व उदाहरण प्रस्तुत करती है।

(ङ) भावनात्मक एकता का प्रतीक—संयुक्त परिवार के सब सदस्य एक व्यक्ति के अनुशासन में मिल-जुलकर अपने तथा सबके सामूहिक हितों के लिए काम करते हैं। परिवारों की यह सामूहिक एकता अनेक परिवारों की सामूहिक एकता के रूप में तथा अनेक परिवारों की सामूहिक एकता सामाजिक एकता के रूप में, अन्ततोगत्वा यह राष्ट्रीय एकता के रूप में परिणत हो जाती है। वस्तुतः इस प्रकार की एकता के माध्यम से राष्ट्रीय हितों के अनेक ऐसे आर्थिक कार्य (नाना व्यापार तथा संयुक्त पूँजी वाली कम्पनियों का निर्माण अथवा सामूहिक उत्पादन आदि) सरलता-पूर्वक किये जा सकते हैं जिन्हें व्यक्तिवादी व्यवस्था में कर सकना कठिन है।

आर्थिक प्रगति में बाधाएँ—अनेक दृष्टिकोणों से लाभदायक होने पर भी संयुक्त परिवार प्रणाली आर्थिक विकास में कुछ बाधाएँ डालती है जो निम्नलिखित हैं

(क) श्रम की गतिशीलता में बाधक—संयुक्त परिवार प्रणाली के अन्तर्गत पारिवारिक स्नेह एवं लगन के कारण श्रमिक अपने घर से दूसरे स्थानों पर जाने में संकोच करते हैं। इससे उन स्थानों पर श्रमिकों का प्रायः अभाव रहता है जहाँ उनकी विशेष माँग होती है और कुछ स्थानों पर उनका बाहुल्य रहता है।

(ख) प्रोत्साहन का अभाव—संयुक्त परिवार प्रणाली में सब सदस्यों की आय एकत्र हो जाती है और सब पर व्यय भी सामूहिक रूप से किया जाता है, अतः अधिक परिश्रम द्वारा अधिक कमाने वाले व्यक्तियों को कोई विशेष लाभ या प्रोत्साहन नहीं मिलता। इससे कालान्तर में सभी व्यक्ति निरुत्साही हो जाते हैं और सामान्य रूप से ही कार्य करने लगते हैं।

(ग) क्रियात्मक वृत्ति का अन्त—सयुक्त परिवार प्रणाली मे परिवार के व्यवसाय अथवा आय व्यय के सम्बन्ध मे सभी निर्णय परिवार के मुखिया द्वारा किये जाते हैं अत युवको में नये कार्य आरम्भ करने का उत्साह प्राय समाप्त हो जाता है।

(घ) कलह का वातावरण—सयुक्त परिवार प्रणाली में प्राय भिन्न-भिन्न विचारो के व्यक्तियों को साथ रहना पडता है। नयी और पुरानी पीढी के व्यक्तियो मे विचार-भेद स्वाभाविक हैं जिसके फलस्वरूप अनेक परिवारो में विवाद एव कलह का वातावरण उत्पन्न हो जाता है। इस कलह के कारण परिवार के स्नेह, शान्ति एव सुख का अन्त हो जाता है और कुछ व्यक्ति सयुक्त परिवार से सम्बन्ध विच्छेद कर अलग होने को बाध्य हो जाते हैं।

सयुक्त परिवार प्रणाली का ह्रास—पाश्चात्य देशो मे विवाह के पश्चात् पुत्र अथवा भाई अपना घर अलग बसा लेते हैं और स्वतन्त्रतापूर्वक जीवनयापन करते हैं। इससे न केवल पति-पत्नी को स्वतन्त्र एव स्वछन्द जीवनयापन का अवसर मिलता है बल्कि वह अपने पारिश्रमिक के पूरे-पूरे लाभ का स्वय उपभोग करते हैं। वास्तव मे, आधुनिक शिक्षा प्रणाली के कारण नयी और पुरानी पीढी के पुरुषो तथा स्त्रियो मे विचार सामजस्य होना कठिन है। नयी पीढी के खान-पान, रहन-सहन तथा जीवन-निर्वाह स्तर बहुत बदल गये हैं अत नित्य-प्रति की कलह अथवा क्लेश से बचने के लिए युवक परिवार अपने माता-पिता से पृथक रहना ही श्रेयस्कर समझते हैं। आर्थिक आवश्यकताओ के दबावस्वरूप अनेक व्यक्तियो को नौकरी करने के लिए दूर-दूर तक जाना पडता है अत सयुक्त परिवार प्रणाली का स्वाभाविक विघटन हो रहा है।

३. उत्तराधिकार के नियम

इगलैण्ड तथा अन्य देशो मे पिता की मृत्यु के पश्चात् उसकी सम्पत्ति पर ज्येष्ठ पुत्र को ही अधिकार मिलता है। शेष व्यक्तियों को अपने पैरो पर ही खडा होना पडता है। यह प्रवृत्ति बहुत-कुछ भारत के राज्याधिकार नियम की भाँति है जिसके अनुसार राजा की मृत्यु के उपरान्त उसका ज्येष्ठ पुत्र ही उत्तराधिकारी होता था। भारत मे सम्पत्ति के विभाजन सम्बन्धी नियम सर्वथा भिन्न है। इसके अनुसार सम्पत्ति पर लडके-लडकियो के समान अधिकार होते हैं और वह पिता की सम्पूर्ण सम्पत्ति का बँटवारा कर लेते हैं। इस सम्बन्ध मे भी दो प्रथाएँ प्रचलित हैं (१) **मिताक्षरा प्रणाली**, तथा (२) **दायभाग प्रणाली**।

मिताक्षरा प्रणाली के अन्तर्गत, प्रत्येक सम्पत्ति पर पिता तथा पुत्रो का साझा अधिकार होता है। यहाँ तक कि जो बालक (दादा की मृत्यु के समय पर) पेट मे होता है उसका भी सम्पत्ति पर अधिकार हो जाता है। यह सम्पत्ति साझी तो होती है परन्तु यदि पिता के जीवित रहते भी पुत्र अपना हिस्सा लेना चाहे तो वह ले सकते हैं। यह भाग पौत्र केवल दादा की छोडी हुई सम्पत्ति मे से प्राप्त कर सकते हैं, पिता की स्वय की कमाई हुई सम्पत्ति मे से नही। इसके अतिरिक्त उत्तराधिकार मे प्राप्त की गयी सम्पत्ति को पिता तथा पुत्रो की सम्मिलित सहमति से ही बेचा जा सकता है। यह प्रथा बगाल के अतिरिक्त भारत के शेष भागों में प्रचलित है।

दायभाग प्रणाली के अनुसार पुत्रो को किसी भी सम्पत्ति पर पिता के मरने के पश्चात् ही अधिकार हो सकता है और इसका विभाजन भी तभी सम्भव है। यह प्रणाली बगाल मे प्रचलित है।

वर्तमान समय मे हिन्दू तथा मुस्लिम कानून के अनुसार लडको के साथ साथ लडकियाँ भी पिता की सम्पत्ति मे समान अधिकारिणी हो गयी हैं।

उत्तराधिकार के नियमों के गुण—वर्तमान युग मे सयुक्त परिवार प्रणाली का निरन्तर ह्रास हो रहा है। इसमे उत्तराधिकार के नियम भी सहायक हैं क्योंकि वह अलग होने वाले व्यक्ति को कुछ सम्पत्ति का अधिकारी बना देते है। इस दृष्टि मे उत्तराधिकार के नियमों का प्रथम गुण

यह है कि परिवार के प्रत्येक व्यक्ति को जीवन आरम्भ करने के लिए कुछ सम्पत्ति मिल जाती है। दूसरा गुण यह है कि सभी व्यक्तियों को सम्पत्ति में समान भाग मिलता है।

उपर्युक्त दोनों दृष्टिकोण यह स्पष्ट करते हैं कि उत्तराधिकार के नियमों के अनुसार समाज के प्रत्येक व्यक्ति को जीवन-यापन करने के लिए कुछ आर्थिक सहारा मिल जाता है जिसे अपनी सामर्थ्य एवं परिश्रम से विकसित कर समाज में अपना स्थान बनाया जा सकता है।

दोष—उत्तराधिकार के नियम कई दृष्टिकोणों से दोषपूर्ण हैं :

(अ) भूमि का अपखण्डन—उत्तराधिकार के नियमों का सबसे गम्भीर दोष यह है कि इनके कारण परिवार के सभी व्यक्ति सम्पत्ति के भागीदार हो जाते हैं जिससे कृषि-योग्य भूमि छोटे-छोटे टुकड़ों में विभाजित हो जाती है। कभी-कभी तो यह टुकड़े इतने छोटे हो जाते हैं कि उनमें खेती करना लाभदायक नहीं रह जाता। इन नियमों के कारण ही भारत में कृषि भूमि बहुत छोटे-छोटे टुकड़ों में विभाजित हो गयी है। इस दोष के कारण भारतीय खेती लाभदायी नहीं रह गयी है अतः सरकार चकबन्दी की योजना कार्यान्वित करने की चेष्टा कर रही है।

(आ) विवादों का जन्म—इन नियमों के कारण भूमि तथा सम्पत्ति के विभाजन सम्बन्धी अनेक विवाद खड़े हो जाते हैं जिनके कारण बहुत से व्यक्ति अपने हिस्से की सम्पत्ति भी खो बैठते हैं। यदि इन विवादों का निबटारा पंचायतों के सुपुर्द कर दिया जाय तो समस्या सरलता से हल हो सकती है।

(इ) पूंजी निर्माण में कमी—सम्पत्ति के विभाजन के कारण देश में पूंजी निर्माण कम हो जाता है, क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति के पास थोड़ी-थोड़ी पूंजी रह जाती है। आधुनिक संयुक्त पूंजी कम्पनियों तथा इकाई ट्रस्टों ने इस समस्या का यथेष्ट समाधान कर दिया है।

४. धार्मिक अन्धविश्वास

भारत एक धर्मपरायण देश रहा है। इसलिए यहां के प्रत्येक सामाजिक रीतिरिवाज को धार्मिक रूप दिया गया है। यहां के व्यापारी तथा उद्योगपति लाखों रुपये कमाने के साथ-साथ अनाथालय, अनाथाश्रम, धर्मशालाएँ, कुएँ तथा शिक्षा संस्थाओं का निर्माण कराते हैं। ग्रीष्म ऋतु में स्थान स्थान पर जल पिलाने के लिए प्याऊ तथा सर्दी के दिनों में पशुओं के लिए घास डलवाने की व्यवस्था की जाती है।

उपर्युक्त धार्मिक सद्प्रवृत्तियों के अतिरिक्त भारतीय समाज अनेक अन्धविश्वासों में जकड़ा हुआ है जिसका प्रभाव उसकी आर्थिक प्रगति पर गम्भीर रूप से पड़ा है। उदाहरण के तौर पर भारत में अहिंसा को अत्यन्त गम्भीर रूप में लिया गया है, फलतः अन्न को नष्ट करने वाले बन्दर, चूहे, तथा टिड्डियों का नाश करने में बहुत समय तक हिचक बनी रही। अब भी टिड्डीनाशक अभियानों तथा चूहेमारक दवाओं का विरोध समय-समय पर प्रकट होता रहता है। इसी प्रकार से गौवंश, दुर्बल तथा बेकार पशु भले ही रोग से सड़कर अथवा भूख से तड़पकर मर जाएँ किन्तु बहुत-से लोग उन्हें मरवाने का सदा विरोध ही करेंगे।[1] सम्भवतः इसीलिए भारत में बेकार पशुओं की बहुत बड़ी संख्या है। इसीलिए यह दुःखद सत्य है कि पशु-पालक देशों में पशुओं का स्वास्थ्य तथा कार्यशक्ति एवं दूध देने की क्षमता (पशुपालक देश) भारत से कहीं उत्तम एवं श्रेष्ठ है।

इन धार्मिक अन्धविश्वासों के अतिरिक्त भारत में जन्म लेने से लेकर मृत्यु के पश्चात तक भी (मृतक को स्वर्ग पहुँचाने की दृष्टि से) इतने अधिक एवं अनुत्पादक खर्च किये जाते हैं कि

---

[1] इतिहास में इस प्रकार के अनेक उदाहरण मिलते हैं कि जब कोई विदेशी आक्रमणकारी शक्ति से भारतीयों को नहीं जीत पाते थे तो गायों को अपनी सेना के आगे कर देते थे जिससे भारतीय सैनिक अपने शस्त्र त्याग दिया करते थे।

सामान्य व्यक्ति की कमर ही टूट जाती है। भारत में प्रत्येक रीति रिवाज के पीछे अत्यधिक प्रदर्शन तथा खर्च का विधान है। किसी समय यह सब बातें सह्य तथा समयानुकूल रही होंगी पर अब यह सब क्रियाएँ ढोंग तथा रूढ़ियों की श्रेणियों में ही गिनी जा सकती हैं। इनके पालन में देश की सामान्य जनता की आर्थिक स्थिति पर बहुत बुरा प्रभाव पड़ता है।

इन सामाजिक अथवा धार्मिक मान्यताओं के अतिरिक्त भारतीयों का प्रत्येक कार्य (जन्म तथा मृत्यु को छोड़कर) मुहूर्त के द्वारा ही सम्पन्न होता है, विवाह-सम्बन्ध जन्मपत्रियों के आधार पर ही सम्पन्न होते हैं तथा लाखों-करोड़ों देवताओं के पूजा-पाठ और चढ़ावे आदि की व्यवस्था होती है। यह किसी हद तक ठीक है कि मारवाड़ी तथा जैन आदि वर्गों के लोग इन सब रूढ़ियों पर विश्वास रखने पर भी व्यवसाय तथा उद्योगों में बहुत प्रगति कर गये हैं परन्तु उनकी उन्नति का कारण यह रूढ़ियाँ ही हैं यह कहना सत्य नहीं है। वस्तुतः इन रूढ़ियों ने सदा उन्नति के मार्ग में बाधा डाली है और डालती रहेंगी। आर्थिक विकास के भवन परिश्रम तथा अध्यवसाय की नींव पर खड़े किये जाते हैं, पाखण्ड एवं अन्धविश्वास की बलुमयी दीवारों पर नहीं।

५ सामाजिक रीति रिवाज

जन्म, विवाह तथा मृत्यु के अवसर पर किये जाने वाले व्यय भारतीय अर्थ-व्यवस्था पर एक बड़ा भार है परन्तु बाल विवाह, पर्दा प्रथा तथा आपसी फूट भारतीय सामाजिक शरीर पर भयंकर कोढ़ के समान हैं। बाल विवाह के कारण देश की अनेक कन्याएँ अकाल प्रसूता होकर काल के गाल में समा जाती हैं अथवा उनकी निर्बल सन्तानें तथा वह स्वयं अनेक रोगों से पीड़ित होकर कष्टमय जीवन बिताने के लिए बाध्य होती हैं। इस प्रकार अनेक परिवारों का गृहस्थ जीवन सदा आर्थिक भार से दबा रहता है। कभी-कभी यह बालिकाएँ विधवा होकर या तो आजीवन अपने भाग्य को कोसती हैं या किसी चक्कर में पड़कर भारतीय समाज के मस्तक पर कलंक का टीका बनती हैं। बहुत कुछ यही स्थिति परदे में रहने वाली स्त्रियों की है।

कलकत्ता तथा लखनऊ के समीपस्थ के ग्रामों के सर्वेक्षणों में यह बताया गया कि परदे में रहने वाली अधिकांश स्त्रियाँ किसी न किसी भयंकर रोग से पीड़ित हैं। इन महिलाओं को शरीर का शुद्ध हवा प्राप्त करने का सुअवसर न मिलने के कारण न केवल इन्हें तरह तरह के रोग लग जाते हैं बल्कि यह रोग उनके बाल बच्चों तथा आसपास तक फैलते हैं। अन्ततः इन परिवारों का सामाजिक एवं आर्थिक जीवन भी नारकीय हो जाता है। परदे की प्रथा मुख्य रूप से मुसलमानों तथा राजपूतों में प्रचलित है।[1]

आपसी फूट मानो भारत के निवासियों का घरेलू उद्योग है। इस खानदानी फूट के कारण भारत को शताब्दियों तक परकीयों का दास रहना पड़ा है। शिक्षा के अभाव तथा मानसिक विकास की कमी के कारण ग्रामीण तथा शहरी क्षेत्रों में अनेक विवाद उत्पन्न होते रहते हैं। ग्रामों में तो यह कहावत प्रसिद्ध है कि जिस वर्ष किसान के अच्छी फसल होती है उस वर्ष ग्रामों में अधिक झगड़े-फसाद होते हैं। इन झगड़ों से किसान की आय का बहुत-सा भाग डूब जाता है और वह अधभूखा, अधनंगा तथा ऋण के बोझ से दबा रहता है।

६ भारतीय दर्शन और अर्थ व्यवस्था

भारत एक विलक्षण देश रहा है। इसमें 'पर द्रव्येषु लोष्टवत्' (पराया धन मिट्टी के समान) कहने वाले व्यक्ति भी उत्पन्न हुए हैं और 'ऋणं कृत्वा घृतम् पिबेत्' (ऋण लेकर घी पीजिए) वृत्ति

---

[1] टर्की में मुस्तफा कमाल पाशा ने परदा रखने वाली स्त्रियों के बुरके फाड़ फाड़कर जला दिये थे। आज उस देश की स्त्रियाँ यूरोप के किसी भी देश की स्त्रियों से हीनावस्था में नहीं हैं।

के समर्थकों का भी प्रादुर्भाव रहा है। कुछ लोगों का यह मत है कि भारतीय दर्शन में सन्तोष वृत्ति तथा कष्टमय जीवन बिताने की भावनाओं पर बल दिया गया है अतः भारत में लोगों ने आर्थिक सम्पन्नता प्राप्त करने के लिए यथोचित प्रयत्न नहीं किया। इसी कारण से भारतीय अर्थ व्यवस्था दुर्बल एवं दीन बनी रही।

उपर्युक्त विचार सैद्धान्तिक अथवा व्यावहारिक किसी भी दृष्टिकोण से सही नहीं है। भारतीय दर्शन में धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष को महत्त्व दिया गया जिससे स्पष्ट है कि कर्तव्य के पश्चात् दूसरा स्थान अर्थ का है। वास्तव में प्राचीन काल में भारतीय अर्थ-व्यवस्था कभी भी हीनावस्था में नहीं रही। गंगा और यमुना के इस देश में धनधान्य एवं सुख-समृद्धि का अभाव नहीं रहा। अभाव की स्थितियाँ अंग्रेजी शासन काल में उत्पन्न होनी आरम्भ हुईं। उन्होंने अर्थ व्यवस्था का इस निर्दयता से विदोहन किया कि वह जाते समय एक सिसकता हुआ अस्थि पंजर मात्र छोड़ गये। हमारा आर्थिक दैन्य हमारी दर्शन अथवा धार्मिक हीनताओं के कारण नहीं बल्कि अंग्रेजों की कूटनीति एवं स्वार्थी मनोवृत्ति के कारण हुआ। हम अपनी गुलामी का मूल्य आजादी के बाद भी चुका रहे हैं। श्री रमेशदत्त के शब्दों में

"... no open minded Englishman contemplates the material condition of the people of India under British rule with ... satisfaction The poverty of the Indian population at the present day is unparalleled in any civilised country ... It is a painful episode in the history of British rule in India, but it is a story which has to be told to explain the economic condition of the Indian people and their present helpless dependence on agriculture"

प्रश्न

१ "भारत के आर्थिक विकास पर सामाजिक व धार्मिक संस्थाओं का प्रभाव" विषय पर निबन्ध लिखिए।

5 भारत की राष्ट्रीय आय

(NATIONAL INCOME OF INDIA)

"Poverty means a waste of potentially productive human resources. poor people are becoming a more important political force as traditionally poor minority groups begin to flex their voting muscles
—A Booklet by Federal Reserve Bank of Philadelphia

राष्ट्रीय आय का अर्थ

किसी देश की राष्ट्रीय आय उस देश मे वस्तुओं तथा सेवाओ की शुद्ध उत्पत्ति का वार्षिक योग होता है। इसका अर्थ यह है कि देश के विभिन्न उद्योगो तथा व्यवसायो द्वारा जितनी उत्पत्ति एक वर्ष मे होती है उसका मूल्यांकन कर लिया जाता है। इस राशि मे से ह्रास अथवा अपकर्ष (Depreciation) की रकम घटा दी जाती है परिणामस्वरूप जो रकम प्राप्त होती है वह देश की वार्षिक राष्ट्रीय आय है।

राष्ट्रीय आय के सम्बन्ध मे मार्शल पीगू तथा फिशर के अलग अलग मत है। मार्शल के अनुसार, किसी देश के श्रम और पूँजी द्वारा उसके प्राकृतिक साधनो से जो भौतिक अभौतिक वस्तुएँ उत्पन्न की जाती हैं उनमें यदि सभी सेवाएँ तथा विदेशो से प्राप्त आय भी जोड दी जाय तो *वह राष्ट्रीय आय* कहलाती है। पीगू राष्ट्रीय *आय मे केवल उस उत्पत्ति को सम्मिलित करते है,* जो मुद्रा मे नापी जा सकती है। फिशर का कथन है कि राष्ट्रीय आय सम्पूर्ण उत्पत्ति का वह भाग है जिसे किसी वर्ष उपभोग मे ले लिया जाता है।

प्रो० साइमन कुजनेट्स का विचार बहुत कुछ फिशर की धारणा से मिलता-जुलता है। कुजनेट्स कहते है कि "राष्ट्रीय आय वस्तुओं तथा सेवाओ की विशुद्ध उत्पत्ति है जो अन्तिम उपभोक्ताओ के हाथो म पहुँचती है अथवा देश के पूंजीगत माल क स्टॉक म वृद्धि करती है।'[1] इस प्रकार फिशर की भांति कुजनट्स भी सम्पूर्ण उत्पादन का वह भाग राष्ट्रीय आय म सम्मिलित करते हैं जो उपभोक्ताओ के हाथ म पहुंचता है (अर्थात् जितनी मात्रा उपभोग की जाती है) किन्तु वह उसमें पूँजीगत माल की सम्पूर्ण राशि सम्मिलित करते हैं। वस्तुत व्यवहार मे यह ज्ञात करना

---

[1] National income is the net output of commodities and services flowing during the year from the country's productive system into the hands of the ultimate consumers or into net additions to the country's stock of capital goods."

बहुत कठिन है कि देश मे जितना विशुद्ध उत्पादन किया गया उसका कौन-सा भाग उपयोग मे ले लिया गया तथा कितना अंश आगामी वर्ष के लिए स्टॉक मे स्थानान्तरित कर दिया गया। इस प्रकार पीगू का विचार व्यावहारिक दृष्टि से अधिक श्रेष्ठ जान पड़ता है क्योंकि "कुल उत्पत्ति का वह भाग जो मुद्रा मे नापा जा सकता है" उसका अनुमान लगाना सरल है।

राष्ट्रीय आय की जानकारी क्यों महत्त्वपूर्ण है ?

किसी भी देश की राष्ट्रीय आय की जानकारी प्राप्त करना निम्नलिखित दृष्टिकोणों से महत्त्वपूर्ण है

(१) आर्थिक प्रगति की सूचक—राष्ट्रीय आय किसी भी देश की आर्थिक प्रगति की सरलतम सूचक प्रणाली है क्योंकि एक ही अंक मे हम यह जान सकते हैं कि देश मे उत्पादन क्षेत्र मे कितनी प्रगति हो रही है। राष्ट्रीय आय मे विभिन्न क्षेत्रों की प्रगति सम्बन्धी विस्तृत अंकों का समावेश किया जाता है। अत राष्ट्रीय आय के अंक वस्तुत सम्पूर्ण अर्थ-व्यवस्था की उन्नति अथवा अवनति की दिशा की ओर संकेत करते हैं।

(२) तुलनात्मक समीक्षा—राष्ट्रीय आय के आंकड़ों से दो प्रकार की तुलना करना सम्भव हो जाता है। प्रथम विभिन्न देशों की कुल अथवा प्रति व्यक्ति राष्ट्रीय आय कितनी है। इस जानकारी से *अन्य देशों की आर्थिक प्रगति की तुलना करना सम्भव है। भारत और जापान, इंगलैण्ड तथा अमरीका की बढ़ती हुई समृद्धि की तुलना करने की सरलतम रीति कुल राष्ट्रीय* आय अथवा प्रति व्यक्ति राष्ट्रीय आय की जानकारी है। इस जानकारी के आधार पर अविकसित देश विकसित देशों के अनुभव का लाभ उठा सकते हैं और अपनी आय मे वृद्धि कर सकते हैं।

दूसरे, राष्ट्रीय आय के आधार पर यह जानकारी प्राप्त की जा सकती है कि विभिन्न देशों मे कृषि, उद्योग, वाणिज्य तथा यातायात से प्राप्त आय कुल आय का कितना भाग है। इससे उन देशों की विभिन्न क्षेत्रों सम्बन्धी प्रगति का ठीक एव तुलनात्मक अनुमान हो जाता है और कम विकसित तथा दुर्बल क्षेत्रों के विकास पर विशेष ध्यान दिया जा सकता है।

(३) सरकारी नीति का आधार—राष्ट्रीय आय सरकार की आर्थिक नीति के महत्त्वपूर्ण आधार का काम करती है। सामान्यत सरकार अपनी आर्थिक नीति निश्चित करने मे राष्ट्रीय आय का निम्न रूप मे प्रयोग करती है

(क) कर नीति—सरकार द्वारा उन क्षेत्रों मे कर संशोधन करने के प्रस्ताव किये जाते हैं जिनमे आय अथवा उत्पादन कम होता है। करों की छूट देने मे प्राय अविकसित क्षेत्रों मे उत्पादन बढ़ाने की क्रिया को प्रोत्साहन मिलता है। इसी प्रकार समाज के जो वर्ग आर्थिक दृष्टि से निर्बल हैं उन्हें कर-संशोधन द्वारा सहायता देने का प्रयत्न किया जाता है।

(ख) विकास योजना का आधार—राष्ट्रीय आय के आंकड़े सरकार को विभिन्न क्षेत्रों के उत्पादन का ब्यौरा दे देते हैं। इनके आधार पर सरकार को यह निश्चय करने मे सहायता मिलती है कि किन क्षेत्रों मे विकास पर अधिक रकम लगानी चाहिए तथा किन क्षेत्रों मे प्रशासन व्यवस्था मे सुधार करना आवश्यक है।

(ग) सामाजिक बीमा—प्रजातन्त्र की सफलता का एक महत्त्वपूर्ण मापदण्ड यह है कि देश के नागरिक अपने आपको आर्थिक दृष्टि से सबल एव सुरक्षित समझें। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए कम आय वाले देशों मे वृद्धावस्था पेंशन, निःशुल्क चिकित्सा सुविधाएँ अथवा अन्य जन-हितकारी कार्य किये जा सकते हैं।

(४) भविष्य की प्रवृत्तियाँ—कुछ वर्षों की राष्ट्रीय आय सम्बन्धी *आंकड़ों से यह ज्ञात हो* जाता है कि देश मे राष्ट्रीय आय की प्रगति किस दिशा मे कितनी हो रही है। स्वभावत इससे

भविष्य की प्रवृत्तियों के सम्बन्ध में भी पूर्वानुमान लगाये जा सकते हैं और असन्तोषजनक प्रवृत्तियों में सुधार हेतु प्रयत्न किये जा सकते हैं।

संक्षेप में, राष्ट्रीय आय की जानकारी विभिन्न राष्ट्रों की आर्थिक प्रगति सम्बन्धी महत्वपूर्ण सूचनाएं प्रदान करती है जिनके आधार पर देश की कृषि, उद्योग, यातायात, रोजगार तथा मूल्यों सम्बन्धी नीतियाँ निश्चित करना सम्भव होता है।

राष्ट्रीय आय की प्रगति का अनुमान करने में सावधानियां

किसी देश की राष्ट्रीय आय का कम या अधिक होना सर्वथा सापेक्षिक है क्योंकि यह देश के प्राकृतिक साधन, प्राविधिक प्रगति मानवीय तत्व की सबलता तथा विकास के प्रति जागरूकता एवं तत्परता पर निर्भर करती है। अतः इन सब परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुए ही राष्ट्रीय आय सम्बन्धी अध्ययन किया जाना चाहिए। वस्तुतः राष्ट्रीय आय की प्रगति की तुलना करने में अनेक कठिनाइयाँ हैं जो निम्नलिखित हैं

(१) वास्तविक तथा मौद्रिक आय (Real and Money Income)—अनेक बार ऐसा होता है कि किसी देश (अथवा देशों) की कुल आय में निरन्तर वृद्धि होती जाती है परन्तु मुद्रा के मूल्य में ह्रास (depreciation) होता है। फलतः मौद्रिक आय तो बढ़ी हुई ज्ञात होती है परन्तु वास्तविक आय में कमी आ जाती है। उदाहरणतः यदि किसी देश की प्रति व्यक्ति आय १० वर्षों में २०० रुपये से ३०० रुपये हो जाय और वस्तुओं के मूल्य दुगुने हो जाएँ तो मौद्रिक आय तो ड्योढ़ी हो गयी परन्तु ३०० रुपये की वर्तमान आय के बदले अब सामान उतना मिलता है जितना १० वर्ष पूर्व १५० रुपये में मिलता था अतः वास्तविक आय में कमी आ गयी। स्वभावतः दो वर्षों की आय की तुलना करने में यह सावधानी रखना आवश्यक है कि वृद्धि वास्तविक है या नहीं।

(२) औसत आय और राष्ट्रीय आय—राष्ट्रीय आय के प्रायः दो प्रकार के अंक प्रकाशित किये जाते हैं—प्रथम, किसी देश की किसी वर्ष की कुल आय और दूसरे उस देश की प्रति व्यक्ति आय। प्रति व्यक्ति आय प्राप्त करने के लिए कुल आय पर जनसंख्या का भाग दे दिया जाता है। दो पृथक-पृथक देशों की आय में तुलना करते समय कुल आय के अंकों की तुलना करना उचित नहीं रहेगा, वास्तविक तुलना उन देशों की प्रति व्यक्ति आय (per capita income) के आधार पर करनी चाहिए क्योंकि कुल आय में वृद्धि होने पर भी यदि जनसंख्या आय के बढ़ने की गति से अधिक तीव्रतापूर्वक बढ़ी तो प्रति व्यक्ति वास्तविक आय कम हो जाती है।

(३) मुद्रा की क्रय शक्ति में अन्तर—दो देशों की राष्ट्रीय (अथवा प्रति व्यक्ति) आय की तुलना करते समय एक अन्य बात का ध्यान रखना भी अत्यन्त आवश्यक है वह है उन दोनों देशों में मुद्रा की क्रय शक्तियों में अन्तर। यह सत्य है कि एक अमरीकी की औसत आय लगभग २४,००० रुपये और एक भारतीय की औसत आय वर्तमान मूल्यों पर ५४२ रुपये है। किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि एक अमरीकन के औसत साधन या जीवन स्तर एक औसत भारतीय से ४५ गुना श्रेष्ठ हैं। इसका कारण यह है कि अमरीका में अनेक वस्तुएँ, विशेषतः सेवाएँ, भारत से बहुत महँगी हैं। अतः आय की तुलना करते समय दोनों देशों में वस्तु-मूल्यों की तुलना करना भी आवश्यक है।

(४) सामाजिक मान्यताएं—भारत तथा अन्य अविकसित देशों में प्रायः बहुत कम स्त्रियाँ नौकरी करती हैं परन्तु पाश्चात्य देशों, विशेषतः विकसित देशों में, स्त्रियों में नौकरी करने का सामान्य रिवाज है। अतः पाश्चात्य देशों में स्त्रियों द्वारा नौकरी से प्राप्त आय परिवार की कुल आय में सम्मिलित हो जाती है परन्तु अविकसित देशों में स्त्रियों द्वारा घर में अधिक काम किया जाता है जिसे राष्ट्रीय आय में सम्मिलित नहीं किया जाता (क्योंकि उसे मुद्रा में नहीं नापा जाता)। इन देशों की पारस्परिक आय की तुलना करते समय इस तथ्य का ध्यान रखना अत्यन्त आवश्यक है।

(५) आय का वितरण—कभी-कभी राष्ट्रीय आय की तुलना करने में एक और दोष पाया जाता है। अंकों से यह प्रतीत होता है कि देश की कुल तथा प्रति व्यक्ति राष्ट्रीय आय बढ़ रही है परन्तु वास्तव में बढ़ी हुई आय का अधिकांश भाग कुछ व्यक्तियों की जेबों में चला जाता है, अतः कुल तथा औसत आय के अंक तो अधिक ज्ञात होते हैं परन्तु समाज की अधिकांश जनसंख्या की आय कम होती जाती है। उदाहरणार्थ, भारत में राव समिति ने यह मत व्यक्त किया है कि देश में आय के साधनों के संकेन्द्रण (concentration) में वृद्धि हो रही है किन्तु कुल तथा औसत आय के अंक वृद्धि की ओर संकेत करते हैं जो सब लोगों की दृष्टि से सही नहीं है।

उपर्युक्त तथ्यों से स्पष्ट है कि राष्ट्रीय आय सम्बन्धी निष्कर्ष निकालने में पर्याप्त सावधानी रखनी चाहिए नहीं तो परिणाम भ्रामक होने की आशंका है।

किसी भी देश की राष्ट्रीय आय प्रायः कई प्रकार से प्रकट की जाती है। मुख्य रीतियाँ निम्नलिखित हैं

(क) कुल राष्ट्रीय उत्पत्ति (Gross National Product)—कुल राष्ट्रीय उत्पत्ति देश में प्रयोग की जाने वाली सब वस्तुओं का बाजार मूल्य होता है। वास्तव में किसी भी वस्तु का उपभोग करने वाले वर्ग उपभोक्ता, औद्योगिक अथवा व्यावसायिक संस्थाएँ, विदेशी नागरिक तथा सरकार हैं। इन वर्गों को प्रयोग हेतु जितना माल बेचा जाता है उसके व्यय का सम्पूर्ण योग राष्ट्रीय उत्पत्ति कहलाती है।

कुल राष्ट्रीय उत्पत्ति तथा राष्ट्रीय आय में अन्तर यह है कि कुल राष्ट्रीय उत्पत्ति देश के सम्पूर्ण उत्पादन (जो वास्तव में उपयोग किया जाता है) का बाजार मूल्य होता है अर्थात् राष्ट्रीय आय शुद्ध उत्पादन होता है जिसका मूल्य साधन लागत द्वारा ज्ञात किया जाता है। वास्तव में, शुद्ध राष्ट्रीय उत्पत्ति में माल बेचने पर किया गया व्यय तथा उत्पादक एवं मध्यकों का लाभ भी सम्मिलित होता है, जो राष्ट्रीय आय में सम्मिलित नहीं होता है।

(ख) शुद्ध राष्ट्रीय उत्पत्ति (Net National Product)—जब कुल राष्ट्रीय उत्पत्ति में से ह्रास (depreciation) तथा मशीनों आदि के पौराणत्व (out of date of obsolescence) का मूल्य निकाल दिया जाता है तो इसे शुद्ध राष्ट्रीय उत्पत्ति कहा जाता है।

(ग) मौद्रिक तथा वास्तविक आय (Money and Real Income) तथा व्यक्तिगत एवं राष्ट्रीय आय का विवरण इससे पूर्व दिया जा चुका है।

भारत की राष्ट्रीय आय
(NATIONAL INCOME OF INDIA)

भारत में स्वतन्त्रता प्राप्ति से पूर्व राष्ट्रीय आय ज्ञात करने की विशेष चेष्टा नहीं की गयी। समय समय पर विभिन्न व्यक्तियों ने निजी रूप में राष्ट्रीय आय सम्बन्धी अनुमान लगाने की चेष्टा की। स्वभावतः यह अनुमान न्यून तथ्यों पर आधारित थे क्योंकि भारत में सांख्यिकी संगठन का सर्वथा अभाव था। इसके अतिरिक्त राष्ट्रीय आय ज्ञात करने की रीतियों का विकास भी यथोचित रूप में नहीं हुआ था, अतः बहुत कम व्यक्तियों ने भारत की राष्ट्रीय आय ज्ञात करने की दिशा में रुचि दिखाई।

व्यक्तिगत प्रयत्न एवं अनुमान—भारत की राष्ट्रीय आय का अनुमान सर्वप्रथम दादा भाई नौरोजी ने अपनी पुस्तक '*Poverty and British Rule in India*' में किया। उनके अनुसार भारत की प्रति व्यक्ति आय २० रुपये वार्षिक थी। तत्पश्चात् समय-समय पर अन्य व्यक्तियों ने भी भारत की राष्ट्रीय आय सम्बन्धी अंक प्रस्तुत किये जिनका ब्यौरा अग्रलिखित है :

भारत को राष्ट्रीय आय

(रुपयों मे)

अनुमानकर्ता	वर्ष	प्रति व्यक्ति वार्षिक आय
१ दादा भाई नौरोजी	१८६७-८८	२०
२ क्रोमर तथा बारबर	१८८१	२७
३ विलियम डिग्बी	१८९९	१८·५६
	१९००	१७·२५
४ लार्ड कर्जन	१९००	३०
५ फिण्डले शिराज	१९११	८०
६ वाडिया और जोशी	१९१४	४४ ३४
७ शाह तथा खम्भट	१९००-१९१४	३६
	१९१४-१९२२	५८ ५०
	१९००-१९२२	४४ ५०
८ फिण्डले शिराज	१९२२	११६
९ डॉ० वी० के० आर० वी० राव	१९३१-३२	६५
	१९४२-४३	११४

उपर्युक्त तालिका से स्पष्ट है कि विभिन्न व्यक्तियो द्वारा राष्ट्रीय आय के एक ही वर्ष सम्बन्धी अनुमानो मे भी अन्तर है। कहीं-कहीं तो यह अन्तर अत्यधिक है। इसका कारण है कि विभिन्न व्यक्तियों द्वारा राष्ट्रीय आय के अनुमान लगाने में विभिन्न रीतियो का प्रयोग किया गया। इन सभी अनुमानकर्ताओं द्वारा की गयी सगणना अत्यन्त दोषपूर्ण एव न्यून तथ्यो पर आधारित रही है, अत ये अक सर्वथा तुलना योग्य नहीं हैं।

राष्ट्रीय आय समिति (National Income Committee)—भारत के स्वतन्त्र होते ही सरकार ने भारत की राष्ट्रीय आय ज्ञात करने की व्यवस्था करने का निश्चय किया। अतः ४ अगस्त, १९४९ को कलकत्ता स्थित भारतीय साख्यिकीय सस्थान (Indian Statistical Institute) के प्रो० प्रशान्तचन्द्र महालनोबिस की अध्यक्षता मे एक राष्ट्रीय आय समिति का गठन किया गया। इस समिति के अन्य सदस्य गोखले स्कूल ऑफ इकोनॉमिक्स के प्रो० डी० आर० गाडगिल तथा दिल्ली के प्रो० वी० के० आर० वी० राव मनोनीत किये गये। इस समिति को सलाह देने के लिए पेन्सिलवेनिया विश्वविद्यालय के प्रो० साइमन कुजनेटस, केम्ब्रिज विश्वविद्यालय के प्रो० रिचर्डस्टोन तथा राष्ट्र सघ लेखा कार्यालय के डॉ० डर्कसन की सेवाएँ उपलब्ध की गयी।

राष्ट्रीय आय समिति के निम्नलिखित कार्य निश्चित किये गये थे

(क) राष्ट्रीय आय तथा सम्बन्धित तथ्यो पर एक रिपोर्ट तैयार करना।

(ख) उपलब्ध आँकडो मे सुधार व अको के सग्रह सम्बन्धी सुझाव देना।

(ग) राष्ट्रीय आय सम्बन्धी शोध को प्रोत्साहन देना।

राष्ट्रीय आय का अनुमान लगाने के लिए वित्त मन्त्रालय म एक राष्ट्रीय आय इकाई की स्थापना की गयी। आय समिति को इकाई का मार्गदर्शन करने का काम भी सौंपा गया।

राष्ट्रीय आय समिति ने अपनी पहली रिपोर्ट १५ अप्रैल, १९५१ को तथा अन्तिम रिपोर्ट १४ फरवरी, १९५४ को प्रस्तुत की। इस रिपोर्ट मे १९४८-४९ सम्बन्धी अक दिये गये थे जिनका साराश अग्र प्रकार है

भारत की राष्ट्रीय आय—औद्योगिक उत्पादन के अनुसार

(अरब रुपयों में)

मद	शुद्ध उत्पत्ति	
	प्रथम रिपोर्ट	अन्तिम रिपोर्ट
(क) कृषि	४१ ५	४२ ५
(ख) खनन, निर्माण तथा हस्त-कौशल	१५ ०	१४ ८
(ग) वाणिज्य, परिवहन तथा सवादवहन	१७ ०	१६·०
(घ) अन्य सेवाएँ	१३·८	१३ ४
शुद्ध आन्तरिक उत्पत्ति (साधन लागत के आधार पर)	८७ ३	८६ ७
विदेशों से प्राप्त शुद्ध आय	—० २	—०·२
राष्ट्रीय आय	८७ १	८६ ५

प्रथम तथा अन्तिम रिपोर्ट के आँकडो मे अन्तर के दो मुख्य कारण हैं

(१) प्रारम्भिक रिपोर्ट प्राप्त होने के पश्चात् १९५१ की जनगणना म कुछ नये आँकडे उपलब्ध हो गये जिनका यथोचित रूप मे प्रयोग कर लिया गया।

(२) प्रथम रिपोर्ट प्रकाशित होन के पश्चात् कुछ मान्यताओं मे परिवर्तन कर दिया गया।

राष्ट्रीय आय समिति द्वारा प्रयुक्त रीति—राष्ट्रीय आय समिति द्वारा उत्पादन सगणना रीति तथा आय सगणना रीति दोनो का प्रयोग किया गया। पशु-धन तथा वनस्पति, खनिज सम्पत्ति एव उद्योग से प्राप्त आय का अनुमान उत्पादन सगणना रीति के अनुसार, तथा आय सगणना रीति का प्रयोग वाणिज्य परिवहन, स्वतन्त्र कलाओं तथा सेवाओं से प्राप्त आय ज्ञात करने के लिए किया गया। समिति को कुल आय ज्ञात करने के लिए अनेक क्षेत्रों मे अनुमानो का सहारा लेना पडा क्योंकि उन क्षेत्रों सम्बन्धी आँकडे पर्याप्त मात्रा म उपलब्ध नही थे। इस दृष्टि म इन अकों की शुद्धता बहुत विश्वसनीय नही कही जा सकती।

योजनाकाल मे राष्ट्रीय आय की प्रगति

भारत की राष्ट्रीय आय मे गत वर्षों मे निम्नलिखित वृद्धि हुई है·

भारत की राष्ट्रीय आय[1]

वर्ष	शुद्ध राष्ट्रीय उत्पादन (अरब रुपयों मे)		प्रति व्यक्ति शुद्ध उत्पादन (रुपयों में)	
	चालू मूल्यों पर	१९४८-४९ के मूल्यों पर	चालू मूल्यों पर	१९४८-४९ के मूल्यों पर
१९५०-५१	९५ ३	८८ ५	२६६ ५	२४७ ५
१९५५ ५६	९९ ८	१०४ ८	२५५ ०	२६७ ८
१९६०-६१	१४१ ६	१२७ ३	३२५ ७	२९३ २
१९६५-६६	२०३ ४	१४६ ६	४१८ ८	३०१·८
१९६८-६९	२७९ ३	१६९ १	५४२ ३	३२३ ३

[1] इस तालिका के अक १९७०-७१ की आर्थिक समीक्षा (Economic Survey) से लिए गये हैं। सशोधित होने के कारण यह अक इससे पूर्व दिये गये अकों से कुछ भिन्न हैं। अधिकृत होने के कारण इन अकों को ही अधिक विश्वसनीय माना जाना चाहिए।

कुछ समय पूर्व ही भारतीय सांख्यिकीय सगठन ने भारत की राष्ट्रीय आय को चालू मूल्यों तथा १९४८-४९ के स्थान पर १९६०-६१ के मूल्यो पर घोषित करना आरम्भ कर दिया है। तदनुसार भारत की राष्ट्रीय आय निम्न प्रकार है :

१९६०-६१ के मूल्यों पर भारत की राष्ट्रीय आय[1]

वर्ष	शुद्ध राष्ट्रीय आय (अरब रुपयो मे)		प्रति व्यक्ति शुद्ध राष्ट्रीय आय (रुपयो मे)	
	चालू मूल्यो पर	१९६०-६१ के मूल्यो पर	चालू मूल्यों पर	१९६०-६१ के मूल्यो पर
१९६० ६१	१३३	१३३	३०६	३०६
१९६५-६६	२०६	१५०	४२६	३१०
१९६९ ७०	३१२	१८०	५८९	३३९

उपर्युक्त तालिकाओ से निम्नलिखित निष्कर्ष निकाले जा सकते है

(१) **कुल वृद्धि**—चालू मूल्यो पर योजनाकाल मे प्रति व्यक्ति राष्ट्रीय आय मे लगभग १०२ प्रतिशत की वृद्धि हुई जबकि वास्तविक आय मे वृद्धि की प्रतिशत केवल ३० है। इससे स्पष्ट है कि बढती हुई आय का बहुत बडा अंश मुद्रा स्फीति द्वारा आत्मसात कर लिया गया है।

(२) **योजना वार वृद्धि**—यदि योजनाओ के अनुसार वृद्धि देखी जाय तो प्रथम योजनाकाल मे वार्षिक वृद्धि ३.५ प्रतिशत द्वितीय योजनाकाल मे ४.० प्रतिशत तृतीय योजनाकाल मे २.६ प्रतिशत तथा बाद के वर्षो म लगभग ३ प्रतिशत की वृद्धि हुई है।

(३) १९६०-६१ के मूल्यो पर १९६०-६१ से १९६९-७० तक प्रति व्यक्ति आय मे शुद्ध वृद्धि केवल ११ प्रतिशत हुई है। इससे भी देश की बढती हुई जनसख्या और मुद्रा स्फीति के भीषण प्रकोप का पता चलता है।

व्यवसाय के अनुसार राष्ट्रीय आय—भारत एक कृषि प्रधान देश है। इसका अनुमान इस बात से लगता है कि कुल राष्ट्रीय आय म ४५ से ५१ प्रतिशत भाग कृषि उद्योग का रहा है। कृषि तथा अन्य उद्योगो का राष्ट्रीय आय म निम्नलिखित योगदान रहा है

राष्ट्रीय आय के स्रोत[1]

(कुल आय के प्रतिशत मे)

वर्ग	१९५०-५१	१९५५-५६	१९६०-६१	१९६९-७०
१ कृषि आदि	४९.०	४७.९	४६.४	४४.१
२ खनन निर्माण	१६.७	१६.८	१६.६	२३.२
३ वाणिज्य, परिवहन	१८.८	१८.८	१९.३	१६.०
४ अन्य सेवाएँ	१५.५	१६.५	१७.७	१६.७

उपर्युक्त तालिका म स्पष्ट से है कि प्रथम दो योजनाओ के अन्तगत तो राष्ट्रीय आय मे कृषि का योगदान प्राय स्थिर रहा है परन्तु तृतीय योजनाकाल तथा बाद के वर्षो मे वह कम हो गया है। इसका मुख्य कारण यह है कि गत दो तीन वर्षो मे कृषि फसले अच्छी हुई हैं किन्तु अन्य क्षेत्रो के उत्पादन विशेषकर खनन तथा उद्योगो म विशेष वृद्धि हुई है।

---

[1] यह अक आर्थिक समीक्षा (Economic Survey) १९७०-७१ म लिये गये हैं। यही अधुनातन एव अधिकृत अक है। यह अक १९६०-६१ के मूल्यो पर आधारित हैं।

क्या भारत की राष्ट्रीय आय कम है?—इस अध्याय के आरम्भ में यह स्पष्ट किया जा चुका है कि किसी देश की राष्ट्रीय आय (अथवा प्रति व्यक्ति राष्ट्रीय आय) उसकी सामान्य प्रगति अथवा विकास की द्योतक है। इस दृष्टि से देखा जाय तो भारत की प्रति व्यक्ति आय अन्य देशों की तुलना में बहुत कम है। इसका अनुमान विश्व बैंक के एक प्रकाशन में दिए गये अंकों से लग सकता है जो निम्नलिखित हैं

प्रति व्यक्ति वार्षिक आय[1]

(अमरीकी डालरों में)

देश	आय	देश	आय
१ अमरीका	३,९८०	७ संयुक्त अरब गणराज्य	१५०
२ आस्ट्रेलिया	१,३१०	८ श्रीलंका	१८०
३ फ्रांस	१,६२०	९ पाकिस्तान	८५
४ इंगलैण्ड	१,५५०	१०. नाइजीरिया	८०
५ जापान	३६०	११ बर्मा	६५
६ टर्की	२३०	१२ भारत	८०

उपर्युक्त सारिणी से स्पष्ट है कि भारत की प्रति व्यक्ति वार्षिक आय केवल ८० डालर अर्थात् लगभग ११६ पैसे प्रतिदिन है। इसमें धनी व्यक्तियों की आय भी सम्मिलित है। इस दृष्टि से अधिकांश जनता की वार्षिक आय निश्चित ही बहुत कम है, जिसके अनुमान १६ पैसे प्रतिदिन से ४४ पैसे प्रतिदिन के मध्य लगाये गये हैं। यह स्थिति वास्तव में अत्यन्त गम्भीर है जिसकी ओर सरकार का ध्यान आवश्यक रूप से जाना चाहिए।

भारत की राष्ट्रीय आय से सम्बन्धित कुछ महत्त्वपूर्ण तथ्य

भारत की राष्ट्रीय आय का अध्ययन करने से कुछ महत्त्वपूर्ण तथ्य प्रकाश में आते हैं जिनका संक्षिप्त ब्यौरा निम्न प्रकार है

(१) असन्तोषजनक—भारत की प्रति व्यक्ति आय ५८२ रुपये है जो अत्यन्त अल्प है क्योंकि इतनी रकम से एक व्यक्ति केवल भोजन की न्यूनतम आवश्यकताएँ ही पूरी कर सकता है। फलतः भारत संसार के निर्धनतम देशों की श्रेणी में आता है। इस निर्धनता एवं हीन अवस्था के निम्नलिखित कारण हैं

(क) देश में उत्पादन का स्तर निम्न है।

(ख) श्रमिकों तथा शिक्षित वर्ग में बेरोजगारी फैली हुई है।

(ग) भारत सरकार की आर्थिक नीतियाँ अस्पष्ट एवं अव्यावहारिक रही हैं, अतः कुशल व्यक्तियों के लिए प्रोत्साहन का अभाव रहा है।

(२) कृषि का प्रभुत्व—यह एक विचित्र विरोधाभास है कि भारतीय कृषि अत्यन्त पिछड़ी दशा में होते हुए भी राष्ट्रीय आय में सबसे महत्त्वपूर्ण स्थान रखती है। उदाहरणतः १९५०-५१ में भारत की कुल राष्ट्रीय आय में कृषि का योगदान लगभग ४९ प्रतिशत था जबकि वह १९६९-७० में घटकर ४४ प्रतिशत रह गया। यह कमी बहुत विचारणीय नहीं है। खेती की इस प्रभुता के कारण ही राष्ट्रीय आय में वृद्धि की गति बहुत धीमी और शिथिल है क्योंकि भारतीय कृषि प्रायः प्राकृतिक तत्वों के वश में रहती है।

(३) क्षेत्रीय भिन्नता—भारत की राष्ट्रीय आय बहुत कम है किन्तु यह कमी सब क्षेत्रों में समान नहीं है। औद्योगिक तथा नागरिक क्षेत्रों में प्रायः आय अधिक है तथा ग्रामीण क्षेत्र एवं

[1] विश्व बैंक के एक प्रकाशन के आधार पर (१९६८) यह आय अवमूल्यन के पूर्व के अंकों पर आधारित है।

कृषि प्रदेशो मे आय कम है। विभिन्न राज्यो की अलग अलग आय से इस कथन की सत्यता प्रकट हो जायेगी।

भारतीय राज्यो में आय का अनुमान[1]

राज्य	शुद्ध उत्पत्ति (करोड रुपये मे)	प्रति व्यक्ति आय (रुपयों मे)
१ दिल्ली	२३२	८७१ ६
२ महाराष्ट्र	१,८५३	४६८ ५
३ पश्चिमी बगाल	१,६२३	३६४ ६
४ पजाब	६१७	४५१ ३
५ गुजरात	८१२	३६३ ४
६ तमिलनाडु	१,१२५	३३४ १
७ आसाम	३६६	३३३ ३
८ त्रिपुरा	३८	३२६ ६
९ हिमाचल प्रदेश	४२	३२८ ४
१० केरल	५३२	३१४ ६
११ मैसूर	७१६	३०४ ७
१२ उत्तर प्रदेश	४,१६३	२६७ ४
१३ जम्मू एव काश्मीर	१०३	२८६·०
१४ आन्ध्र प्रदेश	१०६३	२८७ ०
१५ मध्य प्रदेश	६२४	२८५ ४
१६ उडीसा	४८६	२७६ २
१७ राजस्थान	५३६	२६७·४
१८ बिहार	१,०२५	२२० ७

उपर्युक्त अक १९६०-६१ से सम्बन्धित हैं। आर्थिक परिषद के इन अनुमानो के अनुसार भारत की प्रति व्यक्ति वार्षिक आय ३३३ ४ रुपये आँकी गयी है। भारतीय सांख्यिकीय सगठन के अनुमानो के अनुसार इस वर्ष की प्रति व्यक्ति आय ३२५ ७ रुपये थी। परिषद के तत्कालीन *महासचालक डॉ० लोकनाथ का दावा है कि केन्द्रीय सांख्यिकीय सगठन की तुलना मे आर्थिक* परिषद के अनुमान अधिक सही एव विश्वसनीय हैं। यदि यह मान लिया जाय तो ज्ञात होगा कि आसाम और तमिलनाडु राज्यों मे प्रति व्यक्ति आय देश की औसत के तुल्य है जबकि १२ राज्यो मे प्रति व्यक्ति आय राष्ट्रीय औसत से कम है। केवल चार राज्यो (गुजरात पजाब, पश्चिमी बगाल तथा महाराष्ट्र) मे प्रति व्यक्ति आय राष्ट्रीय औसत से अधिक है। दिल्ली के सम्बन्ध मे परिषद की रिपोर्ट में कहा गया है कि 'दिल्ली एक नगर राज्य (city state) है और भारत की राजधानी है। अत इसमे नियोजित कर्मचारियो का एक बहुत बडा वर्ग है जिसकी तुलना अन्य कोई राज्य नही कर सकता।

उपर्युक्त आँकडो से इस तथ्य की पुष्टि होती है कि कृषि प्रधान क्षेत्रो तथा अधिक ग्रामीण जनसख्या वाले भागो मे प्रति व्यक्ति आय कम तथा उद्योग प्रधान एव नागरिक क्षेत्रो में अधिक है। बिहार, राजस्थान, उडीसा तथा मध्य प्रदेश म आय कम होने का एक कारण सम्भवत: यह है कि ये राज्य अन्य राज्यों से सामाजिक एव शैक्षणिक दृष्टि से भी पिछडे हुए हैं।

[1] National Council of Applied Economic Research द्वारा प्रकाशित।

(४) नगरों में सकेन्द्रण—राष्ट्रीय व्यावहारिक आर्थिक शोध परिषद (N C.A E R) ने एक और सर्वेक्षण (All-India Rural Household Survey) के परिणाम प्रकाशित किये हैं जिसमे परिषद द्वारा देश भर मे कुल ८,६५५ परिवारो का आर्थिक सर्वेक्षण किया गया है। इसके अनुसार १९६२ मे ग्रामीण क्षेत्र मे प्रति व्यक्ति आय २४७ रुपये थी। इसी क्षेत्रो मे प्रति व्यक्ति आय ४८६ रुपये आँकी गयी। इसका अर्थ यह है कि नागरिक क्षेत्रो में आय का स्तर ग्रामीण क्षेत्रो से लगभग दुगना है। परिषद ने इस तथ्य को इस प्रकार कहा है कि ग्रामीण क्षेत्रो मे नागरिक क्षेत्रो से दुगनी गरीबी है। दूसरा निष्कर्ष यह निकाला गया है कि ग्रामीण क्षेत्रो में बचत की दर नागरिक क्षेत्रो से बहुत कम है। स्वभावत दूसरा निष्कर्ष पहले पर आधारित है क्योंकि कम आय के कारण बचत भी कम है।

राष्ट्रीय आय का वितरण

भारत मे आर्थिक नियोजन द्वारा एक समाजवादी व्यवस्था स्थापित करने का सकल्प किया गया है और सरकार का यह प्रयत्न रहा है कि एक ओर तो सम्पूर्ण समाज की आय में वृद्धि हो, दूसरी ओर विभिन्न वर्गों मे व्याप्त आर्थिक विषमता मे निरन्तर कमी आनी चाहिए ताकि अमीर-गरीब के भेद धीरे-धीरे दूर हो जायें। इस लक्ष्य के उद्धरण मे यह देखना भी अत्यन्त आवश्यक है कि गत वर्षों की प्रगति के परिणामस्वरूप आर्थिक विषमता मे कुछ कमी आयी है अथवा नही। सम्भवत इसी दृष्टि से सितम्बर १९६० मे भारतीय लोकसभा मे कुछ सदस्यो ने यह मत व्यक्त किया कि भारत मे योजनाकाल मे आर्थिक विषमता कम होने के स्थान पर बढी है। इन सदस्यो को सन्तुष्ट करने तथा वास्तविक स्थिति की जानकारी के लिए १३ अक्टूबर, १९६० को एक समिति नियुक्त की गयी जिसके अध्यक्ष प्रो० महालनोबिस है। इस समिति ने अपनी रिपोर्ट का पहला भाग फरवरी १९६४ मे प्रस्तुत कर दिया।

आय वितरण तथा निर्वाह-स्तर समिति (*The Committee on Distribution of Income and Levels of Living*)—महालनोबिस समिति का नाम 'आय वितरण तथा निर्वाह-स्तर समिति' रखा गया था। यह समिति योजना आयोग द्वारा नियुक्त की गयी तथा इसके निम्नलिखित कार्य निश्चित किये गये :

(१) प्रथम तथा द्वितीय योजनाकाल मे जीवन निर्वाह-स्तर सम्बन्धी परिवर्तन की समीक्षा (review) करना,

(२) गत वर्षों मे आय तथा सम्पत्ति के वितरण का अध्ययन करना, तथा

(३) यह निश्चय करना कि सम्पत्ति तथा उत्पत्ति साधनो का किस सीमा तक सकेन्द्रण (concentration) हुआ है।

समिति की प्रथम रिपोर्ट : निष्कर्ष—समिति ने अभी अपनी रिपोर्ट का प्रथम भाग प्रस्तुत किया है। आय वितरण के सम्बन्ध मे समिति का मत बहुत कुछ अनिश्चित है, परन्तु उसने जो विचार व्यक्त किये है उनका साराश निम्नलिखित है :

(१) **बडी कम्पनियो को प्रोत्साहन**—समिति का मत है कि योजनाकाल मे बडी बडी कम्पनियो की प्रगति मे वृद्धि हुई है।

(२) **आर्थिक शक्ति एव नियन्त्रण का सकेन्द्रण**—समिति का कथन है कि यद्यपि बडी कम्पनियो की स्थापना से सकेन्द्रण होना आवश्यक नही है परन्तु भारत मे इससे आर्थिक शक्ति एव नियन्त्रण कुछ व्यक्तियो के हाथो मे आने की प्रवृत्ति रही है जिससे सत्ता का सकेन्द्रण बढा है।

(३) **बैंकों में सकेन्द्रण**—समिति ने यह मत व्यक्त किया है कि भारतीय बैंको मे आर्थिक शक्ति का सकेन्द्रण है तथा बैंको की साख से मुख्यत: बडे और मध्यम आकार के उद्योगो को ही लाभ पहुँचा है।

(४) **औद्योगिक एकाधिकार**—समिति ने औद्योगिक क्षेत्र मे बढते हुए एकाधिकारों की ओर सकेत किया है। यह एकाधिकार इस रूप मे है कि कुछ वर्गों का उद्योगो की शृङ्खलाओ पर नियन्त्रण है।

(५) **करो की चोरी और सकेन्द्रण**—समिति का यह मत है कि कर प्रणाली मे अनेक परिवर्तन करने पर भी भारत मे आय का सकेन्द्रण वाछित सीमा से अधिक है। इसका एक कारण यह भी है कि लोग करो की व्यापक चोरी करते हैं।

(६) **कृषि भूमि के स्वामित्व मे सकेन्द्रण**—समिति के मतानुसार कृषि भूमि के स्वामित्व मे भी सकेन्द्रण बहुत बढ गया है क्योंकि १ प्रतिशत जनता के पास लगभग १६ प्रतिशत भूमि है, उच्चतम ५ प्रतिशत व्यक्ति ४० प्रतिशत भूमि के मालिक हैं और उच्चतम १० प्रतिशत व्यक्तियो के पास कुल भूमि का ५६ प्रतिशत भाग है। नीचे के २० प्रतिशत व्यक्ति सर्वथा भूमिहीन हैं।

उपर्युक्त तथ्यो के अतिरिक्त समिति ने कम्पनी क्षेत्र (corporate sector), समाचार पत्र, बैंक आदि क्षेत्रो मे भी आर्थिक शक्ति का सकेन्द्रण बतलाया है। एक समाजवादी समाज का लक्ष्य रखने वाले देश के लिए स्वभावत यह स्थिति असन्तोषजनक कही जायगी।

निष्कर्ष—उपर्युक्त तथ्यो से यह स्पष्ट होता है कि (१) भारत मे राष्ट्रीय आय का अनुमान लगाने की क्रियाएँ कठिन एव दोषपूर्ण हैं, (२) भारत की राष्ट्रीय आय बहुत कम है और देश के अधिकाश नागरिक केवल निर्वाह-स्तर पर जीवन यापन कर रहे हैं, तथा (३) एक समाजवादी समाज के लिए आयोजन करने पर भी देश मे आर्थिक सत्ता का सकेन्द्रण होता जा रहा है। इसका अर्थ यह है कि देश की आर्थिक नीति मे कही कुछ कमी है। सरकार को राष्ट्रीय आय मे वृद्धि के प्रयत्नों के साथ साथ आर्थिक सत्ता के सकेन्द्रण को रोकने का पूरा पूरा प्रयत्न करना चाहिए अन्यथा समाजवादी समाज की धारणा एक काल्पनिक सिद्धान्त मात्र रह जायगी, जो देश मे प्रजातन्त्र के लिए घातक सिद्ध हो सकती है।

प्रश्न

१ राष्ट्रीय आय के अनुमानो के प्रमुख उपयोग क्या हैं। भारत की राष्ट्रीय आय के अनुमान सम्बन्धी कठिनाइयों का उल्लेख कीजिए। (दिल्ली बी० ए०, १९६९)

२ भारत की राष्ट्रीय आय इतनी कम क्यो है ? उदाहरण देकर स्पष्ट कीजिए।

6 भारतीय कृषि का महत्त्व एवं समस्याएँ

(IMPORTANCE AND PROBLEMS OF INDIAN AGRICULTURE)

"*In India we have our depressed classes, we have, too, our depressed industries and agriculture, unfortunately, is one of them*"

—***Clouston***

भारत में कृषि का महत्त्व

भारत की अर्थ-व्यवस्था में कृषि का स्थान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इस बात की निम्नलिखित तथ्यों से पुष्टि की जा सकती है :

(१) सर्वाधिक रोजगार—कृषि उद्योग भारत की अधिकांश जनता को रोजगार प्रदान करता है। न केवल ७० प्रतिशत व्यक्ति कृषि पर प्रत्यक्ष रूप से निर्भर हैं बल्कि बहुत से लोग कृषि पदार्थों से व्यवसाय कर अपनी आजीविका कमाते हैं। इसके अतिरिक्त परिवहन कम्पनियों को कृषि पदार्थ (खाद्यान्न, कपास, जूट, गन्ना, तिलहन आदि) एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाने से यथेष्ट आय होती है। इस प्रकार भारतीय कृषि देश के निवासियों के लिए जीवन-निर्वाह का सबसे महत्त्वपूर्ण साधन है।

(२) खाद्यान्न एवं कच्चा माल—भारत की खाद्यान्न आवश्यकताओं के लगभग ९०-९५ प्रतिशत की पूर्ति भारतीय कृषि द्वारा ही की जाती है, शेष की पूर्ति विदेशों से आयात द्वारा कर ली जाती है। इसके अतिरिक्त चीनी, वस्त्र, पटसन, तेल आदि उद्योग प्रायः पूरी तरह भारतीय कृषि उत्पादन पर निर्भर करते हैं क्योंकि इनकी आवश्यकता की पूर्ति मुख्यतः घरेलू उत्पादन द्वारा ही होती है। कुछ लम्बे रेशे की रुई तथा पटसन की कमी रहती है जो विदेशों से प्राप्त की जाती है।

(३) राष्ट्रीय आय—भारत की राष्ट्रीय आय में कृषि उद्योग का सर्वाधिक योगदान है। इसका अनुमान इस बात से लगता है कि भारत की कुल आय में कृषि उत्पादन का योगदान ५० प्रतिशत के आस-पास है। निम्नलिखित सारणी द्वारा भारत की राष्ट्रीय आय में कृषि-उत्पादन के अंश का पता लगता है।

भारत की राष्ट्रीय आय में कृषि-उत्पादन का भाग (१९४८-४९ के मूल्यों पर)

(प्रतिशत)

वर्ष	१९४८-४९	१९५५-५६	१९६०-६१	१९६५-६६	१९६८-६९
कृषि का भाग	४९.१	४७.६	४८.१	३८.८	४०.०

इस सम्बन्ध में यह एक महत्त्वपूर्ण तथ्य है कि भारत की ७० प्रतिशत जनता को रोजगार देने वाली भारतीय कृषि देश के सभी लोगों को यथेष्ट अन्न देने में समर्थ नहीं है। इसके विपरीत,

अमरीका में केवल ६ प्रतिशत व्यक्ति कृषि व्यवसाय पर निर्भर हैं किन्तु वहाँ की कृषि देश की आवश्यकता से दुगुना खाद्यान्न उत्पन्न करती है।

(४) सरकारी बजट— भारतीय कृषि मानसून पर निर्भर है। यदि मानसून यथासमय एवं यथेष्ट मात्रा में आ जाता है तो कृषि उत्पादन भी ठीक हो जाता है जिससे देश में खाद्यान्नों की आवश्यकता की भी पूर्ति हो जाती है और उद्योगों को भी यथेष्ट कच्चा माल प्राप्त हो जाता है। ऐसी स्थिति में सरकार अपनी कर-व्यवस्था को तदनुसार ही निश्चित कर सकती है। भारत में केन्द्रीय तथा राज्य सरकारों के बजट ऐसे समय (मार्च मास में) ही प्रस्तुत किये जाते हैं जबकि मुख्य फसलों की उत्पत्ति के सम्बन्ध में सरकार को पूरी जानकारी हो जाती है। एक कृषि-प्रधान देश में सरकार की कर अथवा ऋण नीति का वहाँ की कृषि सम्पन्नता पर निर्भर करना स्वाभाविक है।

(५) व्यापार—प्रथम, द्वितीय तथा तृतीय योजनाकाल में भारत के कुल निर्यात व्यापार में कृषि वस्तुओं का प्रतिशत भाग क्रमश ४१, ४२ तथा ४३ प्रतिशत रहा। यह स्मरणीय है कि भारत कृषि-वस्तुओं के निर्यात की अपेक्षा आयात अधिक करता है। सन १६५०-५१ के पश्चात् सन् १६६६-७० में प्रथम बार कृषि-वस्तुओं के निर्यात उनके आयात से अधिक थे।

अकेली चाय के निर्यात से ही भारत को वार्षिक आय लगभग २५० करोड रुपये है। इसके अतिरिक्त भारत रुई, फल, तम्बाकू, कहवा आदि भी निर्यात करता है जिनसे ७०-८० करोड रुपये वार्षिक की अतिरिक्त आय हो जाती है। इस प्रकार भारत को कृषि पदार्थों से प्रति वर्ष ३५० करोड रुपये के लगभग विदेशी विनिमय की आय होती है जिसका अधिकांश भाग मशीनें तथा अन्य निर्मित माल मँगाने के लिए व्यय कर दिया जाता है।

इन तथ्यों से स्पष्ट होता है कि भारतीय कृषि देश के अन्तर्देशीय तथा विदेशी व्यापार, व्यवसाय तथा उद्योग एवं जनता के आर्थिक जीवन में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान रखती है।

भारतीय कृषि की समस्याएँ
(PROBLEMS OF INDIAN AGRICULTURE)

भारत कृषि प्रधान देश है, परन्तु कृषि की दशा शोचनीय है। कृषि-उत्पादन में वृद्धि, जनसंख्या-वृद्धि से कम होती है अत देश के समक्ष खाद्य-समस्या जटिल रूप धारण करती जा रही है। भारतीय कृषि अब भी परम्परावादी है। भारतीय किसान खेती व्यवसाय के रूप में नहीं करता है बल्कि जीविकोपार्जन के लिए करता है। कृषि की पुरानी एवं परम्परागत विधियों, पूँजी की कमी, भूमि-सुधार की अपूर्णता, विपणन एवं वित्त सम्बन्धी कठिनाइयों आदि के कारण भारतीय कृषि की उत्पादकता अत्यन्त न्यून है।

एक अर्द्ध-विकसित देश के विकास में कृषि का महत्त्वपूर्ण हाथ होता है। आर्थिक विकास के लिए कृषि का मजबूत आधार आवश्यक है। अर्द्ध विकसित देश में कृषि को तीन प्रकार की महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा करनी पडती है। प्रथम, देश की जनसंख्या विशेषकर औद्योगीकरण की प्रकृति के कारण निरन्तर बढ़ती हुई शहरी जनसंख्या की खाद्य-आवश्यकताओं की पूर्ति करना। द्वितीय, अन्य क्षेत्रों के विकास के लिए पूँजी उपलब्ध करना। तृतीय, उद्योगों के लिए आवश्यक मात्रा में कच्चा माल पैदा करना तथा कृषि पदार्थों के निर्यात में वृद्धि कर देश के आर्थिक विकास के लिए विदेशी विनिमय सुलभ करना। इन सभी दृष्टियों से भारतीय कृषि देश की आवश्यकताओं की पूर्ति करने में असमर्थ रही है।

भारतीय कृषि की उपर्युक्त असमर्थता का प्रमुख कारण वे समस्याएँ तथा व्याधियाँ हैं, जिनसे भारतीय कृषि शताब्दियों से पीडित है। अत यहाँ पर हम भारतीय कृषि की प्रमुख समस्याओं पर संक्षेप में प्रकाश डालेंगे। वर्तमान समय में भारतीय कृषि की निम्नलिखित समस्याएँ हैं :

(१) भूमि पर जनसंख्या का निरन्तर बढ़ता हुआ भार।

(२) भूमि पर असन्तुलित वितरण।
(३) कृषि उत्पादकता या प्रति एकड़ उत्पादन का कम होना।
(४) कृषि का यन्त्रीकरण।
(५) सिंचाई की समस्या।
(६) कृषि वित्त।
(७) कृषि श्रमिक।
(८) कृषि पदार्थों का विक्रय।
(९) भूमि-सुधार।
(१०) कृषि-मूल्य आदि।

अगले अध्यायों में इन समस्याओं का सविस्तार अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। इस अध्याय में हम मुख्यतः कृषि उत्पादकता तथा कृषि के यन्त्रीकरण पर प्रकाश डालेंगे।

१ भूमि पर जनसंख्या का निरन्तर बढ़ता हुआ भार (Ever increasing Pressure of Population on Land)

भारत में जनसंख्या तीव्र गति से बढ़ रही है अतः भूमि पर जनसंख्या का भार निरन्तर बढ़ता जा रहा है। *जनसंख्या वृद्धि के कारण प्रति व्यक्ति उपलब्ध भूमि का औसत कम होता जा रहा है।* इसका अनुमान निम्न सारणी से लगाया जा सकता है

भारत में प्रति-व्यक्ति भूमि का औसत

(एकड़ में)

वर्ष	प्रति व्यक्ति भूमि	प्रति व्यक्ति प्रयोग योग्य भूमि
१९०१	[illegible]	२ १
१९५१	[illegible]	१ ८
१९६१	१ ८	१ १
१९७१	१ ८	० ९

सन् १९६१ में प्रति व्यक्ति कृषि भूमि का औसत ० ८ एकड़ मात्र था। सन् १९७१ में यह औसत घटकर ० ६ एकड़ मात्र रह गया है। भारत में कृषि योग्य अधिकांश भूमि पर कृषि की जा रही है। भारत में कृषि योग्य भूमि में वृद्धि की सम्भावना बहुत कम शेष रह गयी है क्योंकि अधिकांश भूमि खेती के अन्तर्गत लायी जा चुकी है। अतः भारत में अब विस्तृत खेती (extensive agriculture) की सम्भावनाएँ लगभग समाप्त हो चुकी हैं। अब केवल गहन खेती (intensive *agriculture) द्वारा ही कृषि की दशा में सुधार किया जा सकता है।*

(२) भूमि का असन्तुलित वितरण (Unbalanced Land Distribution)

एक ओर जनसंख्या का भार भूमि पर बढ़ता जा रहा है, प्रति व्यक्ति योग्य भूमि कम होती जा रही है, दूसरी ओर कृषि भूमि का वितरण अत्यन्त असन्तुलित है। भूमि सुधार की दशा में प्रयत्नों के होते हुए भी आज केवल एक प्रतिशत (१%) किसानों के पास कुल भूमि का बीस प्रतिशत भाग है। देश में १०% किसानों के पास समस्त भूमि का ५०% है। इस प्रकार देश के ८९% किसानों के पास कुल कृषि भूमि का केवल ३०% है।

(३) कृषि की न्यून उत्पादकता (Low Agricultural *Productivity*)

भारतीय कृषि की सर्वप्रमुख समस्या है 'कृषि की न्यून उत्पादकता'। वस्तुतः 'न्यून उत्पादकता' भारतीय कृषि की समस्त समस्याओं की जड़ है। संसार में ऐसे अन्य देश भी हैं जहाँ उपर्युक्त दोनों समस्याएँ—भूमि पर जनसंख्या भार में वृद्धि तथा भूमि का असन्तुलित वितरण—

पायी जाती हैं। परन्तु उन देशो में कृषि की उत्पादकता भारत की तुलना में अधिक है। कृषि की गहन प्रणालियों तथा उन्नत विधियों का प्रयोग कर उन देशों ने कृषि उत्पादकता में सराहनीय वृद्धि की है। जापान, ब्रिटेन, इटली आदि में प्रति व्यक्ति भूमि का औसत भारत से भी कम है, परन्तु इन देशों में कृषि की उत्पादकता भारत की तुलना में बहुत अधिक है।

जापान मे प्रति व्यक्ति भूमि अन्य देशों से बहुत कम है जबकि प्रति हैक्टेयर उत्पादन सबसे अधिक है। इसी प्रकार जर्मनी, इटली इगलैण्ड तथा पाकिस्तान में भी भारत की तुलना में भूमि कम है परन्तु यह देश कम भूमि मे अधिक उत्पादन कर अपनी अर्थ व्यवस्था को सम्पन्न बनाने में समर्थ हुए है। भारत को इन देशो से पाठ लेने की आवश्यकता है।

भारतीय कृषि की एक प्रमुख समस्या यह है कि इस देश मे प्राय सभी फसलों का प्रति एकड उत्पादन बहुत कम है जो निम्न तालिका से स्पष्ट है

प्रति एकड उत्पादन (पौण्डो मे)

	अमरीका	आस्ट्रेलिया	चीन	जापान	मिस्र	इटली	भारत
गेहूँ	६६०	६४५	९०६	२,०१५	३,०६८	१,३५६	७५१
चावल	३,५२४	५,२१६	२,२२१	४,२६०	३,८६८	४,२८१	६००
मक्का	१,११३	१ ६६५	१,२०४	१,०८८	१,६५३	२,०७०	८१५
गन्ना	३८,५२८	४२,२१२	—	—	—	—	३६,२००
कपास	४६१	—	५६१	—	—	—	६५

उपर्युक्त तथ्य एक गम्भीर स्थिति की ओर सकेत करते हैं कि भारत के पास जितनी भी भूमि है उसका सदुपयोग नही हो रहा है। यहाँ तक कि चीन, जापान तथा मिस्र मे भी प्रत्येक वस्तु का उत्पादन भारत से कई गुना अधिक है। स्पष्ट है कि यदि भारत वर्तमान उत्पादन मे केवल १०–१५ प्रतिशत की वृद्धि कर सके तो उसकी न केवल खाद्य समस्या सदा के लिए हल हो जायेगी बल्कि वह यथेष्ट चीनी, कपास तथा अन्य वस्तुएँ निर्यात कर विदेशी विनिमय कमा सकेगा जिसकी आय से हम विदेशो से आवश्यक मशीनें तथा अन्य औद्योगिक सामान आयात कर सकते हैं।

चेस्टर बोल्स के कथनानुसार जापान मे केवल ८२ लाख एकड भूमि मे चावल उत्पन्न किया जाता है किन्तु वह इसी भूमि मे प्रति एकड लगभग ४,५०० पौंड चावल उत्पन्न कर अपनी १० करोड जनसख्या की आवश्यकता पूरी कर लेता है। यह निश्चय ही गौरव की बात है। इसके विपरीत, भारत लगभग ८६ करोड एकड भूमि म चावल की खेती कर लगभग ३५ करोड (चावल खाने वाली) जनसख्या के लिए आवश्यक उत्पत्ति कर सकने मे समर्थ नही है। यह दुर्भाग्यपूर्ण एव कष्टदायक तथ्य है।

भारत मे प्रति एकड उत्पादन मे वृद्धि की गति बहुत धीमी रही है। स्वतन्त्रता प्राप्ति के पूर्व भारत मे भूमि की उत्पादकता वस्तुत घटती रही है। यहाँ तक कि सन् १९४६-५० की अवधि में औसत उत्पादन प्रति एकड ५६५ पौंड मात्र था, जबकि सन् १९३६ के पूर्व प्रति एकड औसत उत्पादन ६१६ पौंड था। जब से भारत मे पचवर्षीय योजनाएँ प्रारम्भ की गयी (सन् १९५१) तब से कृषि की उत्पादकता में वृद्धि हो रही है। सन् १९५१-६६ की अवधि मे कृषि-उत्पादकता मे २७% वृद्धि हुई। कृषि मन्त्रालय के अनुमान के अनुसार प्रथम, द्वितीय तथा तृतीय पचवर्षीय योजनाकाल मे, भारतीय कृषि की उत्पादकता मे औसत रूप मे २०% वार्षिक वृद्धि हुई (अति वृष्टि, अनावृष्टि आदि से सम्बन्धित असामान्य वर्षों को छोडकर)। इससे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि यदि व्यवस्थित तथा नियोजित ढग से प्रयत्न किया जाय तो भारतीय कृषि की उत्पादकता मे वृद्धि की जा सकती है। उत्पादकता वृद्धि के लिए उन दोषो को दूर करना तथा उन समस्याओं का समाधान करना आवश्यक है, जिनसे भारतीय कृषि पीडित है।

प्रति एकड़ कम उत्पादन के कारण (Causes of Low Productivity)—भारत में प्रति एकड़ कम उत्पादन के कई कारण हैं, जिनका विवरण निम्नलिखित है

प्रति एकड़ कम उत्पादन के कारण

सामान्य कारण (General Factors)	संस्थागत कारण (Institutional)	प्राविधिक कारण (Technological)
(i) भूमि पर जनसंख्या का भार	(i) खेतों का आकार	(i) परम्परागत विधियाँ
(ii) मानवीय तत्त्व	(ii) भूमि-सुधार की कमी	(ii) उर्वरक की कमी
(iii) कृषि की उपेक्षा	(ii) कृषि संस्थाओं की कमी	(iii) कृषि उपकरण
(iv) भूमि की शक्ति में ह्रास		(iv) बीज
		(v) साख की कमी
		(vi) पशुधन
		(vii) सिंचाई के साधन

भूमि पर जनसंख्या का भार बढ़ने पर (अधिक जनसंख्या) भूमि का उप विभाजन व अपखण्डन होता जा रहा है, जिससे अनार्थिक जोतों (uneconomic holdings) की संख्या बढ़ती जा रही है। अनार्थिक जोतों की उत्पादकता न्यून होती है। स्वतन्त्रता प्राप्ति से पूर्व सरकार द्वारा कृषि की दशा में सुधार लाने के लिए कोई विशेष प्रयत्न नहीं किया गया। स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् भी कृषि पर अपेक्षित ध्यान नहीं दिया गया। इसका प्रमाण यह है कि प्रथम, द्वितीय तथा तृतीय योजनाकाल में कुल व्यय का केवल ३०% भाग ग्रामीण क्षेत्र में व्यय किया गया, जिसमें भारत की ८२% जनता निवास करती है। सरकार की कृषि नीति भी कम उत्पादकता के लिए उत्तरदायी है। कृषि विकास के दो अंग हैं—कृषि सुधार या संस्थागत परिवर्तन तथा कृषि क्रान्ति। कृषि सुधार का अभिप्राय ऐसे संस्थागत परिवर्तनों से है, जिनसे उत्पादन वृद्धि में मदद मिलती है जैसे आर्थिक जोतों का निर्माण, भूमि सुधार कृषि सम्बन्धी वित्तीय विपणन आदि संस्थाओं का संगठन आदि। 'कृषि-क्रान्ति' का यहाँ पर यह अर्थ है कि कृषि विधि में सुधार किया जाय, उत्तम बीज व खाद का प्रयोग किया जाय, सिंचाई सुविधाओं में वृद्धि की जाय, उत्तम औजारों का प्रयोग किया जाय और वैज्ञानिक आधार पर आधुनिक खेती की जाय। संसार के विकसित देशों जैसे ब्रिटेन, अमरीका, रूस आदि में पहले संस्थागत परिवर्तन किये गये, इसके बाद वैज्ञानिक कृषि का प्रचार किया गया। ब्रिटेन में कृषि क्रान्ति के पूर्व घेराबन्दी आन्दोलन (enclosure movement) चलाया गया तथा रूस में सामूहिक खेतों का संगठन किया गया। कृषि विकास में संस्थागत परिवर्तन पहले करने चाहिए परन्तु भारत जैसे विशाल देश में ये दोनों कार्य साथ ही साथ करने का प्रयत्न किया गया। परिणाम यह हुआ कि न तो हम संस्थागत परिवर्तन करने में ही पूर्ण सफल हुए और न वैज्ञानिक कृषि के प्रसार व प्रचार में ही। अतः हमें सोच समझकर 'कृषि-नीति' में आवश्यक परिवर्तन करना चाहिए।

कृषि के विकास के लिए किसानों को आवश्यक सुविधाएँ भी उपलब्ध नहीं हो पाती हैं। अतः कृषि-पदत्त (agricultural inputs) की व्यवस्था करना आवश्यक है। कृषि उत्पादकता के न्यूनता सम्बन्धी कुछ कारणों पर नीचे प्रकाश डाला जा रहा है :

(i) मानवीय तत्त्व—भारतीय कृषि की पिछड़ी दशा होने तथा उत्पादन का स्तर निम्न होने का एक कारण यह है कि भारत का किसान निर्धन, अशिक्षित एवं ऋणी है। आर्थिक गरीबी के कारण वह अत्यधिक भाग्यवादी हो गया है। उसमें परिश्रम वृत्ति तथा कृषि ज्ञान का अभाव नहीं

है किन्तु उसे वर्षों का अनुभव है कि वह यदि अधिकाधिक परिश्रम द्वारा यथेष्ट मात्रा में फसल उत्पन्न कर भी लेता है तो अनेक बार ओले अथवा सरदी उसे नष्ट कर देते हैं और उसके श्रम का उचित प्रतिफल प्राप्त नहीं हो पाता। अत वह कृषि को एक व्यवसाय के रूप में नहीं बल्कि जीवनयापन की प्रणाली के रूप में अपनाता है। स्वभावत. वह वांछनीय मात्रा में उत्पादन उपलब्ध नहीं कर सकता।

किसान की इस भाग्यवादी प्रवृत्ति में परिवर्तन करने की एक रीति तो यह है कि उसे अधिकाधिक शिक्षित करने का प्रयत्न किया जाय। इसके अतिरिक्त प्राकृतिक संकटों का सामना करने के लिए वैधानिक साधनों का प्रयोग करने की चेष्टा करनी चाहिए। इन साधनों की व्यवस्था सरकार द्वारा निशुल्क करनी आवश्यक है क्योंकि किसान की आर्थिक स्थिति ऐसी नहीं है कि वह इन्हें अपनी जेब से व्यय कर खरीद सके।

(ii) **कृषि की रीति एवं उपकरण**—जापान, इटली अथवा अमरीका जैसे देशों में कृषि के नये तथा वैज्ञानिक तरीके काम में लिए जाने लगे हैं जिनसे भारत से दुगुना तिगुना उत्पादन प्राप्त कर लिया जाता है किन्तु मिस्र में तो वैज्ञानिक साधनों का विकास इतना अधिक नहीं हुआ है। वहाँ तो प्राय भारत जैसी ही स्थिति है। इतना होने पर भी मिस्र में गेहूँ, चावल तथा मक्का का प्रति एकड़ उत्पादन भारत से बहुत अधिक है। इस दृष्टि से यह कहना सर्वथा उचित है कि भारतीय कृषि की रीतियों में कुछ मौलिक कमी है जिसके कारण यहाँ का उत्पादन स्तर अत्यधिक निम्न है।

(iii) **खाद की प्रथा**—भारत में पशुओं की संख्या अत्यधिक है और उनके गोबर तथा मूत्र से प्रति वर्ष १६५ करोड़ टन खाद प्राप्त की जा सकती है। इसके अतिरिक्त कम्पोस्ट तथा अन्य बेकार वस्तुओं से लगभग ८७ लाख टन खाद उपलब्ध हो सकती है। दुर्भाग्य से गोबर का अधिकांश भाग ईंधन के रूप में जला लिया जाता है क्योंकि ग्रामीण क्षेत्रों में अन्य सस्ते ईंधन का अभाव है। फलत खेतों को यथेष्ट मात्रा में खाद नहीं मिलती है जिससे उत्पादन की अवस्था सर्वथा हीन है।

इस समस्या का उपचार यह है कि ग्रामीण क्षेत्रों में कोयले अथवा लकड़ी के अन्य ईंधन की व्यवस्था करनी चाहिए तथा पंचायतों के माध्यम से इस बात का प्रचार करना चाहिए कि गोबर को जलाने की प्रवृत्ति समाप्त की जाय।

(iv) **सिंचाई के साधनों की कमी**—भारतीय कृषि प्रधानत मानसून पर निर्भर करती है क्योंकि कुल कृषि-योग्य भूमि के लगभग २३ प्रतिशत भाग में सिंचाई होती है। मानसून पर इतनी अधिक निर्भरता का प्रभाव यह होता है कि देश के अधिकांश भाग की कृषि प्रकृति की दया पर निर्भर है। दूसरी महत्त्वपूर्ण बात यह भी है कि जब तक सिंचाई की यथेष्ट सुविधाओं की व्यवस्था नहीं होती तब तक भूमि में यथोचित खाद देना भी सम्भव नहीं है क्योंकि अधिक खाद का यथोचित प्रयोग करने के लिए काफी जल चाहिए अन्यथा सामान्य खेती के भी सूखने का भय रहता है।

(v) **बीज**—भारतीय कृषि के न्यून उत्पादन का एक महत्त्वपूर्ण कारण यह भी है कि यहाँ के किसान खेती के लिए सर्वोत्तम बीजों के प्रयोग की ओर विशेष ध्यान नहीं देते। अनेक बार तो फसल ही इतनी कम होती है कि इनके पास बीज के लिए अन्न अथवा अन्य वस्तुएँ बचती नहीं हैं जिसके फलस्वरूप उन्हें बाजार से जैसा भी सस्ता और घटिया किस्म का बीज उपलब्ध हो जाता है, खरीदना पड़ता है। इसका फल यह होता है कि अन्नरोग वा फसल की किस्म बहुत घटिया हो जाती है। घटिया किस्म के बीजों से फसल की मात्रा कम होती है और किसानों की आय में भी कमी आ जाती है। यह विषम चक्र देश की कृषि तथा कृषक एवं देश की सम्पूर्ण-व्यवस्था के लिए हानिकारक होता है।

अच्छे तथा सुधरी हुई किस्म के बीजों का प्रचार सामुदायिक विकास केन्द्रों के माध्यम से

किया जाना चाहिए तथा पंचायतों और सहकारी समितियों के द्वारा बढ़िया बीजों की वितरण-व्यवस्था की जानी चाहिए। इस सम्बन्ध में विशेष महत्त्वपूर्ण कदम यह होगा कि कृषकों को जो ऋण दिया जाय उसमें हल, खाद, बीज आदि वस्तुएँ देने की व्यवस्था हो ताकि ऋण का प्रयोग भी सुन्दरता से हो सके।

(vi) **पशुओं की हीनावस्था**—भारतीय कृषि में गाय बैल आदि पशुओं का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है क्योंकि न केवल उनसे गोबर तथा मूत्र के रूप में उत्तम खाद मिलती है बल्कि संकटकाल में किसान गौ का दूध बेचकर जीवन निर्वाह कर सकता है किन्तु भारतीय गौ तथा बैलों की सामान्य स्थिति अच्छी नहीं है, अतः न तो बैल किसान के लिए खेती करने में यथेष्ट सहायक हो सकते हैं और न ही गौ उसके आर्थिक संकटकाल (अकाल आदि) के समय उसको समुचित आर्थिक सहयोग प्रदान कर सकती है।

इस सम्बन्ध में भारत की गौ संवर्द्धन परिषद के अतिरिक्त पंचायतों, सामुदायिक विकास खण्डों तक सरकारी कृषि अनुसन्धान केन्द्रों द्वारा सक्रिय कदम उठाये जाने चाहिए ताकि पशुओं के स्वास्थ्य एवं नस्ल में यथोचित सुधार हो सके।

(vii) **भूमि की शक्ति का ह्रास**—शताब्दियों तक निरन्तर प्रयोग में आने के कारण भारतीय कृषि-भूमि का बहुत ह्रास हो गया है। निरन्तर क्षरण तथा शक्ति-ह्रास के फलस्वरूप भारतीय भूमि की उत्पादन शक्ति बहुत कम हो गयी है। देश में भूमि के अभाव के कारण यह सम्भव नहीं है कि प्रति वर्ष कृषि भूमि का तृतीयांश अथवा चतुर्थांश खाली (बिना खेती किये) छोड़ा जा सके। अतः भूमि के क्षरण को शीघ्रातिशीघ्र रोकने की व्यवस्था करना आवश्यक है तथा भूमि की खोयी हुई शक्ति को पुनः प्राप्त करने के लिए उसमें यथेष्ट खाद तथा उर्वरक पदार्थ देकर उसकी उपजाऊ शक्ति बढ़ाने की चेष्टा की जानी चाहिए। वास्तव में भारतीय भूमि में निरन्तर खेती करने के कारण उसमें घटती हुई उत्पत्ति का नियम लागू हो गया है जिसके प्रभाव को विशेष प्रयत्नों द्वारा ही रोका जा सकता है।

(viii) **भूमि का उप-विभाजन एवं अपखण्डन**—भारत में ८६ प्रतिशत किसानों के पास कुल कृषि-भूमि का ३० प्रतिशत भाग है। इसका अर्थ यह है कि एक किसान के पास औसत में ० ३७ एकड़ भूमि है। इतना ही नहीं यह भूमि भी कई टुकड़ों में बँटी हुई है। कभी कहीं तो भूमि के ये टुकड़े इतने छोटे हैं कि उन पर हल को घुमाने में ही कठिनाई होती है। इतने छोटे-छोटे भू-खण्डों पर खेती करना आर्थिक दृष्टि से उपादेय नहीं है, विशेषतः इसलिए कि भारत में कृषि-क्षेत्र में वैज्ञानिक रीतियों तथा गहरी खेती की नवीनतम प्रणालियों का अभी तक विशेष प्रचार नहीं हुआ है।

भूमि के छोटे छोटे टुकड़ों की समस्या को हल करने के लिए सभी राज्यों में चकबन्दी की योजनाएँ चालू हैं। इन योजनाओं को सफल बनाने में भी पंचायतों तथा सहकारी समितियों का सहयोग प्राप्त करना चाहिए और भूमि के अधिकांश भाग को खेती के लिए लाभदायक बनाने की चेष्टा करनी चाहिए। इस सम्बन्ध में सहकारी समितियाँ भूमि की क्षतिपूर्ति के लिए ऋण देकर सहयोग प्रदान कर सकती हैं।

(ix) **साख की कमी**—भारत में कृषि विकास के लिए प्रति वर्ष लगभग २००० करोड़ रुपये की आवश्यकता पड़ती है। इस राशि के अधिकांश भाग की पूर्ति देशी बैंकर तथा ग्रामों के साहूकार करते हैं। यह लोग न केवल अधिक ब्याज लेते हैं बल्कि किसानों से अनेक प्रकार की बेगार करने के लिए बाध्य करते हैं और कृषि-उपज का एक भाग मूल अथवा ब्याज के रूप में हड़प लेते हैं। इस दुर्व्यवस्था के कारण किसान ऋणग्रस्त हो जाता है। कभी कभी उस समय पर

ऋण नही मिल पाता जिसके कारण उसे बीज, खाद अथवा अन्य आवश्यक वस्तुएँ प्राप्त करने मे बहुत कठिनाई का सामना करना पडता है और इसका प्रत्यक्ष प्रभाव कृषि उत्पादन पर पडता है।

देश मे कृषि साख की उचित व्यवस्था करने के लिए भारत के सहकारी आन्दोलन को पुनर्गठित करना आवश्यक है। इसके लिए ऋणो के उचित समय, उचित दर तथा उचित रूप मे प्राप्त होने की व्यवस्था करनी आवश्यक है। वास्तव मे, किसानो को जब तक साहूकार के खूनी पंजे से मुक्त नही किया जाता तब तक भारतीय कृषि का भविष्य सदिग्ध ही बना रहेगा।

(x) **कृषि-रोग आदि**—उपर्युक्त सभी तत्त्वो के अतिरिक्त कभी-कभी प्राकृतिक तत्त्व यथा फसलों की अनेक बीमारियाँ बाढ ओले तथा शीत लहरें आदि समय-समय पर फसलो को हानि पहुँचाती रहती है जिससे भूमि का वास्तविक उत्पादन बहुत कम रह जाता है। इन तत्त्वो को वैज्ञानिक उपकरणो की सहायता से ही नियन्त्रित किया जा सकता है।

(xi) **विक्रय-व्यवस्था**—भारतीय किसान की एक महत्त्वपूर्ण समस्या यह रही है कि उसे अपना माल मण्डियो मे बेचना पडता है। यह मण्डियाँ या तो बहुत दूर हैं जहाँ तक पहुँचने के लिऐ यातायात के साधन यथेष्ट नही है या इनमे विक्रय की व्यवस्था ठीक नहीं है। अत किसान को अपने माल के उचित दाम प्राप्त करने मे कठिनाई होती है। इस कठिनाई के कारण वह कभी कभी तो अपना माल ग्राम मे साहूकार को ही बेच देता है जिससे उसे और भी कम मूल्य प्राप्त होता है।

सन् १९७० तक देश मे व्यवस्थित मण्डियो की संख्या १,९१८ हो गयी थी जिसके फल-स्वरूप ऐसी मण्डियो की संख्या ६०० रह गयी जिनमे माल के क्रय विक्रय का नियमन राज्यो द्वारा बनाये गये कानून द्वारा नही हो रहा है। वस्तुत किसानो को माल का उचित मूल्य तथा उप भोक्ताओ को उचित मूल्य पर माल तभी मिल सकता है जबकि मण्डियो मे क्रय विक्रय की व्यवस्था नियन्त्रित हो। केन्द्रीय तथा राज्य सरकारो द्वारा शेष मण्डियो मे भी लेन देन की व्यवस्था का यथाशीघ्र नियन्त्रण कर देना चाहिए अन्यथा मूल्य तथा माल की किस्म का नियन्त्रण सम्भव नही हो सकेगा।

(xii) **भूमि सुधार**—यद्यपि देश के अधिकाश राज्यो ने भूमि सुधार कानून पास कर दिये है किन्तु उनमे अनेक कमियाँ हैं जिनके कारण अनेक क्षेत्रो मे किसानो को खेती के लिए भूमि उपलब्ध नही हो सकी है। भूमि की सीमा निर्धारित करने पर भी अनेक व्यक्तियो ने विभिन्न रीतियो द्वारा अनुमति से अधिक भूमि अपने पास रख ली है। इस प्रकार कानून भंग करने वाले व्यक्तियो मे शक्तिशाली जमीदार तथा राजनीतिज्ञ प्रमुख है। तीसरी नोट करने योग्य बात यह है कि अनेक स्थानो पर खेती करने वाले किसानो को बेदखल कर दिया जाता है क्योकि वे शक्तिशाली जमीदारो से लडने योग्य आर्थिक स्थिति मे नही हैं। अत यदि समाजवाद की स्थापना करने का ध्येय फलीभूत करना है तो जनसाधारण के लिए सस्ता ही नही, नि शुल्क न्याय की व्यवस्था करनी होगी। भारतीय कृषि का सबल बनाने के लिए कृषक को सशक्त बनाना आवश्यक है और न्याय-व्यवस्था मे क्रान्ति-कारी परिवर्तन किये बिना इस उद्देश्य की पूर्ति नही हो सकती।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि भारतीय कृषि की उत्पादकता कम होने के विभिन्न कारण हैं। इन सभी कारणो से कृषि उत्पादन प्रति एकड कम होता है। अत इन सभी समस्याओ का समाधान आवश्यक है। भारतीय कृषि का पिछडापन भारतीय कृषि की निहित शक्ति एवं भविष्य में विकास की सम्भावनाओ का प्रतीक है। प्रति एकड न्यून उत्पादन कम से कम इस बात का द्योतक है कि हम भविष्य मे कृषि उत्पादन मे कई गुना वृद्धि कर सकते हैं। आवश्यकता इस बात की है कि कृषि विकास के लिए निश्चित नीति निर्धारित की जाय तथा उसे धैर्य एवं दृढता के साथ क्रियान्वित किया जाय। कृषि उत्पादन मे वृद्धि के लिए बहुत अधिक पूँजी की आवश्यकता नहीं होगी। हम कम पूँजी द्वारा भी भारतीय कृषि का विकास कर सकते हैं। थोडे से अतिरिक्त प्रयत्न द्वारा भी हम कृषि का कायाकल्प कर सकते हैं।

7 फसलों का स्वरूप

(THE CROPPING PATTERN)

भारत एक विलक्षण देश है। यहाँ अनेक प्रकार की जलवायु की भाँति उत्पत्ति भी अनेक प्रकार की होती है। अत्यन्त शीत में होने वाले गेहूँ तथा जौ से लेकर अत्यन्त गरमी एवं वर्षा में उत्पन्न होने वाले गन्ना तथा रबड़ और कहवा तक इस देश में उपलब्ध होते हैं। कृषि की विभिन्न उपजों की दृष्टि से भारत एक अजायबघर के समान है जहाँ गेहूँ चावल, चना, जौ, मक्का, ज्वार, बाजरा, मूँग, मोंठ, उर्द, तिल मूँगफली जैसी खाद्य फसलें, गन्ना, कपास, पटसन जैसी व्यावसायिक फसलें, चाय, कहवा, कोको जैसे पेय पदार्थ तथा रबड़, सिनकोना आदि अन्य प्रकार की वस्तुएँ उपलब्ध होती हैं। इनके अतिरिक्त अनेक प्रकार के फल भी विभिन्न भागों में उपलब्ध होते हैं।

कृषि फसलों का क्षेत्रफल और उत्पादन (१९६९-७०)

फसल	क्षेत्रफल (लाख हेक्टेयर)[1]	उत्पादन (मिलियन टन)	फसल	क्षेत्रफल (लाख हेक्टेयर)	उत्पादन (मिलियन टन)
१ चावल	३५०	४० ४	९ गन्ना (गुड़)	२७	१३ ४
२. गेहूँ	१२८	२० १	१० कपास	७८	५ २ मि० गाँठें
३ ज्वार	१७२	९·७	११. पटसन[2]	११	६ ८ ,,
४. बाजरा	११४	५ ३	१२. चाय	३	३९५ मि० किग्रा०
५ मक्का	४६	५ ७	१३ तम्बाकू	३	३·४ लाख टन
६ जौ	२६	२ ४	१४. मूँगफली	७२	४ ८
७ चना	७८	४ ३	१५ कहवा	१	६१ हज़ार टन
८ अन्य दालें	१३६	६ १	१६ रबड़	२	

सन् १९६९-७० में खाद्यान्नों का उत्पादन ९९ ५ मिलियन टन हुआ था तथा सन् १९७०-७१ में १०५ मिलियन टन होने का अनुमान है। १९७५-७६ में खाद्यान्नों का लक्ष्य १२९ मिलियन टन रखा गया है।

भारत में दो मौसमों की फसलें होती हैं—रबी की फसल और खरीफ की फसल। रबी की फसलें सरदी में बोयी जाती हैं और गरमी में काट ली जाती हैं। गेहूँ, चना, जौ आदि रबी की मुख्य फसलें हैं। खरीफ की फसलें गरमी में मानसून के आरम्भ के साथ ही बोयी जाती हैं तथा

---

[1] हेक्टेयर = २ ४७१ एकड़।

[2] मेस्टा सहित।

सरदी मे काट ली जाती हैं। ज्वार, बाजरा, मक्का, रुई, चावल आदि खरीफ की फसलें हैं। देश की मुख्य फसलें निम्नलिखित हैं

खाद्य फसलें

१ चावल—भारत के अधिकाश निवासियो का मुख्य भोजन चावल है। आसाम, बगाल, उडीसा, *बिहार तथा पूर्वी उत्तर प्रदेश*, काश्मीर, महाराष्ट्र, गुजरात, आन्ध्र, मैसूर, केरल, मद्रास तथा मध्य प्रदेश को अधिकतर जनता का दैनिक आहार चावल है। चावल के इस देशव्यापी प्रयोग (उत्तर से दक्षिण—काश्मीर से कन्याकुमारी, तथा पश्चिम से पूर्व—बम्बई से गोहाटी तक) ने ही सम्भवत चावल को भारत के सामाजिक जीवन से भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान प्रदान कर रखा है जिसके फलस्वरूप प्रत्येक धार्मिक कार्य मे चावल का प्रयोग अनिवार्य रूप मे किया जाता है।

उत्पत्ति, आवश्यकता एव उपयोग—भारत मे चावल का वार्षिक उत्पादन आवश्यकता से १०–१५ लाख टन कम पडता है। इस कमी की पूर्ति ब्रह्मा, मलेशिया तथा अमरीका से चावल का आयात करके की जाती है।

चावल की उत्पत्ति प्राय भारत के सभी भागो मे होती है किन्तु गगा-यमुना-ब्रह्मपुत्र का मैदान तथा डेल्टा, पजाब के सिचाई वाले प्रदेश, दक्षिण भारत के तटीय मैदान तथा हिमाचल के निचले भाग चावल की उपज के लिए विशेष प्रसिद्ध हैं।

चावल प्रारम्भ मे धान के रूप मे उत्पन्न होता है, अत उसे छिलके से अलग करना आवश्यक होता है। इस कार्य के लिए पूर्वी भारत (आसाम, बगाल, बिहार, पूर्वी उत्तर प्रदेश) मे प्राय. सब जगह चावल साफ करने की मिलें स्थापित हो गयी हैं। चावल का छिलका उतारने के पश्चात उसकी पालिश अथवा कटाई भी की जाती है जिससे उसमे चमक आ जाती है। ऐसा करने पर चावल के कुछ पौष्टिक तत्त्व नष्ट हो जाते हैं, अत बहुत से लोग हाथ से कटा हुआ (साफ किया गया) चावल ही प्रयोग करना पसन्द करते है। गत वर्षों मे भारत सरकार ने चावल की नयी मिलें स्थापित करने के लाइसेंस देने बन्द कर दिये हैं। ऐसा करने का कारण यह है कि चावल क्षेत्रो मे हाथ से धान कूटने के व्यवसाय को प्रोत्साहन मिलने से बहुत-सी स्त्रियो को अतिरिक्त रोजगार मिल सकता है और चावल की पौष्टिक शक्ति भी यथावत् बनी रहती है।

२ गेहूँ—चावल के पश्चात् दूसरा महत्त्वपूर्ण अन्न गेहूँ है। पजाब, दिल्ली, उत्तर प्रदेश बिहार तथा कुछ अन्य भागो मे गेहूँ को भोजन के रूप मे काम मे लिया है। गेहूँ का प्रयोग चपाती, डबल रोटी, *मैदा तथा रवा (सूजी) बनाने के लिए किया जाता है।*

भारत मे लगभग १० करोड व्यक्ति गेहूँ का उपयोग करते हैं किन्तु देश मे उपलब्ध गेहूँ आवश्यकता से कम होता है, अत प्रति वर्ष ४०–५० लाख टन गेहूँ अमरीका, आस्ट्रेलिया, कनाडा अर्जेण्टाइना से आयात किया जाता है।

भारत मे शरबती, सफेद तथा लाल गेहूँ उत्पन्न होता है। शरबती तथा सफेद गेहूँ अपेक्षाकृत बढिया होता है और पजाब, राजस्थान तथा पश्चिमी उत्तर प्रदेश एव महाराष्ट्र के कुछ भागो मे उत्पन होता है। बलुही अथवा कम उपजाऊ लाल मिट्टी मे लाल गेहूँ उत्पन्न होता है। भारत का गेहूँ अन्य देशो के गेहूँ से अधिक पुष्टिकारक होता है। पिछले कुछ वर्षो मे अधिक उत्पादन देने वाले मैक्सिकन, कल्याण सोना, लाल बहादुर आदि किस्मो के गेहूँ की उत्पत्ति मे वृद्धि हुई है।

३ जौ—यह निर्धन व्यक्तियो का भोजन है और गेहूँ के साथ ही अक्टूबर-नवम्बर मे बोया जाता है। जौ की विशेषता यह है कि इसके लिए सामान्य उपजाऊ भूमि यथेष्ट है। इसके लिए भी गेहूँ की भाँति सामान्य वर्षा अथवा सिचाई से काम चल जाता है किन्तु जौ में *अधिक* शीत सहन करने की शक्ति होती है।

भारत मे जौ का प्रयोग उत्तर प्रदेश, पजाब तथा राजस्थान के कुछ भागो म किया जाता है। अनेक स्थानो पर इसे चने के साथ मिलाकर खाया जाता है। जौ की शराब भी बनायी जाती है। जौ के ऊपर का छिलका पशुओ को खिलाने के लिए उपयोगी होता है। जौ की उपज मुख्यत. उत्तर प्रदेश, मध्य प्रदेश, पजाब तथा राजस्थान मे होती है और इन भागो मे ही इसका प्रयोग किया जाता है।

४ ज्वार—जौ की भांति ही ज्वार भी सस्ता अन्न है। इसकी उपज के लिए सामान्य उपजाऊ भूमि तथा साधारण वर्षा या सिंचाई यथेष्ट होती है। वर्षा अधिक होने पर ज्वार का पौधा बहुत ऊँचा बढ जाता है और पशुओ के लिए चारे की यथावश्यक पूर्ति करता है। ज्वार का हरा चारा दूध देने वाले पशुओ के लिए बहुत उपयोगी होता है। ज्वार की उपज मुख्यत महाराष्ट्र, मध्य प्रदेश, उत्तर प्रदेश, दक्षिण भारत तथा राजस्थान के कुछ भागो मे होती है। इन्ही भागो के निर्धन निवासी ज्वार का भोजन के रूप मे प्रयोग करते हैं।

५ बाजरा—ज्वार की तरह बाजरा भी हल्का अन्न कहलाता है क्योकि यह अपेक्षाकृत सूखे प्रदेशो में उत्पन्न होता है। बाजरे की खेती के लिए हल्की बलुही भूमि तथा सामान्य वर्षा की आवश्यकता होती है। अधिक वर्षा से बाजरे का पौधा सड जाता है और वह पशुओ के चारे के लिए भी यथेष्ट उपयोगी नही रहता। सिंचाई से उत्पन्न किया गया बाजरा प्राय वर्षा से उत्पन्न बाजरे से घटिया किस्म का होता है। बाजरा जून-जुलाई मे बोया जाता है तथा नवम्बर-दिसम्बर में काट लिया जाता है। बाजरे की उपज मुख्यत पजाब, राजस्थान, मध्य प्रदेश, गुजरात तथा आन्ध्र राज्यो मे होती है। बाजरा निर्धन जनता का मुख्य भोजन है। राजस्थान के पश्चिमी तथा उत्तरी भागो के कुछ निवासी वर्ष भर बाजरे का ही भोजन के रूप मे प्रयोग करते हैं।

६ मक्का—यह मूल रूप मे अमरीका की उपज है। इसम स्टार्च अधिक होता है, अत. इसकी उपज मुख्यत सुअरो को खिलाने के लिए की जाती है। भारत मे मक्का का प्रयोग मनुष्यो के भोजन के लिए होता है। मक्का की खेती पजाब, उत्तर प्रदेश, बिहार, दक्षिणी राजस्थान तथा दक्षिण भारत मे होती है। खान के अतिरिक्त मक्का का प्रयोग स्टार्च बनाने मे किया जाता है। देश के कई भागो (बडे नगरो) मे स्टार्च बनाने की फैक्ट्रियाँ स्थापित हो गयी हैं।

७ चना—यह एक खाद्यान्न भी है और दाल भी। पजाब तथा पश्चिमी उत्तर प्रदेश मे, जहाँ चना प्रचुर मात्रा मे उत्पन्न होता है यह मुख्यत गेहूँ के साथ मिलाकर खाया जाता है। महाराष्ट्र तथा गुजरात मे चने के बेसन से अनेक प्रकार के पकवान बनाये जाते हैं। चना तथा उसकी दाल शरीर की पुष्टता के लिए बहुत उपयोगी होती है और सम्भवत इसीलिए इसे भिगोकर घोडो को खिलाया जाता है। चने का प्रयोग दाल, बेसन या मूल रूप मे ही खाने के लिए किया जाता है। सबसे अधिक चना पजाब तथा राजस्थान मे उत्पन्न होता है किन्तु गुजरात, महाराष्ट्र तथा उत्तर प्रदेश मे चने की खेती की जाती है।

८ अन्य दालें—भारत जैसे देश मे जहाँ बहुत-से लोग माँस, मछली अथवा अण्डो का प्रयोग नही करते, दालो का प्रयोग बहुत महत्त्वपूर्ण है क्योकि दालो मे यथेष्ट प्रोटीन होती है जो शरीर को शक्ति प्रदान करती है। दालो मे से कुछ (चना) पशुओ के लिए भी महत्त्वपूर्ण है। दालो की तीसरी विशेषता यह है कि यदि वह अन्य फसलो के साथ बोयी जायें तो भूमि को नाइट्रोजन प्रदान करती हैं जिससे भूमि की खोई हुई उपजाऊ शक्ति पुन प्राप्त होती रहती है। इस प्रकार भारतीय भोजन मे दाल एक महत्वपूर्ण स्थान रखती है।

दालो में चने के अतिरिक्त उर्द, मूँग, मोठ, मसूर तथा अरहर आदि प्रमुख हैं और उनकी उपज प्राय अन्य खाद्यान्नो के साथ की जाती है। उदाहरणत' मूँग, मोठ आदि दालें प्राय' बाजरे के साथ ही उत्पन्न की जाती हैं।

व्यावसायिक फसलें

१ रुई—व्यावसायिक फसलो मे रुई सबसे महत्त्वपूर्ण फसल है क्योंकि इस पर देश का सबसे महत्त्वपूर्ण उद्योग—वस्त्र उद्योग—निर्भर है। भारत के विभाजन के पूर्व भारतीय वस्त्र उद्योग के लिए लम्बे रेशे की रुई भी विदेशो से आयात नही करनी पडती थी क्योंकि अहमदाबाद की वस्त्र मिलों के लिए पश्चिमी पजाब तथा सिन्ध मे उत्पन्न लगभग १० लाख गाँठ लम्बे रेशे की रुई उपलब्ध हो जाती थी। देश के विभाजन के कारण अब लम्बे रेशे की रुई अमरीका, मिस्र अथवा सूडान से आयात करनी पडती है। इसके साथ ही छोटे रेशे की रुई का देश मे बाहुल्य है अत छोटे रेशे की रुई जापान तथा अन्य देशों को निर्यात की जाती है।

फसल तैयार होने पर कपास चुनने के लिए मजदूरों की आवश्यकता होती है। फसल निकालने के पश्चात प्राय मिलों के एजेण्ट उसे खरीद लेते हैं और उसे मिलो तक पहुँचाने की व्यवस्था कर देते हैं।

रुई या कपास प्राय छोटे, मध्यम या लम्बे रेशे वाली होती है। लम्बे रेशे वाली रुई के तार बहुत बारीक तथा लम्बे होते हैं जिनसे बहुत बढिया किस्म का सूत कतता है। इस रुई के सूत से बनने वाला कपडा स्वभावत बहुत बढिया होता है।

२. पटसन—जूट या पटसन एक पौधे का भीतरी छिलका होता है। पानी मे डालकर पौधे के बाह्य भाग को सडा देते हैं और उसे रेशे या छिलके से अलग कर देते हैं। यह रेशा बहुत मजबूत तथा चमकदार होता है।

जूट की उत्पत्ति के लिए काफी जल और नदियो की नयी मिट्टी की आवश्यकता है। फसल पकने के पश्चात इसके रेशे को मूल पौधे से अलग करने के लिए जूट के गट्ठर बाँधकर पानी मे डालना आवश्यक होता है, अत पटसन के उत्पत्ति क्षेत्रों के आस-पास तालाब, नदियाँ अथवा नहरें भी यथेष्ट होनी चाहिए ताकि पौधे को धोकर, कूटकर तथा सुखाकर जूट का रेशा प्राप्त करना सम्भव हो सके।

पूर्ति की स्थिति—भारत के विभाजन के समय देश मे जूट की उपज आवश्यकता से अधिक थी और ससार के कई देशों को जूट निर्यात किया जाता था किन्तु विभाजन होने पर जूट उत्पादन करने वाला प्रमुख क्षेत्र (कुल का लगभग ७३ प्रतिशत) पूर्वी पाकिस्तान मे चला गया और जूट का माल निर्मित करने वाले सब कारखाने भारत मे रह गये। इसका परिणाम यह हुआ कि भारत को लगभग ५०-६० लाख गाँठें जूट की कम पडने लगी। परिणामस्वरूप, पाकिस्तान से जूट आयात करने की व्यवस्था करनी पडी।

भारत मे जूट उत्पादन करने वाले क्षेत्रो मे अब बगाल, आसाम, बिहार, उत्तर प्रदेश तथा दक्षिण भारत के पूर्वी तटीय मैदान हैं। ऐसा अनुमान है कि अब देश मे पटसन की कमी नही है। भारत कच्चा जूट निर्यात करने का विचार कर रहा है।

३ गन्ना—यह एक उष्णकटिबन्धीय फसल है। इसकी खेती के लिए अच्छी भूमि, प्रचुर जल (अथवा वर्षा) तथा ऊँचे तापमान की आवश्यकता होती है। गन्ने की खेती के लिए उसके टुकडे (गांठ के स्थान से) काटकर भूमि मे गाड दिये जाते हैं और उन्हें निरन्तर पानी दिया जाता है। यह कार्य मार्च-अप्रैल मे कर दिया जाता है। नवम्बर मे गन्ने की फसल पकने लगती है और उसे काटकर चीनी अथवा गुड बनाने के लिए काम मे लेना आरम्भ कर दिया जाता है।

१९५०-५१ मे गन्ना केवल ४२ लाख एकड भूमि मे उत्पन्न किया जाता था और उसकी उपज ५.६१ करोड टन थी। प्रस्तुत अकों से यह स्पष्ट है कि गत १५ वर्षों मे गन्ने की खेती के अन्तर्गत भूमि में लगभग ४० प्रतिशत तथा उपज में लगभग ६५ प्रतिशत की वृद्धि हुई है। उपज मे

अधिक वृद्धि होने का कारण यह है कि कोयम्बटूर के गन्ना शोध-केन्द्र ने गन्ने की कुछ किस्में निकाली हैं जो अधिक उत्पत्ति तथा अधिक शक्कर प्रदान करती हैं। दक्षिण भारत मे प्राय बढ़िया किस्म का गन्ना ही उत्पन्न किया जा रहा है और शक्कर के नये कारखाने मुख्यत दक्षिण में ही स्थापित हो रहे हैं।

भारत मे गन्ना उत्पादन करने वाले प्रमुख राज्य उत्तर प्रदेश तथा बिहार रहे हैं किन्तु गत वर्षों में उनका महत्व बहुत कम हो गया है क्योंकि इन राज्यो मे उत्पन्न गन्ने में ९-१० प्रतिशत शक्कर उपलब्ध होती है जबकि दक्षिण भारत म उत्पन्न गन्ना १२-१३ प्रतिशत चीनी दे देता है।

४ चाय—चाय एक झाडी की पत्ती होती है और इसकी उत्पत्ति के लिए निरन्तर बहने वाला पानी बहुत उपयोगी होता है। अत चाय की उपज क लिए पहाडी क्षेत्र बहुत उपयुक्त होते हैं। इसी कारण भारत मे चाय उत्पन्न करने वाले प्रमुख क्षत्र आसाम, पश्चिमी बगाल, कांगडा घाटी तथा नीलगिरि की पहाड़ियां हैं।

एक अनुमान के अनुसार ससार मे चाय की मांग लगभग १६३ ६ करोड पौण्ड है जबकि पूर्ति लगभग १६२ ८ करोड पौ ड है। इससे चाय की पूर्ति की स्थिति का अनुमान लग सकता है। वास्तव मे, चाय कहवे से लगभग २५% सस्ती होती है और गत वर्षों मे इसकी मांग तथा उत्पादन दोनो मे वृद्धि हुई है। भारत मे चाय का वार्षिक उत्पादन लगभग ८२ करोड पौण्ड है जिसका ६०% से अधिक भाग निर्यात कर दिया जाता है। भारत ससार के सब देशो स अधिक चाय उत्पन्न करता है और यह सबस बडा निर्यातक भी है। इसका अनुमान इस बात से लगता है कि १९६९-७० म भारत द्वारा १२५ करोड रुपय की चाय निर्यात की गयी। यह भारत के कुल निर्यातो की लगभग ९ प्रतिशत थी।

शोध-कार्य—चाय के उत्पादन सम्बन्धी शोध के लिए भारत मे किसी भी सस्था का सर्वथा अभाव था। इसकी पूर्ति के लिए २५ अक्टूबर, १९६३ को भारतीय विज्ञान तथा औद्योगिक अनुसन्धान परिषद ने चाय बोर्ड के सहयोग से एक चाय शोध सस्थान (Tea Research Association) स्थापित किया है। इस सस्थान द्वारा दार्जिलिंग तथा दुआर्स चाय क्षेत्रो की उपज के सम्बन्ध मे शोध करने की आशा है।

५ कहवा (Coffee)—यह पेय पदार्थ भी चाय की भांति ही पहाडी ढालो पर उगाया जाता है। इसके विकास क लिए गरम तथा नम जलवायु अधिक लाभदायक है इसलिए यह मुख्यत. विषुवतरेखीय प्रदेशो मे अधिक होता है। भारत में कहवे का प्रमुख उपज क्षेत्र मैसूर है जहाँ देश मे कुल उत्पादन का ५०% कहवा उत्पन्न होता है। शेष कहवा तमिलनाडु तथा केरल म पैदा होता है।

कहवे की खपत बढाने के लिए उसकी किस्म मे सुधार करने की आवश्यकता है। इसके अतिरिक्त कहवा तैयार करने, सँवारने तथा पैकिंग करने की सुविधाओ में वृद्धि करने के लिए सस्ते ऋण भी सुलभ कराने की आवश्यकता है।

६ तिलहन (Oil Seeds)—भारत मे कई प्रकार क तिलहन तथा सरसो, तोरिया, तिल, अलसी, नारियल, मूँगफली आदि उत्पन्न होत हैं। देश मे घी का उत्पादन यथेष्ट न होने के कारण स्निग्ध अथवा चिकने पदार्थों की मुख्य पूर्ति तेलो द्वारा ही की जाती है। मूँगफली तथा तिल का प्रयोग तो मुख्यत. वनस्पति तल निर्मित करन के लिए होता है। नारियल, तिल, सरसो आदि के तेल खाने तथा औद्योगिक कार्यों मे प्रयुक्त किय जाते हैं।

सन् १९५०-५० म भारत का तिलहन का उत्पादन लगभग ५१ लाख टन था जो १९६५-६६ मे बढकर लगभग ८६ लाख टन हो गया। १९६९-७० मे उत्पादन ७६ लाख टन था जिसमे लगभग ५१ लाख टन मूँगफली थी।

गत पाँच छह वर्षों से भारत मे ही तिलहन की बहुत कमी आ गयी है जिससे वनस्पति तेल का उत्पादन गिर गया है और मूल्यो मे निरन्तर वृद्धि हुई है। इस समस्या को हल करने के लिए सरकार ने सोवियत सघ से सोयाबीन और सनफ्लावर तेल आयात किया है जिसके कारण वनस्पति तेलो के मूल्य मे कुछ गिरावट आयी है।

७ तम्बाकू (Tobacco)—यह एक ऐसा पदार्थ है जिसे खाने, सूंघने तथा धूम्रपान करने के काम मे लिया जाता है। तम्बाकू के लिए उपजाऊ भूमि की आवश्यकता होती है जिसमे सिंचाई की यथेष्ट सुविधाएँ उपलब्ध हो। इसके लिए गरम जलवायु विशेष सहायक होती है। तम्बाकू उत्पन्न करने वाले क्षेत्रो मे बगाल, गुजरात, महाराष्ट्र, आन्ध्र, उत्तरी बिहार तथा मद्रास अधिक महत्त्वपूर्ण हैं। पजाब उत्तर प्रदेश तथा राजस्थान मे भी तम्बाकू उत्पन्न की जाती है।

गत वर्षों मे भारतीय तम्बाकू को गम्भीर स्पर्द्धा का सामना करना पड रहा है किन्तु गुण्टूर तथा दक्षिण भारत के अन्य भागो मे उत्पन्न वर्जीनिया तम्बाकू की विदेशो मे काफी माँग है। तम्बाकू निर्यात सवर्द्धन परिषद के अध्यक्ष श्रीकुमारन् नैयर का कथन है कि भारत से तम्बाकू के अतिरिक्त बीडी, सिगरेट तथा सिगार आदि का निर्यात बढाने की चेष्टा करनी चाहिए। १९६९-७० मे अनिर्मित तम्बाकू का कुल निर्यात लगभग ३३ करोड रुपये के मूल्य का था। प्रति वर्ष बढते हुए उत्पादन करो के कारण तम्बाकू तथा उससे निर्मित पदार्थों के मूल्य मे निरन्तर वृद्धि हो रही है। सरकार को चाहिए कि निर्यात किये जाने वाले माल पर उत्पादन कर की कुछ छूट दे दी जाय जिससे भारतीय माल अन्य देशो के सरलतापूर्वक स्पर्द्धा कर सके और निर्यातो मे वृद्धि कर अधिकाधिक विदेशी विनिमय अर्जित किया जा सके।

८ रबड—यह एक विषुवतरेखीय पौधा है और अत्यधिक गरमी तथा घनी वर्षा वाले प्रदेशो मे उत्पन्न होता है। फलत ब्राजील, मलेशिया, सिंगापुर, इण्डोनेशिया आदि देशो मे रबड प्रचुर मात्रा मे उत्पन्न होता है। भारत मे रबड की उपज मुख्यत दक्षिण भारत मे की जाती है।

भारत मे रबड की प्रति एकड उपज केवल ३२४ पौड है जबकि मलेशिया मे १,५००-२,००० पौड है। गत वर्षों म कुछ ऐसी किस्मो का भी विकास किया गया है जो ३,००० पौड प्रति एकड तक उपज दे सकती हैं।

भारत मे रबड की वार्षिक माँग लगभग ७७,००० टन है जिसका बहुत-सा भाग विदेशी से आयात कर पूरा करना पडता है। अमरीका, कनाडा तथा ब्रिटेन आदि देशो ने कृत्रिम रबड (Synthetic) बनाना आरम्भ कर दिया है। अमरीका तो विश्व के सम्पूर्ण कृत्रिम रबड का लगभग ७० प्रतिशत तैयार करता है। भारत मे भी कृत्रिम रबड बनाने की एक फैक्टरी बरेली मे स्थापित की गयी है।

आगामी दस वर्षों मे यातायात के साधनो के विकास, औद्योगिक प्रगति तथा अन्य कारणो से भारत मे रबड की माँग ३ लाख टन तक पहुँच जाने की आशा है जिसकी पूर्ति के लिए न केवल प्राकृतिक रबड का उत्पादन बढाना आवश्यक होगा बल्कि कृत्रिम रबड तैयार करने के लिए नये कारखाने भी खोलने आवश्यक होगे।

अन्य वस्तुएँ—भारत मे ऊपर दी गयी वस्तुओ के अतिरिक्त अनेक अन्य वस्तुओ की उत्पत्ति होती है। खोपरा, काली मिर्च, गरम मसाले तथा सिनकोना (जिसमे कुनैन बनती है) जैसे पदार्थों से लेकर आम, लीची, केला, सन्तरा तथा अन्य विविध प्रकार के फल इस देश मे उत्पन्न किये जाते हैं। आम, केले तथा लीची का रूस तथा अन्य देशो को वायुमार्ग से निर्यात भी आरम्भ हो गया है। वास्तव मे, भारत मे जितनी वस्तुएँ उत्पन्न होती हैं उनका व्यावसायिक दृष्टि से विशेष प्रबन्ध करने की आवश्यकता है। सामान्य प्रयत्नो द्वारा ही उनका उत्पादन बहुत बढाया जा

सकता है। खाद्यानो तथा व्यावसायिक फसलो के साथ-साथ अन्य फुटकर वस्तुओ के लिए भी विकास योजनाएँ बनायी जानी चाहिए ताकि वह देश की जनता के लिए पूरक खाद्य पदार्थों का काम दे सकें तथा देश के लिए विदेशी विनिमय कमाने में महत्वपूर्ण साधन बन सकें।

प्रश्न

१. भारतीय कृषि की मुख्य समस्याएँ क्या हैं ? उनके समाधान के लिए सुझाव दीजिए।
(इलाहाबाद, बी० ए०, १६५४)

२. भारत मे कृषि उत्पादकता कम क्यो है ? क्या आप इसको बढाने के लिए किये गये कार्यों से सन्तुष्ट हैं ? (बनारस, बी० ए०, १६५४)

३ भारत में कृषि का यन्त्रीकरण कहाँ तक उचित एव सम्भव है ?
(विक्रम, बी० कॉम०, १६६२; पजाब, बी० ए०, १६६२, नागपुर, बी० कॉम०, १६६४)

४. भारतीय किसान को भाग्यवादी कहते हैं। उन आर्थिक एव सामाजिक परिस्थितियो का वर्णन कीजिए जो कि भाग्यवादी दृष्टिकोण के लिए उत्तरदायी हैं।
(आगरा, बी० कॉम०, १६६०)

५ भारत मे कृषि फसलो की न्यून उत्पत्ति के कारण स्पष्ट कीजिए तथा सुधार के उपाय बतलाइए।
(राजस्थान, बी० ए०, १६६२, बी० कॉम, १६५६, जबलपुर, बी० ए०, १६६३)

8 भारत में कृषि का विकास (१९५१ तक)

(AGRICULTURAL DEVELOPMENT IN INDIA)

१ सन् १८५७ से पूर्व भारतीय कृषि

भारत मे ब्रिटिश शासन भी प्राय दो भागो मे विभाजित किया जाता है। प्रथम भाग १८५७ तक गिना जाता है जबकि भारत का राजनीतिक शासन ईस्ट इण्डिया कम्पनी के हाथ से निकलकर सीधा ब्रिटिश ससद के अधीन चला गया। द्वितीय भाग प्रत्यक्ष ब्रिटिश शासन से सम्बन्धित है। ईस्ट इण्डिया कम्पनी के शासन काल मे कृषि को दो महत्त्वपूर्ण परिवर्तनो का सामना करना पड़ा। प्रथम था लार्ड कार्नवालिस की दोहरी शासन नीति जिसके अनुसार भारत मे जमीदारो का एक नया वर्ग स्थापित कर दिया गया। दूसरा परिवर्तन यह था कि देश मे लगान की वसूली मुद्रा मे की जाने लगी जिसमे किसानो को लगान का भुगतान करने मे अनेक कठिनाइयो का सामना करना पड़ा। इन परिवर्तनो के अतिरिक्त १८५७ से पूर्व की भारतीय कृषि अनियन्त्रित चलती रही। कम्पनी शासन की समाप्ति के समय भारतीय कृषि की महत्त्वपूर्ण मौलिक विशेषताएं निम्नलिखित थी

(१) **आत्मनिर्भर कृषि**—उस समय की कृषि की पहली विशेषता यह थी कि कृषि ग्राम-प्रधान तथा ग्राम केन्द्रित थी। इसका तात्पर्य यह है कि कृषि का आकार छोटा था, प्रत्येक ग्राम अथवा आसपास के ग्राम-समूहो मे अपनी आवश्यकता की सभी वस्तुएँ उत्पन्न कर ली जाती थी और जनता पारस्परिक लेन देन द्वारा अपनी सभी आवश्यकताएँ स्थानीय साधनो से पूरी कर लेती थी। वास्तव म, उस समय सड़को अथवा परिवहन के अन्य साधनों का सर्वथा अभाव था जिसके फल-स्वरूप विस्तृत क्षेत्र मे वस्तुओ का आदान प्रदान सम्भव भी नही था। फलत देश की कृषि व्यवस्था छोटे-छोटे क्षेत्रो मे केन्द्रित तथा आत्मनिर्भर थी।

(२) **भूमि का स्वामित्व**—कम्पनी के शासन के आरम्भ तथा उसकी स्थापना के काफी समय पश्चात् तक भारतीय कृषक स्वय भूमि का स्वामी होता था और वह राजा, नवाब अथवा अन्य किसी नाम से विभूषित शासक को सीधे ही भूमि कर देता था। सभी कृषक भू-स्वामी थे, यहाँ तक कि कृषि श्रमिक नाम के वर्ग का प्रादुर्भाव तक नही हुआ था क्योंकि कृषि पर अतिरिक्त श्रम की आवश्यकता ही अनुभव नही होती थी। इस प्रकार कृषि एक स्वतन्त्र व्यवसाय था तथा उस व्यवसाय मे श्रमिको के नाम से किसी दास वर्ग का जन्म तक नही हुआ था।

जमींदारी प्रथा का जन्म—इस स्वतन्त्रता मे लार्ड कार्नवालिस ने हस्तक्षेप किया और देश के अनेक भागो मे लगान वसूली का कार्य जमीदारो अथवा जागीरदारो को दे दिया गया। यह जमीदार तथा जागीरदार ब्रिटिश राज्य के सबसे बडे सहायक थे और इनम से बहुतो को तो ब्रिटिश ईस्ट इण्डिया कम्पनी की सहायता करने के उपहारस्वरूप ही भूमि अथवा जागीरें दी गयी थी।

इस प्रकार भूमि के वास्तविक मालिकों पर एक नयी सत्ता थोप दी गयी जिसने कालान्तर में भारतीय कृषि तथा कृषकों को निर्धन बनाने में सक्रिय योगदान दिया।

(३) कृषि उपकरण एवं सुविधाएँ—१९वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध तक ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने कृषि, उद्योग अथवा यातायात का विकास करने के लिए कोई प्रयत्न नहीं किये अतः कृषि के उपकरण एवं रीतियाँ सर्वथा पुरातन थी। देश में सिंचाई मुख्यतः मानसून की वर्षा से की जाती थी अथवा कृषक स्वयं मिलकर नहर अथवा नाले खोद लेते थे जिनसे सिंचाई के लिए जल प्राप्त किया जाता था। कुछ भागों में कुओं अथवा तालाबों से भी सिंचाई की जाती थी परन्तु यह सब सुविधाएँ अत्यन्त सामान्य थी।

(४) कृषि पदार्थ—इस काल की कृषि की एक अन्य विशेषता यह थी कि अधिकांश व्यक्ति केवल खाद्यान्न ही उत्पन्न करते थे। कपास, पटसन या चाय का उत्पादन प्रायः प्रारम्भिक अवस्था में था और कृषक इन वस्तुओं की उत्पत्ति पर विशेष ध्यान नहीं देते थे। यह स्थिति १८३० तक तो इसी प्रकार चलती रही किन्तु उसके पश्चात् इंगलैण्ड में भारतीय कपास तथा पटसन की माँग बहुत बढ़ गयी और भारतीय किसान विदेशी उद्योगपतियों के लिए इन दोनों व्यापारिक फसलों का भी अधिकाधिक मात्रा में उत्पादन करने लगे।[1] भारत को केवल कृषि प्रधान देश के रूप में परिवर्तित करने की दिशा में यह पहला कदम था।

(५) मूल्यों में अत्यधिक उतार-चढ़ाव—भारतीय कृषि द्वारा उत्पन्न अधिकतर पदार्थों के लिए *अत्यन्त सीमित एवं संकीर्ण बाजार था क्योंकि वस्तुओं के स्थानान्तरण की सुविधाएँ बहुत कम* थी। अतः कृषि पदार्थों के मूल्यों में फसल के अनुसार बहुत उतार-चढ़ाव होते थे। विभिन्न स्थानों के मूल्यों में भी प्रायः बहुत अन्तर रहता था।

(६) अकालों का अनुपस्थिति—यह एक विरोधाभास ही प्रतीत होता है कि भारत के भीषणतम अकालों का प्रादुर्भाव प्रायः १८५७ के पश्चात् ही हुआ जबकि आवागमन के साधनों का विकास आरम्भ हो गया था। वास्तव में, उस समय तक प्रायः ऐसा होता था कि जिन भागों में अकाल पड़ते थे वहाँ से लोग अच्छी फसलों वाले स्थान पर चले जाते थे। इससे पूर्व काल में अकालों की कमी का एक कारण यह भी हो सकता है कि उस समय भूमि पर मुख्यतः खाद्यान्न ही उत्पन्न किये जाते थे। *अतः खाद्यान्नों की अत्यधिक कमी न होती हो। बहुत पहले के अकालों के सम्बन्ध में पूरे तथ्य भी उपलब्ध नहीं है, अतः उनके सम्बन्ध में कुछ निर्णय देना सम्भव नहीं है।*

(७) कृषि तथा उद्योगों में सहयोग—१९वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध तथा उससे पूर्व देश के सभी भागों में किसी न किसी प्रकार के लघुकाय उद्योग स्थापित थे। ग्रामों के कृषक अपने अतिरिक्त समय में इन उद्योगों में काम कर अपनी आय में वृद्धि कर लेते थे। अनेक क्षेत्रों में तो यह उद्योग (रस्सी बनाना, वस्त्र तैयार करना, तेल निकालना कातना, कम्बल, गलीचे, दरी तथा निवाड आदि बुनना) घर में ही संचालित किये जाते थे और बालक, स्त्रियाँ तथा पुरुष आदि सभी इनमें सहयोग दे सकते थे। इस प्रकार कृषि तथा अन्य उद्योगों में निकटतम सहयोग था जिसके कारण कृषकों की आर्थिक स्थिति अच्छी थी।

२ ब्रिटिश शासन में कृषि (१८५७-१९००)

ईस्ट इण्डिया कम्पनी के शासनकाल में ही भारतीय उद्योगों का पतन आरम्भ हो गया और भारत क्रमशः औद्योगिक सम्पन्नता से हीन होने लगा। ब्रिटिश सरकार ने एक निश्चित नीति के अनुसार भारत में कृषि पदार्थों को निर्यात करने तथा ब्रिटिश निर्मित माल भारत में आयात करने की सुविधाएँ दी। सन् १८५७ के स्वातन्त्र्य समर के पश्चात् सरकार ने सड़कों तथा रेलों का तीव्र गति से विकास किया जिससे भारत में ब्रिटिश आयातों को और अधिक प्रोत्साहन मिला

1 Gadgil, D. R., *The Industrial Evolution of India*, pp 13-14.

क्योकि माल बन्दरगाहो तक ब्रिटिश जहाजो से आकर देश के विभिन्न भागो मे रेलो द्वारा भेजा जा सकता था। ब्रिटिश शासन की जडें ज्यो-ज्यो शक्तिशाली होती गयी त्यो त्यो भारत की कृषि तथा सामाजिक एव आर्थिक व्यवस्था का ढांचा खोखला होता चला गया। २०वी शताब्दी के प्रारम्भ तक तो भारत की सम्पूर्ण अर्थ-व्यवस्था का सचालन ब्रिटिश हितो की रक्षा की दृष्टि से होने लगा था।

इस काल मे कृषि विकास की प्रमुख विशेषताएँ निम्नलिखित थी

(१) **कृषि पदार्थों का निर्यात**—यद्यपि भारत से ब्रिटेन को कपास तथा पटसन का निर्यात १८३० से ही होना आरम्भ हो गया था किन्तु इसकी मात्रा बहुत महत्त्वपूर्ण नही थी। १८६० ६४ तक अमरीका मे जो गृह युद्ध हुआ उसके कारण अमरीकी कपास का ब्रिटेन को निर्यात बन्द हो गया। फलत ब्रिटेन ने भारतीय कपास आयात कर उसकी पूर्ति करने की चेष्टा की।

भारत के लघु उद्योगो का पतन होने के कारण अनेक श्रमिक तथा कारीगर बेकार हो गये और उन्हे कृषि पर ही निर्भर होना पडा। इसका परिणाम यह हुआ कि देश से निर्मित माल का निर्यात बन्द होकर खाद्यान्न, पटसन तथा तिलहन जैसे कृषि पदार्थों का निर्यात बढ गया। इन पदार्थों के निर्यात मे सडक तथा रेलो के विकास से अधिक बल मिला। १८५७ के तत्काल बाद ही *कलकत्ता से पेशावर तक की ग्राण्ड ट्रक सडक पूरी की गयी जिसके माध्यम से विदेशी माल* पश्चिम से पूर्व तक फैले हुए सभी केन्द्रो मे पहुँचने लगा।

(२) **कृषि श्रमिक वर्ग का उदय**—ईस्ट इण्डिया कम्पनी के शासनकाल मे भारतीय कृषि पूर्णत किसानो के हाथ मे थी, इसमे काम करने के लिए अतिरिक्त श्रमिको की आवश्यकता नहीं थी। किन्तु १८५७ के पश्चात् सरकार द्वारा सडकें, नहरें, रलें आदि निर्मित करने का कार्यारम्भ किया गया। इस कार्य के लिए बहुत से श्रमिको की आवश्यकता पडी। इधर लघुकाय उद्योगो के बन्द हो जाने से बहुत स श्रमिक बेकार हो गए थे, वह इन सार्वजनिक कार्यो म नियोजित हो गये। उनमे से बहुत से श्रमिक कृषि-काल म दूसरे व्यक्तियों की भूमि पर मजदूरी करने लगे तथा शेष समय मे सार्वजनिक निर्माण कार्यों मे मजदूरी द्वारा निर्वाह करते थे। इस प्रकार भारतीय कृषि मे एक नये वग 'कृषि श्रमिक' का उदय हुआ जो कालान्तर मे खेती पर निर्भर करने लगा।

(३) **अकालो का प्रकोप**—इस समय तक भारत मे यातायात के साधनो का विकास बहुत कम हुआ था अत अकाल स्थानीय अभाव के कारण ही पडते थे और उनका प्रभाव भी अभावग्रस्त क्षेत्रो तक सीमित रहता था। १६वी शताब्दी के उत्तरार्द्ध मे कम से कम दो अकाल (मद्रास १८६०-६१ तथा राजस्थान १८६८) ऐसे पडे जिनमे लोगों के पास अन्न खरीदने के लिए धन था किन्तु अन्न उपलब्ध नही था। इस प्रकार के अकाल आधुनिक अकालो से सर्वथा भिन्न थे क्योकि वर्तमान समय मे अभावग्रस्त क्षेत्रो मे अन्य क्षेत्रो से अन्न भेजने की व्यवस्था कर दी जाती है। फलत. अन्न उपलब्ध तो होता है किन्तु उसके मूल्य अधिक होते हैं, अत निर्धन वर्ग के लोग उसे खरीदने मे असमर्थ होते है। १६४३ का बगाल का अकाल ऐसा ही था जिसमे धनाभाव के कारण लोग अनाज के गोदामो तथा होटलो के सामने भूख से तडप-तडप कर मर गये।

(४) **कृषको पर ऋण-भार**—निरंतर अकाल की स्थिति ने दक्षिण भारत के कृषको की मानो कमर ही तोड दी। खाद्यान्नो की कमी मूल्यो मे वृद्धि तथा बढते हुए करो के कारण उन्हे साहूकारों से निरन्तर ऋण लेने पडे। इन ऋणो पर अत्यधिक ब्याज लिया जाता था जिसे बहुत से कृषक चुकाने मे असमर्थ रहे। ब्रिटिश सरकार ने देश म अदालतो द्वारा न्याय-व्यवस्था अधिक सरल कर दी थी जिसका साहूकारो ने लाभ उठाया, फलत किसानो की बहुत-सी भूमि (ऋण के भुगतान के रूप मे) साहूकारो के कब्जे मे चली गयी। इन सब घटनाओ के फलस्वरूप अहमदनगर तथा कुछ अन्य जिलो के किसानो ने सघर्ष आरम्भ कर दिया और साहूकारो के घरो तथा दुकानो को

लूटना आरम्भ कर दिया। इन किसानों की माँग यही थी कि उनकी भूमि लौटायी जाय तथा ऋणपत्रों को रद्द समझा जाय।

(५) **सरकारी नीति**—ब्रिटिश शासन के प्रारम्भिक वर्षों में कृषि विकास अथवा किसानों को सहायता देने की किसी योजना पर ध्यान नहीं दिया गया और कृषि तथा कृषक की आर्थिक स्थिति निरन्तर पतनोन्मुख होती गयी। ब्रिटिश सरकार भारत को कृषि प्रधान देश तो बनाना चाहती थी, किन्तु उसकी कृषि-व्यवस्था को बहुत सबल होने देना नहीं चाहती थी, फलत कृषि भूमि निरन्तर टुकडों मे विभाजित होती रही, कृषकों पर ऋण बढते रहे तथा जमीदार और जागीरदारों द्वारा किसानों का शोषण निरन्तर बढता गया।

ऋण अधिनियम—दक्षिण मे दंगे होने तथा तथा अकालों के कारण कृषकों की आर्थिक स्थिति बिगडने पर सरकार को यह भय होने लगा कि कहीं अन्य स्थानों पर भी राजनीतिक तथा आर्थिक दंगे न होने लगें, अत सरकार ने १८८३ में भूमि सुधार ऋण अधिनियम (Land Improvement Loans Act) तथा १८८४ मे कृषक ऋण अधिनियम (Agriculturists Loans Act) पास किये। इन अधिनियमों के अनुसार कृषकों को भूमि सुधार तथा कृषि विकास के लिए तकावी (ऋण) देने की व्यवस्था की गयी। यह ऋण मुख्य रूप मे अकाल अथवा अन्य प्रकार के आर्थिक सकट के समय दिये जा सकते थे।

१९वी शताब्दी का उत्तरार्द्ध भारतीय कृषि के लिए अत्यन्त सकट एव विपत्ति का युग था क्योंकि इस काल मे अकाल, महामारियाँ तथा ऋण आदि के कारण कृषि के उत्पादन मे निरन्तर कमी आती गयी तथा किसानों की आर्थिक स्थिति अत्यन्त दुर्बल एव दयनीय होती गयी। इस शताब्दी का अन्तिम वर्ष भी अकाल का वर्ष था जिसका प्रभाव आगामी दो तीन वर्ष तक बना रहा।

३ कृषि सक्रमण-काल (१९००-१९१४)

भारतीय कृषि के इतिहास मे १८८० से १८९५ तक का समय प्रगति-काल कहा जा सकता है क्योंकि इस युग मे सिंचाई की सुविधाओं के कारण कुछ नयी भूमि खेती के अन्तर्गत लायी गयी तथा कृषि उत्पादन मे भी सुधार के लक्षण दिखायी देने लगे किन्तु जो कुछ प्रगति इन वर्षों मे हुई थी वह १८९६-९७ तथा १८९९-१९०० के अकालों ने समाप्त कर दी। इनके कारण कृषक पुन. ऋणी हो गये। १८९९-१९०० के अकाल मे सरकार को लगभग १५ करोड रुपये सहायता कार्यों पर व्यय करने पडे। इस अकाल की गम्भीर बात यह थी कि गुजरात मे चारे के अभाव मे बहुत अधिक सख्या मे पशुओं की मृत्यु हो गयी।

इन दोनो अकालों का यह प्रभाव पडा कि :

(१) दोहरी फसल वाले क्षेत्र मे बहुत कमी आ गयी, और

(२) व्यापारिक तथा औद्योगिक फसलों के स्थान पर खाद्यान्न उत्पन्न किये जाने लगे।

इस प्रकार किसान पटसन तथा नील आदि महँगी व्यावसायिक वस्तुओं के स्थान पर चावल, ज्वार मक्का आदि उत्पन्न करने लगे। प्रो० गाडगिल का तो यहाँ तक कहना है कि बहुत से किसानो ने बढिया खाद्यान्नों के स्थानों पर घटिया अन्न उत्पन्न करने आरम्भ कर दिये क्योंकि घटिया अन्नों मे प्रकृति का प्रकोप सहन करने की शक्ति अधिक होती है।

उन्नति युग—२०वी शताब्दी के आरम्भ से प्रथम महायुद्ध के प्रारम्भ होने तक के समय मे देश की कृषि-व्यवस्था एव सगठन मे अनेक परिवर्तन हुए। इन परिवर्तनों के फलस्वरूप देश की कृषि व्यवस्था मे पर्याप्त उन्नति हुई जिससे किसानो की आर्थिक स्थिति मे भी सुधार हुआ तथा कृषि पदार्थों के व्यापार मे भी पर्याप्त प्रगति हुई। इस प्रगति के कारण ही इस युग को कृषि सक्रमण-काल के नाम से पुकारते हैं। इस काल मे कृषि की प्रगति का अध्ययन अग्रलिखित दृष्टिकोणों से किया जा सकता है

(१) अधिक उत्पादन—सरकार के प्रयत्नो से पजाब की पाँचो नदियों से अनेक नहरें निकाली गयी जिनसे पश्चिमी पजाब के अधिकाश रेतीले प्रदेश को सिचाई की सुविधाएं उपलब्ध हो गयी। फलत पजाब मे कृषि समृद्धि के एक नये युग का सूत्रपात हो गया। इससे न केवल लायलपुर भारत का खाद्यान्न भण्डार बन गया वल्कि इगलैण्ड को निर्यात करने के लिए भी पर्याप्त मात्रा मे गेहूँ का उत्पादन होने लगा। गेहूँ के अतिरिक्त चावल, गन्ना तथा कपास का उत्पादन भी अधिक मात्रा मे होना आरम्भ हो गया।

(२) किसानों की समृद्धि—यद्यपि नवीन शताब्दी के प्रारम्भिक वर्षों मे कृषि उत्पादन की मात्रा बहुत सन्तोषजनक नही थी किन्तु वह सामान्य रूप मे अच्छी थी। इसके अतिरिक्त कृषि की नवीन पद्धतियो के कारण उत्पादन का क्रम सन्तोषजनक रहा। आने-जाने के साधनो के विकास से भी कृषि पदार्थों को अभाव वाल स्थानो मे भेजना सरल हो गया। इससे किसानो को कृषि पदार्थों के उचित मूल्य प्राप्त करने मे भी सहायता मिली। इन सब तत्वो का सामूहिक परिणाम यह हुआ कि किसानो की आर्थिक स्थिति मे आशातीत सुधार सम्भव हो सका।

(३) खाद्यान्नो का एकाधिकार—कृषि व्यवस्था म समुचित उन्नति होने पर भी देश की अधिकाश भूमि पर चावल, गेहूँ तथा अन्य खाद्यान्न ही उत्पन्न किये जाते रहे। एक अधिकृत अनुमान के अनुसार कुल कृषि-योग्य भूमि के लगभग ८८ प्रतिशत भाग मे खाद्यान्न उत्पन्न किये जा रहे थे। खाद्यान्नो के अतिरिक्त औद्योगिक फसलो मे तिलहन तथा कपास का स्थान भी काफी महत्वपूर्ण था। इन तीनो ही वर्गों की वस्तुएँ, विशेषत गेहूँ कपास तथा तिलहन, इगलैण्ड को निर्यात किये जाते थे।

(४) सरकारी नीति—इस काल म सरकार ने कृषि विकास सम्बन्धी कुछ ऐसी योजनाएँ बनायी और कार्यान्वित की जिन्हे महत्वपूर्ण कहा जा सकता है। इन योजनाओ के अन्तर्गत १९०१ मे एक कृषि महानिरीक्षक (Inspector General of Agriculture) नियुक्त किया गया जिसका कार्य देश की कृषि समस्याओ का समाधान करने सम्बन्धी सुझाव देकर उन्हे कार्यान्वित करवाना था। इस अधिकारी के प्रयत्नो से कृषि विभाग के व्यय मे यथेष्ट वृद्धि हुई।

सरकार ने गेहूँ मूँगफली तथा अन्य पदार्थों को रोग तथा कीटाणुओ से बचाने के लिए शोधकार्य आरम्भ करवाये। फलत ब्रह्मा मे मूँगफली का उत्पादन करने मे सफलता मिली और गेहूँ को विनाश से बचाने के कार्यक्रम मे प्रगति हुई। अनेक क्षेत्रो मे फसलों को कृत्रिम खाद देने सम्बन्धी प्रयोग भी किये गये।

खाद्यान्नो की विकास योजनाओ के अतिरिक्त भारत सरकार ने तमिलनाडु मे सर फ्रेडरिक निकलसन की देखरेख मे एक मत्स्य विभाग (Fisheries Department) स्थापित किया जिसका उद्देश्य देश मे मछली व्यवसाय को उन्नत करने सम्बन्धी कार्य करना था।

कृषि साख की उचित व्यवस्था करने के लिए तमिलनाडु सरकार ने १८९५ मे जो समिति (निकलसन महोदय उसके एकमात्र सदस्य थे) नियुक्त की थी उसकी रिपोर्ट पर गम्भीरतापूर्वक विचार कर सन् १९०४ मे प्रथम सहकारी समिति अधिनियम पास किया गया। बाद मे सन् १९१२ मे इस अधिनियम की धाराओ को अधिक व्यापक बना दिया गया। इस अधिनियम द्वारा भारत मे कृषि साख के लिए उचित एव सस्ते ऋण की व्यवस्था की नीव पडी।

उपर्युक्त विवरण मे यह निष्कर्ष निकलता है कि १९००-१९१४ के काल मे भारतीय कृषि की नाडियो मे सिचाई सुविधाओ कृषि की नवीन पद्धतियों तथा सस्ती साख की व्यवस्था द्वारा नवीन रक्त सचालित करने की चेष्टा की गयी। ब्रिटिश सरकार की लगभग १५० वर्ष की उपेक्षा नीति की पृष्ठभूमि मे यह प्रयत्न निश्चय ही स्तुत्य कहे जाने योग्य हैं।

४ युद्ध एवं अवसादकाल (१९१४-१९३९)

प्रथम महायुद्ध में कृषि की फसलें अच्छी रहीं किन्तु युद्ध के पश्चात् पहले ही वर्ष अर्थात् १९१८-१९ में देश भर में भयंकर अकाल की स्थिति उत्पन्न हो गयी। इस अकाल से उत्पन्न अभाव की पूर्ति के लिए आस्ट्रेलिया से लगभग ७ लाख टन गहूँ आयात किया गया। १९२०-२१ में भी फसल सन्तोषजनक न होने के कारण अधिक अन्न आयात करना पड़ा।

महँगाई तथा सुधार—खाद्यान्नों का अभाव होने के कारण देश में अन्न के मूल्यों में सर्वत्र महँगाई हो गयी जिससे देश की सामान्य जनता के लिए अत्यन्त कष्टदायक स्थिति उत्पन्न हो गयी। महँगाई की स्थिति अधिक समय तक नहीं बनी रही क्योंकि १९२२ के पश्चात् फसलें अच्छी हुईं फलतः अन्न के भाव नीचे आ गये और अन्न का निर्यात पुनः आरम्भ हो गया। १९२४-२५ में गेहूँ का निर्यात पुनः युद्ध के पूर्व स्तर पर आ गया।

विश्वव्यापी मन्दी—सन् १९२८ में ही विश्वव्यापी मन्दी का दौर आरम्भ हो गया अतः भारत में फसल बिगड़ जाने के कारण गेहूँ का पुनः आयात करना पड़ा। विश्वव्यापी मन्दी के कारण देश में सभी कृषि पदार्थों के मूल्य तीव्र गति से गिरने आरम्भ हो गये जिससे फलस्वरूप किसानों को जीवन-निर्वाह के लिए ऋण लेना पड़ा। यह विषम स्थिति निरन्तर द्वितीय युद्ध के आरम्भ तक चलती रही।

५ द्वितीय युद्धकाल (१९३९-४५)

द्वितीय विश्वयुद्ध के आरम्भ होते ही देश में कृषि पदार्थों की माँग बढ़नी आरम्भ हो गयी क्योंकि युद्ध में लड़ने वाली सेनाओं के लिए आटा तथा अन्य वस्तुओं की अधिकाधिक आवश्यकता थी। इस आवश्यकता को पूरा करने के लिए देशवासियों की आवश्यकता का कम किया गया और सर्वत्र मूल्य नियन्त्रण तथा राशनिंग व्यवस्था लागू की गयी।

युद्धकाल में प्रायः सभी खाद्यान्नों के मूल्यों में काफी वृद्धि हो गयी जिससे किसानों को बहुत लाभ हुआ। फलतः अनेक किसानों ने अपने युद्ध-पूर्व के ऋणों का भुगतान कर दिया।

खाद्यान्नों की उत्पत्ति बढ़ाने के लिए १९४३ में 'अधिक अन्न उपजाओ' आन्दोलन आरम्भ किया गया और छोटे-छोटे भू-खण्डों पर भी खेती करने के लिए प्रोत्साहन दिया गया।

६ युद्धोत्तरकाल (१९४५-५१)

युद्ध के पश्चात् भी भारत के सामने कृषि सम्बन्धी अनेक समस्याएँ उत्पन्न हुईं जिनमें मुख्य निम्नलिखित हैं

(१) खाद्य समस्या—खाद्यान्नों का उत्पादन आवश्यकता से कम होने के कारण आस्ट्रेलिया अमरीका तथा अर्जेण्टाइना से अन्न आयात करना पड़ा। इस कमी का एक महत्त्वपूर्ण कारण भारत का विभाजन था जिसके फलस्वरूप खाद्यान्न उत्पन्न करने वाले कई महत्त्वपूर्ण क्षेत्र पाकिस्तान में चले गये। इसके परिणामस्वरूप १९४६ से १९५० तक के पाँच वर्षों में लगभग १.३ करोड़ टन अन्न विदेशों से आयात करना पड़ा।

(२) जूट तथा कपास की कमी—*पाकिस्तान बन जाने से भारत को लगभग ५०-६० लाख* गाँठें पटसन तथा १० लाख गाँठें लम्बे रेशे की रुई विदेशों से आयात करनी पड़ी, जिससे देश की *विदेशी विनिमय स्थिति बिगड़नी आरम्भ हो गयी।*

(३) 'अधिक अन्न उपजाओ' आन्दोलन—सन् १९४३ में 'अधिक अन्न उपजाओ' आन्दोलन *आरम्भ किया गया जिसके अन्तर्गत अच्छे बीज, अधिक खाद,* उपयुक्त सिंचाई की सुविधाओं द्वारा अन्न का उत्पादन बढ़ाने की चेष्टा की गयी। इस आन्दोलन को सफल बनाने के लिए केन्द्रीय *सरकार द्वारा प्रथम चार वर्षों में राज्य सरकारों* को अनुदान तथा ऋण दिये गये। इसके पश्चात् विशेष कार्यक्रमों के लिए आर्थिक सहायता देने की व्यवस्था की गयी।

इस योजना के अन्तर्गत दो प्रकार के कार्यक्रम सम्मिलित थे—प्रथम कार्यक्रम के अन्तर्गत कुओं, तालाबों, छोटे बांधों, नल-कूपों तथा जल प्राप्ति के अन्य साधनों के निर्माण तथा मरम्मत की व्यवस्था थी। इस कार्यक्रम में भूमि को साफ कर खेती योग्य बनाने का काम भी सम्मिलित था। दूसरे कार्यक्रम के अन्तर्गत रासायनिक खाद तथा उन्नत किस्म के बीज आदि बाँटने की व्यवस्था थी। इस योजना के अन्तर्गत १९४८-४९ से १९५०-५१ के तीन वर्षों में लगभग २७ लाख टन अतिरिक्त अन्न उत्पन्न किया गया। सन् १९५०-५१ में भी असन्तोषजनक मानसून के कारण अन्न का उत्पादन आवश्यकता से कम रहा, अत विदेशों से लगभग २.५ अरब रुपये का अन्न आयात करना पड़ा।

सन् १९५२ में 'अधिक अन्न उपजाओ' आन्दोलन की जाच के लिए एक समिति नियुक्त की गयी जिसने इस आन्दोलन के उद्देश्यों में क्रान्तिकारी परिवर्तन का सुझाव दिया। फलत कृषि तथा खाद्य मन्त्रालय के अनुदानों के अतिरिक्त राज्य सरकारों को १० करोड़ रुपये और ऋण देने की व्यवस्था की गयी। यह धनराशि राज्यों द्वारा छोटी सिंचाई योजनाएँ कार्यान्वित करने के लिए निश्चित थी।

(४) **केन्द्रीय ट्रैक्टर सगठन**—यह सगठन अमरीकी सेना द्वारा भारत में छोड़े गये २०० ट्रैक्टरों से आरम्भ किया गया। इसका उद्देश्य गहरी कासयुक्त भूमि तथा घने जगलों से युक्त भूमि को साफ कर खेती के योग्य बनाना था। १९५१ में विश्व बैंक द्वारा लिए गये एक ऋण से २४० ट्रैक्टर खरीदे गये। योजना आरम्भ करने के प्रथम तीन वर्षों में ही लगभग ४.३ लाख एकड़ भूमि खेती के योग्य बनायी गयी।

(५) **सगठित फसल उत्पादन कार्यक्रम**—सन् १९५०-५१ में खाद्यान्न, पटसन, कपास तथा शक्कर के उत्पादन में आत्मनिर्भरता प्राप्त करने का एक कार्यक्रम आरम्भ किया गया। इस कार्यक्रम की पाँच मुख्य विशेषताएँ थीं :

(अ) सिंचाई की सुविधाओं से युक्त ४.६ करोड़ एकड़ भूमि में सम्पूर्ण धनराशि तथा प्राविधिक साधनों का प्रयोग करना।

(आ) १ करोड़ एकड़ बजर तथा ऊसर भूमि को खेती के योग्य बनाना।

(इ) लगभग एक लाख ग्रामों में भूमि सेना का निर्माण करना।

(ई) देश में पशुओं की लाल बीमारी (rinderpest) दूर करने तथा ६०,००० अच्छे सांड प्रतिवर्ष तयार करने का प्रयत्न करना।

(उ) देश में वन महोत्सवों के माध्यम से ३० करोड़ वृक्ष लगाना।

उपर्युक्त कार्यक्रमों को प्रथम पचवर्षीय योजना के कार्य में भी सम्मिलित कर दिया गया। सगठित फसलों के कार्यक्रम में पटसन तथा कपास के उत्पादन में पर्याप्त सफलता प्राप्त हुई क्योंकि इनका उत्पादन १९५०-५१ में क्रमश ३३ लाख और ३० लाख गाँठें हो गया।

प्रश्न

१ सन् १९५१ के पूर्व भारतीय-कृषि के विकास पर प्रकाश डालिए तथा इसके मन्द गति से विकास के कारण बतलाइए।

9 योजनाकाल में कृषि का विकास

(DEVELOPMENT OF AGRICULTURE DURING THE PLAN PERIOD)

"Programmes of agricultural production lie at the base of the comprehensive approach to the reconstruction of the rural economy."
—The Third Five-Year Plan

स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् देश के आर्थिक विकास के लिए योजनाबद्ध आर्थिक विकास का निश्चय किया गया तथा १ अप्रैल, १९५१ से *प्रथम पंचवर्षीय योजना प्रारम्भ की गयी।* इस अध्याय में योजनाकाल में कृषि के विकास पर प्रकाश डाला जायगा।

१. प्रथम योजनाकाल में कृषि का विकास

प्रथम पंचवर्षीय योजना मुख्यतः कृषि योजना थी। योजना का उद्देश्य आर्थिक असन्तुलन को ठीक करना तथा कृषि उत्पादन में देश को आत्मनिर्भर बनाना था। योजना में कृषि को सर्वोच्च प्राथमिकता दी गयी। देश विभाजन के कारण अच्छी कपास तथा जूट उत्पन्न करने वाले क्षेत्र पाकिस्तान में चले गये थे। इस प्रकार भारत के दो प्रमुख उद्योगों—सूती वस्त्र उद्योग तथा जूट उद्योग—के समक्ष बहुत बड़ा संकट आ गया था। पूर्वी बंगाल के चावल उत्पादक क्षेत्र तथा पश्चिमी पंजाब के गेहूँ उत्पादक क्षेत्र भी पाकिस्तान के हिस्से में पड़े थे। देश के समक्ष खाद्य संकट पहले से ही चला आ रहा था। देश विभाजन के कारण इस संकट ने भीषण रूप ग्रहण किया। अन्न खाद्यान्न में आत्मनिर्भरता प्राप्त करना प्रथम पंचवर्षीय योजना का प्रमुख लक्ष्य निर्धारित किया गया।

(१) कृषि पर प्रस्तावित तथा वास्तविक व्यय—प्रथम पंचवर्षीय योजना में कृषि तथा सम्बन्धित कार्यक्रमों पर प्रस्तावित तथा वास्तविक व्यय निम्न सारणी के अनुसार था

कृषि पर प्रस्तावित एवं वास्तविक व्यय

मद	प्रस्तावित व्यय (करोड़ रु० में)	कुल प्रस्तावित व्यय का प्रतिशत	वास्तविक व्यय	कुल व्यय का प्रतिशत
कृषि एवं सामुदायिक विकास	३५७.०	१५.१	२९१.०	१५.०
सिंचाई एवं शक्ति	६६१.०	२८.१	३१०.०	१६.०
योग	१,०१८.०	४३.२	६०१.०	३१.०

प्रथम योजना प्रारम्भ में कुल २,०६९ करोड़ रुपये की थी। बाद में योजना में दो बार संशोधन किये गये तथा कुल प्रस्तावित व्यय बढ़ाकर क्रमशः २,३५६ करोड़ रुपये तथा २,३७८ करोड़ रुपये कर दिया गया। प्रथम योजना पर वास्तविक व्यय १,९६० करोड़ रुपये हुआ। २,३५६ करोड़

रुपये की योजना मे कृषि, सामुदायिक विकास, सिंचाई एवं शक्ति पर कुल १,०१८ करोड रुपये व्यय करने का प्रस्ताव था जो कुल प्रस्तावित व्यय का ४३ ६% था, परन्तु योजनाकाल म इन कार्यक्रमो पर कुल वास्तविक व्यय ६०१ करोड रुपये हुआ जो कुल वास्तविक व्यय का ३१% था। इस प्रकार प्रथम योजनाकाल मे कुल व्यय का लगभग एक तिहाई भाग कृषि सम्बन्धी कार्यक्रमो पर व्यय किया गया।

(२) प्रस्तावित लक्ष्य तथा प्रगति—निम्नलिखित सारणी से प्रथम योजना के कृषि सम्बन्धी लक्ष्यो तथा वास्तविक उत्पादन पर प्रकाश पड़ता है

प्रथम योजना के कृषि सम्बन्धी लक्ष्य तथा प्रगति

मद	इकाई	१९५०-५१	१९५५-५६ (वास्तविक उत्पादन)
खाद्यान्न	मिलियन टन	५२ २	६५ ८
तिलहन	,	५ १	५ ६
गन्ना (गुड)		५ ६	६ ०
कपास	मिलियन गाठें	२ ९	४ ०
जूट	,,	३ ३	४ २

[Source Third Five-Year Plan, p 302]

योजनावधि मे कृषि की प्रगति सन्तोषजनक रही। कृषि उत्पादन म १८% वृद्धि हुई। खाद्यान्नो का उत्पादन ५२ मिलियन टन से बढकर ६६ मिलियन टन हो गया। वाणिज्यिक फसलो मे तिलहन तथा कपास के उत्पादन मे सराहनीय वृद्धि हुई तथा इन दोनो का उत्पादन लक्ष्य से अधिक रहा। जूट तथा गन्ने के उत्पादन के लक्ष्यो की पूर्ति नही की जा सकी, यद्यपि उनके उत्पादन मे वृद्धि हुई।

योजनाकाल मे खाद तथा उर्वरक की खपत मे वृद्धि हुई। १९५० ५१ मे अमोनियम सल्फेट की खपत २ ७५ लाख टन तथा फास्फोरिक खादो की खपत ४३ हजार टन थी। १९५५-५६ मे इनकी खपत बढकर क्रमश ६ लाख टन तथा ७८ हजार टन हो गयी। योजनाकाल मे ५ मिलियन एकड भूमि का उद्धार किया गया। खेती के उन्नतिशील तरीको का उपयोग किया गया। जापानी ढग पर धान की खेती पर जोर दिया गया। योजना के अन्तिम वर्ष मे लगभग २० लाख एकड भूमि पर जापानी तरीके से धान की खेती की गयी। विभिन्न प्रकार के उत्तम बीजो का उपयोग किया जाने लगा। सिंचाई सुविधाओ का विस्तार किया गया तथा सहकारिता के विकास के लिए प्रयत्न किये गये। अक्टूबर १९५२ से सामुदायिक विकास योजनाएँ प्रारम्भ की गयी।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि प्रथम योजनाकाल मे कृषि की प्रगति उत्साहवर्द्धक थी परन्तु योजना के कृषि विषयक कार्यक्रमो म कुछ दोष भी थे। प्रथम विभिन्न फसलो के विकास एव सुधार के लिए कोई निश्चित योजना नही थी। द्वितीय, कृषि विकास के लिए संस्थागत परिवर्तन (institutional changes) आवश्यक हैं परन्तु प्रथम योजनाकाल म संस्थागत परिवर्तनो पर विशेष जोर नही दिया गया। खेतो के लघु आकार तथा उनके उप विभाजन एव अपखण्डन सम्बन्धी समस्या पर ध्यान नही दिया गया। भूमि-सुधार के क्षेत्र मे भी नाममात्र की प्रगति हुई।

२ द्वितीय पचवर्षीय योजना तथा कृषि

(१) प्रस्तावित व्यय—द्वितीय पचवर्षीय योजना मुख्यत उद्योग प्रधान योजना थी। इसम ४,८०० करोड रुपये के प्रस्तावित व्यय (सार्वजनिक क्षेत्र) मे से ५६८ करोड रुपये अर्थात् कुल प्रस्तावित व्यय का ११ ८% कृषि सम्बन्धी कार्यक्रमो पर व्यय करना था।

इसके अतिरिक्त सिंचाई सम्बन्धी कार्यक्रमों पर २८१ करोड़ रुपये व्यय करने थे। यद्यपि सापेक्षिक दृष्टि से, द्वितीय योजना में कृषि को गौण प्राथमिकता प्रदान की गयी थी, परन्तु कृषि पर कुल प्रस्तावित व्यय प्रथम योजना की अपेक्षा अधिक था।

(२) लक्ष्य तथा प्रगति—द्वितीय योजना को अन्तिम रूप प्रदान करते समय इस बात पर ध्यान दिया गया कि योजना के औद्योगिक लक्ष्यों की पूर्ति के लिए कृषि-उत्पादन में और अधिक वृद्धि आवश्यक है। अतः प्रारम्भ में कृषि सम्बन्धी जो लक्ष्य निर्धारित किये गये थे उनमें संशोधन किया गया। द्वितीय योजना के संशोधित लक्ष्यों तथा कृषि कार्यक्रम की उपलब्धियों पर निम्न सारणी प्रकाश डालती है

द्वितीय योजना के कृषि लक्ष्य तथा प्रगति

मद		१९५५-५६ (उत्पादन)	१९६०-६१ (उत्पादन)
खाद्यान्न	मिलि० टन	६५.८	८२.०
तिलहन	,,	५.६	७.०
गन्ना (गुड़)	,,	६.०	११.२
कपास	मि० गाँठें	४.०	५.३
जूट	,,	४.२	५.३

सारणी से स्पष्ट है कि द्वितीय योजनाकाल में खाद्यान्न तथा गन्ना-उत्पादन के अतिरिक्त, कृषि उत्पादन के किसी भी लक्ष्य की पूर्ति नहीं हुई। अधिकांश लक्ष्यों की पूर्ति न होने का प्रमुख कारण यह था कि उनकी पूर्ति के लिए न तो सुनियोजित कार्यक्रम ही बनाया गया और न आवश्यक मात्रा में पड़त या साधनों (inputs) की व्यवस्था की गयी। इस योजनाकाल में भूमि सुधार की दिशा में भी प्रयत्न किये गये तथा सहकारी कृषि के प्रचार पर विशेष जोर दिया गया।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि द्वितीय योजनाकाल में कृषि की दशा में विशेष सुधार नहीं हुआ। इस योजनाकाल की एक उल्लेखनीय बात यह है कि इसमें सामुदायिक विकास योजना का प्रसार बड़ी तेजी से किया गया तथा कृषि-साख एवं सहकारिता के क्षेत्र में भी सराहनीय प्रगति हुई। प्रथम योजनाकाल में कृषि में संस्थागत परिवर्तनों की उपेक्षा की गयी थी परन्तु द्वितीय योजनाकाल में कृषि में संस्थागत परिवर्तनों पर विशेष जोर दिया गया।

३ तृतीय पंचवर्षीय योजना तथा कृषि

तृतीय पंचवर्षीय योजनाकाल में कृषि के महत्त्व को पुनः स्वीकार किया गया तथा द्वितीय पंचवर्षीय योजना की भूलों को सुधारने का प्रयत्न किया गया। तृतीय पंचवर्षीय योजना के पाँच प्रमुख उद्देश्यों में से एक उद्देश्य था—'खाद्य सामग्रियों में आत्मनिर्भरता प्राप्त करना और उद्योगों तथा निर्यात की माँग को पूरा करना।' सार्वजनिक क्षेत्र में, तृतीय पंचवर्षीय योजनाकाल में कुल ७,५०० करोड़ रुपये व्यय करना था, जिसमें से कृषि तथा सामुदायिक विकास के लिए १,०६८ करोड़ रुपये की व्यवस्था की गयी जो कुल प्रस्तावित व्यय का १४% था। यह राशि, द्वितीय योजना में कृषि कार्यक्रमों पर व्यय की जाने वाली राशि के दुगुने से भी अधिक थी। इसके अतिरिक्त बड़ी तथा मध्यम सिंचाई योजनाओं पर व्यय की प्रस्तावित राशि ६५० करोड़ रुपये थी। इस प्रकार कृषि तथा कृषि सहायक कार्यक्रमों पर तृतीय योजना-काल में कुल १,७१८ करोड़ रुपये व्यय करने का प्रस्ताव था, जो तृतीय योजना के कुल प्रस्तावित व्यय का २३% था।

(१) कृषि उत्पादन पर प्रस्तावित व्यय—१,७१८ करोड़ रुपये की उपर्युक्त राशि में से कृषि उत्पादन से सम्बन्धित कार्यक्रमों पर कुल १,२८१ करोड़ रुपये व्यय करने का प्रस्ताव था

जिसका विवरण निम्नलिखित सारणी मे दिया गया है। तुलना की दृष्टि से साथ मे द्वितीय योजना से सम्बन्धित सूचना भी दी गयी है।

तृतीय योजना में कृषि उत्पादन पर प्रस्तावित व्यय

विवरण	द्वितीय योजना (वास्तविक व्यय)	तृतीय योजना (प्रस्तावित व्यय)
कृषि उत्पादन	६८ १०	२२६ ०७
लघु सिंचाई	६४ ६४	१७६ ७६
भू-सरक्षण	१७ ६१	७२ ७३
सहकारिता	३३ ८३	८० १०
सामुदायिक विकास (कृषि-कार्यक्रम)	५०·००	१२६ ००
प्रमुख एव मध्यम सिंचाई	३७२ १७	५६६ ३४
योग	६६५ ७५	१,२८१ ००

[Source *The Third Five-Year Plan*, p 304]

(२) कृषि लक्ष्य तथा प्रगति—तृतीय योजना के कृषि सम्बन्धी लक्ष्य तथा उपलब्धियाँ निम्नलिखित थी

तृतीय योजना के कृषि उत्पादन लक्ष्य तथा उपलब्धियाँ

वस्तु	१९६०-६१	१९६५-६६ (उत्पादन)
खाद्यान्न मि० टन	७६ ०	७२ ३
तिलहन ,,	७ १	६ १४
गन्ना (गुड) ,,	८ ०	१२·१२
कपास मि० गाठे	५ १	४ ००
जूट ,,	४ ०	४ ६०
तम्बाकू हजार टन	३० ०	४० ००

[Source *The Third Five-Year Plan* p 317, and *Economic Surveys*]

तृतीय योजना मे खाद्यान्न उत्पादन का लक्ष्य १०० मि० टन निश्चित किया गया था (सन् १९६५-६६ मे ४५ मि० टन चावल, १५ मि० टन गेहूँ, २३ मि० टन अन्य अनाज तथा १७ मि० टन दालो का उत्पादन करना था)। परन्तु सन् १९६५ ६६ अर्थात् तृतीय योजना के अन्तिम वर्ष मे खाद्यान्नो का उत्पादन ७२ मि० टन मात्र हुआ (सन् १९६४ ६५ मे खाद्यान्नो का उत्पादन ८९ मि० टन था)। तृतीय योजना का अन्तिम वर्ष (१९६५ ६६) असामान्य वर्ष था। लगभग समस्त उत्तरी भारत विशेषकर बिहार, पूर्वी उत्तर प्रदेश तथा बंगाल अनावृष्टि (सूखा) से पीडित था। ये क्षेत्र कृषि उत्पादन के प्रमुख क्षेत्र हैं। अत सन् १९६५-६६ मे कृषि उत्पादन बहुत कम हुआ। योजनाकाल मे कृषि पर १,०८९ करोड रुपये व्यय किये।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि तृतीय पचवर्षीय योजना कृषि उत्पादन के क्षेत्र मे बहुत ही असफल रही। इस असफलता मे प्रकृति का महत्त्वपूर्ण हाथ था। साथ ही साथ कृषि उत्पादन के लक्ष्य देश की आवश्यकताओ को दृष्टिगत रखते हुए निर्धारित किये गये थे परन्तु उन लक्ष्यो की पूर्ति के लिए जिस मात्रा मे धन व प्रयत्न की आवश्यकता थी उसकी व्यवस्था नही की जा सकी। योजना निर्माताओ के दृष्टिकोण तथा सरकार की कृषि के प्रति उदासीनता की नीति का परिणाम देश को भुगतना पडा।

गत पृष्ठो मे प्रथम, द्वितीय तथा तृतीय योजनाकाल मे कृषि के विकास पर प्रकाश डाला गया। हमारा ध्यान मुख्यत कृषि उत्पादन सम्बन्धी कार्यक्रमों तक ही सीमित रहा है। इसके अतिरिक्त, योजनाबद्ध विकास के प्रथम पन्द्रह वर्षों मे कृषि क्षेत्र मे कतिपय अन्य दिशाओं मे भी प्रगति हुई, जिसका विवरण निम्नलिखित है

(i) सिचाई—योजना काल म सिंचित भूमि क्षेत्र ५ ६ करोड एकड मे बढकर ९ ७ करोड एकड हो गया है। इस वृद्धि मे लगभग १ ३ करोड एकड की वृद्धि छोटी योजनाओ के अन्तर्गत हुई है।

(ii) रासायनिक खाद—पन्द्रह वर्षो मे नत्रजनयुक्त रासायनिक खाद का उपभोग ५६,००० टन से बढकर ४ ५२ लाख टन हो गया है।

(iii) दूध—सन् १९५०-५१ मे दूध का उत्पादन १ ७ करोड टन था जो १९५५-५६ मे १ ९ करोड टन, १९६०-६१ मे २ २ करोड टन तथा १९६५-६६ मे २ ४६ करोड टन हो गया।

(iv) सामुदायिक विकास योजनाएँ—कृषि विकास मे क्रान्तिकारी परिवर्तन लाने के लिए देश मे सामुदायिक विकास का कार्यक्रम आयोजित किया गया। यह कार्य पचायती संस्थाओ तथा सहकारी समितियो के सहयोग से किया जा रहा है। देश के सम्पूर्ण क्षेत्र को सन् १९६३ तक सामुदायिक योजनाओं के अन्तर्गत लाया जा चुका था।

(v) गहन खेती कार्यक्रम—सन् १९६०-६१ मे इस कार्यक्रम के अन्तर्गत आन्ध्र प्रदेश, बिहार, तमिलनाडु, मध्य-प्रदेश, पजाब, राजस्थान तथा उत्तर प्रदेश के सात जिलो मे गहन खेती कार्यक्रम का सूत्रपात किया गया। इस योजना को शनै-शनै अन्य क्षेत्रो मे बढाया जा रहा है। इस कार्यक्रम के अन्तर्गत नवीनतम रीतियो द्वारा कृषि उत्पादन म वृद्धि के प्रयोग किये जा रहे हैं जिनका लाभ सारे देश को हो सकेगा।

(vi) भूमि की समस्याएँ—देश के प्राय सभी भागो मे जमीदारी अथवा जागीरदारी का उन्मूलन कर दिया गया है। ७३ लाख एकड भूमि का स्वामित्व ३३ लाख व्यक्तियो को सौंप दिया गया है। इसके अतिरिक्त लगभग ५ ५ करोड एकड भूमि की चकबन्दी की जा चुकी है।

वास्तव मे, किसान को भूमि का स्वामी बनाने की दिशा मे केवल सामान्य कदम उठाये गये हैं। इस दिशा मे अभी बहुत कुछ करना बाकी है।

४ कृषि और योजना के तीन वर्ष (१९६६-६७ से १९६८-६९)

तृतीय योजना की समाप्ति तक चतुर्थ योजना को अन्तिम रूप नही दिया जा सका। इसका मुख्य कारण तीसरी योजना की असफलता था। वास्तव मे, योजना के मूल स्वरूप एव प्राथमिकताओ पर एकदम नये सिरे से विचार करने की आवश्यकता थी, अत: एक ओर तो चतुर्थ योजना को तीन वर्ष के लिए स्थगित कर दिया गया, दूसरी ओर विकास के लिए वार्षिक योजनाओ का कार्यक्रम आरम्भ किया गया।

१९६६-६७ से १९६८-६९ के तीन वर्षो मे कृषि पर कुल प्रस्तावित व्यय ६ ६६५ करोड रुपये था, परन्तु वास्तविक व्यय तीन वर्षों में १,१६६ करोड रुपये हुआ।

इससे स्पष्ट है कि तीन वर्षों मे कृषि कार्यक्रमो पर कुल व्यय का लगभग १५ ४ प्रतिशत व्यय किया गया। इस व्यय के अतिरिक्त सिचाई कार्यक्रम पर ४४६ करोड रुपये खर्च किये गये हैं जिससे सिंचाई और कृषि व्यय लगभग २५ प्रतिशत हो जाता है।

५. चतुर्थ योजना तथा कृषि

चतुर्थ योजना (१९६९-१९७४) मे कृषि (जिसमे कृषि शोध हल्की सिंचाई, भूमि रक्षण, पशु पालन, दुग्ध व्यवसाय के विकास, मछली पालन, वन, गोदाम-व्यवस्था, कृषि ऋण-सस्थानो को आर्थिक सहायता, सहकारिता, सामुदायिक विकास आदि सम्मिलित हैं) विकास के लिए २,७२८

करोड रुपये व्यय करने का प्रस्ताव किया गया है। यह राशि प्रास्तावित व्यय की कुल रकम का १७ २ प्रतिशत है।

चतुर्थ योजना मे कृषि-उत्पादन १९७३-७४ के निम्नलिखित लक्ष्य निर्धारित किये गये है.

कृषि विकास के प्रस्तावित लक्ष्य

वस्तु	इकाई	१९७३-७४ का लक्ष्य
१ खाद्यान्न	मिलियन टन	१२९
२ तिलहन	„ „	१० ५
३ गन्ना (गुड)	„ „	१५
४. रुई	„ गाँठें	८
५ जूट	„ „	७ ४
६ तम्बाकू	„ किलोग्राम	४५०
७ काजू	हजार टन	२३९
८ काली मिर्च	„ „	४२
९ दाले	मिलियन टन	१५

उपर्युक्त तालिका से स्पष्ट है कि चतुर्थ योजना के प्रस्तावित उत्पादन लक्ष्य काफी ऊँचे रखे गये है। २,७२८ करोड रुपये के प्रस्तावित व्यय में से ४२० करोड रुपये कृषि उत्पादन व शोध कार्य, ५१६ करोड रुपये लघु सिंचाई योजनाओं, ९५ करोड रुपये पशु-पालन, ८३ करोड रुपये मछली पालन, ९३ करोड रुपये वन विकास, १७९ करोड रुपये सहकारिता तथा ११५ करोड रुपये सामुदायिक विकास पंचायत के लिए सम्मिलित हैं।

कृषि-विकास की समीक्षा

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि पंचवर्षीय योजनाओं मे कृषि का महत्व बढता गया है। प्रत्येक योजना में पूर्व योजना की अपेक्षा, कृषि विकास के लिए अधिक धनराशि की व्यवस्था की गयी। कृषि उत्पादन में भी सन्तोषजनक वृद्धि हुई है। कृषि विकास क्षेत्रफल तथा उत्पादकता का फल है। प्रथम, द्वितीय तथा तृतीय पंचवर्षीय योजनाओं की अवधि में कृषि-उत्पादकता में निम्नलिखित प्रकार से वृद्धि हुई

उत्पादन, क्षेत्र तथा उत्पादकता में चक्रवृद्धि दर से वृद्धि

योजनाकाल	उत्पादन	क्षेत्र	उत्पादकता
१ प्रथम योजना	४ १	२ ६	१ ४
२ द्वितीय योजना	३ १	१ ३	१ ८
३ तृतीय योजना	३ ३	० ६	२ ७

उपर्युक्त तालिका से स्पष्ट है कि कृषि उत्पादन मे वृद्धि उत्पादकता मे उत्तरोत्तर वृद्धि के कारण अधिक हुई है। विभिन्न राज्यो मे भी वृद्धि दर मे पर्याप्त अन्तर रहा है। पंजाब, गुजरात, तथा तमिलनाडु मे राष्ट्रीय औसत से अधिक वृद्धि हुई। क्षेत्रफल मे सर्वाधिक वृद्धि राजस्थान में हुई है। कृषि शोध पर उत्तरोत्तर अधिक ध्यान दिया जा रहा है। वर्तमान हरित-क्रान्ति (Green Revolution) योजनाओ के माध्यम से किये गये कृषि-विकास प्रयासों का ही परिणाम है।

परन्तु यह क्रान्ति केवल खाद्य फसलों—गेहूँ, चावल, सरगम, ज्वार-बाजरा तथा मक्का—तक ही सीमित है। यदि हरित-क्रान्ति की दशा सभी फसलों में लागू हो जाये तो भारत खाद्यान्नों के सम्बन्ध में आत्मनिर्भर ही नहीं हो जायेगा, वरन् खाद्यान्नों का निर्यात भी करने लगेगा। चतुर्थ-पंचवर्षीय योजना का कृषि सम्बन्धी कार्यक्रम इस दिशा में महत्त्वपूर्ण कदम है।

प्रश्न

१ भारतीय कृषि की कम उत्पादन क्षमता के कारणों की विवेचनात्मक व्याख्या कीजिए तथा इसके सुधार के उपाय बतलाइए। (इलाहाबाद, बी० ए०, १९६५)

२ भारतीय कृषि के पिछड़ेपन के कारणों पर प्रकाश डालिए। विगत वर्षों में कृषि के आधुनीकरण के लिए क्या प्रयास किये गये है और कितनी सफलता के साथ। (राजस्थान, बी० कॉम०, १९७१)

३ भारत में कृषि के प्रति राज्य नीति की समीक्षा कीजिए। (विक्रम, बी० कॉम, १९६२)

४ भारत म कृषि क्षेत्र में राज्य के योगदान की समालोचनात्मक विवेचना कीजिए। (विक्रम, बी० ए०, १९६३)

५ भारत मे कृषि पुनर्संगठन की भावी रूपरेखा क्या होनी चाहिए ? पंचवर्षीय योजनाओं के अन्तर्गत कृषि विकास के लिए किये गए उपायो का वर्णन कीजिए। (गोरखपुर, बी० ए, १९६३)

६ योजनाकाल मे भारतीय कृषि के विकास पर एक संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए।

७. भारतीय कृषि के विकास में सरकारी योगदान पर एक विवेचनात्मक निबन्ध लिखिए।

10 खेतों का आकार एवं उत्पादकता

(SIZE OF FARMS AND PRODUCTIVITY)

"The low agricultural productivity of land in India has been frequently ascribed to the progressive sub division and fragmentation of holdings in almost all parts of the country"

—***Wadia and Merchant***

भारत मे कृषि की एक अत्यन्त गम्भीर समस्या यह है कि कृषि-भूमि अत्यन्त छोटे छोटे टुकडो मे बँटी हुई है। कहीं कहीं तो यह टुकडे इतने छोटे है कि उन पर बैल पूरी तरह से घूम भी नही सकते जिससे उनको जोतने और बीज डालने मे बडी कठिनाई का सामना करना पडता है। इतना ही नही अनेक स्थानो पर एक ही किसान के पास भूमि के कई छोटे छोटे टुकडे है जो एक-दूसरे से बहुत दूर बिखरे हुए है। इन टुकडों की देखभाल अथवा व्यवस्था करना बहुत खर्चीला काम है। फलत भारतीय खेती अव्यावहारिक अव्यावसायिक तथा अलाभदायक हो गयी है।

१ उप विभाजन एव अपखण्डन का अर्थ तथा सीमा

(१) **उप-विभाजन**—कृषि भूमि के उप-विभाजन से तात्पर्य यह है कि भूमि का एक टुकडा जिस पर एक व्यक्ति का स्वामित्व है, किसी कारण से दो या अधिक व्यक्तियो मे बांट दिया जाता है। उदाहरणत एक परिवार के मुखिया के पास भूमि का एक पाँच एकड का टुकडा है। जब उसकी मृत्यु हो जाती है तो वह खण्ड मुखिया के चार बच्चो मे सवा-सवा एकड बँट जाता है और इस प्रकार एक खण्ड पाँच एकड से कम होकर केवल सवा एकड रह जाता है।

(२) **अपखण्डन**—कई बार ऐसा होता है कि एक परिवार के पास भूमि के चार टुकडे हैं जो उपज अथवा स्थिति की दृष्टि से बहुत भिन्न हैं। जब यह भूमि चार बच्चो मे बँटती है तो प्रत्येक बालक तथा युवक चारो टुकडो मे अलग अलग हिस्सा लेना चाहता है, फलत वह भूमि १६ भागो मे अपखण्डित हो जाती है और प्रत्येक के हिस्से मे चार बहुत छोटे छोटे खण्ड आते हैं, जो एक-दूसरे से बहुत दूर स्थित हो सकते है।

भारत मे भूमि की जोत इतनी अधिक अपखण्डित एव उप विभाजित हो गयी है कि उसे किसी भी दृष्टि से न्यायसगत नही कहा जा सकता। गत एक अध्याय मे चेस्टर बोल्स के विचार दिये गये हैं जिसमें उन्होने यह बताया है कि भारत मे जमींदारी प्रथा समाप्त करने के पश्चात् भी १० प्रतिशत सेनिहरों के पास कुल भूमि के ५० प्रतिशत से अधिक तथा १ प्रतिशत किसानों के पास लगभग १० प्रतिशत है।

भारत में कृषि-जोतों का औसत आकार

भारत में कृषि-जोतों का औसत आकार बहुत छोटा है। निम्न सारणी से विभिन्न राज्यों में कृषि-जोतों के औसत आकार पर प्रकाश पड़ता है

प्रति कृषक-परिवार जोती गयी भूमि का औसत

(एकड़ में)

राज्य	प्रति परिवार औसत भूमि	राज्य	प्रति परिवार औसत भूमि
केरल	१·८	आन्ध्र	८·०
जम्मू व काश्मीर	३·८	मैसूर	१०·५
पश्चिमी बंगाल	४·१	मध्यप्रदेश	१०·६
मद्रास/तमिलनाडु	४·२	गुजरात	१२·४
असम	६·३	महाराष्ट्र	१२·६
बिहार	४·८	पंजाब	१३·८
उड़ीसा	५·८	राजस्थान	१६·०
उत्तर प्रदेश	५·८	अखिल भारत	७·३१

वस्तुतः भारत में कृषक परिवारों के पास औसत रूप से, ७·३१ एकड़ जोती जाने वाली भूमि है। उप-विभाजन की प्रक्रिया जारी रहने के कारण वर्तमान समय में यह औसत और भी कम हुआ होगा। यह तो हुई औसत की बात। किसान की भूमि एक ही स्थान पर नहीं होती है, बल्कि उसके खेत कई टुकड़ों में बिखरे हुए होते हैं। राष्ट्रीय सैम्पुल सर्वे (१६वाँ राउण्ड) के अनुसार इन खेतों (plots) का औसत आकार १.१८ एकड़ मात्र है क्योंकि एक किसान के पास औसत रूप से ६-७ छोटे-छोटे खेत होते हैं। इस प्रकार प्रति किसान जोती जाने वाली भूमि का कम औसत तथा बिखरे हुए खेतों ने भारत को अलाभकर जोतों (uneconomic holdings) का देश बना दिया है। अलाभकर जोतों के निर्माण के सम्बन्ध में उत्तराधिकार नियमों तथा चकबन्दी के प्रयत्नों के होते हुए भी खेतों के उप-विभाजन तथा अपखण्डन की समस्या गम्भीर रूप ग्रहण करती जा रही है। सम्पूर्ण भारत में प्रति कृषक परिवार ७·३ एकड़ भूमि उपलब्ध है परन्तु यदि विभिन्न राज्यों की दृष्टि से देखा जाय तो प्रति कृषक परिवार जोती जाने वाली भूमि का औसत १·८ एकड़ (केरल) से १६ एकड़ (राजस्थान) तक है। इन तथ्यों से स्पष्ट है कि भारत में कृषि की सबसे बड़ी समस्या अलाभकर जोत तथा उससे भी बड़ी समस्या इन अलाभकर जोतों का कई टुकड़ों में उप-विभाजन तथा अपखण्डन है।

राष्ट्रीय निदर्श सर्वेक्षण (National Sample Survey) ने अपने आठवें सर्वेक्षण में भारत के सभी राज्यों में भूमि स्वामित्व का ब्यौरा दिया है। सर्वे के अनुसार देश में ६·५ करोड़ परिवार गाँवों में निवास करते हैं और उनके पास कुल ३१ करोड़ एकड़ भूमि है।

अपखण्डन के सम्बन्ध में जितने अनुमान मिलते हैं वह प्रायः बहुत पुराने और अविश्वसनीय हैं तथा उनकी पुनरावृत्ति करना बुद्धिमत्ता नहीं है। समस्या की गम्भीरता का एक सामान्य अनुमान इस बात से लग सकता है कि पंजाब में लगभग एक-तिहाई किसानों में से प्रत्येक के पास २५ टुकड़ों तक का अनुमान लगाया गया है। उत्तर प्रदेश तथा बिहार में स्थिति बहुत गम्भीर है क्योंकि इन क्षेत्रों में कृषि भूमि पर जनभार अत्यधिक है। फलतः टुकड़ों के आकार में निरन्तर कमी आती गयी है।

उपलब्ध आँकड़ों की स्थिति इस तथ्य की पुष्टि करती है कि भारत के अधिकांश कृषक लघु भूमिधारी हैं। वस्तुतः भारत में इतनी भूमि नहीं है कि प्रत्येक ग्रामीण को पर्याप्त मात्रा में

खेत देने की व्यवस्था की जा सके। इसका एकमात्र हल यही है कि अतिरिक्त ग्रामीण जनसख्या को कृषि से अन्य व्यवसायो मे स्थानान्तरित होने का प्रोत्साहन दिया जाना चाहिए।

२ उप-विभाजन एवं अपखण्डन के कारण

भूमि के उप विभाजन तथा अपखण्डन के कारण मुख्यत परम्परागत, सामाजिक अथवा आर्थिक हैं। इनमे से अधिक महत्त्वपूर्ण निम्नलिखित हैं

(१) उत्तराधिकार के नियम—भारत मे पिता की मृत्यु पर उसके लडके तथा लडकियाँ सम्पत्ति के उत्तराधिकारी हो जाते हैं और अन्य सम्पत्ति के साथ साथ भूमि भी कई टुकडो मे बँट जाती है। यहाँ तक कि यदि पिता के पास चार प्रकार के भू-खण्ड हो तो सभी बच्चे उन चारो मे अलग-अलग हिस्सा लेने के लिए उत्सुक रहते हैं। इस प्रकार दो-तीन पीढियो म ही भूमि अनेक छोटे छोटे खण्डो मे उप-विभाजित एव अपखण्डित हो जाती है।

(२) सयुक्त परिवार प्रणाली का टूटना—डॉ० राधाकमल मुखर्जी का कथन है कि गत वर्षो मे स्वतन्त्र परिवार स्थापित करने की भावना प्रबल हो गयी है, अत सयुक्त परिवार प्रणाली टूट रही है जिसके कारण भूमि को टुकडो म बाँट लेने की भावना को भी प्रोत्साहन प्राप्त हो रहा है। वस्तुत सयुक्त परिवार से अलग होने के लिए कुछ ऐसी सम्पत्ति की आवश्यकता होती है, जो परिवार के निर्वाह के लिए सहायक हो। इसी कारण प्रत्येक व्यक्ति अपने हिस्से की भूमि भी ले लेना चाहता है जिससे वह अपखण्डित होती चली जाती है।

(३) जनसख्या में वृद्धि—गत वर्षो मे भारत की जनसख्या अधिक तीव्र गति मे बढी है जिसके कारण श्रमिको अथवा रोजगार चाहने वालो की सख्या मे भी आशातीत वृद्धि हुई है। इन सब व्यक्तियो को कल-कारखानो अथवा अन्य क्षेत्रो म रोजगार देना सम्भव नही हो सका है, अतः उनमे स अधिकाश कृषि क्षेत्र म ही कार्य करने के लिए बाध्य हो गये हैं। विचार सघर्ष तथा अन्य कठिनाइयो के कारण इन्होने अपने हिस्से की भूमि अलग ले ली है। इस प्रकार जन-वृद्धि के कारण भी भूमि के विखण्डित होने की प्रथा को बहुत बल मिला है।

(४) भूमि की साख—भारत म आदिकाल से ही भूमि का स्वामित्व आदर की दृष्टि से देखा गया है। आज भी उन व्यक्तियों की सामाजिक प्रतिष्ठा बहुत ऊँची है जिनके पास अपनी भूमि तथा मकान है। इस दृष्टि से परिवार स अलग होने वाले व्यक्ति अपनी प्रतिष्ठा बनाये रखने के लिए अपने हिस्से की भूमि पर पृथक स्वामित्व प्राप्त करने को इच्छुक रहते हैं। यहाँ तक कि नगरों मे जाकर बस जाने वाले परिवार भी भूमि का अधिकार नही छोड सकते। यह एक अत्यन्त विषम एव गम्भीर परिस्थिति है।

(५) साहूकारो द्वारा अधिकार—यद्यपि गत वर्षो मे प्राय सभी राज्यो मे इस प्रकार के नियम बन गये हैं कि कृषि भूमि खेती न करने वाले व्यक्तियो अथवा परिवारो के नाम हस्तान्तरित नही हो सकती किन्तु इन नियमो के बनने से पूर्व देश के अनेक भागो मे ऋण न चुका सकने के कारण किसानो की भूमि का स्वामित्व क्रमश साहूकारो के हाथ मे चला गया। इन साहूकारो ने भी कृषि भू खण्डो को अपनी सुविधा के अनुसार विभिन्न व्यक्तियों के हाथ बेच दिया जिससे सम्पूर्ण भूमि अनेक टुकडो में विभाजित हो गयी। अब भी ग्रामो मे रहने वाले साहूकार अपने आपको खेतिहर घोषित कर ऋण भुगतान के बदले मे कृषि भूमि प्राप्त करने मे सफल हो जाते हैं।

(६) कुटीर उद्योगों का पतन—अँग्रेजी शासन से पूर्व भारत कृषि तथा उद्योग दोनो ही क्षेत्रो मे उन्नतिशील था और किसान न केवल खाली समय मे कोई व्यवसाय कर लेते थे बल्कि बहुत-से व्यक्ति पूरे समय ही विभिन्न औद्योगिक कार्यों मे नियोजित रहते थे। इससे कृषि भूमि पर जनाधिक्य नही था। अँग्रेजी शासन की दुर्नीतियो के परिणामस्वरूप देश के कुटीर उद्योग क्रमश अवनति को प्राप्त होते गये और ग्रामीण जनता को अधिकाधिक रूप मे भूमि पर निर्भर रहने के लिए

बाध्य होना पड़ा। इसका फल यह हुआ कि भूमि क्रमश विभाजित होती चली गयी। गत वर्षों में राज्य सरकारों ने कुटीर उद्योगों के विकास के लिए अत्यन्त उदार नीति अपनायी है किन्तु इन उद्योगों की प्रगति मुख्यत नगरों के समीपवर्ती क्षेत्रों में हुई है अत कृषि पर जनभार में कोई कमी दृष्टिगोचर नहीं हो रही है।

उपर्युक्त सब परिस्थितियों के कारण भारत में कृषि भूमि पर जनभार निरन्तर बढ़ता जा रहा है जिसके फलस्वरूप यहाँ की खेती न तो व्यावसायिक बन पायी है और न ही वह कृषकों को सम्मानजनक जीवन स्तर प्रदान करने में समर्थ है। फलत कृषक तथा उसका व्यवसाय दोनों ही अवनत अवस्था में है।

भूमि के उप-विभाजन तथा अपखण्डन के अन्य परिणाम निम्नलिखित हैं

३ उप विभाजन एवं अपखण्डन के दोष

(१) भूमि का अपव्यय—भूमि के निरन्तर विखण्डन के फलस्वरूप वह बहुमूल्य छोटे-छोटे टुकड़ों में बँट गयी है। इन सब टुकड़ों पर बाड़ लगाने से बहुत भूमि व्यर्थ जाती है क्योंकि विखण्डित होने से पूर्व यदि एक बाड़ लगाना यथेष्ट था तो अब कई बाड़ लगाना आवश्यक हो जाता है। बाड़ के नीचे अधिक भूमि आ जाने से उतनी ही भूमि कृषि से छिन जाती है। यह अनुमान लगाया गया है कि बाड़ लगाने से लगभग ४-५ प्रतिशत भूमि व्यर्थ जाती है।

(२) पारस्परिक विवादों में वृद्धि—भूमि पर लगायी जाने वाली बाड़ प्राय खेती के मौसम में लगायी जाती है। अनेक बार नयी बाड़ लगाते समय पड़ोसियों में आपस में इस बात पर विवाद उत्पन्न हो जाता है कि बाड़ कहाँ लगाई जानी चाहिए। दूसरी कठिनाई सिंचाई के सम्बन्ध में रहती है। प्रत्येक किसान को निश्चित समय पर जल उपलब्ध होता है और प्रत्येक अपनी आवश्यकतानुसार दूसरे से पहले जल ले लेना चाहता है फलत वह आगे वाले खेतों में पानी की पूर्ति रोक लेता है जिससे बहुधा सिर-फुटौअल तथा हत्याएँ तक हो जाती हैं। इन विवादों के फलस्वरूप किसानों की बहुत सी शक्ति और धन का अपव्यय होता है।

(३) कृषि रीतियों में सुधार असम्भव—भूमि के बहुत छोटे छोटे टुकड़े होने के कारण न तो उनमें सिंचाई के लिए कुएँ बनाना सम्भव है और न ही सिंचाई के अन्य साधनों का अधिकतम सदुपयोग किया जा सकता है। इसके अतिरिक्त भूमि पर बुवाई, जुताई तथा कटाई के नवीनतम साधनों का प्रयोग करना भी अनार्थिक एवं अव्यावहारिक है।

(४) भूमि व्यवस्था की कठिनाई—यदि किसान के पास कुल जितनी भूमि है वह एक ही स्थान पर हो तो उसमें न केवल खेती की सुधरी हुई प्रणालियाँ काम में ली जा सकती हैं बल्कि फसल की उचित देखरेख भी सुविधापूर्वक हो सकती है। एक व्यक्ति के पास कई भू-खण्ड होने पर उसे फसल की देख-रेख पर बहुत धन व्यय करना पड़ता है। इसके अतिरिक्त उन भू-खण्डों पर हल, बैल तथा अन्य साधन ले जाने में भी बहुत-से धन तथा श्रम का अपव्यय होता है क्योंकि यह भू-खण्ड प्राय एक दूसरे से बहुत दूर स्थित होते हैं। इस प्रकार कृषक की शक्तियाँ एक स्थान पर केन्द्रित नहीं हो पातीं और कृषि-व्यवस्था अकुशल बनी रहती है।

(५) न्यून उत्पादन एवं आय—भूमि के विखण्डित रहने का एक निश्चित परिणाम यह होता है कि खेती की प्रणालियाँ पुरातनपन्थी बनी रहती हैं जिनके कारण कृषि उत्पादन बहुत कम रहता है। फलत देश में कृषि पदार्थों का अभाव रहता है, कृषक की आर्थिक स्थिति विपन्न रहती है और इससे देश की सम्पूर्ण अर्थ व्यवस्था दुर्बल एवं जड़ बनी रहती है, उसमें गतिशीलता उत्पन्न करना सम्भव नहीं होता।

(६) रोजगार का अभाव—भूमि के बहुत छोटे छोटे टुकड़े होने के कारण उन पर खेती करने वाले व्यक्तियों को बहुत ही थोड़े समय के लिए काम मिलता है जिसके फलस्वरूप देश में

प्रच्छन्न (Disguised) बेरोजगारी अथवा अल्प रोजगार की स्थिति बनी रहती है। इसका परिणाम यह होता है कि देश में व्यापक आर्थिक असन्तोष बना रहता है।

४ उप-विभाजन तथा अपखण्डन के गुण

यद्यपि भूमि का अत्यधिक विभाजन तथा अपखण्डन अनेक दृष्टिकोणों से दोषपूर्ण एवं अवाछनीय है किन्तु उसमे निम्न लाभ भी अन्तर्निहित हैं

(१) **आत्मनिर्भरता**—भूमि के छोटे छोटे टुकडों का सबसे महत्त्वपूर्ण गुण यह है कि प्रत्येक कृषक के पास खेती के लिए अपनी भूमि होती है और वह अपने जीवन-निर्वाह के लिए सर्वथा आत्मनिर्भर रह सकता है। यदि भूमि का खण्ड बहुत छोटा है तो वह उस पर अधिक श्रम तथा पूँजी लगाकर अधिक उत्पत्ति प्राप्त करने के लिए प्रेरित होता है और इस प्रकार भूमि की उपज मे वृद्धि की सम्भावना हो सकती है।

(२) **मानसून के विरुद्ध बीमा**—यह एक प्रचलित सत्य है कि भारत मे मानसून द्वारा सभी स्थानो पर यथेष्ट वर्षा नही होती अत यदि किसान के पास भिन्न-भिन्न क्षेत्रो मे भूमि के टुकडे हैं तो एक स्थान पर वर्षा न होने पर भी वह दूसरे स्थान के भू-खण्ड से प्राप्त उत्पत्ति से अपना जीवन-निर्वाह कर सकता है। यदि उसके सब भू खण्ड एक साथ ही एक क्षेत्र मे हो तो उस क्षेत्र मे वर्षा न होने पर किसान की आर्थिक स्थिति बहुत बिगड जाने का भय है। इस प्रकार अलग-अलग क्षेत्रो मे भू-स्वामित्व होने से किसान मानसून के दुष्प्रभावो से कुछ बचा रहता है।

(३) **फसलो की अदला बदली**—कृषि-भूमि को शक्ति ह्रास मे बचाने के लिए प्राय फसलो की अदला बदली का सुझाव दिया जाता है। इसका तात्पर्य यह है कि यदि किसी खेत मे एक वर्ष एक फसल उत्पन्न की गयी है तो दूसरे वर्ष दूसरी ऐसी फसल पैदा की जानी चाहिए जो पहली फसल द्वारा लिये गये तत्त्व भूमि को प्रदान कर सके। इससे भूमि की उत्पादन शक्ति यथावत् बनी रहती है। छोटे छोटे खेतो मे फसलो की अदला-बदली की प्रथा सरलतापूर्वक अपनायी जा सकती है क्योकि यदि किसान के चार खेत है तो वह चारो मे अलग-अलग फसल आसानी से बो सकता है। एक ही खेत होने पर ऐसा करना अपेक्षाकृत कठिन है।

(४) **विक्रय की सरलता**—भूमि के छोटे-छोटे खण्डो पर खेती करने से उस पर जो उत्पत्ति प्राप्त होती है वह बहुत अधिक नही होती अत उसे उत्पादन क्षेत्र मे ही बेचना सम्भव होता है जिससे किसान को फसल मण्डी तक ले जाने का श्रम तथा व्यय उठाने की आवश्यकता नही पडती।

(५) **गहरी खेती के लिए प्रोत्साहन**—भूमि के छोटे-छोटे खण्ड होने पर किसान को उनसे यथेष्ट उपज प्राप्त करने की कठिनाई रहती है अत वह स्वभावत उन टुकडो पर खेती की नवीनतम प्रणालियो का प्रयोग करने के लिए बाध्य हो जाता है ताकि उसे आवश्यकतानुसार उत्पादन प्राप्त हो सके। इस प्रकार गहरी खेती प्रणाली को प्रोत्साहन मिल सकता है। जापान मे प्राय छोटे-छोटे भू खण्डो पर नवीन प्रणालियो द्वारा अधिक उत्पादन प्राप्त किया जाता है।

(६) **परिवार की व्यस्तता**—छोटे भू खण्डो पर परिवार के अधिक व्यक्तियो को अधिक समय के लिए कार्यरत किया जा सकता है। उदाहरणत, यदि एक परिवार के पास चार छोटे-छोटे भू-खण्ड हैं और उसमे आठ व्यक्ति हैं तो प्रत्येक भू-खण्ड पर दो दो व्यक्ति लगाये जा सकते हैं। यह सत्य है कि इससे श्रम का सदुपयोग नही होता किन्तु भारत मे तो अधिक श्रम का नियोजन करने की समस्या है, श्रम का अभाव नही। अत छोटे भू खण्डों पर अधिक व्यक्तियों को कार्य-व्यस्त रख सकते हैं जिससे उन्हें बेकारी अथवा खालीपन का अनुभव नहीं होने पाता।

यद्यपि भूमि के छोटे-छोटे खण्ड अनेक दृष्टिकोणो मे लाभकारी हैं परन्तु गम्भीरतापूर्वक देखने पर पता लगता है कि इनके दोष अधिक व्यापक एवं हानिप्रद हैं अत कृषि भूमि के अपखण्डन को दूर करने के लिए प्रभावशाली उपाय योजना बहुत आवश्यक है।

५. उप-विभाजन तथा अपखण्डन की समस्या का समाधान

कृषि भू-खण्डों के उप-विभाजन तथा अपखण्डन की समस्या का समाधान 'आर्थिक जोतों' (economic holdings) के निर्माण द्वारा किया जा सकता है। आर्थिक जोतों का निर्माण कई विधियों से किया जा सकता है जैसे (i) भूमि का राष्ट्रीयकरण कर आर्थिक जोतों का निर्माण करके भूमि का पुनर्वितरण करना (ii) जोतों की चकबन्दी करना, तथा (iii) सहकारी कृषि द्वारा। इन तीनों विधियों में से प्रथम विधि भारत में नहीं अपनायी जा सकती। आगे के पृष्ठों में हम सर्वप्रथम 'आर्थिक जोत' पर प्रकाश डालेंगे तत्पश्चात् चकबन्दी और सहकारी कृषि का भी वर्णन करेंगे।

आर्थिक जोत
(ECONOMIC HOLDING)

'आर्थिक जोत' के सम्बन्ध में विभिन्न विद्वानों ने विभिन्न मत प्रकट किये हैं। कीटिंग के अनुसार आर्थिक जोत वह है जिससे प्राप्त शुद्ध उत्पादन (खर्चे निकालकर) द्वारा कोई व्यक्ति अपने परिवार का उचित ढंग से भरण-पोषण कर सके। तदनुसार दक्षिण (बम्बई) में प्रत्येक भू-खण्ड कम से कम ४०–५० एकड़ का होना चाहिए तथा उस भूमि पर निवास के लिए एक मकान तथा सिंचाई के लिए एक कुआँ होना चाहिए।[1]

डॉ० हेरल्ड मान के विचार में एक आर्थिक जोत वह है जो एक औसत परिवार को सन्तोषजनक जीवन-स्तर प्राप्त करवाने में सहायक हो सके। इस जोत का आकार (दक्षिण में) २० एकड़ होना चाहिए।[2]

श्री एम० एल० डार्लिंग का कथन है कि पंजाब में एक किसान परिवार ८-१० एकड़ भूमि से यथेष्ट जीवन निर्वाह नहीं कर सकता। उसे सामान्य जीवन-स्तर बिताने के लिए कम से कम १०-१२ एकड़ भूमि की आवश्यकता होती है।[3]

कांग्रेस कृषि सुधार समिति ने कृषि जोत का आकार निर्धारित करने के लिए तीन मापदण्ड निर्धारित किये हैं।

समिति ने आर्थिक जोत के लिए कोई विशेष सीमा निर्धारित नहीं की क्योंकि देश के विभिन्न क्षेत्रों में भूमि की किस्म, कृषि की सुविधाएं तथा खेती की रीतियां बहुत भिन्न हैं। अतः यह कहना कि ५, १० या १५ एकड़ के भू खण्ड आर्थिक माने जाने चाहिए, सर्वथा भ्रामक होगा। इस दृष्टि से ही समिति ने एक आर्थिक जोत के लिए तीन आधार निश्चित किये हैं :

(i) **जीवन स्तर**—आर्थिक जोत का प्रथम आधार यह है कि उक्त भू खण्ड से प्राप्त उत्पत्ति इतनी होनी चाहिए जिससे किसान के परिवार को यथोचित जीवन-स्तर बनाये रखने लायक आय प्राप्त हो सके।

(ii) **रोजगार**—आर्थिक जोत का आकार इतना बड़ा होना चाहिए कि एक सामान्य परिवार तथा बैलों की एक जोड़ी को पूरे समय के लिए काम उपलब्ध हो सके।

(iii) **तकनीकी सुविधाएं**—आर्थिक जोत का आकार निर्धारित करने में प्रत्येक क्षेत्र की कृषि रीतियों तथा तकनीक का भी ध्यान रखना चाहिए।

उत्तर-प्रदेश कांग्रेस कृषि समिति ने यह विचार प्रकट किया कि सामान्यतः एक कृषक परिवार के समुचित भरण-पोषण के लिए १५-२० एकड़ भूमि की आवश्यकता है किन्तु यदि कृषि मूल्यों में वृद्धि हो जाए तो यह सीमा कुछ कम हो सकती है।

---

1 *Rural Economy in Bombay Deccan*, pp. 52-53

2 *Land and Labour in a Deccan Village*, Vol. II, p. 43.

3 *Punjab Peasant in Prosperity and Debt*.

उपर्युक्त सभी विचारो से यह स्पष्ट है कि एक आर्थिक जोत का आकार प्रत्येक स्थान के लिए समान नहीं हो सकता। वह मुख्यत निम्न बातो पर निर्भर करना चाहिए

(१) भूमि की उर्वरता,
(२) सिंचाई एव अन्य साधनो की उपलब्धि
(३) कृषि रीतियाँ,
(४) किसान का जीवन-स्तर।

यदि आर्थिक जोत की उचित परिभाषा देनी हो तो यह कहा जा सकता है कि **आर्थिक जोत वह है जो प्रचलित कृषि साधनों एव रीतियों द्वारा एक सामान्य कृषक परिवार को सम्मानजनक जीवन स्तर बनाये रखने में सहायक हो सके।** स्वभावत यह सीमा गगा और यमुना के मैदान मे कम तथा राजस्थान के रेगिस्तानी भागो मे अधिक होगी।

(अ) आधारभूत जोत (Basic Holding)—कुमारप्पा समिति (कांग्रेस कृषि सुधार समिति) का यह मत है कि कुछ भू खण्ड सदा आर्थिक जोत से बहुत कम तथा कुछ उसके बहुत निकट रहते हैं। इन दोनो के बीच मे कुछ जोतें होनी है जिन्हे आधारभूत जोत कहा जा सकता है। इस प्रकार **आधारभूत जोत ऐसा भू खण्ड होता है जो आर्थिक जोत से छोटा होते हुए भी विशेष अनार्थिक नहीं होता और जिसे परिश्रम द्वारा आर्थिक बनाया जा सकता है।**

समिति का यह मत है कि आधारभूत तथा आर्थिक जोतो पर व्यक्तिगत खेती करने की अनुमति होनी चाहिए क्योकि इनसे व्यक्तिगत श्रम एव शक्तियो को कृषि विकास करने को प्रोत्साहन मिलेगा। कालान्तर म यह व्यक्तिगत खेत सहकारी खेतो मे परिणित किये जा सकते हैं।

(ब) अधिकतम जोत (Maximum Holding)—समिति ने न्यूनतम अथवा आधारभूत जोत और आर्थिक जोत के सम्बन्ध मे विचार प्रकट करने के अतिरिक्त यह भी कहा है कि आर्थिक न्याय की दृष्टि से कृषि भूमि के टुकडो की एक उच्चतम सीमा भी होनी चाहिए क्योकि यदि कुछ व्यक्तियों के पास असीमित मात्रा मे भू खण्ड रहने दिये गय तो वह अन्य व्यवसायो की भांति कृषि मे भी जनता का शोषण करने लगेंगे। इस सम्बन्ध मे समिति का यह मत है कि अधिकतम जोत साधारणत आर्थिक जोत के तिगुने से अधिक नहीं होनी चाहिए। इस सम्बन्ध मे यथास्थान अधिक प्रकाश डाला जायेगा।

भारत मे आर्थिक जोतो का निर्माण दो विधियो द्वारा किया जा सकता है—चकबन्दी द्वारा तथा सहकारी खेती द्वारा।

जोतो की चकबन्दी
(CONSOLIDATION OF HOLDINGS)

जब भूमि के बहुत छोटे छोटे अथवा बिखरे हुए टुकडो को मिला दिया जाय अथवा उनके स्थान पर किसान को एक ही स्थान पर एक टुकडा देने की व्यवस्था कर दी जाय तो इस व्यवस्था को चकबन्दी (consolidation) कहते हैं। उदाहरणत किसी ग्राम मे ५०० एकड कृषि योग्य भूमि हो और उसमे १०० परिवार बसते हो तो प्रत्येक परिवार के हिस्से मे ५ एकड भूमि आ सकती है। अब यह सम्भव है कि कुछ परिवारों के पास कुल मिलाकर ५ ५ एकड भूमि तो है किन्तु वह दूर दूर बिखरे हुए कई टुकडो म है। जैसे एक परिवार के पास १ एकड का एक खण्ड गाँव के पश्चिम की ओर, १ ५ एकड का एक टुकडा उत्तर की ओर, २ २ एकड का एक अश उत्तर-पूर्व की ओर तथा ० ३ एकड का एक खण्ड दक्षिण की ओर है। चकबन्दी के अन्तर्गत इस परिवार को किसी भी सुविधाजनक स्थान पर (जो उसके घर के निकट हो या और किसी दृष्टि से सुविधाजनक हो) ५ एकड का एक ही टुकडा देने की व्यवस्था कर दी जाती है।

चकबन्दी करने में किसान को पहले से कुछ घटिया अथवा बढ़िया भूमि मिल सकती है।

यदि भूमि पहले से कुछ बढ़िया है तो उससे कुछ क्षतिपूर्ति ले ली जाती है और घटिया भूमि प्राप्त करने वाले को कुछ रकम क्षतिपूर्ति के रूप मे दे दी जाती है, और यदि नयी भूमि कुछ घटिया है तो उसे बढ़िया भूमि प्राप्त करने वाले किसान से क्षतिपूर्ति मिल जाती है।

चकबन्दी दो प्रकार से की जा सकती है—ऐच्छिक चकबन्दी तथा कानून द्वारा चकबन्दी।

(क) **ऐच्छिक चकबन्दी**—भारत मे खेतों की चकबन्दी का कार्य राज्यो के राजस्व विभागों तथा सहकारी समितियो द्वारा १९२० मे आरम्भ किया गया किन्तु पजाब के सिवाय किसी राज्य मे इसकी उल्लेखनीय प्रगति नहीं हुई क्योंकि चकबन्दी योजना स्वीकार करना ऐच्छिक रखा गया था। अनेक बार गाँव के केवल एक दो व्यक्तियों के विरोध के कारण ही सम्पूर्ण चकबन्दी कार्यक्रम स्थगित कर देना पडता था। अन्तत विभिन्न राज्यो तथा प्रान्तो मे चकबन्दी सम्बन्धी नियम बनाये गये जिनमे यह व्यवस्था की गयी कि यदि गाँव मे ६० प्रतिशत किसान चकबन्दी के लिए सह-मत हो गये तो एक योजना बनाकर उसे सम्पूर्ण गाँव पर लागू किया जा सकेगा और असहमत होने वालों को कानून द्वारा वह व्यवस्था स्वीकार करने के लिए बाध्य किया जा सकेगा।[1] कुमारप्पा समिति ने भी इस व्यवस्था को चालू रखने की नीति का समर्थन किया है।

इस अर्द्ध ऐच्छिक एव अर्द्ध बलात् योजना को पुराने बड़ौदा राज्य, मध्य प्रदेश, उत्तर प्रदेश, पजाब तथा जम्मू काश्मीर प्रदेशों मे शीघ्र लागू किया गया। वस्तुत ६० प्रतिशत किसानो की सहमति से चकबन्दी करना एक अत्यन्त कठिन एव दुरूह कार्य है अत राज्यों को यह प्रतिशत ७५ तक लाने की चेष्टा करनी चाहिए।

(ख) **कानून द्वारा चकबन्दी**—आर्थिक, सामाजिक एव शैक्षणिक दृष्टि से पिछड़े हुए देशो मे सुधार के अनेक कार्य कानून द्वारा सम्पन्न करना आवश्यक होता है क्योंकि अधिकांश जनता परम्परावादी होने के कारण सुधार के कार्यों का महत्त्व उनके लागू होने के पश्चात् ही समझने लगती है। इस दृष्टि से ही कई राज्यो ने चकबन्दी सम्बन्धी ऐसे कानून बनाये जिसके अनुसार राज्य सरकार को चकबन्दी की योजना बनाने तथा कार्यान्वित करने के व्यापक अधिकार दिये गये हैं। उदाहरणत, १९४७ मे बम्बई, १९४८ मे पजाब, १९५१ मे उडीसा, १९५३ मे उत्तर प्रदेश तथा हिमाचल प्रदेश, १९५४ मे राजस्थान, १९५५ मे पश्चिमी बगाल तथा १९५६ मे आन्ध्र तथा बिहार मे चकबन्दी सम्बन्धी कानून बनाये गये।

उत्तर प्रदेश मे चकबन्दी की गति तीव्र करने के लिए १९५८ मे एक सशोधन अधिनियम पारित किया गया तथा १९५९ मे मध्य प्रदेश, आन्ध्र तथा मैसूर में चकबन्दी कानून लागू किये गये। मध्य प्रदेश मे तो एक विस्तृत राजस्व कोड (Revenue Code) निर्मित किया गया जिसका उद्देश्य चकबन्दी योजनाओं को गतिशील बनाना है। इन कानूनों के अतिरिक्त प्राय सभी राज्यों मे भूमि के अपखण्डन की रोक सम्बन्धी अधिनियम भी पास कर दिये गये हैं।

योजनाकाल मे चकबन्दी—योजनाकाल मे सभी राज्यों को चकबन्दी योजनाएँ कार्यान्वित करने के लिए प्रेरित किया गया किन्तु कुछ राज्यो मे ही इस दिशा मे सन्तोषजनक प्रगति हो सकी है। द्वितीय योजना की समाप्ति तक २.९५ करोड एकड भूमि की चकबन्दी की जा चुकी थी। तृतीय योजना की समाप्ति तक चकबन्दी का लक्ष्य ३·१० करोड एकड भूमि निश्चित किया गया था। इस लक्ष्य की पूर्ति कर ली गयी है।

अग्रांकित तालिका द्वारा भारत मे चकबन्दी की प्रगति का ज्ञान होता है :

1 Mahesh Chand, *Economic Problems in Indian Agriculture*, pp 178 79

भारत में चकबन्दी की प्रगति

(लाख हेक्टर मे)

वर्ष	चकबन्दी के अन्तर्गत क्षेत्र
१९६०-६१	१२१
१९६५-६६	२४१
१९६८-६९	२९६
१९७३-७४ (लक्ष्य)	३६०

चतुर्थ योजना के अन्त तक कुल ३६० लाख हजार हेक्टर भूमि क्षेत्र की चकबन्दी पूरी कर ली जायगी। चकबन्दी की योजना आन्ध्र प्रदेश, गुजरात, मध्य प्रदेश, पजाब तथा उत्तर प्रदेश मे मुख्य रूप से सफलतापूर्वक क्रियान्वित की गयी है। चतुर्थ योजना मे इस कार्यक्रम के लिए २८४ करोड रुपये की व्यवस्था की गयी है जिसमे राज्य सरकारो द्वारा किया गया प्रावधान भी सम्मिलित है।

चकबन्दी मे कठिनाइयाँ—भारत मे भूमि की चकबन्दी के मार्ग मे अनेक बाधाएँ है जिसमे से मुख्य निम्नलिखित हैं

(१) **भूमि का मूल्यांकन**—चकबन्दी करते समय विभिन्न वर्गों के भू-खण्डो का मूल्यांकन करना आवश्यक होता है ताकि क्षतिपूर्ति का अनुमान लगाया जा सके। गत वर्षों के मूल्यों मे अकल्पनीय वृद्धि हुई है जिसके फलस्वरूप चकबन्दी करने मे बहुत कठिनाई का सामना करना पडा है क्योंकि बहुत से व्यक्ति अत्यधिक क्षतिपूर्ति देने मे असमर्थ हैं। इस दिशा मे सहकारी समितियो के आर्थिक सहयोग द्वारा चकबन्दी मे अच्छी सहायता मिल सकती है।

(२) **भूमि से लगाव**—भारतीय कृषक का अपने बाप दादों की भूमि से अत्यधिक स्नेह है और वह किसी लाभ के लिए उसे त्यागने के लिए तैयार नहीं होता, अत कभी-कभी उसकी भूमि के बदले अच्छी भूमि मिलने पर भी वह विनिमय के लिए तत्पर दिखायी नही पडता। यह एक अत्यन्त गम्भीर स्थिति है। इस सम्बन्ध मे पचायतों तथा सामुदायिक विकास अधिकारियों द्वारा व्यक्तिगत सम्पर्क एव दबाव द्वारा उचित वातावरण तैयार किया जाना चाहिए ताकि कानून के लागू करने पर चकबन्दी अधिकारियो को अनावश्यक विरोध का सामना नही करना पडे।

(३) **तकनीकी ज्ञान**—चकबन्दी का कार्य ऐसा है कि उसे सम्पन्न करने के लिए भूमि के सभी खण्डो का यथोचित सर्वेक्षण वर्गीकरण तथा मूल्यांकन करना आवश्यक है जिसके लिए यथोचित योग्यता वाले कर्मचारियों की आवश्यकता होती है। अनेक बार उचित योग्यता वाले अधिकारी उपलब्ध नही होते जिसके कारण चकबन्दी ठीक नही हो पाती और किसानो म अत्यधिक असन्तोष उत्पन्न हो जाता है जिसके फलस्वरूप आगे के क्षेत्रो चकबन्दी का विरोध होना आरम्भ हो जाता है।

(४) **भ्रष्टाचार**—गत वर्षों मे अनेक स्थानो पर चकबन्दी अधिकारियो के विरुद्ध भ्रष्टाचार के आरोप लगाये गये हैं जिनमे पक्षपात की शिकायत की गयी है। वस्तुत भ्रष्टाचार तथा घूसखोरी भारत की राष्ट्रीय समस्याएँ बन गयी हैं अत जब तक इन्हे अत्यन्त शक्तिशाली साधनो द्वारा नहीं दबाया जायेगा, तब तक देश की अच्छी से अच्छी योजनाओं की सफलता सदिग्ध बनी रहेगी।

चकबन्दी के गुण तथा भविष्य—भूमि की चकबन्दी से किसानो को कई प्रकार के लाभ पहुँच सकते हैं

(अ) खेती करने मे समय तथा श्रम की बचत होती है और भूमि का श्रेष्ठतम प्रयोग किया जा सकता है।

(आ) सिंचाई सुविधाओं तथा सुगम खेती की रीतियों का विस्तार किया जा सकता है।

(इ) व्यक्तिगत तथा सामाजिक जोत अधिक सुविधाजनक एवं सुनियोजित हो जाती है।

(ई) गाँव मे सडको, नहरो तथा अन्य सुविधाओं का विकास करना सरल हो जाता है।

उपर्युक्त लाभो की पृष्ठभूमि मे देश की सम्पूर्ण कृषि भूमि का स्वामित्व पुनर्गठित करने की आवश्यकता है। इसमे कृषि की अधिक उन्नत प्रणालियो का प्रयोग करने मे भी सरलता रहेगी तथा यदि लोग चाहेंगे तो सहकारी खेती करना भी सरल हो जायेगा।

कृषि प्रणालियाँ

भूमि पर वैज्ञानिक अनुसन्धानो का लाभ उठाने के लिए चकबन्दी एक मार्ग है किन्तु अन्य ऐसे साधन भी हैं जिनके द्वारा छोटे-छोटे भू-खण्डो को मिलाकर बडे पैमाने पर खेती की जा सकती है। बडे पैमाने की खेती के भिन्न-भिन्न देशो मे भिन्न-भिन्न रूप प्रचलित हैं। उनमे से अधिक महत्त्वपूर्ण निम्नलिखित हैं: (पूँजीवादी खेती, राजकीय खेती, सामूहिक खेती, तथा सहकारी खेती)

(१) पूँजीवादी खेती (Capitalist Farming)—कभी कभी कुछ व्यक्ति एक सम्मिलित कम्पनी बना लेते हैं और उसमे अश (shares) खरीद लिये जाते हैं। यह अश-पूँजी भूमि खरीदने मे काम ली जाती है। इस प्रकार क्रमश कृषि सम्पदाओ का निर्माण कर लिया जाता है तथा उनमे बडे पैमाने की रीतियो द्वारा खेती की जाती है। इन सम्पदाओ (estates) का सगठन एव प्रबन्ध पूर्णत सयुक्त पूँजी वाली कम्पनियो की भाँति किया जाता है।

अमरीका तथा ब्रिटेन मे पूँजीवादी खेती बहुत प्रचलित है। भारत मे भी चाय, कहवे तथा रबड के बागान में कृषि सम्पदाएं निर्मित की गयी है। इनकी स्थापना १८५६ की स्वातन्त्र्य क्रान्ति के पश्चात की गयी थी जब भविष्य मे ऐसी घटनाओ को रोकने की दृष्टि से सेवामुक्त ब्रिटिश अधिकारियो को हिमालय तथा नीलगिरि के पहाडी प्रदेशो मे बसाया गया और उन्हें विशेष सुविधाएँ प्रदान की गयी। बाद मे इन सुविधाओ का कुछ भारतीयो ने भी लाभ उठाया और पजाब, सिन्ध तथा उत्तर प्रदेश के सिंचित प्रदेशो मे बड़े-बडे भू-खण्ड प्राप्त कर उन पर खेती आरम्भ कर दी गयी। इनमे से कुछ सम्पदाएँ अब भी है। यह कृषि फार्म दो प्रकार के है:

(i) प्रथम प्रकार की सम्पदाओ का अधिकार कुछ व्यक्तियो, किसी सयुक्त पूँजी कम्पनी अथवा सिंडीकेट के पास होता है। इन खेतो पर काम करने के लिए अन्य उद्योगो की भाँति श्रमिक नियोजित किये जाते हैं और उनके काम का निरीक्षण विशेष अधिकारियो द्वारा होता है। सम्पदा का मैनेजर सम्पदा के क्षेत्र मे ही निवास करता है तथा सारे काम की देख-रेख करता है। खेती करने मे नवीनतम कृषि प्रणालियो तथा उपकरणो का प्रयोग किया जाता है। भारत मे दक्षिणी गन्ना सम्पदाएँ (Deccan Sugarcane Estates) तथा पर्वतीय प्रदेशो की चाय सम्पदाएँ (Tea Estates) पूँजीवादी खेती के उदाहरण हैं।

(ii) दूसरी प्रकार की सम्पदाओ मे वह खेत सम्मिलित है जिन पर किसी अकेले व्यक्ति अथवा निगम का अधिकार होता है। यह भूमि कुछ व्यक्तियो को अलग-अलग टुकडो मे खेती के लिए दे दी जाती है तथा उनसे निश्चित लगान वसूल कर लिया जाता है। इन व्यक्तियो को कृषि रीतियो मे सुधार की सुविधाएँ भी प्रदान की जाती हैं।

पूँजीवादी खेती के गुण निम्नलिखित हैं:

(१) कृषि की नवीनतम प्रणालियो का प्रयोग होने के कारण उत्पादन अधिक होता है।

(२) भूमि का सर्वोत्तम सदुपयोग किया जाता है।

(३) स्पर्द्धा के कारण कृषि पदार्थो के मूल्यो मे विशेष वृद्धि नहीं होती।

(४) श्रमिको की मजदूरी तथा आवास की स्थितियाँ अच्छी रहती हैं। ऐसा कभी-कभी स्वेच्छिक तथा कभी-कभी सरकारी नियम के कारण होता है।

(५) कृषि पदार्थों की उपज, परिवहन अथवा वितरण व्यवस्था कुशल होती है ।

दोष—कृषि साधनों का सर्वोत्तम प्रयोग करने की दृष्टि से पूँजीवादी खेती रामबाण इलाज नहीं है क्योकि ऐसा करने से किसान भूमिहीन हो जाते हैं और उन्हें पूँजीवादी शासन मे श्रमिक की भाँति काम करना पडता है । इस प्रकार समाज पर पूँजीवादी आधिपत्य बढने लगता है ।

दूसरा दोष यह है कि पूँजीवादी खेती एक प्रकार की **जमींदारी व्यवस्था मात्र** है जिसमे किसान का व्यक्तिगत उत्साह समाप्त हो जाता है और उसकी शारीरिक एव मानसिक शक्तियो का निरन्तर शोषण होने लगता है ।

पूँजीवादी खेती का तीसरा गम्भीर दोष यह है कि इस प्रकार की व्यवस्था का उचित प्रबन्ध एव सचालन करने के लिए दूरदर्शी, महानुभूति रखने वाले तथा कृषि क्षेत्र के साहसी जानकारों की आवश्यकता होती है । इस प्रकार के व्यक्तियो का यथेष्ट सख्या मे उपलब्ध होना ही एक समस्या है । भारत जैसे अविकसित देश मे यह समस्या विशेष कठिन है ।

इस व्यवस्था का एक अन्य दोष यह है कि इसके व्यापक प्रयोग से कृषि क्षेत्र मे भी आधुनिक फैक्ट्री प्रणाली के सभी दोष उत्पन्न हो जायेंगे ।

भारत ने एक समाजवादी समाज के निर्माण का सकल्प किया है । भारत के कृषकों की आर्थिक स्थिति पहले से ही विपन्न है अत उन्हे पूँजीवादी शोषण के चक्र मे उलझाकर भूमिहीन बना देना सर्वथा अनुचित होगा । उचित तो यह है कि जिन क्षेत्रों मे पूँजीवादी खेती प्रचलित है उनकी पूरी जानकारी प्राप्त कर यह देखना चाहिए कि वहाँ उपज, श्रमिकों की स्थिति तथा विक्रय आदि व्यवस्थाएँ उचित हैं या नही । इस अध्ययन के आधार पर परिस्थितियो मे उचित सुधार किया जाना चाहिए । इस दृष्टि से पूँजीवादी खेती का भारत मे कोई स्थान नही है ।

(२) राजकीय खेती (State Farming)—यदि सरकार सम्पूर्ण अथवा कुछ कृषि भूमि का राष्ट्रीयकरण कर ले और उस भूमि पर राज्य के अधिकारियो द्वारा श्रमिको से खेती करवायी जाय तो यह व्यवस्था राजकीय खेती कहलाती है । इसके अन्तर्गत निजी पूँजीपतियो के स्थान पर सरकार भूमि की मालिक होती है और खेती करने वालो को निर्धारित दर पर पारिश्रमिक दिया जाता है ।

राजकीय खेती का सर्वोत्तम उदाहरण रूस मे मिलता है जहाँ क्रान्ति (१९१७) के पश्चात बहुत सी भूमि सरकार के अधिकार मे आ गयी और उस पर सरकारी सरक्षण मे ही खेती का काय आरम्भ कर दिया गया । प्रसिद्ध इतिहासकार स्विटरस्की ने १९२७ मे यह स्वीकार किया कि लगभग ४-५ हजार राजकीय खेतों मे खाने योग्य मात्रा मे भी अन्न उत्पन्न नही हुआ । १९३३ मे *स्टालिन ने भी यह स्वीकार किया था कि रूस के कुछ इने गिने राजकीय खेतो पर ही लाभदायक* खेती हो रही थी । रूस के अतिरिक्त आस्ट्रेलिया तथा डेनमार्क मे भी राजकीय खेती के कुछ प्रयोग किये गये हैं परन्तु उनमे बहुत कम सफलता मिल सकी है ।

गुण दोष—राजकीय खेती का सबसे बडा गुण यही बताया जाता है कि इसमे सारी कृषि भूमि सरकार के अधीन आ जाने से जमीदारो द्वारा किये जाने वाले शोषण की समाप्ति हो जाती है किन्तु वास्तविक समस्या यह है कि किसानो का भी तो भूमि पर कोई अधिकार नहीं रहता, अत उनकी स्थिति बहुत कुछ वैसी ही रहती है जैसी कि पूँजीवादी खेती के अन्तर्गत होती है । किसान दोनो ही स्थितियो मे मजदूर मात्र रहते हैं । इसके साथ ही राजकीय खेतो का प्रबन्ध **भी यथेष्ट कुशल नहीं होता** क्योकि सरकार द्वारा सभी प्रकार के निर्णय लेने तथा उन्हें कार्यान्वित करने में लालफीताशाही का प्रभाव रहता है ।

राजकीय खेती की असफलता का ज्वलन्त उदाहरण इस बात से मिलता है कि गत पाँच वर्षों मे सोवियत रूस ने कनाडा से लगभग एक करोड टन अन्न प्रति वर्ष आयात किया है । जून

१६६६ मे सोवियत रूस ने कनाडा से एक समझौता किया जिसके अनुसार वह आगामी तीन वर्षों मे कनाडा से ३३ ६ करोड बुशल अन्न आयात करेगा। मार्च १६६६ मे जनवादी चीन ने भी कनाडा से तीन वर्षों मे २८ करोड बुशल खाद्यान्न खरीदने का समझौता किया था। लगभग ४० वर्ष के आयोजन के पश्चात किसी देश की कृषि इतनी विपन्नावस्था मे हो, यह निश्चय ही चिन्ता का विषय है। जानकार क्षेत्रों का मत है कि रूस मे कृषि की असफलता का कारण सरकारी खेती है, अत इस दिशा मे सुधार के नये प्रयत्न किय जा रहे हैं।

(३) सामूहिक खेती (Collective Farming)—पूँजीवादी अथवा राजकीय खेती के अतिरिक्त एक अन्य व्यवस्था सामूहिक खेती हो सकती है। इसके अन्तर्गत किसी राजकीय आदेश अथवा नीति के अनुसार भूमि के छोट छोटे खण्ड मिला लिए जाते हैं और इन सामूहिक भू-खण्डो पर इकट्ठी खेती की जाती है। इन भू-खण्डों की व्यवस्था क लिए एक एक प्रबन्धक मण्डल बनाया जाता है जो खेती करवाने, वित्त प्राप्त करने तथा विक्रय करने की व्यवस्था करता है।

यह मण्डल सभी सदस्यो के श्रम का हिसाब रखता है तथा शुद्ध लाभ इस श्रम के अनुपात म ही वितरित किया जाता है। कार्यकुशलता के लिए भी अच्छे श्रमिको को विशेष बोनस या पारिश्रमिक दन की व्यवस्था की जाती है। सामूहिक खेती व्यवस्था म किसानों के पास सब्जी आदि उगाने के लिए छोटे छोटे भू-खण्ड व्यक्तिगत अधिकार म छोड दिय जात हैं ताकि उन्हे सामान्य आवश्यकताओं के लिए किसी दूसरे पर निर्भर न रहना पडे।

गुण-दोष—रूस मे राजकीय खेती के अतिरिक्त अधिकतर भूमि पर सामूहिक खती अपनायी गयी किन्तु लेनिन न इस व्यवस्था को धीरे-धीरे अपनाने का क्रम ही उचित समझा क्योंकि सामूहिक खती का किसानों ने बलपूर्वक विरोध किया। इस विरोध का अन्त करने के लिए रूस म लगभग एक करोड किसानों को मौत के घाट उतार देना पडा।[1]

वस्तुत सामूहिक खेती मे खेतो को बलपूर्वक मिलान की किया सर्वथा अनुचित एव अव्यावहारिक है। प्रजातन्त्रवादी व्यवस्थाओं मे तो यह पद्धति अपनाना ही सम्भव नही है। इस पद्धति मे प्राय राजकीय खेती जैस ही गुण दोष हैं। भारत मे सामूहिक खेती का अपनाना तथा इसकी सफलता दोनो ही सदिग्ध हैं क्योंकि इसमे व्यक्तिगत अधिकारो का प्राय पूर्णत. अन्त हो जाता है जिसे भारतीय सहन करने के लिए तैयार नही हैं।

(४) सहकारी खती (Cooperative Farming)—इस व्यवस्था के अन्तर्गत एक ही क्षेत्र म खेती करने वाल छोटे छोटे भू-खण्डो के मालिक आपस म समझौता कर लेते हैं और खेती करन की दृष्टि स खतों को मिला लेत हैं। यह लोग मिलकर खेती करने के लिए एक सहकारी समिति बना लेते हैं जिस सरकार, केन्द्रीय बैंक अथवा सहकारी बैंको से ऋण मिल सकता है। इस समिति के पदाधिकारी सदस्य किसानो मे से ही चुने जाते हैं और वही इसकी दैनिक व्यवस्था का सचालन करते हैं। सम्मिलित भूमि पर सब किसानों द्वारा मिलकर खेती की जाती है। खेती के लिए सभी प्रकार के उपकरण (हल, बैल, ट्रैक्टर आदि), खाद, बीज, सिंचाई की सुविधाएँ तथा वित्त का प्रबन्ध समिति द्वारा किया जाता है। समिति ही माल को सुरक्षित रखने तथा बेचने की व्यवस्था करती है। अन्त म, समिति का सचालन व्यय निकालकर शुद्ध लाभ किसानो को पूर्व-निश्चित अनुपात म वितरित कर दिया जाता है।

सहकारी खेती की विशेषता यह है कि इसमे खेतो का सम्मिलन स्वेच्छापूर्वक किया जाता है और यदि कोई व्यक्ति कुछ समय पश्चात (प्राय पांच वर्ष) समिति की सदस्यता से अलग होकर

[1] Chester Bowles, *Making of a Just Society*, p 44

अपना खेत अलग करना चाहे तो उसे ऐसा करने का अधिकार रहता है। इस व्यवस्था के कारण किसानो को अपने अधिकारो की स्वतन्त्रता के हनन की आशका नही रहती।

सहकारी खेती के रूप—सहकारी खेती का मुख्य उद्देश्य खेती की प्रणालियो मे सुधार कर कृषि तथा कृषक की आर्थिक स्थिति मे सुधार करना होता है। इस लक्ष्य की पूर्ति के लिए वह किसी प्रकार के कार्य को सम्मिलित करने का निश्चय कर सकते हैं। सामान्यत सहकारी खेती के निम्नलिखित रूप प्रचलित हैं

(१) **श्रेष्ठ खेती समिति** (Better Farming Society)—इस प्रकार की व्यवस्था मे किसान अपनी भूमि के टुकडे अलग रखते हैं किन्तु वह विभिन्न कार्य अथवा सेवाएँ सम्मिलित रूप से प्राप्त करने की व्यवस्था करते हैं। उदाहरणत, वह निश्चय कर सकते है कि खाद, बीज या अन्य कोई वस्तु इकट्ठी खरीदी जायेगी अथवा सिचाई के साधन (कुँआ या नलकूप) मिलकर प्राप्त किये जायेंगे या फसल की कटाई, मड़ाई वर्गीकरण अथवा विक्रय सामूहिक रूप मे किया जायेगा। वस्तुत सदस्य इस बात पर सहमत हो जाते हैं कि अमुक अमुक कार्य साथ मिलकर किये जायेंगे। इन कार्यों अथवा सेवाओ के लिए उचित शुल्क पहले से निश्चित कर लिया जाता है जो यथासमय समिति मे जमा कराना पडता है। वर्ष के अन्त मे प्रत्येक सदस्य को सेवाओ (जो उसने समिति से प्राप्त की हैं) के अनुपात मे लाभाश वितरित कर दिया जाता है।

श्रेष्ठ खेती समितियाँ वास्तव मे इस उद्देश्य के लिए बनायी जाती हैं कि यह किसानो के लिए खेती सम्बन्धी सामान अच्छा और सस्ता प्राप्त कर सकें और उन्हे नियमित रूप मे दे सकें। किसानो के लिए व्यक्तिगत रूप मे यह सुविधाएँ उपलब्ध करना कठिन होता है।

(२) **सयुक्त खेती समिति** (Joint Farming Society)—इस प्रकार की समितियो की व्यवस्था के अनुसार कुछ किसान अपने छोटे छोटे भू खण्डो को मिलाने का निश्चय करते हैं और इस प्रकार सम्मिलित बडे भू खण्ड पर खेती की व्यवस्था के लिए एक कार्यकारिणी समिति बना दी जाती है और एक प्रबन्धक नियुक्त कर दिया जाता है। समिति के सभी सदस्य इस प्रबन्धक की देख-रेख मे काम करते है। प्रत्येक व्यक्ति को उसके काम के बदले मे मजदूरी दी जाती है। किसानो का अपनी भूमि पर स्वामित्व बना रहता है और वर्ष के अन्त मे उनकी भूमि के अनुपात मे लाभाश बाँट दिया जाता है।

सयुक्त खेती व्यवस्था के अन्तर्गत कृषि की उपज के सरक्षण तथा विक्रय की व्यवस्था भी समिति द्वारा ही की जाती है। वर्ष के अन्त मे समिति के सभी व्यय निकालकर शुद्ध लाभ ज्ञात कर लिया जाता है। शुद्ध लाभ ज्ञात करने म अन्य खर्चों के अतिरिक्त भूमि के प्रयोग का मूल्य (लगान) भी खर्च के रूप मे माना जाता है और भूमि के मालिको को दिया जाता है। इस प्रकार किसानो को मजदूरी के अतिरिक्त भूमि का लगान भी मिलता रहता है।

कार्य—सयुक्त खेती समिति के कार्य सक्षेप मे इस प्रकार हैं

(अ) विभिन्न फसलो की उत्पत्ति की योजना बनाना।

(आ) खेती सम्बन्धी सब आवश्यकताओ का अनुमान लगाकर उनकी यथासमय व्यवस्था करना।

(इ) कृषि कार्यों के लिए पर्याप्त धनराशि की व्यवस्था करना।

(ई) कृषि सम्बन्धी यन्त्र तथा उपकरण खरीदना और उन्हे सही हालत मे रखने का प्रबन्ध करना।

(उ) भूमि मे खुदायी तथा सिचाई आदि द्वारा सुधार का प्रयत्न करना।

(ऊ) उपज के सग्रह तथा विक्रय की उचित व्यवस्था करना।

इस सम्बन्ध मे एक महत्त्वपूर्ण तथ्य यह है कि जिस सदस्य की भूमि मे विशेष सुधार किया

जाता है वह प्रतिज्ञाबद्ध होता है कि वह जब भी समिति की सदस्यता से अलग होगा, उसे सुधार का व्यय देना पड़ेगा। इस व्यवस्था से एक ओर तो समाज की सारी भूमि सुधर जायेगी और दूसरी ओर किसी व्यक्ति को अनुचित लाभ उठाने का अवसर नहीं मिल सकेगा।

संयुक्त खेती व्यवस्था के अन्तर्गत किसानों को कृषि सुधार द्वारा उत्पत्ति बढाने के अतिरिक्त मिलकर काम करने का अवसर मिलता है। इसमें एक जोखिम यह है कि यदि किसान उचित योग्यता एवं सच्चाई से परिश्रम नहीं करें तो समिति के सभी प्रयत्नों के होते हुए भी उत्पादन की मात्रा तथा किस्म में महत्त्वपूर्ण सुधार होने की सम्भावना नहीं है।

(३) किरायेदार खेती समिति (Tenant Farming Society)—इस प्रकार की सहकारी खेती के अन्तर्गत सहकारी समिति के पास कुछ भूमि होती है जो समिति द्वारा अपने सदस्यों में बाँट दी जाती है सभी भू खण्डों पर समिति द्वारा बनायी गयी योजना के अनुसार खेती होती है। सहकारी समिति सदस्यों के लिए साख, बीज, खाद तथा मूल्यवान कृषि उपकरणों की व्यवस्था करती है। इसके अतिरिक्त सदस्य अपनी उपज समिति के माध्यम से बेच सकते हैं। समिति के सदस्यों के लिए समिति की सेवाएँ अथवा सहायता लेना अनिवार्य नहीं है, वह चाहें तो इन सेवाओं का लाभ उठा सकते हैं।

सदस्यों द्वारा भूमि के प्रयोग के बदले समिति को निश्चित दर के अनुसार लगान दिया जाता है किन्तु वह जितने कृषि पदार्थ उत्पन्न करता है उन पर समिति का कोई अधिकार नहीं होता। इस प्रकार यह समितियाँ जमींदारी प्रथा के समान होते हुए भी उनके दोषों से मुक्त हैं। इन समितियों को जितना लाभ होता है उसमें से सब व्यय तथा कुछ कोष की रकम काटकर शेष राशि किरायेदारों में उनके द्वारा दिये गये किराये के अनुपात में बाँट दी जाती है।

(४) सामूहिक खेती समिति (Co-operative Collective Farming Society)—इस प्रकार की समिति के पास भी किरायेदार खेती समिति की भाँति अपनी भूमि होती है किन्तु यह उस भूमि को सदस्यों में वितरित नहीं करती। सब सदस्य सामूहिक रूप से खेती करते हैं और प्रत्येक को उसके काम के बदले मजदूरी मिलती है। इस प्रकार की खेती करने का लाभ यह है कि खेती की नवीनतम पद्धतियों का प्रयोग किया जा सकता है और ट्रैक्टर तथा अन्य महँगे उपकरणों का लाभ उठाया जा सकता है। वर्ष के अन्त में समिति के कुल खर्च मजदूरी व्यय तथा कोष के लिए राशि रखकर शेष लाभ प्रत्येक सदस्य को उसके द्वारा प्राप्त मजदूरी के अनुपात में बाँट दिया जाता है।

रूस की सामूहिक खेती तथा सहकारी सामूहिक खेती में अन्तर—इन दोनों वर्गों में यह अन्तर है कि सहकारी सामूहिक खेती पूर्णतः प्रजातान्त्रिक होती है और उसकी सम्पूर्ण भूमि का स्वामित्व समिति का होता है और कोई व्यक्ति अपनी इच्छानुसार समिति की सदस्यता से अलग हो सकता है। यदि उसने समिति में कोई पूँजी विनियोजित कर रखी हो तो वह उचित सूचना के पश्चात् निकाली जा सकती है।

इन तथ्यों के विपरीत रूसी सामूहिक खेती में राज्य द्वारा ही उत्पादन की योजनाएँ बनायी जाती हैं, उनमें सदस्यों को मत देने का कोई अधिकार नहीं होता। दूसरी बात यह है कि सामूहिक समिति में निहित भूमि वस्तुतः सदस्यों की होती है परन्तु राज्य की आज्ञा से वह समिति की सम्पत्ति बन जाती है और कोई व्यक्ति भविष्य में अपनी सदस्यता त्यागने का अधिकारी नहीं है। समिति के सदस्यों द्वारा उत्पन्न वस्तुओं के मूल्य आदि भी राज्य द्वारा ही निर्धारित होते हैं।

भारत में सहकारी खेती—भारत में सहकारी खेती की सिफारिश सर्वप्रथम नियोजन समिति (Co-operative Planning Committee) द्वारा १९४६ में की गयी। समिति का यह मत था कि देश के प्रत्येक राज्य में एक या दो ग्रामों में सहकारी खेती के प्रयोग किये जाने चाहिए।

तत्पश्चात् इन प्रयोगों की सफलता का भरपूर प्रचार किया जाना चाहिए। यह सिफारिश करने का मुख्य अभिप्राय यह था कि उचित ज्ञान प्राप्त कर लेने के पश्चात् कृषक वर्ग द्वारा सहकारी समितियों का विरोध करने की आशंका कम हो जायगी जिससे इस राष्ट्र निर्माण के आन्दोलन को यथोचित सफलता मिल सकेगी।

सन् १९५६ तक—सहकारी आयोजन समिति के पश्चात् कुमारप्पा समिति (१९४९) ने यह सुझाव दिया कि सम्पूर्ण कृषि जोतों को आर्थिक जोतों का आकार दिया जाना चाहिए। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए समिति ने सहकारी संयुक्त खेती (joint farming) अपनाने का सुझाव दिया। तत्पश्चात् प्रथम पंचवर्षीय योजना में सहकारी खेती की आवश्यकता पर बल दिया गया। योजना में यह सिफारिश की गयी कि यदि किसी गाँव के आधे से अधिक व्यक्ति सहकारी खेती के लिए तैयार हो जायें तो शेष को सहकारी खेती समिति का सदस्य बनने के लिए बाध्य किया जाना चाहिए। तदनुसार राज्य सरकारों को सहकारी खेती सम्बन्धी कार्यक्रम बनाने का आदेश दिया गया। वास्तव में, सभी प्रयत्नों के पश्चात् भी १९५६ तक देश में कुल १०७० सहकारी कृषि समितियाँ स्थापित हो सकीं। इस न्यून प्रगति के कारणों की जानकारी करने की दृष्टि से योजना आयोग ने १३ राज्यों में ९३ चुनी हुई सहकारी कृषि समितियों का अध्ययन करने की व्यवस्था की। इनकी अध्ययन रिपोर्ट के प्रकाशन से आन्दोलन को यथेष्ट बल मिला।

आधुनिक प्रवृत्तियाँ—प्रथम योजनाकाल के अनुभव के आधार पर द्वितीय योजना के लिए यह निश्चित किया गया कि सहकारी कृषि का तीव्र गति से विकास किया जाना चाहिए। इस योजना का मुख्य कार्यक्रम यह रखा गया कि पाँच वर्षों में सहकारी खेती की नींव इतनी दृढ़ कर दी जानी चाहिए कि आगामी दस वर्ष में देश भर में कृषि सहकारी आधार पर नियोजित हो सके। १९५६ में भारत सरकार के कृषि मन्त्रालय ने श्री एम० वी० कृष्णप्पा (तत्कालीन उप-खाद्यमन्त्री) के नेतृत्व में चीन जाने वाले प्रतिनिधिमण्डल (Indian Delegation to China on Agricultural Planning and Techniques) की रिपोर्ट प्रकाशित कर दी जिसमें यह कहा गया कि भारत में व्यक्तिगत खेती के साथ साथ धीरे-धीरे सहकारी खेती का विकास किया जाना चाहिए।

सन् १९५७ में एक अन्य प्रतिनिधिमण्डल (जो श्री आर० के० पाटिल की अध्यक्षता में चीन तथा जापान गया था) की रिपोर्ट प्रकाशित हुई। यह रिपोर्ट बहुत विस्तृत एवं प्रभावशाली थी। इसमें यह मत प्रकट किया गया कि 'भारत में आर्थिक एवं सामाजिक दोनों दृष्टिकोणों से सहकारी कृषि अपनाना आवश्यक है।

नागपुर प्रस्ताव—उपर्युक्त दोनों रिपोर्टों के आधार सन् १९५९ में राष्ट्रीय कांग्रेस दल ने अपने नागपुर अधिवेशन में एक प्रस्ताव पास किया जिसमें यह माँग की गयी थी कि देश में कृषि का संगठन सहकारी संयुक्त खेती (Cooperative Joint Farming) के आधार पर किया जाना चाहिए। इस कार्यक्रम की सफलता के लिए प्रारम्भ में सारे देश में सेवा सहकारी समितियाँ (Service Cooperatives) स्थापित की जानी चाहिए। प्रस्ताव में यह इच्छा प्रकट की गयी की तीन वर्ष के भीतर सारे देश में इस प्रकार की समितियों का जाल बिछ जाना चाहिए। इन तीन वर्षों में भी यथासम्भव सहकारी संयुक्त कृषि समितियाँ स्थापित करने का प्रावधान किया गया।

नागपुर सम्मेलन के सहकारी कृषि प्रस्ताव ने देश भर में एक हल-चल सी मचा दी, यहाँ तक कि कांग्रेस दल में भी दो भाग हो गये जिनमें से एक सहकारी कृषि का प्रबल विरोधी था। चक्रवर्ती राजगोपालाचारी तथा मीनू मसानी जैसे नेताओं ने स्वतन्त्र पार्टी के तत्वावधान में सहकारी कृषि का घोर विरोध किया। कालान्तर में यह विवाद बहुत शिथिल पड़ गया।

विरोधी तर्क—सहकारी कृषि के विरोधियों के मुख्य तर्क यह थे कि सहकारी कृषि में बल प्रयोग होगा और एक बार सहकारी समिति का सदस्य बनने वाला सदस्य भविष्य में पृथक् नहीं हो सकेगा। भारत सरकार ने अनेक बार इन बातों का स्पष्टीकरण किया। सरकार द्वारा यह

स्पष्ट कर दिया गया है कि समिति की सदस्यता पूर्णतः ऐच्छिक रहेगी तथा कोई भी व्यक्ति पाँच वर्ष तक सदस्य रहने के पश्चात् सहकारी समिति की सदस्यता से पृथक हो सकेगा। ऐसा करते समय उसे अपनी भूमि में किये गये सुधार का मूल्य चुकाना अनिवार्य होगा।

सहकारी कृषि समितियों के विकास के सम्बन्ध में सुझाव देने के लिए सामुदायिक विकास एवं सहकारी मन्त्रालय के अन्तर्गत एक राष्ट्रीय सहकारी कृषि सलाहकार मण्डल (National Co-operative Farming Advisory Board) स्थापित किया गया है। कुछ राज्यों में भी इस प्रकार के मण्डल स्थापित किये गये हैं।

सहकारी कृषि समितियों की स्थापना तथा विकास सम्बन्धी सलाह देने के लिए राष्ट्रीय सहकारी कृषि सलाहकार मण्डल (The National Co-operative Farming Advisory Board) के अतिरिक्त राज्यों में भी विशेष समितियाँ अथवा परिषदें बनायी गयी हैं। विस्तार प्रशिक्षण केन्द्रों में से चुने हुए १२ स्थानों पर सहकारी कृषि विभाग स्थापित किये गये हैं जिनमें ७०० सचिवों को प्रशिक्षित किया जा चुका है। इन केन्द्रों में अभिनव पाठ्यक्रम चालू किये गये हैं और इनके द्वारा ग्रामीण कैम्पों के माध्यम से सहकारी कृषि का प्रशिक्षण तथा पुनर्जागरण किया जाता है।

तृतीय योजना में यह व्यवस्था की गयी कि सरकार द्वारा खेती-योग्य बनायी गयी भूमि सहकारी कृषि समितियों को देनी चाहिए तथा नये भूखण्डों में सहकारी समितियों का निर्माण प्रोत्साहित किया जाना चाहिए। फलतः दण्डकारण्य परियोजना में विस्थापितों को बसाने के लिए सहकारी कृषि समितियाँ बनायी गयी हैं।

वर्तमान स्थिति – लगभग पन्द्रह वर्षों के प्रयत्न के पश्चात् भी अब तक केवल ८ लाख एकड़ भूमि सहकारी खेती के अन्तर्गत लायी जा सकी है। यह निश्चय ही सहकारी खेती की सफलता की द्योतक है।

सहकारी खेती के गुण-दोष—*सहकारी कृषि एक भावनात्मक आन्दोलन है* और इसके प्रति जनता की आस्था हुए बिना इसकी सफलता सर्वथा संदिग्ध रहेगी। इस दृष्टि से इस व्यवस्था के गुण दोषों की विवेचना करना अत्यन्त आवश्यक है।

गुण—सहकारी कृषि के गुण निम्नलिखित हैं

(१) **वास्तविक समाजवाद**—सहकारी खेती का एक निश्चित परिणाम यह होता है कि खेती करने वालों का शोषण बन्द हो जाता है क्योंकि उन्हें जमींदारों पर आश्रित नहीं रहना पड़ता, *साहूकारों से रुपया उधार लेने की आवश्यकता नहीं पड़ती तथा कृषि पदार्थों का पूरा मूल्य प्राप्त* हो जाता है। इस प्रकार पूँजीवादी बिचौलिये (middlemen), जो फसल के अवसर पर कृषि पदार्थों के भण्डार निर्मित कर बाद में मूल्यों में मनमाने हेरफेर करते हैं, अनावश्यक लाभ कमाने से वंचित हो जाते हैं। इससे देश में वस्तुओं के मूल्य प्रायः उचित स्तर पर रहते हैं जिससे उपभोक्ताओं तथा शासनाधिकारियों की बहुत सी समस्याएँ हल हो जाती हैं।

सहकारी खेती के माध्यम से किसान, सहकारी समिति अथवा अन्य कोई भी वर्ग न तो शोषण करता है, न शोषित होता है। अतः इसके अपनाने से शोषण का एक अत्यन्त गम्भीर कारण नष्ट हो जाता है। फलतः *सहकारी खेती समाजवाद की दिशा में महत्वपूर्ण सहयोग प्रदान* करती है।

(२) **कृषि एवं कृषक की स्थिति में सुधार**—सहकारी खेती के कारण भूमि पर कृषि के श्रेष्ठतम साधनों का प्रयोग किया जा सकता है क्योंकि सहकारी समिति यह साधन सरलतापूर्वक उपलब्ध कर सकती है। इन साधनों के सहयोग से कृषि उत्पादन में आशातीत वृद्धि हो सकती है जिससे किसान की आय में वृद्धि और उसके जीवन-स्तर में उन्नति होती है। उत्पादन वृद्धि से देश

के व्यापार एव उद्योगो को भी लाभ होना है जिससे अन्तत देश समृद्धि की दिशा मे अग्रसर होने लगता है।

(३) **राष्ट्रीय साधनो का सदुपयोग**—सहकारी कृषि-व्यवस्था मे राष्ट्र के धन-जन आदि के सम्पूर्ण स्रोत उत्पादक क्रियाओ मे सलग्न हो जाते हैं क्योकि उन्हे स्वेच्छा से उचित क्षेत्रो मे केन्द्रित होने का अवसर मिल जाता है। फलत देश की पूँजी, भूमि के छोटे से छोटे टुकडे, सभी प्रकार का (कुशल एव अकुशल) श्रम तथा वैज्ञानिक जानकारी सब लोगो के लाभ के लिए तथा सब लोगो के सुख के लिए (सर्वजन हिताय सर्वजन सुखाय) प्रयुक्त होने लगते हैं।

(४) **भावनात्मक एकता**—भारत जैसे देश मे जहाँ अनेक धर्म, सम्प्रदाय एव मान्यताओ का प्रभुत्व है, सहकारी खेती एक वरदान सिद्ध हो सकती है क्योकि सभी धर्मों के व्यक्ति एक साथ बैठकर सामूहिक हित के लिए विचार एव कार्य करते हैं जिससे आपसी समस्याओ एव मान्यताओ को समझने का अवसर मिलता है। किसी भी राष्ट्र की वास्तविक शक्ति भावनात्मक एकता पर ही निर्भर करती है क्योकि एकता के द्वारा सभी सामाजिक एव अन्य कार्य सरलतापूर्वक सम्पन्न किये जा सकते हैं।

दोष—सहकारी कृषि में निम्नलिखित दोष अन्तर्निहित हैं

(१) **व्यक्तिगत उत्साह का अभाव**—सहकारी कृषि मे सब व्यक्ति मिल-जुलकर कार्य करते हैं और अत्यन्त परिश्रमी एव कर्मनिष्ठ व्यक्ति तथा सुस्त और कामचोरो को समान ही पारिश्रमिक मिलता है। इसका प्रभाव यह होता है कि अन्त मे काम की कुशलता कम हो जाती है और उत्पादन घटने लगता है। रूस तथा अन्य कुछ देशो मे खेती का उत्पादन कम होने के उदाहरण इस दिशा मे स्पष्ट सकेत करते है। इस दोष का निवारण अधिक कुशल व्यक्तियो को कुछ अतिरिक्त बोनस या शुल्क देकर किया जा सकता है।

(२) **शिथिल व्यवस्था**—सहकारी कृषि, अथवा अन्य कोई भी सहकारी कार्य हो, उसका ठीक सचालन करने के लिए अत्यन्त ईमानदार उत्साही एव विश्वसनीय व्यक्तियो की आवश्यकता होती है। इस प्रकार के कर्मनिष्ठ व्यक्तियो का प्राय अभाव रहता है अत. सहकारी कृषि का प्रबन्ध प्राय शिथिल हो जाता है जिससे लोगो का विश्वास सहकारिता मे हटन लगता है। वास्तव मे सभी सरकारी तथा ऐच्छिक सस्थाओ को इस समस्या का सामना करना पडता है क्योकि उनके कार्यों मे व्यक्तिगत रुचि अथवा लगाव की कमी रहती है।

पाटिल प्रतिनिधिमण्डल (जिसका उद्धरण पहले दिया जा चुका है) के दो सदस्यो ने अपने अलग मत में यह कहा है कि '**जहाँ कृषकों को कृषि की भौतिक एव मनोवैज्ञानिक सुविधाएं तथा श्रेष्ठ नेतृत्व उपलब्ध है वहाँ सरकारी कृषि स्वागत योग्य है।**" यह शब्द जिस भावना की ओर सकेत करते हैं वह स्वय स्पष्ट है। **भारत जिस राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक एव नैतिक सक्रमण की स्थिति से गुजर रहा है उसमें यथोचित नेतृत्व का अभाव स्पष्ट झलकता है** जिससे सहकारी खेती की सफलता सदिग्ध प्रतीत होती है।

(३) **सहकारिता की असफलता**—भारत मे सहकारिता का जो बिरवा १९०४ मे बोया गया था वह ६७ वर्ष पश्चात् भी एक सबल, शक्तिशाली एव विशाल वटवृक्ष का रूप धारण नहीं कर पाया है बल्कि ग्रामीण साख सर्वेक्षण समिति के अनुसार तो 'सहकारिता असफल हो चुकी है।' इस असफलता के कारण देश की जनता सहकारी कृषि के प्रति भी सशकित है और सहकारी आन्दोलन की भाँति इसे भी एक सहकारी स्टट समझती है।

कठिनाइयाँ—भारत मे सहकारी कृषि की मुख्यत दो कठिनाइयाँ हैं। प्रथम जन-सहयोग तथा दूसरी सरकारी शासन-तन्त्र सम्बन्धी। जहाँ तक जन सहयोग सम्बन्धी कठिनाई का प्रश्न है, भारत की अधिकाश जनता न केवल अशिक्षित, रूढिवादी, अन्धविश्वासी तथा जड-बुद्धि है

बल्कि वह भूमि से (चाहे वह कितना ही छोटा टुकड़ा क्यों न हो) अत्यधिक प्रेम करती है। इसलिए भारत का किसान अपने भू-खण्ड का अधिकार तो दूर रहा उस पर खेती का अधिकार भी किसी अन्य के साथ बँटाने के लिए तैयार नहीं है। इसका वास्तविक कारण यह है कि देश की जनसंख्या का बहुत बड़ा भाग कृषि पर निर्भर है और यह निर्भरता भी चरमसीमा तक पहुँची हुई है। अत भूमि के प्रति किसान का स्नेह भी चरमसीमा तक पहुँच गया है।

सहकारी खेती की दूसरी कठिनाई सरकारी शासन-तन्त्र सम्बन्धी है। दुर्भाग्य से, भारतीय शासन-पद्धति का आधार यह बन गया है कि जो भी समस्या उत्पन्न हो उसे कुछ समय के लिए किसी प्रकार टाल दिया जाय। इसके परिणामस्वरूप साधारण से साधारण कार्य फाइलों में बन्द पड़े रहते हैं। उनके सम्बन्ध में निर्णय न होने के कारण जनता को बहुत कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है जिन्हें दूर करने के लिए घूस का सहारा लेने के लिए बाध्य होना पड़ता है। प्राय सभी राज्यों के सहकारी विभाग अकुशलता एवं अनियमितताओं के दुर्ग हैं जिन्हें ढाना बहुत कठिन है। ऐसी स्थिति में सहकारी कृषि की सफलता की कल्पना करना दुराशा मात्र होगा।

सफलता के लिए सुझाव—उपर्युक्त कठिनाइयों के कारण सहकारी कृषि की सफलता के लिए निम्नलिखित सुझाव दिये गये हैं

(१) समस्त सरकारी भू-खण्डों तथा भूदान में प्राप्त ग्रामों अथवा भूमि के टुकड़ों पर सहकारी कृषि समितियों का निर्माण करना उचित होगा।

(२) सहकारी कृषि समितियों का सदस्य केवल उन व्यक्तियों को बनाना चाहिए जो स्वेच्छा से उसके लिए तैयार हों। इन समितियों के अधिकारियों तथा कर्मचारियों को भी सहकारी कृषि में सक्रिय भाग लेना चाहिए ताकि इनमें सत्तावाद अथवा अधिकारवाद का जन्म न हो सके।

(३) सरकार को चाहिए कि सहकारी कृषि समितियों को समय पर ऋण अथवा आर्थिक सहायता मिलती रहे ताकि उनके कार्य में बाधाएँ उत्पन्न न हों। ऐसा करने के नियम सरल एवं सुगम बनाने आवश्यक हैं।

(४) ग्राम पंचायतों तथा पंचायत समितियों के सदस्यों को सहकारी कृषि तथा सामुदायिक विकास में प्रशिक्षण प्राप्त करने की अधिकाधिक सुविधाएँ देनी चाहिए।

(५) राष्ट्रीय विस्तार खण्डों, सामुदायिक योजनाओं तथा ग्राम्य स्तर के कार्यकर्ताओं के लिए भी सहकारी कृषि के व्यावहारिक प्रशिक्षण की व्यवस्था करनी चाहिए।

उपर्युक्त सब कार्यों के अतिरिक्त देश में शिक्षा के विकास की गति अत्यन्त तीव्र की जानी चाहिए ताकि जनता के रूढ़िगत संस्कार क्रमश. समाप्त हो जायें और वह भूमि के प्रति अत्यधिक स्नेह का परित्याग कर दे। शिक्षा के विस्तार के कारण कृषि व्यवसाय में संलग्न जनता का एक भाग अन्य व्यवसायों में रुचि लेने लगेगा, कृषि पर भार कम होता जायगा और कृषि में सहकारिता की भावना बलशाली होती जायेगी।

प्रश्न

१. सहकारी और सामूहिक खेतियों में भेद बतलाइए। भारतीय कृषि के लिए आप किसे अधिक पसन्द करेंगे और क्यों ? (इलाहाबाद, बी० ए०, १९६४)

२. भारत में कृषि जोतों के उप विभाजन व अपखण्डन के कारणों का उल्लेख कीजिए। इस समस्या के समाधान के लिए किये गये प्रयत्नों की समीक्षा कीजिए। (दिल्ली, बी० ए०, १९६९)

३ कृषक भू-स्वामित्व, सहकारी कृषि तथा सामूहिक कृषि के बीच अन्तर स्पष्ट कीजिए। इनमें से भारतीय स्थितियों के लिए कौन अधिक उपयुक्त है ? कारण बताइए। (राजस्थान, बी० कॉम० (अन्तिम वर्ष), १९७१)

11

भूमि-व्यवस्था और सुधार

(LAND TENURES AND REFORMS)

> *'To a large extent the pattern of economic and social organisation will depend upon the manner in which the land problem is resolved Sooner or later, the principles and objectives of policy for land cannot but influence policy in other sectors as well"*
>
> —***First Five-Year Plan***

सभ्यता के प्रारम्भिक काल से ही मनुष्य का भूमि से सम्बन्ध रहा है। जिन देशों मे औद्योगिक विकास हो जाता है उनमे क्रमश भूमि के प्रति लगाव कम होता जाता है किन्तु कृषि-प्रधान देशो मे भूमि के प्रति आकर्षण बना रहता है। वास्तव मे, किसी देश की कृषि का विकास इस बात पर निर्भर करता है कि वहाँ की भूमि पर किन व्यक्तियो का कैसा अधिकार है। यदि किसान को एक घटिया भू खण्ड का भी मालिक बना दिया जाय तो वह निरन्तर परिश्रम द्वारा उसे उपजाऊ बना लेता है किन्तु यदि उसे ऐसी भूमि पर खेती करनी पडती है जो उसकी नही है और जिसकी उपज का एक अश उस भूमि के मालिक को देना पडता है तो वह उत्पत्ति बढाने के लिए भले ही काफी परिश्रम करे परन्तु भूमि की उपज शक्ति मे सुधार के लिए कुछ नही करेगा।

भूमि सुधार तथा आर्थिक विकास
(LAND REFORMS AND ECONOMIC DEVELOPMENT)

अर्द्ध विकसित देशो का आर्थिक विकास कृषि-विकास पर निर्भर है। कृषि का विकास किस विधि से किया जाय इसके सम्बन्ध मे दो प्रकार की विचारधाराएँ पायी जाती हैं। अर्द्ध-विकसित देशो मे कृषि की उत्पादकता बहुत ही कम है। कृषि की उत्पादकता मुख्यत दो प्रकार के तत्वों पर निर्भर है (i) सस्थागत (Institutional), तथा (ii) प्राविधिक (Technological)। एक विचारधारा के अनुसार कृषि विकास के लिए सस्थागत परिवर्तन तथा कृषि का पुनर्गठन आवश्यक है। सस्थागत परिवर्तनो के अन्तर्गत मध्यस्थो की समाप्ति, किसान को स्थायी-काश्तकारी के अधिकार प्रदान करना, अनार्थिक जोतो को समाप्त कर आर्थिक जोतो का निर्माण करना, भूमि का उचित लगान निश्चित करना आदि सम्मिलित हैं। इन परिवर्तनो की अनुपस्थिति में किसान पूर्ण रूप से परिश्रम नहीं करता। उसकी बचत व विनियोजन क्षमता कम रहती है, फलस्वरूप वह कृषि विकास नही कर पाता। अत कृषि के विकास के लिए सस्थागत परिवर्तन आवश्यक हैं।

दूसरी विचारधारा के अनुसार कृषि विकास के लिए 'प्राविधिक तत्वो (technological factors) पर जोर देना आवश्यक है। कृषि-उत्पादकता का सम्बन्ध प्राविधिक तत्वो मे है तथा

कृषि का विकास कृषि की उन्नति एवं आधुनिक तरीकों से किया जा सकता है। अतः इस विचार-धारा के अनुसार कृषि उत्पादकता में वृद्धि, कृषि की उन्नत विधियों उत्तम बीज, खाद तथा उर्वरक के प्रयोग, उन्नत फसल-चक्रों (Rotation of crops), सिंचाई की समुचित व्यवस्था कृषि के उन्नत उपकरणों तथा वैज्ञानिक कृषि द्वारा ही सम्भव है।

वस्तुतः कृषि विकास संस्थागत परिवर्तन तथा प्राविधिक आवश्यकताओं की पूर्ति, दोनों पर ही निर्भर है। जब तक संस्थागत परिवर्तन नहीं होंगे तब तक प्राविधिक सुविधाओं का समुचित प्रयोग नहीं हो सकेगा। अतः प्राविधिक सुविधाओं के अधिकतम उपयोग के लिए संस्थागत परिवर्तन आवश्यक है। रूस तथा ब्रिटेन में कृषि के विकास के लिए पहले संस्थागत परिवर्तन किये गये। रूस में सामूहिक फार्मों का निर्माण तथा ब्रिटेन में घेराबन्दी आन्दोलन' इसके ज्वलन्त उदाहरण हैं। भूमि-सुधार संस्थागत परिवर्तन का ही प्रतीक है अतः कृषि के विकास के लिए 'भूमि सुधार' आवश्यक है।

भूमि-व्यवस्था तथा भूमि सुधार का अर्थ

भूमि व्यवस्था से यह तात्पर्य है कि भूमि पर स्थायी अधिकार किस व्यक्ति का है, उस पर खेती कौन करता है तथा लगान निर्धारित करने की क्या रीति है। भूमि पर सरकार अथवा समाज का अधिकार हो सकता है अथवा उसका स्वामित्व निजी व्यक्तियों के हाथ में हो सकता है जिन्हें जमींदार, काश्तकार या जागीरदार कह सकते हैं। स्वभावतः पहली स्थिति में लगान सरकार को देना होता है और दूसरी स्थिति में जमींदार अथवा जागीरदार उसका अधिकारी होता है।

भूमि सुधार, भूमि व्यवस्था से अधिक व्यापक शब्द है। सामान्यतः भूमि सुधार (Land Reforms) के अन्तर्गत निम्नलिखित बातें सम्मिलित हैं—(i) मध्यस्थों की समाप्ति (ii) आसामी कानून में सुधार, तथा (iii) जोत की अधिकतम सीमा निर्धारित करना। यदि भूमि-सुधार शब्द का प्रयोग अत्यन्त व्यापक रूप में किया जाय तो उसके अन्तर्गत, उपर्युक्त तीन बातों के अतिरिक्त कृषि का पुनर्गठन, उप विभाजन तथा अपखण्डन का निराकरण—चकबन्दी, सहकारी खेती, भूदान आदि—को भी सम्मिलित किया जाता है। इस प्रकार 'भूमि सुधार' का क्षेत्र अत्यन्त विस्तृत है। भारत में भूमि सुधार की दिशा में सर्वतोमुखी प्रगति हुई है। सामान्यतः भारत में भूमि सुधार के क्षेत्र में जो कार्य किये गये, उन्हें निम्न रूप में प्रकट किया जा सकता है

भारत में भूमि सुधार सम्बन्धी प्रयत्न

(क) भूमि सुधार प्रमुख क्षेत्र	नं० (क) के अन्तर्गत किये गये प्रयत्नों का विवरण
१. मध्यस्थों की समाप्ति (Abolition of Intermediaries)	(i) जमींदारी का उन्मूलन (ii) जागीरदारी का उन्मूलन
२. काश्तकारी विधानों में सुधार (Reforms in Tenancy Laws)	(i) भू स्वामित्व की सुरक्षा (Security of Tenure) (ii) लगान सम्बन्धी नियम (Regulation of Rent) (iii) भू स्वामित्व का स्वभाव (Nature of Tenure)
३. जोतों की अधिकतम सीमा का निर्धारण (Ceilings on Holdings)	(i) वर्तमान जोतों का सीमा निर्धारण (ii) भावी जोतों का सीमा निर्धारण
४. आर्थिक जोत के निर्माण की दिशा में किये गये प्रयत्न	(i) खेतों की चकबन्दी (ii) सहकारी खेती (iii) सहकारी ग्राम प्रबन्ध (iv) भूदान तथा ग्रामदान

उपर्युक्त में से आर्थिक जोतों के निर्माण की दिशा में किये गये प्रयत्नों—चकबन्दी तथा सहकारी खेती—का हम पिछले अध्याय में वर्णन कर चुके हैं अतः यहाँ पर भूमि-सुधार सम्बन्धी अन्य प्रयत्नों का अध्ययन किया जायगा।

१ मध्यस्थों की समाप्ति

पुरातन भूमि व्यवस्था—हिन्दू शासनकाल में भूमि पर सम्पूर्ण समाज का अधिकार माना जाता था और राजा को उत्पत्ति का छठा भाग लगान के रूप में दे दिया जाता था। यह राशि सकटकाल में चतुर्थांश तक बढ़ायी जा सकती थी।

मुगल शासनकाल में अकबर के राजस्व मन्त्री राजा टोडरमल ने सारी कृषि भूमि को नये सिरे से नपवाया और लगान मुद्रा में देना निश्चित किया गया। लगान वसूली का अधिकार गाँव के मुखिया को दे दिया गया तथा कुछ क्षेत्रों में इस कार्य के लिए विशेष व्यक्ति नियुक्त कर दिये गये। कालान्तर में जब शासनसत्ता दुर्बल हो गयी, यह व्यक्ति शक्तिशाली बन गये और इन्होंने भूमि पर अपनी सत्ता स्थापित कर ली।

भारत में ब्रिटिश नीति के फलस्वरूप तीन प्रकार की भूमि-व्यवस्थाओं का अभ्युदय हुआ। यह व्यवस्थाएँ रैयतवाड़ी, महालवाड़ी तथा जमींदारी व्यवस्था के नाम से प्रसिद्ध हैं।

(१) रैयतवाड़ी व्यवस्था—इस व्यवस्था के अन्तर्गत सम्पूर्ण भूमि पर राज्य का अधिकार होता है। भूमि पर खेती करने वाला व्यक्ति उसे इच्छानुसार किसी अन्य व्यक्ति को दे सकता है, बन्धक रख सकता है अथवा छोड़ सकता है। ऐसा करने पर सरकार वह भूमि किसी अन्य व्यक्ति को दे देती है। इस व्यवस्था में एक विशेषता यह है कि जब तक किसान भूमि का लगान चुकाता रहता है, उसे बेदखल नहीं किया जा सकता।

रैयतवाड़ी व्यवस्था में लगान सामूहिक रूप में नहीं वरन् प्रत्येक किसान से अलग-अलग लिया जाता है और राज्य तथा किसान के मध्य लगान वसूल करने वाला जमींदार अथवा अन्य कोई वर्ग नहीं रहता। भूमि का लगान निर्धारण २० से लेकर ३० वर्ष तक के लिए होता है, तत्पश्चात् इसकी राशि में संशोधन हो सकते हैं। इसका एक लाभ यह है कि कृषि-व्यवस्था में स्वामी परिवर्तन हो जाने पर लगान में तदनुसार परिवर्तन करना सम्भव है।

रैयतवाड़ी प्रथा में एक दोष यह आ गया है कि कुछ पूँजीपतियों ने भूमि को हथिया लिया और वह स्वयं खेती करने की बजाय नौकरों अथवा अन्य व्यक्तियों से खेती करवाने लगे। अन्ततोगत्वा यह व्यवस्था जमींदारी व्यवस्था का रूप धारण कर गयी।

इतिहास—रैयतवाड़ी व्यवस्था सर्वप्रथम सर टॉमस मुनरो द्वारा सन् १७९२ में तमिलनाडु के बड़ामहल जिले में लागू की गयी तथा क्रमशः सारे प्रान्त में प्रचलित कर दी गयी। इसके अनुसार भूमि पर लगान कई वर्षों की फसल के औसत के आधार पर निश्चित किया गया। ऐसा करने में अन्न के मूल्य तथा कृषि के व्यय का भी ध्यान रखा जाता था। सन् १८३५ में यह व्यवस्था बम्बई प्रान्त में भी लागू कर दी गयी। इस प्रान्त में रैयतवाड़ी व्यवस्था लागू करते समय भूमि के मूल्य तथा सम्बन्धित क्षेत्र के आर्थिक इतिहास का ध्यान रखा गया। १८८० में लॉर्ड रिपन ने लगान का निर्धारण कृषि उपज के मूल्य पर आधारित कर दिया जिससे किसानों की कठिनाई बहुत बढ़ गयी क्योंकि उनके लगान की राशि निश्चित न रहकर निरन्तर परिवर्तनशील हो गयी। सन् १९४७-४८ में यह व्यवस्था देश में खेती के अन्तर्गत कुल भूमि के ३८% भाग अर्थात् १५.३ करोड़ एकड़ भूमि पर लागू थी। तमिलनाडु, बम्बई (महाराष्ट्र, गुजरात) तथा आसाम में यह प्रथा प्रचलित थी।

(२) महालवाड़ी व्यवस्था—इस व्यवस्था का दूसरा नाम संयुक्त ग्राम व्यवस्था भी है क्योंकि इसके अन्तर्गत भूमि-कर की दृष्टि से पूरे गाँव को एक इकाई माना जाता है और लगान

का निर्धारण पूरे गाँव पर होता है। इस पूरी रकम की वसूली कर खजाने में जमा कराने का दायित्व प्रायः गाँव के मुखिया पर डाला जाता है जो गाँव के भूस्वामियों से लगान की रकम अलग-अलग वसूल कर लेता है। इस प्रकार भूमि-कर चुकाने में गाँव के सब भूमिधारी सहभागी होते हैं किन्तु वह अपनी भूमि पर लगान की रकम गाँव के मुखिया को जमा करवा देते हैं।

महालवाडी व्यवस्था सर्वप्रथम लार्ड विलियम बैंटिक द्वारा सन् १८३३ में आगरा और अवध में लागू की गयी थी और बाद में पंजाब में भी प्रचलित कर दी गयी। मध्य प्रदेश में भी महालवाडी प्रथा लागू की गयी और भूमि कर की प्रथा वहाँ भी पंजाब की भाँति थी, परन्तु मध्य प्रदेश में कर वसूली के लिए मराठों द्वारा नियुक्त मालगुजारों को ही मान्यता दी गयी। सरकार इन मालगुजारों से कुल निश्चित कर का केवल ५०% लेती थी, अर्थात् यदि किसी गाँव का बन्दोबस्त १,००० रुपये वार्षिक निश्चित किया जाता तो मालगुजार तो १,००० रुपये वसूल कर लेता था किन्तु वह केवल ५०० रुपये ही सरकारी खजाने में जमा करवाने के लिए बाध्य था।

उपर्युक्त दोनों प्रथाओं का यह परिणाम निकला कि ग्रामों की सामुदायिक एकता क्रमशः भंग हो गयी और एक असम्बद्ध एकलवाद का जन्म हो गया।

(३) जमींदारी व्यवस्था—ईस्ट इण्डिया कम्पनी भारत में ऐसी भूमि व्यवस्था लागू करना चाहती थी जिसमें कम्पनी को एक निश्चित आय प्राप्त होती रहे और कम्पनी का शासन निरन्तर दृढ होता जाय। इस बात को ध्यान में रखकर कम्पनी ने प्रत्येक क्षेत्र में कुछ व्यक्ति नियुक्त कर दिये जिन्हें अपने क्षेत्र की भूमि का लगान वसूल करने का अधिकार दिया गया। प्रारम्भ में यह व्यवस्था केवल अल्पकाल के लिए लागू की गयी किन्तु लार्ड कार्नवालिस ने इसे बंगाल में स्थायी रूप में लागू कर दिया।

स्थायी बन्दोबस्त (Permanent Settlement) के अनुसार २२ मार्च, १७९३ को जमीदारों से एक दसवर्षीय समझौता किया गया जिसके अनुसार जमींदार अपने क्षेत्रों के मालिक घोषित किये गये। इनको अपने-अपने क्षेत्रों में लगान वसूल करने का अधिकार दिया गया तथा यह शर्त रखी गयी कि जमीदार कुल वसूल किये गये लगान का १०/११वाँ भाग सरकारी खजाने में जमा करवा देंगे। इस व्यवस्था के साथ ही जमींदारों द्वारा जमा की जाने वाली रकम निश्चित कर दी गयी और यह घोषणा भी कर दी गयी कि यदि जमींदार अधिक लगान वसूल करेंगे तो सरकार अधिक की माँग नहीं करेगी। स्थायी बन्दोबस्त की यह शर्त सबसे घातक शर्त थी क्योंकि इसने जमीदारों को किसानों से अधिक से अधिक रकम वसूल करने का लालच दिया क्योंकि अतिरिक्त वसूल की गयी रकम पर सर्वथा जमीदारों का ही अधिकार होता था। बंगाल के अतिरिक्त स्थायी बन्दोबस्त बनारस, उत्तरी तमिलनाडु तथा दक्षिणी तमिलनाडु के कुछ भागों पर भी लागू कर दिया गया।

कुछ व्यक्तियों की यह धारणा है कि स्थायी बन्दोबस्त का सम्बन्ध जमींदारी व्यवस्था तथा अस्थायी बन्दोबस्त का सम्बन्ध रैयतवाडी व्यवस्था से है। यह मान्यता सही नहीं है क्योंकि अस्थायी बन्दोबस्त भी जमीदारों के साथ किया जा सकता है। उदाहरणत. मध्य प्रदेश के मालगुजार (जिन्हें पेशवाओं ने भूमि-कर वसूल करने के लिए नियुक्त किया था) ब्रिटिश सरकार द्वारा भूमि के मालिक घोषित किये गये तथा उन्हें लगान वसूली का अधिकार दिया गया। इस व्यवस्था तथा बंगाल की भूमि-व्यवस्था में यही अंतर था कि मध्य प्रदेश की व्यवस्था अस्थायी थी। इस प्रकार यह जमीदारी प्रथा का अस्थायी रूप था। जमीदारी प्रथा के अन्य प्रचलित रूप उत्तर गुजरात की तालुकेदारी, सौराष्ट्र की गिरासदारी, राजस्थान की जागीरदारी तथा कोंकण की खोटी प्रणाली रहे हैं। इन प्रथाओं तथा जमीदारी प्रथा में मौलिक साम्य रहा है।

सन् १९४७-४८ में देश में कुल कृषि भूमि का २४% भाग अर्थात् ९.६ करोड़ एकड़ भूमि

इस प्रथा के अन्तर्गत थी। बंगाल, बिहार, तमिलनाडु, उत्तर प्रदेश, उड़ीसा तथा मध्य प्रदेश के विभिन्न भागों में यह प्रथा प्रचलित थी।

जमींदारी प्रथा से सम्भावित लाभ—जिस समय जमींदारी प्रथा लागू की गयी उससे कई लाभों की कल्पना की गयी। उनमें महत्त्वपूर्ण लाभ निम्नलिखित थे:

(१) **निश्चित आय**—जमींदारी प्रथा के द्वारा सरकारी खजाने में एक निश्चित रकम जमा हो जाती थी और सरकार को उसकी व्यवस्था में कुछ भी खर्च नहीं करना पड़ता था।

(२) **कृषि में उन्नति**—रमेश दत्त के अनुसार, जमींदारी प्रथा बंगाल के किसानों के लिए वरदानस्वरूप सिद्ध हुई क्योंकि उनके लगान की राशि एक लम्बी अवधि के लिए निश्चित हो गयी और वह अपनी भूमि पर स्थायी सुधारों द्वारा कृषि का सुधार करने में स्वतन्त्र हो गये। कुछ लोगों का यह भी मत था कि इस व्यवस्था के कारण अकालों का प्रकोप कम हो जायगा परन्तु बाद की घटनाओं ने यह दोनों ही बातें असत्य सिद्ध हो गयी। जमींदारों ने कभी भी किसानों को भूमि-सुधार करने के लिए सहायता अथवा प्रोत्साहन नहीं दिया और न ही उन्होंने अभाव के समय अपने क्षेत्र की जनता के लिए खाद्यान्न प्राप्त करने की विशेष चिन्ता की। इसके विपरीत, कम्पनी के गौराग महाप्रभुओं को प्रसन्न करने के लिए वह संकटकाल में भी निश्चित मात्रा में लगान वसूल करते रहे।

(३) **अंग्रेजी राज्य की दृढ़ता**—अंग्रेज, संसार के प्रसिद्ध कूटनीतिज्ञों में गिने जाते हैं। सम्भवतः इसीलिए वह कई शताब्दियों तक संसार के बहुत से देशों पर एकछत्र राज्य करते रहे। भारत में उनकी कूटनीति का मूलमन्त्र 'फूट डालो और राज्य करो' था जिसकी पूर्ति के लिए उन्होंने जमींदारों के रूप में एक शक्तिशाली वर्ग तैयार कर लिया जो ब्रिटिश राज्य का पूरा स्वामिभक्त था। इस प्रकार जमींदारी प्रथा का सबसे अधिक लाभ अंग्रेजी सत्ता को हुआ जिसकी जड़ें भारत में अधिकाधिक गहरी होती गयी।

भारत को जमींदारी प्रथा से यदि कोई लाभ हुआ तो यही था कि सरकार और जमींदारों के दोहरे शासन से पिसकर भारत की ग्रामीण जनता का नैतिक स्तर इतना पतित हो गया कि वह अंग्रेजों के विरुद्ध कोई भी आन्दोलन करने में असमर्थ हो गयी जिससे देश में काफी समय तक श्मशान शान्ति का वातावरण बना रहा। इस शान्ति का एक प्रभाव यह भी हुआ कि अंग्रेजों ने (अपने लाभ के लिए ही सही) भारत में कुछ बड़े उद्योग अपनी पूँजी से स्थापित कर दिये।

जमींदारी प्रथा के दोष—भारत में जमींदारों का वर्ग अंग्रेजी शासन की नींव दृढ़ करने के लिए बनाया गया था। अतः उससे कुछ क्षणिक एवं व्यवस्थात्मक लाभ भले ही हुए हों किन्तु इसके फलस्वरूप शोषण का जो भीषण चक्र चला उसमें फँसकर किसानों का आर्थिक जीवन नष्टप्राय हो गया। जमींदारी प्रथा के मुख्य दोष निम्नलिखित रहे हैं

(१) **शोषण**—जमींदारी प्रथा के कारण देश में एक ऐसे वर्ग का निर्माण हुआ जो किसानों के शोषण पर चल रहा था। जमींदारों को किसानों से मनमाना लगान वसूल करने की छूट थी। वास्तव में, वह किसानों से इतनी अधिक रकम वसूल करते थे कि किसान बेचारे उफ तक नहीं कर सकते थे। जमींदारों के शोषण का दूसरा रूप बेगार था। किसानों के बाल बच्चे, स्त्रियाँ तथा वह स्वयं न केवल जमींदारों के घर का सब काम करते थे बल्कि अनेक बार उन्हें समय पर लगान न दे सकने के कारण जमींदारों से मारपीट जैसे शारीरिक अन्याय को सहन करना पड़ता था

अनेक बार जमींदार स्वयं किसानों को विभिन्न कार्यों के लिए ऋण दे देते थे और उस पर मनमाना ब्याज वसूल करते थे। फलतः किसान निरन्तर निर्धन होते गये, उनकी आर्थिक स्थिति बिगड़ती गयी और वह ऋण के बोझ से दबते चले गये।

किसानों के शोषण का एक स्वरूप यह था कि जमींदार उनके पशुओं का निःशुल्क प्रयोग करते थे, होली, दिवाली तथा अन्य पर्वों पर जमींदारों को भेंट देनी पड़ती थी तथा उनके घर में ब्याह-शादी, मृतक भोज अथवा अन्य ऐसे अवसरों पर दूध, घी, तरकारी आदि भेजनी पड़ती थी तथा नजराना भी देना पड़ता था।

इतना ही नहीं, जमींदार के मुनीम, कारिन्दे, कर्मचारी भी किसान को अपना नौकर समझते थे और आर्थिक तथा सामाजिक दृष्टि से निर्धन किसान को उनकी भी यथासमय धन द्वारा और श्रम द्वारा सेवा करनी पड़ती थी। इस प्रकार जमींदारी का शोषण-तन्त्र अत्यन्त विषम तथा विषमय था जिससे छुटकारा पाना असम्भव था।

(२) कृषि का पतन—किसानों की निरन्तर गिरती हुई आर्थिक स्थिति का यह प्रभाव हुआ कि वह कृषि का विकास करने में न तो रुचि ले सकते थे और न समर्थ थे। उनकी असमर्थता का मुख्य कारण यह था कि उनकी उत्पत्ति का अधिकांश भाग जमींदार ले लेते थे अतः उन्हें कृषि व्यवस्था में सुधार करने का कोई उत्साह नहीं था। फलतः भूमि की उत्पादन-शक्ति गिरती चली गयी और कृषि तथा किसान दोनों निर्धन हो गये।

(३) नैतिक पतन—बिना परिश्रम कमाया हुआ धन प्रायः दुर्गुणों को जन्म देता है। जमींदार किसानों के शोषण द्वारा जिस सम्पदा की उपलब्धि कर रहे थे उसका प्रयोग सुरा, दुराचार एवं अनेक प्रकार के विलासितापूर्ण कार्यों में होने लगा था। जमींदारों की विलासिता का दुष्प्रभाव उनकी सन्तानों पर भी हुआ और राम तथा युधिष्ठिर की भूमि में ग्रामीणों का जीवन सर्वथा नारकीय एवं घृणित बन गया।

(४) आर्थिक विकास में शिथिलता—जमींदारी प्रथा के विधायकों ने यह कल्पना की थी कि जमींदारों के रूप में एक ऐसे वर्ग का उदय होगा जो आर्थिक तथा सामाजिक प्रतिष्ठा की दृष्टि से यथेष्ट सम्पन्न होगा और उसके पास समय का बाहुल्य होगा अतः वह देश के कृषि तथा उद्योगों के विकास की दिशा में सक्रिय योगदान दे सकेगा। दुर्भाग्य से, भारत के जमींदार अपनी आर्थिक सम्पन्नता एवं फुरसत को दुराचार एवं विलासिता के कार्यों में प्रयुक्त करने लग गये। अतः उनको न तो देश के आर्थिक विकास की दिशा में सोचने का अवसर मिला, न ही उन्होंने इस ओर कुछ रुचि दिखायी। इसका परिणाम यह हुआ कि जनोपयोगी उद्योगों का विकास सर्वथा रुक गया और ऐश्वर्य साधनों की पूर्ति करने वाले कुछ धन्धों में सामान्य प्रगति हुई।

(५) सरकारी आय में स्थिरता—जमींदारी प्रथा का एक बहुत बड़ा दोष यह था कि जमींदार लोग किसानों से तो मनमानी रकम वसूल करते थे परन्तु सरकारी खजाने में केवल निर्धारित राशि ही जमा करवाते थे। इस प्रकार कृषि-उत्पादन में वृद्धि अथवा अन्य कारणों से लगान में जो भी वृद्धि होती वह सरकारी कोष में नहीं जाती थी जिससे सरकार को अपनी आय बढ़ाने के लिए नये कर लगाने पड़ते थे अथवा अपने सार्वजनिक निर्माण सम्बन्धी व्यय में कमी करनी पड़ती थी जिससे देश के विकास की गति शिथिल रहती थी।

(६) शासन और जनता के सम्बन्ध—जमींदारी प्रथा के कारण देश में जनता और शासन के बीच एक विस्तृत खाई बनती चली गयी। सरकार तक किसानों की पहुँच नहीं थी क्योंकि वह जमींदारों को ही ग्रामों का सर्वेसर्वा प्रतिनिधि मानती थी और उनकी रिपोर्ट सदा यही रहती थी कि देश में सर्वत्र सुख-शान्ति है। फलतः सरकार को कभी कृषि अथवा ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था की उन्नति का प्रयत्न करने अथवा उसमें सहयोग देने का विचार ही उत्पन्न नहीं हुआ।

(७) मुकदमेबाजी—जमींदारी प्रथा के अन्तर्गत किसानों को प्रायः खेतों से बेदखल कर दिया जाता था और उनके खेत दूसरे किसानों को दे दिये जाते थे। कुछ क्षेत्रों में बेदखली के विरुद्ध कानून बनाये गये थे अतः किसान उन बेदखलियों का विरोध करने लगे जिनके कारण उन्हें निरन्तर

किसी न किसी विवाद मे उलझे रहना पडता था। इन विवादो के फलस्वरूप किसान की आय मे निरन्तर कमी आती गयी और वह ऋणी होता चला गया।

(८) असन्तोष—जमीदारी प्रथा का सबसे बडा दोष यह था कि उसने किसानो को सर्वथा असहाय और दरिद्र बना दिया जिसके फलस्वरूप भारत के प्रत्येक गाँव मे असन्तोष की ज्वाला भडक उठी। अन्तत यह दोष भारत के लिए वरदान सिद्ध हुआ क्योकि देश के किसानो ने राष्ट्रीय असहयोग आन्दोलन मे सक्रिय सहयोग दिया जिससे अँग्रेजी शासन की इतिश्री हो गयी।

(९) भू स्वामियो की अनेकता—जमीदारी प्रथा म जमीदारो द्वारा वसूल किया जाने वाला भूमि कर प्राय आर्थिक लगान से बहुत अधिक रहा है अत कृषि भूमि एक व्यक्ति से दूसरे, दूसरे से तीसरे—इस प्रकार अनेक व्यक्तियो के हाथो मे परिवर्तित होती रहती है क्योकि प्रत्येक मध्यस्थ थोडा थोडा लाभ कमा सकता था। फ्लाउड कमीशन की रिपोट मे यह कहा गया है कि बगाल के मालिक जमीदार और वास्तविक कृषक के बीच ५० से अधिक मध्यस्थ रहे है। इसका परिणाम यह हुआ है कि देश म भूमिहीन श्रमिको की सख्या निरन्तर बढती रही है।

जमीदारी उन्मूलन—फ्लाउड कमीशन के कथनानुसार भूमि समस्या का हल जमीदारी प्रथा का अन्त करने से ही हो सकता था। इससे पूर्व राष्ट्रीय काग्रेस ने समय-समय पर जमीदारी प्रथा का अन्त करने सम्बन्धी प्रस्ताव पास किये। सबसे पहले १९२८ मे झाँसी काग्रेस मे पण्डित नेहरू ने जमीदारी प्रथा का अन्त करने का प्रस्ताव किया। तत्पश्चात करांची काग्रेस (१९३१) मे इस बात की माँग की गयी कि किसानो के लगान मे तत्काल कमी की जानी चाहिए और अनार्थिक जोत रखने वाले किसानो को लगान से मुक्त किया जाना चाहिए।

सन १९३५ मे इलाहाबाद सम्मेलन मे पुन जमीदारी की समाप्ति का प्रस्ताव पास किया गया। इस प्रस्ताव मे यह कहा गया कि ग्राम्य जीवन म सुधार करने का एकमात्र उपाय यह है कि खेती करने वाले किसान को ही भूमि का स्वामी बना दिया जाय। इस स्वामित्व परिवर्तन के बदले किसान द्वारा जमीदारो को किस्तो मे क्षतिपूर्ति देने की व्यवस्था की जानी चाहिए।'

सन् १९३७ मे देश के सभी प्रान्तो म काँग्रेस मन्त्रिमण्डल बन गये जिन्होने तत्काल अनेक प्रकार के भूमि सुधारो की घोषणा की। बिहार म १९११ से १९३६ के बीच की गयी लगान-वृद्धि रद्द कर दी गयी तथा उत्तर प्रदेश म किसानो की बेदखली बन्द करने सम्बन्धी अधिनियम पास किया गया। इसी प्रकार के व्यापक सुधार मध्य प्रदेश तथा अन्य प्रान्तो म किये गये। १९३७-१९३९ की अवधि मे ही काँग्रेस द्वारा स्वर्गीय प० जवाहरलाल नेहरू की अध्यक्षता मे राष्ट्रीय आयोजन समिति की नियुक्ति की गयी जिसकी रिपोर्ट अनेक बाधाओं के कारण १९४६-४७ मे ही प्रकाशित हो सकी।

आजादी के बाद—सन् १९४५ मे ब्रिटिश सरकार ने भारत म वयस्क मताधिकार के आधार पर चुनाव करवाने की घोषणा की और काग्रेस दल के चुनाव घोषणापत्र मे भूमि-सुधार की प्रतिज्ञा करते हुए यह कहा गया था कि राज्य तथा किसान के बीच मध्यस्थों को समाप्त कर दिया जायगा और उन्हे भूमि के बदले क्षतिपूर्ति द दी जायेगी।[1] तत्पश्चात शासनसत्ता रूढ होते ही काँग्रेस ने भूमि-सुधारो के लिए प्रयत्न आरम्भ कर दिये। सर्वप्रथम १९४८ मे कृषि सुधार समिति की नियुक्ति की गयी जिसने यह सिफारिश की कि "भूमि पर स्वामित्व किसान का होना चाहिए और जिन व्यक्तियो न ६ वर्ष तक किसी भू-खण्ड पर खती की है उन्हे उस भूमि का स्वामी मान लिया जाना चाहिए।' तदनुसार काँग्रेस सरकार ने जमीदारी व्यवस्था का अन्त करने का निर्णय कर लिया।

---

1 "The reform of the land system which is so urgently needed in India involves the removal of intermediaries between the peasant and the state The rights of such intermediaries should therefore, be acquired on payment of equitable compensation "
—*Land Reforms in India*, p 75

नीचे कुछ राज्यों मे जमीदारी प्रथा के समापन सम्बन्धी तथ्य प्रस्तुत किये जा रहे हैं

(१) उत्तर प्रदेश—सन् १९४६ के चुनावों मे कांग्रेस की विजय के पश्चात् अगस्त १९४६ मे उत्तर प्रदेश विधान सभा ने एक प्रस्ताव द्वारा जमीदारी प्रथा का अन्त करने का निश्चय किया और इस सम्बन्ध मे विस्तृत सुझाव देने के लिए प० गोविन्दवल्लभ पन्त की अध्यक्षता मे एक समिति नियुक्त की गयी। समिति ने अपनी रिपोर्ट १९४८ मे प्रस्तुत कर दी जिसकी सिफारिशो के अनुसार जुलाई १९४९ मे जमीदारी उन्मूलन बिल प्रस्तुत किया गया और घोर विरोध के पश्चात् १६ जनवरी, १९५१ को पास कर दिया गया। जमीदारो ने इसके विरुद्ध उच्चतम न्यायालय तक अपील की परन्तु ५ मई, १९५२ को उच्चतम न्यायालय द्वारा उत्तर प्रदेश जमीदारी अधिनियम को वैध घोषित कर दिया गया। फलत १ जुलाई, १९५२ से उत्तर प्रदेश की सब जमीदारियाँ राज्य के स्वामित्व मे आ गयी।

उत्तर प्रदेश मे जमीदारो के अधीन कुल ४ १३ करोड एकड भूमि थी जिसमे से ३ ९ करोड एकड भूमि सरकार द्वारा लेने का निश्चय किया गया। इस भूमि की क्षतिपूर्ति १५० करोड रुपये निर्धारित की गयी। क्षतिपूर्ति की रकम का निर्धारण भूमि के शुद्ध मूल्य का आठ गुना निश्चित किया गया।

पुनर्स्थापना सहायता—उत्तर प्रदेश मे मध्यवर्गों की सख्या लगभग २० लाख थी। इनमे से ९० प्रतिशत व्यक्ति तो केवल नाम के ही जमीदार थे क्योकि वह २५ रुपये वार्षिक से कम लगान देते थे। केवल १ ५ प्रतिशत अर्थात् ३०,००० व्यक्ति २५० रुपये से अधिक लगान चुकाते थे। इनमे से भी १,००० रुपये तक वार्षिक लगान देने वालो की सख्या ५,००० तथा १०,००० रुपये से अधिक लगान देने वालो की सख्या केवल ४०० थी।

इस प्रकार जमीदारी उन्मूलन का भूमिधारियो के एक बहुत बडे ऐसे वर्ग पर प्रभाव पडा जो आर्थिक दृष्टि से सम्पन्न नही कहा जा सकता था, अत सरकार ने इस वर्ग को पुनर्स्थापना अनुदान देने का निर्णय किया। अनुदान की राशि जमीदार की शुद्ध सम्पत्ति के २ से २० गुने तक है।

अधिकार—जमीदारी उन्मूलन के फलस्वरूप जमीदारो के अधिकार मे केवल वह भूमि छोडी गयी है जिस पर वह स्वय खेती करते हैं। ऐसे भू-खण्डो के पेड तथा कुओ पर उनका अधिकार रहने दिया गया है। उपर्युक्त अधिनियम द्वारा अनेक प्रकार के कृषक-आसामियो का अन्त कर दिया गया है और केवल दो प्रकार के भूमिधारी रह गये हैं जिन्हे भूमिधर तथा सीरदार कहा जाता है।

भूमिधर—इस वर्ग के किसान भूमि के मालिक होगे और उन्हे भूमि को हस्तान्तरित करने, बेचने अथवा अन्य किसी भी प्रकार काम मे लाने का अधिकार होगा। इस प्रकार के अधिकार प्राप्त करने के लिए भूमि के वार्षिक लगान का दस गुना सरकार को देना आवश्यक है। भूमिधर किसानो को सामान्य लगान (जो भूमिधर बनने से पूर्व था) का केवल ५०% देना पडता है।

सीरदार—जो व्यक्ति भूमिधर नही बन सकते वह सीरदार कहलाते है। इन व्यक्तियो को भूमि पर खेती करने का पूर्ण अधिकार होता है किन्तु वह इसे न बेच सकते हैं और न किसी को हस्तान्तरित कर सकते हैं। सीरदार किसानो को लगान की उतनी ही रकम देनी पडती है जो जमीदारी उन्मूलन होने से पूर्व चुकानी पडती थी।

उपर्युक्त वर्गों के अतिरिक्त दो वर्ग और हैं जिन्हे आसामी तथा अधिवासी कहा जाता है।

आसामी—आसामी किसान वह है जो वन, भूमि, बगीचो की भूमि अथवा कभी-कभी खेती के काम मे आने वाली धरती पर खेती करते हैं। उन व्यक्तियो को भी आसामी कहा जाता है जिन्हे भूमिधर या सीरदार खेती का अधिकार दे देते हैं। यह अधिकार भूमिधर अथवा सीरदार खेती करने के अयोग्य हो जाने की स्थिति मे, अल्पवयस्को तथा विधवाओ द्वारा अथवा सैनिकसेवी

(३) मध्य प्रदेश—जमींदारी अधिकार के भू-खण्डों को सरकारी नियन्त्रण में लाने के लिए मध्य प्रदेश में मार्च १९५१ में एक अधिनियम लागू किया गया। तदनुसार ३१ मार्च, १९५१ से लगभग ६३,००० ग्रामों का स्वामित्व सरकार को प्राप्त हो गया। मध्य प्रदेश जमींदारी अधिनियम के अन्तर्गत जमींदार, मालगुजार, जागीरदार, इजारेदार तथा पट्टेदार—सबके अधिकार समाप्त कर दिए गए हैं।

मध्य प्रदेश में भी उत्तर प्रदेश की भाँति अलग-अलग भूमि के टुकड़ों पर अलग-अलग क्षतिपूर्ति देने की व्यवस्था की गयी है। किसानों को भूमि का मूल्य चुकाने के लिए प्रोत्साहन देने की दृष्टि से यह निश्चित की गयी है कि भूमि का स्वामित्व प्राप्त करते ही उन्हें लगान में १२.५ प्रतिशत की छूट दी जा सकेगी। इस प्रकार मध्य प्रदेश में जमींदारी की क्षतिपूर्ति की रकम शीघ्र चुकाना सम्भव हो सकेगा।

मध्य प्रदेश के पुनर्गठन के पश्चात् सम्पूर्ण राज्य में समान राजस्व नियम लागू कर दिये गये हैं और आसामियों के लगान की रकम निश्चित कर दी गयी है। भूमि का स्वामित्व भी तीव्र गति से हस्तान्तरित किया जा रहा है।

(४) पंजाब—अन्य राज्यों में किये गये भूमि सुधारों से प्रेरित होकर पंजाब सरकार ने भी १९५० में आसामियों की रक्षा के लिए दो अधिनियम पास किये किन्तु उनका क्षेत्र बहुत सीमित था अतः एक भूमि सुधार समिति की स्थापना की गयी जिसने सिफारिश की कि भूमि के मालगुजारों तथा आसामियों का भूमि से कोई सीधा सम्बन्ध नहीं था अतः उनके भूमि के अधिकार सरकार द्वारा प्राप्त कर लिए जाने चाहिए। फलतः १९५२ में इन वर्गों से भूमि अधिकार ले लेने सम्बन्धी कानून भी पास किये गये।

सन् १९५३ में पंजाब सरकार द्वारा एक और अधिनियम पास किया गया जिसके द्वारा किसी व्यक्ति के पास ३० एकड़ से अधिक भूमि रखने की मनाही कर दी गयी। इसके अतिरिक्त बेदखलियों को बन्द करने सम्बन्धी नियम भी पास किये गये।

पंजाब में भूमि व्यवस्था इस ढंग से संगठित की जा रही है कि जमींदार स्वयं खेती के लिए ३० एकड़ तक भूमि रख सकता है किन्तु जिस किसान या आसामी से वह भूमि प्राप्त करता है उसके पास कम से कम ५ एकड़ भूमि छोड़नी आवश्यक होगी। भूमि पर लगान कुल उपज के तिहाई भाग से अधिक नहीं हो सकता। एक अन्य व्यवस्था के अनुसार किसान को वह भूमि खरीदने का अधिकार दिया गया है जिस पर वह गत छः वर्ष से निरन्तर खेती कर रहा है।

(५) राजस्थान—वृहत्तर राजस्थान की स्थापना के समय (१९४९) सम्पूर्ण क्षेत्र की लगभग ५६ प्रतिशत भूमि में जागीरदारी प्रथा प्रचलित थी। जागीर क्षेत्रों में जागीरदार सरकार को नजराना देने का उत्तरदायी था। जागीरदारी प्रथा के अतिरिक्त राजस्थान में मध्यस्थों की एक और श्रेणी थी जिसे बिस्वेदार या जमींदार कहा जाता था। इस प्रथा के अन्तर्गत जमींदार या बिस्वेदार सरकार को एक निश्चित रकम राजस्व में चुकाते थे और स्वयं उनसे मनमानी राशि वसूल कर सकते थे। वह लोग किसानों को भूमि से बेदखल भी कर सकते थे।

(१) जमींदारी का अन्त—राजस्थान भूमि सुधार एवं जागीर पुनर्ग्रहण अधिनियम १८ फरवरी, १९५२ से लागू किया गया किन्तु उसका वास्तविक प्रयोग सन् १९५४ से आरम्भ किया गया। अधिनियम में जागीरदार को खुदकाश्त भूमि के लिए खातेदारी अधिकार प्रदान किये गये हैं। इसके अतिरिक्त कुछ दान की भूमि छोड़कर शेष सभी जागीरें सरकार द्वारा प्राप्त करने की व्यवस्था की गयी।

क्षतिपूर्ति—सरकार ने जागीरदारों के लिए न केवल क्षतिपूर्ति देने की व्यवस्था की है बल्कि उनके पुनर्वास के लिए अनुदान भी स्वीकृत किये हैं। जागीरदारों को उनकी शुद्ध आय की सात

गुनी क्षतिपूर्ति देने का निश्चय किया गया है जिसका भुगतान २½% ब्याज दर से १५ समान वार्षिक किस्तों में चुकाने का निश्चय किया गया। पुनर्स्थापन का अनुदान, पाँच हजार रुपये वार्षिक से कम आय वाले जागीरदारों के लिए ५ से ११ गुना तक तथा अन्य जागीरदारों के लिए उनकी शुद्ध आय के दुगुने से चार गुने तक दिया गया।

अब तक २,३६,६२८ जागीरें ली जा चुकी हैं। जागीरदारी प्रथा का अन्त करने में सरकार को काफी धन व्यय करना पड़ा। मुआवजा, पुनर्वास, अनुदान पेंशन, ब्याज आदि को सम्मिलित कर सन् १९७१ के अन्त तक सरकार को ५१ २६ करोड़ रुपया व्यय करना पड़ेगा। जागीरदारी की समाप्ति से सरकार को १९५५-७० की अवधि में कुल ६३ ३३ करोड़ रुपये की आय का अनुमान लगाया गया है। सन् १९७० ७१ से सरकार को लगभग पाँच करोड़ रुपये वार्षिक की आय प्राप्त होगी। इस प्रकार वस्तुत सरकार को जागीरदारी की समाप्ति से व्यय की अपेक्षा आय अधिक प्राप्त होगी।[1]

(ii) **बिस्वेदारी व जमींदारी का अन्त**—ये प्रथाएँ राजस्थान के दस जिलों के लगभग पाँच हजार गाँवों में प्रचलित थीं। सन् १९६३ में The Rajasthan Land Reforms and Acquisition of Land Owner's Estates Act पारित हुआ। इसके अनुसार पुरानी रियासतों के राजाओं की भूमि भी सरकार द्वारा लिए जाने की व्यवस्था की गयी। इस प्रकार जमींदारी व बिस्वेदारी प्रथा का अन्त करके काश्तकार को शोषण एवं बेदखली के भय से मुक्त कर दिया गया है। वर्तमान समय में राजस्थान में ९०% काश्तकारों को खातेदारी के अधिकार प्राप्त हैं, जबकि सन् १९५५ में केवल १०% काश्तकारों को ही ये अधिकार प्राप्त थे।

उपर्युक्त राज्यों के अतिरिक्त महाराष्ट्र गुजरात, मैसूर, उड़ीसा, बंगाल, हिमाचल प्रदेश तथा अन्य राज्यों में भी जमींदार उन्मूलन सम्बन्धी अधिनियम पास हो चुके हैं और प्राय प्रत्येक राज्य में भूमि का स्वामित्व किसान को देने का प्रयत्न किया जा चुका है।

भूमि अधिकारों में परिवर्तन—एक विश्लेषण

दो उद्देश्य—भारत में जिन भूमि सुधार कार्यक्रमों को प्रथम तथा द्वितीय योजना में प्राथमिकता दी गयी थी उनके दो प्रमुख उद्देश्य कहे जा सकते हैं

(१) प्रथम उद्देश्य के अनुसार कृषि विकास के मार्ग की सम्पूर्ण बाधाएँ दूर करना है ताकि कृषि तन्त्र में कुशलता तथा उत्पादकता के स्तर में उन्नति की जा सके।

(२) दूसरा उद्देश्य यह था कि कृषि में सामाजिक अन्याय और शोषण के सभी तत्त्वों को समाप्त कर दिया जाय ताकि ग्रामीण समाज के सभी तत्त्वों को सम्मानपूर्वक खेती करने का अवसर मिल सके।

इन उद्देश्यों में से प्रथम की पूर्ति करने के लिए सरकार ने बन्जर भूमि साफ करवाने, सिंचाई सुविधाओं में उन्नति करने, सहकारी खेती को प्रोत्साहित करने तथा भूमि की लवणता एवं जलाधिक्य दूर करने की योजनाओं को कार्यान्वित किया है। इन सभी कार्यों की प्रगति के सम्बन्ध में पिछले कुछ अध्यायों में विचार किया जा चुका है।

दूसरे उद्देश्य की पूर्ति करने के लिए भूमि का स्वामित्व किसानों को देने की व्यवस्था की गयी है ताकि किसान जमींदार के शोषण से बच सकें और उन्हें न केवल खेती के विकास का पूरा अवसर मिल सके बल्कि वह सम्मानपूर्वक जीवन भी व्यतीत कर सकें।

भारत की स्वतन्त्रता के समय देश की कुल भूमि का लगभग ४० प्रतिशत जमींदारों अथवा जागीरदारों के अधिकार में था। कुछ थोड़ी-सी भूमि को छोड़कर, जो धार्मिक अथवा दान से चलने वाली संस्थाओं के अधिकार में है, शेष भूमि पर मध्यस्थों के अधिकारों का पूर्णत अन्त कर

[1] Dool Singh, *A Study of Land Reforms in Rajasthan* p 85

दिया गया है। इस परिवर्तन से लगभग २ करोड़ किसान जमींदारों के शोषण से मुक्त हो गये हैं और उनकी आर्थिक एवं सामाजिक स्थिति में काफी सुधार हो गया है। इतना ही नहीं, बहुत-सी बन्जर भूमि जो पहले बेकार पड़ी थी, अब साफ करके खेती के काम में ली जाने लगी है।

कठिनाइयाँ—जमींदारी उन्मूलन के मार्ग में प्रारम्भ से ही अनेक कठिनाइयाँ आयी हैं, जिनमें मुख्य निम्नलिखित हैं

(१) लागू करने में—कई राज्यों में उन्मूलन अधिनियमों को उचित रूप में कार्यान्वित करने के लिए कुशल राजस्व कर्मचारियों का अभाव रहा है।

(२) अधूरे रिकार्ड—स्थायी लगान-व्यवस्था वाले राज्यों तथा कुछ अन्य स्थानों पर भूमि सम्बन्धी रिकार्ड अधूरे थे अथवा उपलब्ध ही नहीं थे, अतः भूमि का स्वामित्व निर्धारित करने में बहुत कठिनाई हुई।

(३) क्षतिपूर्ति—राज्य सरकारों के सामने एक कठिनाई यह थी कि जमींदार के अन्तर्गत आने वाले सभी भू-खण्डों की क्षतिपूर्ति का निर्धारण कैसे किया जाय तथा उसके भुगतान की क्या व्यवस्था की जाय। फलतः क्षतिपूर्ति का भुगतान होने में अत्यधिक समय लगा है। इसका अनुमान इस बात से लगता है कि कुल क्षतिपूर्ति की राशि ६४१ करोड़ रुपये (४२१ रुपये भूमि का मुआवजा, ९२ करोड़ रुपये की पुनर्स्थापन सहायता तथा १२८ करोड़ रुपये ब्याज) था जिसमें से अब तक कुल ३२० करोड़ रुपये का भुगतान किया जा सका है।

(४) कानूनी अड़चन—जमींदारी उन्मूलन सम्बन्धी जितने अधिनियम पास किये गये उनमें से अधिकांश का जमींदारों द्वारा न्यायालयों में विरोध किया गया जिससे फलस्वरूप उन्हें लागू करने में बहुत समय लगा। इस सम्बन्ध में यह उल्लेखनीय है कि बिहार के भूमि सुधार विधेयक को लागू करने के लिए तो भारतीय संविधान में संशोधन तक करना पड़ा था।

२. आसामी कानून में सुधार[1]
(TENANCY REFORM)

प्रायः सभी राज्यों में आसामी कानून में संशोधन किये गये हैं। कुछ राज्यों में किसानों की बेदखली तो बन्द कर दी गयी है परन्तु भूमि की व्यवस्था अस्थायी ही है। आन्ध्र प्रदेश में आसामियों की बेदखली सम्बन्धी कानून भी अन्तरिम है और तेलगाना क्षेत्र में तो मूल कृषि भूमि कानून लागू ही नहीं किया गया है।

बिहार में उन आसामियों को जिन्हें भूमि किसी अवधि के पट्टे पर भी दी गयी है, वह अवधि समाप्त होने पर उन्हें भूमि से बेदखल किया जा सकता है। मौखिक पट्टे पर दी गयी भूमि से आसामी को तभी बेदखल किया जा सकता है जब वह भूमि का दुरुपयोग कर रहा हो अथवा यथासमय लगान न चुका रहा हो।

मध्य प्रदेश में आसामियों को एक न्यूनतम क्षेत्र के लिए एक निश्चित अवधि के लिए खेती के अधिकार दे दिये गये हैं। भूमि का लगान (Rent) भूमि राजस्व (Land revenue) के २-४ गुने से अधिक नहीं हो सकता। आसामियों को भूमि का स्वामी बनाने से सम्बन्धित व्यवस्था भी की गयी है।

उड़ीसा में एक पूर्णकाय अधिनियम पास किया गया है जिसके अनुसार आसामियों को भूमि पर खेती करने के अधिकार सुरक्षित किये गये हैं परन्तु भूमि का मालिक आसामी से कुल भूमि का दो तिहाई या तीन-चौथाई पुनर्ग्रहण कर सकता है, किन्तु यह २५ एकड़ से अधिक नहीं होगा। कुछ क्षेत्र ऐसे भी निश्चित किये गये हैं जिनमें आसामियों से भूमि पुनर्ग्रहण नहीं की जा सकती। ऐसे क्षेत्रों में आसामी भूमि के स्वामित्व के अधिकार प्राप्त कर सकते हैं।

---

[1] इसके साथ अगले पृष्ठों में विभिन्न राज्यों के सम्बन्ध में दिये गये विवरण को भी पढ़िए।

रख दी जाती है तो छोटे भू-खण्ड मे आधुनिकतम तरीको से खेती नहीं की जा सकती जिससे उत्पादन मे गिरावट आ सकती है।

(५) **भूमि का अभाव**—भारत जैसे देश मे जहाँ भूमि का अभाव है, आदर्श जोत निर्धारित कर उसे पुनर्वितरित करने से भी विशेष लाभ होने की सम्भावना नही है।

(६) **विक्रय के लिए माल की कमी**—वर्तमान मे एक औसत भारतीय किसान इतनी फसल उत्पन्न नही करता कि उसके पास बेचने के लिए महत्त्वपूर्ण बचत होती हो। परन्तु भूमि के टुकडे छोटे करने पर फसल तथा बचत की मात्रा और भी कम हो जायेगी जिससे कृषि पदार्थों की बिक्री अधिकाधिक कठिन होती जायेगी।

उपर्युक्त दोष इस दिशा के सकेतक नही है कि भूमि की जोत की उच्चतम सीमा निर्धारित करना सर्वथा अवाछनीय है। वस्तुत यह इस दिशा मे कार्य करने वालो के लिए लाल रोशनी की भाँति है जिसका अर्थ यह है कि इस दिशा मे सावधानीपूर्वक कार्यवाही करनी चाहिए।

प्रगति—भारत के प्राय सभी राज्यो मे कृषि-जोत की सीमाएँ निर्धारित कर दी गयी हैं और तदनुसार जोतो का पुनर्गठन हो रहा है। यद्यपि पुनर्गठन की दिशा मे कोई महत्त्वपूर्ण प्रगति नही हुई है तो भी कुछ राज्यो मे इस ओर कार्य आरम्भ हो गया है। उदाहरणत द्वितीय योजना-काल मे जम्मू-काश्मीर मे ४ ५ लाख एकड भूमि सरकारी अधिकार मे लेकर वितरित करदी गयी। बगाल मे ५ २४ लाख एकड अतिरिक्त कृषि भूमि राज्य के नियन्त्रण मे आ गयी है और इसे तब तक अस्थायी रूप मे वार्षिक आधार पर भूमिहीनो को दिया जा रहा है जब तक कि इसका स्थायी वितरण न हो जाय।

उत्तर प्रदेश मे १ ४ लाख एकड भूमि अतिरिक्त घोषित हो चुकी है जिसमे २४,००० एकड भूमि का वितरण कर दिया गया है। तमिलनाडु मे चीनी मिलो के अधिकार मे ६०,६०० एकड भूमि अतिरिक्त घोषित की जा चुकी है जिसमे से सरकार ने ३५,००० एकड भूमि पर अधिकार कर लिया है। सहकारी समितियो की स्थापना होने तक इस भूमि की व्यवस्था महाराष्ट्र राज्य कृषि निगम करेगा। अन्य राज्यो मे भी उच्चतम जोत निर्धारित की जा चुकी है। इस सम्बन्ध मे सरकार को चाहिए कि वह ज्यो ज्यो अतिरिक्त भूमि पर अधिकार करती जाय त्यो त्यो उसे तत्परतापूर्वक भूमिहीनो मे वितरित कर दिया जाना चाहिए अन्यथा भूमि बेकार पडी रहने मे देश के उत्पादन की हानि होगी जो किसी भी दृष्टि से उचित नही है।

देश के विभिन्न राज्यो मे भूमि की अधिकतम जोत निम्न प्रकार निर्धारित की गयी है

राज्य	भविष्य के लिए	वर्तमान जोतों के लिए
आन्ध्र प्रदेश	१८ से २१६ एकड	२७ से ३२४ एकड
आसाम	५० एकड	५० एकड
बिहार	२० से ६० एकड	३० से ६० एकड
गुजरात	१९ से १३२ एकड	१९ से १३२ एकड
हरियाणा	३० प्रमाणित एकड	३० प्रमाणित एकड
जम्मू-काश्मीर	२२ ७५ एकड	२२ ७५ एकड
केरल	१५ से ३६ तक	१५ से ३६ एकड
मध्य प्रदेश	२५ से ७५ एकड	२५ से ७५ एकड
तमिलनाडु	२४ से १२० एकड	२४ से १२० एकड
महाराष्ट्र	१८ से १२६ एकड	१८ से १२६ एकड
मैसूर	१८ से १४४ एकड	२७ से २१६ एकड
उडीसा	२० से ८० एकड	२० से ८० एकड

१	२	३
पंजाब	३० प्रमाणित एकड	३० प्रमाणित एकड
राजस्थान	२२ से ३३६ एकड	२२ से ३३६ एकड
उत्तर प्रदेश	१२५ एकड	४० से ८० एकड
पश्चिमी बंगाल	२५ एकड	२५ एकड
हिमाचल प्रदेश	३० से १२५ एकड	३० से १२५ एकड

उपर्युक्त तालिका से स्पष्ट है कि अधिकतम जोत की सीमाओ मे बहुत अन्तर है। इसका कारण यह है कि विभिन्न क्षेत्रो म भूमि की उर्वराशक्ति तथा कृषि सुविधाएं समान नही हैं।

भूमि सुधार मूल्यांकन समिति के विचार—भारतीय योजना आयोग ने भूमि सुधारो की वास्तविक प्रगति का मूल्यांकन करने तथा उस सम्बन्ध मे यथोचित सुझाव देने के लिए भारत के भूतपूर्व गृहमन्त्री श्री गुलजारी लाल नन्दा की अध्यक्षता मे एक समिति नियुक्त की थी। इस समिति ने अक्टूबर १९६६ मे अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत की। इस रिपोर्ट मे प्रकट किये गये विचारो का साराश इस प्रकार है

वर्तमान स्थिति—(१) देश के विभिन्न भागो मे अब भी काफी अधिक मात्रा मे भागीदार पद्धति से खेती होती है जिसका तात्पर्य यह है कि भूमि के मालिक श्रमिको से खेती करवाते हैं और उनसे चौथा या तीसरा भाग (बटाई के रूप मे) ले लेते हैं। यह भूमि सुधारो की मूल धारणा के विपरीत है।

(२) खेती करने वाले किसानो की बेदखली की प्रथा अब भी प्रचलित है।

(३) अनेक क्षेत्रो मे उचित लगान सम्बन्धी नियमों का पालन नही हो रहा है।

(४) भूमि की सीमाबन्दी कानूनो की अनेक रीतियो द्वारा अवहेलना की गयी है।

समिति के सुझाव—नन्दा समिति ने भूमि सुधारो के सम्बन्ध मे निम्नलिखित सुझाव दिये हैं :

(१) भूमि सुधार कानूनो का पुनर्निरीक्षण कर उनकी कमियाँ तुरन्त दूर की जानी चाहिए।

(२) वास्तव मे खेती करने वाले किसानो की बेदखली बन्द करनी चाहिए तथा उन्हे भूमि का स्वामित्व सौपा जाना चाहिए।

(३) जिन खेतो मे आसामी काम करते है उनमे भी लगान वसूली सरकार द्वारा की जानी चाहिए। सरकार संग्रह शुल्क काटकर शेष रकम भू स्वामियो को दे सकती है।

नन्दा समिति का अनुमान है कि पुरानी जमींदारियो के लगभग २ करोड किसान अब प्रत्यक्ष रूप मे राज्य को लगान देते है तथा लगभग ३० लाख भागीदारो को ७० लाख एकड भूमि का स्वामित्व प्राप्त हो गया है। सीमाबन्दी कानूनो के परिणामस्वरूप लगभग २० लाख एकड भूमि अतिरिक्त (surplus) घोषित की गयी है।

४. भूदान आन्दोलन

भारत मे प्रत्येक समस्या को प्राय दो पहलुओ से देखा जाता है। पहला कानूनी पहलू है जिसमे कोई नवीनता नही है किन्तु दूसरा पहलू नैतिक है जो अनेक व्यक्तियो के लिए आलोचना का विषय है। विनोबाजी ने भारत की भूमि समस्या को नैतिक दृष्टि से देखा है। उनकी यह मान्यता है कि मनुष्य मे दैवी और राक्षसी दोनो वृत्तियाँ होती हैं। यदि दैवी वृत्ति को जाग्रत कर मनुष्य को अपने सहयोगियो की कठिनाइयो तथा कष्टो का भान करवा दिया जाय तो वह निश्चय ही कुछ त्याग करने के लिए तैयार हो सकते हैं।

भूदान आन्दोलन का सूत्रपात १९ अप्रैल, १९५१ को तेलगाना (आन्ध्र प्रदेश) के पोचमपल्ली ग्राम मे हुआ जहाँ आचार्य विनोबा की प्रार्थनासभा मे एक हरिजन ने यह समस्या रखी कि

उसके अनेक साथियों सहित उसके पास खेती के लिए भूमि नहीं है। इस पर श्री रामचन्द्र रेड्डी ने तत्काल ३० एकड़ भूमि दान करने की घोषणा की। उसी दिन से विनोबाजी ने यह निश्चय किया कि वह ग्राम-ग्राम घूमकर भूमिपतियों से भूमिहीनों के लिए भूमि-दान की माँग करेंगे।

भूदान के लक्ष्य—आचार्य विनोबा ने यह घोषणा की कि वह आगामी पाँच वर्ष में ५ करोड़ भूमि एकत्र करेंगे और भूमिहीनों में वितरित करेंगे। इस प्रकार भूमि प्राप्त करने और वितरित करने में कई वैधानिक आपत्तियाँ उत्पन्न हो गयीं, अतः प्रायः सभी राज्यों ने विशेष नियम बनाकर भूदान को वैधानिक रूप प्रदान कर दिया। भूदान के पश्चात् विनोबाजी ने ग्राम दान, सम्पत्ति-दान तथा जीवन-दान की माँग करनी प्रारम्भ कर दी है।

भूदान आन्दोलन का आधार भूमिहीन किसानों के लिए भूमि की व्यवस्था करना है और यह व्यवस्था बिना किसी विरोध के ऐच्छिक रूप से दान दी गयी भूमि से करने का विचार है। भूदान का दूसरा उद्देश्य समाज में आर्थिक तथा सामाजिक जागृति उत्पन्न करना है और सम्पन्न व्यक्तियों के हृदय में निर्धनों के लिए स्नेह की ज्योति जगाना है।

अन्तिम रूप से उपलब्ध आँकड़ों के अनुसार विनोबाजी को लगभग ४३ लाख एकड़ भूमि तथा ४०,००० ग्राम दान में मिल चुके हैं। इनमें से लगभग १० लाख एकड़ भूमि वितरित की जा चुकी है। भूदान आन्दोलन के समर्थकों का कहना है कि इतनी भूमि और ग्राम प्राप्त कर लेना कोई हँसी खेल नहीं है वस्तुतः यह सत्य है परन्तु भूदान से भारत के किसान की भूमि समस्या हल हो सकेगी यह बात मान लेना प्रवंचनामात्र होगी क्योंकि पूँजीपति अथवा भूमिधारी वर्ग के भ्रष्ट मानसिक धरातल को 'सबै भूमि गोपाल की' अथवा नैतिक समाजवाद अपनाने की सीमा तक ऊँचा उठा देना किसी भी दृष्टि से सम्भव प्रतीत नहीं होता। भूदान का एक महत्त्वपूर्ण पहलू यह है कि इस आन्दोलन के कारण समाज में भूमि समस्या के सम्बन्ध में यथेष्ट जागृति हुई है।

उपसंहार—भारत की भूमि समस्या को हल करने में सरकार ने बहुत सच्चाई और साहस से काम लिया है परन्तु इस कार्य में कुछ अनिश्चित राजनीतिज्ञों ने बाधाएँ डाली हैं। स्वयं सत्तारूढ़ दल के ही कुछ नेताओं द्वारा अनेक प्रकार से 'अधिकतम जोत' सम्बन्धी नियमों की अवहेलना करने तथा भूमिपतियों के साथ साँठ गाँठ कर उन्हें लाभ पहुँचाने के अवांछनीय कार्य किये गये हैं। इसके अतिरिक्त किसानों को भूमि का स्वामित्व देने में जिस तत्परता से काम लेना चाहिए था, सम्भवतः उससे काम नहीं लिया गया। अतः अब भी सम्पूर्ण भूमि का स्वामित्व उचित हाथों में नहीं गया है। इधर कुछ क्षेत्रों में व्यक्तिगत कारणों से भी कुछ छोटे जमींदारों को अनुचित ढंग से दबाने की घटनाएँ हुई हैं। इन सबका कारण देश के सामान्य राष्ट्रीय चरित्र का निम्न स्तर ही है किन्तु सरकार को इन दिशाओं में यथोचित जाँच कर लेनी चाहिए ताकि न्याय केवल कुछ व्यक्तियों के लिए न होकर सब व्यक्तियों के लिए होता दिखायी पड़े। प्रजातन्त्र की यह सामान्य माँग है जिसे पूरा करना सर्वथा युक्तिसंगत है।

ऐसा प्रतीत होता है कि अब भूमि सुधार के प्रति सरकार का उत्साह मन्द पड़ रहा है। 'भूमि सुधार की दुहाई देना' अब राजनीतिज्ञों का 'धर्म' मात्र रह गया है। भूमि सुधारों के क्रियान्वयन के प्रति सरकार उदासीन नजर आती है। कुछ प्रभावशाली क्षेत्रों में यह खतरनाक भावना पनप रही है कि पुराने जमींदार तथा बड़े किसानों के पास प्रबन्ध कौशल, साहस-सम्पन्नता तथा जोखिम उठाने की क्षमता है जिसका उपयोग देश में कृषि क्रान्ति को सफल बनाने के लिए किया जा सकता है। हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि अधूरे भूमि सुधार आर्थिक विकास के मार्ग में बड़ी बाधाएँ उपस्थित कर सकते हैं। प्रो० गाडगिल के शब्दों में

"A land reform which has stopped half way or has been only half heartedly

undertaken, almost inevitably creates conditions which are inimical to justice as well as to overall development.'[1]

प्रश्न

१ एक आदर्श भूमि-व्यवस्था के महत्त्वपूर्ण लक्षणों का वर्णन कीजिए। सरकार ने भूमि व्यवस्था में सुधार करने के लिए कौन कौन से उपाय किये हैं? (आगरा, बी० कॉम०, १९५६)

२ भूदान यज्ञ की आर्थिक महत्ता का वर्णन कीजिए और यह भी बतलाइए कि यह आन्दोलन देश के भूमिहीन श्रमिकों की कहाँ तक सहायता कर सकेगा? (पटना, बी० ए०, १९५४)

३ भारत में भूमि-व्यवस्था की प्रमुख प्रणालियों की संक्षिप्त विवेचना कीजिए तथा उनका आर्थिक महत्त्व समझाइए। (आगरा, बी० कॉम, १९५५)

४ भारत में कृषि भूमि का विभाजन किस प्रकार हुआ है? उत्तर प्रदेश में भूमि के पुनर्वितरण तथा सुधार की योजना का विवेचन कीजिए। (आगरा, बी० ए०, १९६१)

५ भारत में हाल ही में जो भूमि सुधार हुए हैं उनकी मुख्य विशेषताओं पर प्रकाश डालिए। (विक्रम, बी० ए०, १९६१)

६ भारत में हाल ही में भूमि-व्यवस्था के सुधार के किये गये प्रयत्नों का परीक्षण कीजिए। (नागपुर, बी० कॉम०, १९६४)

७ राजस्थान में भूमि सुधार की प्रगति से आप कहाँ तक सन्तुष्ट हैं? कृषकों के सन्तोष के लिए और अधिक क्या करना चाहिए? (राजस्थान, बी० ए०, १९६५)

---

[1] Gadgil, D R, *Indian Jounral of Agricultural Economics*, July 1966

12 भारत की खाद्य समस्या

(INDIA'S FOOD PROBLEM)

"Without food enough, India's effort for improving human welfare, achieving social justice and securing democracy will become almost impossible of attainment"

—Ford Foundation Team

भोजन का महत्त्व

किसी भी देश में 'रोटी, कपड़ा और मकान' जनता की प्राथमिक आवश्यकताएँ समझी जाती हैं और इनमें से एक का भी अभाव राष्ट्र की सम्पूर्ण आर्थिक, सामाजिक तथा राजनीतिक सत्ता को झकझोर देने के लिए पर्याप्त है। इन तीनों में भी भोजन की आवश्यकता तीव्रतम होती है क्योंकि मनुष्य कम वस्त्र तथा कम अथवा बिना मकान किसी जीवित रह सकता है परन्तु भोजन के बिना मनुष्य की सभी इन्द्रियाँ शिथिल पड़ जाती हैं और कुछ समय पश्चात् ही उसकी जीवन-लीला समाप्त हो जाती है। अतः भोजन मनुष्य की आधारभूत आवश्यकता है जिसकी पूर्ति किये बिना किसी भी व्यक्ति अथवा सरकार का बने रहना असम्भव है।

विकास कार्यों पर प्रभाव—खाद्यान्न का दूसरा महत्त्व इस दृष्टि से है कि यदि इसका अभाव होता है तो इसके आयात को प्राथमिकता देना आवश्यक होता है जिससे देश के विदेशी विनिमय का एक (कभी कभी महत्त्वपूर्ण) अंश अन्य विकास कार्यों से खिंचकर उदरपूर्ति में लग जाता है। इस प्रकार खाद्यान्नों का अभाव देश के अन्य आर्थिक क्षेत्रों को निरन्तर प्रभावित करता रहता है।

राष्ट्रीय स्वास्थ्य—खाद्यान्न पदार्थों के अभाव का तीसरा प्रभाव देश की जनता के सामान्य स्वास्थ्य पर पड़ता है। यदि लोगों को दोनों समय यथेष्ट मात्रा में गुणयुक्त भोजन उपलब्ध न हो तो स्वाभाविक रूप से उनका स्वास्थ्य गिरने लगता है, उनकी सहन शक्ति कम हो जाती है, जिससे उन्हें क्षय जैसे दुष्ट रोगों का शिकार होना पड़ता है। अस्वस्थ शरीर का प्रभाव समाज की मानसिक एवं बौद्धिक शक्ति पर भी पड़ता है जिससे जनता की कार्यशक्ति क्षीण हो जाती है। इस प्रकार दुर्बल राष्ट्रीय स्वास्थ्य अन्ततः देश की कृषि तथा उद्योगों के उत्पादन तथा देश की प्रबन्ध एवं व्यवस्थात्मक क्षमता पर प्रभाव डालता है।

उपर्युक्त विचारों से स्पष्ट है कि खाद्यान्नों के अभाव में देश की सम्पूर्ण व्यवस्था पर व्यापक प्रभाव पड़ता है, अतः इस समस्या का गम्भीरतापूर्वक अध्ययन कर उसका यथोचित हल निकालना आवश्यक है।

भारत की खाद्य समस्या—किसी भी देश की खाद्य समस्या का अध्ययन तीन पहलुओं से करना आवश्यक है। प्रथम, सख्यात्मक अथवा परिमाणात्मक पहलू, दूसरा गुणात्मक पहलू, और तीसरा व्यवस्थात्मक पहलू।

(१) परिमाणात्मक पहलू (Quantitative Aspect)—सन् १८८० के अकाल आयोग ने यह मत प्रकट किया था कि भारत प्रतिवर्ष अपनी आवश्यकता से लगभग ५० लाख टन अधिक अन्न उत्पन्न करता है। वस्तुत उस समय भारत की जनसंख्या केवल २५ करोड़ के लगभग थी और योरक्ता तथा ब्रह्मा भारत के ही अग थे। यद्यपि जनसंख्या की निरन्तर वृद्धि के कारण, विशेषकर १९२१ के पश्चात् भारत में खाद्यान्नों का अतिरेक (surplus) कम हो गया किन्तु अन्न का निर्यात प्राय द्वितीय महायुद्ध के प्रारम्भ से पूर्व तक (१९३९) निरन्तर होता रहा। इस अवधि के कुछ वर्षों में जबकि भारत में अकाल की स्थिति थी, विदेशों से अन्न आयात भी करना आवश्यक हो गया था।

द्वितीय महायुद्ध और उसके पश्चात भारत में अन्न का सदा अभाव रहा है इसका अनुमान निम्नलिखित अको से लग सकता है

भारत मे खाद्यान्नों का उत्पादन और आयात

(मिलियन टनों मे)

वर्ष	शुद्ध उत्पादन	आयात
१९५१	४८ २	४ ८
१९५६	६० ७	१ ४
१९६१	७१ ६	३ ५
१९६६	६३ ३	१० ६
१९६०	८७ १	३ ६

(*Source* Economic Survey, 1970 71, p 89 (दालें सम्मिलित नहीं है)।

सन् १९५१ मे प्रति व्यक्ति खाद्यान्नों की (दालों सहित) उपलब्धि १३ ६७ औंस दैनिक थी, १९६१ मे यह उपलब्धि १६ ५० औंस दैनिक हो गयी और १९७० मे १५ ७१ औंस दैनिक रह गयी।

उपर्युक्त अकों से स्पष्ट है कि गत वर्षों में अन्न का निरन्तर अभाव रहा है और इस अभाव की पूर्ति विदेशों से अन्न आयात द्वारा की गयी है। फोर्ड फाउण्डेशन दल ने, जिसे १९५८ मे भारत की खाद्य समस्या का अध्ययन कर उसके समाधान के लिए सुझाव देने भारत बुलाया गया था, यह अनुमान लगाया था कि यदि अन्नोत्पादन के विकास की तत्कालीन गति बनी रही तो तृतीय योजना के अन्तिम वर्ष तक भारत मे अन्न का उत्पादन आवश्यकता से लगभग २ ८ करोड़ टन कम रह जायगा।

अनुमान भ्रामक—फोर्ड फाउण्डेशन दल ने अक देकर यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया कि देश मे खाद्यान्नों का उत्पादन तथा आवश्यकता मे अन्तर नियमित रूप से बढ रहा था अत यदि उत्पादन मे वृद्धि न हुई तो १९६५ ६६ तक कुल कमी २ ८ करोड़ टन तक हो जायगी। परन्तु दल का यह अनुमान आवश्यकता से अधिक निराशावादी प्रमाणित हुआ क्योंकि १९५६ ५७ के पश्चात भी अन्न के उत्पादन मे लगभग १ २५ करोड़ टन की वृद्धि हुई है। इसके अतिरिक्त दल का यह भी अनुमान था कि १९६५ ६६ तक देश की जनसंख्या ४८ करोड़ हो जायेगी। यह अनुमान सही है अत अन्न की आवश्यकता ११ करोड़ टन हो गयी है। इस दृष्टि से भारत मे अन्न की कमी आगामी कई वर्षों तक बनी रहने की आशका है। भारतीय योजना आयोग ने तृतीय योजना के

समापन तक देश मे अन्न उत्पादन का लक्ष्य १० करोड़ टन निर्धारित किया था जबकि वास्तविक उत्पादन लगभग ७ ३ करोड टन हुआ। चतुर्थ योजना के अन्त तक खाद्यान्न का उत्पादन १२६ मिलियन टन तक पहुँचाने का प्रावधान किया गया है।

(२) गुणात्मक पहलू—खाद्य समस्या का गुणात्मक पहलू यह है कि समाज के प्रत्येक व्यक्ति को यथेष्ट पौष्टिक भोजन उपलब्ध होता है या नहीं। इस सम्बन्ध मे व्यक्तियो की न्यूनतम आवश्यकता के अनेक अनुमान हैं। उदाहरणत एक अनुमान यह लगाया गया है कि घर पर रहकर काम करने वाली स्त्रियों के लिए प्रतिदिन २,१०० कलरी (calories) युक्त पौष्टिक भोजन की आवश्यकता है जबकि एक क्लर्क अथवा अध्यापक की दैनिक आवश्यकता कम से कम २,६०० कलरी, एक सामान्य सक्रिय व्यक्ति तथा डॉक्टर, इंजीनियर अथवा दर्जी की आवश्यकता ३,००० कलरी तथा एक औद्योगिक श्रमिक की दैनिक आवश्यकता ३,६०० कलरी है। इससे स्पष्ट है कि भोजन की पौष्टिक शक्ति की इकाइयाँ भिन्न-भिन्न कार्य करने वाले व्यक्तियो के लिए भिन्न-भिन्न मात्रा मे आवश्यक होती हैं।

अन्य अनुमान—डॉ० आयक्रोयड के अनुमान के अनुसार भारत मे एक स्वस्थ व्यक्ति के लिए प्रतिदिन कम से कम २८६० कलरीयुक्त भोजन मिलना चाहिए।

यह अनुमान देशवासियों के स्वास्थ्य को अच्छे ऊँचे स्तर बनाये रखने की दृष्टि से नहीं बल्कि सामान्य स्तर की दृष्टि से लगाये गये हैं अत यह किसी भी दृष्टि से बहुत अधिक नही कहे जा सकते।

भारतीयो को उपलब्ध पौष्टिकता—यदि न्यूनतम उपलब्धि के आधार पर भी विचार करें तो हमे ज्ञात होगा कि भारतवासियो को प्रतिदिन १५ ७ औस अन्न तथा ५ औंस दूध उपलब्ध होना है। देश की अधिकांश जनता को साग सब्जी, दालें, घी तेल तथा अन्य वस्तुओं की उपलब्धि मात्रा सर्वथा नगण्य है। फलत एक भारतीय को औसत दैनिक भोजन मे केवल १,८८० कलरी प्राप्त होती है जो सामान्य स्तर तथा अन्य देशो की तुलना मे बहुत कम है।

क्षेत्रीय भिन्नता—भारत के विभिन्न राज्यो मे भी प्रति व्यक्ति भोजन की उपलब्धि समान नही है कुछ क्षेत्र ऐसे हैं जहाँ अत्यधिक गरीबी है अत उनमे पौष्टिकता की उपलब्धि कम तथा अन्य क्षेत्रो मे अधिक है। इस भिन्नता का अनुमान निम्नलिखित अंको से हो सकता है

भारत में प्रति व्यक्ति पौष्टिकता की उपलब्धि

राज्य	कलरी प्रति व्यक्ति	राज्य	कलरी प्रति व्यक्ति
१ पजाब	३,२००	७ बिहार	२,४००
२ मध्य प्रदेश	३ ३००	८ तमिलनाडु	२,४००
३ प० बगाल	३,१००	९ आन्ध्र प्रदेश	२,३००
४ हिमाचल प्रदेश	३,०००	१० गुजरात	२,२००
५ उत्तर प्रदेश	३,०००	११ केरल	१,८००
६ महाराष्ट्र	२ ५००		

उपर्युक्त अनुमान पौष्टिकता शोध प्रयोगशाला (Nutrition Research Laboratories) हैदराबाद ने लगाये हैं। इससे पता चलता है कि पजाब तथा मध्य प्रदेश के निवासियों का जीवन-स्तर अन्य राज्यो से ऊँचा है और यह न्यूनतम आवश्यकता से कम नहीं है। महाराष्ट्र, बिहार, तमिलनाडु, आन्ध्र प्रदेश तथा गुजरात के निवासियो को पौष्टिकता की उपलब्धि बहुत कम है जबकि केरल मे यह न्यूनतम है।

अनाज के क्षेत्र—खाद्यान्न जाँच समिति (Foodgrains Enquiry Committee), १९५७ के अनुसार भारत के चार मुख्य क्षेत्र हैं जो अग्रलिखित हैं :

(अ) घनी जनसंख्या—इस प्रकार के वे क्षेत्र हैं जिनमें अत्यन्त घनी जनसंख्या, छोटे खेत तथा प्रति व्यक्ति आय बहुत कम है। इन क्षेत्रों में अनेक बार बाढ़ का प्रकोप भी होता रहता है। पूर्वी उत्तर प्रदेश तथा उत्तरी बिहार इस वर्ग में सम्मिलित किये गये हैं।

(आ) नगरों का दबाव—कुछ क्षेत्र ऐसे हैं जिनमें उत्पत्ति तो पर्याप्त है किन्तु आसपास के नगरों से खाद्यान्नों की माँग अत्यधिक रहती है जिसके परिणामस्वरूप इन क्षेत्रों में अन्न का अभाव उत्पन्न हो जाता है। इस वर्गीकरण में पश्चिमी बंगाल में कलकत्ता के आसपास स्थित क्षेत्र सम्मिलित हैं।

(इ) सूखे क्षेत्र—देश के कुछ भाग ऐसे हैं जिनमें वर्षा नियमित रूप से कम होती है और ज्वार, बाजरा तथा अन्य सूखे जलवायु वाले अन्न उत्पन्न किये जाते हैं। इन क्षेत्रों में प्रति एकड़ उत्पादन भी बहुत कम है। पश्चिमी भारत में राजस्थान, पंजाब तथा उत्तर प्रदेश के कुछ भाग इस श्रेणी में वर्गीकृत किये गये हैं।

(ई) आदिवासी क्षेत्र—अभावग्रस्त क्षेत्रों के चौथे वर्ग में आसाम तथा मध्य भारत के अविकसित भू-खण्ड सम्मिलित हैं जहाँ के निवासियों की औसत आय बहुत कम है तथा यातायात के साधन दुर्गम अथवा बहुत महँगे हैं।

इस विवरण से स्पष्ट है कि भारत के सभी भागों में खाद्यान्न के अभाव की स्थिति नहीं है, यह मूलतः कुछ क्षेत्रों में केन्द्रित है और इन क्षेत्रों में भी अभाव कहीं अधिक और कहीं कम है।

(३) व्यवस्थापक पहलू (Administrative Aspect)—खाद्यान्न समस्या का तीसरा पहलू प्रबन्धात्मक अथवा व्यवस्था सम्बन्धी है। इसका अर्थ यह है कि देश में जितने खाद्यान्न उपलब्ध हैं उन्हें जनता में उचित मूल्य पर यथासमय वितरित कर दिया जाय। व्यवस्थात्मक पहलू में मुख्यतः निम्न कार्य सम्मिलित किये जा सकते हैं

(क) देश में खाद्यान्नों की पूर्ति का शुद्ध अनुमान लगाना।

(ख) खाद्यान्नों की माँग का सही अनुमान लगाना।

(ग) संकट-काल के लिए समय से पूर्व ही खाद्यान्नों के यथोचित भण्डार निर्मित करना।

(घ) खाद्यान्नों के भण्डार को गोदामों में सुरक्षित रखने की व्यवस्था करना।

(ङ) कमी वाले स्थानों पर यथासमय यथेष्ट खाद्यान्न भेजने का प्रबन्ध करना।

(च) खाद्यान्नों के मूल्य निर्धारित करना तथा उचित स्थान पर बनाये रखने की चेष्टा करना।

(छ) उचित मूल्य पर जनता को ठीक समय पर अन्न देने की व्यवस्था करना।

उपर्युक्त व्यवस्था न करने से अनेक बार देश में अन्न का अभाव न होने पर भी उसकी कमी दिखायी पड़ती है। भारत में भी कुछ व्यक्तियों का ऐसा विश्वास है कि देश में अन्न की वास्तविक कमी नहीं है, बल्कि अभाव का कारण सरकार की अदूरदर्शिता एवं प्रशासन व्यवस्था बताया जाता है।

भारत में खाद्यान्नों के अभाव के कारण

यद्यपि भारत की खाद्य समस्या परिमाणात्मक एवं गुणात्मक दोनों दृष्टिकोण से गम्भीर है किन्तु गुणात्मक पहलू भी परिमाणात्मक कमी पर निर्भर करता है। अतः परिमाणात्मक अभाव के कारणों पर गम्भीरतापूर्वक विचार करना उचित होगा। ये कारण निम्नलिखित हैं

(१) जनसंख्या की वृद्धि—योजना-काल (१९५१–१९७१) में भारत की जनसंख्या में १८ करोड़ की वृद्धि हुई है। वर्तमान में वृद्धि की गति २.५ प्रतिशत वार्षिक है। इस प्रकार प्रति वर्ष १ करोड़ से अधिक व्यक्ति भारतीय जनसंख्या में जुड़ जाते हैं जिनके लिए कम से कम १५–१६ लाख टन अतिरिक्त अन्न की वार्षिक आवश्यकता होगी। यह निश्चय ही एक गम्भीर स्थिति है। इधर भारतीय कृषि व्यवसाय में घटती हुई उत्पत्ति का नियम लागू हो गया है। अतः खाद्यान्नों के

उत्पादन में वृद्धि करना बहुत कठिन है, किन्तु वैज्ञानिक कृषि प्रणाली के सहयोग से ऐसा किया जा सकता है।

(२) प्रति एकड़ उत्पादन कम—कृषि की कृषि की समस्याएँ सम्बन्धी अध्याय में यह स्पष्ट किया जा चुका है कि भारत में प्रति एकड़ उत्पादन अन्य देशों की तुलना में बहुत कम है जिसके फलस्वरूप देश में खाद्यान्नों का प्रायः अभाव रहता है। उदाहरणत, जापान में चावल का औसत उत्पादन भारत से लगभग चार गुना, मिस्र में गेहूँ का औसत उत्पादन भारत से लगभग चार गुना तथा मक्का का औसत उत्पादन २.५ गुना है (भारत में विभिन्न खाद्य पदार्थों के कम उत्पादन के कारण इससे पूर्व एक अध्याय में दिये जा चुके हैं)।

(३) अन्न की बरबादी—भारत में अनेक व्यक्ति धार्मिक वृत्ति के हैं जिसके कारण वह अन्न को नष्ट करने वाले कीटाणुओं, चूहों, बन्दरों तथा अन्य जीव-जन्तुओं को मारने के विरोधी हैं, अतः देश में उत्पन्न अन्न का एक महत्त्वपूर्ण भाग कीटाणुओं तथा जीव जन्तुओं द्वारा नष्ट कर दिया जाता है।

एक अनुमान के अनुसार भारतीय कृषि उत्पादन का लगभग ५ प्रतिशत भाग टिड्डियों द्वारा नष्ट कर दिया जाता है। व्यावसायिक मालगोदामों के एक सर्वेक्षण में कहा गया है कि इन गोदामों में रखे गये अन्न के ५ से २५ प्रतिशत भाग का कीटाणुओं द्वारा विनाश कर दिया जाता है। इतना ही नहीं यह जन्तु कुछ अन्न तो खा ही जाते हैं, शेष को कीटाणुयुक्त कर देते हैं, जिसका प्रयोग करने से खानी नहीं है। विदेशों में खाद्यान्नों को कीटाणुओं से बचाने के लिए अनेक प्रकार के कीटाणुनाशक रसायन प्रयुक्त किये जाते हैं लेकिन उनका प्रयोग करने में बहुत सावधानी रखने की आवश्यकता होती है क्योंकि उनके असावधानीपूर्ण उपयोग से वह अन्न को भी विषमय बना सकते हैं जो स्वास्थ्य के लिए अधिक हानिकारक हो जाता है।

(४) भोजन की आदतें—भारत में खाद्यान्नों की कमी का एक महत्त्वपूर्ण कारण यह भी है कि देश में लोगों की भोजन की आदतें बहुत भिन्न तथा अपरिवर्तनशील हैं। बंगाल, आसाम, बिहार, उत्तर प्रदेश, मद्रास, केरल, आन्ध्र तथा मैसूर के अधिकांश व्यक्ति चावल खाने के अभ्यस्त हैं और उन्हें गेहूँ, मक्का, ज्वार या बाजरा खाने की रुचि नहीं है। कुछ व्यक्तियों के लिए तो चावल के सिवाय अन्य खाद्यान्न स्वास्थ्य के अनुकूल नहीं है अतः वे उसका उपभोग नहीं कर सकते।

सामिष एवं निरामिष भोजन—भोजन की आदत में एक अन्य विशेषता यह है कि भारतीय जनसंख्या का एक बहुत बड़ा भाग निरामिषभोजी है अतः यदि किसी वर्ष खाद्यान्नों का अभाव हो तो उसकी पूर्ति मांस, मछली, आदि वस्तुओं से नहीं की जा सकती। पाश्चात्य देशों में प्रायः सारी जनता मांसाहारी है अतः वहाँ कमी का समाधान करना अपेक्षाकृत सरल है। भारत में चावल तथा गेहूँ की ही अत्यधिक कमी रहती है।

(५) सरकारी नीति—खाद्यान्नों की कमी का एक महत्त्वपूर्ण कारण यह है कि देश में खाद्यान्नों के सम्बन्ध में कोई निश्चित नीति नहीं अपनायी गयी है। जब भी खाद्यान्नों का अभाव होता है, कुछ अस्थायी कदम उठा लिये जाते हैं, कुछ अन्न विदेशों से आयात कर लिया जाता है, अन्न के वितरण पर मूल्य नियन्त्रण तथा राशन-व्यवस्था लागू कर दी जाती है और अधिक अन्न उपजाने सम्बन्धी प्रचार के लिए कुछ पुस्तिकाएं छपवाकर बँटवा दी जाती हैं। इन क्रियाओं के अतिरिक्त सरकारी नीति अन्य कई दृष्टिकोणों से दोषपूर्ण है

(i) कड़ी कार्यवाही का अभाव—खाद्यान्न के अभाव की तनिक-सी आशंका से व्यापारी-वर्ग अन्न का संग्रह करने लगता है और स्टॉक को रोक लेने के कारण देश में एक कृत्रिम अभाव की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। सरकार प्रायः राजनीतिक अथवा परम्परागत अकुशलता के कारण से

व्यापारियों की इस राष्ट्रद्रोही नीति के विरुद्ध यथोचित कार्यवाही करने में असफल रहती है। गत कुछ वर्षों से सरकार की प्रभावहीन नीति के कारण ही अन्न का अभाव दृष्टिगोचर हो रहा है।

(ii) प्रबन्ध में ढिलाई—अनेक बार ऐसा भी होता है कि सरकार यह निश्चित तो कर लेती है कि अमुक मात्रा में अन्न विदेशों से मँगवाना है किन्तु प्रबन्ध व्यवस्था की शिथिलता के कारण उसके मँगवाने में अवांछनीय देर हो जाती है। कभी कभी तो यहाँ तक होता है कि सरकार के पास अन्न के यथेष्ट भण्डार हैं किन्तु उन्हें समय पर विक्रय के लिए बाजार में प्रस्तुत नहीं किया जाता।

(iii) मूल्य नियन्त्रण—गत दशाब्द में (तथा उससे पहले भी) भारत सरकार खाद्यान्नों के मूल्य नियमन करने में सर्वथा असमर्थ रही है। गत चार-पाँच वर्षों में भी सभी खाद्यान्नों के मूल्यों में निरन्तर वृद्धि होती रही है। सन् १९६४-६५ तथा १९६५-६६ में तो खाद्य पदार्थों के मूल्य में ५२ प्रतिशत तक वृद्धि हो गयी किन्तु सरकार एक दर्शकमात्र बनकर जनता के आर्थिक संकट को देखती रही है। मूल्यों पर उचित नियन्त्रण न होने के कारण जनता तथा व्यापारियों को सरकारी नीति में विश्वास नहीं रहता जिससे फलस्वरूप सरकार द्वारा निरन्तर विश्वास दिलाये जाने पर भी कि 'देश में अन्न का अभाव नहीं है,' लोग अन्न को आवश्यकता से अधिक मात्रा में खरीदने लगते हैं। फलत अन्न के अभाव की स्थिति दृष्टिगोचर होने लगती है।

(iv) रिजर्व बैंक की साख नीति—भारतीय रिजर्व बैंक को व्यापारिक बैंकों की साख नीति पर नियन्त्रण रखने के व्यापक अधिकार हैं। इन अधिकारों के द्वारा रिजर्व बैंक चाहे जब बैंकों को खाद्यान्नों अथवा अन्य वस्तुओं की धरोहर पर ऋण देने की मनाही कर सकता है अथवा उनकी सीमा निश्चित कर सकता है। किन्तु भारत में देशी बैंकर तथा साहूकार रिजर्व बैंक के नियन्त्रण में नहीं हैं अत वह जितना ऋण देते हैं उसकी कोई सीमा निर्धारित नहीं की जा सकती।

रिजर्व बैंक की साख नीति की एक महत्वपूर्ण दुर्बलता यह है कि साख नियन्त्रण करने सम्बन्धी कोई भी कदम न तो समय पर उठाया जाता है और न ही उसका प्रभावशाली ढंग से प्रयोग किया जाता है। फलत अन्न के मूल्यों में उतार-चढ़ाव होते हैं तथा अभाव न होने पर भी अभाव का वातावरण बना रहता है।

(६) जनता की निर्धनता—भारत में लोगों की प्रति व्यक्ति आय बहुत कम होने के कारण वह चावल, गेहूँ अथवा अन्य पौष्टिक वस्तुएँ खरीदने की स्थिति में नहीं है। जब अनाज के भाव महँगे हो जाते हैं तो निर्धन व्यक्तियों के लिए इनके खरीदने की समस्या अधिक गम्भीर हो जाती है। ऐसी स्थिति में देश में काफी अन्न होने पर भी लोग भूख से पीड़ित होकर मरने लगते हैं। १९४३ का बंगाल का अकाल इसका एक ज्वलन्त उदाहरण है।

सामाजिक कुरीतियों का प्रभाव भी देश की अन्न व्यवस्था पर पड़ता है क्योंकि ग्रामीण लोग ऋण लेकर मृतक भोज अथवा विवाह आदि सम्पन्न करते हैं। फिर उन्हें खाद्य पदार्थों के लिए भी ऋण लेना पड़ता है और प्राय निम्नतम किस्म का अन्न व्यवहार में लाना पड़ता है।

सरकार द्वारा किये गये प्रयत्न

अभाव का आरम्भ—भारत से ब्रह्मा के पृथक होने से पूर्व खाद्यान्नों की कोई समस्या नहीं थी क्योंकि ब्रह्मा में चावल का उत्पादन काफी था और वह शेष अभावग्रस्त भागों की आवश्यकता की पूर्ति कर देता था। ब्रह्मा के अलग होने पर देश में लगभग १४ लाख टन अन्न का अभाव अनुमानित किया गया। फलत भारत आवश्यक मात्रा में ब्रह्मा से चावल का आयात करता रहा किन्तु द्वितीय युद्ध काल में (विशेषत १९४२ तथा उसके पश्चात) ब्रह्मा से चावल का आयात करना असम्भव हो गया क्योंकि ब्रह्मा के अधिकांश भागों पर जापान का अधिकार हो गया था।

खाद्य विभाग की स्थापना—ब्रह्मा से आयात बन्द होने के फलस्वरूप भारत सरकार को अन्न की कमी का सामना करना पड़ा। अनाज, विशेषकर चावल, के मूल्यों में वृद्धि हो गयी और

जनता में खाद्यान्न नीति के प्रति असन्तोष में वृद्धि होने लगी। इन परिस्थितियों का सामना करने के लिए भारत सरकार ने केन्द्र में खाद्य विभाग की स्थापना की।

खाद्य विभाग के मुख्य कार्य निम्नलिखित रहे हैं :

(१) खाद्यान्नों के मूल्य निर्धारित करना,

(२) खाद्य पदार्थों की पूर्ति तथा वितरण की उचित व्यवस्था करना,

(३) खाद्यान्नों के सेना तथा सामान्य जनता द्वारा प्रयोग में उचित सामंजस्य स्थापित करना।

(४) खाद्यान्नों की वसूली, खरीद, यातायात तथा संग्रह की उचित व्यवस्था करना।

वस्तुतः इस विभाग का उद्देश्य देश में खाद्यान्नों की वास्तविक आवश्यकता का अनुमान लगाकर उसकी हर सम्भव साधन से पूर्ति करना था।

खाद्यान्न नीति समिति, १९४३—खाद्य विभाग की स्थापना के पश्चात भारत सरकार ने खाद्य समस्या के समाधान के लिए उचित सुझाव देने हेतु एक विशेषज्ञ समिति नियुक्ति की। इस समिति ने मुख्यतः तीन सुझाव प्रस्तुत किये। पहला सुझाव यह था कि देश के नगरों में सर्वत्र खाद्य पदार्थों की राशन-व्यवस्था लागू कर दी जाय। समिति के दूसरे सुझाव में खाद्यान्नों के आवश्यक आयात करने तथा देश में ही सरकार द्वारा अन्न खरीदने की सिफारिश की गयी। तीसरा सुझाव यह था कि देश में 'अधिक अन्न उपजाओ आन्दोलन' चलाया जाय और खाद्यान्नों की उत्पादन वृद्धि के लिए अधिकाधिक सुविधाएँ दी जायें।

सन् १९५२ में 'अधिक अन्न उपजाओ आन्दोलन' का लेखा-जोखा करने की दृष्टि से एक समिति नियुक्त की गयी जिसने योजना में अनेक परिवर्तन करने के सुझाव दिये तथा सिफारिश की कि राज्य सरकारों को सामान्य सिंचाई योजनाओं के लिए १० करोड़ रुपये के और ऋण दिये जायें।

बंगाल का अकाल—सन् १९४३ में बंगाल में भीषण अकाल पड़ा। इस अकाल की विशेष बात यह थी कि चावल के मूल्य बहुत ऊँचे चढ़ गये और जनता के पास इतने मंहगे चावल खरीदने के लिए पर्याप्त मुद्रा नहीं थी। तत्कालीन सरकार ने इस अभाव को दूर करने के लिए यथासम्भव प्रयत्न नहीं किये जिसके फलस्वरूप लाखों व्यक्ति (विभिन्न अनुमानों के अनुसार २० से २५ लाख) क्षुधा की ज्वाला में स्वाहा हो गये।

बंगाल सरकार ने अन्न के मूल्य पर नियन्त्रण तथा राशन व्यवस्था लागू कर दी तथा सरकार के लिए अन्न संग्रह का कार्यक्रम भी आरम्भ किया। यह व्यवस्था देश के अन्य प्रदेशों में भी लागू कर दी गयी और जिस समय देश स्वतन्त्र हुआ लगभग १४.५ करोड़ व्यक्ति राशन तथा मूल्य नियन्त्रण व्यवस्था के अन्तर्गत खाद्यान्न प्राप्त कर रहे थे।

खाद्यान्न नीति समिति, १९४७—भारत सरकार ने खाद्यान्नों के अभाव की जाँच करने तथा सुझाव देने के लिए १९४७ में एक समिति नियुक्त की जिसने यह मत व्यक्त किया कि 'अधिक अन्न उपजाओ आन्दोलन' असफल हो गया है। समिति ने अन्न पर से नियन्त्रण हटाने का सुझाव दिया जिसे सरकार ने स्वीकार कर लिया किन्तु नियन्त्रण हटाते ही अन्न के मूल्यों में अत्यधिक वृद्धि होनी आरम्भ हो गयी। फलतः नियन्त्रण दोबारा लगाने आवश्यक हो गये।

समिति ने कुछ और भी सिफारिशें कीं जो निम्नलिखित हैं :

(१) बहुमुखी योजनाओं के अन्तर्गत १.६ करोड़ एकड़ भूमि पर सिंचाई की और व्यवस्था की जाय।

(२) केन्द्र तथा राज्य स्तर पर कृषि आयोजन मण्डल बनाये जायें।

(३) कृषक मुख्यतः को खेती योग्य बनाया जाय।

(४) ५० करोड रुपये की पूंजी से एक भूमि साफ करने सम्बन्धी सगठन निर्मित किया जाय।

भारत सरकार ने इस समिति की सिफारिश पर २४ सितम्बर, १९४८ को नवीन खाद्यान्न नीति की घोषणा की जिसके फलस्वरूप एक राज्य से दूसरे राज्य मे खाद्यान्न का आवागमन रोक दिया गया। देश मे राशन-व्यवस्था सर्वत्र लागू कर दी गयी तथा खाद्यान्नो के व्यापार के लिए लाइसेंस लना अनिवार्य कर दिया गया। राज्य सरकारो को बाजार से खरीदकर सग्रह किये जाने वाले अन्न पर आठ आने प्रति मन की सहायता देने की व्यवस्था की गयी।

इतना सब होने पर भी १९४८ मे लगभग २८ लाख टन अन्न विदेशो से आयात करना पडा।

सन् १९५१ और उसके बाद—भारत सरकार ने यह निश्चय किया कि १९५१ तक देश म खाद्यान्नो मे आत्मनिर्भरता प्राप्त कर ली जायगी और अन्न केवल सकटकाल के लिए भण्डार निर्मित करने हेतु आयात किया जायेगा। किन्तु दुर्भाग्य से उस वर्ष फसलें बहुत खराब हो गयी और सर्वाधिक अन्न (लगभग २३० करोड रुपये का) विदेशो से मँगवाना पडा।

सरकार ने अन्न की कमी की पूर्ति करने के लिए नियन्त्रण तथा राशन व्यवस्था को कडा कर दिया और अन्न का सग्रह तथा चोरबाजारी करने वालो को कडे दण्ड देने की व्यवस्था की गयी। जो व्यक्ति भूमि को खेती किये बिना खाली छोड रहे थे उनके लिए भी दण्ड देने का प्रावधान किया गया। इन दोनों कार्यों के अतिरिक्त सरकार ने उचित मूल्य पर अन्न खरीदकर भण्डार बनाने का कार्य भी आरम्भ कर दिया ताकि यह भण्डार सकटकाल म काम आ सके।

योजनाकाल और खाद्य-समस्या

प्रथम योजना के प्रारम्भ मे देश मे खाद्यान्नो का उत्पादन लगभग ५ करोड टन था जो १९६१-६२ मे लगभग ८ करोड टन हो गया। तृतीय योजना के अन्त तक उत्पादन १० करोड टन तक बढाने का लक्ष्य रखा गया था किन्तु १९६५-६६ मे उत्पादन केवल ७ २३ करोड टन हुआ। १९७० ७१ मे खाद्यान्नो का उत्पादन १० ८ करोड टन अनुमानित किया गया है।

योजनाकाल मे खाद्यान्नो का उत्पादन बढाने के लिए अनेक प्रयत्न किये गये है जो निम्नलिखित हैं

(१) जापानी ढग की चावल की खेती—भारत मे मुख्यत चावल का ही अभाव है अत चावल का प्रति एकड उत्पादन बढाने की अत्यन्त आवश्यकता थी। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए *भारत सरकार ने १९५३ ५४ मे जापानी ढग की चावल की खेती का प्रचार आरम्भ किया जिसके* फलस्वरूप लगभग ६० लाख एकड भूमि मे जापानी ढग की खेती आरम्भ की गयी है।

जापानी पद्धति से चावल की खेती के उद्धरण मे यह स्मरण रखना चाहिए कि जापान एक *एकड भूमि मे भारत से ३-४ गुना चावल उत्पन्न करता है।*

(२) सुधरे हुए बीजों की व्यवस्था—भारत मे अनेक सरकारी फार्म हैं जहाँ खाद्यान्नो तथा अन्य कृषि फसलों के लिए अधिक उत्पत्ति देने वाले बीज तैयार किये जाते हैं। *द्वितीय योजना* काल मे देश भर मे ऐसे ३,६०० फार्म स्थापित किये गये जिनमे अधिकाश ने उत्पादन आरम्भ कर दिया है। तृतीय योजना के समापन काल तक लगभग १५ करोड एकड खाद्यान्नो वाली भूमि मे उन्नत किस्म के बीज प्रयोग किये जाने लगे।

राष्ट्रीय बीज निगम—भारत मे जुलाई १९६३ मे राष्ट्रीय बीज निगम (The National Seeds Corporation) स्थापित किया गया है जिसका उद्देश्य किसानो मे अच्छे बीजो का प्रचार करना है। निगम ने उत्तर भारत मे रुद्रपुर फार्म (नैनीताल जिला) मे एक आधारभूत इकाई स्थापित की है। उत्तर प्रदेश सरकार द्वारा इस फार्म के लिए ७५० एकड भूमि दी गयी है। दूसरी

इकाई कर्नूल (आन्ध्र प्रदेश) के पास ५०० एकड़ भूमि में स्थापित की गयी है। इन दोनों इकाइयों में सर्वोत्तम किस्म के बीज उत्पन्न किये जा रहे हैं जिन्हें अन्य फार्मों तथा किसानों को दिया जायेगा। अनुमान लगाया गया है कि लगभग ५० प्रतिशत भारतीय फसलें सुधरे हुए बीजों पर आधारित हो गयी हैं परन्तु उनसे अभी बहुत सन्तोषजनक परिणाम उपलब्ध नहीं हुए हैं। अतः बीजों के समुचित प्रयोग की दिशा में अधिक सक्रिय कदम उठाये जाने आवश्यक हैं।

(३) **खाद की व्यवस्था**—पिछले एक अध्याय में रासायनिक खाद की कमियों तथा असुविधाओं की ओर संकेत किया जा चुका है। वह महँगी हैं तथा उनसे उत्पन्न अन्न की किस्म घटिया होती है। सम्भवतः इसी दृष्टि से तृतीय योजनाकाल में हरी खाद और कम्पोस्ट तथा गोबर की खाद का प्रयोग बढ़ाने का निश्चय किया गया।

गोबर तथा मूत्र और गैस आदि का भूमि में प्रयोग उत्पत्ति के लिए सबसे अधिक उपयोगी है किन्तु इनकी कुल उपलब्धि के केवल ९ प्रतिशत भाग का ही खाद के लिए उपयोग होता है, शेष जला दिया जाता है अथवा व्यर्थ जाता है। एक अनुमान के अनुसार भारत में जितना गोबर ईंधन के रूप में जला दिया जाता है उससे सिन्द्री खाद फैक्टरी के उत्पादन की बारह गुना खाद प्राप्त हो सकती है। वस्तुतः गोबर का प्रयोग खाद के लिए करने में सबसे बड़ी बाधा ईंधन का अभाव है जिसे दूर किये बिना किसान को गोबर जलाने से रोकना कठिन है। इस दृष्टि से यह समस्या काफी गम्भीर है। अतः इसके समाधान के लिए सोच-समझकर सक्रिय कदम उठाने की आवश्यकता है।

रासायनिक खाद—इस प्रकार की खाद के अनेक दोष होते हुए भी सबसे बड़ा गुण यह है कि उत्पत्ति बढ़ाने में अत्यधिक सहायता मिल सकती है। इस समय भारत को उत्पत्ति बढ़ाने की तीव्र आवश्यकता है। इस दृष्टि से भारत सरकार ने एक रासायनिक खाद निगम (Fertilizers Corporation of India) स्थापित कर दिया है। फलतः सिन्द्री (बिहार), नांगल (पंजाब), आल्वे (ट्रावनकोर) तथा गोरखपुर की खाद उत्पन्न करने वाली इकाइयाँ निगम के अन्तर्गत आ गयी हैं। १९६९ ७० के अन्त तक इनसे लगभग ७ लाख टन नाइट्रोजन खाद मिलने लगी है।

(४) **विनाश से बचत**—भारत में प्रायः प्रति वर्ष अरब मिस्र आदि देशों की ओर से टिड्डी दल आते रहते हैं। यह जहाँ भी बैठ जाते हैं, अन्न का तो कहना ही क्या, उस क्षेत्र के फूल पत्ते तक साफ कर देते हैं।

भारत सरकार ने एक विशेष विभाग निर्मित किया है जिसका कार्य टिड्डी दलों को समाप्त करना है। इस विभाग के कार्यालय देश के उन भागों में स्थापित कर दिये गये हैं जहाँ टिड्डी दलों का विशेष प्रकोप होने की आशंका रहती है। वर्षा आरम्भ होते ही इस विभाग के कर्मचारी सावधान हो जाते हैं और वायुयानों, जीपों तथा अन्य साधनों से टिड्डियों को मारने की दवा ग्रामों में पहुँचा देते हैं। टिड्डियों के विशेष केन्द्रों में बड़े पैमाने पर कार्यवाही कर टिड्डियाँ उनके अण्डों अथवा बच्चों का विनाश कर दिया जाता है। गत वर्षों में इस विभाग की तत्परता के कारण टिड्डियों के विनाश से बहुत अधिक अन्न की रक्षा की जा सकी है।

टिड्डियों के अतिरिक्त चूहों तथा अन्य जीव-जन्तुओं से भी अन्न की रक्षा करने के लिए जन्तु-नाशक पदार्थ पंचायतों के माध्यम से बाँटे जाते हैं।

खाद्यान्नों को संग्रह करने के लिए अच्छी किस्म के गोदामों का भी निर्माण किया गया है, जिनमें अन्न खराब होने का कोई भय नहीं रहता। यद्यपि इन गोदामों की संग्रह शक्ति अभी केवल ५० लाख टन है तो भी यह प्रवृत्ति उचित एवं उत्साहजनक है।

(५) **खाद्यान्नों की वितरण व्यवस्था**—भारत में खाद्यान्नों का अभाव कभी-कभी मनुष्य-निर्मित होता है अर्थात संग्रह अथवा स्थानान्तरण द्वारा कृत्रिम अभाव उत्पन्न कर दिया जाता है।

इस स्थिति का सामना करने के लिए भारत सरकार ने समय-समय पर खाद्यान्नों की वितरण व्यवस्था को अपने हाथ में लिया है। खाद्यान्नों का गमनागमन तथा पूर्ति नियन्त्रित रखने के लिए समय-समय पर खाद्यान्न क्षेत्र बनाये जाते रहे हैं। इन क्षेत्रों में अनाज स्वतन्त्रतापूर्वक लाया ले जाया जा सकता है किन्तु एक क्षेत्र से दूसरे क्षेत्र में अनाज ले जाने के लिए सरकारी अनुमति आवश्यक है।

(६) **खाद्यान्नों का आयात**—यह एक सामान्य स्वीकृत तथ्य हो गया है कि भारत में खाद्यान्नों का अभाव अभी कुछ वर्ष तक चलता रहेगा क्योंकि उत्पादन वृद्धि की गति यथोचित नहीं हो पायी है। इससे पूर्व खाद्यान्नों के अभाव (अर्थात् आयात) के अंक दिये जा चुके हैं। १९७० में अन्न का आयात लगभग ३६ लाख टन किया गया जो पिछले वर्षों से कम है।

(७) *खाद्यान्नों की आदतें*—सरकार ने खाद्यान्नों की वितरण तथा प्रचार व्यवस्था इस प्रकार की बनाने की चेष्टा की है कि जनता में सभी प्रकार के अन्न उपभोग की आदत पड़ जाय। उदाहरणार्थ, नियन्त्रण तथा राशन के समय प्रायः चावल खाने वाले क्षेत्रों में गेहूँ तथा गेहूँ खाने वाले क्षेत्रों में चावल वितरण करने की व्यवस्था की जाती है।

वितरण व्यवस्था के अतिरिक्त अण्डे, मछली तथा अन्य वस्तुओं का उपभोग करने का भी प्रचार निरन्तर किया गया है। पाश्चात्य सभ्यता के प्रभाव से भी सामिष भोजन का प्रचार अधिक हुआ है। इस दिशा में उल्लेखनीय तथ्य यह है कि माँस, मछली अण्डे आदि का उत्पादन भी बहुत काफी नहीं है। अतः उसे बढ़ाने का प्रयत्न किया जाना आवश्यक है।

(८) *भारतीय खाद्यान्न निगम*—(Food Corporation of India)—अशोक मेहता समिति (Foodgrains Enquiry Committee) ने १९५७ में यह सुझाव दिया था कि भारत सरकार द्वारा १०० करोड़ रुपय की पूँजी से एक खाद्यान्न स्थिरीकरण संगठन (Foodgrains Stabilisation Organisation) स्थापित किया जाना चाहिए। इस संगठन का उद्देश्य खाद्यान्नों के प्रचुर भण्डार रखकर खाद्यान्नों के मूल्य स्थिर रखना था। खाद्यान्नों के बढ़ते हुए मूल्यों पर रोक लगाने के लिए १ जनवरी, १९६५ से भारतीय खाद्यान्न निगम की स्थापना कर दी गयी है।

निगम के कार्य—खाद्यान्न निगम द्वारा क्रमशः निम्नलिखित कार्य सम्पादित किये जा रहे हैं:

(१) **अन्न भण्डार**—निगम द्वारा अन्न के यथेष्ट भण्डार निर्मित करना ताकि उपभोक्ताओं को उचित मूल्य पर अन्न मिल सके और अन्न उत्पादन करने वालों को भी उचित दाम मिल सकें।

(२) **उत्पत्ति को प्रोत्साहन**—निगम किसानों को दिये जाने वाले ऋणों की गारण्टी करता है तथा कृषि उत्पादन में वृद्धि के लिए खाद तथा कीटाणुनाशक पदार्थों का प्रबन्ध करता है।

(३) *शोध*—*निगम द्वारा कृषि फसलों तथा प्रविधियों में शोध की जायेगी जिसकी सहायता* से कृषि फसलों की प्रति एकड़ उत्पत्ति बढ़ायी जा सके और फसलों को कीटाणुओं एवं रोगों से बचाया जा सके।

(४) **कृषि प्रबन्ध**—किसानों की कुशलता में वृद्धि करने के उद्देश्य से निगम द्वारा कृषि प्रबन्ध सम्बन्धी नयी प्राविधियों का विकास कर किसानों को उनमें प्रशिक्षित करने की व्यवस्था है।

(५) **वैज्ञानिक प्रयोग**—निगम इस बात का प्रयत्न कर रहा है कि खेती में नवीनतम वैज्ञानिक रीतियों का प्रयोग हो तथा खेती का यथासम्भव एवं यथावश्यक यन्त्रीकरण हो सके।

(६) **सहायक पदार्थों का विकास**—निगम मुर्गीपालन, फल, साग सब्जी, मछली तथा माँस, आदि सहायक खाद्य पदार्थों की उत्पत्ति का विकास करने की दिशा में कदम उठा रहा है।

(७) **गोदाम व्यवस्था**—निगम द्वारा खाद्यान्नों को सुरक्षित गोदामों में रखने की दिशा में कार्य किया जा रहा है।

(८) **खाद्यान्न उद्योगों को** *प्रोत्साहित करना—निगम द्वारा खाद्यान्नों से सम्बन्धित उद्योगों*

(बिस्कुट, मिठाई आदि) को प्रोत्साहित करने की व्यवस्था है तथा वह उनसे उत्पन्न वस्तुओं के पैकिंग एवं सुरक्षित रखने का कार्य करेगा।

(९) **खाद्यान्नों का सन्तुलित उपयोग**—निगम द्वारा खाद्यान्नों का उपभोग सन्तुलित करने की चेष्टा की जायेगी।

(१०) **परिवहन**—आवश्यकता पड़ने पर निगम अपनी परिवहन व्यवस्था भी करेगा।

(११) **खाद्यान्न संग्रह**—निगम द्वारा देश विदेश से खाद्यान्नों का संग्रह कर भण्डार निर्मित किये जा रहे हैं। इस संग्रह का प्रयोग कमी के समय किया जाता है।

गत वर्षों में खाद्य निगम का कार्यक्षेत्र बढ़ता जा रहा है। खाद्यान्नों की वसूली, संग्रह, बन्दरगाहों पर तथा देश के आन्तरिक भागों में खाद्यान्न सम्बन्धी कार्य मार्च १९६६ से इस निगम के सुपुर्द कर दिये गये हैं। यह निगम महाराष्ट्र राज्य के अतिरिक्त प्रत्येक राज्य में कार्यशील है। निगम ने सन् १९६७ में ४.५ मिलियन टन, १९६८ में ६.८ मिलियन टन तथा सन् १९६९ में ६.१ मिलियन टन खाद्यान्नों की वसूली की। सन् १९६८-६९ में निगम ने ७.९ मिलियन टन अनाज, जिसकी कीमत ६५१ करोड़ रुपये थी, का व्यापार किया। सन् १९६९-७० में निगम ने १० मिलियन टन अनाज, जिसकी कीमत ८६३ करोड़ रुपये थी, का व्यापार किया।

खाद्य-समस्या हल करने के उपाय

भारत की खाद्य समस्या का समाधान करने के लिए समय-समय पर विद्वानों तथा विशेषज्ञों द्वारा अनेक उपाय सुझाये गये हैं, जिनका सारांश नीचे प्रस्तुत किया जा रहा है

(१) **प्रबन्ध व्यवस्था**—खाद्य समस्या के हल के लिए सबसे महत्त्वपूर्ण कार्य यह है कि सरकारी व्यवस्था में जो भ्रष्टाचार, चोरबाजारी तथा लालफीताशाही पैठ गयी है उसे समाप्त किया जाय। इसके लिए जहाँ तक सम्भव हो, नियन्त्रण तथा राशन व्यवस्था लागू नहीं की जानी चाहिए क्योंकि ऐसा न करने से भी ऊपर बताये गये दोषों को प्रोत्साहन मिलता है। सरकार द्वारा मूल्यों की सीमाएँ निर्धारित कर देनी चाहिए और अनाज के यथेष्ट भण्डार रखने चाहिए ताकि उन्हें आवश्यकता के समय कमी दूर करने में प्रयोग किया जा सके।

दण्ड की व्यवस्था—खाद्यान्न वितरण व्यवस्था में बहुत तपे हुए अनुभवी व्यक्ति रखे जाने चाहिए, तथा नियमों की अवहेलना करने वालों को अत्यन्त कड़े दण्ड दिये जाने चाहिए। उदाहरणत, रूस में खाद्य पदार्थों में मिलावट करने के लिए दोषी व्यक्ति को प्राणदण्ड दिया जाता है। इस प्रकार की कड़ाई किये बिना भारत में भी खाद्य समस्या का समाधान होना असम्भव है क्योंकि यहाँ घी, दूध, अनाज, आटा, मसाले, शक्कर आदि पदार्थों में अत्यधिक मिलावट की जाती है, और अपराधियों को सामान्य अर्थदण्ड देकर छुटकारा मिल जाता है।

मिलावट करने वालों के अतिरिक्त अन्न संग्रह करने चोरबाजारी करने तथा उसे बिना आज्ञा इधर-उधर भेजने वालों को अत्यधिक कड़े दण्ड देने की व्यवस्था की जानी चाहिए। इस सम्बन्ध में महत्त्वपूर्ण तथ्य यह है कि कड़े दण्ड की व्यवस्था भी तभी सफल हो सकती है जबकि सरकारी व्यवस्था निष्पक्ष, कुशल एवं विश्वासोत्पादक हो। अतः सम्पूर्ण शासन व्यवस्था में क्रान्तिकारी परिवर्तन किये बिना किसी सुधार योजना का सफल होना सम्भव नहीं है।

(२) **आयात एवं भण्डार व्यवस्था**—सरकार द्वारा अभाव की राशि का अनुमान लगाकर अन्न के आधिक्य वाले देशों से नियमित आयात एवं भण्डार निर्माण की व्यवस्था कर लेनी चाहिए। यह भण्डार अभावग्रस्त क्षेत्रों में ही निर्मित किये जाने चाहिए ताकि संकटकाल में अन्न भेजने में अधिक समय न लगे।

भारत में जो अन्न आयात होता है वह प्रायः बहुत घटिया किस्म का होता है जबकि सरकार (अथवा जनता) उसका पूरा मूल्य चुकाती है। अतः खाद्यान्न आयात के लिए कुछ इस

प्रकार की व्यवस्था की जानी चाहिए कि आयात होने वाले खाद्यान्न अच्छी किस्म के हों। खाद्यान्नों का संग्रह करने के लिए गोदामों, निगमों तथा सहकारी संस्थाओं द्वारा अधिक तीव्र गति से प्रयत्न करना आवश्यक है।

(३) मूल्य स्थिरता—फोर्ड फाउण्डेशन दल का यह मत था कि भारत में फसल के समय तथा उसके बाद अन्न के जो मूल्य रहते हैं उनमें अत्यधिक अन्तर रहता है जो किसी भी प्रकार से न्यायसंगत नहीं है। इसका एक कारण तो यह है कि किसान के पास अन्न संग्रह के यथोचित साधन नहीं हैं, अतः वह फसल तैयार होते ही अधिकांश माल बेचने के लिए बाध्य हो जाता है। इससे किसी समय विशेष में बाजार में अधिक माल आ जाता है जिससे किसान को उसका मूल्य कम मिलता है। फसल के समय व्यापारी लोग बैंकों से ऋण लेकर मालगोदामों में भर लेते हैं और उसे रोककर मूल्य में वृद्धि करते रहते हैं। कभी कभी यह वृद्धि अन्याय की सीमा तक पार कर जाती है।

अशोक मेहता समिति (Foodgrains Enquiry Committee 1957) ने भी कुछ इसी प्रकार का सुझाव दिया है। समिति का मत है कि खाद्यान्नों के अभाव के कारण उनका व्यापार सर्वथा स्वतन्त्र नहीं छोड़ा जा सकता और व्यवस्थात्मक कठिनाइयों के कारण उन पर सम्पूर्ण नियन्त्रण लगाना भी उचित नहीं है, अतः मध्यम मार्ग अपनाना उचित होगा। समिति ने मूल्य-स्थिरता के लिए निम्नलिखित उपाय सुझाये हैं

(i) नियमित क्रय-विक्रय – सरकार द्वारा चावल तथा गेहूँ का नियमित क्रय विक्रय किया जाना चाहिए।

(ii) थोक व्यापार – सरकार द्वारा अन्न के थोक व्यापार को आंशिक रूप से स्वयं अपनाना चाहिए।

(iii) लाइसेंस—अन्न का व्यापार लाइसेंस प्राप्त व्यापारियों के हाथ में होना चाहिए तथा सरकार द्वारा उनके स्टॉक आदि पर पूरा नियन्त्रण रखा जाना चाहिए।

(iv) आयात—सरकार द्वारा गेहूँ तथा चावल के भण्डार निर्मित किये जाने चाहिए तथा इस कार्य के लिए इन खाद्यान्नों के आयात की नियमित व्यवस्था की जानी चाहिए।

(v) प्रचार—सरकार द्वारा प्रचार आदि की सहायता से जनता द्वारा मोटे अनाजों का प्रयोग प्रोत्साहित किया जाना चाहिए।

(vi) विशेष परिस्थितियाँ—समिति ने यह सुझाव दिया है कि अकाल अथवा युद्ध जैसी विशेष परिस्थितियों में मूल्य तथा माँग नियन्त्रण सम्बन्धी विशेष कदम उठाये जा सकते हैं।

(vii) मूल्य स्थिरीकरण मण्डल—समिति ने मूल्यों को स्थिर रखने तथा तत्सम्बन्धी नीति निर्धारित करने के लिए एक *मूल्य स्थिरीकरण मण्डल (Price Stabilisation Board)* बनाने का सुझाव दिया है। यह मण्डल समय-समय पर खाद्यान्नों सम्बन्धी मूल्य नीति निश्चित करेगा तथा उस नीति के परिपालन की व्यवस्था करेगा।

(viii) खाद्यान्न स्थिरता संगठन—समिति ने स्थिरीकरण मण्डल के अतिरिक्त एक खाद्यान्न स्थिरता संगठन (Foodgrains Stabilisation Organisation) गठित करने का सुझाव दिया, जिसका कार्य मूल्य स्थिरीकरण मण्डल की नीति को कार्यान्वित करना होना चाहिए। यह संगठन देश भर में खाद्यान्नों की पूर्ति की व्यवस्था के लिए उत्तरदायी होना चाहिए। इस कार्य के लिए संगठन द्वारा अपने प्रादेशिक कार्यालय, मालगोदाम तथा एजेन्सियाँ स्थापित की जा सकती हैं।

(ix) समंक एवं शोध विभाग—समिति ने खाद्य मन्त्रालय में एक समंक एवं शोध विभाग स्थापित करने का सुझाव दिया जो खाद्यान्नों के उत्पादन, वितरण, भण्डार, खपत तथा मूल्यों

आदि के सम्बन्ध में आवश्यक तथ्य एकत्रित करता रहे और शेष दोनों संगठनों को अपने शोध कार्य के आधार पर अन्न सम्बन्धी नीति निर्धारित करने में सहायक हो।

(४) **उत्पत्ति बढ़ाने की सुविधाएँ एवं प्रयत्न**—देश की खाद्य समस्या दीर्घकालीन एवं स्थायी प्रकार की है, स्थायी साधनों के साथ-साथ स्थायी कदम भी उठाना आवश्यक है। इनमें सबसे महत्वपूर्ण कदम उत्पादन बढ़ाने के प्रयत्न करना है। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए निम्नलिखित कार्य सहायक हो सकते हैं

(i) **भूमि का स्वामित्व**—देश के अनेक किसानों के पास भूमि नहीं है, अनेक व्यक्ति केवल श्रमिक के रूप में खेती करते हैं। इस प्रकार के व्यक्तियों को यथाशीघ्र भूमि दिलवाने की व्यवस्था करना आवश्यक है। भूदान अथवा ग्रामदान में प्राप्त की गयी भूमि या वन तथा दलदलों को साफ कर प्राप्त की गयी भूमि को तत्काल भूमिहीनों में बाँटने की व्यवस्था की जानी चाहिए।

(ii) **ऋण, बीज आदि**—सरकार अथवा सहकारी समितियों द्वारा कृषि विकास के लिए सस्ते एवं सरल ऋण सुलभ कराने का प्रबन्ध करना चाहिए। सेवा सहकारी समितियों द्वारा हल, बैल, खाद बीज तथा अन्य आवश्यक सुविधाओं की व्यवस्था ग्रामों में ही कर देनी चाहिए ताकि किसानों को इनके लिए इधर-उधर भटकने की आवश्यकता न हो।

(iii) **पंचायतों द्वारा लक्ष्य निर्धारण**—ग्राम तथा जिला पंचायतों द्वारा अपने अपने क्षेत्रों में खाद्यान्नों के उत्पादन के लक्ष्य निश्चित करने चाहिए और इनकी पूर्ति के लिए कृत-संकल्प होकर निश्चित प्रयत्न किये जाने चाहिए। इन संस्थाओं द्वारा अपने क्षेत्र के खाद्यान्न उत्पादन सम्बन्धी आँकड़े भी रखने चाहिए ताकि उनके आधार पर आयोजन करने में सुविधा हो।

(५) **शोध कार्य**—भारत में अधिकांश शोध-कार्य केवल डिग्री प्राप्त करने की दृष्टि से होते हैं और सरकार अथवा विश्वविद्यालय इन कार्यों में विशेष रुचि नहीं दिखाते। यह एक गम्भीर स्थिति है क्योंकि देश का असीमित धन एवं शक्ति के व्यय का फल केवल कागज के पन्नों में लिखा रह जाता है। अन्य देशों में सरकार तथा व्यावसायिक संस्थाएँ विशेष समस्याओं पर शोध-कार्य के लिए वैज्ञानिकों अथवा समाजशास्त्रियों को आमन्त्रित करती हैं, उनके कार्य सम्बन्धी पूरे खर्च की व्यवस्था करती हैं तथा उन्हें सम्पूर्ण सुविधा प्रदान करती हैं। फलतः समस्या का जो कुछ भी हल निकलता है, उसका प्रयोग देश के आर्थिक विकास में किया जाता है।

इस दृष्टि से केन्द्र तथा राज्य सरकारों को खाद्यान्नों के विभिन्न पक्षों पर विश्वविद्यालयों में काम करने वाले वैज्ञानिकों तथा अन्य विशेषज्ञों से शोध करवानी चाहिए। इस शोध के परिणामों की पुष्टि सरकार की प्रयोगशालाओं में की जा सकती है। इस प्रकार की शोध के लिए विश्वविद्यालयों में कृषि-अर्थ केन्द्र (Agro-economic centres) भी स्थापित किये जा सकते हैं, जो सम्बन्धित विषय पर अन्य देशों में होने वाली शोध का भी लाभ उठा सकते हैं।

(६) **सहायक उद्योग तथा रोजगार**—भारत के किसान की अशिक्षा, अज्ञानता, रूढ़िवादिता तथा निर्धनता भारतीय कृषि की सबसे गम्भीर समस्या है। अतः किसान को सबल, सशक्त एवं मानसिक तथा आर्थिक दृष्टि से धनी बनाये बिना भारत की कृषि सबल नहीं हो सकेगी। वस्तुतः यह एक विषम चक्र है। अतः प्रारम्भ में किसान को खाली समय कुछ उद्योग अथवा व्यवसाय के लिए प्रेरणा तथा सहायता दी जानी चाहिए। इस अतिरिक्त आय से वह कृषि का विकास करने का प्रयत्न कर सकेगा। सरकार को केवल किसान की कृषि सम्बन्धी आवश्यकताओं को पूरा करने की दिशा में सजग रहना पड़ेगा, शेष समस्या स्वयं हल हो जायगी।

भारत सरकार की खाद्य नीति
(FOOD POLICY OF THE GOVERNMENT OF INDIA)

खाद्य समस्या के समाधान के लिए उचित खाद्य नीति की आवश्यकता है। सरकार की

खाद्य नीति में समय समय पर परिवर्तन होते रहे हैं। सरकार की खाद्य नीति के सम्बन्ध में समय-समय पर विभिन्न समितियों ने अलग-अलग सुझाव दिये। ये सुझाव पूर्ण अनियन्त्रण से लेकर पूर्ण नियन्त्रण तक रहे हैं परन्तु सरकार ने खाद्य नीति के निर्माण में सदैव मध्य मार्ग अपनाया है। सरकार की वर्तमान खाद्य नीति वस्तुतः खाद्यान्न नीति समिति, १९६६ (Foodgrains Policy Committee, 1966) के सुझावों पर आधारित है। इस समिति ने उचित खाद्य नीति के तीन अंग बतलाये हैं (१) उत्पादन में आत्मनिर्भरता प्राप्त करना, (२) उपलब्ध खाद्यान्नों का न्यायोचित वितरण, तथा (३) खाद्यान्नों के मूल्यों में उत्पादन तथा वितरण दोनों के सदर्भ में कीमतों में स्थिरता लाना। इन उद्देश्यों की पूर्ति के लिए समिति ने निम्नलिखित सुझाव दिये थे

(१) खाद्यान्नों की पूर्ति की नियोजित प्रबन्ध व्यवस्था,
(२) खाद्यान्नों की वसूली (Procurement),
(३) सार्वजनिक वितरण व्यवस्था, तथा
(४) खाद्यान्नों के समीकरण कोष (Buffer stock) की व्यवस्था करना।

वर्तमान समय में सरकार की नीति इन तत्वों पर ही आधारित है। सरकार खाद्यान्नों के आयात को सन् १९७१-७२ से समाप्त करने के लिए प्रयत्नशील है। साथ ही साथ, सरकार उत्पादकों तथा उपभोक्ताओं के साथ खाद्यान्नों के सम्बन्ध में न्यायपूर्ण व्यवहार करने की नीति अपना रही है। सरकार उत्पादकों को उचित प्रोत्साहन देने का प्रयत्न करती है। प्रति वर्ष कृषि मूल्य आयोग के सुझावों के अनुसार विभिन्न कृषि वस्तुओं की वसूली कीमत तथा सहायता कीमत (Support price) निश्चित करती है। गत वर्षों में वसूली कीमतें प्रति वर्ष बढ़ती रही हैं।

खाद्यान्नों के सार्वजनिक वितरण का उद्देश्य कीमतों में वृद्धि को रोकना तथा उपलब्ध खाद्यान्नों का उचित वितरण करना है।

सार्वजनिक वितरण व्यवस्था के लिए खाद्यान्नों का समीकरण स्टॉक, आन्तरिक वसूली तथा आयात द्वारा रखा जाता है। खाद्यान्नों की वसूली खाद्य निगम द्वारा की जाती है। सन १९६७ में ४.५ मिलियन टन खाद्यान्नों की वसूली की गयी। खाद्य निगम का कार्यक्षेत्र प्रति वर्ष बढ़ता जा रहा है।

सरकार खाद्य निगम के माध्यम से समीकरण स्टॉक रखती है। सन् १९६७ में खाद्यान्नों के सरकारी स्टॉक की मात्रा ३.८ मिलियन टन तथा सन् १९६९ में ४.२ मिलियन टन थी। सन् १९७०-७१ के अन्त में सरकारी स्टॉक की मात्रा का अनुमान ४.९ मिलियन टन लगाया गया है।

मई १९७० में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस अधिवेशन ने खाद्य नीति के सम्बन्ध में निम्न-लिखित सुझाव दिये हैं:

(१) दाल, तिलहन, दूध तथा पशुओं से प्राप्त अन्य खाद्य वस्तुओं के उत्पादन में वृद्धि करना जिससे जनता को पौष्टिक भोजन प्राप्त हो सके।

(२) फलों तथा सब्जियों के उत्पादन में वृद्धि करना जिससे प्रति व्यक्ति भोजन की कलरीज में वृद्धि की जा सके।

(३) देश के विभिन्न क्षेत्रों के लिए विभिन्न मौसमों के लिए कम कीमत पर भोजन उप-लब्ध कराना। ऐसा करते समय सन्तुलित आहार तथा बाजार मूल्य को ध्यान में रखा जाना चाहिए।

(४) जनता द्वारा खाद्य पदार्थों को सही ढंग से रखने की शिक्षा की व्यवस्था की जानी चाहिए।

(५) सन् १९७१ के अन्त तक पी० एल० ४८० के अन्तर्गत किये जाने वाले खाद्यान्नों का

आयात बन्द किया जाना चाहिए तथा समीकरण स्टॉक के द्वारा खाद्यान्नों की कीमतो मे स्थिरता लाई जानी चाहिए ।

उपसहार—भारत मे खाद्य की मूल समस्या परिमाण अथवा मात्रा की है। इस समस्या के समाधान के लिए युद्ध स्तर पर प्रयत्न करने की आवश्यकता है। इसके लिए कृषि सम्बन्धी समस्त समस्याओं का समाधान आवश्यक है। खाद्यान्नो के उत्पादन मे वृद्धि के लिए सर्वांगीण तथा सतत प्रयत्नो की आवश्यकता है तभी देश आत्मनिर्भर हो सकेगा। मानसून तथा मौसम की अनिश्चितता की आड मे प्रश्रय लेने की नीति घातक सिद्ध होगी। इस सम्बन्ध मे हमारे राष्ट्रपति श्री वी० वी० गिरि के शब्द सर्वथा उपयुक्त हैं—"We are not free from the vagaries of monsoons and imponderables in the agricultural situation We have to tackle the formidable problem of agricultural organisation in all its aspects if we are to ensure continuing self-sufficiency"

प्रश्न

१ भारत मे हाल की खाद्य कमी पर प्रकाश डालिए। सरकार द्वारा अपनायी गयी विभिन्न कार्यवाइयो की आलोचनात्मक जाँच कीजिए। **(राजस्थान, बी० कॉम, १९६७)**

२ भारत सरकार की वर्तमान खाद्य नीति पर प्रकाश डालिए।

13 भारत मे अकाल

(FAMINES IN INDIA)

It is a huge tragedy that in a country like ours with its abundance of food stuffs, an extensive system of railways and vast resources of Government both Central and Provincial there should be deaths due to starvation.

—*Madan Mohan Malaviya*

जिस समय किसी स्थान अथवा भू-भाग में निश्चित दर पर पर्याप्त मात्रा में खाद्यान्न उपलब्धता में कठिनाई होती है तब ऐसी स्थिति को अकाल अथवा दुर्भिक्ष कहा जाता है। प्राचीन समय में अकाल पड़ने का प्रमुख कारण वर्षा का न होना था और अकाल का भय भी सदैव बना रहता था। इस स्थिति में अकालग्रस्त क्षेत्रों को अन्य अतिरिक्त उत्पादन क्षेत्रों का अन्न भेजना कठिन था और किस प्रकार जनता [illegible] के लिए [illegible] जाता था। यदि अकाल की अवधि लम्बी होती तो लाखों जनों एवं पशुओं की मृत्यु हो जाती थी। इस समय के अकालों का विश्लेषण करने से ज्ञात होता था कि मनुष्यों के लिए अन्न तथा पशुओं के लिए चारा सर्वथा दुर्लभ हो जाता था।

वर्तमान युग के अकालों का रूप सर्वथा परिवर्तित हो गया है क्योंकि अन्न की कमी न केवल देश के दूसरे भागों से पूरी करके की जा सकती है बल्कि दूसरे देशों से आयात द्वारा भी की जा सकती है। यातायात के साधनों का समुचित विकास होने के कारण मनुष्यों तथा पशुओं को अकालग्रस्त क्षेत्रों से अन्य स्थानों में भेजना भी सरल है। अब वर्तमान युग के अकाल अन्नाभाव से नहीं बल्कि मूल्यों की अत्यधिक वृद्धि होने के कारण पड़ते हैं। १९४३ का बंगाल का अकाल इस कथन की पुष्टि करता है।

अकाल—एक ऐतिहासिक तथ्य—एक अनुमान के अनुसार भारत को गत २०० वर्षों में ४८ बड़े दुर्भिक्षों का सामना करना पड़ा है। इनमें से २२ अकाल भारत में पड़े हैं जिनके प्रभाव से लगभग २४ करोड़ भारतवासियों को कष्ट-ग्रसित होना पड़ा है। इस प्रकार भारत में अकाल एक ऐतिहासिक सत्य है। इसका तात्पर्य यह है कि अकाल पुरातनकाल से पड़ते आये हैं। स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् भारत में दुर्भिक्ष निवारण करने की अनेक योजनाओं को प्रारम्भ किया गया है जिनमें सरकार द्वारा सिंचाई साधनों तथा सड़कों का निर्माण तथा दूसरे भागों से अन्न आयात कर जनता को निःशुल्क वितरण की व्यवस्था करना था। अकाल निवारण के उपायों को देखकर अनुमान लगाया जा सकता है कि [illegible] भारत में अकाल की स्थिति उत्पन्न होना [illegible] होगा।

ऐतिहासिक दृष्टि से सन् ६५० के अकाल का विशद विवरण मिलता है जिसका प्रभाव देशव्यापी था। दसवीं शताब्दी में काश्मीर के एक अकाल का भी वर्णन आता है जब झेलम नदी भूख से मरने वालों की लाशों से पट गयी थी। इसके पश्चात् सन् ९४१, १०२२ तथा १०३३ ई० में भी भयंकर अकाल पड़ने का जिक्र आता है, जब मनुष्य नर मांस भक्षण कर अपनी क्षुधा तृप्ति के लिए उतारू हो गये। तत्पश्चात मुहम्मद तुगलक के समय १३४४ ई० में भी भीषण अकाल की *स्थिति उत्पन्न हो गयी जबकि तुगलक ने अपनी राजधानी ही दिल्ली से देवगिर (दक्षिण) में* परिवर्तित कर दी।

सन् १६३० में गुजरात में भयानक अकाल पड़ा जिसका वर्णन करते हुए एक डच व्यापारी *ट्विस्ट ने लिखा है कि गलियों तथा मोहल्लों में मनुष्यों की लाशें सड़ने लगी थी और उनको जलाने* वाला कोई नहीं था। यहाँ तक कि बहुत-से व्यक्ति नर मांस खाने तथा उसका व्यापार करने के लिए बाध्य हो गये थे।

मुगलों द्वारा व्यवस्था—मुगल शासन में भी भारत के अनेक भागों में अनेक बार अकाल पड़े, परन्तु मुगल शासकों ने अभावग्रस्त व्यक्तियों को विस्तृत सहायता प्रदान करने की चेष्टा की और अकाल पीड़ित व्यक्तियों को भूख की विभीषिका से बचाने में व्यक्तिगत रुचि प्रदर्शित की। उदाहरणत, जब बम्बई क्षेत्र में १६२९-३० में निरन्तर वर्षा नहीं हुई और लोग भूख के कारण मरने लगे तो शाहजहाँ (जो उस समय बुरहानपुर में था) ने बुरहानपुर, सूरत तथा अहमदनगर में खाद्यान्न तथा धन बाँटने की व्यवस्था की। इन दो वर्षों में अकालग्रस्त क्षेत्रों में करों की वसूली सर्वथा बन्द कर दी गयी।

गडल्स्टोन ने उत्तरी-पश्चिमी सीमाप्रान्त (जो अब पाकिस्तान अधिकृत है) में १६६१ ई० के अकाल का वर्णन करते हुए लिखा है कि औरंगजेब ने अकालग्रस्त जनता की सहायता का प्रबन्ध स्वयं सँभाल लिया। उसने पंजाब तथा बंगाल से खाद्यान्न मँगवाकर बड़े पैमाने पर वितरण करने की व्यवस्था की। उसने न केवल जनता को सस्ती दरों पर अथवा नि शुल्क अन्न दिया बल्कि किसानों तथा अन्य वर्गों के सभी कर माफ कर दिये। कहा जाता है कि औरंगजेब के व्यक्तिगत प्रयत्नों द्वारा लाखों व्यक्तियों को भूख द्वारा मरने से बचा लिया गया।[1]

राजाओं, महाराजाओं तथा नवाबों की यह निश्चित नीति थी कि ज्यों ही उनके शासन क्षेत्र में अकाल की छाया प्रकट होती, वह सम्पूर्ण शासनतन्त्र अकालग्रस्त लोगों की सहायता के लिए लगा देते थे। इस प्रकार के अनेक विवरण उपलब्ध हैं जबकि इन शासकों ने दुर्भिक्षकाल में सड़कें, नहरें तथा बाँध बनाने के कार्य दिन-रात चालू रखे ताकि समाज के मध्यमवर्गीय व्यक्ति (जो अप्रतिष्ठा के भय से दिन में काम करने में संकोच करते हों) रात्रि को कार्य कर क्षुधातृप्ति लायक राशि कमा सकें। इस सम्बन्ध में कर्नल ब्रुक ने महाराजा उदयपुर (जिन्होंने सन् १७६१ में अकाल पीड़ितों को काम देने के लिए लगभग १५ करोड़ रुपये के व्यय से कांकरोली में एक सरोवर का बाँध बनवाया), महाराजा बीकानेर, कोटा तथा अलवर के वृत्तान्त लिखे हैं जिनसे अकाल के समय शासकों की जनहितकारी प्रवृत्तियाँ प्रकट होती हैं।[2]

ब्रिटिश काल—अंग्रेजों ने भारत में भेद नीति द्वारा शासन स्थापित किया था और वह ऐसे कार्यों में ही रुचि रखते थे जिनसे उनकी शासन सत्ता सबल एवं दृढ़ बनी रहे। अत ईस्ट इण्डिया कम्पनी अथवा ब्रिटिश सरकार ने दुर्भिक्ष पीड़ित जनता की सहायता के लिए कभी भी विशेष प्रयत्न नहीं किये और ब्रिटिश शासनकाल में दुर्भिक्षों का प्रकोप यथावत् बना रहा और

---

1 Ghosh, K C, *Famines in Bengal*, 1770-1943, pp 1-2
2 *Ibid*

सहायता कार्यों में ढील आ गयी जिससे फलस्वरूप अकालों की भीषणता एवं तज्जनित मृत्यु संख्या में निरन्तर वृद्धि होती गयी। वारेन हैस्टिंग्ज तथा कार्नवालिस के शासनकाल में तो अकाल के समय पर भी लगान तथा करों की वसूली बन्द नहीं की गयी, बल्कि कहीं-कहीं तो लगान बढ़ाये गये और करों की वसूली अधिक कठोरता से की गयी जिससे फलस्वरूप दुर्भिक्षों का आकार एवं रूप अधिक भीषण एवं लोमहर्षक हो गया।

सन् १७६६-१७७०—ईस्ट इण्डिया कम्पनी के शासन में पहले भीषण अकाल का विवरण हण्टर महोदय के आलेखन में मिलता है। उनके कथनानुसार खाद्यान्नों के मूल्यों में कल्पनातीत वृद्धि हो गयी थी किन्तु कम्पनी ने कहीं भी लगान या करों में कमी नहीं की।[1] इस अकाल में बंगाल की लगभग एक-तिहाई जनसंख्या अर्थात् लगभग एक करोड़ व्यक्ति क्षुधा-पीड़ित होकर काल कवलित हो गये। हण्टर ने आगे जाकर लिखा है कि, यद्यपि अकाल के भीषण प्रकोप के कारण जनसंख्या में बहुत कमी आ गयी थी किन्तु बंगाल तथा बिहार प्रान्तों में लगान में कुछ वृद्धि कर दी गयी और लगान तथा विभागीय करों में किंचित मात्र भी कमी नहीं आयी।[2] रमेश दत्त के अनुसार, "इस प्रकार का व्यवहार मानवीय इतिहास में अन्यत्र उपलब्ध नहीं है।"

सन् १७८३-१७८४—उपर्युक्त अकाल की विभीषिका के भूलने के पूर्व ही १७८३ में मद्रास और कर्नाटक तथा १७८४ में बक्सर से बनारस तथा अवध के क्षेत्रों में भीषण दुर्भिक्ष पड़े। इन दुर्भिक्षों के मुख्यतः दो कारण थे—प्रथम, कम्पनी की सेनाओं द्वारा दक्षिण की भूमि पर निर्दयता-पूर्ण बरबादी जिसके कारण किसान अपने घरबार तथा भू-खण्ड छोड़कर जंगलों में भाग गये; और भ्रष्ट एवं क्रूर शासन जिसके फलस्वरूप अन्न की वितरण व्यवस्था दोषपूर्ण थी। कहा जाता है कि कम्पनी का शासन आने के ६ वर्ष के भीतर ही बनारस, अवध तथा बक्सर के क्षेत्रों में (जहाँ प्रायः सुख, समृद्धि एवं सम्पन्नता थी) अकाल की छाया मँडराने लगी थी। होल्ट के शब्दों में, अवध के गाँव तथा नगर वीरान हो गये और भ्रष्ट शासन तथा युद्ध की विभीषिकाओं से अकाल का प्रकोप शुरू होने से सम्पूर्ण उत्तरी-पूर्वी भारत संकट ग्रस्त क्षेत्र में परिवर्तित हो गया।

सन् १८३४ से १८६७ तक—सन् १८०३ में उत्तर भारत में मराठों के आक्रमण से बहुत आतंक फैल गया। इधर ईस्ट इण्डिया कम्पनी के कर्मचारियों ने भूमि का लगान वसूल करने में बहुत सख्ती से काम लिया जिससे किसानों की आर्थिक स्थिति बहुत बिगड़ गयी। फलतः १८०४ में पुनः अकाल पड़ा, जिसने प्रायः सारे देश को आच्छादित कर लिया। इस अकाल की भीषणता ने सरकार को भूमि पर लगान आदि की छूट देने के लिए बाध्य कर दिया। इतना ही नहीं, भूमि के मालिकों को ऋण देने की भी व्यवस्था की गयी और बनारस, इलाहाबाद, कानपुर तथा फतेहगढ़ में जो अन्न बाहर से आया उसे कम मूल्य पर बेचने के लिए सहायता प्रदान की गयी। सन् १८०७ में चार वर्ष के लिए लगान निर्धारित करने के लिए एक आयोग की नियुक्ति की गयी।

रमेश दत्त के आलेख के अनुसार, जब युद्ध और अभाव का सहयोग हो जाता है और अन्न के आयात में अड़चन आ जाती है तो अकाल की भीषणता बढ़ जाती है। सम्भवतः इसी कारण १८०३-१८०४ में उत्तर भारत, १८१३ में बम्बई तथा १८०७, १८२३ और १८३३ में तमिलनाडु में दुर्भिक्ष की स्थितियाँ उत्पन्न हुईं। किन्तु इन सब वर्षों में अधिक भीषण दुर्भिक्ष महारानी विक्टोरिया के सिंहासनारूढ़ होते ही अर्थात् १८३७ ई० में पड़ा। इस वर्ष भूमि पर लगान अभी निर्धारित नहीं हो पाया था, कृषक ऋणग्रस्त हो गये थे और देश के विस्तृत क्षेत्र में सूखा पड़ गया था, फलतः सर्वत्र अकाल की स्थिति उत्पन्न हो गयी। लॉर्ड लॉरेंस के कथनानुसार, "हॉलैण्ड तथा फ्रांस जैसी

---

1 *Annals of Rural Bengal* (1868), p. 21.
2 *Ibid.*

बरबादी पहले कभी देखने में नहीं आयी। मृत्यु संख्या इतनी अधिक थी कि गलियों तथा नदी में से लाशें हटाने के लिए कानपुर, फतेहपुर तथा आगरा में विशेष सैनिक टुकड़ियाँ नियुक्त की गयीं। लाखों व्यक्ति मृत अवस्था में सड़कों पर अपजने पड़े देखे गये और अन्तत जंगली पशुओं द्वारा खा डाले गये।"[1] रमेश दत्त के शब्दों में, यह ब्रिटिश सत्ता के लिए एक चेतावनी थी कि उन्हें भारत में अपना शासन प्रबन्ध अधिक व्यवस्थित करने के लिए भागीरथ प्रयत्न करने आवश्यक हैं।

ईस्ट इण्डिया कम्पनी का शासन १८५७ में समाप्त हो गया और सम्पूर्ण सत्ता सीधे ब्रिटिश सरकार ने सँभाल ली। ब्रिटिश सरकार यह समझ चुकी थी कि भारत में ब्रिटिश शासन के विरुद्ध अत्यधिक असन्तोष है अत उसने अपनी नीति द्वारा भारतीयों को सन्तुष्ट करने की चेष्टा की ताकि १८५७ जैसी राजनीतिक क्रान्ति पुन उत्पन्न होने की आशंका न रहे।

सन् १८६० का अकाल—सन् १८३७ के अकाल के पश्चात् १८६० का अकाल उत्तर भारत के लिए भीषणतम विपत्ति थी क्योंकि इससे २५,००० वर्गमील के क्षेत्रफल में रहने वाले लगभग १ ३० करोड़ व्यक्ति प्रभावित हुए। दिल्ली, आगरा, इलाहाबाद तथा अन्य नगरों पर दुर्भिक्ष का प्रभाव अधिक व्यापक था। सरकार ने तत्काल काम कर सकने योग्य पुरुषों तथा स्त्रियों के लिए काम देने की व्यवस्था की तथा धार्मिक संस्थाओं व व्यक्तियों द्वारा अपंग एवं असहाय व्यक्तियों को सहायता प्रदान की गयी। फलत इस दुर्भिक्ष में १८३७ के अकाल से कम व्यक्तियों की मृत्यु हुई।

इस अकाल के कारणों की जाँच के लिए सरकार ने कर्नल बेर्डस्मिथ को नियुक्त किया जिन्होंने तीन रिपोर्टें प्रस्तुत कीं। स्मिथ महोदय का मत था कि यह अकाल अन्न के अभाव के कारण नहीं बल्कि अन्न की उपलब्धि में कठिनाई के कारण पड़ा। दूसरा कारण यह बताया गया कि भूमि के लगान की व्यवस्था दोषपूर्ण होने के कारण ग्रामीण जनता की आर्थिक स्थिति बहुत क्षीण थी अत वह थोड़े समय के लिए भी अन्न संग्रह कर नहीं रख सकते थे। इस अकाल के निवारण के लिए जो प्रयत्न किए गये वह अधिक व्यापक होने के कारण अधिक व्यक्तियों को काल का ग्रास होने से बचाया जा सका था। भारत में ब्रिटिश नीति का यह नया मोड़ कहा जा सकता है।

सन् १८६६–१८८०—सन् १८६६ से १८८० तक भारत के विभिन्न भागों में चार उल्लेखनीय अकाल पड़े। १८६६ में उड़ीसा में दुर्भिक्ष की स्थिति उत्पन्न हो गयी और १८६६ में उत्तर भारत में खाद्यान्नों का अभाव उत्पन्न हो गया। उड़ीसा के अकाल में सहायता के कार्यों का यथोचित प्रबन्ध नहीं हो सका जिसके फलस्वरूप वहाँ बहुत से व्यक्तियों को मृत्यु का ग्रास बनना पड़ा। १८७४ में बंगाल में दुर्भिक्ष पड़ा परन्तु स्थायी लगान-व्यवस्था के कारण बंगाल के किसानों की अधिक स्थिति अच्छी थी। रमेश दत्त के मतानुसार, इस अकाल के समय सरकार ने पहली बार ऐसे उत्साह से सहायता कार्य किये कि उसमें पूर्ण सफलता मिल सके। फलत बंगाल को मृत्यु की विभीषिका से बचा लिया गया।

सन् १८७७ में तमिलनाडु को एक भीषण अकाल का सामना करना पड़ा। आश्चर्य की बात यह है कि इस वर्ष ही भारत से सर्वाधिक अन्न विदेशों को निर्यात किया गया।[2] इस नीतिहीनता को चरम सीमा कहा जा सकता है। वस्तुत इस वर्ष तमिलनाडु प्रान्त से भी अन्न का निर्यात किया गया था। इस अकाल का प्रभाव मैसूर में भी अत्यन्त व्यापक था। १८७८ में उत्तर भारत में पुन दुर्भिक्ष की स्थिति का अनुभव किया गया।

सन् १८६७–१६०० के अकाल—ब्रिटिश शासन में अब तक मध्य प्रदेश प्राय अकाल की विभीषिका से अछूता रहा था किन्तु १८६७ और १६०० में समूचा मध्य प्रदेश दुर्भिक्ष की ज्वाला

---

1 Ramesh Dutt *Economic History of British India*, Vol I, pp 430-31.
2 Ramesh Dutt, *India in the Victorian Age*, p 349

में धू धू कर जल उठा। प्राय सम्पूर्ण कृषि भूमि साफ हो गयी और हजारों व्यक्ति नष्ट हो गये। फलतः सागर, दमोह, जबलपुर, सिवनी, नरसिंहपुर, होशंगाबाद, निमाड, बैतूल, वर्धा, भण्डारा, बालाघाट तथा रायपुर में नयी भूमि-कर नीति का विरोध किया गया। इन विरोधों का प्रभाव यह हुआ कि सरकार को लगान बढ़ाने की नीति स्थगित कर देनी पड़ी। १८६७-६८ में प्राय सारे देश में अकाल की स्थिति थी किन्तु किसानों को कर चुकाने के लिए अन्न बेचने के लिए बाध्य होना पड़ा। इस अन्न का बहुत सा भाग इंगलैण्ड को निर्यात किया गया। रमेश दत्त का यह निश्चित मत है कि भारत के अधिकांश अकाल ब्रिटिश सरकार की अनुचित भू-कर नीति के कारण पड़े, क्योंकि कम उत्पादन होने पर भी कृषकों को भूमि-कर देने के लिए बाध्य किया जाता था, जिसके फलस्वरूप उन्हें इस थोड़े से अन्न से भी हाथ धोना पड़ता था। अतः देश में अकाल अन्नाभाव के कारण नहीं बल्कि लोगों की आर्थिक निर्धनता के कारण पड़े।

बंगाल का अकाल, १९४३—बीसवीं शताब्दी में यद्यपि अनेक बार अभाव एवं अकाल की स्थिति उत्पन्न हुई है किन्तु शासन प्रबन्ध की अच्छी व्यवस्था, यातायात के साधनों में सुधार तथा जनता के कल्याणार्थ आयोजन के कारण उन्हें कभी भी बहुत गम्भीर रूप धारण करने का अवसर नहीं दिया गया। वास्तव में 'भीषण अकाल' एक ऐतिहासिक घटनामात्र रह गयी थी परन्तु बंगाल के अकाल ने भारतीय जनता को पुनः चेतावनी दी। अकाल का दानव केवल लम्बी नींद सोता था, नष्ट नहीं हुआ था।

बंगाल के दुर्भिक्ष की भयानकता का अनुमान इस बात से लगाया जा सकता है कि उसके कारण लगभग २५-३० लाख व्यक्ति क्षुधा पीड़ा से नष्ट हो गये। वास्तव में, यह अकाल बंगाल के देशभक्त निवासियों को ब्रिटिश सरकार का विरोध करने का दण्ड था, जिसमें भारतीय अधिकारियों तथा अन्न के व्यापारियों का पूरा हाथ था।

कारण—बंगाल के अकाल का मुख्य कारण चावल का अभाव था जिसके फलस्वरूप चावल के मूल्य जून १९४३ में ३७ रुपये मन तक पहुँच गये थे। यह मूल्य वृद्धि इस सीमा तक बढ़ी कि अक्टूबर में चावल १०० रुपये मन से भी ऊँचे भाव पर बिकने लगा। इस वृद्धि के लिए दो तत्व मुख्यतः उत्तरदायी थे। प्रथम दायित्व उन व्यापारियों पर पड़ता है जिन्होंने धन के लोभ में चावल तथा अन्य खाद्यान्नों को छिपा लिया और मनमाने दाम वसूल किये। इस गम्भीर स्थिति का दूसरा दायित्व सरकारी अव्यवस्था थी जो न चोरबाजार करने वाले मुनाफाखोरों को दण्डित कर सकी और न ही यथेष्ट मात्रा में चावल की पूर्ति उपलब्ध कर उनके भाव नीचे ला सकी। वास्तव में, बंगाल सरकार का सम्पूर्ण व्यवस्थातन्त्र घोर भ्रष्टाचार एवं धन-लोलुपता का शिकार हो गया था।

इतना नहीं, बंगाल के पीड़ित निवासियों के लिए पंजाब से जो गेहूँ खरीदा गया उसमें भी केन्द्रीय सरकार ने लगभग १ करोड़ रुपये तथा बंगाल सरकार ने लगभग ४० लाख रुपये का लाभ कमाया।[1] इससे घृणित एवं पतित सरकार की कल्पना करना मानवता की हँसी उड़ाना नहीं तो क्या है!

बंगाल के अकाल में जो दृश्य कलकत्ता और ढाका की सड़कों पर देखे गये वह केन्द्र एवं बंगाल की सरकारों तथा वहाँ के अन्न व्यापारियों के माथे पर चिरकाल तक कलंक का टीका बने रहेंगे। न केवल माताओं और बहनों को रोटी के चन्द टुकड़ों के लिए अपने सतीत्व को बलिदान करने हेतु बाध्य होना पड़ा बल्कि अनेक स्थानों पर मनुष्यों को कुत्तों से गन्दगी में पड़ी हुई जूठन के लिए लड़ते देखा गया। सुभाष और रवीन्द्र की रत्नगर्भा भूमि मानो भूख की ज्वाला में अपना सर्वस्व लुटा बैठी थी।

---

1 Ghosh, K C, *Famines in Bengal*, pp 34-35

आधुनिक प्रवृत्तियाँ—बंगाल का अकाल सम्भवतः भारत में दुर्भिक्षों की अन्तिम कड़ी कहा जायगा, क्योंकि वर्तमान स्थिति में देश में प्रजातान्त्रिक राष्ट्रीय सरकार है। यह सत्य है कि अतिवृष्टि तथा अनावृष्टि की घटनाओं के कारण देश में अकाल की छाया अब भी मँडराती रहती है परन्तु बंगाल के इतिहास की पुनरावृत्ति होने की कोई आशंका नहीं है, क्योंकि .

(१) देश स्वतन्त्र हो चुका है और कृषि योजनाओं का तीव्र गति से विकास किया जा रहा है।

(२) यातायात के साधनों के विकास के कारण विदेशों से तत्काल अन्न प्राप्त किया जा सकता है।

(३) भारत के राजनीतिक सम्बन्ध अधिकांश देशों से श्रेष्ठ हैं अतः उनसे अन्न अथवा अन्य पदार्थ उचित मूल्यों तथा सुविधाजनक शर्तों पर प्राप्त करना सम्भव है।

उपर्युक्त कारणों से भारत भूमि पर अकाल की छाया भले ही मँडराने लगे किन्तु उसके विनाशकारी ताण्डव की समस्त आशंकाएं निर्मूल हो गयी हैं।

दुर्भिक्ष के कारण—भारत में दुर्भिक्ष के कारणों को चार भागों में बाँटा जा सकता है : (१) अन्नाभाव (२) आर्थिक कारण, (३) सरकारी नीति, और (४) विविध कारण।

(१) **अन्न का अभाव**—भारत में कभी-कभी अतिवृष्टि, अनावृष्टि अर्थात् बाढ़ या सूखे के कारण फसलें नष्ट हो जाती हैं और कभी-कभी किसी क्षेत्र में टिड्डियों अथवा अन्य कीटाणुओं द्वारा फसल को क्षति पहुँचायी जाती है। महामारियाँ अथवा अन्य प्राकृतिक प्रकोप भी खाद्यान्नों के कम उत्पादन अथवा विनाश के कारण बन जाते हैं। खाद्यान्नों के अभाव के कारणों पर हम गत अध्याय में विचार कर चुके हैं अतः उनकी यहाँ पुनरावृत्ति करना व्यर्थ है। यहाँ इतना लिखना पर्याप्त है कि खाद्यान्नों के अभाव के कारण उपभोक्ताओं को यथेष्ट मात्रा में अन्न नहीं मिल पाता और दुर्भिक्ष की स्थिति उत्पन्न हो जाती है।

(२) **आर्थिक कारण**—भारत में दुर्भिक्ष का एक महत्त्वपूर्ण कारण यह है कि अधिकांश जनता की आर्थिक स्थिति अच्छी नहीं है। इस व्यापक दरिद्रता के कारण लोग न तो कुछ समय के लिए अन्न का संग्रह कर सकते हैं और न ही वह अभाव के समय ऊँचे मूल्य देकर अन्न खरीद सकते हैं। १९६० के पश्चात् भारत में पड़ने वाले सभी अकालों के अध्ययन से इस बात की पुष्टि होती है कि दुर्भिक्ष अन्न के कारण नहीं बल्कि जनता के पास क्रयशक्ति के अभाव के कारण पड़े हैं।

(३) **सरकारी नीति**—भारत में अन्नाभाव अथवा अकाल का एक महत्त्वपूर्ण कारण सरकार की अकर्मण्यता, अव्यवस्था एवं दुर्बल नीति रहा है। प्रत्येक उत्तरदायी सरकार का यह कर्तव्य होता है कि वह अपने नागरिकों के लिए यथासमय, यथोचित मात्रा में तथा उचित मूल्य पर अन्न उपलब्ध कराने की स्थिति में हो। यदि यह सम्भव नहीं हो सके तो उस सरकार को सत्तारूढ़ रहने का अधिकार नहीं है। इस दृष्टि से देखा जाय तो स्पष्टतः अन्न सम्बन्धी सरकारी नीति के तीन पहलू उभरते हुए दिखायी देते हैं :

(अ) **आयोजन**—भारत में ईस्ट इण्डिया कम्पनी तथा ब्रिटिश शासनकाल में दुर्भिक्ष पड़ने का एक कारण यह रहा है कि सरकार ने कभी भी आगामी फसल का अनुमान लगाकर अन्न की कमी पूर्ति करने का यथासम्भव प्रयास नहीं किया, अतः उसकी स्थिति सदा 'आग लगने पर कुआँ खोदने' वाले व्यक्ति के समान रही। १९४३ में बंगाल में अकाल पड़ने का एक कारण यह भी था कि सरकार निरन्तर यह बात कहती रही कि प्रान्त में अन्न की कमी नहीं है। इस प्रकार उचित आयोजन के अभाव में लाखों व्यक्तियों को मृत्यु के मुख में जाना पड़ा।

(आ) **मूल्य नियन्त्रण**—अकाल का एक महत्त्वपूर्ण कारण यह होता है कि अनुचित संग्रह अथवा लाभवृत्ति के कारण वस्तुओं के मूल्यों में वृद्धि हो जाती है। कभी-कभी अन्न के भाव इतने

ऊँचे हो जाते हैं कि सामान्य वर्ग के व्यक्ति उसे खरीदने में असमर्थ हो जाते हैं। फलत देश में दुर्भिक्ष की स्थिति उत्पन्न हो जाती है।

(इ) भूमि-कर नीति—ब्रिटिश शासन के अधिकांश वर्षों (विशेषकर १६वीं शताब्दी) में भूमि के लगान सम्बन्धी नीति अत्यन्त अनिश्चित, कठोर एव अवाछनीय रही है जिसके फलस्वरूप कृपकों पर लगान का भार अनावश्यक रूप मे अधिक था। इसका परिणाम यह हुआ कि उन्हे अपनी भूमि पर लगान चुकाने के लिए, कम होने पर भी अन्न बेचना ही पडता था जिससे उन्हे अकाल का शिकार होना पड़ता था। वर्तमान युग मे यह समस्या हल हो गयी है क्योंकि अब अभावग्रस्त क्षेत्रों मे लगान आदि की वसूली प्राय बन्द कर दी जाती है और तत्काल सहायता कार्य प्रारम्भ कर दिये जाते हैं। मनुष्यों के लिए अन्न की तो बात क्या, पशुओं के लिए चारे तक की व्यवस्था के प्रयत्न किये जाते हैं।

(ई) यातायात सुविधाएँ—ब्रिटिश शासन काल में, विशेषकर १६वीं शताब्दी मे, रेल अथवा सड़क यातायात की सुविधाओं का अभाव था अत यदि एक स्थान पर अनाज की कमी होती तो वहाँ अतिरिक्त अनाज वाले क्षेत्रों से अन्न लाना कठिन था। यही कारण था कि उस समय अकाल विशेष क्षेत्रों तक ही केन्द्रित रहता था। वर्तमान मे भारत के लगभग सभी भागो मे यातायात के साधनों का यथेष्ट विकास हो गया है अत अभावग्रस्त क्षेत्रों में अन्न भेजने मे विशेष समय नही लगता है। यहाँ तक कि विदेशो से भी अन्न सरलता एव शीघ्रतापूर्वक मँगवाया जा सकता है। यातायात के साधनों का विकास मुख्यत सरकार की नीति पर ही निर्भर करता है।

(४) विविध कारण—उपर्युक्त कारकों के अतिरिक्त अकाल के अन्य कई कारण रहे हैं जिनमे से दो प्रमुख हैं। ब्रिटिश शासन से पूर्व भारत के विभिन्न भागो मे युद्ध अथवा सघर्ष होते रहे हैं जिनके फलस्वरूप शत्रुओं की सेनाएं खडी फसल को नष्ट-भ्रष्ट कर देती थीं अथवा आग लगा देती थी जिनके कारण देश मे अन्न का अभाव उत्पन्न हो जाता था। कभी-कभी इन शत्रुओं के उत्पात के भय मे लोग अपनी भूमि का परित्याग कर चले जाते थे जिससे उन भू खण्डो पर खेती ही नही होती थी और अन्न की कमी उत्पन्न हो जाती थी।

अकाल का एक अन्य कारण **महामारियों का प्रकोप** भी रहा है। कभी-कभी किसी क्षेत्र मे हैजा, प्लेग अथवा इन्फ्लुएन्जा फैल जाने से उस क्षेत्र मे खेती करना सम्भव नही होता जिससे अन्न की उत्पत्ति ही नहीं हो पाती। वर्तमान युग मे प्राय सभी महामारियो पर नियन्त्रण किया जा चुका है अत यह तत्त्व दुर्भिक्षों के लिए उत्तरदायी नही रह गया है।

दुर्भिक्ष के प्रभाव—अकाल का देश की आर्थिक एव सामाजिक स्थिति पर बहुत व्यापक प्रभाव पडता है। इसका अनुमान निम्नलिखित तथ्यों से लग सकता है

(१) जन-धन की हानि—दुर्भिक्ष काल मे अन्न के अभाव मे बहुत से व्यक्तियों की मृत्यु हो जाती है और चारे की कमी से पशुओं का भी विनाश हो जाता है। जन और पशुधन की यह हानि कभी कभी बहुत व्यापक होती है, और देश मे एक विचित्र असन्तोष एव अविश्वास का वातावरण उत्पन्न हो जाता है।

(२) नैतिक पतन—इससे पूर्व दिये गये विवरण मे स्पष्ट हो चुका है कि अकाल के समय भूख की ज्वाला शान्त करने के लिए अनेक सम्माननीय नागरिक अपनी मान-मर्यादा अथवा स्वाभिमान की बलि देने के लिए बाध्य हो जाते हैं। यह एक बहुत भयानक स्थिति है क्योंकि जब किसी देश की नैतिकता का अन्त हो जाता है तो राष्ट्र की सामाजिक, आर्थिक एव राजनीतिक नींव हिल जाती है।

(३) शारीरिक स्वास्थ्य—यदि नागरिक किसी प्रकार दुर्भिक्ष की विपत्ति से छुटकारा पा भी लें तो भी न्यून एवं अपौष्टिक मात्रा के कारण उनकी शारीरिक सहनशक्ति कम हो जाती है

अत उन्हे अनेक रोगो का शिकार होने का भय रहता है। इस प्रकार शारीरिक क्षमता कम होने से देश की कार्य-कुशलता कम हो जाती है जो देश की प्रगति के लिए बहुत हानिकारक है।

(४) राजनीतिक अस्थिरता—निरन्तर दुर्भिक्ष पडने अथवा अनेक बार अकाल की स्थिति का अनुभव करने वाले क्षेत्रो म सरकार के विरुद्ध असन्तोष मे निरन्तर वृद्धि होती जाती है जिसके फलस्वरूप सरकार का अन्त होने की नौबत आ सकती है। इस प्रकार देश मे राजनीतिक अशान्ति एव कलह उत्पन्न होने का भय रहता है।

(५) कृषि का पतन—यह एक मान्य सत्य है कि कृषि की हीनावस्था के कारण देश मे दुर्भिक्ष पडते हैं और दुर्भिक्ष पडने से किसानो की शारीरिक, मानसिक एव आर्थिक स्थिति दुर्बल हो जाती है और अन्तत कृषि की व्यवस्था गिरती चली जाती है।

(६) विदेशी विनिमय सकट—दुर्भिक्ष का सामना करने के लिए प्राय विदेशो से अन्न आयात करना पडता है जिसके फलस्वरूप देश की विदेशी विनिमय की आय का एक महत्त्वपूर्ण भाग अन्न के भुगतान मे प्रयुक्त हो जाता है। भारत को गत कई वर्षों से इस स्थिति का सामना करना पड रहा है और इससे न केवल देश के औद्योगिक विकास मे बाधा पडती है बल्कि विदेशी विनिमय की कमी दूर करने के लिए विदेशो मे ऋण लेने के लिए बाध्य होना पडता है।

भारत सरकार की अकाल निवारण नीति—भारत म दुर्भिक्ष का प्रकोप किसी न किसी रूप मे सदा से होता आया है। प्राचीन काल के शासको द्वारा अकाल की आकस्मिक विपत्ति का निवारण के लिए अभावग्रस्त क्षेत्रो म अन्न वितरण करवाया जाता था तथा लोगो को रोजगार देने के लिए नहरें तालाब अथवा कुएँ आदि बनवाये जाते थे। इसमे लोगो को कुछ आय हो जाती थी और वह महँगे भाव का अन्न अथवा अन्य खाद्य पदार्थ खरीदकर गुजारा कर लेते थे। हिन्दू तथा मुस्लिम शासनकाल मे राजा, नवाब अथवा बादशाह स्वय अकाल निवारण कार्य मे रुचि लेते थे। उदयपुर, कोटा तथा बीकानेर के राजाओ और शाहजहाँ द्वारा दुर्भिक्ष का प्रभाव कम करने के प्रयत्नो का विवरण पहले दिया जा चुका है।

ब्रिटिश शासन काल—ईस्ट इण्डिया कम्पनी की अकाल निवारण नीति सर्वथा ऋणात्मक थी। कम्पनी द्वारा अकाल पीडितो की सहायता के लिए अन्न वितरण करना तो दूर रहा, लगान तक माफ नही किया जाता था। १७६९ ७० तथा १७८३ ८४ के दुर्भिक्षो के समय कम्पनी के कर्मचारियो ने अधिक कडाई से लगान वसूल करने की व्यवस्था की थी। ब्रिटिश शासनकाल मे भी कुछ समय तक इसी निष्क्रियता की नीति का पालन किया गया किन्तु अन्तत जनता के हाहाकार ने उन्हे कुछ सहायता करने तथा लगान म छूट देने के लिए बाध्य कर दिया।

कैम्पबेल समिति, १८६७—सर जार्ज कैम्पबेल की अध्यक्षता मे नियुक्त अकाल जाँच आयोग की सिफारिश के अनुसार अकाल निवारण का कार्य जिलाधीशो को सौंप दिया गया। कृषि विकास कार्यों के लिए तकावी बाटने की व्यवस्था की गयी। समिति ने यह भी सुझाव दिया कि दुर्भिक्ष के समय क्षुधा पीडितो को नि शुल्क अन्न वितरित किया जाना चाहिए।

सन् १८७३ ७४ तथा सन् १८७६-७७ के भीषण अकालो से सरकार इस निष्कर्ष पर पहुँच गयी कि भारत मे अकाल एक आकस्मिक घटना नही बल्कि एक स्थायी समस्या है अत इसका निवारण करने के लिए स्थायी प्रयत्न करना आवश्यक समझा गया। तदनुसार १८७८ मे एक अकाल बीमा कोष निर्मित किया गया जिसमे प्रति वर्ष १ ५ करोड रुपय जमा करने की व्यवस्था की गयी। तत्पश्चात् राज्य सरकारो ने भी इस कोष म विभिन्न राशियाँ जमा कीं। इस कोष का प्रयोग अकाल के समय पीडित व्यक्तियो की सहायता के लिए किया जाता है।

स्ट्रेची आयोग १८८०—सर जॉन स्ट्रेची की अध्यक्षता म नियुक्त अकाल आयोग ने दुर्भिक्ष निवारण के लिए विस्तृत कार्यवाही का सुझाव दिया जिसके अनुसार अकाल निवारण का कार्य

प्रान्तीय सरकारों द्वारा करने की व्यवस्था थी। अकाल का सामना करने के लिए प्रायः सभी प्रान्तों में दुर्भिक्ष संहिताएँ (Famine Codes) बनायी गयी और भविष्य में इन्हीं संहिताओं के आधार पर अकालग्रस्त व्यक्तियों की सहायता करने का निर्णय किया गया।

स्ट्रेची आयोग की मुख्य सिफारिशें इस प्रकार थी:

(१) कृषि करने वालो को सिंचाई बीज तथा अन्य कार्यों के लिए आर्थिक सहायता दी जानी चाहिए।

(२) स्वस्थ व्यक्तियों को काम तथा अपाहिजों को मुक्त खाद्यान्न दिये जाने चाहिए।

(३) किसान को लगान से छूट मिलनी चाहिए और खेती के लिए आर्थिक सहायता प्रदान की जानी चाहिए।

(४) अकालग्रस्त क्षेत्र के पूरे अंक आदि संग्रह करके असहाय व्यक्तियों के लिए निर्धनालय खोले जाने चाहिए।

(५) पशुओं के लिए यथेष्ट मात्रा में चारे की व्यवस्था की जानी चाहिए।

(६) नहरों, तालाबों तथा रेलों के समुचित विकास की व्यवस्था की जानी चाहिए।

प्रान्तीय सरकारों ने इन सिफारिशों को तत्काल स्वीकार कर लिया और तदनुसार कार्य आरम्भ कर दिया गया। अकाल संहिताओं में यथासमय आवश्यक परिवर्तन भी किये गये ताकि अकाल निवारण के कार्य में किसी प्रकार की देर न हो। प्रान्तीय सरकार के अतिरिक्त जिला बोर्डों, म्युनिसिपल समितियों तथा पंचायतों के लिए भी अकाल की स्थिति उत्पन्न होते हुए ही आवश्यक कार्यवाही करना अनिवार्य कर दिया गया।

लायल अकाल आयोग, १८९८—सन् १८९६-९७ के अकालों की जाँच करने के लिए एक और आयोग नियुक्त किया गया जिसने अकाल निवारण के लिए निम्नलिखित सुझाव प्रस्तुत किये:

(१) पिछड़े वर्गों जैसे जुलाहों आदि को विशेष आर्थिक सहायता दी जाय।

(२) अकाल कोष से सहायता को विकेन्द्रित कर उसकी मात्रा में वृद्धि की जानी चाहिए।

(३) अकाल कोष की व्यवस्था में सुधार किया जाना चाहिए और उन्हें ठीक प्रकार खर्च करने के लिए कार्यवाही की जाय।

लायल अकाल आयोग की सिफारिशों की स्याही अभी सूखी भी नहीं थी कि देश को आगामी दो वर्षों में पुनः अकाल की स्थिति का सामना करना पड़ा जिसके फलस्वरूप १९०१ में एक और आयोग नियुक्त किया गया जिसके अध्यक्ष मेकडॉनल महोदय थे।

मेकडॉनल आयोग, १९०१—इस आयोग ने अकाल निवारण सम्बन्धी उपायों का विस्तार से अध्ययन किया और अपनी सिफारिशों में निम्न बातों पर जोर दिया:

(१) अकालग्रस्त क्षेत्रों में प्रारम्भिक अवस्था में ही यथोचित आर्थिक सहायता की व्यवस्था की जानी चाहिए ताकि लोग उत्पादन बढ़ाने में अधिक रुचि ले सकें और अकाल का सामना दृढ़ता से कर सकें।

(२) अकाल की स्थिति उत्पन्न होते ही मनोवैज्ञानिक एवं अन्य तरीकों द्वारा जनता का साहस बढ़ाने का प्रयत्न करना चाहिए ताकि अकाल निवारण सम्बन्धी उपायों में विशेष कठिनाई न हो।

(३) अकालग्रस्त क्षेत्रों में अकाल सहायता समितियों की स्थापना की जानी चाहिए और इन समितियों में धनी व्यक्तियों को सहयोग देने के लिए प्रोत्साहन दिया जाना चाहिए।

(४) पशुओं की रक्षा के लिए चारे की उचित व्यवस्था की जानी चाहिए।

(५) श्रमिकों को न्यूनतम मजदूरी सिद्धान्त की बजाय काम के अनुसार मजदूरी देने की व्यवस्था की जानी चाहिए।

वस्तुत लायल आयोग की सिफारिशो मे कोई नवीनता नही थी, उसने बहुत कुछ पुराने आयोगो की सिफारिशो की पुनरावृत्ति मात्र की थी। इस आयोग की सिफारिशो की विशेष बात यही थी कि जनता को यथासमय आर्थिक सहायता देकर उसके नैतिक बल मे वृद्धि करने पर बल दिया गया था ताकि वह अकाल का साहसपूर्वक सामना कर सकें।

सरकार ने इन सिफारिशो को यथावत् स्वीकार कर लिया और अभाव के समय निर्माण कार्यो मे वृद्धि करने की नीति को अपनाया। सभी निर्माण कार्यों को दो वर्गों मे बाँट दिया गया। प्रथम वर्ग मे अल्पकालीन रक्षात्मक कार्य किये, जिनका उद्देश्य अकाल पीडितो की सीधी सहायता करना था तथा दूसरे वर्ग (उत्पादक) मे उत्पादन वृद्धि के कार्य सम्मिलित किये गये।

मैक्डॉनेल आयोग की सिफारिशो का कार्यान्वित करने से देश मे अकाल निवारण नीति मे काफी सफलता मिली। इसका प्रमाण इस बात से मिलता है कि सन् १९४३ तक कोई भीषण अकाल देखने मे नहीं आया। किन्तु बगाल के अकाल ने सरकार की सब सफलताओ पर पानी फेर दिया।

वुडहैड अकाल आयोग, १९४४—बगाल के लोमहर्षक अकाल के कारणो की जाँच करने के लिए सन् १९४४ म ज० ए० वुडहैड की अध्यक्षता मे एक आयोग नियुक्त किया गया। इस आयोग ने देश की कृषि समस्याओ का विस्तारपूर्वक अध्ययन किया और अकाल निवारण के लिए अल्पकालीन तथा स्थायी सुधारो की सिफारिशें की जो निम्नलिखित है

(१) 'अधिक अन्न उपजाओ' आन्दोलन द्वारा अन्न का उत्पादन बढाने की चेष्टा करनी चाहिए।

(२) देश म आवश्यक खाद्यान्न विदेशो से आयात कर उनका उचित रीति स वितरण किया जाना चाहिए।

(३) विदेशो म खाद्यान्न आयात का एकाधिकार सरकार क हाथ मे होना चाहिए ताकि वह उचित मूल्य पर प्राप्त किये जा सकें।

(४) जनसख्या की वृद्धि रोकने के लिए यथष्ट उपाय किये जाने चाहिए।

(५) सरकार द्वारा भूमि की अधिकतम जोत निश्चित कर देनी चाहिए तथा अतिरिक्त भूमि भूमिहीनो मे बाँटने की व्यवस्था करनी चाहिए।

(६) देश भर म खाद्य नीति का समन्वय करने के लिए एक अखिल भारतीय खाद्यान्न परिषद स्थापित की जानी चाहिए। इस परिषद की नीतियो के पालन हेतु क्षेत्रीय परिषदें निर्मित करने की सिफारिश की गयी।

(७) सरकार द्वारा समय समय पर अन्न खरीदकर भण्डार निर्मित किये जाने चाहिए ताकि वह सकटकाल म काम आ सकें।

(८) सरकार को ऐसे कार्य करने चाहिए कि जनता मे खाद्यान्न नीतियो के प्रति अधिकाधिक विश्वास उत्पन्न हो सके।

(९) कृषि मे नवीन प्रणालियो द्वारा सुधार करने की चेष्टा की जानी चाहिए।

सरकार ने प्राय सभी सिफारिशें स्वीकार कर ली। तदनुसार अपनी खाद्यान्न, कृषि एव अकाल निवारण नीति मे सशोधन एव परिवर्तन कर लिय।

वर्तमान अकाल निवारण नीति—वर्तमान युग म भारत अनेक दृष्टिकोणो से विकसित देशो के अधिकाधिक समीप आ गया है, देश मे यातायात के साधनो का अच्छा विकास हो गया है, तथा जनता मे सामाजिक एव राजनीतिक जागृति भी बढ रही है। इन सब परिवर्तनो का सामूहिक प्रभाव यह हुआ कि दुर्भिक्ष का भय बहुत कुछ दूर हो गया है क्योकि एक ओर तो सरकार मूल्यो

पर उचित नियन्त्रण द्वारा खाद्यान्नों के भाव बहुत नहीं बढ़ने देती और दूसरी ओर वह विदेशों से आवश्यक खाद्यान्न यथासमय मंगवा लेती है।

सरकार की वर्तमान अकाल निवारण नीति के दो मूल अंग हैं

आपत्तिकालीन सहायता कार्य—इन कार्यों के अन्तर्गत प्रायः निम्न कार्य किये जा रहे हैं, जिनके प्रभावस्वरूप अकाल का प्रकोप कम हो गया है

(१) सरकार मुख्य खाद्यान्नों के भण्डार रखती है जिन्हें अभाव के समय काम में लिया जाता है। इन भण्डारों के निर्मित करने में सरकार को अमरीका के सार्वजनिक नियम-४८० (P L-480) से बहुत सहायता मिली है क्योंकि उक्त नियम के अन्तर्गत प्राप्त कृषि पदार्थों का भुगतान रुपयों में ही किया जाता है और उस राशि का एक महत्त्वपूर्ण भाग देश के औद्योगिक विकास के लिए विनियोजित कर दिया जाता है।

(२) सरकार द्वारा खाद्यान्नों के मूल्य, संग्रह वृत्ति तथा चोरबाजारी पर नियन्त्रण रखने की चेष्टा की जा रही है। गत वर्षों में रिजर्व बैंक की साख नियन्त्रण नीति द्वारा खाद्यान्नों के अनुचित संग्रह को निरन्तर निरुत्साहित किया गया है। खाद्यान्नों के अभाव के समय सरकार द्वारा सस्ते अनाज की दुकानें भी खुलवा दी जाती हैं ताकि लोगों को बहुत मँहगा अन्न खरीदने के लिए बाध्य न होना पड़े। गत दस वर्षों में राजकीय व्यापार द्वारा खाद्यान्नों के मूल्यों को स्थिर रखने के निरन्तर प्रयत्न किये गये हैं।

(३) सहायता कार्य—गत वर्षों में सरकार ने अभावग्रस्त क्षेत्रों में सदा ही विस्तृत सहायता कार्य आयोजित किये हैं, यहाँ तक कि आसाम के कुछ क्षेत्रों में जहाँ बाढ़ के कारण बड़े-बड़े भू-खण्ड देश के शेष भागों से सर्वथा कट जाते हैं, सरकार हवाई जहाज द्वारा भी राशन पहुँचाने की व्यवस्था करती रही है। इन सहायता कार्यों में मुख्यतः यथासमय अनाज पहुँचाना, किसानों को सस्ते ऋण या अनुदान देना तथा मकान बनाने अथवा चिकित्सा आदि की निःशुल्क व्यवस्था करने जैसी सहायता सम्मिलित है।

अनेक बार बाढ़, भूकम्प अथवा अन्य किसी प्राकृतिक प्रकोप द्वारा पीड़ित व्यक्तियों को प्रधानमन्त्री सहायता कोष द्वारा भी सहायता दी जाती है।

दीर्घकालीन उपाय—अकाल निवारण के दीर्घकालीन उपायों में खेती की उपज बढ़ाना सबसे महत्त्वपूर्ण कार्य है। गत अध्यायों में हम योजनाकाल में कृषि-उपज बढ़ाने हेतु किये गये उपायों पर विचार कर चुके हैं, अतः उन्हें दोहराना अनावश्यक है।

प्रश्न

१. भारत में अकालों के क्या कारण हैं? इस परिस्थिति का सामना करने के लिए सरकार ने क्या उपाय किये तथा उनके क्या परिणाम हुए? (आगरा, बी० कॉम, १९५१, १९५५)

२. भारत में दुर्भिक्ष के कारण तथा उसके निवारण के लिए किये गये सरकारी प्रयत्नों का विवेचन कीजिए। (आगरा, बी० कॉम०, १९५३)

३. भारत में दुर्भिक्ष को रोकने तथा प्रभाव कम करने के लिए किये गये उपायों का वर्णन कीजिए। (आगरा, बी० कॉम, १९५४)

14 सिंचाई

(IRRIGATION)

भारत मे सिंचाई की आवश्यकता

भारत मे अनेक कारणो से सिंचाई की सुविधाओ का विकास करना आवश्यक है

(१) वर्षा का अभाव—भारत म अधिकाश वर्षा मानसून स होती है जो न केवल अनिश्चित ही है बल्कि अपर्याप्त भी है। इसी कारण देश के अनेक भागो म अतिवृष्टि अनावृष्टि अथवा असामयिकता के कारण अनेक फसले नष्ट हो जाती हैं। इनमे भी अधिकाश फसल वर्षा के अभाव के कारण सूख जाती हैं। अत यदि इस जलाभाव की पूर्ति सिंचाई द्वारा की जा सके तो देश की कृषि सम्पन्न हो सकती है।

(२) रबी की फसलें—भारत म गेहूँ चना जो आदि बहुत सी फसलें सर्दी म ही बोयी जाती हैं और मानसून हवाएँ केवल गर्मी मे वर्षा करती हैं अत इन फसलो की उत्पत्ति क लिए सिंचाई की सुविधाओ का विकास करना आवश्यक है।

(३) अधिक जल की आवश्यकता—देश म कुछ ऐसी फसलें भी उत्पन्न की जाती हैं जिनके लिए सामान्य स्तर से अधिक जल की आवश्यकता होती है। उदाहरणत गन्ना तथा चावल यथेष्ट पानी बिना उत्पन्न किय जाने सम्भव नही है। अत इनकी उपज के लिए सिंचाई की व्यवस्था करना अनिवार्य है।

(४) चरागाहों के लिए—भारत म पशुओं की सख्या बहुत अधिक है और उसके लिए नियमित रूप मे चारे का प्रबन्ध करने क लिए वर्षा यथेष्ट नही होती। अत चरागाहो का यथोचित विकास करने के लिए सिंचाई की व्यवस्था करना आवश्यक है।

वस्तुत भारत एक गरम देश है और इसके कुछ प्रदेशो म फसलो के लिए ही नही बल्कि मनुष्यो तथा पशुओ के लिए पीने क पानी तक की कमी है। अत किसी भी ऐसी व्यवस्था की तीव्र आवश्यकता है जिससे भूमि तथा मनुष्यो की आवश्यकता के लिए नियमित रूप मे पर्याप्त जल मिल सके।

सिंचाई के साधन—भारत के जल साधनो का अनुमान १६,७१५ १४ लाख घन मीटर लगाया गया है जिसम से लगभग ५,५४७ १५ लाख घन मीटर सिंचाई क काम मे लिया जा सकता है। १९५१ तक केवल ९३६,८५ लाख घन मीटर जल सिंचाई के काम मे लिया जाता था जो सिंचाई के लिए उपलब्ध जल का १७ प्रतिशत तथा कुल जल प्रवाह का ५ ६ प्रतिशत था। द्वितीय योजना के अन्त तक १,४७६,२४ लाख घन मीटर जल जो सिंचाई योग्य जल का २७ प्रतिशत था, काम म लिया गया। यह मात्रा तृतीय योजना के अन्त तक लगभग ३३ प्रतिशत तक पहुँच गयी है। चतुर्थ योजना क अन्त तक यह ४५ प्रतिशत तक हो जाने की आशा है।

कृषि तथा सिंचाई विभागों में सामंजस्य की आवश्यकता

सिंचाई की सुविधाओं का पूर्ण विकास एवं उपयोग करने के लिए राज्य सरकारों की नीति एवं कार्यों में भी पारस्परिक सहयोग की आवश्यकता है। इस सम्बन्ध में भारत सरकार ने अमरीकन कृषि पद्धतियों का अध्ययन करने के लिए कुछ दल उस देश भेजे थे। उन्होंने अपनी रिपोर्टों में यही मत प्रकट किया है कि विभिन्न राज्यों तथा उनके विभिन्न विभागों में आपसी सहयोग हुए बिना कृषि का यथेष्ट विकास सम्भव नहीं है। सम्भवतः इसी कारण बहुत से राज्यों में सिंचाई का विकास करने के लिए विशेष समितियाँ बना दी गयी हैं जिनके सदस्य राज्यों के विभिन्न भागों से सम्बन्धित हैं। इस विषय में विभिन्न विभागों में सहयोग स्थापित करने के लिए एक विशेष अधिकारी नियुक्त करने की आवश्यकता पर बल दिया गया है। सिंचाई की वर्तमान सुविधाओं का पूरी तरह प्रयोग करने के लिए ग्राम पंचायतों तथा पंचायत समितियों को उत्तरदायी बना दिया गया है।

सिंचाई की समस्याएँ

(१) गठन की समस्याएँ—प्रथम दो योजनाओं में सिंचाई पर लगभग १,६०० करोड़ रुपये व्यय किये गये। तृतीय योजनाकाल में सिंचाई की बड़ी और मध्यमवर्गीय योजना पर कुल ६०० करोड़ रुपये के व्यय का अनुमान लगाया गया था। परन्तु संकट की स्थिति उत्पन्न होने के कारण जनवरी १९६३ में यह विचार किया गया कि इन योजनाओं में से किनको स्थगित अथवा शिथिल किया जा सकता है। *इस सम्बन्ध में यह निर्णय किया गया कि मध्यम आकार की योजनाएँ*[1] तो यथावत् चालू रखी जानी चाहिए या उनकी गति कुछ तीव्र कर दी जानी चाहिए ताकि उनसे शीघ्र लाभ प्राप्त होने आरम्भ हो जायें। इसके अतिरिक्त योजनाकाल में जिन ५९ बड़ी परियोजनाओं का प्रावधान किया गया था, उनमें से उन १९ का, जिन पर विशेष व्यय नहीं हुआ था, पुनर्गठन करने अथवा उनका कार्य शिथिल करने का निश्चय किया गया।

(२) वित्तीय हानि—सिंचाई परियोजनाओं के पुनर्गठन के अतिरिक्त दूसरी समस्या यह है कि द्वितीय योजनाकाल के पश्चात् जितनी भी सिंचाई की योजनाएँ स्वीकृत की गयी हैं उन पर पानी की वर्तमान दरों (सिंचाई जल पर प्राप्त शुल्क) के हिसाब से, विनियोजित पूँजी पर ब्याज तथा अन्य खर्चे भी वसूल होने की सम्भावना नहीं है। एक कल्याणकारी राज्य स्थापित करने के लिए कृतसंकल्प प्रजातान्त्रिक सरकार प्रारम्भिक हानियों से भयभीत होकर किसी विकास कार्य को नहीं त्याग सकती। इसी दृष्टि से देश की कृषि विकास के दीर्घकालीन लाभों से प्रेरित होकर इन योजनाओं का संचालन किया जा रहा है। साथ ही, संचालन व्यय की पूर्ति के लिए पानी की दर, सुधार कर (Betterment levy) *तथा अन्य दरों में कुछ वृद्धि करने का भी सुझाव दिया* गया है।

(३) सुधार कर (Betterment levy)—यह एक ऐसा कर है जो उन क्षेत्रों के भूमिधारियों पर लगाया जाता है जिनमें सिंचाई की सुविधाओं का विकास होने के कारण न केवल कृषि की उन्नति की सुविधाओं का विकास हुआ है बल्कि भूमि के मूल्यों में भी वृद्धि हो गयी है। न्याय की दृष्टि से यह कर सर्वथा उचित है किन्तु सिंचाई क्षेत्रों में इसका तीव्र विरोध किया गया है। इस सम्बन्ध में राज्य सरकारों को एक ओर तो कर की दरों में आवश्यक हेर-फेर करने चाहिए तथा

---

[1] छोटी योजनाएँ—जिन पर १० लाख रुपये या कम व्यय होता है।
मध्यम आकार की योजनाएँ—जिन पर १० लाख रुपये से लेकर ५ करोड़ रुपये तक व्यय होता है।
बड़ी योजनाएँ—जिन पर ५ करोड़ रुपये से अधिक व्यय होता है।

दूसरी ओर इसकी वसूली में उचित कठोरता से काम लेना चाहिए अन्यथा विकास कार्यों में से किसी की भी सफलता संदिग्ध रहेगी।

सिंचाई के साधन

प्रत्येक देश में सिंचाई की सुविधाएँ इस बात पर निर्भर करती हैं कि (१) वहां का धरातल समान है अथवा बहुत ऊँचा-नीचा है, (२) मिट्टी नरम है अथवा कठोर है, (३) नदियाँ कितनी हैं तथा उनमें साल भर कितना पानी रहता है तथा (४) धरती में पानी कितनी गहराई पर उपलब्ध है। इन सब बातों के आधार पर ही सिंचाई की सुविधाओं का विकास अथवा विस्तार किया जा सकता है। सिंचाई के लिए किसी भी देश में कुएँ, तालाब तथा नहरें निर्मित की जाती हैं। भारत में भी सिंचाई के यही प्रमुख साधन हैं और इनका विकास भी प्राकृतिक परिस्थितियों एवं सुविधाओं के अनुसार किया गया है जैसा कि निम्नलिखित तथ्यों से स्पष्ट है :

(१) कुएँ—भारत में सिंचाई का अत्यन्त प्राचीन साधन कुआं है। ग्रामों में प्राय बैलों अथवा ऊँटों की सहायता से कुओं से जल निकाला जाता है तथा नालियों के माध्यम से खेतों तक पहुँचाया जाता है। कुओं से देश के सभी भागों में सिंचाई करना सम्भव नहीं है क्योंकि कुएँ केवल नरम धरती में सरलता से बनाये जा सकते हैं। इसके अतिरिक्त रेगिस्तानी भागों में कुएँ बनाना बहुत खर्चीला काम होता है क्योंकि वहां जो थोड़ी बहुत वर्षा होती है उसका जल रेत में शुष्क होकर धरातल के बहुत नीचे चला जाता है। इन दोनों कारणों से ही कुओं से सिंचाई अधिकतर उत्तर प्रदेश, पंजाब, बम्बई तथा राजस्थान के कुछ भागों में होती है। इन प्रदेशों के अतिरिक्त मध्य प्रदेश, बिहार तथा आन्ध्र प्रदेश के कुछ क्षेत्रों में भी कुओं से सिंचाई की जाती है। इसका कारण यह है कि इन राज्यों के बहुत-से भागों में २० से ४० फुट की गहराई तक जल उपलब्ध हो जाता है। कहीं कहीं तो १०-१५ फुट नीचे ही पानी मिल जाता है। इस सुविधा के कारण किसान खेतों में ही कच्चे कुएँ बना लेते हैं और सिंचाई के काम में ले लेते हैं।

उत्तर प्रदेश में कुओं से लगभग ५४ लाख एकड़ तथा पंजाब, राजस्थान और बम्बई में २० लाख एकड़ भूमि में सिंचाई की जाती है। तमिलनाडु में भी लगभग १० लाख एकड़ भूमि कुओं के जल से सिंचित होती है। अन्तिम रूप में उपलब्ध आँकड़ों के अनुसार देश भर में लगभग १८५ लाख एकड़ (७३ लाख हैक्टेयर) भूमि को कुओं से जल मिलता है। पूर्वी उत्तर प्रदेश तथा बिहार में तो कुएँ सिंचाई का मुख्य एवं सस्ता साधन हैं क्योंकि वहाँ भूमि नरम तथा जल का धरातल बहुत ऊँचा है। नहरों अथवा नदियों का पानी खेतों तक ले जाने के लिए भी नाले निकालने पड़ते हैं जो कुओं से सस्ते नहीं पड़ते।

कुओं से सिंचाई करने में मानवीय शक्ति, पशु शक्ति तथा बिजली का प्रयोग किया जाता है। कुछ क्षेत्रों में तो अब कुओं में बिजली की मोटर लगाकर बड़े-बड़े पम्पों द्वारा पानी यथास्थान पहुँचाया जाता है। अनेक स्थानों पर हाथ या बिजली द्वारा संचालित पम्प ही लगा दिये गये हैं जिनसे सिंचाई बहुत सस्ती पड़ती है। कुछ भागों में रहट का प्रयोग भी किया जाता है जिसमें बैल, ऊँट अथवा अन्य किसी पशु की सहायता से सिंचाई की जाती है।

नलकूप—भारतीय कृषि के विकास में नलकूपों (tubewells) को अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान दिया गया है क्योंकि देश की कम से कम १० करोड़ कृषि योग्य भूमि को सिंचाई के अन्तर्गत लाने की आवश्यकता है। उसमें नलकूपों का महत्त्वपूर्ण स्थान है। उदाहरणत अब तक देश में ७ लाख नलकूप निर्मित किये जा चुके हैं।

(२) तालाब—भारत में अनेक भाग पथरीले हैं जहाँ कुएँ खोदना सम्भव नहीं है। इन भागों में विशेष स्थानों पर पत्थर हटाकर तालाब निर्मित कर लिये जाते हैं और वर्षा के समय पानी जमा कर लिया जाता है। यह जल यथासमय सिंचाई के काम में लिया जाता है। भारत में

तालाबों से सिंचाई मुख्यतः आन्ध्र प्रदेश, तमिलनाडु उड़ीसा तथा उत्तर प्रदेश में होती है। इन प्रदेशों में तालाबों से सिंचाई किया जाने वाला क्षेत्र क्रमशः २६ लाख, २२ लाख, १२ लाख तथा १० लाख एकड़ है। इन राज्यों के अतिरिक्त बंगाल, मैसूर, बिहार तथा महाराष्ट्र और गुजरात में भी लगभग ५ लाख एकड़ भूमि तालाबों द्वारा सिंचित होती है। अन्य सभी क्षेत्रों का मिलाकर तालाबों से सिंचाई किया जाने वाला कुल क्षेत्र लगभग १६८ लाख एकड़ है।

कठिनाइयाँ—तालाबों से सिंचाई करने में कई कठिनाइयाँ हैं। प्रथम तो यह कि यदि वर्षा यथोचित मात्रा में न हो तो तालाबों में पानी बहुत कम मात्रा में आता है जिससे सिंचाई की सुविधाओं का अभाव रहता है। इस कठिनाई को दूर करने के लिए तालाबों को अच्छे खासे बाँधों के रूप में परिणत कर लेना उचित है ताकि अतिरिक्त वर्षा वाले वर्षों में इन जलाशयों में पानी का काफी बड़ा भण्डार इकट्ठा हो जाय और वह अभाव वाले वर्षों में काम आ सके।

तालाबों से सिंचाई की दूसरी कठिनाई यह है कि अधिकांश तालाब कच्चे होते हैं अतः उनका बहुत सा जल भूमि में शुष्क हो जाता है। इस समस्या का हल यही है कि स्थान-स्थान पर सीमेन्ट के पक्के तालाब निर्मित करवा देने चाहिए।

तालाबों के जल-साधन उनके भण्डार तक ही सीमित रहते हैं जबकि कुओं अथवा नलकूपों के माध्यम से अथाह जल भण्डार से सम्बन्ध स्थापित हो जाता है और मानवीय अथवा विद्युत शक्ति द्वारा इस जल को आवश्यक मात्रा में प्राप्त किया जा सकता है। इस दृष्टि से सिंचाई के साधनों में तालाबों का महत्त्व बहुत अधिक नहीं है।

(३) **नहरें (Canals)**—सिंचाई का तीसरा और सबसे महत्त्वपूर्ण साधन नहरें हैं। नहरें बनाने के लिए भी निम्नलिखित सुविधाओं का होना आवश्यक है

(अ) यथेष्ट जल वाली नदियाँ होनी चाहिए,

(आ) धरातल समतल अथवा ढालू होना चाहिए,

(इ) मिट्टी बहुत कड़ी नहीं होनी चाहिए।

नहरें प्रायः तीन प्रकार की होती हैं—नित्यवाही, बाढ़ी या मौसमी, तथा बाँध की नहरें। नहरों का महत्त्व तथा उनकी बनावट बहुत कुछ सम्बन्धित क्षेत्रों की नदियों पर निर्भर करती है। यदि नदियाँ ऐसी पर्वत शृंखलाओं से निकलकर आती हैं जो बहुत ऊँचे हैं और जिन पर बहुत बरफ जमती है तो स्वभावतः नदियों में साल भर प्रचुर जल रहता है जिससे नहरों को भी वर्ष भर नियमित रूप में पानी मिलता रहता है। इस प्रकार की नहरें नित्यवाही (Perennial) नहरें कहलाती हैं। गंगा, यमुना, ब्रह्मपुत्र, सतलज, व्यास तथा रावी आदि नदियाँ ऐसी ही हैं और इनसे निकलने वाली पश्चिमी यमुना नहर, गंगा नहर, सारदा नहर आदि नित्यवाही नहरें हैं।

देश में अनेक नदियाँ ऐसी हैं (दक्षिण की विशेषकर) जो केवल वर्षा ऋतु में जल से पूर्ण होती हैं और ग्रीष्म ऋतु में सूख जाती हैं। इन नदियों से निकलने वाली नहरों में भी साल के कुछ महीनों में ही पानी रहता है। यह नहरें बाढ़ी या मौसमी नहरें (Inundation Canals) कहलाती हैं।

नहरों का एक वर्ग वह है जो जलाशयों अथवा बाँधों पर निर्भर करता है अर्थात् जिनको जल किसी बाँध से मिलता है। ऐसी नहरों में फसलों की आवश्यकता के समय जल छोड़ दिया जाता है और उससे आवश्यक सिंचाई हो जाती है। शेष समय में यह नहरें सूखी पड़ी रहती हैं। इन नहरों को बाँध की नहरें कहना उचित होगा।

भारत में लगभग ३.५ करोड़ भूमि में नहरों द्वारा सिंचाई की जाती है। पंजाब, राजस्थान, उत्तर प्रदेश, मध्य प्रदेश तथा महाराष्ट्र और बिहार राज्यों में मुख्यतः नहरों द्वारा सिंचाई होती है। इसका कारण यह है कि इन भागों में नित्यवाही विशाल नदियाँ हैं जो नहरों को नियमित रूप

से जल देने मे समर्थ हैं। इन क्षेत्रो मे नहरें खोदना भी सरल एव मितव्ययितापूर्ण है। इसके विपरीत, दक्षिण भारत मे तीव्रगामी नदियाँ हैं जिन्हे ऊबड-खाबड भूमि मे बहना पडता है। यह नदियाँ विन्ध्याचल, सतपुडा अथवा अन्य छोटी पर्वत श्रृंखलाओ से निकलती हैं अत इनमे जलप्रवाह वर्ष भर यथेष्ट नही रहता। इन सब कारणो से दक्षिण भारत मे बहुत कम नहरें हैं।

सरकार और सिंचाई योजनाएँ

प्राचीन भारत मे भूमि जनसख्या तथा सिंचाई की समस्याएँ सामान्य थी और ग्रामो मे कुओ, तालावो अथवा किसानो द्वारा स्वय निर्मित नहरो मे सिंचाई होती थी। अंग्रेजो ने भी १९वी शताब्दी के उत्तरार्द्ध तक नहरो के निर्माण अथवा सिंचाई के साधनो की व्यवस्था की दशा मे विशेष ध्यान नहीं दिया किन्तु शताब्दी के अन्तिम वर्षो मे पडने वाले भीषण दुर्भिक्ष के कारण सरकार का ध्यान कृषि विकास योजना की ओर आकर्षित हुआ। फलत दक्षिण भारत मे कुछ नहरे तथा तालाब निर्मित करवाये गये तथा उत्तर भारत मे कुएँ और नहरो के निर्माण की ओर ध्यान दिया गया। पजाब के नदियों वाले (पश्चिमी) भाग मे—जो सर्वथा रेतीला था—प्रत्येक नदी से दो-दो नहरें निकाली गयी और मुलतान, रावलपिण्डी, मरगोधा, लायलपुर आदि के रेतीले भाग कुछ वर्षों में ही हरे-भरे हो गये। फलत पश्चिमी पजाब के बजर प्रदेश ने जहाँ कांटेदार झाडियो के अतिरिक्त कुछ उत्पन्न नही होता था, भारत के खाद्यान्न भण्डार का स्थान प्राप्त कर लिया।

योजनाकाल और सिंचाई—विशेषज्ञो का मत है कि यदि भारत की सम्पूर्ण कृषि-योग्य भूमि पर सिंचाई की यथोचित व्यवस्था कर दी जाय तो बिलकुल रेतीले भागो से भी गेहूँ, चावल, गन्ना और कपास जैसी फसलें प्राप्त की जा सकती हैं। पश्चिमी पजाब (पाकिस्तान) के लायलपुर तथा मुलतान के उदाहरणो को यदि पुराना भी मान लिया जाय तो भी राजस्थान के बीकानेर विभाग मे स्थित गगानगर क्षेत्र इस बात का साक्षी है कि यथेष्ट जल उपलब्ध होने पर रेतीली मिट्टी में भी मूल्यवान पदार्थ उत्पन्न किये जा सकते है। गगानगर क्षेत्र मे १९३० मे (पजाब मे फिरोजपुर के समीप सतलज नदी मे) गग नहर लायी गयी थी। उस समय वह भू-भाग सर्वथा रेतीला और बजर था किन्तु आज यह क्षेत्र न केवल सारे राजस्थान की अन्न सम्बन्धी आवश्यकताओ की पूर्ति करने मे समर्थ है बल्कि यहाँ शक्कर वस्त्र, रुई की गाँठें बाँधने आदि के कारखाने भी स्थापित हो गये है और यह क्षेत्र देश के सम्पन्न भागो मे से एक हो गया है।

सम्भवत उपर्युक्त विचार से प्रेरित होकर ही स्वतन्त्रता प्राप्ति के त काल बाद ही भारत सरकार ने देश की कृषि-व्यवस्था को सबल एव सम्पन्न बनाने की दृष्टि से अनेक प्रकार के सिंचाई कार्यक्रम आरम्भ किये, जो सक्षेप मे निम्नलिखित हैं

(१) बहुमुखी योजनाएँ—सरकार ने भाखरा, दामोदर घाटी, महानदी आदि अनेक बहुमुखी योजनाएँ आरम्भ की जिनका उद्देश्य न केवल सिंचाई के लिए नहरें निकालने के लिए बडे-बडे बाँध बनाना था बल्कि इन बाँधो मे सम्पूर्ण अतिरिक्त जल भेजकर बाढ नियन्त्रण करना, इनके जल को ऊँचे से गिराकर विद्युत उत्पन्न करना, इन बाँधो मे मछली व्यवसाय का विकास करना तथा बडी-बडी नहरें निकालकर उनके माध्यम से यातायात की सुविधाओं मे वृद्धि करना था।

(२) सामान्य योजनाएँ—बहुत बडी योजनाओ के अतिरिक्त सरकार ने अनेक छोटी योजनाएँ (कुएँ, तालाब, नलकूप तथा नहरे) आरम्भ की जिन पर धन कम खर्च हो और जो शीघ्र लाभ पहुँचाने वाली हो। ऐसी योजनाओ के अन्तर्गत कुएँ तथा तालाब बनाने के लिए सरकार द्वारा कुल व्यय की लगभग ५० प्रतिशत तक सहायता प्रदान करने की व्यवस्था की गयी जिसके फलस्वरूप पुराने सिंचाई स्रोतो की मरम्मत तथा विकास हुआ और नये कुएँ तथा तालाब निर्मित किये गये।

प्रथम योजनाकाल से वर्तमान समय तक सिचाई की सुविधाओं का विस्तार निम्न प्रकार हुआ है :

भारत मे सिंचाई को क्षमता व उपयोग
(IRRIGATION POTENTIALITY AND UTILISATION IN INDIA)

अन्त मे	सकल क्षेत्र (Gross area)			
	मिलियन हेक्टस मे		मिलियन एकड में	
	क्षमता	उपयोग	क्षमता	उपयोग
प्रथम योजना	२ ६	१·३	६ ५	८ १
द्वितीय योजना	४ ६	३ ४	११ ४	८ ३
तृतीय योजना	६ ९	५ ५	१७ ०	१३ ५
१९६६-६७	७ ४	६·१	१८ ४	१५ १
१९६७-६८	८ २	६ ८	२० २	१६ ७
१९६८-६९	८ ९	७ ३	२२ ०	१८ १
१९६९-७० (अनुमानित)	९ ७	७ ९	२४ १	१९ ६

[स्रोत—प्रतिवेदन १९६९ ७०, सिचाई व शक्ति मन्त्रालय, भारत सरकार। १ हैक्टर =२ ८६९ एकड।]

सारणी से स्पष्ट है कि प्रथम योजना के अन्त मे सिंचाई की क्षमता ६ ५ मिलियन एकड थी, जो सन् १९६९-७० मे बढकर २४ १ मिलियन एकड हो गयी।

योजनाओ के अन्तर्गत सिंचाई के साधनो के विकास पर पर्याप्त ध्यान दिया गया। सन् १९६९-७० तक सिचाई योजनाओं पर कुल १,९२३ करोड रुपये व्यय किये जा चुके थे, जैसा कि निम्नलिखित सारणी से स्पष्ट है

प्रमुख व मध्यम सिंचाई परियोजनाओं पर व्यय

(रकम करोड रुपये)

योजना	व्यय
प्रथम योजना	३८०*
द्वितीय योजना	३८०
तृतीय योजना	५८०
१९६६-६७	१३०
१९६७ ६८	१३२
१९६८-६९	१५१
१९६९ ७० (अनुमानित)	१७०
योग	१,९२३

* प्रथम योजना से पूर्व के समय के ८० करोड रुपयो सहित।

[स्रोत—प्रतिवेदन १९६९-७०, सिचाई व शक्ति मन्त्रालय, भारत सरकार।]

चतुर्थ योजना तथा सिंचाई—चतुर्थ योजना मे सिंचाई तथा बाढ नियन्त्रण के लिए कुल १०८७ करोड रुपये का प्रावधान किया गया है जिसमे से १४ करोड रुपया वर्तमान व्यय तथा १०७३ करोड रुपया विनियोग के लिए है। योजनाकाल मे वर्तमान अपूर्ण सिंचाई योजनाओ को पूरा किया जावेगा तथा कुछ नयी सिचाई योजनाएँ भी कार्यान्वित की जायेंगी। योजना अवधि मे (१९६९-७० से १९७३ ७४) अतिरिक्त सिचाई सुविधाओ के अग्रलिखित लक्ष्य हैं .

चतुर्थ योजना में सिंचाई के अतिरिक्त लक्ष्य

कार्यक्रम	अतिरिक्त लक्ष्य (मिलियन हैक्टर)
(क) प्रमुख तथा मध्यम सिंचाई योजना (उपयोग)	४ २
(ख) लघु सिंचाई योजनाएँ	
(i) नये क्षेत्र	३ २
(ii) ह्रास क्षेत्र का पुनर्स्थापन (Replacement of depreciated area)	१ ६
(iii) पूरक सिंचाई योजनाएं	२ ४

[स्रोत—चतुर्थ पंचवर्षीय योजना, मई १९७०]

इस प्रकार चतुर्थ योजना के अन्त तक सिंचाई योजनाओं का पर्याप्त विकास हो जायगा। **प्रथम योजनाकाल के प्रारम्भ से सन् १९६९-७० तक कुल ५४५ प्रमुख तथा मध्यम सिंचाई परियोजनाएं प्रारम्भ की गयीं जिनमें से कुल १९७० तक ३२५ परियोजनाएँ पूरी की जा चुकी थीं। शेष योजनाओं के पूरा हो जाने पर सिंचाई क्षमता में २२ ५ मिलियन एकड़ वृद्धि होगी।** इन सबके होते हुए भी सन् १९६९ ७० तक उपलब्ध जल साधनों के केवल $\frac{1}{3}$ भाग का ही सिंचाई के लिए उपयोग हो रहा था।

सिंचाई आयोग (Irrigation Commission)—अप्रैल १९६९ में भारत सरकार ने श्री अजीत प्रसाद जैन की अध्यक्षता में एक सिंचाई आयोग नियुक्त किया। आयोग का कार्य देश में सन् १९०३ से लेकर वर्तमान समय तक सिंचाई विकास की समीक्षा करना तथा भविष्य के लिए सिंचाई के सम्बन्ध में सुझाव देना था। आयोग सिंचाई से सम्बन्धित सभी समस्याओं—विकास, उपयोग, धन की आवश्यकता, प्रबन्ध-व्यय या आदि के सम्बन्ध में विस्तारपूर्वक अध्ययन कर अपना प्रतिवेदन प्रस्तुत करेगा।

इससे पूर्व दी गयी तालिका से स्पष्ट है कि योजनाकाल में निर्मित सिंचाई शक्ति का केवल ८७ प्रतिशत अंश ही प्रयोग किया जा सका है। इसके समुचित प्रयोग के लिए निम्नलिखित सुझाव दिये जा सकते हैं

सिंचाई साधनों के समुचित प्रयोग के लिए सुझाव

(१) पानी की पूर्ति उपलब्ध होने से पूर्व नहरों तथा नालों की खुदाई सम्पूर्ण हो जानी चाहिए ताकि किसानों को समय पर यथेष्ट मात्रा में पानी मिल सके।

(२) नहरें आदि निर्मित करने के साथ साथ भूमि सुधार, अच्छे बीज, खाद आदि से सम्बन्धित विकास कार्य किये जाने चाहिए।

(३) प्रारम्भिक दो-तीन वर्षों में सुधार शुल्क या जल शुल्क नहीं लिया जाना चाहिए।

भविष्य का कार्यक्रम—चतुर्थ योजनाकाल में सरकार को चाहिए कि वह शीघ्र कार्यान्वित होने वाली सिंचाई सुविधाओं की व्यवस्था करे ताकि अल्पकाल में भी कृषि पदार्थों की उत्पत्ति बढ़ाने में सहायता मिल सके। दीर्घकाल के लिए बड़ी योजनाओं द्वारा सिंचाई सुविधाओं के विस्तार का प्रयत्न किया जाना चाहिए।

सिंचाई के दोष एवं उपचार

यह सत्य है कि भारत के अनेक भागों में सिंचाई के लिए जल का अभाव है किन्तु अनेक भागों में जलाधिक्य की समस्या है। जलाधिक्य के कारण उन प्रदेशों की भूमि में दलदल हो जाते हैं तथा नमी निरन्तर बनी रहती है जिससे भूमि पर बीज सड़कर नष्ट हो जाते हैं और फसलें नहीं उग सकतीं।

सिंचाई का दूसरा दोष यह है कि भूमि पर क्रमश. क्षार आना आरम्भ हो जाता है। यह श्वेत पदार्थ कालान्तर मे काला पड जाता है और भूमि की उर्वराशक्ति को सर्वथा नष्ट कर देता है। पजाब में जलाधिक्य तथा क्षार की समस्या बहुत गम्भीर हो गयी है। इसके लिए निम्न उपचार सुझाये जा सकते हैं :

(१) बाढ का जल बाँध अथवा जलाशय मे मोड देना चाहिए अर्थात् उसे भूमि पर नहीं फैलने देना चाहिए।

(२) अतिरिक्त जल को नालियो द्वारा निकालने की व्यवस्था करनी चाहिए। इस कार्य-क्रम मे सफलता प्राप्त करने का उपाय है कि अधिक नीचे भागो को मिट्टी से पाट देना चाहिए ताकि उन पर पानी ठहरने की आशका न हो।

(३) अत्यधिक सिंचाई को रोकना चाहिए। इस उद्देश्य की सिद्धि के लिए अतिरेक (Surplus) जल को लम्बी नहरो के माध्यम से जलाभाव वाले स्थानो तक भेजने की चेष्टा करनी चाहिए। इस सम्बन्ध मे पजाब की जलाधिक्य की समस्या सम्पूर्ण अतिरिक्त जल राजस्थान म भेजकर हल की जा सकती है क्योकि राजस्थान की भूमि मे जल शोषण की असीम शक्ति है।

भूमि—सिंचाई का तीसरा महत्त्वपूर्ण दोष यह है कि यह बहुत अधिक भूमि खेती विहीन कर देती है। जब किसी क्षेत्र मे नहरें बनायी जाती है अथवा उन नहरो से खेतो मे पानी देने के लिए नालियाँ बनायी जाती हैं तो खेती योग्य बहुत सी भूमि इन नहरो अथवा नालियो के अन्तर्गत आ जाती है। यही समस्या कुओं तथा तालाबो द्वारा सिंचाई करने पर उत्पन्न होती है। वस्तुत यह एक प्राकृतिक समस्या है। इसका एकमात्र किन्तु सीमित हल यही है कि बडी-बडी नहरें बनायी जायें और उनकी सहायक नालियाँ भी आयोजित क्षेत्रो से निकाली जायें ताकि मार्ग मे जितने खेत आते जायें, उन सहायक नालियो से उन्हे पानी मिलता जाय। इस प्रकार की सहायक नालियो से खेतो को नियमित जल देने की व्यवस्था होनी चाहिए और हर किसान को अपने खेत के लिए अलग से मुख्य नाली निकालने की आवश्यकता नही पडनी चाहिए। यह एक विकट समस्या है और उसके कारण बहुत से विवाद एव सघर्ष होते है। अत इस समस्या का उचित हल निकालने का प्रयत्न किया जाना चाहिए।

अव्यवस्था—भारत मे सिंचाई की जितनी सुविधाएँ उपलब्ध है वह सुव्यवस्थित नहीं है अर्थात् नहरो, नालों अथवा जलमार्गों को बाँधो से यथासमय जल नही मिलता। अनेक बार वह समय से पूर्व अथवा पश्चात् मिलता है जिससे समय का सर्वोत्तम लाभ नही उठाया जा सकता। यह एक दुखद सत्य है और इसके लिए सरकार की शिथिल प्रबन्ध व्यवस्था उत्तरदायी है। इसका उचित समाधान यह है कि सिंचाई योजना को सर्वथा व्यावसायिक दृष्टिकोण से चलाया जाय। इसके लिए इसका प्रबन्ध अथवा सचालन भार स्वतन्त्र निगमो पर छोड देना चाहिए ताकि वह समय-समय पर कृषको की कठिनाइयो अथवा सुविधाओ का ध्यान रखते हुए सिंचाई नीति मे परिवर्तन कर सकें।

इस सम्बन्ध मे दूसरी महत्त्वपूर्ण बात सिंचाई दरो तथा सुधार कर की है। वर्तमान मे इन करो की वसूली बहुत कम हो रही है जिससे सिंचाई परियोजनाओ पर हानि हो रही है। यदि इनका प्रबन्ध किसी निगम (अथवा पृथक-पृथक निगमो) को दे दिया जाय तो यह समस्या दूर हो जायगी क्योकि निगम किसी भी पक्षपात की दृष्टि से कार्य करने के स्थान पर व्यावसायिक आधार पर कार्य करेगा। जब उसकी सेवाएँ अच्छी होंगी तो जनता कर देने का विरोध नही करेगी।

सिंचाई सम्बन्धी शुल्क अथवा करो के सम्बन्ध मे सरकार द्वारा पचायतो से सम्पर्क स्थापित कर उनकी उचित दरें निर्धारित करनी चाहिए। इन दरो मे समयानुसार परिवर्तन की गुजाइश भी रखनी चाहिए और प्रत्येक परिवर्तन के पहले किसानो अथवा सम्बन्धित जनता को पूर्व-सूचना

देकर उन्हें उसके औचित्य का विश्वास दिलाने की चेष्टा करनी चाहिए। एक विकेंद्रित सामाजिक एवं आर्थिक व्यवस्था में यह बहुत आवश्यक है।

नदी-घाटी योजनाएँ

भारत में सिंचाई तथा विद्युत शक्ति का विकास करने के लिए बहुमुखी योजनाएँ आरम्भ की गयी हैं। इन योजनाओं को बहुमुखी इसलिए कहा जाता है कि यह देश के विभिन्न क्षेत्रों में विकास के लिए लाभदायक होती हैं। बहुमुखी योजनाओं से सामान्यतः निम्नलिखित लाभ होने की आशा की जाती है

(१) सिंचाई—बहुमुखी योजनाओं के अन्तर्गत नदियों का बहाव रोककर उनके अतिरिक्त जल को बड़े-बड़े जलाशयों में एकत्रित किया जाता है। इस जल को खेतों तक पहुँचाने के लिए छोटी-बड़ी नहरें बना दी जाती हैं जिनके माध्यम से भूमि को सिंचाई की आवश्यक सुविधाएँ उपलब्ध हो जाती हैं। इन योजनाओं द्वारा अन्ततः लगभग १० करोड़ एकड़ कृषि योग्य भूमि में सिंचाई की सुविधाएँ उपलब्ध करने का अनुमान है।

(२) सस्ती बिजली—प्रायः सभी बहुमुखी योजनाओं का एक महत्त्वपूर्ण उद्देश्य यथेष्ट मात्रा में जल-विद्युत का विकास करना है। यह अनुमान लगाया गया है कि जल विद्युत ३ पैसे प्रति इकाई के हिसाब (प्रति किलोवाट घण्टे) में सरलतापूर्वक दी जा सकती है। इतनी सस्ती बिजली से ही भारत के ५.६ लाख ग्रामों को यथेष्ट प्रकाश तथा लघुकाय उद्योगों के विकास के लिए यथेष्ट शक्ति मिलना सम्भव है।

(३) बाढ़ नियन्त्रण—देश में कई नदियाँ (कोसी, महानदी, ब्रह्मपुत्र, गंगा, यमुना आदि) ऐसी हैं जिनमें प्रतिवर्ष बाढ़ आती है जिससे फसलों तथा अपार धनजन की हानि होती है। बहुमुखी योजनाओं के अन्तर्गत बनने वाले जलाशयों में सम्पूर्ण अतिरिक्त जलराशि समा सकेगी और उसका सदुपयोग हो सकेगा।

(४) क्षरण में रोक—बहुमुखी योजनाओं के विकास के कारण तीव्रगामी नदियों की गति कम हो जायगी, जिससे भूमि का क्षरण रुक सकेगा।

(५) यातायात—इन योजनाओं के अन्तर्गत अनेक बहुत बड़ी-बड़ी नहरें बनायी जा रही हैं जिनमें छोटी-बड़ी नावें तथा जहाज भी चल सकेंगे। इनके माध्यम से न केवल बहुत-सा भारी सामान सस्ते शुल्क पर भेजा जा सकेगा बल्कि रेलों तथा अन्य यातायात के साधनों को बहुत सहारा मिल जायेगा।

(६) मत्स्यपालन—अनेक बड़े बड़े जलाशय बनने से उसमें मत्स्यपालन योजनाओं का विकास एवं विस्तार किया जा सकेगा। वस्तुतः यह जलाशय मत्स्यपालन के सम्बन्ध में नये-नये प्रयोग करने में सहायक हो सकेंगे।

(७) मलेरिया नियन्त्रण—भूमि पर बाढ़ नियन्त्रण करने के कारण नदियों अथवा वर्षा का जल भूमि पर अधिक नहीं फैल सकेगा जिससे मलेरिया का प्रकोप कम हो जायेगा।

(८) विकास की गति—जिन क्षेत्रों में जलाशय निर्मित किये जा रहे हैं उनमें कृषि तथा उद्योगों के विकास की गति में तीव्रता आयेगी क्योंकि उन क्षेत्रों में जल तथा जल विद्युत का बाहुल्य होगा। फलतः वहाँ काम धन्धे तथा व्यवसाय में वृद्धि होना स्वाभाविक है।

(९) पर्यटन केन्द्र—बहुमुखी योजनाओं के केन्द्रों में प्राकृतिक सौन्दर्य एवं आकर्षण में वृद्धि होगी जिससे इन क्षेत्रों में अनेक पर्यटक एवं यात्री भ्रमणार्थ आने लगेंगे और इन स्थानों के विकास में योग मिल सकेगा।

(१०) जलवायु—बहुमुखी योजनाओं के क्षेत्रों में जल की बहुलता होने के कारण उन क्षेत्रों

की जलवायु सामान्य अर्थात गरमी में कम गरम तथा सरदी में कम शीतल हो गयी है। अन्य क्षेत्रों में भी इसी प्रकार के परिवर्तन आने की सम्भावना है।

प्रमुख नदी-घाटी योजनाएँ

भारत की प्रमुख नदी घाटी योजनाओं का विवरण नीचे दिया जा रहा है

(१) भाखरा-नागल योजना—यह भारत की बहुमुखी योजनाओं में सबसे बडी है और इस पर लगभग १७५ करोड रुपए की लागत का अनुमान है। इसमें सतलज नदी पर भाखरा नामक स्थान के पास २२६ मीटर (७४० फुट) ऊँचा बाँध बनाया गया है। इसके अतिरिक्त २९ मीटर ऊँचा नागल बाँध और ६४ किलोमीटर लम्बी नागल नहर निर्मित की गयी है।

भाखरा के बायें किनारे एक शक्ति-गृह तथा गगुवाल और कोटला में दो अन्य शक्ति-गृह (Power houses) निर्मित किये गये हैं। इनके अतिरिक्त १,१०४ किलोमीटर लम्बी मुख्य तथा ३,३६० किलोमीटर लम्बी सहायक नहरें बनायी गयी हैं। यह सब कार्य सम्पूर्ण हो चुका है।

भाखरा नहर प्रणाली के क्षेत्र में लगभग २७ ४ लाख हेक्टर भूमि है जिसमें से २३ ७ लाख हेक्टर भूमि पर खेती होती है। पूर्ण प्रयोग होने पर इसमें से १४ ६० लाख हेक्टर पर सिंचाई होने लगेगी तथा इसके अतिरिक्त १४ ६० लाख हेक्टर भूमि को अतिरिक्त जल उपलब्ध होगा। राजस्थान तथा पंजाब के एक महत्त्वपूर्ण भूभाग को भाखरा नहरों से जल मिलना आरम्भ हो गया है। इससे अकाल की आशंकाएँ बहुत कम हो गयी हैं।

भाखरा, गगुवाल तथा कोटला बिजलीघरों की विद्युत-शक्ति लगभग ६ ०४ लाख किलोवाट है। सतलज के दायें किनारे पर एक और शक्तिगृह बनाया जा रहा है जिसमें पाँच विद्युत उत्पादक इन्जन लगेंगे, जिनमें से प्रत्येक १२० मेगावाट बिजली उत्पन्न करेगा। इस पर कुल ७६ करोड रुपये व्यय होने का अनुमान है।

भाखरा-नागल योजना का सबसे महत्त्वपूर्ण लाभ यह हुआ है कि पूर्वी पंजाब तथा उत्तरी राजस्थान के रेगिस्तानी भागों को जल मिलने लगा है। जिसके फलस्वरूप इन क्षेत्रों में अकाल की भीषण छाया का सदा के लिए अन्त हो गया है। आगामी कुछ वर्षों में ही यह क्षेत्र आर्थिक सम्पन्नता से लाभान्वित हो सकेंगे, इसमें किंचितमात्र भी सन्देह नहीं है।

(२) दामोदर घाटी योजना—दामोदर नदी 'बिहार का शोक' के नाम से कुख्यात है क्योंकि इसमें प्राय प्रति वर्ष बाढ आती है जिससे अत्यधिक धन जन की हानि होती है। इस विनाश को रोकने, नदी के जल को सिंचाई के काम में लेने तथा विद्युत शक्ति उत्पन्न करने के लिए १९४८ में दामोदर घाटी निगम (Damodar Valley Corporation) की स्थापना की गयी।

इस योजना के अन्तर्गत तिलैया, माइथन, कोनार तथा पचेतहिल नामक स्थानों पर चार जलाशय बनाये गये हैं। इन जलाशयों में कोनार को छोड शेष तीनों के साथ एक-एक जल विद्युत शक्तिगृह सम्बद्ध है। इन तीनों शक्ति गृहों में लगभग १·०४ लाख किलोवाट बिजली उत्पन्न करने की क्षमता है।

उपर्युक्त शक्तिगृहों के अतिरिक्त बोकारो, दुर्गापुर तथा चन्द्रपुरा में तीन थर्मल शक्ति केन्द्र स्थापित किये गये हैं जिनकी कुल निर्माण क्षमता ६ २५ लाख किलोवाट है। इन सबसे उत्पन्न विद्युत शक्ति को दूर तक भेजने के लिए व्यवस्था की गयी है तथा दुर्गापुर में एक जलाशय नहरों तथा वितरक नालियों के लिए निर्मित किया गया है।

इस योजना के विभिन्न अंगों की प्रगति निम्न है :

तिलैया बाँध बराकर नदी पर बनाया गया है। यह १९५३ में पूर्ण हो गया था। कोनार बाँध १९५५ में और माइथन जलाशय १९५७ में बनकर तैयार हो गये थे। माइथन बाँध भी

बराकर नदी पर निर्मित किया गया है और उसमें लगभग ११.०४ लाख एकड़ फुट जल संग्रह किया जा सकता है। इस पर निर्मित विद्युत केन्द्र की निर्माण शक्ति लगभग ६०,००० किलोवाट है।

पंचेतहिल बाँध मुख्यतः बाढ़ नियन्त्रण के लिए बनाया गया है और दिसम्बर १९५९ में बनकर तैयार हो गया था। इसमें १२.१४ लाख एकड़ फुट जल संग्रह की क्षमता है। १९५९ में ही बाँध के समीप एक जल विद्युत केन्द्र द्वारा बिजली देने का कार्य आरम्भ हो गया जिसकी निर्माण शक्ति लगभग ४०,००० किलोवाट है।

दुर्गापुर जलाशय जो पश्चिमी बंगाल में बनाया गया है २,१७१ फुट लम्बा तथा ३८ फुट ऊँचा है। इससे १९५५ में जल प्राप्त होना आरम्भ हो गया था। किन्तु इसका विकास किया जा रहा है। सम्पूर्ण होने पर इस जलाशय से लगभग ९.७३ लाख एकड़ भूमि को जल मिल सकेगा। बाँध के पश्चिमी किनारे से निकाला गया एक नहर में लगभग ८४ मील तक नाव चल सकेगी और रानीगंज से कलकत्ता तक यातायात हो सकेगा।

बोकारो थर्मल केन्द्र का समारम्भ फरवरी १९५३ में हो गया था। इसकी विद्युत निर्माण शक्ति १.५ लाख किलोवाट थी किन्तु अब इसे बढ़ाकर २.२५ लाख किलोवाट कर दिया गया है। दुर्गापुर तथा चन्द्रपुरा में नये बिजलीघर बनाये जा रहे हैं जिनकी निर्माण शक्ति १२८ मेगावाट होगा। दुर्गापुर में ७५,००० किलोवाट बिजली उत्पन्न करने वाला शक्ति केन्द्र चालू हो गया है।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि दामोदर घाटी योजना एक महान योजना है जिसकी सम्पूर्णता पर देश के दो बड़े राज्य—बिहार तथा बंगाल—यथेष्ट मात्रा में सिंचाई तथा बिजली की सुविधाएँ प्राप्त कर सकेंगे।

(३) **तुंगभद्रा परियोजना**—आन्ध्र प्रदेश तथा मैसूर राज्य के सम्मिलित प्रयत्नों द्वारा यह तुंगभद्रा नदी पर मल्लपुरम नामक स्थान पर बनाया गया है। इसकी लम्बाई ७,९४२ फुट तथा ऊँचाई १९२ फुट है। बाँध के दायीं तथा बायीं ओर क्रमशः १२२ तथा १२७ मील लम्बी नहर बनायी गयी हैं जिनके पूरा होने पर आन्ध्र और मैसूर राज्यों की लगभग ८.३ लाख एकड़ भूमि को जल मिल सकेगा। तीसरी लगभग २१७ मील (निम्नस्तरीय) नहर तैयार हो चुकी है और दोनों राज्यों में लगभग ४ लाख एकड़ भूमि सिंचाई के अन्तर्गत आ चुकी है।

जलाशय के दायीं ओर दो विद्युत उत्पादन केन्द्र स्थापित करने की व्यवस्था की गयी है। इन केन्द्रों में चार उत्पत्ति इकाइयों ने बिजली देनी आरम्भ कर दी है जिनमें से प्रत्येक की क्षमता ९,००० किलोवाट है। इन दोनों बिजलीघरों में ९.९ मेगावाट बिजली उत्पन्न करने वाली दो इकाइयाँ और स्थापित की जा रही हैं। जलाशय के बायीं ओर भी एक शक्ति गृह स्थापित किया गया है जिसमें ३ उत्पत्ति इकाइयों ने कार्य आरम्भ कर दिया है और प्रत्येक की निर्माण शक्ति लगभग ९,००० किलोवाट है। १९६४ में ९,००० किलोवाट शक्ति की एक चौथी निर्माण इकाई आरम्भ की जा चुकी है।

(४) **राजस्थान नहर परियोजना**—इस योजना पर १९५७ में कार्य आरम्भ किया गया था। इसके अन्तर्गत सतलज नदी के पार हरीके नामक स्थान पर एक जलाशय बनाया जा रहा है। सम्पूर्ण योजना दो भागों में विभाजित है। प्रथम भाग में राजस्थान फीडर नहर है जो २१४ किलोमीटर लम्बी होगी। इसका १८० किलोमीटर लम्बा भाग पंजाब में होगा। दूसरा भाग राजस्थान नहर है जिसकी लम्बाई ४७० किलोमीटर होगी। यह पूरे राजस्थान राज्य में होगा।

राजस्थान नहर योजना के दो चरण हैं। प्रथम चरण में राजस्थान फीडर सम्पूर्ण तथा राजस्थान नहर का १८७ किलोमीटर का टुकड़ा सम्पन्न किया जा सकेगा। इसके १९६९-७० में पूरा होने की आशा है। दूसरे चरण में राजस्थान नहर का शेष भाग भी सम्पूर्ण हो सकेगा तथा
८ नहर भी बनकर पूरी हो जायेगी। यह कार्य १९७५-७६ तक सम्पन्न होने की सम्भावना

है। नहर का सम्पूर्ण भाग पक्का बनाया जायेगा ताकि भूमि द्वारा जल के शोषण की सम्भावना न रहे। अब तक सूरतगढ़ शाखा तथा रावतसर वितरक नहर पूरी हो चुकी हैं।

राजस्थान नहर को प्रारम्भ में रावी तथा व्यास नदियों से सीधा जल मिलेगा किन्तु बाद में जलाशयों से जलपूर्ति की जायेगी। नहर द्वारा बीकानेर, जैसलमेर तथा गंगानहर के तीनों जिलों की लगभग २६.२० लाख एकड़ भूमि को जल प्राप्त होने का अनुमान किया गया था, परन्तु नवीन योजना के अनुसार लगभग ३६.२९ लाख एकड़ भूमि को साल भर पानी देने की व्यवस्था की जा सकेगी। राजस्थान नहर न केवल देश के सबसे रेतीले भू-भाग को सिंचाई के लिए जल प्रदान करेगी बल्कि इससे लाखों व्यक्तियों तथा पशुओं को पीने के पानी की भी उपलब्धि होगी। इस योजना पर लगभग ६६.४७ करोड़ रुपये व्यय होने की सम्भावना है।

(५) **हीराकुड परियोजना**—महानदी पर बनाये जाने वाले हीराकुड जलाशय की लम्बाई संसार के सभी जलाशयों से अधिक अर्थात् १५,७४८ फुट है और इसमें लगभग ६३ एकड़ फुट जल संग्रह कर सकने की क्षमता है।

इस योजना को भी दो भागों में सम्पूर्ण किया जा रहा है। प्रथम भाग में नहरों तथा वितरक नालियों का निर्माण सम्मिलित है जो पूरा किया जा चुका है। इससे उड़ीसा की लगभग ३.८ लाख एकड़ भूमि सिंचाई के अन्तर्गत आ गयी है। इस चरण का ही पूरक भाग महानदी डेल्टा सिंचाई योजना है जो चतुर्थ पंचवर्षीय योजनाकाल में पूरी की जायेगी तथा जिस पर लगभग २६.७४ करोड़ रुपया व्यय होगा।

योजना के दूसरे चरण में विद्युत शक्ति का विकास करना रखा गया है। इसके अन्तर्गत लगभग सवा लाख किलोवाट बिजली उत्पन्न करने की व्यवस्था है और हीराकुड से राउरकेला तक एक १३२ मेगावाट शक्ति की विद्युत विस्तार लाइन डालने का प्रावधान है। इन कार्यक्रमों में से अधिकांश पूरे हो चुके हैं तथा शेष पूरे होने के क्रम में हैं।

(६) **चम्बल योजना**—चम्बल नदी राजस्थान तथा मध्य प्रदेश में बहती है और प्रति वर्ष बाढ़ द्वारा इन दोनों राज्यों को बहुत हानि पहुँचाती रही है। इसलिए राजस्थान तथा मध्य प्रदेश राज्यों ने चम्बल को नियन्त्रित करने का प्रयत्न किया है। योजना के अन्तर्गत गांधीसागर बाँध बनाया गया है तथा कोटा जलाशय निर्मित किया गया है। इनमें २० नवम्बर, १९६० से जल प्राप्त होना आरम्भ हो गया है। गांधीसागर बाँध में ६८.५ लाख एकड़ फुट जल एकत्र करने की क्षमता है तथा इससे लगभग ११ लाख एकड़ (४.८६ लाख हेक्टेयर) भूमि में सिंचाई होने लगी है। इसके अतिरिक्त गांधीसागर शक्ति केन्द्र में ८०,००० किलोवाट बिजली उत्पन्न करने का प्रावधान है जिसके लिए पाँच उत्पादक इकाइयाँ स्थापित करने की व्यवस्था की गयी है। इनमें से तीन इकाइयों द्वारा बिजली मिलना आरम्भ हो गया है।

चम्बल योजना के प्रथम चरण की सम्पूर्णता पर द्वितीय चरण पर भी कार्य आरम्भ कर दिया गया है जिसके अन्तर्गत राणाप्रताप सागर बाँध बनाया जा रहा है। इसके पूरा होने पर लगभग ३ लाख एकड़ भूमि को जल मिलने लगेगा तथा ९०,००० किलोवाट बिजली उत्पन्न की जा सकेगी। कोटा बाँध का निर्माण-कार्य आरम्भ कर दिया गया है और इसके नीचे एक बिजलीघर भी बनाया जा रहा है जिसमें लगभग एक लाख किलोवाट बिजली उत्पन्न की जा सकेगी।

(७) **गण्डक योजना**—४ दिसम्बर, १९५९ को भारत तथा नेपाल सरकार के बीच एक अन्तरराष्ट्रीय समझौते पर हस्ताक्षर किये गये जिसके अन्तर्गत गण्डक सिंचाई एवं शक्ति परियोजना को कार्यान्वित करने की व्यवस्था है। इस योजना के मुख्य भागीदार उत्तर प्रदेश तथा बिहार राज्य हैं किन्तु इसमें उत्पन्न सिंचाई तथा शक्ति की सुविधाएँ नेपाल को भी उपलब्ध हो सकेंगी।

गण्डक योजना के अन्तर्गत २,७४९ फुट लम्बा बैरेज (barrage) बनाया जायेगा तथा

भैंसालोटन नामक स्थान पर गण्डक नदी पर रेल तथा सडक का पुल होगा। इसके अन्तर्गत पूर्वी तथा पश्चिमी नहर प्रणालियाँ होंगी। पूर्वी प्रणाली द्वारा डोन शाखा नहर, नेपाल पूर्वी नहर, त्रिवेणी नहर तथा तिरहुत नहर को जल उपलब्ध होगा। पश्चिमी प्रणाली के अन्तर्गत पश्चिमी नेपाल नहर, मुख्य पश्चिमी नहर तथा सरन नहर बनायी जा रही है। नेपाल पश्चिमी नहर पर १५,००० किलोवाट शक्ति का एक बिजलीघर भी बनाने का प्रावधान है। यह बिजलीघर बनाने के पश्चात नेपाल सरकार को भेंट स्वरूप दे दिया जायेगा।

गण्डक योजना द्वारा भारत तथा नेपाल के कुछ भू-खण्डों को जल तथा बिजली उपलब्ध हो सकेगी जिससे कृषि, व्यवसाय तथा रोजगार की सुविधाओं मे विकास होगा।

(८) कोसी योजना—कोसी नदी भी नेपाल तथा बिहार के लिए अभिशाप है क्योंकि इसमे भी प्राय प्रति वर्ष बाढ आती है। इस योजना के अन्तर्गत कोसी नदी पर लगभग ३,७७० फुट लम्बा बैरेज तथा एक पुल निर्मित करने की व्यवस्था की गयी है। यह दोनो पूरे हो चुके हैं तथा बाढ नियन्त्रण के लिए भी कुछ जलाशय निर्मित किये जा चुके हैं।

कोसी योजना पर लगभग ६८ करोड रुपये व्यय होने का अनुमान है। इसके सम्पूर्ण होने पर बाढ नियन्त्रण मे सहायता तथा बिहार और नेपाल की लगभग ३१ लाख एकड भूमि मे सिंचाई की सुविधाएँ उपलब्ध होने की आशा है। पूर्वी कोसी नहर पर एक बिजलीघर भी बनाया जा रहा है जिसमे २०,००० किलोवाट बिजली उत्पन्न करने वाली चार निर्माण इकाइयाँ स्थापित की जायेंगी।

(६) नागार्जुन सागर योजना—यह आन्ध्र प्रदेश की योजना है जिसके अन्तर्गत नन्दीकोंडा नामक ग्राम के समीप कृष्णा नदी पर एक बांध बनाया जा रहा है। बांध के दोनों ओर २४३ मील लम्बी नहरें बनायी जायेंगी जिससे लगभग २१ लाख एकड भूमि पर सिंचाई हो सकेगी। जलाशय तथा नहरों का निर्माण-कार्य १९६८-६९ मे सम्पूर्ण हो गया है। इस योजना पर लगभग ६१ करोड रुपये व्यय हुए।

(१०) व्यास योजना—यह योजना भी पंजाब तथा राजस्थान राज्यों के सहयोग द्वारा पूरी की जा रही है। इसको दो भागो मे बाँटा गया है—प्रथम भाग का नाम व्यास सतलज शृंखला है जिसके अन्तर्गत पाडोह नामक स्थान पर एक बांध बनाया जायेगा जिससे लगभग १३ लाख एकड क्षेत्र मे सिंचाई हो सकेगी। इससे एक बिजलीघर भी सम्बद्ध होगा जिसकी विद्युत निर्माण क्षमता ६३६ मेगावाट होगी।

दूसरे भाग के अन्तर्गत व्यास नदी पर पोंग बांध बनाया जायेगा जिससे राजस्थान नहर को पानी मिल सकेगा। इस बांध से पंजाब तथा राजस्थान की लगभग ५० लाख एकड भूमि को पानी मिलने की आशा है।

उपर्युक्त योजनाओं के अतिरिक्त अनेक छोटी बड़ी योजनाओं पर कार्य चल रहा है जिसकी पूर्ति से देश की जल-सम्पदा का यथोचित प्रयोग हो सकेगा और कृषि-व्यवस्था और औद्योगिक विकास को यथेष्ट बल मिलेगा।

सिंचाई सुविधाओं के लिए सुझाव

भारत सरकार ने सिंचाई योजनाओं से यथोचित लाभ प्राप्त करने की दिशा मे सुझाव देने के लिए मैसूर के मुख्यमन्त्री श्री निर्जालगप्पा की अध्यक्षता मे एक समिति नियुक्त की थी। इस समिति ने जनवरी १९६५ म अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत की तथा निम्नलिखित सुझाव दिये

(१) नयी योजनाएँ—समिति का मत है कि नयी योजनाएँ बनाते समय यह ध्यान रखना चाहिए कि उनसे देश के खाद्यान्नों के उत्पादन मे कितनी वृद्धि होगी तथा सरकार को कितनी आय हो सकेगी। नयी योजनाओं का आधार राष्ट्रीय हित होना चाहिए।

(२) लाभ की मात्रा—समिति का मत था कि प्रत्येक योजना मे १ ५ १ के अनुपात मे

लाभ होना चाहिए, अर्थात् यदि १०० रुपये विनियोग किये जायें तो उससे १५० रुपये की प्राप्ति होनी चाहिए।

समिति ने यह भी कहा है कि पिछड़े हुए क्षेत्रो मे लाभ के इस अनुपात मे परिवर्तन किया जा सकता है।

(३) **समन्वय**—समिति ने लघु, मध्यम तथा बडी योजनाओ मे समन्वय स्थापित कर सिंचाई की सुविधाएँ बढाने का मत प्रकट किया है।

(४) **सिंचाई बजट**—समिति ने दृढतापूर्वक यह विचार प्रकट किया है कि सिंचाई के लिए निश्चित रकम अन्य क्षेत्रो मे स्थानान्तरित नही की जानी चाहिए।

(५) **प्राथमिकता**—समिति का मत है कि जिन योजनाओ पर कार्य आरम्भ किया जा चुका है उन्हे पूरी शक्ति एव साधन लगाकर पूरा कर लिया जाना चाहिए और नयी योजनाएँ उसके पश्चात् ही हाथ मे लेनी चाहिए।

(६) **जल-शुल्क**—समिति के मतानुसार जिन भागो मे जल सिंचन से लाभ प्राप्तियां हुई हैं वहाँ जनता पर लाभ-प्राप्ति का २५ से ४० प्रतिशत भाग जल-शुल्क (Water rates) के रूप मे वसूल किया जाना चाहिए। जल-शुल्क की दरो पर हर पाँचवें वर्ष पुर्नविचार किया जाना आवश्यक है।

(७) **सुधार शुल्क और नयी योजना**—जिन क्षेत्रो के व्यक्ति सुधार शुल्क (Betterment levy) देने को तैयार हो उनमे नयी सिंचाई योजनाएँ चालू करने की प्राथमिकता दी जानी चाहिए।

जिन क्षेत्रो मे सिंचाई सुविधाओ की माँग अत्यधिक है तथा सहकारी समितियाँ अथवा चीनी फैक्टरियाँ सुधार शुल्क अग्रिम देने को तैयार हो वहाँ सिंचाई सुविधाओ का विकास करने मे तत्परता से काम लेना चाहिए।

निष्कर्ष—निजलिंगप्पा समिति की सिफारिशो से यह निष्कर्ष निकलता है कि देश मे सिंचाई सुविधाओ का सन्तुलित विकास किया जाना चाहिए तथा प्राथमिकता देते समय राष्ट्रीय हितो के अतिरिक्त आय का भी ध्यान रखा जाना चाहिए।

प्रश्न

१. भारत मे सिंचाई के कौनसे साधन प्रचलित है? प्रत्येक के गुण-दोषो का वर्णन कीजिए। (आगरा, बी० कॉम०, १९५५)

२ भारत मे बहु-उद्देशीय नदी-घाटी योजनाओ का वर्णन कीजिए। उनका भारतीय कृषि तथा उद्योगो पर क्या प्रभाव पडा है? (आगरा, बी० ए०, १९५३, १९५५)

३ बहु-उद्देशीय नदी-घाटी योजनाओ का भारत के आर्थिक, विकास विशेषकर बाढ नियन्त्रण मे, क्या महत्त्व है? इस सम्बन्ध मे भारत की अब तक की योजना तथा प्रगति का वर्णन कीजिए। (राजस्थान, बी० ए०, १९५५)

४. 'यदि मानसून न आये तो कृषि उद्योग मे ताला पड जाता है।' इस तथ्य का विवेचन कर कृषि मे सिंचाई का महत्त्व समझाइए। (आगरा, बी० कॉम०, १९६१)

५. भारतीय आर्थिक जीवन मे सिंचाई का क्या महत्त्व है? (पटना, बी० ए०, १९५७)

६ सिंचाई, नौका परिवहन, जल-विद्युत विकास, बाढ, मलेरिया तथा भूमि-कटाव से सुरक्षा के सम्बन्ध मे बहु-उद्देशीय बाधाओ के महत्त्व का विवेचन कीजिए। किसी ऐसी योजना की, जिसका आपने अध्ययन किया हो, सामान्य विशेषताओ का विस्तृत वर्णन कीजिए। (आगरा, बी० कॉम०, १९६२)

७ भारत की मुख्य नदी-घाटी योजनाओं का वर्णन कीजिए तथा उनका भारतीय कृषि तथा उद्योग में महत्त्व बतलाइए। (राजस्थान, बी० ए०, १९६२)

८ इस विचार की व्याख्या और जाँच कर कि 'जल स्वर्ण से भी अधिक मूल्यवान है।' भारत की मुख्य सिंचाई तथा जल-विद्युत योजनाओं की प्रगति का वर्णन कीजिए। (आगरा, बी० कॉम०, १९६३)

९ कृषि के विकास में सिंचाई के महत्त्व पर प्रकाश डालिए तथा गत वर्षों में भारत में कृषि विकास की सुविधाओं के विस्तार का ब्यौरा दीजिए। *(राजस्थान, बी० ए०, १९६३, सागर, बी० ए०, १९६३)*

१० भारत में सिंचाई के विभिन्न साधनों का संक्षिप्त विवरण दीजिए और उनमें से प्रत्येक के पक्ष और विपक्ष में तर्कयुक्त विवेचना कीजिए। (राजस्थान, बी० कॉम०, १९६३)

११ कृषि की सिंचाई के लिए हमारे नियोजन के अन्तर्गत किये गये उपायों का परीक्षण कीजिए। (नागपुर, बी०, कॉम०, १९६४)

15 कृषि वित्त

(AGRICULTURAL FINANCE)

"Agricultural credit in India falls short of the right quantity, is not of the right type, does not serve the right purpose and by the criterion of need (not overlooking the criterion of credit worthiness), often fails to go to the right people

—Rural Credit Survey Committee

कृषि साख की आवश्यकता

कुछ व्यक्तियों का यह विचार है कि ऋण लेना कोई अच्छा कार्य नहीं है और ऋण अधिकतर अपव्यय अथवा दुरुपयोग के लिए उपलब्ध किये जाते हैं परन्तु यह विचार सत्य प्रतीत नहीं होता क्योंकि ऋण प्राप्त करना एक अनिवार्य आवश्यकता है। निकल्सन के शब्दों में, "रोम से इंगलैण्ड तक का कृषि इतिहास इस बात का साक्षी है कि कृषि के लिए ऋण लेना आवश्यक है। देश की परिस्थितियां भूमि-अधिकार अथवा कृषि की अवस्था इस महान तथ्य को तनिक भी प्रभावित नहीं करती कि कृषक के लिए ऋण लेना आवश्यक है।"

किसान को अनेक कार्यों के लिए ऋण की आवश्यकता होती है। कभी कभी उसे भूमि, हल या बैल खरीदने अथवा सिंचाई सुविधाओं की व्यवस्था करने के लिए ऋण की आवश्यकता होती है तो कभी सामाजिक कार्यों अथवा जीवन निर्वाह के लिए ऋण लेना पड़ सकता है। यह सभी प्रकार के ऋण सामाजिक महत्त्व भी रखते हैं अर्थात कुछ ऋण अल्पकालीन अथवा मध्यकालीन एवं कुछ दीर्घकालीन हो सकते हैं।

(i) अल्पकालीन साख—ग्रामीण साख सर्वेक्षण समिति का मत है कि १५ मास तक की अवधि के लिए प्राप्त किये गये ऋण अल्पकालीन होते हैं। इस प्रकार की साख की आवश्यकता खाद अथवा बीज खरीदने, फसल बोने से लेकर काटने तक के समय का खर्च चलाने तथा किसान और उसके पशुओं की दैनिक आवश्यकताओं की पूर्ति के वास्ते होती है।

(ii) मध्यकालीन साख—अल्पकालीन ऋणों के अतिरिक्त कुछ ऋण ऐसे होते हैं जो १५ मास से लेकर ५ वर्ष तक के लिए प्राप्त किये जाते हैं। इस प्रकार के ऋणों की आवश्यकता कृषि सुधार के वास्ते उपकरण खरीदने, सिंचाई की व्यवस्था करने, भूमि को समतल करने अथवा बाड़ लगाने तथा पशु खरीदने के वास्ते होती है। इन कार्यों के लिए प्रायः कुछ अधिक राशि की आवश्यकता पड़ती है तथा उनका भुगतान करने में भी कुछ अधिक समय लगता है। स्वभावतः इन ऋणों पर ब्याज की दर भी कुछ अधिक होती है।

(iii) **दीर्घकालीन साख**—पाँच वर्ष से लम्बी अवधि के लिए जो साख ली जाती है वह दीर्घकालीन कहलाती है। इस प्रकार की साख स्थायी पूँजी के लिए आवश्यक होती है, जैसे भूमि खरीदने, मूल्यवान उपकरण उपलब्ध करने, भूमि-सुधार करने तथा पुराने ऋणों का भुगतान करने के लिए प्राप्त किया जाता है। इन सब कार्यों के लिए अधिक धनराशि की आवश्यकता होती है अतः उनका भुगतान करने में भी अधिक समय लगता है। दीर्घकालीन ऋणों पर ब्याज की दर प्रायः ऊँची होती है क्योंकि सम्बन्धित धनराशि बहुत समय के लिए रुक जाती है। इस प्रकार की साख का भुगतान सुविधाजनक किश्तों में करने की व्यवस्था होनी चाहिए।

कृषि वित्त की व्यवस्था करने वाले लोगों को तीन वर्गों में विभाजित किया जा सकता है—(१) निजी, (२) वित्तीय संस्थाएँ एवं (३) सरकार। निजी संस्थाओं में मुख्यतः साहूकार तथा देशी बैंकर और वित्तीय संस्थाओं में रिजर्व बैंक, स्टेट बैंक, सहकारी तथा व्यापारिक बैंक सम्मिलित किये जा सकते हैं। राज्य सरकारें तकावी के माध्यम से कृषि वित्त की व्यवस्था करती हैं। कृषि-वित्त में इन सबके योगदान पर इस अध्याय में विचार किया गया है।

भारतीय ग्राम्य सर्वेक्षण समिति की सिफारिशें (Recommendations of the Rural Credit Survey Committee)—सन् १९५१ में रिजर्व बैंक ने ग्रामीण साख की समस्याओं की जाँच के लिए ए० डी० गोरवाला की अध्यक्षता में एक समिति नियुक्त की जिसके सदस्य प्रो० डी० आर० गाडगिल, बी० वेंकटैया तथा डॉ० एन० एस० आर० शास्त्री थे। समिति ने तीन वर्ष तक देश के ७५ जिलों के ६०० नमूने के ग्रामों का गहन अध्ययन कर १९५४ में एक रिपोर्ट प्रस्तुत की।

साहूकार का प्रभुत्व—समिति ने अपनी रिपोर्ट में यह मत प्रकट किया कि देश की साख व्यवस्था में साहूकार का अत्यधिक प्रभुत्व है। इस मत की पुष्टि में निम्नलिखित अंक दिये गये

ग्राम्य साख एजेंसियाँ

एजेंसी	कुल साख का प्रतिशत	एजेंसी	कुल साख का प्रतिशत
१ सरकार	३.३	६ कृषि साहूकार	२४.९
२ सहकारी संस्थाएँ	३.१	७ व्यावसायिक साहूकार	४४.८
३ व्यापारिक बैंक	०.९	८ व्यापारी और कमीशन एजेंट	५.५
४ रिश्तेदार	१४.२		
५ जमींदार	१.५	९ अन्य	१.८
		योग	१००.०

समिति ने ग्राम्य अर्थतन्त्र को अत्यन्त निर्बल घोषित करते हुए यह स्पष्ट कहा कि इसकी आवश्यकता दूर करने के लिए कृषि साख में राज्य का अधिकाधिक सहयोग वांछनीय है। समिति ने कहा कि सरकार का कार्य अब तक मुख्यतः व्यवस्थात्मक रहा है और उसने वित्तीय सहयोग न्यूनतम दिया है। देश की समस्या केवल ग्राम्य दृष्टिकोण वाली साख से हल नहीं हो सकती वरन् उसके लिए कृषि का विकास और क्रय-विक्रय (marketing) तथा विधायन (processing) का संगठन करना आवश्यक है।

संग्रथित साख योजना (Integrated Scheme of Rural Credit)—ग्राम्य साख सर्वेक्षण समिति ने ग्राम्य साख के लिए एक संग्रथित योजना प्रस्तुत की, जो तीन सिद्धान्तों पर आधारित है—(१) विभिन्न स्तरों पर राजकीय साझेदारी, (२) साख तथा अन्य आर्थिक क्रियाओं (विशेषतः क्रय विक्रय तथा विधायन) का समन्वय, तथा (३) पूर्णतः प्रशिक्षित एवं कुशल व्यक्तियों द्वारा प्रबन्ध। संग्रथित साख के इन तीन पहलुओं का इस प्रकार स्पष्टीकरण किया गया है -

(१) राजकीय साझेदारी जिसमें वित्तीय सहयोग भी सम्मिलित है, निम्नलिखित दशाओं में दी जानी चाहिए :

(क) ग्रामीण उत्पादक को उत्पादन वृद्धि के लिए पर्याप्त साख,

(ख) सहकारी आधार पर क्रय विक्रय तथा विधायन (processing) और माल संग्रह करने के लिए पर्याप्त साख,

(ग) किसान के लिए आवश्यक सभी आर्थिक क्रियाओं जैसे खेती, सिंचाई, बीज तथा खाद व्यवस्था, यातायात, मत्स्यपालन, दुग्धपूर्ति, पशुपालन तथा कुटीर उद्योगों के सहकारी ढंग पर संगठन पर सहयोग।

इन सब क्रियाओं के लिए एक शक्तिशाली व्यापारिक बैंक (स्टेट बैंक ऑव इण्डिया) स्थापित किया जाना चाहिए, जिसकी शाखाएँ देश के ग्रामीण क्षेत्र में फैलायी जायँ तथा जो ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था को यथावश्यक आर्थिक सहयोग प्रदान कर सकें।

(२) **कार्यकर्ता**—उपर्युक्त कार्यों की सफलता के लिए ग्राम्य अर्थशास्त्र से परिचित एवं ग्रामीण हितों के विकास के लिए प्रशिक्षित व्यक्तियों की उपलब्धि की जानी चाहिए, जिन्हें यथोचित प्रशिक्षण या जानकारी द्वारा ग्रामीण विकास संस्थाओं के कुशल संचालन का भार सौंपा जा सके।

(३) **सरकारी हस्तक्षेप नहीं**—सरकारी वित्तीय साझेदारी अधिकाधिक रूप में होकर भी इस साझेदारी का अन्तिम उद्देश्य ग्रामीण सहकारी संस्थाओं को इतना सबल और सशक्त बनाना होना चाहिए कि वह न केवल अपने पाँवों पर खड़ी होने लायक बन सकें बल्कि शोषक साहूकारों से समान स्तर पर स्पर्द्धा कर सकें।

(४) **ग्रामीण बचतों को प्रोत्साहन**—ग्रामों में (पंचवर्षीय योजनाओं अथवा विकास कार्यों द्वारा जनित) जो आय-वृद्धि हो उसे बचत के रूप में प्राप्त किया जाय और उसे सामूहिक रूप में ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था के विकास के लिए ही काम में ले लिया जाय।

समिति ने इन सब उद्देश्य की पूर्ति के लिए रिजर्व बैंक, सरकार तथा बैंकों द्वारा ग्राम्य विकास के लिए आर्थिक योगदान की सिफारिश की तथा सहकारिता, गोदाम व्यवस्था, विक्रय व्यवस्था एवं साख व्यवस्था का विकास करने के लिए नवीन निगम अथवा संस्थाएँ स्थापित करने का सुझाव दिया। इन सिफारिशों के आधार पर ही ग्रामीण साख सुविधाओं का विकास किया गया है जिसका विवरण इस अध्याय में यथास्थान दिया गया है।

ग्रामीण साख की आवश्यकता का अनुमान

ग्रामीण साख सर्वेक्षण समिति ने भारत में ग्रामीण साख की वार्षिक आवश्यकता का अनुमान ७५० करोड़ रुपये लगाया था। १९६० में यह अनुमान १,४०० करोड़ रुपये वार्षिक था।

सन् १९६९ में ग्रामीण साख समीक्षा समिति (Rural Credit Review Committee) ने अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत की। इस रिपोर्ट में यह कहा गया है कि १९७३-७४ में भारत की ग्रामीण साख की कुल आवश्यकता लगभग ४,००० करोड़ रुपये हो जायगी जिसका ब्यौरा निम्नलिखित है :

अल्पकालीन	२,००० करोड़ रुपये
मध्यमकालीन	५०० ,, ,,
दीर्घकालीन	१,५०० ,, ,,

समिति ने इस आवश्यकता की पूर्ति के लिए विभिन्न संस्थाओं को शक्तिशाली बनाने का सुझाव दिया है।

ग्रामीण साख के स्रोत

ग्रामीण साख की पूर्ति करने वाली एजेन्सियों का ब्यौरा आगे दिया जा रहा है।

साहूकार तथा देशी बैंकर

डॉ० जैन (L C Jain) के अनुसार, साहूकार अथवा महाजन वह व्यक्ति है जो अपने ग्राहकों को समय समय पर ऋण देता रहता है और देशी बैंकर वह व्यक्ति है जो ग्राहकों को ऋण देने के अतिरिक्त निक्षेप स्वीकार करने तथा हुण्डियों के लेन देन का काम भी करता है।

(i) **वर्गीकरण**—ऋण देने वाले वर्गों मे जमींदार कृषक तथा व्यापारी प्रमुख हैं। यह लोग प्राय जिन व्यक्तियों के सम्पर्क मे आते है अथवा जिनमे लेन देन करते हैं उनको उधार देते रहते हैं। जमींदार और सम्पन्न कृषक प्राय छोटे किसानो को उधार देते हैं। व्यापारी प्राय अपने ग्राहकों को माल उधार बेचते है और माल की राशि पर एक निश्चित अवधि के पश्चात ब्याज लेना आरम्भ कर देते हैं। गाँव से आये हुए किसानों अथवा अन्य लोगो को प्राय माल उधार बेचा जाता है और विक्रय के दिन से ही ब्याज चालू कर दिया जाता है। इस वर्ग के लोगो के निश्चित विक्रय स्थल अथवा कार्यालय होते हैं और इनकी ब्याज की दरें उचित होती हैं।

अन्य वर्गों मे पठान, वकील, अध्यापक, पेंशन प्राप्त करने वाले लोग विधवाएँ तथा रिक्शा चालक तक सम्मिलित हैं। यह लोग अपनी अतिरिक्त आय उधार देते रहते हैं तथा प्राय अत्यधिक ब्याज लेते है।

(ii) **ऋण पद्धतियाँ**—महाजन तथा देशी बैंकर प्राय ऋण देने की समान पद्धतियो का प्रयोग करते है। अन्तर केवल इतना है कि बैंकर प्राय बडे व्यापारियो को ऋण देते हैं जबकि महाजन के ग्राहक सामान्य किसान मजदूर अथवा मध्यम वर्ग के लोग होते हैं। इनकी ऋण देने की निम्नलिखित पद्धतियाँ प्रचलित हैं

(क) **खरी किस्त अथवा रहती (Instalment)**—यह सामान्य वर्ग के व्यक्तियो को ऋण देने की सर्वसिद्ध पद्धति है। इसके अन्तर्गत उधार लेने वाले को एक निश्चित राशि उधार दी जाती है और उस राशि का भुगतान किस्तो मे करने की व्यवस्था होती है। ब्याज की रकम भी किस्त मे जुडी हुई होती है। किस्तें मासिक, साप्ताहिक अथवा दैनिक हो सकती हैं। खरी अथवा किस्त ऋण में प्राय एक शर्त यह जोडी जाती है कि यदि किस्त का भुगतान समय पर नही होगा तो कुछ राशि दण्डस्वरूप प्राप्त की जायेगी।

(ख) **गिरवीं रखना**—इस पद्धति के अन्तर्गत आभूषण बर्तन अथवा दैनिक उपभोग की अन्य वस्तुओ को गिरवी रखकर ऋण दिया जाता है। सामान्य व्यवहार के अनुसार गिरवी रखी गयी वस्तु के ५० से ७५ प्रतिशत तक मूल्य की रकम उधार दे दी जाती है। बहुधा गिरवी रखी हुई वस्तुएँ ऋणियों द्वारा निश्चित समय मे छुडायी नही जाती हैं जिससे फलस्वरूप वह साहूकार की सम्पत्ति बन जाती हैं।

(ग) **बन्धक**—अनेक बार भूमि मकान तथा दुकान बन्धक रखकर ऋण दिये जाते हैं। कभी कभी तो ऋणदाता का बन्धक रखी सम्पत्ति का कब्जा नहीं दिया जाता केवल उसका अधिकार पत्र दिया जाता है और ऋणी उस सम्पत्ति को बेच नही सकता। कभी कभी ऋणदाता को सम्पत्ति का कब्जा दे दिया जाता है अर्थात् वह उस सम्पत्ति का प्रयोग कर सकता है अथवा उसका किराया वसूल कर सकता है। किराये की यह रकम ऋणी के खाते मे जमा कर दी जाती है। ऋण देते समय प्राय एक बन्धकनामा लिख दिया जाता है जिसमे सम्पत्ति ऋण ब्याज तथा भुगतान की सब शर्तें लिखी जाती हैं।

(घ) **बाढ़ी**—साहूकार कभी कभी अन्न अथवा अन्य वस्तुओं मे ऋण देता है और फसल के समय पर वस्तुओ मे ही भुगतान प्राप्त करता है। ऐसी स्थिति मे प्राय ऋण दिए हुए माल का सवाया ड्योढा अथवा दूना तक चुकाने की शर्त रखी जाती है। यह शर्तें सवायी बाढ़ी ड्योढ़ी बाढ़ी, आदि कहलाती हैं।

धरोहर—भारत के किसान अथवा कारीगर के पास धरोहर मे रखने के लिए विशेष मूल्यवान सम्पत्ति नही होती। भूमि, कृषि-उपकरण, पशुधन अथवा सामान्य आभूषण आदि धरोहर के रूप मे रखे जा सकते है। प्रचलित प्रथा के अनुसार ऋण प्राय व्यक्तिगत जमानत पर दिये जाते हैं और प्रतिज्ञा-पत्र लिखवा लिया जाता है। कभी-कभी ऋणी के स्वय के हस्ताक्षरो के अतिरिक्त एक या दो जमानतदारो के हस्ताक्षर भी करवा लिये जाते है। देश के कुछ भागो (बम्बई, राजस्थान आदि) मे ऋणी के परिवार का एक व्यक्ति साहूकार के परिवार मे तब तक कार्य करता है जब तक कि सम्पूर्ण ऋण ब्याज सहित नही चुक जाता। आदिवासी तथा भीलो के क्षेत्र मे यह प्रथा प्रचलित है जो दास प्रथा से किसी भी दशा मे कम नही है। कही-कही भूमि, पशु आदि बन्धक रखकर ऋण देने की प्रथा प्रचलित हो गयी है।

(iii) साहूकारों के दोष—साहूकारो की कार्य-पद्धति अत्यन्त लोचदार होती है और वह समय, परिस्थिति तथा व्यक्ति के अनुसार उनमे परिवर्तन करता रहता है। उसकी कार्यवाहियो की सर्वत्र आलोचना की गयी है। साहूकार की आलोचना के मुख्य कारण निम्नलिखित हैं

(१) प्रतिज्ञा पत्र की रकम—वह प्राय जितने रुपये उधार देता है, उससे अधिक का प्रतिज्ञा-पत्र लेता है। बहुधा रकम का स्थान खाली छोड दिया जाता है और इस बाद मे साहूकार द्वारा इच्छानुसार भर लिया जाता है।

(२) अन्य शुल्क—बहुत-से स्थानो पर ऋण देते समय ऋण की रकम मे से गिरह खुलाई, धर्मादा आदि के लिए कुछ रकम काट ली जाती है। यह कटौती ५ प्रतिशत से १० प्रतिशत तक हो जाती है।

(३) अग्रिम ब्याज—अनेक बार साहूकार ब्याज की रकम अग्रिम मांगते हैं। प्राय यह रकम मूल मे से काट ली जाती है।

(४) हिसाब में गडबड—साहूकार के विरुद्ध हिसाब-किताब मे गडबड करने के आरोप भी लगाये जाते है। वह न तो प्राप्त रकम के लिए रसीद देता है और न ही ऋणी को यथासमय हिसाब भेजता है। अनेक बार उसके विरुद्ध रकम जमा न करने की शिकायत भी की जाती है।

(५) फसल खरीदने की शर्त—बहुत से साहूकार रुपये उधार देते समय किसान की फसल खरीदने का समझौता कर लेते है। प्राय ऋण के प्रतिज्ञा-पत्र मे ही साहूकार को फसल बेचने की शर्त लिख दी जाती है और फसल का विक्रय-मूल्य भी निश्चित कर दिया जाता है। वस्तुतः इस शर्त का उद्देश्य मूल तथा ब्याज की रकम की वसूली निश्चित करना होता है।

(६) अधिक ब्याज—साहूकार के विरुद्ध एक आरोप यह लगाया जाता है कि वह ब्याज बहुत अधिक लेता है। सामान्य ऋणो पर ब्याज की दरें १२ से लेकर २४ प्रतिशत तक होती हैं जबकि किस्त मे भुगतान वाले ऋणो पर ब्याज की दर ४० प्रतिशत तक पायी जाती है। वस्तुत जितनी कम रकम उधार दी जाती है उस पर ब्याज की दर क्रमश अधिक होती है। रिक्शा-चालकों अथवा ठेला चलाने वालो को प्रायः १०० प्रतिशत से अधिक ब्याज देना पडता है।

अन्न तथा वस्तुओ के ऋणो पर भी बहुत ऊँचा ब्याज देना पडता है क्योकि सवायी और ड्योढी की प्रचलित व्यवस्था के अनुसार लगभग २५ से ५० प्रतिशत तक ब्याज लिया जाता है।

(७) बेगार—कुछ क्षेत्रो मे ऋणी ग्रामवासियो को साहूकार के घर बेगार भी करनी पडती है। न केवल ऋणी की बैलगाडी, ऊँट अथवा अन्य वाहनो का प्रयोग नि शुल्क किया जाता है बल्कि विशेष अवसरो पर ऋणी के घर की स्त्रियो तथा बच्चो को साहूकार के घर काम भी करना पडता है।

देशी बैंकर जो मुख्यत कृषि, व्यापार तथा उद्योग के लिए ऋण की व्यवस्था करते है, उचित ब्याज की दर (६ से १२ प्रतिशत) लेते है, साफ हिसाब रखते हैं और उत्पादक ऋण देते है।

(iv) **साहूकार की उपयोगिता**—कृषि साख के क्षेत्र मे साहूकार का योग अत्यन्त महत्त्वपूर्ण रहा है क्योंकि ग्रामीण साख सर्वेक्षण समिति की रिपोर्ट के अनुसार कुल कृषि साख के लगभग ७० प्रतिशत की पूर्ति साहूकार द्वारा की जाती है। वस्तुत महाजन की सरल कार्य पद्धति, ऋणियों से व्यक्तिगत सम्बन्ध तथा उसके धैर्य एव शान्त वृत्ति का स्थान सहकारी अथवा अन्य किन्हीं सस्थाओं द्वारा लिया जा सकना असम्भव है। गत दशाब्द मे निरन्तर प्रयत्न करने पर देश के अनेक भागो में सहकारी साख का भाग ग्रामो की कुल आवश्यकता का लगभग ४०-५० प्रतिशत हो गया।

(v) **साहूकारों की कार्यवाही का नियमन**—साहूकारो की अनियमित एव अवाछित कार्यवाहियो पर नियन्त्रण लगाने के लिए समय समय पर अनेक नियम, अधिनियम लागू किये जाते रहे है। सर्वप्रथम सन् १८७६ मे दक्षिण कृषक सहायक अधिनियम (Deccan Agriculturists Relief Act) पारित किया गया, जिसके अन्तर्गत ऋण के भुगतानस्वरूप कृषक की भूमि पर अधिकार करने तथा अधिक ब्याज लेने पर बन्धन लगा दिये गये। सन् १९१८ म कौसीद उद्धार अधिनियम (Usurious Loan Act) पास किया गया, जिसके द्वारा अधिक ब्याज लेना अवैधानिक घोषित कर दिया गया। कृषको की अशिक्षा तथा अज्ञानता के कारण इन दोनो ही अधिनियमों से कुछ विशेष लाभ नही हो सका।

सन् १९३०-३४ की मन्दी के युग में कृषको की स्थिति बहुत दयनीय हो गयी और कृषि पदार्थों के भाव बहुत गिर जाने के कारण उन्हे अत्यधिक ऋण लेने पड़े जिसके परिणामस्वरूप ऋणभार बहुत बढ गया। अत उनकी आर्थिक स्थिति सुधारने हेतु अधिकतर राज्यो मे साहूकार अधिनियम पारित किये गय।

साहूकार अधिनियमो की विशेषताएँ (Characteristics of Moneylenders Act)—विभिन्न राज्यो के साहूकार अधिनियमो मे निम्नलिखित विशेषताएँ हैं

(१) साहूकारो के लिए लाइसेंस प्राप्त करना अनिवार्य कर दिया गया है।

(२) लेन-देन सम्बन्धी हिसाब-किताब व्यवस्थित रूप म रखना आवश्यक है

(३) प्राप्त राशियो के लिए रसीदे देना तथा समय समय पर ऋणियो की जमा नाम का ब्योरा भेजने की व्यवस्था है।

(४) ब्याज की अधिकतम दरें निश्चित कर दी गयी है तथा दामदुपत के सिद्धान्त को मान्यता दी गयी है जिसके अनुसार मूल और ब्याज की कुल रकम मिलकर मूल राशि के दुगुने से अधिक नही हो सकती।

(५) ऋणियो को साहूकारा द्वारा तग करना दण्डनीय है।

(६) साहूकार द्वारा किसान की भूमि बैल तथा कृषि सम्बन्धी सामान कुर्क नही किया जा सकता।

उपर्युक्त नियम भग करने पर दण्ड देने की व्यवस्था भी की गयी है।

यद्यपि सभी राज्यो मे साहूकारो की क्रियाओ पर प्रतिबन्ध लगाये गये हैं परन्तु इन बन्धनो का पालन नही हो रहा है। अधिकतर साहूकार लाइसेंस नही लत हैं और ब्याज की मनमानी दरें वसूल करते हैं। इसका कारण यह है कि साहूकार अधिनियमो का सचालन राजस्व या सहकारी विभाग के कर्मचारियो के हाथ है जिन्हे न तो यथेष्ट समय है और न इस दिशा में कार्य करने की तत्परता। अत उधार देने की क्रियाएँ अनियन्त्रित एव अबाध गति स चल रही हैं।

साहूकारो का भविष्य—साहूकारो के भविष्य के सम्बन्ध मे विभिन्न विचार प्रकट किये गये हैं। कृषि वित्त उप-समिति (Agricultural Finance Sub committee) का यह विचार था कि कृषि वित्त की ऐसी व्यवस्था स्थापित करनी चाहिए जिसके द्वारा साहूकारी व्यवस्था का स्पर्द्धा द्वारा अन्त किया जा सके। इसक विपरीत डॉ० नारायणस्वामी का यह मत है कि साहूकार को

सहकारी समितियो मे स्थान देकर उसका विलयन कर दिया जाना चाहिए। ग्रामीण साख सर्वेक्षण समिति ने साहूकार को सहकारी साख समितियो मे स्थान देना उचित नही समझा है। वस्तुस्थिति यह है कि आगामी वर्षो मे आयोजन के कारण कृषि साख की आवश्यकता मे निरन्तर वृद्धि होने की सम्भावना है जिसकी पूर्ति रिजर्व बैंक अथवा सहकारी बैंक नही कर सकेंगे। ग्रामीण साख समीक्षा समिति के अनुसार निजी साहूकार अब भी ग्रामीण साख की लगभग ५० प्रतिशत आवश्यकता की पूर्ति करते हैं। अत बिना किसी उपयुक्त विकल्प की व्यवस्था किये इन्हे समाप्त करना उचित नही है।

कृषि वित्त तथा सहकारी सस्थाएँ

सहकारी आन्दोलन का सूत्रपात इगलैण्ड मे हुआ जब राबर्ट ऑवन ने न्यू-लेनार्कशायर मिल मे सहकारी उपभोक्ता भण्डार स्थापित किये। तत्पश्चात् १८८४ मे रॉकडेल के आठ कारीगरो ने उपभोक्ता भण्डार योजना को अधिक लोकप्रिय बनाया। इसके कुछ समय पश्चात ही जर्मनी मे फ्रेडरिक विलियम रेफेजन और हरमन सुल्ज डेलिश ने जर्मनी मे सहकारी साख आन्दोलन का सूत्रपात किया। इन दोनो ने क्रमश ग्राम्य निर्माण सहकारी साख समितियो के निर्माण पर बल दिया।

ग्रामीण तथा नागरिक समितियो मे अन्तर—ग्रामीण (रेफेजन) तथा नागरिक सहकारी साख समितियो (शुल्ज) मे निम्नलिखित भेद हैं

(१) **क्षेत्र**—ग्राम्य समितियो का क्षेत्र प्राय एक या दो-तीन ग्रामो तक सीमित होता है जबकि नागरिक समितियाँ प्राय विस्तृत क्षेत्र के लिए निर्मित की जाती हैं। स्वभावत दोनों की सदस्य सख्या मे बहुत अन्तर होता है।

(२) **अश पूंजी**—ग्राम्य समितियो के अश प्राय २ रुपये से लेकर ५ रुपये तक के होते हैं जबकि नागरिक समितियाँ अश का मूल्य कुछ ऊँचा रखती हैं। इसी कारण से (बहुसख्यक तथा उच्च अश मूल्य) नागरिक समितियो की पूंजी अधिक होती है।

(३) **दायित्व**—ग्राम्य समितियो का दायित्व प्राय असीमित एव नागरिक समितियो का दायित्व सीमित होता है।

(४) **ऋण**—ग्राम्य समितियाँ केवल सदस्यो को ही ऋण देती हैं जबकि नागरिक समितियाँ प्रत्येक व्यक्ति को ऋण दे सकती हैं। इसके अतिरिक्त ग्राम्य समितियो द्वारा केवल उत्पादक कार्यों के लिए ऋण दिये जाते हैं जबकि नागरिक समितियाँ ऋण देते समय उद्देश्य का विशेष ध्यान नही रखती हैं।

(५) **प्रबन्ध**—ग्राम्य समितियों का प्रबन्ध प्राय अवैतनिक होता है जबकि डेलिश समितियो के कर्मचारियो को नियमित वेतन देने की व्यवस्था होती है।

(६) **लाभ वितरण**—रेफेजन समितियो मे प्राय लाभ वितरण की व्यवस्था नही होती, जबकि नागरिक समितियो मे २५ प्रतिशत लाभ कोष में रखकर शेष लाभाश के रूप मे वितरित कर दिया जाता है।

भारत में विकास—भारत मे सहकारी आन्दोलन की नीव सर फ्रेडरिक निकलसन ने रखी, जिन्होंने सन् १८९५ मे अपनी रिपोर्ट (Land and Agricultural Banks in Madras) मे रेफेजन साख समितियो के निर्माण का सुझाव दिया। इसके पश्चात उत्तर प्रदेश प्रशासनिक सेवा के श्री डुपर्नें (Dupernex) ने कुछ साख समितियाँ निर्मित करने का प्रयत्न किया। अन्ततः सन् १९०१ मे लार्ड कर्जन की सरकार ने एक समिति नियुक्त की जिसकी सिफारिशो पर सन् १९०४ मे भारतीय सहकारी साख समिति अधिनियम पास किया। इस अधिनियम मे केवल साख समितियाँ ही बनाने की व्यवस्था थी। अत सन् १९१२ मे एक व्यापक नियम पास किया गया जिसके अन्तर्गत साख के अतिरिक्त अन्य प्रकार की समितियाँ बनाने की भी व्यवस्था की गयी। इसके

अतिरिक्त प्राथमिक समितियों के साथ साथ केन्द्रीय तथा प्रान्तीय सहकारी बैंकों को भी मान्यता प्रदान कर दी गयी। सन् १९१४ में मैक्लेगन समिति (Maclagan Committee on Cooperation) नियुक्त की गयी जिसने देश की सहकारी समितियों का पुनर्गठन करने का सुझाव दिया। समिति का यह विचार था कि दुर्बल एवं अव्यवस्थित समितियों को समाप्त कर शक्तिशाली समितियों को प्रोत्साहन देना चाहिए। सन् १९१९ में सहकारिता विभाग प्रान्तीय सरकारों के अधीन कर दिया गया और क्रमशः सभी प्रान्तों में अलग-अलग सहकारी समिति अधिनियम बनाये गये।

युद्धोत्तर काल—सहकारी आन्दोलन १९२९ तक अबाध गति से प्रगति करता गया, परन्तु इसके बाद वस्तु मूल्यों में मन्दी आने के कारण अनेक समितियों के ऋण शेषों में वृद्धि हो गयी, जिससे साख आन्दोलन को बहुत धक्का लगा परन्तु कुछ समय पश्चात वस्तु मूल्यों में वृद्धि आरम्भ हो गयी जिससे फलस्वरूप आन्दोलन में पुनः गति आने लगी। द्वितीय युद्धकाल (सन् १९३९-४५) में वस्तु मूल्यों में वृद्धि होने के कारण कृषि साख समितियों को तथा आवश्यक वस्तुओं की पूर्ति पर नियन्त्रण तथा राशन लागू होने के कारण उपभोक्ता भण्डारों को बल मिला। इस काल में कृषकों को अपने ऋण चुकाने का अच्छा अवसर मिल गया। युद्धकाल के पश्चात भी सहकारी आन्दोलन निरन्तर गतिशील रहा। सन् १९४६ में सहकारी आयोजन समिति (Cooperative Planning Committee) नियुक्त की गयी जिसने यह मत प्रकट किया कि सहकारी साख के साथ क्रय विक्रय एवं विधायन (processing) आदि कार्य भी किये जाने चाहिए। समिति का यह मत था कि साख सम्बन्धी सभी आवश्यकताओं की पूर्ति सहकारी संस्थाओं द्वारा की जानी चाहिए। इसके अतिरिक्त राज्य सहकारी बैंकों में सरकार को पूँजी लगानी चाहिए और समय-समय पर उन्हें पर्याप्त धनराशि देनी चाहिए ताकि वह साख संस्थाओं की साख सम्बन्धी आवश्यकताओं को सस्ती ब्याज दर पर पूरा कर सकें।

भारत में सहकारी साख आन्दोलन स्तूपाकार (pyramidical) है जिसके आधार में ग्राम स्तर पर प्राथमिक साख समितियाँ जिला स्तर पर केन्द्रीय सहकारी बैंक तथा राज्य स्तर पर राज्य सहकारी बैंक हैं।

१ प्राथमिक साख समितियाँ

एक ग्राम अथवा एक क्षेत्र के कोई भी दस व्यक्ति मिलकर एक प्राथमिक साख समिति का निर्माण कर सकते हैं। समिति का पंजीयन (रजिस्ट्री) करते समय इस बात का ध्यान रखा जाता है कि सदस्य अथवा अंशधारी समान हित वाले हों और सहकारिता के सिद्धान्तों को समझते हों। समिति का कार्य क्षेत्र प्रायः सीमित रखा जाता है। सन् १९५४ के पश्चात ग्रामीण साख सर्वेक्षण समिति की सिफारिश पर बड़े आकार की समितियाँ बनाना आरम्भ किया गया परन्तु उनमें से अनेक समितियाँ बहुत बड़ी हो गयीं जिनकी व्यवस्था करना ही कठिन हो गया। अतः सन् १९५८ के पश्चात मेहता समिति के सुझावों के अनुसार समितियों का पुनर्गठन इस प्रकार किया गया कि वह सामान्य आकार की हों और न केवल अपने सदस्यों की आवश्यकता की पूर्ति कर सकें बल्कि स्वयं भी आर्थिक दृष्टि से सम्पन्न हों।

चालू पूँजी—प्राथमिक समिति की चालू पूँजी अंश बेचकर, केन्द्रीय सहकारी बैंक से ऋण लेकर तथा निक्षेपों से प्राप्त की जाती है। समितियों को प्रायः अपनी सम्पूर्ण चालू पूँजी के दुगने से लेकर चार गुने तक उधार मिल सकता है। समिति का प्रत्येक सदस्य (चाहे वह कितने ही अंशों का मालिक हो) को एक मत देने का अधिकार होता है। इस प्रकार समिति के प्रबन्ध में केवल दो-चार व्यक्ति ही सम्पूर्ण सत्ताधारी नहीं बन सकते। सन् १९५८ से मेहता समिति की सिफारिश के कारण कुल अंश-पूँजी की आधी रकम राज्य सरकार देती है।[1]

[1] यदि कोई साख समिति स्वयं १,००० रुपये की पूँजी प्राप्त कर लेती है तो १,००० रुपये के अंश राज्य सरकार खरीद लेती है।

प्रबन्ध—समिति की नियमित व्यवस्था चलाने के लिए सदस्यों द्वारा एक प्रबन्ध समिति निर्मित कर दी जाती है जो साधारणतः सभा में निश्चित नीतियों का पालन करती है। प्रबन्ध समिति का सचिव (जो समिति के आकार के अनुसार वेतनभोगी अथवा अवैतनिक होता है) समिति की प्रबन्ध सम्बन्धी समस्त क्रियाओं के प्रति उत्तरदायी होता है।

ऋण—प्राथमिक समिति केवल अपने सदस्यों को ऋण देती है। ऋण की मात्रा प्रायः सदस्य की अंश पूँजी तथा निक्षेप की राशि पर निर्भर करती है। ऋण केवल व्यक्तिगत जमानत पर दिये जाते हैं और ब्याज की दर ८ से १० प्रतिशत तक ली जाती है। समिति मुख्यतः अल्पकालीन (१ वर्ष तक) ऋण देती है परन्तु विशेष परिस्थितियों में उनकी अवधि तीन वर्ष तक के लिए बढ़ायी जा सकती है। ऋण केवल उत्पादक कार्यों के लिए दिये जाते हैं और उनका दुरुपयोग होने पर सम्बन्धित सदस्य को सम्पूर्ण राशि लौटाने के लिए बाध्य किया जा सकता है। कुछ राज्यों में ऋण लेने वाले सदस्यों को अपनी भूमि धरोहर के रूप में रखनी पड़ती है और कुछ राज्यों में ऋणी को अपनी व्यक्तिगत जमानत के अतिरिक्त दो अन्य व्यक्तियों की जमानत दिलानी पड़ती है। इस प्रकार साख समितियों द्वारा सदस्यों को दिये गये ऋणों के सदुपयोग का विशेष ध्यान रखा जाता है।

संचित निधि—प्राथमिक साख समितियों की लाभ राशि का एक अंश अनिवार्य रूप से एक निधि में डाला जाता है और शेष लाभांश के रूप में अंशधारियों को बाँट दिया जाता है। समितियों द्वारा दिये जाने वाले लाभांश की अधिकतम सीमा सभी राज्यों में निश्चित कर दी गयी है और वह कहीं भी १० प्रतिशत से अधिक नहीं है। *यह इस बात का स्पष्ट प्रमाण है कि सहकारी समितियों को लाभार्जन का माध्यम नहीं बनाया जा सकता।*

सहकारी साख समितियों की ऋण नीति सम्बन्धित राज्य के सहकारी विभाग द्वारा निश्चित की जाती है। इस सम्बन्ध में ऋण नियम बना दिये गये हैं जिनका पालन करना आवश्यक होता है। समितियों का कार्य सुचारु रूप से चलाने के लिए प्रायः सभी निश्चय एकमत से करने का प्रयत्न किया जाता है। इसके साथ ही समितियों में समान हित वाले सदस्य ही रहें, इस दृष्टि से समिति के अंशों का विक्रय केवल समिति द्वारा अनुमोदित व्यक्तियों को ही किया जा सकता है।

प्रगति—आयोजन-काल में प्राथमिक सहकारी साख समितियों की प्रगति सन्तोषजनक रही है। सन् १९५०-५१ में प्राथमिक कृषि साख समितियों की संख्या १.०५ लाख थी जो १९६८-६९ में बढ़कर १.६८ लाख हो गयी। इन समितियों का विस्तार भारत के शत-प्रतिशत ग्रामों में हो गया है। इसी काल में प्राथमिक समितियों की चालू पूँजी ३७ करोड़ रुपये से बढ़कर ४६ करोड़ रुपये हो गयी है। प्राथमिक कृषि साख समितियाँ अब लगभग ५०० करोड़ रुपये के वार्षिक ऋण देने लगी हैं। यह प्रगति निश्चय ही सन्तोषजनक कही जानी चाहिए।

२ केन्द्रीय सहकारी बैंक

केन्द्रीय सहकारी बैंक दो प्रकार के होते हैं। एक तो वह जिनकी सदस्यता केवल प्राथमिक सहकारी साख समितियों को प्राप्त है और दूसरे वह जिनमें व्यक्ति एवं समितियाँ सदस्य हैं। भारत के सभी राज्यों में मुख्यतः मिश्रित सदस्यता वाले केन्द्रीय सहकारी बैंक हैं। गत वर्षों में केन्द्रीय बैंकों का विवेकीकरण किया गया है और देश के अधिकांश भागों के प्रत्येक जिले में एक बैंक स्थापित करने की योजना को कार्यान्वित किया जा रहा है जिसके फलस्वरूप योजनाकाल में केन्द्रीय सहकारी बैंकों की संख्या ५०५ से घटकर ३४२ रह गयी है। इस पुनर्गठन का मूल उद्देश्य दुर्बल बैंकों को सबल संस्थाओं में मिलाकर सहकारी साख व्यवस्था को शक्तिशाली बनाना है।

साधन—नगरों में स्थित होने के कारण केन्द्रीय सहकारी बैंक प्रायः व्यापारिक बैंकों के सब कार्य करते हैं। सम्बन्धित क्षेत्र की सब सहकारी समितियों को अपनी अतिरिक्त चालू पूँजी

अनिवार्य रूप से केन्द्रीय सहकारी बैंक मे रखनी पडती है। इसके अतिरिक्त वह जनता से भी निक्षेप प्राप्त करते हैं और प्राय व्यापारिक बैंको से अधिक ब्याज देते हैं।

ऋण तथा ब्याज—केन्द्रीय सहकारी बैंक अपनी चालू पूँजी मे राज्य सहकारी बैंक से ऋण लेकर वृद्धि करते हैं और मुख्य रूप मे सहकारी समितियो को ऋण देते हैं। समितियो को प्राय ६ से ८ प्रतिशत ब्याज पर ऋण दिया जाता है। इनके ऋणो की अवधि भी एक से तीन वर्ष होती है। कृषि ऋण प्राय विनिमय-पत्रो के आधार पर दिये जाते है और केन्द्रीय बैंक इन बिलो की राज्य सहकारी बैंक के माध्यम मे पुनर्कटौती करवा लेते है। इन बैंको को भी अपने शुद्ध लाभ का एक भाग (प्राय २५ प्रतिशत) निधि रूप मे रखना पडता है और शेष लाभाश के रूप मे वितरित किया जा सकता है।

प्रबन्ध—केन्द्रीय सहकारी बैंको के सचालक मण्डल मे अधिकतर प्रतिनिधि प्राथमिक सहकारी समितियो के होते हैं, जो समय-समय पर बैठक बुलाकर इनकी नीति निर्धारित करते रहते हैं। सामान्य नीतियाँ सहकारी विभाग द्वारा प्रसारित नियमो के अनुसार निश्चित होती है अत प्रबन्धक मण्डल केवल विशेष प्रश्नो के सम्बन्ध मे दिशा-सकेत करता है। इन बैंकों के सभी कर्मचारी वैतनिक होते हैं और उनके कार्य आदि का नियन्त्रण कार्यालय अध्यक्ष अथवा सचिव करता है।

प्रगति—योजनाकाल मे (१६५०-५१ से १६६८-६६) मे केन्द्रीय सहकारी बैंको की सख्या ५०५ से घटकर ३४२ रह गयी है किन्तु इनकी जमाएँ ३८ करोड रुपये से बढकर ३३५ करोड रुपये तक पहुँच गयी हैं। केन्द्रीय सहकारी बैंक अब लगभग ६०० करोड वार्षिक ऋण देने लगे हैं।

३ राज्य सहकारी बैंक

भारत के प्रत्येक राज्य मे एक राज्य सहकारी बैंक की स्थापना की गयी है जिसकी अश पूँजी केन्द्रीय सहकारी बैंको तथा सहकारी आन्दोलन मे रुचि रखने वाले व्यक्तियो को बेची गयी है। सिद्धान्त रूप मे राज्य सहकारी बैंको की सदस्यता केवल केन्द्रीय सहकारी बैंको को ही प्राप्त होनी चाहिए परन्तु अर्थशास्त्र अथवा सहकारिता के विद्वानो तथा अनुभवी व्यक्तियो का सक्रिय सहयोग प्राप्त करने के लिए उन्हे भी सदस्य रखा गया है। बहुत-स राज्य बैंको मे प्राथमिक समितियाँ भी सदस्य हैं परन्तु उन्हे धीरे-धीरे सदस्यता से मुक्त किया जा रहा है।

राज्य सहकारी बैंक उन क्षेत्रो मे अपनी शाखाएँ भी खोल देते हैं जहाँ केन्द्रीय सहकारी बैंक नही है। उदाहरणत राज्य सहकारी बैंको की हिमाचल प्रदेश मे २६, आसाम मे १८, महाराष्ट्र मे २०, उत्तर प्रदेश मे १२, दिल्ली म ८ और मद्रास मे १२ शाखाएँ हैं।

पूँजी और कार्यविधि—राज्य बैंको की चालू पूँजी अश बेच कर, निक्षेप प्राप्त कर तथा ऋण लेकर प्राप्त की जाती है। वह रिजर्व बैंक स ऋण लते हैं और केन्द्रीय सहकारी बैंको द्वारा दिये गये ऋणो की ब्याज-दर प्राय ४ से ६ प्रतिशत होती है। रिजर्व बैंक से ऋण विनिमय-पत्रो के आधार अथवा राज्य सरकार की गारण्टी पर प्राप्त किय जा सकते हैं। राज्य सहकारी बैंक सरकारी प्रतिभूतियो अथवा कृषि विनिमय-पत्रो की धरोहर पर ऋण देते हैं, ऋणो की अवधि प्राय एक वर्ष होती है किन्तु विशेष परिस्थितियो मे मध्यकालीन ऋण भी दिये जाते हैं। सक्षेप म, राज्य सहकारी बैंक रिजर्व बैंक तथा प्राथमिक साख समितियो के बीच एक महत्वपूर्ण वित्तीय कडी का काम करते हैं।

प्रगति—योजनाकाल मे राज्य सहकारी बैंको की सख्या १५ से बढकर २५ हो गयी है और उनकी जमाएँ २२ करोड रुपये (१६५१) से बढ कर १६६८-६६ म २०२ करोड रुपये तक पहुँच गयी हैं। राज्य सहकारी बैंको द्वारा दिये जाने वाले ऋणों की वार्षिक रकम भी इसी अवधि मे ४२ करोड रुपये स ७६६ करोड रुपय तक बढ गयी है।

प्राथमिक सहकारी समितियाँ प्राय केन्द्रीय सहकारी बैंकों से ऋण लेती हैं, केन्द्रीय सहकारी बैंक राज्य सहकारी बैंकों से ऋण लेते हैं। अत इन संस्थाओं द्वारा दिये गये ऋणों की गणना दो या तीन बार हो जाना स्वाभाविक है। अत सहकारी क्षेत्र द्वारा दिये गये ऋणों का सही अनुमान लगाने में सावधानी रखना आवश्यक है।

४ भूमि-बन्धक बैंक

सहकारी साख समितियाँ तथा केन्द्रीय एवं राज्य सहकारी बैंक मुख्यत अल्पकालीन तथा कभी-कभी मध्यकालीन ऋण देते है। कृषकों को भूमि खरीदने अथवा भूमि में स्थायी सुधार करने आदि विभिन्न कार्यों के लिए दीर्घकालीन ऋणों की आवश्यकता होती है। सहकारी संस्थाएँ इनकी पूर्ति नहीं कर सकती क्योंकि इनके अधिकांश साधन भी अल्पकालीन होते हैं अत किसानों की दीर्घकालीन आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए विशेष संस्थाए बनायी गयी हैं, जो भूमि को बन्धक रखकर दीर्घकालीन ऋण देती हैं।

साख समितियों की भाँति ही भूमि-बन्धक बैंक सर्वप्रथम जर्मनी में स्थापित हुए और वहाँ से संसार के विभिन्न भागों में फैल गये। भारत में प्रथम भूमि-बन्धक बैंक का सगठन सन् १६२० में झग (पंजाब—पाकिस्तान) नामक स्थान पर हुआ। तत्पश्चात् सन् १६२५ में मद्रास में दो तथा सन १६२६ में बम्बई में तीन भूमि-बन्धक बैंकों की स्थापना हुई।

सन् १६२६ में सहकारी रजिस्ट्रार सम्मेलन हुआ और उसके बाद राजकीय कृषि आयोग (Royal Commission on Agriculture) तथा केन्द्रीय बैंकिंग जाँच समिति ने भूमि-बन्धक बैंकों के सगठन पर विचार किया। भूमि-बन्धक बैंकों के सम्बन्ध में इन तीनों समितियों की मुख्य सिफारिशें निम्नलिखित थीं :

(१) सहकारी आधार—भूमि-बन्धक बैंकों का सगठन सहकारी समिति अधिनियमों के अन्तर्गत किया जाना चाहिए और इनका कार्यक्षेत्र न अत्यधिक और न बहुत कम होना चाहिए।

(२) ऋण के उद्देश्य—इन बैंकों द्वारा कृषि के लिए भूमि खरीदने, भूमि तथा कृषि-पद्धतियों में सुधार करने तथा पुराने ऋण चुकाने के लिए ऋण दिये जाने चाहिए।

(३) मात्रा—ऋणों की मात्रा प्राय बन्धक में रखी हुई भूमि के मूल्य के आधे से अधिक नहीं होनी चाहिए। सरलता की दृष्टि से एक व्यक्ति को दिये जाने वाले ऋण की न्यूनतम तथा अधिकतम सीमाएँ निश्चित करना उचित होगा। यह सीमा उधार लेने वाले की आवश्यकता के अनुरूप होनी चाहिए।

(४) अवधि—इन बैंकों द्वारा दिये जाने वाले ऋणों की अवधि २० वर्ष से अधिक नहीं होनी चाहिए।

(५) साधन—भूमि-बन्धक बैंकों के साधन ऋणपत्र निर्गमित कर प्राप्त करने चाहिए। यह ऋणपत्र केन्द्रीय भूमि बन्धक बैंक द्वारा बेचे जाने चाहिए तथा इनके ब्याज की राज्य सरकार द्वारा गारण्टी की जानी चाहिए।

(६) राजकीय सहायता—प्रारम्भिक वर्षों में राज्य सरकार द्वारा भूमि बन्धक बैंकों को सहायता दी जानी चाहिए। इस सम्बन्ध में मुद्रांक-कर (Stamp-duty), पंजीयन शुल्क (Registration fee) आदि से इन बैंकों को मुक्त रखना चाहिए।

(७) भूमि-विक्रय का अधिकार—भूमि बन्धक बैंकों को इनके पास धरोहर में रखी हुई भूमि बिना न्यायालय का सहारा लिए बेचने का अधिकार होना चाहिए।

भारत में भूमि बन्धक बैंकों का सगठन उपर्युक्त सिफारिशों के आधार पर ही किया गया है।

सगठन—भूमि-बन्धक बैंक चार प्रकार के हो सकते हैं : (१) निजी अथवा पूँजीवादी, (२) सहकारी, (३) अर्द्ध-सहकारी, तथा (४) सरकारी। निजी बैंक केवल लाभ की दृष्टि से

चलाये जाते हैं, और उनमें ऋणियों के मत का कोई महत्त्व नहीं होता। ऐसे बैंकों द्वारा ऋण भी प्राय नागरिक सम्पत्ति की धरोहर पर दिये जाते है। जर्मनी स्विटजरलैंड, डेनमार्क, नार्वे तथा स्वीडन मे कुछ भूमि-बन्धक बैंक पूंजीवादी पद्धति पर सगठित किये गये है।

सहकारी भूमि-बन्धक बैंक ऋण लेने वालों के लाभ के लिए निर्मित किये गये है और सरकार प्राय इनके नियमन के लिए विधान बनाती है। जर्मनी का Land cheften तथा डेनमार्क, नार्वे और स्वीडन के अनेक भूमि-बन्धक बैंक सहकारी सिद्धान्त पर निर्मित किये गये है।

इगलैण्ड (Agricultural Mortgage Corporation), फ्रास (Credit Foncier), जापान (Hypothec Bank), डेनमार्क (The Mortgage Bank of the Kingdom of Denmark) तथा स्वीडन (Royal Mortgage Bank) मे अर्द्ध सहकारी भूमि-बन्धक बैंक प्रचलित हैं। इन बैंकों को सरकार से आर्थिक सहायता मिलती है और इन पर सरकार नियन्त्रण रखती है।

कुछ देशों मे भूमि-बन्धन बैंक पूर्णत: राज्य की पूंजी द्वारा निर्मित किये गये है तथा उनका प्रबन्ध सरकार द्वारा ही होता है। कनाडा (Canadian Farm Loan Board), न्यूजीलैण्ड (The State Advances Corporation of Newzealand) तथा दक्षिणी अफ्रीका (Land and Agricultural Bank of South Africa) मे इस प्रकार के भूमि-बन्धक बैंकों के उदाहरण उपलब्ध हैं।

सगठन के अनुसार वर्गीकरण—सगठन की दृष्टि से विभिन्न देशों मे दो प्रकार के भूमि-बन्धक बैंक मिलते हैं। प्रथम वर्ग मे सघीय बैंक (Federal) है जिनका तात्पर्य यह है कि केन्द्रीय सस्था द्वारा ऋणपत्र आदि बेचकर धनराशि एकत्रित की जाती है और ऋणों का वितरण तथा वसूली प्राथमिक सस्थाओं द्वारा की जाती है। इस व्यवस्था के अन्तर्गत ऋण के लिए प्रार्थना-पत्र प्राथमिक भूमि-बन्धक बैंक प्राप्त करता है। वह ऋण राशि, अवधि धरोहर आदि सभी बातों की जाच करता है तथा अपनी सिफारिश सहित सभी पत्रादि केन्द्रीय सस्था को भेज देता है। केन्द्रीय सस्था ऋण स्वीकृत करती है और उसकी सम्पूर्ण प्रक्रिया प्राथमिक बैंक द्वारा की जाती है। सघीय पद्धति अधिकतर जर्मनी, नार्वे स्वीडन, स्विटजरलैण्ड तथा डेनमार्क मे प्रचलित है।

एकल (Unitary) पद्धति के अन्तर्गत भूमि बन्धक बैंक एक ही सस्था होती है और प्रार्थना-पत्र प्राप्त करने ऋण देने आदि से ले लेकर अन्तिम वसूली तक सभी कार्यों का दायित्व इस सस्था का ही होता है। इगलैण्ड, दक्षिण अफ्रीका तथा कनाडा के भूमि-बन्धक बैंक इसी श्रेणी से सम्बन्धित है।

भारत एक विस्तृत देश है और यहाँ यथेष्ट साधन-सम्पन्न तथा शक्तिशाली भूमि-बन्धक बैंक ही सफल हो सकते है। इसके अतिरिक्त स्थानान्तर बहुत होने के कारण यहाँ सघीय पद्धति ही अधिक उपयुक्त हो सकती है क्योंकि प्राथमिक सस्थाएँ अपने क्षेत्र के व्यक्तियों से परिचित होने के कारण केन्द्रीय बैंक को सलाह दे सकती हैं और केन्द्रीय भूमि-बन्धक बैंक केवल नीति निर्धारण एव अधिकाधिक ऋण देने के कार्य पर ध्यान केन्द्रित कर सकते हैं।

भारतीय भूमि-बन्धक बैंकों की व्यवस्था—भारत के सभी राज्यों मे एक-एक केन्द्रीय भूमि-बन्धक बैंक की स्थापना की गयी है और सभी महत्त्वपूर्ण कृषि क्षेत्रों मे एक एक प्राथमिक भूमि-बन्धक बैंक निर्मित किया गया है। केन्द्रीय भूमि बन्धक बैंकों मे सरकार, प्राथमिक भूमि-बन्धक बैंकों, सहकारी बैंकों, समितियों तथा किसानों द्वारा पूंजी खरीदी गयी है। प्राथमिक बैंकों मे अश-पूंजी केवल ग्रामीण जनता खरीदती है।

साधन तथा ऋण—ऋण देने के लिए राशि राज्य सरकार की गारण्टी प्राप्त ऋणपत्र बेचकर उपलब्ध की जाती है। यह ऋणपत्र केवल केन्द्रीय भूमि-बन्धक बैंक ही निर्गमित करते हैं। ऋण

केवल उन व्यक्तियों को ही दिये जाते हैं जो प्राथमिक भूमि-बन्धक बैंकों के सदस्य हैं। ऋण के लिए प्रार्थनापत्र तथा उससे सम्बन्धित धरोहर आदि के प्रमाणपत्र प्राथमिक भूमि-बन्धक बैंक को प्रस्तुत किये जाते हैं, जिनकी पूरी जाँच कर लेने के पश्चात् प्राथमिक बैंक सभी दस्तावेज़ अपनी सिफारिश सहित केन्द्रीय बैंकों को भेज देता है। ऋण की राशि, अवधि तथा अन्य सभी शर्तों आदि के सम्बन्ध में अन्तिम निर्णय केन्द्रीय भूमि-बन्धक बैंक द्वारा किया जाता है और इसकी सूचना प्राथमिक बैंक को भेज दी जाती है जो बन्धक में रखी जाने वाली भूमि के बन्धकनामे (Mortgage Deed) का पंजीयन करवा लेता है। प्राय भूमि के मूल्य की आधी राशि उधार दी जाती है। केन्द्रीय भूमि-बन्धक बैंक प्राथमिक बैंकों से ६.५ प्रतिशत और प्राथमिक भूमि बन्धक बैंक ऋणियों से ७.५ प्रतिशत ब्याज लेते हैं। १ प्रतिशत का सीमान्तर प्राथमिक बैंकों को सामान्य व्यय की पूर्ति के लिए यथेष्ट होता है।

राज्य सरकार की गारण्टी प्राप्त होने के कारण भूमि-बन्धक बैंकों के ऋणपत्र व्यापारिक बैंकों तथा जनता को बेचना कठिन नहीं होता। व्यापारिक बैंकों को भूमि-बन्धक बैंकों के ऋणपत्रों में विनियोजन करने में दो लाभ होते हैं। एक तो उन्हें ब्याज अच्छा मिल जाता है दूसरे वह इन ऋणपत्रों के आधार पर रिजर्व बैंक से उधार ले सकते हैं।

भारतीय भूमि-बन्धक बैंक प्राय ७ से २० वर्ष तक की अवधि के ऋण देते हैं।

प्रगति—३० जून, १९६६ को समाप्त होने वाले वर्ष में भारत में १९ केन्द्रीय भूमि बन्धक बैंक तथा ७३८ प्राथमिक भूमि बन्धक बैंक थे। केन्द्रीय भूमि-बन्धक बैंकों की ४८५ शाखाएँ थीं जो ऐसे स्थानों पर खोली गयी जहाँ प्राथमिक भूमि विकास बैंक नहीं हैं। इन बैंकों द्वारा प्रति वर्ष १०० करोड़ रुपये से अधिक के ऋण दिये जाते हैं और लगभग इतनी ही रकम के ऋणपत्र निर्गमित किये जाते हैं। भारत की आवश्यकता को देखते हुए यह राशि बहुत कम है।

कई राज्यों में भूमि-बन्धक बैंकों का नाम भूमि विकास बैंक रख दिया गया है। यह बैंक सामान्य तथा ग्रामीण ऋणपत्र निर्गमित करते हैं। यह ऋणपत्र केन्द्रीय सरकार, राज्य सरकार, रिजर्व बैंक, स्टेट बैंक तथा जीवन बीमा निगम द्वारा खरीदे जाते हैं।

सहकारी साख आन्दोलन की कमियाँ

(१) अपर्याप्त—सहकारिता का मुख्य उद्देश्य कृषक-वर्ग के लिए सस्ते ऋण सुलभ कर उन्हें शोषण से बचाना है, परन्तु इसके लिए यह आवश्यक है कि मानव तत्व सक्रिय एवं सतर्क हो तथा उपलब्ध सहायता का अधिकतम सदुपयोग करे अन्यथा सहयोग एवं सहायता की कोई भी योजना सफल नहीं हो सकती। भारत में सहकारिता का बीजारोपण सन् १९०४ में हुआ था परन्तु इतनी लम्बी अवधि के पश्चात् भी वह एक ऐसे फलते-फूलते वटवृक्ष का रूप धारण नहीं कर पाया जो साहूकारों द्वारा आक्रान्त सम्पूर्ण ग्राम्य समाज को अपने विशाल आँचल की विकासदायी शीतल छाया यथेष्ट मात्रा में प्रदान कर सके। ग्राम्य साख सर्वेक्षण समिति ने यह अनुमान लगाया था कि भारत में प्रति वर्ष लगभग ७५० करोड़ रुपये की ग्राम्य साख की आवश्यकता होती है। कॉमर्स पत्रिका के एक अनुमान के अनुसार यह आवश्यकता १९६०-६१ में लगभग १,४०० करोड़ रुपये वार्षिक तक पहुँच गयी। यह आवश्यकता १९७१ में लगभग ३,००० करोड़ रुपये वार्षिक हो गयी है और १९७३-७४ तक ४,००० करोड़ रुपये हो जाने की आशा है। वर्तमान में सहकारी साख संगठन कुल ग्राम्य साख की केवल ४० प्रतिशत आवश्यकता की पूर्ति करता है। निश्चय ही यह प्रगति बहुत सन्तोषजनक नहीं कही जा सकती क्योंकि ग्रामीण साख की लगभग ६० प्रतिशत आवश्यकता के लिए अन्य साधनों का मुँह ताकना पड़ता है। इस प्रकार सहकारी साख की सबसे महत्वपूर्ण कमी यह है कि वह आवश्यकता के एक अत्यन्त अल्प भाग की पूर्ति करती है।

(२) सरकारी हस्तक्षेप—कई युग बीतने पर भी भारतीय सहकारी आन्दोलन का सरकारी

आन्दोलन समझा जाता है और जनता मे 'अपनी सहायता आप करने' की भावना का अब भी अत्यन्त अभाव दृष्टिगोचर होता है। परिणामस्वरूप ग्राम्य जनता मे सहकारी आन्दोलन के प्रति बहुत कम उत्साह है। यह सत्य है कि अविकसित एव पिछडी हुई अर्थ व्यवस्था को उन्नत बनाने के लिए एक प्रजातन्त्रीय शासन व्यवस्था मे सरकार का अधिकाधिक सहयोग वाछनीय है परन्तु भारतीय जनता ने सरकार के इस सहयोग को उसका अनिवार्य दायित्व समझा है। इस भ्रान्त धारणा के कारण ही भारत मे सहकारी आन्दोलन असफल हो गया है। ग्रामीण साख सर्वेक्षण समिति के शब्दो मे "भारत मे सहकारिता एक ऐसे पौधे के समान है जिसे सरकार ने दोनो हाथो से थाम रखा है क्योकि उसकी जड़े धरती मे जमने को तैयार नही हैं।"

(Co-operation in this country is like a plant held in position with both hands by the Government since its roots refuse to enter the soil)

(३) अवाछित तत्वों का प्रभुत्व—सहकारी आन्दोलन की प्रगति के लिए ज्यो-ज्यो सरकार अधिक प्रयत्न कर रही है और निरन्तर अधिकाधिक आर्थिक सहायता प्रदान कर रही है त्यो त्यो इसमे अवाछित तत्वो का प्रवेश होता जा रहा है। स्वतन्त्रता प्राप्ति के कुछ समय बाद ही साहूकारो तथा महाजनो ने अनेक सहकारी समितियो मे अंशपूंजी खरीद ली थी और आज तो बहुत-सी समितियां इस वर्ग के प्रभाव क्षेत्र मे आ गयी हैं जिसके परिणामस्वरूप सहकारी साख समितियो का ऋण साहूकारो को प्राप्त हो जाता है और वह उसी धनराशि का प्रयोग ग्रामीणो को ऋण देने मे करते हैं। इस प्रकार जिस व्यवस्था की स्थापना शोषण का अन्त करने के लिए की गयी थी उसका प्रयोग शोषण के लिए ही होने लगा है, यह अत्यन्त दुर्भाग्य की बात है।

साहूकारो तथा महाजनो के अतिरिक्त एक अन्य वर्ग ने सहकारी आन्दोलन मे हस्तक्षेप करना एव रुचि लेना आरम्भ कर दिया है। यह वर्ग उन राजनीतिज्ञो का दल है जो सहकारी समितियो पर अधिकार कर अपने दल से सम्बन्धित व्यक्तियो को अधिकाधिक ऋण दिलाने का प्रयत्न करता है। गत वर्षों मे विधान सभा अथवा पचायत के चुनावो मे हारने वाले राजनीतिज्ञो का प्रभाव सहकारी सस्थाओ मे बहुत बढ गया है। इससे कुछ सहकारी समितियो के साधनो मे पर्याप्त वृद्धि हुई है परन्तु उनके द्वारा अवाछित व्यक्तियों तथा अवाछित कार्यो के लिए दिये जाने वाले ऋण की मात्रा मे भी बहुत वृद्धि हो गयी है। इसके साथ ही अनेक समितियों द्वारा ऋण वसूली में भी शिथिलता आ गयी है क्योकि प्रभावशाली व्यक्तियो के सम्बन्धियों तथा मित्रो से ऋण वसूल करना अत्यन्त कठिन है।

राजनीतिज्ञो के प्रभुत्व का एक दुष्प्रभाव यह हुआ है कि अनेक स्थानो पर सरकार से आर्थिक सहायता प्राप्त करने के लिए जाली तथा बनावटी सहकारी समितियां बन गयी हैं। इनमे से बहुत-सी समितियाँ सरकार अथवा राज्य सहकारी बैंक मे आर्थिक सहायता प्राप्त कर काम बन्द कर देती हैं। इस प्रकार धन के दुरुपयोग तथा गबन की घटनाएं बढ गयी हैं।

(४) ऋण स्वीकृति एव वसूली—सहकारी समितियो द्वारा ऋण स्वीकृत करने मे प्राय तीन-चार मास तक लग जाते हैं क्योकि अधिकाश समितियां ऋण देने से पूर्व बहुत-सी कागजी कार्यवाही करती हैं। ऋण देने के पश्चात् बहुत सी समितियां ऋण वसूली मे अत्यधिक कडाई से काम लेती हैं जिसके फलस्वरूप ऋणियो को साहूकारो की शरण लेनी पडती है। यह स्थिति अत्यन्त असन्तोषजनक है। उत्तम चरित्र वाले व्यक्तियो को उचित कार्य के लिए दिये गये ऋणो के लिए उचित समय देना आवश्यक है, अन्यथा साख समितियो की स्थापना ही अर्थहीन है।

(५) अंकेक्षण—सब सहकारी समितियों का सहकारी विभाग द्वारा नियुक्त अंकेक्षकों द्वारा अंकेक्षण होना अनिवार्य है परन्तु अनेक समितियो का या तो अंकेक्षण किया ही नही जाता या उसमे समुचित जानकारी नही रखी जाती। इसका परिणाम यह होता है कि अनेक दुर्बल एव

अव्यवस्थित समितियाँ चालू रहती हैं और वह अन्त मे बहुत-सी पूंजी एवं निक्षेप खोकर समाप्त हो जाती हैं।

(६) **ब्याज दर**—प्राथमिक समितियो द्वारा दिये गये ऋणो पर प्राय ८ से १२ प्रतिशत ब्याज लिया जाता है जो वास्तव मे अधिक है।

सहकारी आन्दोलन वस्तुत एक भावनात्मक आन्दोलन है जिसकी सफलता उचित दृष्टिकोण तथा सही विचारधारा पर निर्भर करती है। अत इसका सचालन करने के लिए सरकारी सहयोग अथवा अन्य कार्यविधियो का उतना महत्त्व नही है जितना कि उदार, सत्यनिष्ठ एव लगन वाले उत्साही मानव-रत्नो का। सर फ्रेडरिक निकलसन द्वारा सन् १८९५ मे कहे हुए शब्द आज उस समय से भी अधिक सत्य है कि 'सहकारिता की सफलता के लिए रेफेजन की खोज कीजिए।' यह दुखद सत्य है कि **भारतीय सहकारी आन्दोलन कर्मनिष्ठ व्यक्तियो के हाथो में नहीं है** अत इसकी सफलता सन्देहास्पद ही रहेगी।

राज्य सरकार तथा कृषि साख

कृषि साख की व्यवस्था राज्य तथा केन्द्रीय सरकार भी करती है। राज्य द्वारा कृषि भूमि सुधार ऋण अधिनियम, १८८३ (Land Improvement Loans Act of 1883) तथा कृषक ऋण अधिनियम १८८४ (Agriculturists' Loans Act of 1884) के अन्तर्गत किसानो को तकावी[1] (ऋण) दिये जाते हैं। तकावी का प्रारम्भ अकाल अथवा बाढ आदि से उत्पन्न सकट की स्थिति मे सहायता देने के लिए किया गया था परन्तु धीरे धीरे यह सरकार का एक नियमित क्रम बन गया।

ऋण वितरण—तकावी का वितरण किसानो की हल, बैल, बीज अथवा सकटकाल में उपयोग सम्बन्धी आवश्यकताओं के लिए किया जाता है। परन्तु गत कुछ वर्षो मे सकटकालीन सहायता के अतिरिक्त अन्य सभी ऋणो के वितरण का अधिकार पचायत समितियो को दे दिया गया है। जिन राज्यों मे अभी पचायत राज की स्थापना नही हुई, वहाँ अब भी सरकार का राजस्व (Revenue) विभाग इन ऋणो का वितरण करता है। यह ऋण तहसीलदार अथवा विकास अधिकारी के माध्यम से दिये जाते हैं।

तकावी की कमियाँ—ग्रामीण साख सर्वेक्षण समिति के मतानुसार, '**तकावी का इतिहास अपर्याप्तताओं का इतिहास है**' क्योंकि तकावी न केवल मात्रा तथा वितरण व्यवस्था की दृष्टि से अपर्याप्त रहे हैं बल्कि उनके नियन्त्रण एव उपयोग के निरीक्षण का प्रबन्ध भी असन्तोषजनक रहा है। समिति के अनुमान के अनुसार कृषि ऋण मे सरकार का भाग केवल ३ प्रतिशत, अर्थात् कुल लगभग २२.५ करोड रुपये वार्षिक था। जहाँ तक व्यक्तिगत ऋण का प्रश्न है वह सदा आवश्यकता से कम रहा है क्योकि सरकार ऋण की मात्रा आवश्यकतानुसार निर्धारित करने के स्थान पर यह निश्चित करती है कि उसे अमुक राशि ऋण रूप मे वितरित करनी है। उस राशि को प्राय माँग के अनुपात मे बाँट दिया जाता है। इस प्रकार किसी भी व्यक्ति को उसकी आवश्यकता के अनुसार राशि नही मिल पाती।

पक्षपात एव देरी—तकावी के विरुद्ध एक अन्य आरोप यह है कि **उसका अधिकाश भाग बडे-बडे कृषको अथवा भूमिधारियों को प्राप्त होता है** जबकि छोटे किसानो को, जिनकी आवश्यकता अधिक तीव्र होती है, प्राय बहुत ही कम राशि मिलती है अत उन्हे अपनी आवश्यकता की पूर्ति के लिए साहूकार के पास जाना पडता है। इसके अतिरिक्त तकावी की **राशि का निर्धारण प्राय बहुत देर से होता है** अत जब किसानो को ऋण की अत्यधिक आवश्यकता होती है तब उन्हे नही

---

[1] 'तकावी' (Taccawi) अरबी भाषा का एक शब्द है जिसका अर्थ 'ऋण' होता है।

मिल पाता। ग्रामीण साख सर्वेक्षण समिति ने यहाँ तक कहा है कि कहीं कहीं तो तकावी स्वीकार करने के पश्चात उसका वितरण करने मे ८ मास तक लग जाते हैं।

व्यय—तकावी प्राप्त करने में प्राय कृषक को बहुत धनराशि व्यय करनी पडती है। कभी-कभी तो गाँवो से गवाहो तथा जमानतदारो को कई कई बार लाना पडता है, और हर बार उनके भोजन तथा किराये पर बहुत राशि खर्च हो जाती है। इसके अतिरिक्त राजस्व विभाग के कर्मचारियो को ऋण का एक भाग घूस के रूप म देना अनिवार्य होता है अन्यथा ऋण स्वीकृत होना ही कठिन है और यदि किसी कारण से स्वीकृत हो भी गया तो सम्बन्धित धनराशि मिलना असम्भव है। इस प्रकार किसान को स्वीकृत राशि का आधा भाग कठिनाई से प्राप्त होता है।

जिन राज्यो मे निर्माण कार्यों के लिए ऋणो का वितरण पचायतो द्वारा होता है वहाँ भी भ्रष्टाचार का अभाव नही है। सरपच तथा प्रधान न केवल अपने दल के व्यक्तियो को ही ऋण दिलाते हैं, बल्कि उनके द्वारा घूस लेने के भी बहुत से उदाहरण प्रकाश मे आये हैं।

उपर्युक्त तथ्यो से न केवल सरकारी ऋणो की अपर्याप्तता सिद्ध होती है बल्कि उनकी स्वीकृति से लेकर वितरण तक अनेक अनियमितताएँ भी दृष्टिगोचर होती हैं।

व्यापारिक बैंक

सन् १९६८ तक भारत के व्यापारिक बैंक कृषि के लिए केवल अप्रत्यक्ष सहायता ही देते रहे। व्यापारी लोग जो कृषि पदार्थ खरीदते, उनके लिए बैंक ऋण दे देते थे। भारतीय कृषि के लिए बैंको द्वारा प्रत्यक्ष ऋण न देने का कारण यह रहा है कि भारतीय कृषि अब भी मानसून पर निर्भर है और किसान के पास जमानत मे रखने के लिए कोई अच्छी सम्पत्ति नही है।

इन कारणो के अतिरिक्त, भारत मे एक आम धारणा यह रही है कि खेती के वास्ते धन की व्यवस्था करना सहकारी सस्थाओं का काम है व्यापारिक बैंको का दायित्व नही। इसी धारणा के कारण जून १९६८ तक भारतीय बैंकों द्वारा खेती के वास्ते दिये गये ऋणो की रकम केवल २० करोड रुपये थी। यह रकम भारतीय व्यापारिक बैंको द्वारा दिये गये ऋणो की केवल ० ६ प्रतिशत थी।

सन् १९६८ मे ही बैंको ने सामाजिक नियन्त्रण के भय से अपनी नीति म परिवर्तन कर दिया और खेती के लिए अधिक रकमे उधार दी जाने लगी। जून १९६९ में व्यापारिक बैंको द्वारा कृषि के वास्ते दिये गये ऋणो की रकम १६० करोड रुपये तक पहुँच गयी।

१९ जुलाई, १९६९ से भारत के १४ निजी बैंको का राष्ट्रीयकरण कर लिया गया। इसके बाद कृषि क्षेत्र मे दिये गये ऋण की मात्रा में तीव्र गति से वृद्धि हुई है। इसका प्रमाण इस तथ्य से मिलता है कि दिसम्बर १९७० तक व्यापारिक बैंको द्वारा कृषि क्षेत्र के वास्ते दिये गये ऋणों की रकम लगभग ४०० करोड रुपये तक पहुच गयी जो व्यापारिक बैंको के कुल ऋण की लगभग ६ प्रतिशत थी।

आगामी वर्षो मे व्यापारिक बैंको द्वारा खेती के विकास के लिए अधिक ऋण दिये जाने की सम्भावना है क्योंकि ग्रामीण क्षेत्रो म बैंका की शाखाओ का अत्यधिक तेजी से विस्तार हो रहा है।

रिजर्व बैंक और कृषि साख
(RESERVE BANK AND AGRICULTURAL CREDIT)

कृषि साख की सुविधाएँ देने की दशा म भारतीय रिजर्व बैंक प्रारम्भ से ही जागरूक रहा है। इस तथ्य की पुष्टि इस बात से होती है कि बैंक की स्थापना के समय से ही इसमे कृषि साख विभाग स्थापित कर दिया गया जिसके उद्देश्य निम्नलिखित हैं

(१) कृषि साख की समस्या के अध्ययन के लिए विशेषज्ञ कर्मचारियो का दल रखना जो केन्द्रीय सरकार, राज्य सहकारी बैंको तथा अन्य बैंको को परामर्श के लिए उपलब्ध हो सके।

(२) कृषि साख के सम्बन्ध मे रिजर्व बैंक, राज्य सहकारी बैंक तथा अन्य बैंको की क्रियाओ मे समन्वय स्थापित करना।

कृषि के लिए ऋण—भारतीय रिजर्व बैंक कृषि के लिए समस्त साख राज्य सहकारी बैंको के माध्यम से देता है। राज्य सहकारी बैंक, नियम के अनुसार तो १५ मास के कृषि विनिमय पत्रो पर ऋण ले सकते है परन्तु व्यवहार मे यह बिल प्राय १२ मास के ही लिखे जाते हैं। इस सुविधा के अन्तर्गत माल बेचने अथवा सँवारन (processing) के लिए भी साख दी जाती है।

फरवरी १९५६ मे रिजर्व बैंक द्वारा कृषि साख की अधिक उदारतापूर्ण व्यवस्था करने के लिए दो कोषो की स्थापना की गयी।

(१) राष्ट्रीय कृषि साख (दीर्घकालीन) कोष [National Agricultural Credit (Long-Term Operations) Fund]—इस कोष मे प्रथम वर्ष मे १० करोड रुपये डालने की व्यवस्था की गयी और आगामी पाँच वर्षों मे प्रति वर्ष कम से कम पाँच करोड रुपये डालने का निश्चय किया गया। इस कोष की राशि का प्रयोग निम्नलिखित कार्यों के लिए करने का निश्चय किया गया है

(i) प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप मे सहकारी साख संस्थाओं की पूँजी खरीदने के लिए राज्य सरकारो को २० वर्ष तक की अवधि के ऋण देना।

(ii) कृषि साख की व्यवस्था करने के लिए राज्य सहकारी बैंको को १५ मास से ५ वर्ष तक के ऋण देना। इन ऋणो के ब्याज तथा मूल के भुगतान की राज्य सरकार द्वारा गारण्टी होना आवश्यक है।

(iii) केन्द्रीय भूमि-बन्धक बैंको को २० वर्ष तक के ऋण देना, तथा

(iv) केन्द्रीय भूमि बन्धक बैंको के २० वर्ष तक के ऋणपत्र (Debentures) खरीदना।

उपर्युक्त ऋणपत्रो (संख्या ३ तथा ४) की राज्य सरकारो द्वारा गारण्टी होना आवश्यक है।

अब तक इस कोष मे लगभग १४३ करोड रुपये जमा हो गये हैं और इसमे से लगभग ६० करोड रुपया ऋण मे दिया जा चुका है।

(२) राष्ट्रीय कृषि साख (स्थिरीकरण) कोष [National Agricultural Credit (Stabilisation) Fund]—भारतीय कृषि की अस्थिरता के कारण प्राय सहकारी बैंको से उधार लेने वाले कृषक समय पर ऋण चुकाने मे असफल होते हैं जिसके परिणामस्वरूप सहकारी बैंक रिजर्व बैंक को भुगतान करने मे देर कर देते हैं। इन कठिनाई को दूर करने के लिए स्थिरीकरण कोष बनाया गया है। जिस वर्ष फसल खराब होने अथवा अकाल के कारण राज्य सहकारी बैंक अपने अल्पकालीन ऋणो का भुगतान नही कर पाते हैं उस समय इस कोष से ऋण देकर अल्पकालीन को मध्यकालीन ऋणो मे परिवर्तित कर दिया जाता है। इस कोष मे प्रथम पाँच वर्ष तक निरन्तर एक करोड रुपया वार्षिक डालने का प्रावधान किया गया था। इस कोष मे अब तक लगभग ४० करोड रुपया जमा हो चुका है। स्थिरीकरण कोष मे से १९६६ ६७ मे पहली बार ऋण दिये गये जिनकी रकम अब छह करोड से कुछ अधिक है।

दीर्घकालीन ऋण—रिजर्व बैंक द्वारा भूमि बन्धक बैंको के ऋणपत्र (debentures) खरीदे जाते हैं और उनकी धरोहर पर ऋण भी दिया जाता है। गत कुछ वर्षों मे रिजर्व बैंक द्वारा ग्रामीण ऋणपत्रो की खरीद भी आरम्भ कर दी गयी है।

१९७१ मे रिजर्व बैंक द्वारा ग्रामीण साख के लिए दिये गये कुल ऋण शेषो की राशि लगभग ३२० करोड रुपये तक पहुँच गयी है।

स्टेट बैंक तथा कृषि साख

ग्रामीण साख सर्वेक्षण समिति का यह मत था कि ग्रामीण साख की सम्पूर्ण व्यवस्था सहकारी संस्थाओं के माध्यम से होनी चाहिए। स्टेट बैंक इस सुझाव का अत्यन्त उदारतापूर्वक पालन कर रहा है। वस्तुत कृषि तथा ग्रामीण साख की दिशा में स्टेट बैंक का कार्य अन्य सभी कार्यों से अधिक महत्त्वपूर्ण है। स्टेट बैंक द्वारा दी गयी सहायता को चार वर्गों में बाँटा जा सकता है

(१) **सामान्य सहायता**—इसके अन्तर्गत सहकारी बैंकों को एक स्थान से दूसरे स्थान पर धनराशि भेजने की सुविधा दी जाती है। यह कार्य नि शुल्क किया जाता है। इन प्रेषण सुविधाओं से कृषि के लिए दिये जाने वाले ऋण सरलतापूर्वक स्थानान्तरित किये जा सकते हैं।

(२) **क्रय-विक्रय तथा विधायन साख (Credit for Marketing and Processing)**—जिन क्षेत्रों में केन्द्रीय सहकारी बैंक कृषि माल का क्रय विक्रय करने अथवा सँवारने की क्रियाओं के लिए ऋण देने की स्थिति में नहीं हैं वहाँ स्टेट बैंक सहकारी समितियों को प्रत्यक्ष ऋण देने की व्यवस्था करता है। यह ऋण प्राय माल की धरोहर अथवा माल से सम्बन्धित अधिकार पत्रों की जमानत पर दिये जाते हैं परन्तु कभी कभी सामान्य अथवा बिना जमानत के ऋण देने की व्यवस्था भी की जाती है।

(३) *गोदामों के लिए वित्त—कृषि व्यवस्था में मालगोदामों के विकास का बड़ा महत्त्वपूर्ण* स्थान है अत स्टेट बैंक ने मालगोदामों के निर्माण में प्रारम्भ से ही सक्रिय सहयोग दिया है। केन्द्रीय मालगोदाम निगम में स्टेट बैंक द्वारा १ करोड़ रुपये के अंश खरीदे गये हैं। वह समय समय पर केन्द्रीय तथा राज्य वित्त निगमों को विभिन्न समस्याओं के सम्बन्ध में सलाह देने के लिए *अधिकारी भी नियुक्त करता रहता है।*

स्टेट बैंक मालगोदामों की रसीदों पर ऋण भी देता है। इससे लोगों को केन्द्रीय तथा राज्य मालगोदामों (Central and State Warehousing Corporation) में माल रखने को प्रोत्साहन मिलता है। ३१ दिसम्बर, १९७० को इस मद में ऋण शेष की राशि लगभग २ करोड़ रुपये थी।

(४) **भूमि बन्धक बैंक**—स्टेट बैंक भूमि बन्धक बैंकों के ऋणपत्र खरीदता है तथा उनकी धरोहर पर ऋण भी देता है। इस प्रकार बैंक कृषि साख की वृद्धि में परोक्ष योगदान देता है क्योंकि स्टेट बैंक के सहयोग से भूमि बन्धक बैंकों के ऋणपत्रों की विक्रयशीलता बढ़ जाती है और वह कृषि के विकास के लिए अधिकाधिक ऋण देने में समर्थ हो जाते हैं।

३१ दिसम्बर, १९७० को स्टेट बैंक परिवार द्वारा दी गयी ग्रामीण साख की स्थिति निम्नलिखित थी

(१) लघु उद्योगों को सहायता	
(क) ऋण प्राप्त करने वाली इकाइयों की संख्या	५१,२८९
(ख) ऋण स्वीकृतियाँ	३३० करोड़ रु०
(ग) ऋण शेष	१९९ ,, ,,
(२) सहकारी संस्थाओं को सहायता	
(क) खातों की संख्या	३,१००
(ख) ऋण स्वीकृतियाँ	२६६ ,, ,,
(ग) ऋण शेष	१४२ ,, ,,

स्टेट बैंक के सहायक सात बैंक भी इन मदों में सहायता प्रदान करते हैं।

कृषि पुनर्वित्त निगम
(AGRICULTURAL REFINANCE CORPORATION)

सन् १९५४ में ग्रामीण साख सर्वेक्षण समिति ने यह सुझाव दिया था कि सहकारी साख संस्थाओं के पूरक के रूप में भारत के प्रत्येक प्रान्त में कृषि साख निगम स्थापित किये जाने चाहिए। इस विचार का सहकारी आयोजन समिति (१९४८) ग्रामीण बैंकिंग जाँच समिति (१९५०) तथा ग्रामीण साख सर्वेक्षण समिति ने समर्थन नहीं किया। उनका यह मत था कि सहकारी साख समितियों को ही संगठित कर ग्रामीण साख की व्यवस्था हुआ करनी चाहिए।

गत वर्षों में कृषि के लिए अल्प, मध्यम तथा दीर्घकालीन ऋणों की बढ़ती हुई आवश्यकता अनुभव हो गई है। अतः सहकारी तथा सूचीबद्ध बैंकों को पर्याप्त मात्रा में आर्थिक सहायता प्रदान करने के लिए एक विशेष संस्था की आवश्यकता अनुभव की गई। फलस्वरूप १ जुलाई १९६३ को कृषि पुनर्वित्त निगम की स्थापना की गई।

पूँजी तथा अंश—निगम की अधिकृत पूँजी २५ करोड़ रुपये रखी गयी है जो दस-दस हजार रुपये के २५००० अंशों में विभाजित है।

वित्त सुविधाएँ—कृषि पुनर्वित्त निगम द्वारा निम्नलिखित कार्यों के लिए पुनर्वित्त व्यवस्था की जाती है :

(१) भूमि को खेती योग्य बनाने के लिए, ताकि सिंचाई सुविधाओं का सदुपयोग किया जा सके।

(२) विशेष फसलों के विकास के लिए जिनमें नारियल, काजू, इलायची, कहवा, चाय आदि सम्मिलित हैं।

(३) खेती के यन्त्रीकरण के लिए, जिनमें नलकूपों (tube wells) में बिजली का प्रयोग तथा पम्प आदि लगाने की व्यवस्था सम्मिलित है।

(४) पशुपालन के विकास के लिए, जिनमें दुग्ध-व्यवसाय, मत्स्य-पालन तथा मुर्गी-पालन सम्मिलित हैं।

पुनर्वित्त सुविधाएँ उन सभी राज्य सहकारी बैंकों, केन्द्रीय भूमि-बन्धक बैंकों तथा अनुसूचित बैंकों को उपलब्ध हैं, जो निगम के अंशधारी हैं। वर्तमान में यह सुविधा १५ केन्द्रीय भूमि-बन्धक बैंकों, २० राज्य सहकारी बैंकों तथा ३९ अनुसूचित बैंकों को प्राप्त है।

ऋण-व्यवस्था—भूमि-बन्धक तथा राज्य सहकारी बैंकों द्वारा १०,००० रुपये से लेकर २५,००० रुपये तक के ऋणों की व्यवस्था की जाती है और उनकी अवधि भी १०-१५ वर्ष से अधिक नहीं रही है। निगम इन संस्थाओं द्वारा अधिक रकम तथा अधिक लम्बी अवधि के ऋण देने को प्रोत्साहित करता है। इसी अभिप्राय से चाय तथा कहवे जैसी फसलों के उत्पादन के लिए दिये गये ऋणों की वसूली भी ३-४ वर्ष तक अर्थात् तब तक जब तक आय न होने लगे, स्थगित की जा सकती है।

निगम द्वारा कम से कम वित्तीय सहायता १ लाख रुपये की दी जाती है और ब्याज ४½ प्रतिशत लिया जाता है। ब्याज हर छठे मास अर्थात् ३१ दिसम्बर और ३० जून को वसूल किये जाने की व्यवस्था है। ब्याज की दर में समय-समय पर परिवर्तन किया जा सकता है।

गारण्टी—निगम द्वारा दिये गये पुनर्वित्त या ऋणों की राज्य सरकार द्वारा गारण्टी होना आवश्यक है। यह गारण्टी मूलधन तथा ब्याज दोनों के भुगतान के बारे में होती है। यदि ऋण लेने वाला बैंक सरकारी गारण्टी न देकर अन्य कोई गारण्टी दे सकता है जो निगम व सहायक माडल को मान्य हो।

अन्य शर्तें—निगम द्वारा किसी भी बैंक को ऋण अथवा पुनर्वित्त देने से पूर्व निम्नलिखित बातो का ध्यान और रखा जाता है

(१) **पुनर्वित्त कब**—निगम केवल उन भूमि बन्धक सहकारी अथवा अनुसूचित बैंको को पुनर्वित्त देता है जो किसी कृषि योजना के लिए ऋण दे चुके हैं। सामान्यत पुनर्वित्त प्राप्त करने वाली सस्थाओ को किसी योजना के लिए ऋण देने से पूर्व पुनर्वित्त निगम से सलाह ले लेनी चाहिए अन्यथा निगम पुनर्वित्त सम्बन्धी प्रार्थना आने पर उस योजना पर विचार करेगा जिसमे अनावश्यक देर लग सकती है।

(२) **आर्थिक सहायता का समय**—निगम द्वारा पुनर्वित्त की व्यवस्था ऋण देने के एक वर्ष पश्चात् ही की जा सकेगी। उदाहरणत यदि बैंक ने किसी कृषि विकास योजना के लिए १ जनवरी, १६७१ को ऋण दिया है तो यह बैंक कृषि पुनर्वित्त निगम से १ जनवरी, १६६२ से पूर्व पुनर्वित्त प्राप्त नही कर सकता।

(३) **किस्तों में ऋण**—यदि कोई बैंक किस्तो मे ऋण देता है तो पुनर्वित्त प्राप्त करने की दृष्टि से प्रत्येक किस्त एक पृथक ऋण मानी जायेगी।

(४) **तिथि से पूर्व भुगतान**—यदि बैंक पुनर्वित्त मे प्राप्त की हुई रकम भुगतान तिथि से पूर्व चुका देता है तो उसे १ प्रतिशत शुल्क (वास्तविक भुगतान से लेकर पूर्व-निश्चित तिथि तक) देना पडेगा।

(५) **शर्तों की अवहेलना**—यदि पुनर्वित्त लेने वाला बैंक पुनर्वित्त की शर्तों का पालन न करे तो निगम द्वारा पूरी रकम अवधि से पूर्व वापस ली जा सकती है।

सहकारी बैंको द्वारा पुनर्वित्त सम्बन्धी योजनाएँ सहकारी सस्थाओ के रजिस्ट्रार के माध्यम से प्रस्तुत करनी पड़ती हैं और रजिस्ट्रार योजनाओ पर अपना मत प्रकट कर कृषि पुनर्वित्त निगम को भेज देता है। अनुसूचित बैंको के लिए पुनर्वित्त सम्बन्धी फार्म तथा शर्तें कुछ भिन्न होती हैं।

ऋणपत्र (Debentures)—भूमि-बन्धक बैंक किसी विशेष कृषि योजना की सहायता करने के लिए विकास ऋणपत्र (Development debentures) निर्गमित कर सकते हैं। राज्य सरकार द्वारा कम से कम २५ प्रतिशत ऋणपत्र खरीदे जाने पर शेष ७५ प्रतिशत पुनर्वित्त निगम द्वारा खरीद लिए जाते है।

३१ दिसम्बर १६७० तक कृषि पुनर्वित्त निगम द्वारा विभिन्न योजनाओ के लिए लगभग २६२ करोड रूपये की सहायता दी जा चुकी है। इसमे से लगभग ७० प्रतिशत सहायता लघु सिंचाई तथा सुधार के वास्ते दी गयी है।

कृषि पुनर्वित्त निगम भारतीय कृषि साख क्षेत्र मे एक नया प्रयोग है। बैंको के राष्ट्रीयकरण से उन पर कृषि के लिए अधिक से अधिक ऋण देने का जो गुरुतर भार आ पडा है उसे वहन करने में पुनर्वित्त निगम महत्वपूर्ण योगदान कर सकता है। इस दृष्टि से आगामी वर्षों मे निगम की क्रियाओ मे उल्लेखनीय वृद्धि होने की आशा की जा सकती है।

प्रश्न

१ रिजर्व बैंक ऑव इण्डिया किस प्रकार कृषि साख व्यवस्था मे सहायता करता है? पूर्ण रूप से विवेचन कीजिए। (आगरा, बी० कॉम०, १६५५)

२ भारत मे कृषि-वित्त प्रदान करने वाली विभिन्न सस्थाओ का उल्लेख कीजिए। उनकी क्या सीमाएँ हैं तथा गत वर्ष मे उन्हें दूर करने के लिए क्या उपाय किये गये हैं? (पटना, १६५६)

३ भारत मे कृषि के लिए वित्त व्यवस्था करने वाले स्रोत कौन कौन से हैं। उनका सापेक्षिक महत्त्व स्पष्ट कीजिए तथा उनमे सुधार के लिए सुझाव दीजिए। (आगरा, बी०कॉम०, १६६०)

४ भारत की कृषि वित्त की समस्याओं का विवेचन कीजिए। (आगरा बी० कॉम, १९६१)

५ भारत मे भूमि बन्धक बैंको के कार्य तथा सचालन का ब्यौरा लिखिए तथा उनकी न्यून प्रगति के कारणो पर प्रकाश डालिए। (विक्रम, बी० ए०, १९६१)

६ भारतीय कृषि की दीर्घकालीन साख की आवश्यकता को पूरा करन के लिए भूमि-बन्धक बैंको की आवश्यकता बतलाइए तथा इन बैंको की न्यून प्रगति के कारण स्पष्ट कीजिए। (विक्रम, बी० ए० १९६१)

७ भूमि-बन्धक बैंको से क्या अभिप्राय है ? उनके क्या कार्य हैं ? भारत मे उनकी वर्तमान स्थिति क्या है ? (विक्रम, बी० कॉम०, १९६२)

८ किसानो की दीर्घकालीन ऋण की आवश्यकता की परीक्षा कीजिए। कौनसा साधन ऐसा ऋण देने के लिए सर्वश्रेष्ठ है ? (गोरखपुर, बी० ए०, १९६३)

९ भारत मे कृषि वित्त की व्यवस्था मे रिजर्व बैंक ऑव इण्डिया के कार्यों का विवेचन कीजिए। (विक्रम, बी० कॉम०, १९६३)

१० "विभिन्न एजेन्सियो द्वारा जो कृषि साख आजकल प्रदान की जाती है वह ठीक मात्रा से कम है, ठीक प्रकार की नही है और आवश्यकता की कसौटी को ध्यान मे रखते हुए बहुधा ठीक व्यक्तियो तक नही पहुच पाती है।" (गोरवाला समिति) इस कथन की व्याख्या कीजिए। ग्रामीण क्षेत्र मे सहकारी साख को विस्तृत करने के लिए हाल मे क्या किया गया है ? (विक्रम, बी० कॉम,० १९६३)

११. भारतीय कृषि की साख आवश्यकताओं को पूरा करने मे सहकारी आन्दोलन कहाँ तक सफल हुआ है ? इसके पुनर्गठन सम्बन्धी ग्राम सर्वेक्षण समिति की सिफारिशो का सक्षिप्त वर्णन कीजिए। (राजस्थान, टी० डी० सी० (प्रथम), १९६४)

१२ भारत मे कृषि ऋण प्राप्त करन मे कौन कौन से मुख्य साधन हैं तथा उनकी आपस मे क्या महत्ता है ? उनमे सुधार करने के लिए कुछ उपाय बतलाइए। (विक्रम, बी० कॉम०, १९६४)

१३ कृषि वित्त प्राप्त करने के लिए अपनाये गये विभिन्न उपायो का सिंहावलोकन कीजिए। क्या यह उपाय पर्याप्त हैं ? (नागपुर, बी० कॉम०, १९६४)

16 ग्रामीण ऋण तथा विधान

(AGRICULTURAL INDEBTEDNESS AND LEGISLATION)

The country is in the grip of the Mahajan It is the bonds of debt that shackle agriculture" —*Wolff*

एक फ्रांसीसी कहावत के अनुसार ऋण किसान को उसी प्रकार सहारा देता है जिस प्रकार किसी वधिक की रस्सी फांसी पर लटकने वाले को सहारा देती है। यह कहावत अन्य देशों मे जहाँ सम्पूर्ण ऋण सर्वथा उत्पादक कार्यों के वास्ते लिए जाते हो, भले ही सत्य न हो किन्तु भारत मे सर्वथा सत्य है क्योकि भारतीय किसान अनेक प्रकार के उत्पादक एव अनुत्पादक कार्यों के लिए ऋण प्राप्त करता है। वह खेती के लिए ऋण प्राप्त करने के अतिरिक्त उपभोग एव सामाजिक कार्यों हेतु ऋण लेता है जिन्हे चुकाना सम्भव नही होता अत वह ऋणग्रस्त हो जाता है।

ग्रामीण साख सर्वेक्षण समिति ने यह अनुमान लगाया था कि भारतीय कृषक को लगभग ७५० करोड रुपये वार्षिक की आवश्यकता पडती है किन्तु यह अनुमान आज की परिस्थितियो मे सही नही कहा जा सकता। मूल्यों मे वृद्धि तथा बढते हुए जीवन स्तर एव आवश्यकताओ के उद्धरण मे भारतीय कृषि की साख सम्बन्धी कार्यों का यथोचित सचालन करने के लिए वर्तमान मे लगभग ३,००० करोड रुपये वार्षिक की आवश्यकता पडती है जिनकी पूर्ति विभिन्न साधनो से की जाती है। इस ऋण का एक भाग प्राय उसके पुराने ऋण मे जुडता जाता है और ऋणभार निरन्तर बढता जाता है। सम्भवत इसीलिए कहा गया है कि भारतीय कृषक ऋण मे जन्म लेता है ऋण में जीवित रहता है तथा ऋणी अवस्था में ही मर जाता है। इस प्रकार किसान का ऋण एक पीढी से दूसरी पीढी तक निरन्तर चलता रहता है।

१ ऋणग्रस्तता तथा अनुमान

भारतीय किसान की ऋणग्रस्तता के अनुमान समय समय पर विभिन्न व्यक्तियों अथवा विशेषज्ञ समितियो द्वारा लगाये गये हैं। इन अनुमानो मे से अधिकाश द्वितीय युद्ध से पूर्व के हैं जिनका वर्तमान समय मे कोई महत्त्व नही है। अत उन्हे केवल ऐतिहासिक दृष्टि से देखना वाछनीय है।

ग्रामीण ऋण के अनुमान

वर्ष	व्यक्ति या सस्था	राशि (रुपयो में)
१८७५	डेक्कन रॉयट्स कमीशन	प्रति व्यक्ति ३७१
१९११	मेक्लेगन समिति	३०० करोड
१९२४	मेल्कम डार्लिंग	६०० करोड
१९३१	केन्द्रीय बैंकिंग जाँच समिति	९०० करोड
१९३५	डॉ० पी० जे० थॉमस	१,२०० करोड
१९३७	कृषि साख विभाग (रिजर्व बैंक)	१,८०० करोड
१९५४	ग्रामीण साख सर्वेक्षण समिति	प्रति परिवार ३६४
१९६२	रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया	२,७८९ करोड (प्रति परिवार ४०६)

रिजर्व बैंक की ग्राम्य एवं सर्वेक्षण रिपोर्ट (१९६५) ही ग्राम्य ऋणग्रस्तता के सम्बन्ध में प्रकाश डालती है। इस रिपोर्ट के अनुसार ३० जून, १९६२ को भारत की ग्रामीण ऋणग्रस्तता लगभग २,७७९ करोड़ रुपये थी। ऋणग्रस्त व्यक्तियों में ७५ प्रतिशत किसान थे जिन पर ऋण की कुल मात्रा २३८० करोड़ रुपये थी। ऋणग्रस्तता की सूचना देने वाले औसत किसान परिवार पर ऋण का भार ६४७ रुपये था और देश के औसत किसान परिवार पर ऋण भार ४०६ रुपये था।

इस ब्यौरे से स्पष्ट है कि योजनाकाल में भी जबकि ग्रामों में विकास कार्यों को त्वरित गति से चलाया गया है किसानों पर ऋण भार निरन्तर बढ़ता ही गया है।

२ ऋणग्रस्तता के दोष

(१) कृषि विकास में हानि—यदि किसान ऋणग्रस्त होता है तो उसकी उधार लेने की शक्ति कम हो जाती है। फलतः वह आवश्यकता पड़ने पर यथेष्ट मात्रा में तथा यथोचित दर पर ऋण प्राप्त नहीं कर सकता जिससे कृषि विकास की गति अवरुद्ध होने की आशंका रहती है।

(२) कृषक का शोषण—कृषक प्रायः महाजन अथवा अन्य निजी व्यक्तियों तथा संस्थाओं से ऋण लेता है। वह न केवल किसान से ऊँची ब्याज की दर लेते हैं बल्कि उससे बेगार भी लेते हैं। इससे एक ओर तो किसान के ऋण में वृद्धि होती जाती है, दूसरी ओर वह अपनी सम्पूर्ण शक्तियाँ कृषि विकास के लिए केन्द्रित नहीं कर सकता।

(३) कम मूल्य की प्राप्ति—ऋणग्रस्तता का एक गम्भीर दोष यह है कि किसान को अपनी उपज साहूकार के हाथ बेचने के लिए बाध्य होना पड़ता है क्योंकि कभी-कभी तो साहूकार ऋण देते समय यह शर्त ही लगा देता है कि फसल उसे बेचनी पड़ेगी और कभी-कभी वह ऋण चुकाने के लिए इतना अधिक दबाव डालता है कि किसान अपनी फसल गाँव में ही बेच देता है। इससे किसान को अपनी उपज का कम मूल्य प्राप्त होता है और वह अपने पूरे ऋण चुकाने में समर्थ नहीं हो पाता।

(४) मानसिक दुर्बलता—ऋणग्रस्तता एक ऐसी मानसिक स्थिति है कि ऋणी अनेक बार कुछ अनावश्यक राशि भी उधार ले लेता है। इसमें से कुछ राशि का दुरुपयोग भी हो जाता है। इस प्रकार ऋणग्रस्तता अनुचित व्यय को प्रोत्साहित करती है जिससे कृषि की स्थिति निर्बल होती जाती है।

३. ऋणग्रस्तता के कारण

भारतीय कृषक की ऋणग्रस्तता के अनेक कारण हैं जिनमें से मुख्य निम्नलिखित हैं :

(१) कृषि की अनिश्चितता—किसान की ऋणग्रस्तता का सबसे महत्त्वपूर्ण कारण यह है कि भारतीय कृषि मानसून की दया पर निर्भर है। यदि फसल अच्छी हो जाती है तो किसान भाग्यशाली है अन्यथा उसे अपना निर्वाह करने के लिए तथा पशुओं की रक्षा करने के लिए ऋण लेना पड़ता है। यह ऋण अनुत्पादक होता है अतः इसे चुकाना बहुत कठिन होता है। फलतः किसान निरन्तर ऋणग्रस्त होता जाता है।

(२) पशुओं की मृत्यु—भारतीय किसान के दो महत्त्वपूर्ण धन होते हैं, भूमि और पशु। अकाल की परिस्थितियों में प्रायः पशुओं के लिए भी चारा उपलब्ध होना कठिन हो जाता है। वर्तमान युग में मनुष्यों के लिए खाद्यान्न तो विदेशों से आयात कर लिए जाते हैं परन्तु चारे के अभाव की पूर्ति करना असम्भव होता है। अतः अनेक पशु काल-कवलित हो जाते हैं अथवा यथेष्ट चारा न मिलने के कारण अनेक रोगों से ग्रस्त हो जाते हैं। इलाज कराने अथवा अगली फसल के लिए नये पशु खरीदने में बहुत धन खर्च करना पड़ता है। यह धन प्रायः उधार लेना पड़ता है और इसका भुगतान करना भी प्रायः असम्भव होता है।

(३) कृषि की अनार्थिकता—भारतीय कृषि का स्वरूप भी कुछ ऐसा है कि किसान उसमें जितने समय व्यस्त रहता है उतने श्रम का प्रतिफल बहुत कम मिलता है। इसके कारण प्रति एकड़ कम उपज, सिंचाई बीज-खाद तथा साख की सुविधाओं का अभाव तथा विक्रय व्यवस्था की दोषपूर्ण व्यवस्था आदि हैं। कृषक की आय कम होने के कारण स्वभावत उसे अपनी अनेक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए ऋण लेना पड़ता है। कृषि पर बढ़ते हुए जनभार के अपखण्डन ने समस्या को अधिकाधिक गम्भीर बना दिया है। वास्तव म, जब तक कृषि एक लाभदायक व्यवसाय नहीं बन जाती तब तक कृषक की आर्थिक स्थिति मे सुधार सम्भव नही है और ऋणग्रस्तता की स्थिति का अन्त नहीं हो सकता है।

(४) सहायक धन्धों की कमी—भारतीय किसान खेती के धन्धे मे साल भर व्यस्त अवश्य रहता है किन्तु उसे वास्तविक कार्य साल मे कठिनता से ६-८ महीने रहता है। शेष समय मे वह इन महीनों की कमाई से ही जीवन यापन करता है। इसका कारण यह है कि खाली समय म उसे गांव मे ही कोई रोजगार उपलब्ध नही होता। कुछ व्यक्ति घरेलू परिस्थितियों के कारण नगरों मे जाकर काम नही करना चाहते तो कुछ नगरों के विषैले वातावरण से घबराते हैं। इसके अतिरिक्त बड़े बड़े कारखानो मे काम मिलने की गारण्टी भी नही है। अत किसान की अतिरिक्त आय प्राय नगण्य है। कुछ व्यक्ति जो गाय भैंस पालते हैं, पास के नगरो मे दूध आदि बेचकर अपनी आय मे कुछ वृद्धि कर लेते हैं किन्तु इससे भी विशेष आमदनी नही होती। फलत अनेक बार किसान का व्यय आमदनी से अधिक होता है जिसकी ऋण लेकर पूर्ति करनी पडती है।

(५) कृषक की निर्धनता—कृषि की विपन्नता एव किसान की निर्धनता मे सापेक्षिक एव धनात्मक सह-सम्बन्ध है। कृषक की निर्धनता के कारण कृषि की स्थिति घटिया है क्योंकि वह उपज बढाने की सुधरी हुई प्रणालियों का प्रयोग नही कर सकता। दूसरी ओर कृषि की स्थिति दुर्बल होने के परिणामस्वरूप किसान की आर्थिक स्थिति दुर्बल हो जाती है। अत उसे खाद, बीज अथवा हल खरीदने तथा कभी कभी लगान चुकाने के लिए ऋण लेना पडता है। सम्पन्न कृषि किसी भी प्रकार के ऋण चुकाने म समर्थ होती है परन्तु निर्धन किसान उत्तरोत्तर अधिक निर्धनता एव ऋणग्रस्तता म डूबता चला जाता है।

(६) सामाजिक भार—इसस पूर्व कई स्थानों पर यह स्पष्ट करने की चेष्टा की गयी है कि भारतीय किसान रूढ़िवादी एव पुरातनपन्थी है अत उसे विवाह मृतक भोज तथा अन्य अवसरों पर बहुत धन खर्च करना पड़ता है जिनके लिए ऋण लेने के सिवाय अन्य कोई मार्ग नही। किन्तु वर्तमान युग मे नयी पीढ़ी के युवकों को एक विचित्र समस्या का सामना करना पड रहा है। वह विवाह जैसे अवसरों पर अपव्यय नहीं करना चाहते किन्तु जाति के पच तथा मुखिया ऐसा करने के लिए बाध्य करते हैं और न करने पर सामाजिक बहिष्कार अथवा गाँव से निकालने की धमकी देते हैं। भारत के किसान तथा अन्य मध्यमवर्गीय जनता क सामने यह सामाजिक खर्च एक भीषण समस्या है जिसका समाधान करने के लिए अधिकाधिक नवयुवकों को ग्रामों म बसना होगा अथवा ग्रामों को सदा के लिए छोड़ना होगा। उचित तो यह है कि कुछ सामाजिक संस्थाएँ इस कार्य को हाथ मे ले लें और निरन्तर प्रचार द्वारा इन कुरीतियों को दूर करने का प्रयत्न किया जाय। दुर्भाग्य से आर्य समाज के नेता राजनीतिक समस्याओं में अधिक उलझ गये हैं अन्यथा उनके शक्तिशाली आन्दोलन द्वारा इन सामाजिक रोगों से छुटकारा मिलना सम्भव था।

(७) पैतृक ऋण—शाही कृषि आयोग का मत था कि भारतीय किसान ऋण मे जन्म लेता है ऋण मे जीवित रहता है तथा ऋणी अवस्था म ही मर जाता है। इसका तात्पर्य यह है कि ऋण पीढ़ी दर-पीढ़ी चलता रहता है। प्रत्येक किसान का पुत्र यह समझता है कि यदि उसने अपने पिता द्वारा लिए गये ऋण का भुगतान नहीं किया तो उसे नरकगामी होना पडेगा। अनेक किसानों

को यह ज्ञात है कि यदि पिता सम्पत्ति से अधिक ऋण छोड़ गया है तो वह उसे चुकाने के लिए बाध्य नहीं किये जा सकते। वस्तुतः समाज अथवा पंचायत के लोग भी ऋण न चुकाने वालों को घृणा की दृष्टि से देखने लग जाते हैं। यह एक दुर्भाग्यपूर्ण स्थिति है क्योंकि कितने ही सक्षम एवं निष्ठा से जीवनयापन करने वाले व्यक्तियों को पैतृक ऋणों का भुगतान करने के कारण अभाव और संकट का जीवन बिताना पड़ता है।

(८) मुकदमेबाजी—भारत का किसान अज्ञान अशिक्षा से ग्रस्त होने के कारण बहुत अज्ञानी एवं अहंकारी भी है। जिस वर्ष फसल अच्छी हो जाती है गांवों में बहुत झगड़े होने लगते हैं क्योंकि कृषक यह समझने लगते हैं कि इस वर्ष आय अच्छी हो जायगी अतः उन्हें किसी से दबने की क्या आवश्यकता है। इस नासमझी के कारण छोटी से छोटी बातों पर विवाद खड़े हो जाते हैं और मुकदमे आरम्भ हो जाते हैं जिससे न केवल उनकी फसल से प्राप्त अतिरिक्त आय का अन्त हो जाता है बल्कि और धनराशि ऋण लेना पड़ती है। अज्ञानता का इससे अधिक दण्ड और क्या मिल सकता है?

(९) साहूकार का शिकंजा—कुन्द महोदय का जो उद्धरण इस अध्याय के प्रारम्भ में दिया गया है उसका तात्पर्य यही है कि 'कृषक साहूकार के पंजे में है।' वस्तुतः कृषक नहीं बल्कि भारत की कृषि ही साहूकार के शिकंजे में है क्योंकि किसान जब एक बार साहूकार से ऋण ले लेता है तो मकड़ी के जाले में मक्खी की भाँति फँस जाता है और निकल नहीं सकता। इसका कारण यह है कि साहूकार बड़ी सरलता से ऋण दे देता है जिससे किसान की फिजूलखर्ची को प्रोत्साहन मिलता है। दूसरी बात यह है कि साहूकार बहुत ऊँची दर से ब्याज लेता है। कहीं कहीं तो ब्याज की दरें ७५ से लेकर १०० प्रतिशत तक पहुँच जाती हैं। यह दर प्रायः चक्रवृद्धि ब्याज के कारण बहुत बढ़ जाती है और किसान का ऋण भी अधिकाधिक बढ़ता जाता है।

(१०) व्यवस्थित बाजार का अभाव—भारतीय कृषि पदार्थों का एक बड़ा भाग ग्रामों में ही साहूकारों अथवा एजेन्टों को बेच दिया जाता है। इसका कारण यह है कि मण्डियों में किसानों के साथ अनेक प्रकार की चालाकियाँ की जाती हैं जिससे उनको न केवल कम मूल्य मिलता है बल्कि अनेक असुविधाओं का सामना करना पड़ता है। बहुत बार तो किसान को माल मण्डी तक ले जाने के लिए परिवहन की व्यवस्था हेतु ही ऋण लेना पड़ता है। इस प्रकार उपज का मूल्य कम मिलने तथा माल ले जाने के लिए ऋण लेने के कारण किसान के ऋण में वृद्धि हो जाती है।

(११) लगान रीति—ब्रिटिश शासन के प्रारम्भिक वर्षों में सरकार ने जमींदारों का एक वर्ग निर्मित कर दिया था जो किसानों से मनमाना लगान वसूल करने लगा था। यह वर्ग गत कुछ वर्षों तक सक्रिय था। इस वर्ग की मनमानी वसूली तो अब बन्द हो गयी है किन्तु अब भी अनेक बार सूखे अथवा अतिवृष्टि के कारण फसलें खराब हो जाती हैं जिससे किसान के लिए लगान चुकाना भी कठिन हो जाता है। यद्यपि कभी-कभी राज्य सरकारें लगान में छूट दे देती हैं परन्तु बहुत-सी बार किसानों को लगान चुकाने के लिए भी ऋण लेना अनिवार्य हो जाता है।

(१२) भूमि के मूल्यों में वृद्धि—गत वर्षों में भारत के अनेक भागों में सिंचाई की सुविधाएँ बढ़ गयी हैं जिससे भूमि के मूल्यों में वृद्धि हो गयी है। फलतः किसानों की फसलों के उत्पादन में भी उन्नति हुई है। इस समृद्धि से प्रेरित होकर किसान सामाजिक तथा अन्य कार्यों के लिए अधिक ऋण लेने लगे हैं जिससे उनके ऋणभार बढ़ गये हैं।

४. ऋणग्रस्तता निवारण सम्बन्धी कार्य

किसानों की ऋणग्रस्तता का एक दुष्प्रभाव यह हुआ कि बहुत-सी खेती वाली भूमि किसानों के हाथों से निकलकर साहूकारों के हाथों में चली गयी जिससे कृषि की उपज और कम हो गयी। इसके अतिरिक्त साहूकारों ने अनेक प्रकार से किसानों का शोषण करना आरम्भ कर दिया जिसे

योजना आवश्यक था अतः विभिन्न राज्यों की सरकारों ने किसानों की ऋणग्रस्तता से छुटकारा दिलाने के लिए विभिन्न उपाय किये जिनका संक्षिप्त ब्यौरा नीचे दिया जा रहा है :

(१) कृषक सहायता अधिनियम—कृषकों को ऋणग्रस्तता से बचाने के लिए सर्वप्रथम १८७९ में दक्षिण भारत में एक अधिनियम पास किया गया जिसका नाम दक्षिण कृषक सहायता अधिनियम (Deccan Agriculturists Relief Act) रखा गया। इस अधिनियम के अन्तर्गत निम्न व्यवस्थाएँ की गयीं

(अ) ऋण शेष का निर्धारण—किसानों के विरुद्ध धन वसूली के मुकदमों में अदालतों को यह अधिकार दिया गया कि वह ऋण के कारण की जाँच कर सकती हैं और सही बाकी निकाल सकती हैं।

(आ) ब्याज की दर में कमी—अदालतों को ब्याज की दर घटाने का अधिकार दिया गया।

(इ) किसान तथा भूमि की रक्षा—इस अधिनियम के द्वारा किसान की गिरफ्तारी पर रोक लगा दी गयी और यदि उसकी भूमि विशेष रूप में बन्धक नहीं रखी गयी हो तो उसके विक्रय पर प्रतिबन्ध लगा दिया गया।

कृषि शाही आयोग (१९२८) ने यह मत प्रकट किया कि साहूकारों द्वारा इस अधिनियम का पालन नहीं किया गया।

(२) प्रसंविदा कानून में सुधार—सन १८९९ में भारतीय प्रसंविदा कानून (Contract Act) में संशोधन कर दिया गया जिसके अनुसार यदि साहूकार ने किसी ऋणी पर अनुचित दबाव का प्रयोग किया है तो उसे रद्द माना जा सकता था। वास्तव में, किसानों की इन सम्बन्धी आवश्यकताएँ इतनी तीव्र होती हैं कि यह प्रमाणित करना ही कठिन होता है कि कौनसा प्रसंविदा ऐच्छिक है और किसमें अनुचित दबाव का प्रयोग किया गया है। इस कठिनाई के कारण प्रसंविदा कानून में संशोधन से भी किसानों को विशेष लाभ नहीं हो सका।

(३) कुसीदी ऋण कानून—सन् १९१८ में भारत सरकार ने कुसीदी ऋण कानून (Usurious Loans Act) पास किया जिसके अनुसार अदालतों को यह अधिकार दिया गया कि यदि वे किसी ऋण सम्बन्धी सौदे को अनुचित समझें तो उसमें उचित हेर-फेर करके ऋण की बाकी निकाली जा सकती थी। यह नियम भी सर्वत्र प्रभावहीन रहा क्योंकि 'अनुचित' ब्याज अथवा शर्तों का निर्धारण करना कठिन था। इसे प्रभावशाली बनाने के लिए १९३३ में बंगाल, १९३४ में आसाम, मध्य प्रदेश, पंजाब तथा उत्तर प्रदेश, १९३७ में तमिलनाडु तथा १९३८ में बम्बई और बिहार में इस कानून में संशोधन किये गये। इन संशोधनों के अनुसार ब्याज की अधिकतम दरें निर्धारित कर दी गयीं और निर्धारित दरों से अधिक ब्याज लेना अनुचित माना गया।

(४) साहूकारों पर नियन्त्रण—किसानों को ऋणग्रस्तता से छुटकारा दिलाने के लिए कृषि शाही आयोग तथा विभिन्न राज्यों के लिए नियुक्त बैंकिंग जाँच समितियों ने साहूकार की क्रियाओं पर उचित नियन्त्रण लगाने की व्यवस्था की ताकि वह किसानों से अनुचित लाभ न उठा सकें। फलतः विभिन्न राज्यों में निम्नलिखित वर्षों में साहूकार अधिनियम पास किये गये :

आसाम, मध्य प्रदेश	१९३४
बिहार, पंजाब	१९३८
उड़ीसा, हैदराबाद, मैसूर	१९३९
बंगाल	१९४०
बम्बई	१९४६
राजस्थान	१९६५

गत वर्षों में अन्य राज्यों में भी साहूकारों की क्रियाओं पर नियन्त्रण लगाने सम्बन्धी कानून पास किये गये हैं जिनमें साहूकारों के लिए निम्नलिखित कार्य अनिवार्य कर दिये गये हैं तथा ऋणियों को सुरक्षा प्रदान की गयी है :

साहूकार अधिनियमों की मुख्य विशेषताएँ :

(१) नाम रजिस्टर करवाना,
(२) लाइसेंस लेना,
(३) निश्चित विधि से हिसाब-किताब रखना,
(४) ऋणियों को जमा रकम की रसीद देना,
(५) ऋणियों को समय-समय पर खाता विवरण भेजना,
(६) ब्याज की निर्धारित दर से अधिक न लेना,
(७) किसानों को तंग करने के विरुद्ध संरक्षण,
(८) उपर्युक्त नियम भंग करने पर दण्ड की व्यवस्था,
(९) किसानों की भूमि, बैल या खेती के काम में आने वाले उपकरणों की कुर्की से रक्षा।

इन सभी अधिनियमों में ऋण लेने वालों को साहूकार की अनुचित कार्यवाहियों से बचाने की व्यवस्था की गयी है किन्तु प्रायः सभी राज्यों के विधान उचित रूप से कार्यान्वित नहीं किये जा सके हैं। साहूकारों ने बहुत कम संख्या में लाइसेंस लिए हैं, ब्याज की दरें मनमानी प्राप्त की जा रही हैं और हिसाब-किताब रखने तथा जमा की रसीदें देने की व्यवस्थाओं का सर्वत्र उल्लंघन किया जा रहा है। इस दृष्टि से साहूकार अधिनियमों का संचालन सर्वथा दोषपूर्ण एवं निर्बल रहा है, अतः उनसे ऋणियों को विशेष लाभ नहीं पहुँच सका है।

(३) **भूमि के हस्तान्तरण पर रोक**—साहूकारों की अनुचित क्रियाओं पर प्रतिबन्ध लगाने के अतिरिक्त कुछ राज्यों में किसानों की भूमि, हल, बैल तथा खेती सम्बन्धी अन्य उपकरणों की कुर्की पर रोक लगा दी गयी। इसका तात्पर्य यह था कि ऋणों की वसूली करने में किसान के खेती सम्बन्धी समान पर कब्जा नहीं किया जा सकता था। इस प्रकार कृषि भूमि को गैर-किसानों के अधिकार में जाने से रोकने की चेष्टा की गयी। पंजाब में तो कई वर्ष पहले तक की हस्तान्तरित भूमि किसानों को लौटाने की व्यवस्था की गयी। इसका लाभ यह हुआ कि किसानों को ऋण चुकाने के दायित्व के बदले अपने निर्वाह साधन (भूमि) से हाथ नहीं धोना पड़ा।

(४) **समझौता अदालतें**—प्रायः सभी राज्यों में ऋणी तथा साहूकारों के बीच ऋण की मात्रा निश्चित करने के लिए समझौता अदालतें (conciliation courts) स्थापित की गयीं जिनका कार्य दोनों के लेन-देन सम्बन्धी हिसाब का अध्ययन कर उसमें उचित संशोधन करना तथा हिसाब साफ करवाना था। इन अदालतों ने अनेक ऋणियों के ऋण कम करके उन्हें ऋण-मुक्त होने में सहायता दी।

सुधार सम्बन्धी सुझाव—ग्रामीण ऋणग्रस्तता को कम करने तथा कृषकों की आर्थिक स्थिति में सुधार करने सम्बन्धी अनेक सुझाव समय-समय पर विभिन्न समितियों द्वारा दिये गये हैं। उनमें कृषि वित्त समिति (१९४४) तथा ग्रामीण साख सर्वेक्षण समिति (१९५४) के सुझाव विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। अतः उपर्युक्त दोनों समितियों के सुझावों का संक्षिप्त ब्यौरा नीचे दिया जा रहा है :

(१) **ब्याज की न्यूनतम दरें**—ये बहुत से स्थानों में निर्धारित की जानी चाहिए और उन्हें स्थान तथा परिस्थितियों के अनुसार निश्चित किया जाना चाहिए ताकि उनका उल्लंघन होने की न्यूनतम आशंका हो।

(२) **संचालन एवं प्रबन्ध**—साहूकारों के नियन्त्रण सम्बन्धी कानूनों का संचालन बहुत

कुशल व्यक्तियों के हाथ में दिया जाना चाहिए ताकि किसी भी धारा की अवहेलना करने वाले को तत्काल दण्डित किया जा सके। इस सम्बन्ध में ग्रामीण साख सर्वेक्षण समिति ने यह कार्य सहकारी विभाग के रजिस्ट्रार को सौंपने की सिफारिश की है। यदि वास्तव में देखा जाय तो मौलिक रूप में यह सुझाव सर्वथा उचित है परन्तु अधिकांश राज्यों के सहकारी विभागों का संचालन अत्यन्त अकुशल एवं दोषपूर्ण है अतः उन्हें साहूकारों पर नियन्त्रण सम्बन्धी कानूनों का संचालन-भार देने से कोई लाभ होने की सम्भावना नहीं है। उचित तो यह है कि इस कार्य के लिए सहकारी विभाग में एक अलग ही उप-विभाग निर्मित किया जाय जिसकी व्यवस्था एक रजिस्ट्रार की देखरेख में की जाय। इस विभाग का पंचायत समितियों, सामुदायिक केन्द्रों तथा राज्य सरकार के राजस्व विभाग से उचित सम्पर्क होना आवश्यक है।

(३) अधिनियमों में संशोधन—कृषि वित्त समिति ने यह सुझाव दिया था कि देश के सभी राज्यों में प्रचलित साहूकार कानूनों का गम्भीरतापूर्वक अध्ययन कर यह निश्चय करना चाहिए कि उनमें निम्नलिखित बातें सम्मिलित हैं अथवा नहीं। यदि नहीं, तो इन व्यवस्थाओं को सम्मिलित कर देना चाहिए

(१) साहूकार का पंजीयन (रजिस्ट्रेशन) अनिवार्य करना,

(२) लाइसेंस लेने की व्यवस्था करना,

(३) निर्धारित रूप में खाते रखने की व्यवस्था करना

(४) खातों में अशुद्ध प्रविष्टियों के लिए दण्ड निर्धारित करना,

(५) ऋणियों को समय-समय पर खाता विवरण भेजना

(६) ऋणियों को प्रत्येक ऋण के लेन देन सम्बन्धी जमा खर्च ब्याज का ब्यौरा भेजना,

(७) ऋणियों को प्रत्येक जमा के बदले रसीद देना,

(८) ब्याज की दरें निर्धारित करना

(९) दामदुपट (मूल और ब्याज मिलकर मूल के दुगने से अधिक न हो) के सिद्धान्त को लागू करना,

(१०) ऋणियों से अनुचित शुल्क की वसूली पर रोक लगाना,

(११) ऋणी को यह अधिकार देना कि वह ऋण की रकम का सम्पूर्ण अथवा आंशिक भाग किसी भी समय अदालत में जमा करवा सके,

(१२) किसी भी ऋण का अपने राज्य से बाहर भुगतान करने पर प्रतिबन्ध लगाना,

(१३) ऋणियों को अपनी देय रकम का निर्धारण करने के लिए साहूकार पर मुकद्दमा चलाने का अधिकार देना,

(१४) ऋणियों को मारपीट अथवा अन्य दबावों से मुक्त करना,

(१५) उपर्युक्त नियमों की अवहेलना करने पर बड़े दण्ड देने की व्यवस्था करना।

उपर्युक्त सभी सुझाव कृषि ऋणग्रस्तता को कम करने की दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं। जिन राज्यों में अभी अभी साहूकार अधिनियम पास किए गए हैं उनमें प्रायः सभी आवश्यक बातों का समावेश किया गया है किन्तु मूल समस्या इन अधिनियमों का पालन करवाने सम्बन्धी है। सहकारी प्रबन्ध-व्यवस्था की आधारभूत अकुशलता के कारण साहूकारों की अवांछनीय क्रियाएँ आज भी चालू हैं। दूसरी ओर सहकारी साख समितियाँ अभी इतनी सशक्त नहीं हुई हैं कि किसानों की सम्पूर्ण आर्थिक आवश्यकताओं की पूर्ति कर सकें, अतः साहूकारों का महत्व कृषि साख में कुछ समय तक यथावत् बना रहेगा यह ध्रुव सत्य है।

ऋण-निर्धारण एवं भुगतान—किसानों की ऋणग्रस्तता निवारण के सम्बन्ध में कुमारप्पा समिति ने यह सुझाव दिया था कि कुल कृषि ऋण का सरकार अनुमान लगाकर उसके भुगतान की

व्यवस्था की जानी चाहिए। इस सम्बन्ध में उचित यह है कि सरकार द्वारा सभी राज्यों में यह नोटिस कर देनी चाहिए कि वे एक निश्चित तिथि तक सभी किसानों के ऋणों की [illegible] समिति, जमींदारी के अन्तर्गत अथवा सहकारी समिति में दर्ज करा दें। इस तिथि के पश्चात किसी भी ऐसे व्यक्ति के ऋण को मान्यता नहीं दी जा सकेगी जो अमुक तिथि तक ऋणी के साथ ऋण राशि तथा ब्याज का ब्यौरा किसी अधिकारी के समक्ष न प्रस्तुत कर सका हो।

उपर्युक्त योजना से सरकार को सम्पूर्ण ग्रामीण ऋणग्रस्तता के सम्बन्ध में पूरी जानकारी हो जायेगी जिसके आधार पर इस समस्या के हल के लिए कदम उठाया जा सकता है। दूसरा लाभ यह है कि इस तिथि तक [illegible] ऋणों के [illegible] का अनुमान लगाकर उनके समायोजन की व्यवस्था की जा सकेगी। ऐसा करने से जहाँ ऋणग्रस्तता से किसान मुक्त होंगे वहीं खेती और कृषि-व्यवस्था का स्तर ऊँचा उठेगा तथा [illegible] का उचित उपयोग हो सकेगा। देश में [illegible] स्थापित करने की घोषणा करने वाली सरकार के इस दिशा में उचित कानून की [illegible] सर्वथा [illegible] होगा।

प्रश्न

१. भारत में ग्रामीण ऋणग्रस्तता के क्या कारण हैं? इन्हें दूर करने के लिए क्या उपाय किए गए हैं?

२. भारत में ग्रामीण ऋण की क्या समस्याएँ हैं? इनके समाधान के लिए सुझाव दीजिए।

17

कृषि श्रमिक

(AGRICULTURAL LABOUR)

"To leave out problem of agricultural labour in any scheme of agrarian reforms—as has been done so far, is to leave unattended a peeping wound in the agrarian system of the country."

—Agrarian Reforms Committee

द्वितीय कृषि श्रम जांच समिति (Agricultural Labour Enquiry) के अनुसार भारतीय कृषि मे सलग्न श्रमिको में से लगभग १ ६३ करोड परिवार (अर्थात लगभग ८ करोड श्रमिक) ऐसे हैं जिनके पास खेती के लिए तनिक भी भूमि नही है। यह व्यक्ति फसल के समय किसी किसान के यहां नौकरी कर लेते हैं। किसान इन्हे फसल का एक अश (चतुर्थाश अथवा पचमाश) देने का समझौता कर लेता है अथवा दैनिक मजदूरी पर नियोजित कर लेता है। इनमे से कुछ श्रमिक ऐसे होते हैं जिनके स्वय के पास भी थोडी सी भूमि होती है किन्तु उस भूमि से उन्हें पूरे समय काम उपलब्ध नहीं होता अत वह दूसरे किसानों के काम म हाथ बंटाने लगते है। उनकी स्त्रियां तथा बच्चे भी कृषि कार्य मे सहयोग देते है।

१ सख्या का अनुमान

कुमारप्पा समिति ने यह अनुमान लगाया था कि यदि वास्तविक काम करने वाले कृषि श्रमिकों की गणना की जाय तो उनकी सख्या ३ १५ करोड है। इन दोनो अनुमानो म जो अन्तर है वह स्वभावत गणना के दोष क कारण ही है क्योकि समिति की रिपोर्ट म आगे जाकर कहा गया है कि यदि इनमे ऐसे श्रमिको को भी सम्मिलित कर लिया जाय जो अपनी भूमि पर खेती के साथ साथ अन्य लोगो की भूमि पर श्रमिक रूप मे काम करते है तो उनकी सख्या कुल कृषकों की सख्या की लगभग ३५ प्रतिशत हो जायेगी। वास्तव म इस कठिनाइ के कारण ही कृषि श्रमिको की शुद्ध सख्या का अनुमान लगाना कठिन है क्योकि छोटे छोटे भू-खण्डो के मालिको मे से कुछ ही व्यक्ति ऐसे हैं जो अपनी भूमि पर खेती करने के साथ-साथ अन्य किसानो के साथ श्रमिक का भी कार्य करते है।

कृषि श्रमिक जांच—सन् १९५० ५१ तथा १९५६-५७ मे कृषि श्रमिक जांच समितियां नियुक्त की गयी। इन समितियो की रिपोर्टों की मुख्य बातें नीचे दी जा रही हैं (i) सन् १९५६-५७ की जांच क अनुसार कृषि श्रमिक परिवारो की सख्या १ ६३ करोड थी। इनमें से ५८% परिवारो के पास भूमि बिलकुल नही थी। कृषि परिवारो मे से ८३ परिवार आकस्मिक (casual) श्रमिक परिवार थे जो दैनिक मजदूरी पर काम करते थे, १७% सम्बन्धित (attached)

श्रमिक परिवार थे जो निश्चित अवधि के लिए ठेके पर काम करते थे। (ii) सन् १९५६-५७ मे कृषि श्रमिको की कुल सख्या ३ ३ करोड थी (पुरुष १ ८ करोड स्त्रियाँ, १ २ करोड तथा बच्चे ३० लाख)। (iii) ये श्रमिक १९५०-१९५१ मे वर्ष मे २०० दिन तथा १९५६ ५७ मे वर्ष मे १४७ दिन तक औसत रूप मे मजदूरी पर काम करते थे। (iv) इन श्रमिको की औसत मजदूरी सन् १९५०-५१ मे १ ०९ रु० तथा सन् १९५६-५७ मे ९६ पैसे मात्र थी। दोनो जाँचो के अनुसार कुल मजदूरी के क्रमश ३१ तथा ४० प्रतिशत भाग का भुगतान वस्तु के रूप मे किया जाता है। (v) कृषि श्रमिक परिवार की औसत आय सन् १९५० ५१ मे ४४७ रु० वार्षिक तथा १९५६-५७ मे ४३७ रु० मात्र थी (परिवार का औसत आकार इन दो वर्षो मे क्रमश ४ ३ व ४ ४ था)। (vi) सन् १९५६-५७ मे प्रति श्रमिक परिवार ६१७ रु० वार्षिक उपभोग व्यय था जबकि आय केवल ४३७ रु० थी अत १८० रु० वार्षिक की कमी थी जिसकी पूर्ति ऋण पूर्व बचत के उपभोग आदि द्वारा की जाती थी।

उपर्युक्त तथ्यो से कृषि श्रमिको की दयनीय दशा का अनुमान लगाया जा सकता है। उनकी सख्या मे उत्तरोत्तर वृद्धि तथा वार्षिक दशा मे गिरावट भारत की एक प्रमुख आर्थिक व सामाजिक समस्या है।

सख्या मे वृद्धि—गत वर्षों मे कृषि श्रमिको की सख्या मे निरन्तर वृद्धि हुई है। इसका अनुमान इस प्रकार लगाया गया है

वर्ष	१८८१	१८९१	१९२१	१९३१	१९५१	१९६१
सख्या (करोड)	० ७५	१ ८७	२ १५	३ ३	४ ६	५ ६०

कृषि श्रमिको की सख्या मे वृद्धि होने के अनेक कारण है

(१) जनसख्या मे वृद्धि।

(२) भूमि का अपखण्डन जिसके कारण अनेक भू खण्ड इतने छोटे हो गये हैं कि उन पर कृषि द्वारा पूरे समय काम मिलना कठिन है।

(३) सयुक्त परिवार प्रणाली का पतन।

(४) लघुकाय उद्योगो का पतन अथवा अभाव।

सन् १९५१ से १९६१ के दस वर्षो मे कृषि श्रमिको की सख्या मे केवल दस प्रतिशत वृद्धि हुई है जबकि जनसख्या २१ प्रतिशत से भी अधिक बढी है। इसका तात्पर्य यह है कि इस दशाब्द मे कृषि श्रमिकों की वृद्धि की गति शिथिल हो गयी है। इसका कारण यह है कि विभिन्न राज्य सरकारो द्वारा भूमि के उप-विभाजन पर रोक लगा दी गयी है। लघु तथा दीर्घाकार उद्योगो की प्रगति के कारण श्रमिको को इन उद्योगो मे भी पहले से अधिक काम उपलब्ध होने लगा है। तीसरा कारण शिक्षा की प्रगति है जिसके फलस्वरूप ग्रामीण क्षेत्रो के नवयुवक अब कृषि के स्थान पर सरकारी अथवा अन्य नौकरी करना अधिक पसन्द करने लगे है और ग्रामो को छोडकर नगरो मे बसने लग गये है।

२. कृषि श्रमिको का वर्गीकरण

कृषि श्रमिको को प्राय तीन वर्गो मे वर्गीकृत किया जाता है:

(१) **खेतो पर काम करने वाले**—इस वर्ग मे हल चलाने, फसल बोने, भूमि को खेती-योग्य बनाने, फसलो के पौधो मे से अनावश्यक जगली पौधे साफ करने तथा फसल काटने आदि का कार्य करने वाले सम्मिलित है। वस्तुत खेतो पर काम करने वाले श्रमिको के सभी कार्यो की सूची देना कठिन है क्योकि इनमे पशुओं की देखभाल और सामान्य घरेलू कामो मे लेकर फसल की रखवाली करने तथा उसे मण्डी मे बेचने तक के कार्यों मे सहायता ली जा सकती है।

खेती पर काम करने वाले श्रमिक प्राय फसल के अवसर पर काम करते है किन्तु इनमे से

अधिकांश साल भर अथवा कम से कम छह मास के लिए भूमि पर नियोजित रहते है। इन श्रमिको को अनेक बार उपज मे साझेदारी के अधिकार मिलते है किन्तु जो श्रमिक केवल आकस्मिक कार्यों हेतु नियोजित किये जाते है उन्हे निश्चित दर से पारिश्रमिक दिया जाता है।

(२) सामान्य श्रमिक—खेतो पर प्रत्यक्ष काम करने वाले श्रमिको के अतिरिक्त कुछ व्यक्ति ऐसे भी होते हैं जो कुएँ खोदने नहरो की मिट्टी निकालने, कृषि भूमि के चारो ओर मिट्टी की मेढ बाँधने आदि का कार्य करते है जो कृषि कार्यों मे सम्बन्धित हैं। इन श्रमिको के कार्य प्राय आकस्मिक होते हैं और इन्हे भी मजदूरी के आधार नियोजित किया जाता है।

(३) कुशल श्रमिक—उपर्युक्त दोनो प्रकार के श्रमिको के अतिरिक्त किसान अनेक बार कुछ ऐसे व्यक्तियो की सेवाएं प्राप्त करता है जो कृषि के लिए प्रत्यक्ष उपयोगी काम नही करते बल्कि अप्रत्यक्ष रूप मे सहायक होते हैं। इन श्रमिको मे बढई चमार लुहार आदि सम्मिलित हैं जो हल, गाडी अथवा चरस बनाने अथवा इनकी मरम्मत करने के कार्यों मे सहायक होते है। इन श्रमिको को ठेके अथवा मजदूरी पर नियोजित किया जाता है।

३ स्त्री तथा बाल श्रमिको का नियोजन

कृषि व्यवसाय मे बहुत से काय इस प्रकार के हैं जिनमे अधिक धैर्य तथा सामान्य कुशलता की आवश्यकता पडती है। इस प्रकार के कार्य भूमि से जगली पौधे उखाडना चावल कूटना तथा फसल काटना है जिनमे स्त्रियाँ और बच्चे सरलतापूर्वक सहयोग दे सकते है। पजाब हरियाणा, तथा राजस्थान की स्त्रियाँ खेती मे प्राय पुरुषो से अधिक कार्य करती है।

स्त्रियो तथा बच्चो को कृषि कार्यों मे नियोजित करने का कारण यह भी है कि इनसे पुरुषो की तुलना मे अधिक घण्टे काम लिया जा सकता है यह पुरुषो से अधिक लगनशील और ईमानदार होते हैं तथा इन्हे कम पारिश्रमिक देना पडता है। कुमारप्पा समिति ने इस प्रथा का विरोध करते हुए स्पष्ट मत प्रकट किया है कि यह दोहरा शोषण है जिसका तत्काल अन्त किया जाना आवश्यक है।

४ कार्य का स्वभाव

कृषि श्रमिको के सम्बन्ध मे एक गम्भीर बात यह है कि वह प्राय २४ घण्टे के नौकर होते हैं। देश मे किसी भी कानून द्वारा कृषि श्रमिको के काम के घण्टे निश्चित न होने के कारण किसान अथवा मालिक उनसे मनमाना काम लेते है। खेत पर काम करने के पश्चात मर्द, औरत तथा बच्चे सभी मालिक के घर पर काम करते हैं। इस प्रकार काम की अवधि कभी कभी १२-१५ घण्टे दैनिक तक हो जाती है जो सर्वथा अनुचित एव वर्जनीय है।

५ अन्य तथ्य

(१) अस्थायी कार्य—कृषि श्रमिक के शोषण के अतिरिक्त उनके कार्य सम्बन्धी दूसरी उल्लेखनीय बात यह है कि कुल कृषि श्रमिको मे से लगभग १५% ही साल भर नियोजित रहते है, शेष को केवल कुछ मास के लिए काम मिलता है। इस प्रकार बेरोजगारी से उनकी निर्धनता और बढ जाती है और काम के दिनो मे वह किसी भी शर्त पर कार्य करने के लिए बाध्य हो जाते हैं।

(२) दास प्रथा—यद्यपि भारत को स्वतन्त्र हुए लगभग पच्चीस वर्ष बीत गये हैं परन्तु देश के अनेक राज्यों मे किसी न किसी रूप मे दास प्रथा विद्यमान है। बम्बई मे हालियो को विवाह करने के लिए धन उधार दिया जाता है जिसके फलस्वरूप वह व्यक्ति ऋण चुकता होने तक मालिक की खेती पर काम करने के लिए बाध्य हो जाता है। बहुत कुछ ऐसी ही प्रथा राजस्थान के बाँसवाडा तथा डूंगरपुर के ग्रामो मे प्रचलित रही है। छोटा नागपुर के कमिया और मद्रास के पन्नायो की स्थिति भी दासता से कम नही है। इन प्रथाओ के अन्तर्गत काम करने वाले कृषि श्रमिक ऋण के फलस्वरूप मालिक के यहाँ आजन्म अथवा ऋण चुकता होने तक केवल भोजन

के बदले काम करते हैं। उनके काम मे परिवार के अन्य सदस्य भी हाथ बटाते रहते है जिन्हे कुछ पारिश्रमिक दे दिया जाता है।

यद्यपि राज्य सरकारो ने इन प्रथाओ का अन्त करने के लिए कानून बना दिये है परन्तु कानून प्राय. धनी और शक्तिशाली का सहायक होता है। जब तक प्रत्येक नागरिक को नि शुल्क कानूनी सरक्षण न हो कोई भी कानून (विशेषकर पतित जनो का उत्थान करने सम्बन्धी कानून) फलीभूत नहीं हो सकता। दूसरी कठिनाई यह है कि इन लोगों का मानसिक धरातल अत्यन्त निम्न है अत यह अपने लाभ हानि की किसी भी बात को न तो भली प्रकार समझ सकते हैं, न उसके सम्बन्ध मे सघर्ष कर सकते हैं। अत पचायतो को इस दिशा मे महत्त्वपूर्ण कदम उठाने चाहिए। वे एक ओर तो शिक्षा का विकास कर इन व्यक्तियो को अमानवीय व्यवहार से बचा सकती है और दूसरी ओर स्वय उनके शोषण का अन्त करने सम्बन्धी कार्य अपने हाथ मे ले सकती हैं।

(३) **नियोजन तथा मजदूरी**—द्वितीय कृषि श्रम जांच समिति का अनुमान है कि भारत मे कृषि श्रमिक का औसत परिवार ४ ४ व्यक्तियो का है जिनमे से केवल आधे लोग ही काम करते हैं। इनमे से मर्द साल भर मे कुल २७५ दिन नियोजित रहते हैं। इन २७५ दिनो मे से भी ७५ दिन तो वह निजी कार्य मे सलग्न रहते हैं और शेष दिनो मे मजदूरी पर काम करते है।

स्त्रियो को वर्ष मे केवल १३४ दिन काम मिलता है और बच्चो को २०४ दिन। यह स्थिति आकस्मिक श्रमिकों की है जिनकी सख्या कुल श्रमिको की लगभग ८५% है। इससे स्पष्ट है कि कृषि श्रमिको को वर्ष मे बहुत कम समय काम मिलता है।

(४) **शर्तें**—कृषि श्रमिको को मजदूरी प्राय दो प्रकार दी जाती है। कुछ क्षेत्रो मे श्रमिक फसल मे ही भागीदार होते हैं। पजाब मे बहुत से श्रमिको को फसल के १०% से २०% तक देने की शर्त पर रखा जाता है। कभी-कभी श्रमिक को दैनिक मजदूरी के आधार पर नियोजित किया जाता है और उसे कुछ मन अन्न तथा चारा भी दे दिया जाता है। फसल की कटाई के अवसर पर जो मजदूर रखे जाते हैं वह पूर्णत मजदूरी के आधार पर नियोजित किये जाते है। वर्तमान युग मे मुद्रा तथा बैंक व्यवस्था का पर्याप्त विकास होने के कारण अधिकतर कृषि श्रमिक दैनिक मजदूरी के आधार पर ही नियोजित किये जाने लगे हैं।

(५) **दरें**—द्वितीय कृषि जाँच समिति के अनुमान के आधार पर भारत मे एक श्रमिक परिवार की औसत वार्षिक आय लगभग ४३७ रुपये है जो प्रति व्यक्ति केवल ९९ ४ रुपये होती है। इतनी कम आय से कोई व्यक्ति रहन-सहन का कैसा स्तर बनाये रह सकता है, यह सोचना सर्वथा हास्यास्पद है। वस्तुत. इतनी आय पर जीवित रहना ही एक ईश्वरीय चमत्कार समझा जाना चाहिए।

उपर्युक्त समिति के अनुमान के अनुसार एक पुरुष श्रमिक की दैनिक मजदूरी ९६ पैसे तथा स्त्री श्रमिक को दैनिक पारिश्रमिक केवल ५९ पैसे है जबकि एक बाल श्रमिक को केवल ५३ पैसे दैनिक मिलते हैं। इस स्थिति की गम्भीरता का भी वास्तविक अनुमान तभी लग सकता है जब इस बात का भी ध्यान रखा जाय कि इन श्रमिको को साल भर नियमित काम नहीं मिलता।

(६) **ऋण तथा जीवन स्तर**—कृषि श्रम जाँच समिति के मतानुसार एक कृषि श्रमिक परिवार की औसत वार्षिक आय ४३७ रुपये तथा व्यय ६१७ रुपये है। इस प्रकार न्यूनतम व्यय की पूर्ति करने मे १८० रुपये वार्षिक की कमी रहती है जिसकी पूर्ति पुरानी बचतो, ऋणो अथवा अपनी यत्किंचित सम्पत्ति बेचकर की जाती है। स्वभावत अधिकाश परिवारो को ऋण लेकर ही काम चलाना पड़ता है। इसका परिणाम यह है कि लगभग ६४ प्रतिशत कृषि श्रमिक परिवार ऋणग्रस्त हैं। यह प्रतिशत १९५०-५१ मे केवल ४५ थी। प्रति परिवार ऋण भी ४७ रुपये से

बढ़कर ८८ रुपये हो गया है। यदि केवल ऋणी परिवारों के ही ऋण की गणना की जाय तो उनकी औसत राशि १३८ रुपये है।

ऋण में वृद्धि—उपर्युक्त अंक १९५६-५७ के हैं। गत दस वर्षों में वस्तुओं के मूल्यों में निरन्तर वृद्धि हुई है किन्तु कृषि श्रमिकों की पारिश्रमिक दरों में कुछ वृद्धि हुई होगी, यह कहना कठिन है। इससे एक सामान्य निष्कर्ष यही निकाला जा सकता है कि उन पर ऋणभार निश्चित रूप से पहले से अधिक हो गया है। इसका वास्तविक अनुमान किसी विशेषज्ञ समिति द्वारा ही लगाया जा सकता है।

ऋण के कारण तथा स्रोत—कृषि श्रमिक जाँच समिति ने एक अन्य महत्त्वपूर्ण तथ्य पर प्रकाश डाला है कि कृषि श्रमिकों द्वारा कुल ऋण का लगभग ४६ प्रतिशत उपभोग के लिए, २४ प्रतिशत सामाजिक खर्चों के लिए, १९ प्रतिशत उत्पादक कार्यों के लिए तथा शेष ११ प्रतिशत विविध कार्यों के लिए प्राप्त किया गया। इस सम्बन्ध में यह ध्यान रखना आवश्यक है कि भारतीय ग्रामों में किये जाने वाले अधिकांश सामाजिक खर्चे प्रायः अनिवार्य हैं और उन्हें किये बिना ग्राम में रहना असम्भव है। अतः यह सामाजिक आवश्यकताएँ हैं। इस दृष्टि से श्रमिकों द्वारा प्राप्त किये गये ऋणों का ७०% (४६ + २४) अनिवार्य समझा जाना चाहिए। शेष में १९% ऋण उत्पादक कार्यों के लिए और ११% विविध कार्यों के लिए प्राप्त किया गया है।

ऊपर दिये गये विवरण से यही स्पष्ट होता है कि कृषि श्रमिक अधिकांश ऋण अनिवार्य आवश्यकताओं के लिए प्राप्त करता है।

दूसरी महत्त्वपूर्ण बात यह है कि उसके ऋणदाताओं में भी ३४% भाग साहूकारों द्वारा, ४४% मित्रों तथा सम्बन्धियों द्वारा, १५% नियोजकों (employers) द्वारा, ५% दुकानदारों द्वारा तथा शेष १% सहकारी समितियों द्वारा दिया गया था। इससे स्पष्ट होता है कि कृषि श्रमिक जो १९% उत्पादक ऋण प्राप्त करता है वह भी उसे अन्य साधनों द्वारा प्राप्त करना पड़ता है क्योंकि सहकारी समितियाँ तो कुल के केवल १% की पूर्ति करती हैं। यह स्थिति एक ओर तो सहकारी समितियों की जड़ता की ओर संकेत करती है किन्तु दूसरी ओर कृषि श्रमिकों की दीनता और विवशता का भी परिचय देती है कि उनकी तनिक भी साख नहीं है जिसके आधार पर वह सहकारी समितियों से ऋण उपलब्ध कर सकें।

(७) जीवन-स्तर—ऊपर बतायी गयी आय इस बात की द्योतक है कि कृषि श्रमिकों का जीवन स्तर किस प्रकार का हो सकता है। इन लोगों की भोजन तथा वस्त्र की न्यूनतम आवश्यकताएँ भी प्रायः पूरी नहीं हो पाती। रूखा-सूखा भोजन जिसमें साग-सब्जी तथा स्निग्ध पदार्थों का सर्वथा अभाव रहता है, इन्हें यदा-कदा ही दोनों समय भर-पेट मिल पाता है। वस्त्र के नाम पर सम्भवतः एक कुरता धोती चिथड़े चिथड़े उड़ जाने तक शरीर पर रखने पड़ते हैं। भारतीय किसान खेती करते समय प्रायः एक धोती, तहमद या लंगोट ही शरीर पर रखता है। यही स्थिति कृषि श्रमिकों की है।

भोजन तथा वस्त्र के अतिरिक्त कृषि श्रमिकों की आवास स्थिति अत्यन्त दयनीय है क्योंकि अधिकांश के पास रहने के लिए मकान नहीं हैं। जिनके पास मकान हैं भी, उन पर कच्चे छप्पर हैं जो वर्षा ऋतु में टपकते हैं और जिनमें आग लगने का भय सदा बना रहता है।

६. सुधार के उपाय

कृषि श्रमिकों की सामाजिक एवं आर्थिक दशा सुधारने के लिए समय-समय पर अनेक उपाय सुझाये गये हैं जिनमें से मुख्य निम्नलिखित हैं :

(१) न्यूनतम मजदूरी निश्चित करना—जिस प्रकार अन्य उद्योगों में न्यूनतम मजदूरी निश्चित कर दी गयी है उसी प्रकार कृषि श्रमिकों के लिए भी न्यूनतम पारिश्रमिक निर्धारित किया

गया है। इसके लिए न्यूनतम मजदूरी अधिनियम, १६४८ कृषि श्रमिकों पर भी लागू किया गया है जिसके अनुसार केरल, उड़ीसा, पंजाब, राजस्थान, दिल्ली, आन्ध्र प्रदेश, बिहार, मध्य प्रदेश, मैसूर, उत्तर प्रदेश, पश्चिमी बंगाल, हिमाचल प्रदेश तथा त्रिपुरा में सर्वत्र तथा आसाम, गुजरात, महाराष्ट्र और तमिलनाडु के विशिष्ट क्षेत्रों में कृषि श्रमिकों की कम से कम मजदूरी निश्चित कर दी गयी है। केन्द्रीय सरकार द्वारा कृषि प्रदर्शन क्षेत्रों तथा सैनिक फार्मों पर काम करने वाले श्रमिकों के लिए भी न्यूनतम मजदूरी निश्चित कर दी गयी है।

कृषि मजदूरों के लिए न्यूनतम मजदूरी निश्चित करना एक स्तुत्य कार्य है परन्तु सबसे बड़ी कठिनाई यह है कि इससे सम्बन्धित अधिनियम को उचित रूप में लागू नहीं किया जा सका है। इसका कारण यह है कि कृषि क्षेत्र बहुत विस्तृत है, श्रमिक अशिक्षित एवं अन्धविश्वासी हैं तथा उनकी आर्थिक स्थिति दुर्बल है। अतः नियम का पालन करने में यह सहायक हो सकेंगे, यह सर्वथा सन्देहास्पद है। इस सम्बन्ध में पंचायतों को सरकार के साथ सहयोग करना चाहिए और कानून की अवहेलना करने वालों को दण्डित कराने की व्यवस्था की जानी चाहिए।

(२) काम के घण्टे—औद्योगिक श्रमिकों की भाँति ही कृषि श्रमिकों के लिए भी काम के घण्टे निश्चित करना आवश्यक है ताकि उन्हें भी भूमिपतियों के शोषण से मुक्त किया जा सके। इस कार्य की पूर्ति के लिए प्रत्येक राज्य में उचित कानून बनाया जाना चाहिए तथा राजस्व विभाग, कृषि विभाग एवं पंचायतों के सहयोग से उन कार्यान्वित करने की चेष्टा करनी चाहिए। इस सम्बन्ध में राज्यों द्वारा कानून बनाने का औचित्य यह है कि प्रत्येक प्रदेश में कृषि की परिस्थितियाँ भिन्न हैं अतः उन परिस्थितियों के आधार पर ही काम के घण्टे निश्चित करना आवश्यक है।

(३) दास प्रथा का अन्त—भारत के कई प्रदेशों में कृषि श्रमिकों को ऋण लेने के प्रतिफलस्वरूप लगभग दासता का जीवन बिताने के लिए बाध्य होना पड़ता है। इस व्यवस्था का अन्त करने के लिए व्यापक कानून बनाने की आवश्यकता है। राजस्थान में सागरी प्रथा का अन्त करने के लिए जो कानून बनाया गया है उसे सख्ती से पालन करवाना चाहिए ताकि कृषि श्रमिकों के शारीरिक एवं मानसिक बन्धनों का अन्त सम्भव हो सके। इस कार्य में भी पंचायत तथा सामुदायिक योजनाओं के अधिकारी सहयोग दे सकते हैं।

(४) भूमि की व्यवस्था—भारतीय कृषि श्रमिकों की समस्याओं का वास्तविक हल यह है कि देश में जितनी अतिरिक्त भूमि है अर्थात् जिस पर किसी व्यक्ति विशेष का अधिकार नहीं है वह भूमिहीनों को वितरित की जानी चाहिए। जिन क्षेत्रों में ऊसर अथवा बंजर भूमि नष्ट कर खेती के उपयुक्त बनायी गयी है उनमें तथा भूदान एवं ग्रामदान में प्राप्त भूमि पर भूमिहीन कृषकों एवं कृषि श्रमिकों को बसाया जाना चाहिए। इन व्यक्तियों को भूमि के अभाव में अलग-अलग भूमि देना सम्भव नहीं है अतः इन भू-खण्डों पर सहकारी कृषि समितियाँ निर्मित की जा सकती हैं और भूमिहीनों को इन समितियों की सदस्यता प्रदान की जा सकती है। इस प्रकार सहकारी कृषि समितियों की भूमि में खेती करने से इन व्यक्तियों की भूमि की भूख भी शान्त हो सकेगी और इनकी आर्थिक स्थिति में भी सुधार हो सकेगा। समितियों की सदस्यता प्राप्त करते समय भूमिहीन कृषकों को यह स्पष्ट बता देना चाहिए कि उन्हें भूमि से बेदखल नहीं किया जायगा।

(५) रोजगार की व्यवस्था—भूमिहीन कृषि श्रमिकों की समस्याओं का एक समाधान यह है कि इन्हें कुटीर उद्योग खोलने के लिए प्रोत्साहित किया जाय ताकि इनकी भूमि पर निर्भरता का अन्त हो जाय। कुटीर उद्योगों की स्थापना के लिए इन्हें सस्ते ऋण तथा प्राविधिक सुविधाएँ सुलभ करायी जा सकती हैं और सहकारी समितियों के माध्यम से उनका निर्मित माल बेचने की व्यवस्था की जा सकती है।

कुटीर उद्योगों की स्थापना के अतिरिक्त पंचायतें, पंचायत समितियाँ तथा राज्य सरकारें

कृषि के समय को छोड़कर शेष समय में (जब श्रमिक फुरसत में होते हैं) सार्वजनिक निर्माण कार्य, जैसे—सड़क, नहरें, अथवा अन्य निर्माण कार्य आरम्भ कर सकती हैं जिनसे इन श्रमिकों को अतिरिक्त रोजगार मिल सकता है। यदि उद्योगों तथा निर्माण कार्यों में रोजगार की समुचित व्यवस्था हो जाय तो कृषि श्रमिकों की भूमि सम्बन्धी भूख का अन्त हो सकता है।

(६) **शिक्षा**—भारत के ग्राम्य निवासियों को शिक्षित करने की समस्या अत्यन्त गम्भीर है क्योंकि सब के लिए अनिवार्य शिक्षा की व्यवस्था करने में बहुत अधिक धन की आवश्यकता है। किन्तु देश के कर्णधारों को यह समझ लेना चाहिए कि वास्तविक प्रजातन्त्र की स्थापना एवं रक्षा के लिए देश की सम्पूर्ण जनता को शिक्षित एवं जागरूक बनाने की आवश्यकता है। यदि कृषि श्रमिकों के बालक निरन्तर शिक्षा प्राप्त करते हैं तो एक दिन वह भी देश के अन्य सम्भ्रान्त नागरिकों की श्रेणी में गिने जाने योग्य बन सकते हैं। इस सम्बन्ध में कई राज्यों ने 'पिछड़ी श्रेणी' (Backward class) की परिभाषा बदलकर आर्थिक दृष्टि से विपन्न परिवारों के बालकों को छात्रवृत्तियाँ तथा आर्थिक सहायता देना आरम्भ कर दिया है। 'स्कूल चलो' अभियान भी चलाये गये हैं। इस प्रकार के अभियानों को अधिक सशक्त एवं व्यापक बनाने की आवश्यकता है ताकि अधिकाधिक बालक विद्यालयों में जाने लगें और एक दशाब्द में ही भारत की कायापलट हो जाय। यह कहने की आवश्यकता नहीं है कि इस प्रकार के प्रयत्नों की सफलता इनके संचालकों की कार्यक्षमता एवं निष्ठा पर निर्भर करती है।

प्रश्न

१ कृषि श्रमिकों की सामाजिक तथा आर्थिक स्थिति के पिछड़ेपन के क्या कारण हैं? उनमें सुधार के लिए उपाय बतलाइए।

18 कृषि पदार्थों का विक्रय

(AGRICULTURAL MARKETING)

" But the exploitation of the village moneylender can never be fully eliminated, unless the marketing of agricultural produce is organised on a more rational and non-exploitation basis " —***Congress Agrarian Reforms Committee***

१ विपणन योग्य अतिरेक तथा आर्थिक विकास
(MARKETABLE SURPLUS AND ECONOMIC DEVELOPMENT)

भारतीय कृषि का स्वरूप आर्थिक विकास के साथ ही साथ बदलता जा रहा है। पहले, भारत मे कृषि जीवन निर्वाह के लिए की जाती थी। कृषि की इस दशा मे कोई विशेष परिवर्तन नही हुआ है, फिर भी अब धीरे धीरे कृषि का स्वरूप बदलता जा रहा है। योजनाओं के अन्तर्गत कृषि का विकास हुआ है तथा उत्पादन मे वृद्धि हुई है। उत्पादन वृद्धि के कारण अब किसानों के पास (कम से कम बड़े किसानों के पास) बिक्री योग्य-अतिरेक होता है जिसे बेचकर वे मुद्रा प्राप्त करते हैं। इस बिक्री योग्य अतिरेक का आर्थिक विकास मे महत्वपूर्ण स्थान है।

सामान्य रूप से यह कहा जा सकता है कि विपणन योग्य अतिरेक कुल उपज का वह भाग है जो किसान अपनी आवश्यकता से अधिक समझकर बाजार मे विक्रय हेतु प्रस्तुत करता है। 'सिद्धान्ततः यह अतिरेक उत्पादक की वास्तविक पारिवारिक उपभोग की आवश्यकताओं तथा वस्तु रूप मे मजदूरी का भुगतान, बीज और पशुओं के खाद्य रूप मे प्रयुक्त तथा नष्ट होने से बची हुई वह मात्रा है जिसे उत्पादक बेच सकता है। सामान्य रूप से यह उपज की वह मात्रा है जो नयी फसल के आने पर बाजारों मे ले जायी जाती है।'[1] एक अर्द्ध विकसित देश के आर्थिक विकास मे कृषि वस्तुओं का विपणन योग्य आधिक्य बहुत सहायक होता है। आर्थिक विकास मे इसके महत्त्व का अध्ययन निम्नलिखित शीर्षकों के अन्तर्गत किया जा सकता है

(१) औद्योगीकरण के लिए खाद्य पदार्थों का आधिक्य—प्रो० लेविस के अनुसार आर्थिक विकास के लिए, विशेषकर औद्योगीकरण के लिए कृषि वस्तुओं के विक्रय योग्य अतिरेक का होना आवश्यक है। आर्थिक विकास के साथ औद्योगीकरण होता है तथा ग्रामीण व शहरी जनसख्या के अनुपात मे परिवर्तन होता है। शहरों की सख्या तथा निवासियों की सख्या बढती है। यदि देश मे कृषि क्षेत्र म उत्पादन नही किया जाय तथा किसान बाजार मे खाद्य वस्तुओं को नही बेचें तो शहरी

---

1 P Bansal, *Indian Journal of Agricultural Economics*, March 1961

जनसंख्या की खाद्य आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं हो पायेगी जिससे औद्योगीकरण के मार्ग में बाधाएँ उपस्थित होंगी तथा आर्थिक विकास अवरुद्ध हो जायगा।

(२) **उद्योगों के लिए कच्चा माल**—अधिकांश उद्योगों के लिए कच्चा माल कृषि से ही प्राप्त होता है जैसे जूट, चीनी, वस्त्र उद्योग आदि। यदि कृषि उत्पादन में वृद्धि नहीं की जाय तथा किसानों के पास विपणन योग्य आधिक्य नहीं हो तो उद्योगों के लिए कच्चे माल की पूर्ति नहीं हो पायेगी जिससे देश में उद्योगों का विकास नहीं किया जा सकेगा। वस्तुतः औद्योगीकरण की आधार-शिला कृषि पर ही अवलम्बित है।[1] कृषि के विकास तथा फलस्वरूप विपणन योग्य अतिरेक में वृद्धि के बिना औद्योगीकरण अत्यन्त ही कठिन है।

(३) **आर्थिक विकास के लिए साधन**—आर्थिक विकास के लिए पूँजी की आवश्यकता होती है। अर्द्ध-विकसित देश कृषि प्रधान तथा निर्धन होते हैं। ऐसे देशों में जब तक कृषि उत्पादन में वृद्धि नहीं की जायेगी तथा किसानों के पास विपणन योग्य अतिरेक नहीं होगा तब तक देश के आर्थिक विकास के लिए यथेष्ट मात्रा में पूँजी उपलब्ध नहीं हो सकेगी। जापान तथा रूस का आर्थिक विकास इसका प्रमाण है। जापान में पहले कृषि का विकास किया गया तथा कृषि से प्राप्त आय का उपयोग औद्योगीकरण के लिए किया गया। रूस में अनिवार्य रूप से सामूहिक फार्मों से कृषि पदार्थ वसूल किये गये तथा आर्थिक विकास के लिए साधन एकत्रित किये गये।

(४) **निर्यात के लिए विपणन योग्य आधिक्य**—अर्द्ध-विकसित देशों को आर्थिक विकास के लिए पूँजीगत वस्तुओं (capital goods) तथा वैज्ञानिक व प्राविधिक ज्ञान का आयात करना पड़ता है। इस आयात का भुगतान दीर्घकाल में निर्यात द्वारा ही सम्भव है। ऐसे देश औद्योगिक वस्तुओं का निर्यात करने में असमर्थ होते हैं। अतः यह आवश्यक है कि वे कृषि उत्पादन में वृद्धि कर, विपणन योग्य आधिक्य का सृजन कर कृषि वस्तुओं का निर्यात करें तथा बदले में पूँजीगत वस्तुओं का आयात करें।

(५) **औद्योगिक वस्तुओं के लिए बाजार**—कृषि उत्पादन में वृद्धि के फलस्वरूप कृषि वस्तुओं के विपणन योग्य आधिक्य में वृद्धि होती है। इस प्रकार किसानों की आय या क्रय शक्ति बढ़ती है जिससे वे औद्योगिक वस्तुओं को खरीदने में समर्थ होते हैं। इस प्रकार औद्योगिक वस्तुओं की माँग में वृद्धि होती है जो देश के औद्योगिक विकास के लिए आवश्यक है।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि देश के औद्योगीकरण तथा आर्थिक विकास में कृषि पदार्थों के विपणन योग्य आधिक्य का महत्त्वपूर्ण स्थान है। 'यदि उत्पादन में वृद्धि के साथ ही साथ विपणन योग्य आधिक्य में वृद्धि नहीं होगी तो यह विकास की गति में एक मूलभूत बाधक तत्त्व होगा क्योंकि नगरों के उपभोग और उद्योगों तथा निर्यात के लिए उपलब्ध पूर्तियाँ कम हो जायेंगी।"[2]

२ माल के विक्रय का अर्थ

ऐसा कहा जाता है कि एक अच्छे किसान की एक आँख हल पर तथा दूसरी मण्डी पर होती है किन्तु वर्तमान व्यावसायिक जगत में यह कहना अधिक उचित है कि **एक अच्छे किसान के दोनों हाथ हल पर और दोनों आँखें बाजार पर होती हैं।** इसका तात्पर्य यह है कि किसान का कार्य न केवल कृषि पदार्थ उत्पन्न करना है बल्कि बाजार की स्थितियों से परिचित रहकर उनका मूल्य भी प्राप्त करना है।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि किसान का कार्य फसल उत्पन्न करने पर ही समाप्त

---

[1] "Economic historians have traced the various ways in which a prosperous and expanding agriculture formed that basis for the concurrent or subsequent establishment and expansion of manufacturing."
—P. T. Bauer and B. S. Yamey, *The Economics of Underdevelopment*, p. 235

[2] R. N. Poduval, *Economic Development and Marketable Surplus, Agricultural Situation in India*, August 1958

नहीं होता बल्कि उसे अन्तिम उपभोक्ता तक पहुँचाने का भार भी उसी के कन्धो पर होता है। इस प्रकार क्रेता तथा विक्रेताओ को निकट लाने की क्रिया ही विक्रय (marketing) क्रिया कहलाती है परन्तु यह कार्य सरल नहीं है। यदि गम्भीरतापूर्वक विचार किया जाय तो विक्रय अथवा विपणन के अन्तर्गत निम्नलिखित सब कार्य सम्मिलित होते हैं

(१) माल का एकत्रीकरण, (२) सँवारना, (३) वर्गीकरण करना, (४) गोदाम मे रखना, (५) मण्डी तक ले जाना, (६) विक्रय करना, (७) वित्त व्यवस्था करना, तथा (८) जोखिम उठाना।

इन सब कार्यों की उचित व्यवस्था किये बिना उपज का विक्रय यथोचित नही हो सकता। वास्तव म, भारतीय किसान की आर्थिक स्थिति मे सुधार करने के लिए कृषि उपज की बिक्री का ठीक प्रबन्ध करना अत्यन्त आवश्यक है क्योकि ऐसा करने से उसे अपने माल का उचित मूल्य मिल सकेगा। भारतीय कृषि को सही व्यावसायिक रूप देने के लिए विक्रय प्रबन्ध नियमित एव व्यवस्थित करना पडेगा।

३ विक्रय की आवश्यकता

प्राचीन भारत म प्राय सभी गाँव आत्म निर्भर इकाइयाँ थीं और वस्तुओ का लेन-देन गाँव मे ही सरलतापूर्वक हो जाता था। अत उस समय माल को ग्राम से मण्डी तक ढोने तथा साहूकारों अथवा व्यापारियो के हाथ बेचने की कोई समस्या नही थी। किन्तु यह स्थिति औद्योगिक क्रान्ति के पश्चात परिवर्तित होने लगी क्योकि कृषि, व्यापार, उद्योग तथा अन्य अनेक क्षेत्रो मे विशिष्टीकरण का प्रभाव स्पष्ट दृष्टिगोचर होने लगा जिसके फलस्वरूप ग्रामो का माल मण्डियो मे जाकर बिकना आरम्भ हो गया। प्रारम्भ मे यह माल व्यापारी गाँव से खरीदकर मण्डियो मे बडे व्यापारी अथवा उद्योगपतियों के प्रतिनिधियो के हाथ वेचने लगे किन्तु कालान्तर मे कृषको को स्वय ही मण्डियो म जाने के लिए बाध्य होना पडा क्योकि धीरे-धीरे उनकी आवश्यकता की वस्तुएँ भी अधिकतर कस्बो तथा नगर म ही जाकर बिकने लग गयी थी।

इस परिवर्तन का परिणाम यह हुआ कि आत्मनिर्भर किसान अब न केवल अपनी आवश्यकताओ के लिए पराधीन हो गया बल्कि उसे अपना खून पसीना एक कर उत्पन्न किये गये पदार्थों के स्वतन्त्र विक्रय की भी छूट नही रही। फलत किसान अब एक ऐसी अवस्था मे पहुँच गया है जबकि उसे अपनी खेती की उपज नगर के व्यापारी की सुविधा एव शर्तों के अनुसार बेचनी पडती है जिसमे उसे अपने परिश्रम का पूरा प्रतिफल नही मिल पाता। व्यापारी तो उसकी दुर्बलता का लाभ उठाते ही हैं अनेक मध्यस्थ (middlemen) भी उसके प्रतिफल के भागी बन जाते है। इस प्रकार किसान को कम मूल्य मिलता है, उपभोक्ता को अधिक मूल्य देना पडता है तथा मध्यस्थ आशातीत लाभ कमाते हैं। यह स्थिति किसी भी दृष्टि से सन्तोषजनक नही कही जा सकती।

४ विक्रय संगठन

कृषि उपज की बिक्री प्राय दो स्थानो पर की जाती है—(१) गाँव मे, अथवा (२) मण्डी मे।

१. गाँव मे बिक्री

किसान प्राय महाजन से रुपया उधार लेते है अत फसल तैयार होने पर वह महाजन को ही सारी उपज बेच देना श्रेयस्कर समझते हैं क्योकि ऐसा करने से उनका ऋण अपने आप चुकता हो जाता है। कभी-कभी ऐसा भी होता है कि उधार देते समय महाजन किसान से यह तय कर लेता है कि फसल उसे ही बेची जायगी अत वचनबद्ध होने के कारण वह महाजन को ही फसल बेचना उचित समझता है।

(क) महाजन—कभी-कभी किसान बीज अथवा खाने के लिए अन्न ही उधार लेता है। इस प्रकार के लेन-देन की प्राय. यह शर्त होती है कि फसल के समय किसान महाजन से उधार

लिये गये अन्न का सवाया अथवा ड्योढ़ा चुका देगा, कहीं कहीं यह शर्त दुगुने तक पहुँच जाती है। इस प्रकार भुगतान की शर्त को सवायी बाढ़ी, ड्योढ़ी बाढ़ी अथवा दुगुनी बाढ़ी कहते हैं। अतः यदि किसान ने अन्न उधार लिया हो तो उसे अपनी कुल उपज का एक भाग तो महाजन को चुका ही देना पड़ता है, शेष भाग भी वह महाजन को ही बेचने में सुविधा समझता है।

नकद ऋण, कृषि पदार्थ में भुगतान—महाजन को गाँव में ही कृषि फसल बेचने का एक कारण यह भी है कि कभी-कभी महाजन किसान को बीज के लिए खाद्यान्न अथवा अन्य कोई वस्तु उधार देता है। उधार दी गयी वस्तु का प्रचलित दरों पर मूल्य लगाकर किसान के नाम लिख दिया जाता है। ऐसे ऋणों में प्रायः यह शर्त होती है कि किसान इसका भुगतान कृषि पदार्थों में ही करेगा। फलतः किसान को दोहरी हानि उठानी पड़ती है। क्योंकि जब वह ऋण लेता है तब वस्तुओं के भाव महँगे होते हैं अतः ऋण की रकम अधिक हो जाती है। फसल के समय कृषि पदार्थों के मूल्य प्रायः सस्ते होते हैं। अतः ऋण चुकाने के लिए किसान को अधिक कृषि पदार्थ देने पड़ते हैं। इनके परिणामस्वरूप उसके पास बहुत कम कृषि पदार्थ बचते हैं जिन्हें लेकर मण्डी जाना अमित-व्ययतापूर्ण होता है अतः वह शेष भाग को भी गाँव में ही बेच देता है।

(ख) व्यापारी अथवा एजेण्ट—महाजन अथवा साहूकार प्रायः गाँव का निवासी होता है अथवा उसका ग्रामीणों से यथेष्ट सम्पर्क होता है किन्तु अनेक बार व्यापारी, उद्योगपति अथवा मिल के प्रतिनिधि अपने ट्रक या अन्य वाहन लेकर ग्राम में पहुँच जाते हैं। यह लोग अपना काँटा, बाट तथा तोलने वाले व्यक्ति को साथ रखते हैं और किसान की सम्पूर्ण फसल खेत में ही खरीदने का सौदा कर लेते हैं। इस प्रकार किसान फसल को उठाकर घर तक अथवा सीधे मण्डी में ले जाने में जो असुविधा एवं व्यय होता है उससे छुटकारा मिल जाता है। इसके बदले व्यापारी अथवा उसके प्रतिनिधि किसान को कम मूल्य देते हैं तथा कभी-कभी तोल में भी गड़-बड़ कर लेते हैं। इन व्यक्तियों को फसल बेचने का सबसे बड़ा प्रलोभन यह होता है कि किसान को माल की पूर्ण विक्रय राशि नकद मिल जाती है।

ग्रामीण साख सर्वेक्षण समिति ने अनुमान लगाने का प्रयत्न किया था कि कृषि फसलों का कौन सा भाग गाँव में ही बेचा जाता है। समिति का यह मत था कि कुल फसल का लगभग ६५ प्रतिशत भाग उत्पत्ति स्थान पर ही विक्रय कर दिया जाता है। श्री हुसैन ने अपनी पुस्तक *'Marketing of Agricultural Produce in Northern India'* में यह अनुमान लगाया है कि पंजाब में गेहूँ का ६० प्रतिशत रुई का ३५ प्रतिशत तथा तिलहन का ७० प्रतिशत भाग ग्रामों अथवा ग्रामीण बाजारों में ही बेच दिया जाता है। उत्तर प्रदेश में इन वस्तुओं का ग्रामीण विक्रय प्रतिशत क्रमशः ८०, ४० तथा ७५ है। बिहार, उड़ीसा, तथा बंगाल में भी तिलहन की ८५ प्रतिशत तथा पटसन की ९० प्रतिशत उपज गाँव में ही बेच दी जाती है।

गाँव में फसल बेचने का कारण—किसान द्वारा गाँव में फसल बेचने के मुख्य कारण निम्नलिखित हैं

(१) सुविधा—गाँव में फसल बेचने में उसे मण्डी तक माल ले जाने की असुविधा से छुटकारा मिल जाता है। देश की अधिकांश मण्डियाँ अव्यवस्थित होने के कारण किसान को वहाँ माल बेचने में अनेक अवांछनीय क्रियाओं का शिकार होना पड़ता है अतः वह गाँव में ही माल बेच देता है।

(२) जोखिम—गाँव में फसल बेचने का एक लाभ यह है कि उसे माल बेचकर मण्डी से गाँव तक रुपया लाने की जोखिम नहीं उठानी पड़ती। वह अपने महाजन को ही माल बेचता है जिससे उसका ऋण अपने आप चुकता हो जाता है।

(३) यातायात—भारत में ग्रामों से मण्डियों तक अच्छी सड़कों का सर्वथा अभाव है।

वर्षा ऋतु मे तो अधिकाश कच्ची सडक बहुत ही खराब हो जाती हैं और उन पर बैलगाडी चलाने म बहुत कठिनाई होती है। इसके अतिरिक्त कुछ किसान इतने निर्धन होते हैं कि उनके पास अपनी गाडी नही होती अत मण्डी तक माल ले जाना भी बहुत कठिन होता है । अत वह अपनी अधिकाश उपज गाँव मे बेचना श्रेयस्कर समझते हैं ।

उपर्युक्त कारणो से किसान अपनी फसल गाँव म ही बेच देता है किन्तु ऐसा करने मे उसे बहुत हानि होती है जो निम्न तथ्यो से स्पष्ट है

किसान को हानि—(१) किसान को प्राय कम मूल्य प्राप्त होता है क्योकि उसे बाजार भाव का विशेष ज्ञान नही होता जबकि व्यापारी बाजार मूल्यो स पूर्णत परिचित होते हैं ।

(२) किसान को गाँव म ही फसल बच देने पर व्यापारी प्राय अधिक माल तोल लेते हैं क्योकि बाँट और तराजू व्यापारियो के अपने होते हैं ।

इस प्रकार कृषि पदार्थों का मूल्य कम मिलने के कारण किसान अपना ऋण सरलता से नही चुका सकते ।

२ मण्डियो मे बिक्री

यातायात के साधनो के विकास तथा आर्थिक जागृति के कारण बहुत-से किसान अब अपनी कृषि उपज मण्डियो म ले जाकर बचने लगे हैं। व्यवस्थित विक्रय-स्थल अथवा मण्डियाँ प्राय *तीन प्रकार की होती हैं (क) हाट अथवा पैन्दी (ख) थोक बाजार अथवा मण्डी, तथा (ग)* फुटकर बाजार ।

(क) हाट अथवा पैन्दी—हाट अथवा अठवाडा ऐसा बाजार होता है जो सप्ताह मे एक *या दो बार लगता है । पैन्दी अथवा लम्बी अवधि वाली हाटें केवल विशेष अवसरो पर लगती हैं।* ग्रामीण साख सर्वेक्षण समिति का अनुमान है कि भारत म २२,००० से अधिक हाटें अथवा पैन्दियाँ लगती हैं । बम्बई, तमिलनाडु तथा हैदराबाद की हाटो मे कृषि पदार्थ एव पशुओ का लेन-देन होता है जबकि पश्चिमी बगाल, उत्तर प्रदेश और बिहार की हाटें केवल कृषि उपज मे व्यापार करती हैं ।

हाट प्राय किसी खुल भू खण्ड पर लगती है जहाँ एक दो या आसपास के कई गाँवो स कृषि पदार्थ बिकने के लिए आते हैं । इनम खाद्यान्नो के अतिरिक्त तिलहन, दालें, गुड, तम्बाकू तथा *साग-सब्जी बिकने के लिए लाया जाती हैं । इनकी प्रबध व्यवस्था ग्राम अथवा उस क्षेत्र के किसी* अधिकारी द्वारा की जाती है । प्रत्येक विक्रेता से उसके विक्रय-स्थल (stall) का शुल्क ले लिया जाता है और इस प्रकार प्राप्त आय का एक भाग इन हाटो के प्रबन्ध मे व्यय कर दिया जाता है । इन हाटों मे लगभग ४ लाख मन कृषि उपज प्रति वर्ष बेची जाती है ।

(ख) मण्डी—भारत म लगभग ३,३०० मण्डियाँ है, जिनमें से अधिकाश उत्तर प्रदेश में हैं। मण्डियो की व्यवस्था निजी व्यक्तियो सस्थाओ अथवा मण्डलो के हाथ में है ।

मण्डिया मे जितना माल बिकने के लिए आता है वह दलालो के *द्वारा नीलाम करवाया जाता* है और सबसे अधिक बोली लगाने वाला व्यक्ति माल खरीदने का अधिकारी माना जाता है । मण्डी मे माल प्राय पक्के आढतियो द्वारा खरीदा जाता है । वह माल अपने लिए अथवा अन्य नगरो मे स्थित व्यापारियो के लिए खरीद सकते हैं । थोक व्यापारी फसल पर माल खरीदकर गोदामो मे भर लेते हैं और सालभर फुटकर व्यापारियो को बाजार म बेचने के लिए देते रहते हैं । यह अपनी पूँजी लगाकर अथवा बैंको, साहूकारो या अन्य साधनो से ऋण लेकर माल सग्रह करते हैं और फुटकर व्यापारियो को समय समय पर अल्पकाल के लिए उधार भी देते है । इस प्रकार थोक व्यापारी एक ओर तो फुटकर व्यापारियो को ऋण की सुविधा देकर कृषि उपज को वर्ष भर बाजार मे पूर्ति करते हैं तथा दूसरी ओर किसानो को तत्काल नकद देकर उनके द्वारा माल बचने मे सहायक होते हैं ।

कारण किसान को उसका बहुत कम मूल्य प्राप्त होता है। इन कठिनाइयों तथा दोषों के कारण ही किसान कस्बा मण्डी में जाने की बजाय गाँव में ही माल बेच देना उचित समझता है।

(६) माल की घटिया किस्म—भारतीय किसान कृषि को एक परम्परागत कार्य समझकर तदनुसार ही खेती करने की चेष्टा करता है, परन्तु उसकी उपज बहुत अच्छी कोटि की नहीं होती। अनेक बार वह फसल काटने तथा उसकी सँभाल करने में असावधानी करता है जिसके फलस्वरूप कृषि पदार्थों में धूल, मिट्टी तथा कंकड़ मिल जाते हैं अथवा नमी आ जाती है। कभी-कभी वर्षा अथवा रोगों के कारण कृषि पदार्थों की किस्म खराब हो जाती है। इस प्रकार कृषि पदार्थों की किस्म घटिया होने से स्वभावतः उसका मूल्य कम मिलता है और कृषक की आर्थिक स्थिति में कोई सुधार नहीं हो पाता।

कृषि पदार्थों की किस्म घटिया होने का एक कारण यह भी है कि भारत में अब भी अधिकांश भूमि में घटिया किस्म के बीज बोये जाते हैं जिसके फलस्वरूप उनकी किस्म स्तर निम्नकोटि की होती है। घटिया वस्तुओं का विक्रय करना स्वाभाविक रूप से अधिक कठिन तथा असन्तोषजनक होता है।

(७) वर्गीकरण तथा प्रमापीकरण का अभाव—भारतीय मण्डियों में जो कृषि पदार्थ बिक्री के लिए आते हैं वह प्रायः अशुद्ध, अवर्गीकृत, अप्रमापित एवं अविश्वसनीय होते हैं। इसका एक कारण तो यह है कि बहुत से किसान जानबूझकर मिलावट करने के अभ्यस्त हो गये हैं क्योंकि उनके पास जो अच्छा माल होता है वह भी मात्रा में कम होता है और उसका अलग बेचना असुविधा होती है। विदेशों में किसान अपना सब माल सहकारी समितियों के सुपुर्द कर देते हैं जो उसमें अलग-अलग वर्ग की वस्तुएँ छाँट कर उन्हें अलग अलग पैक कर देती हैं। इस प्रकार वर्गीकृत किये हुए माल को अलग-अलग बेचने से विदेशी किसानों को काफी अधिक मूल्य प्राप्त होता है। दूसरा लाभ यह है कि वर्गीकृत किये गये माल पर सम्बन्धित वर्ग के लेबल लगा दिये जाते हैं जिनके आधार पर ग्राहकों को माल की किस्म का विश्वास हो जाता है और उसके बिकने में कोई कठिनाई नहीं होती।

भारत में वर्गीकरण अथवा प्रमापीकरण की परम्परा सर्वथा नयी है और इसका प्रयोग बहुत सीमित है। १९३७ के कृषि पदार्थ (वर्गीकरण एवं विपणन) अधिनियम (Agricultural Product—Grading and Marketing—Act, 1937) के अन्तर्गत फल, अण्डे, घी, आटा, तिलहन, वनस्पति तेल, रुई, चावल आदि कुछ वस्तुओं का वर्गीकरण होने लगा है परन्तु यह अभी कम स्थानों एवं वस्तुओं तक सीमित है। कुछ वस्तुएँ जैसे तम्बाकू, ऊन, काली तथा लाल मिर्च, इलायची तथा कई प्रकार के औद्योगिक तेल जो विदेशों को निर्यात किये जाते हैं, समुद्रिक चुंगी अधिनियम (Sea Customs Act) की धारा १९ के अन्तर्गत अनिवार्य रूप में वर्गीकृत किये जाने आवश्यक हैं। इन वस्तुओं की सभी किस्मों तथा वर्गों का वास्तविक प्रयोग के लिए वर्गीकरण एवं प्रमापीकरण करना आवश्यक है।

भारतीय प्रमापीकरण संस्था (Indian Standards Institution) ने उपभोग्य वस्तुओं पर अपने प्रमाप की मोहर लगाना आरम्भ किया है किन्तु इस सुविधा का लाभ कृषि पदार्थों के प्रमापीकरण के लिए नहीं उठाया जा सका है।

(८) माल के लिए गोदाम व्यवस्था—कृषि माल के विक्रय में सबसे बड़ी कठिनाई माल को सुरक्षित रखने की है। क्योंकि कृषि पदार्थों की वर्ष भर माँग होती है और उन्हें धीरे-धीरे बेचना श्रेयस्कर होता है अतः उपज के एक भाग को ८-१० मास तक सुरक्षित रखना आवश्यक होता है। गाँवों में किसान मिट्टी की खत्तियाँ बनाकर विभिन्न रीतियों द्वारा अन्न तथा अन्य पदार्थों को सुरक्षित रखने का प्रयत्न करते हैं परन्तु इनमें प्रायः नमी आ जाती है या गर्मी से खराब हो

जाते हैं अथवा इनमें कई प्रकार के कीडे लग जाते हैं। इन सब के परिणामस्वरूप माल की किस्म खराब हो जाती है और फसल का मूल्य बहुत कम प्राप्त होता है।

इससे पूर्व एक अध्याय में यह स्पष्ट किया जा चुका है कि चूहे, घुन अथवा अन्य कीडे-कीटाणु ५ से लेकर १० प्रतिशत कृषि उपज का विनाश कर देते हैं तथा बहुत सा अंश बिगाड देते हैं। ऐसे माल को बेचने में विशेष असुविधा का सामना करना पडता है।

(६) **परिवहन सुविधाओं का अभाव**—भारत के ५.६ लाख ग्रामों में से अधिकांश तक पहुँचने के लिए रास्ते अथवा पगडण्डियाँ हैं जिन पर ऊँट, खच्चर अथवा बैलगाडियों द्वारा ही माल ढोया जा सकता है। इस असुविधा के कारण ही गन्ना, रुई, पटसन आदि वस्तुएँ (जो अधिक स्थान घेरती हैं) मण्डियों में ले जानी बहुत कठिन होती हैं। न केवल इन्हें मण्डी तक ढोने में बहुत असुविधा होती है बल्कि परिवहन व्यय भी बहुत हो जाता है और किसानों का समय और श्रम भी बहुत बरबाद होता है। अत फसल का एक बडा भाग गाँव में ही बिक जाता है और मण्डियों में प्रविष्ट ही नहीं होता।

जिन क्षेत्रों में ट्रक अथवा गाडी द्वारा माल भेजने की सुविधा है वहाँ भी किसान इन सुविधाओं का लाभ नहीं उठा सकता क्योंकि प्राय पूरे ट्रक अथवा वैगन जितना सामान तो किसान के पास होता नहीं और थोडा सामान भेजने में यह साधन असुविधाजनक तथा अधिक खर्चीले होते हैं।

(१०) **मध्यस्थों का बाहुल्य**—कृषि पदार्थों का विक्रय सीधे उत्पादक द्वारा उपभोक्ता अथवा व्यापारी को नहीं होता, उसकी विक्रय क्रिया में अनेक व्यक्ति (मध्यग)—गाँव का महाजन, नगर के व्यापारी का प्रतिनिधि→दलाल→आढतिये→थोक व्यापारी→फुटकर व्यापारी—सम्बन्धित होते हैं जो माल के बेचने में कमीशन लेते हैं या लाभ के अधिकारी होते हैं।

ऊपर बताये गये सभी मध्यग कृषक के माल की बिक्री करने में कुछ शुल्क, दलाली अथवा लाभ प्राप्त करते हैं जिनकी रकम माल की कीमत में जुडती जाती है। फलत जब तक कृषि पदार्थ उपभोक्ताओं तक पहुँचते है उनका मूल्य सवाया, ड्योढा या कभी-कभी और अधिक हो जाता है। इस प्रकार इन मध्यगों के कारण उपभोक्ता को माल महँगा मिलता है तथा कृषक को कम मूल्य की प्राप्ति होती है। वास्तव में यातायात के साधनों के अभाव तथा किसान की अज्ञानता के कारण ही कृषि पदार्थों के विपणन में मध्यगों का बाहुल्य हुआ है।

(११) **मूल्यों सम्बन्धी सूचना का अभाव**—भारतीय कृषक प्राय विभिन्न नगरों अथवा मण्डियों में प्रचलित मूल्यों से अपरिचित रहता है क्योंकि एक तो गाँवों में समाचार-पत्र आदि पहुँचते ही बहुत कम हैं जिनसे किसानों को विभिन्न वस्तुओं के मूल्य ज्ञात हो सकें दूसरे इन समाचार-पत्रों को पढकर मूल्य आदि सम्बन्धी परिवर्तन समझ लेना ग्रामीण की समझ के बाहर होता है। अधिकांश कृषक तो अनपढ होने के कारण समाचार-पत्रों के पढने में ही असमर्थ होते हैं। अत गाँव का महाजन अथवा नगर का व्यापारी किसान से मनमाने मूल्य पर कृषि पदार्थ खरीद लेने में सफल हो जाता है। इस प्रकार कृषि पदार्थों के मूल्य सदा व्यापारी के पक्ष में निश्चित होते हैं।

(१२) **अवांछनीय परम्पराएँ**—भारत में अब भी बहुत कम मण्डियाँ ऐसी हैं जो व्यवस्थित कही जा सकती हैं। गत वर्षों में नियमित एवं व्यवस्थित मण्डियों की संख्या १,६१८ तक पहुँच गयी है। यद्यपि व्यवस्थित मण्डियों में फसलों की विक्रय विधियाँ पूर्णत प्रमाणित एवं नियन्त्रित होती हैं परन्तु किसान की अज्ञानता के कारण इन मण्डियों में भी व्यापारी कुछेक अनुचित कार्य करने में सफल हो जाते हैं। अव्यवस्थित एवं अप्रमाणित मण्डियों में अवांछनीय कार्य बहुतायत से होते हैं जिनके कारण किसान को मण्डियों में फसल ले जाने से घृणा हो गयी है। अत अच्छी-अच्छी मण्डियों में भी आस पास के क्षेत्रों की सम्पूर्ण उपज बिकने के लिए नहीं आती।

विभिन्न मण्डियो मे निम्नलिखित अवाछनीय क्रियाएँ प्रचलित हैं :

(i) **नाप-तोल**—यद्यपि देश के सभी नगरो मे नाप-तोल के मीट्रिक बाट प्रचलित कर दिये गये हैं परन्तु अब भी अनेक स्थानो पर मन, कण्डी अथवा अन्य भिन्न भिन्न प्रकार के बाट काम मे लाये जाते हैं। अनेक बार यह बाट सही नही होते और बहुधा माल तोलने वाला अशुद्ध तोलता है क्योकि वह मण्डी मे रहता है और व्यापारी का आदमी होता है। इस प्रकार किसान को माल की पूरी तोल का मूल्य उपलब्ध होना कठिन होता है।

(ii) **कडदा अथवा काटा**—अधिकाश मण्डियो मे यह प्रथा प्रचलित है कि व्यापारी एक मन पर सवा सेर अथवा क्विंटल पर २.५ या ३ किलोग्राम कडदा (धूल, मिलावट आदि के नाम से) काट लेते हैं। इसका तात्पर्य यह है कि यदि कुल माल १०० किलोग्राम हुआ तो किसान को ९६-९७ किलोग्राम का ही मूल्य मिलेगा।

(iii) **नमूना**—मण्डियो मे व्यापारी प्रत्येक वस्तु का नमूना लेकर देखते हैं। इस प्रकार अनेक व्यक्ति नमूने के रूप मे विक्रय किये जाने वाले माल का कुछ अश ले जाते हैं। किसान को इस माल का कोई मूल्य प्राप्त नही होता।

(iv) **सौदे के तरीके**—मण्डियो मे बिक्री के लिए आया हुआ माल या तो नीलाम के द्वारा बेचा जाता है या खरीदने वाले और बचने वाले के बीच आपसी बातचीत से सौदा हो जाता है। अनेक बार ऐसा होता है कि नीलाम करने वाला दलाल कम मूल्य पर ही बोली छोड देता है क्योकि वह किसी व्यापारी को लाभ पहुँचाना चाहता है। गत वर्षो म ऐसा देखने मे आया है कि छोटी मण्डियो म माल ले जाने वाले किसान कम मूल्य पर बोली छूटने से इन्कार कर देते हैं। इससे दलालो के पक्षपात पर कुछ नियन्त्रण लग गया है।

कुछ मण्डियो मे कृषि उपज के मूल्य व्यापारी तथा दलाल के हाथ एक रूमाल के नीचे रखकर इशारो से निश्चित होते हैं। इस प्रथा मे किसान को प्राय हानि रहती है क्योकि मूल्य निर्धारण की पद्धति बिलकुल विचित्र होती है, जिसे समझना कठिन होता है। गत वर्षो मे इस पद्धति का बहुत विरोध हुआ है, किन्तु अब भी यह काफी प्रचलित है।

(v) **अनेक शुल्क**—जब किसान का माल बिक जाता है तो उसे अनेक प्रकार के शुल्क देने पडते हैं। उनम माल की चुंगी, तुलाई, दलाली, आढत पल्लेदारी प्रमुख हैं। इन शुल्को के अतिरिक्त नगर का प्रमुख व्यापारी धर्मादे के रूप म कई प्रकार की कटौतियाँ कर लेता है, जैसे—प्याऊ, गौशाला, मन्दिर, अनाथाश्रम, पाठशाला अथवा कबूतरखाने के लिए चन्दा और मुनीम, चौकीदार आदि कर्मचारियो के लिए कुछ शुल्क भरना पडता है। इस प्रकार किसान अनेक अवाछनीय खर्चो का भागी बन जाता है जिसमे उसकी शुद्ध आय मे बहुत कमी आ जाती है।

(vi) **तात्कालिक बिक्री**—कृषि उपज की विक्रय-व्यवस्था का एक दोष यह है कि किसान फसल काटते ही उसे गाँव अथवा नगर के बाजार मे लाने लगते हैं जिसके फलस्वरूप प्रतिदिन बहुत माल की आमद हो जाती है। इससे किसान को प्राय कम मूल्य मिलता है। इस दोष के लिए वस्तुत किसान की निर्धनता, ऋणग्रस्तता तथा माल रखने के लिए स्थान का अभाव उत्तरदायी है।

६. सरकारी नीति तथा सुझाव

कृषि उपज के विक्रय की मुख्यत दो समस्याएँ हैं। प्रथम यह है कि किसान को उसके उत्पादन का उचित मूल्य किस प्रकार दिलाया जाय तथा उपभोक्ताओ को भी कृषि पदार्थ उचित मूल्य पर मिलते रहे। भारत सरकार ने कृषि उपज की विक्रय-व्यवस्था सुधारने मे इन दोनो आधारभूत तथ्यो को सामने रखा है। द्वितीय योजना मे कहा गया था कि "इन उद्देश्यो की पूर्ति के लिए कृषि पदार्थो के क्रय विक्रय सम्बन्धी दोष दूर करने होंगे, कृषि उत्पादन क्षेत्रो के अतिरिक्त माल उपभोक्ता क्षेत्रो मे भेजने की व्यवस्था करनी होगी और अधिकतम सम्भव सीमा तक सहकारी

क्रय-विक्रय का प्रबन्ध करना होगा।" तदनुसार यह योजना बनायी गयी कि द्वितीय योजना के अन्त तक विक्रय के लिए प्रस्तुत किये जाने वाले कृषि पदार्थों की कुल मात्रा का लगभग १० प्रतिशत सहकारी संस्थाओं के माध्यम से बेचा जा सकेगा। सरकार की इस योजना को सफल बनाने के लिए व्यवस्थित मण्डियों की स्थापना पर जोर दिया गया।

(१) **व्यवस्थित मण्डियां** (Regulated Markets)—जैसा कि इससे पूर्व लिखा जा चुका है एक व्यवस्थित मण्डी में वस्तुओं के लेन देन, माप-तोल, यातायात, गोदाम व्यवस्था तथा शुल्क आदि का प्रमापीकरण हो जाता है और किसान को किसी भी प्रकार की अवांछनीय स्थिति का सामना नहीं करना पड़ता। व्यवस्थित मण्डियों का प्रबन्ध एक केन्द्रीय समिति के हाथ में होता है जिसमें किसानों को भी प्रतिनिधित्व दिया जाता है।

प्रथम योजना में इस बात की सिफारिश की गयी थी कि राज्य कृषि उपज (मण्डी) अधिनियम को योजना काल में सभी महत्वपूर्ण मण्डियों पर लागू कर देना चाहिए। योजना आरम्भ होने के पूर्व देश के सात राज्यों में यह अधिनियम लागू था, प्रथम योजना-काल में यह तीन और राज्यों में लागू कर दिया गया। फलतः व्यवस्थित मण्डियों की संख्या २६५ से बढ़कर ४५० हो गयी। द्वितीय योजना काल में यह संख्या ७२५ और १९७० में १,६१८ हो गयी। इस प्रकार अब भी लगभग १,५०० मण्डियां ऐसी हैं जो अव्यवस्थित हैं और जहां कृषि पदार्थों के विक्रय की व्यवस्था दोषपूर्ण है।

(२) *वर्गीकरण एवं प्रमापीकरण*—*भारत में कृषि एवं पशुधन से उत्पन्न वस्तुओं का* वर्गीकरण कृषि उपज (वर्गीकरण एवं विक्रय) अधिनियम, १९३७ के अन्तर्गत किया जाता है। सरकार द्वारा अब तक ३३ वस्तुओं की १२४ किस्मों के वर्ग निर्धारित किये जा चुके हैं जिनमें घी, तेल, मक्खन, रुई, अण्डे, चावल, आलू, गन्ना तथा कई प्रकार के फल सम्मिलित हैं। सामुद्रिक चुंगी अधिनियम की धारा १९ के अन्तर्गत भी तम्बाकू, सन, ऊन, बकरी के बाल, काली मिर्च तथा इलायची की विभिन्न किस्मों का वर्गीकरण करना अनिवार्य है।

विभिन्न वस्तुओं का वर्गीकरण करने तथा पुराने वर्गों में सुधार करने के लिए प्रयोगशालाओं की आवश्यकता होती है। तदनुसार तृतीय योजना काल में नागपुर में एक केन्द्रीय प्रयोगशाला तथा गुण्टूर, मद्रास, कोचीन, कानपुर, राजकोट, अमृतसर, कलकत्ता तथा बम्बई में प्रादेशिक प्रयोगशालाएँ स्थापित करने का प्रावधान किया गया था। इन प्रयोगशालाओं ने कार्य आरम्भ कर दिया है। इन सभी प्रयोगशालाओं के स्थापित हो जाने पर कृषि पदार्थों के वर्गीकरण में अधिक सुविधा होने की आशा है। उचित तो यह है कि प्रत्येक राज्य में एक प्रयोगशाला स्थापित कर दी जाय जो न केवल वर्गीकरण के प्राविधिक पहलू में शोधकार्य द्वारा वर्गीकरण की क्रियाओं को प्रोत्साहित करे बल्कि इन्हें विभिन्न वस्तुओं के वर्गों के प्रदर्शन द्वारा वर्गीकरण सम्बन्धी ज्ञान का भी प्रसारण करना चाहिए। इससे कृषि माल के क्रय विक्रय में बहुत आसानी हो जायेगी।

(३) **मालगोदामों की व्यवस्था**—कृषि उपज को कुछ समय के लिए गोदामों में सुरक्षित रखना एक गम्भीर समस्या है क्योंकि यदि गोदाम अच्छे न हों तो माल के कीटाणुओं अथवा प्राकृतिक प्रकोपों द्वारा उसके नष्ट हो जाने की आशंका रहती है। भारत में वैज्ञानिक तथा बढ़िया गोदामों की बहुत कमी है।

कृषि पदार्थों के संग्रह के लिए बनने वाले गोदामों पर बहुत पूंजी लगानी पड़ती है। इस दृष्टि से सरकार द्वारा सहकारी संस्थाओं को गोदाम बनाने के लिए आर्थिक सहायता दी जाती है किन्तु भारत में सहकारी संस्थाएँ बहुत शक्तिशाली नहीं हैं अतः उन्होंने गोदाम निर्माण करने की दिशा में विशेष प्रगति नहीं की है। इस सम्बन्ध में सरकार को चाहिए कि निजी व्यक्तियों तथा

संस्थाओं को भी गोदाम निर्माण के लिए सहायता देने की व्यवस्था करे ताकि गोदामों की स्थापना तीव्र गति से हो सके।

अखिल भारतीय ग्रामीण साख सर्वेक्षण समिति (१९५४) ने गोदामों के सम्बन्ध में सुझाव दिया था। सरकार ने इन सुझावों को स्वीकार कर लिया तथा सन् १९५६ में 'राष्ट्रीय सहकारी विकास एवं गोदाम मण्डल' (National Cooperative Development and Warehousing Board) तथा सन् १९५७ में 'केन्द्रीय गोदाम निगम' (Central Warehousing Corporation) की स्थापना की गयी। इसके अतिरिक्त सभी राज्यों में राज्य गोदाम निगमों (Warehousing Corporations) की स्थापना की गयी। 'केन्द्रीय गोदाम निगम' का कर्तव्य अखिल भारतीय महत्त्व के केन्द्रों—आयात निर्यात व्यापार के तथा अन्तरराज्यीय व्यापार के केन्द्रों में गोदामों का *निर्माण तथा व्यवस्था करना है। राज्य गोदाम निगमों' का कर्तव्य क्षेत्रीय महत्त्व के केन्द्रों में* गोदामों की व्यवस्था करना था।

३१ मार्च, १९६९ को गोदामों की स्थिति निम्नलिखित थी

भारत में गोदाम व्यवस्था

	(लाख टनों में)
१ भारतीय खाद्य निगम	३९
२ राज्य सरकार	२७
३ केन्द्रीय गोदाम निगम	९
४. राज्य गोदाम निगम	८
५ सहकारी संस्थाएँ	२६
योग	१०९

तालिका से स्पष्ट है कि देश में कुल गोदाम व्यवस्था लगभग १०९ लाख टन की है जिसमें लगभग ४५ लाख टन खाद्यान्न रखने की व्यवस्था सम्मिलित है। चतुर्थ योजनाकाल (१९६९-७४) में केन्द्रीय सरकार लगभग १२ करोड़ रुपये तथा राज्य सरकारें लगभग ६ करोड़ रुपये गोदाम बनवाने पर खर्च करेंगी। इस रकम से लगभग १० लाख टन अतिरिक्त माल सुरक्षित रखने की *व्यवस्था हो सकेगी। इसके अतिरिक्त लगभग २० लाख टन माल रखने लायक गोदाम सहकारी* संस्थाओं द्वारा निर्मित कराये जायेंगे।

(४) **नाप तोल की उचित व्यवस्था**—भारत के विभिन्न भागों में नाप-तोल के अनेक आधार रहे हैं। २० सेर से लेकर ५० सेर अथवा १०० सेर तक का मन विभिन्न भागों में प्रचलित रहा है। इसी प्रकार कच्चा सेर, पक्का सेर, कण्डी अथवा पौण्ड आदि के तोल बेचने वालों की सुविधा *के अनुसार अपनाये जाते रहे हैं, जिससे किसानों को धोखा देने में* सहायता मिलती रही है। इस दोष को सदा के लिए दूर करने की दृष्टि से भारत सरकार ने १ अप्रैल, १९५८ से मीट्रिक तोल अर्थात् किलोग्राम, क्विंटल आदि चालू कर दिये। इस सम्बन्ध में यही कहा जा सकता है कि मीट्रिक नाप तोल की प्रणाली अत्यन्त श्रेष्ठ है किन्तु इसे पूरी शक्ति से सर्वत्र प्रचलित करने की चेष्टा किये बिना इससे विशेष लाभ होने की सम्भावना नहीं है।

(५) **क्रय-विक्रय सर्वेक्षण तथा शोध**—भारत सरकार क्रय विक्रय एवं निरीक्षण निदेशालय (Directorate of Marketing and Inspection), विभिन्न कृषि पदार्थों से सम्बन्धित समस्याओं तथा प्रणालियों का नियमित अध्ययन *करता है तथा समय-समय पर* इन शोधकार्यों अथवा सर्वेक्षणों की रिपोर्ट प्रकाशित करता रहता है। यह निदेशालय अब तक ४० वस्तुओं के सम्बन्ध में १३० सर्वेक्षण रिपोर्ट प्रकाशित कर चुका है।

अभी कुछ समय पहले ही इस निदेशालय म एक क्रय विक्रय शोध विभाग स्थापित किया गया है जिसका उद्देश्य क्रय विक्रय परम्पराओं मे परिवर्तन, उपभोक्ताओं की आवश्यकताओं की प्रवृत्तियाँ लागत मूल्य तथा सीमान्तर, यातायात और पैकिंग तथा अन्य महत्त्वपूर्ण तथ्यों के अध्ययन करना है। निदेशालय को चाहिए कि विश्वविद्यालयों के शोध विभागो से सामजस्य स्थापित कर क्रय विक्रय की विभिन्न समस्याओं पर स्वतन्त्र शोधकार्य करवाया जाय। इस कार्य को प्रोत्साहित करने के लिए विश्वविद्यालयों मे शोधकर्ताओं को यथोचित अनुदान दिये जाने चाहिए। इससे विपणन-व्यवस्था के सभी पहलुओं के सम्बन्ध मे उचित सुधार करने की दिशा मे बहुत सहायता मिलने की आशा है।

(६) प्रशिक्षण सुविधाएँ—कृषि क्रय-विक्रय के सिद्धान्त सामान्य क्रय विक्रय के सिद्धान्तो से कुछ भिन्न हैं क्योकि कृषि पदार्थों की उत्पत्ति एक विशेष समय होती है और उनकी पूर्ति वर्ष भर नियमित रखनी पड़ती है, अत क्रय विक्रय सस्थाओं मे कार्य करने वाले व्यक्तियों को उचित प्रशिक्षण दिया जाना आवश्यक है। इसी दृष्टिकोण से सरकार द्वारा कृषि क्रय विक्रय के लिए तीन पाठ्यक्रम चालू किये गये है। प्रथम पाठ्यक्रम राजकीय क्रय-विक्रय विभागों के उच्चाधिकारियों के लिए है और इसकी व्यवस्था नागपुर मे है। यह पाठ्यक्रम एक वर्ष का है।

दूसरा पाठ्यक्रम पाँच मास की अवधि का है और क्रय-विक्रय सचिवों तथा अधीक्षकों के लिए है। इसकी व्यवस्था सागली तथा हैदराबाद में है।

तीसरा त्रैमासिक पाठ्यक्रम वर्गीकरण निरीक्षकों (Grading Supervisors) के लिए है। सरकार द्वारा एकवर्षीय अध्ययन के लिए ७५ रुपय मासिक तथा शेष दोनो पाठ्यक्रमों के लिए ५० रुपये मासिक छात्रवृत्ति दी जाती है। १९६३ ६४ से लखनऊ मे एक पच मासिक कोर्स चल रहा है।

उपर्युक्त पाठ्यक्रमों का क्षेत्र एव स्वरूप अभी बहुत सीमित है अत इन्हे व्यापक बनाने के लिए जिला स्तर पर इस प्रकार के प्रशिक्षणों की व्यवस्था की जानी चाहिए ताकि अधिक से अधिक व्यक्ति सहकारी क्रय विक्रय कार्यक्रमों एव विकास योजनाओं मे सक्रिय सहयोग देने योग्य बन सकें।

(७) सहकारी विपणन समितियों की स्थापना—सहकारी विपणन समितियों की स्थापना द्वारा कृषि विपणन के दोषों को सरलता से दूर किया जा सकता है।

७ सहकारी विपणन
(CO-OPERATIVE MARKETING)

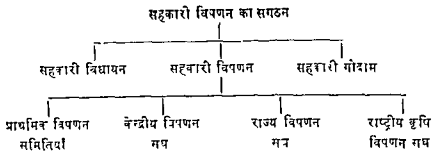
ग्रामीण साख सर्वेक्षण समिति ने ग्रामीण साख की उचित व्यवस्था के लिए सहकारी क्रय विक्रय समितियों की स्थापना की सिफारिश की थी। तदनुसार सरकार ने इस प्रकार की समितियाँ बनाने के लिए न केवल योग्य कर्मचारियों की सहायता प्रदान करना आरम्भ कर दिया है बल्कि वह इन समितियों की अश पूँजी भी खरीदती है।

(१) कार्य – सहकारी क्रय विक्रय समितियों का उद्देश्य किसानो को कृषि का यथोचित मूल्य प्राप्त कराना है। इसकी पूर्ति के लिए समिति अपने सदस्यों द्वारा उत्पन्न सारी उपज ग्रहण कर लेती है। प्रत्येक सदस्य द्वारा जमा करायी गयी उपज का अलग हिसाब रखा जाता है। समिति द्वारा किसान को जमा उपज की धरोहर पर रकम दे दी जाती हैं जिससे किसान अपना दैनिक निर्वाह कर सकता है। यदि किसान को इसी बीच और रकम की आवश्यकता हो तो वह समिति से ले सकता है। किन्तु इसकी राशि कुल जमा उपज से बढ़नी नहीं चाहिए।

सहकारी समिति सम्पूर्ण उपज को साफ-सँवारकर उसका वर्गीकरण कर लेती है और उसे धीरे-धीरे ऐसे स्थानों पर बेच देती है जहाँ उस माल का अधिकाधिक मूल्य प्राप्त हो सके। इस प्रकार समिति कृषक की अधीरता तथा गाँव मे ही माल बचने की प्रवृत्ति पर रोक लगाती है और उपज का अधिकतम मूल्य प्राप्त कराती है। जब किसी किसान द्वारा जमा करायी गयी उपज बिक जाती है तो समिति किसान को अग्रिम दी गयी रकम काटकर शेष राशि उसे

चुका देती है। माल बेचने की इस सेवा के बदले समिति किसान से कुछ शुल्क लेती है ताकि समिति का प्रबन्ध व्यय सरलतापूर्वक चलाया जा सके।

(२) सगठन—सहकारी विपणन के अन्तर्गत तीन दिशाओं में प्रयत्न किये गये हैं (i) विपणन, (ii) प्रोसेसिंग (Processing) तथा (iii) गोदामों की व्यवस्था। ये सभी क्रियाएँ एक-दूसरे से सम्बन्धित हैं। जहाँ तक विपणन सहकारिता का सम्बन्ध है, इसका सगठनात्मक ढाँचा निम्नलिखित है



१ सहकारी विपणन समितियाँ

(क) प्राथमिक सहकारी विपणन समितियाँ (Primary Cooperative Marketing Societies)—ये समितियाँ ग्राम स्तर पर कार्य करती हैं। कार्य की दृष्टि से ये समितियाँ कई प्रकार की हैं—प्राथमिक कृषि सहकारी समितियाँ (उत्पादन व विक्रय), प्राथमिक कृषि सहकारी समितियाँ (क्रय व विक्रय)। कुछ ऐसी समितियाँ भी हैं जो गैर-कृषि वस्तुओं का उत्पादन, क्रय व विक्रय करती हैं। ऐसी समितियाँ मुख्यत. कुटीर उद्योगों द्वारा उत्पादित वस्तुओं का क्रय विक्रय करती हैं। कुछ बहुउद्देशीय समितियाँ भी विपणन का कार्य करती हैं। ३० जून, १९६८ को इनकी सख्या लगभग ३,३०० थी।

(ख) केन्द्रीय विपणन सघ (Central Marketing Unions)—ये सघ, प्राथमिक सहकारी विपणन समितियों के सघ होते हैं। ये सघ कृषि वस्तुओं का क्रय-विक्रय करते हैं तथा प्राथमिक समितियों को साख प्रदान करते हैं। इन सघों के सदस्य—व्यक्ति और प्राथमिक समितियाँ—दोनों ही हो सकते हैं। सामान्यत ये सघ जिला स्तर पर कार्य करते हैं। जून १९६८ में इनकी सख्या १९१ थी।

(ग) राज्य विपणन सघ (Apex or State Marketing Unions)—ये सघ राज्य स्तर पर कार्य करते हैं। इनका कार्य क्रय-विक्रय करना तथा केन्द्रीय विपणन सघों और प्राथमिक विपणन समितियों को साख प्रदान करना है। राज्य सघों के सदस्य व्यक्ति तथा समितियाँ हो सकते हैं। इनकी सख्या २४ है।

व्यापार—उपर्युक्त सभी प्रकार की विपणन सहकारी समितियों द्वारा सन् १९६५-६६ में ३६० करोड़ रुपये तथा सन् १९६६-६७ में ३३५ करोड़ रुपये की कृषि-वस्तुओं का विपणन किया गया। इस राशि में सन् १९६५ ६६ में १३६ ७५ करोड़ रुपये तथा सन् १९६६-६७ में १४४ ६५ करोड़ रुपये मूल्य के खाद्यान्नों का विपणन शामिल है। ये समितियाँ निर्यात-व्यापार में भी भाग लेती हैं।

(घ) राष्ट्रीय सहकारी कृषि विपणन सघ (National Co-operative Agricultural Marketing Federation)—सन् १९६४ के पूर्व भारत में सहकारी विपणन का कोई भी अखिल भारतीय सगठन नहीं था। अतः जून १९६४ में उपर्युक्त सघ की स्थापना की गयी। इसका मुख्य कार्यालय दिल्ली में है। ३७ सहकारी विपणन सघ इसके सदस्य हैं।

२ माल सँवारने वाली समितियाँ (Processing Societies)

ऐसी समितियाँ जो किसान से माल खरीदकर उसका रूप परिवर्तित कर देती हैं और इस क्रिया द्वारा आधारभूत माल के मूल्य में काफी वृद्धि कर देती हैं, **सँवारने वाली समितियाँ** कहलाती हैं। माल साफ करने तथा सँवारने की क्रिया का किसी भी ग्रामीण अर्थतन्त्र में बहुत महत्त्व है क्योंकि इस क्रिया के फलस्वरूप ग्राहक को अच्छा माल तथा किसान को अधिक मूल्य प्राप्त हो जाता है। भारत में माल सँवारने वाली सहकारी समितियाँ अधिक पुरानी नहीं हैं, उनकी स्थापना हाल में आरम्भ हुई है। इनमें कपास साफ करने तथा गाँठ बाँधने और चीनी बनाने की समितियों में उल्लेखनीय उन्नति हुई है। १९६०-६१ तक ५५ सहकारी चीनी फैक्टरियों को लाइसेंस दिये जा चुके थे, जिनमें से ३० उत्पादन कर रही थीं। इन समितियों का उत्पादन देश में चीनी के कुल उत्पादन का लगभग १५ प्रतिशत था। १९६६-६७ में ७६ सहकारी चीनी फैक्ट्रियाँ भारत में थीं और उनकी उत्पादन क्षमता देश में कुल चीनी उत्पादन क्षमता का ३२ प्रतिशत थी। इनमें से सन् १९६७-६८ में ५८ फैक्टरियाँ उत्पादन कर रही हैं। द्वितीय योजना के उत्तरार्द्ध में चीनी सहकारी समितियों ने एक राष्ट्रीय संगठन (National Federation) बना लिया था जिसका उद्देश्य सहकारी चीनी कारखानों को प्राविधिक सहायता देना तथा उनके कार्य में समन्वय स्थापित करना है। सन् १९६९-७० में इनका उत्पादन लगभग १५ लाख टन था।

द्वितीय योजना के अन्त में चीनी बनाने वाली समितियों के अतिरिक्त माल सँवारने वाली विभिन्न समितियों की संख्या २६० थी। तृतीय योजना की अवधि में धान साफ करने, कपास साफ करने और गाँठ बाँधने, तेल निकालने और पटसन की गाँठें तैयार करने आदि सम्बन्धी ६८० सहकारी समितियाँ स्थापित करने की व्यवस्था की गयी। ३० जून, १९६८ को माल सँवारने वाली कृषि सहकारी समितियों की कुल संख्या राज्य स्तर पर ८ थी। इनके अतिरिक्त १०० केन्द्रीय समितियाँ तथा १,५७८ प्राथमिक समितियाँ थीं।

माल सँवारने वाली समितियों को स्टेट बैंक, औद्योगिक वित्त निगम तथा राष्ट्रीय सहकारी विकास एवं गोदाम मण्डल से आर्थिक सहायता प्राप्त होती है। महाराष्ट्र के राज्य सहकारी बैंक ने कुछ समय पूर्व ही एक सहकारी औद्योगिक आयोग की स्थापना की है जो कृषि पदार्थों को सँवारने में सहायता प्रदान करेगा।

सहकारी गोदाम—विपणन कार्य गोदामों की समुचित व्यवस्था के बिना सफलतापूर्वक नहीं किया जा सकता है। देश में केन्द्रीय तथा राज्य गोदामों के अतिरिक्त सहकारी गोदाम भी हैं। *अखिल भारतीय ग्रामीण साख सर्वेक्षण समिति ने सहकारिता आन्दोलन तथा गोदाम व्यवस्था में* सामंजस्य स्थापित करने का सुझाव दिया था। सहकारी आधार पर देश के विभिन्न भागों में बहुत से गोदामों का संचालन किया जाता है। द्वितीय योजनाकाल में विपणन तथा साख सहकारी *समितियों को गोदामों की व्यवस्था के लिए अनुदान देने की योजना प्रारम्भ की गयी।* राज्य सरकारों तथा 'राष्ट्रीय सहकारिता निगम' (National Co operative Development Corporation) की सहायता से सहकारी समितियों ने गोदामों के निर्माण की दिशा में सन्तोषजनक प्रगति की है।

ग्रामों में गोदाम बनाने तथा विक्रय समितियों द्वारा गोदाम निर्माण करने के लिए निगम द्वारा १० ७८ करोड़ रुपये के ऋण तथा २ ४६ करोड़ रुपये के अनुदान दिये गये हैं।

इन कार्यक्रमों के लिए भारत सरकार धन की व्यवस्था करती है और सहकारी विकास . सम्बन्धित संस्थाओं को दे देता है।

गोदामों की क्षमता—भारत में सहकारी गोदामों की क्षमता द्वितीय योजना के अन्त तक

७'५ लाख टन थी जो तीसरी योजना के अन्त तक २५ लाख टन थी। मार्च १९७० में वह २७ लाख टन तक बढ़ गयी।

सहकारी कृषि विपणन समितियों की प्रगति—द्वितीय पंचवर्षीय योजना की समाप्ति तक राजकीय सहयोग से १,८६६ प्राथमिक विपणन समितियों की स्थापना हो चुकी थी। तृतीय योजना काल में ४५२ नयी समितियाँ निर्मित की गयीं। इस प्रकार १९६६ में ३,३२१ सरकारी सहयोग से स्थापित तथा स्वतन्त्र रूप से स्थापित सहकारी विपणन समितियाँ थीं। इन (३,३२१) समितियों में से २,९०० समितियाँ प्रादेशिक आधार पर स्थापित थीं तथा ४०० से कुछ ऊपर विशिष्ट वस्तुओं की विक्रय समितियाँ थीं। देश की सभी महत्त्वपूर्ण मण्डियों में सहकारी विक्रय समितियाँ स्थापित हो चुकी थीं।

सहकारी विपणन समितियों का कार्य

पिछले पन्द्रह वर्षों में सहकारी विपणन समितियों के कार्य की प्रगति निम्नलिखित है

(करोड़ रुपयों में)

वर्ष	सहकारी विक्रय समितियों के माध्यम से बेचे गये माल की राशि
१९५०-५१	४७
१९५५-५६	५३
१९६०-६१	१७५
१९६५-६६	३६०
१९६८-६९	५८३

इस ब्यौरे से स्पष्ट है कि कृषि सहकारी विक्रय समितियों द्वारा विक्रय किये गये माल का वार्षिक मूल्य ४७ करोड़ रुपये से बढ़कर ५८३ करोड़ रुपये तक पहुँच गया है।

विक्रय की गयी वस्तुएँ—सहकारी कृषि विपणन समितियों की कार्य प्रगति का अध्ययन करने से यह पता लगता है कि उनके माध्यम से बहुत कम वस्तुएँ बेची जाती हैं। सहकारी विपणन समितियों द्वारा अधिकांश बिक्री अनाज और गन्ने की की गयी है, शेष वस्तुओं का मूल्य कुल बिक्री का केवल २१ प्रतिशत है। अनाज तथा गन्ने के अतिरिक्त तीसरा नम्बर कपास का आता है। इन वस्तुओं के अतिरिक्त सुपारी, नारियल, इलायची, काजू और काली मिर्च सहकारी विपणन समितियों के माध्यम से बेची जाती हैं।

निर्यात और सहयोग—गत वर्षों में सहकारी विपणन समितियों ने कृषि पदार्थों के निर्यात में भी सहयोग दिया है। वास्तविक निर्यात मुख्यतः राष्ट्रीय सहकारी कृषि विपणन संघ (National Agricultural Cooperative Marketing Federation) के द्वारा किया जाता है। विपणन समितियाँ दालें, केले, प्याज, तम्बाकू, मटर, सन्तरे तथा रुई निर्यात करती हैं।

इन निर्यातों में अधिकांश निर्यात विपणन संघ द्वारा किये गये हैं किन्तु महाराष्ट्र, मध्य प्रदेश, उत्तर प्रदेश तथा गुजरात की समितियों का कार्य भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। जिन देशों को विपणन समितियों द्वारा निर्यात किये जाते हैं उनमें इंगलैण्ड, लंका, कुवैत, नाइजेरिया, मलेशिया, सोवियत संघ तथा सिंगापुर मुख्य हैं।

स्वयं निर्यात करने के अतिरिक्त सहकारी विपणन समितियाँ माल को सँवार कर निर्यातकों को देती हैं जिससे निर्यातकों का काम सरल हो जाता है। इस कार्य में शक्कर समितियों तथा चाय और कहवा विपणन समितियों का कार्य विशेष उल्लेखनीय है।

सहकारी विपणन के लाभ—सहकारी विपणन समितियों के माध्यम से माल वेचने से निम्नलिखित लाभ हैं

(क) उचित मूल्य—किसान को अपने माल का उचित मूल्य मिल जाता है क्योंकि उसे सम्पूर्ण अथवा अधिकांश माल फसल तैयार होते ही बेचने की आवश्यकता नही है। दूसरी बात यह है कि समिति उस माल को रोककर यथोचित समय पर यथोचित बाजार मे बेचती है।

(ख) उपभोक्ता—सहकारी विक्रय से दूसरा लाभ यह है कि उपभोक्ता वर्ग को साल भर कृषि माल उचित मूल्य पर मिलता रहता है क्योंकि सहकारी समितियाँ पूँजीपति व्यापारियो की भाँति माल रोककर कृत्रिम दुर्लभता की स्थिति उत्पन्न नही करती। वह माल की पूर्ति निरन्तर बनाये रखती हैं, जिससे बाजार मे मूल्यों की स्थिति डाँवाडोल नहीं होने पाती।

(ग) अच्छा माल—सहकारी क्रय-विक्रय का तीसरा लाभ यह है कि उपभोक्ताओं को कृषि माल शुद्ध एव साफ मिलता है क्योंकि समितियाँ मिलावट आदि करने से परहेज करती हैं।

(घ) शोषण की समाप्ति—समितियो के माध्यम से माल बेचने पर मध्यगो द्वारा किया जाने वाला शोषण समाप्त हो जाता है क्योंकि समितियो को माल वेचने सम्बन्धी सुविधाएँ उपलब्ध होती हैं और उन्हे दलाल अथवा व्यापारी ठग नही सकते।

(ङ) साहूकार से मुक्ति—सहकारी समितियाँ जमा माल के आधार पर किसानो को रकम देती रहती हैं अत किसान को साहूकार से रकम उधार नहीं लेनी पड़ती। इससे वह साहूकार के शोषण से बच जाता है।

सहकारी क्रय-विक्रय समितियो को सहकारी विकास तथा गोदाम मण्डल से भी आर्थिक सहायता मिल जाती है और राज्य सरकारो से भी। फलत समितियाँ विक्रय प्रणालियों मे सुधार एव कुशलता लाने का प्रयत्न करती हैं तथा गोदाम आदि निर्माण कर अपनी सग्रह शक्ति भी बढाती जाती हैं।

उपसहार—प्रस्तुत विवरण से यह स्पष्ट है कि कृषि पदार्थों के विक्रय की समस्या एक ओर तो मानवी है तथा दूसरी ओर उसका पहलू आर्थिक है। इसकी उचित व्यवस्था करने के लिए एक ओर तो किसान को जाग्रत एव प्रबुद्ध बनाना आवश्यक है और दूसरी ओर यातायात के साधन, गोदाम, साख तथा अन्य सुविधाओं की व्यवस्था करने की आवश्यकता है, जिसके लिए काफी रकम का प्रबन्ध करना होगा। सरकार को चाहिए कि इन दोनो ही पहलुओं का साथ-साथ सुधार किया जाय। किसानो मे जागृति के लिए पचायतो तथा सहकारी समितियो का सक्रिय सहयोग प्राप्त करने की चेष्टा की जानी चाहिए और आर्थिक पहलू को स्वस्थ एव शक्तिशाली बनाने के लिए स्टेट बैंक को अधिक सक्रिय किया जाना चाहिए ताकि विभिन्न सुविधाओं मे शीघ्रातिशीघ्र यथोचित वृद्धि हो सके। इन दोनो कार्यों के गतिशील हुए बिना कृषि विक्रय की समस्या का हल सदिग्ध बना रहेगा और किसानों की निर्धनता का अन्त होना भी कठिन होगा।

प्रश्न

१ भारतीय ग्रामीण क्षेत्रो मे भूमिहीन श्रमिको को पूर्ण रोजगार दिलाने के लिए आप क्या उपाय काम मे लायेंगे ? अपनी योजनाओं का वर्णन कीजिए। (आगरा, बी० ए०, १९५२)

२ भारत में कृषि श्रमिक की स्थिति के सम्बन्ध मे आप क्या जानते हैं ? उसकी आर्थिक स्थिति सुधारने के लिए आप क्या सुझाव दे सकते हैं ? (लखनऊ, बी० ए०, १९६२)

३. कृषि श्रमिकों की कठिनाइयों का वर्णन कीजिए। उनकी अवस्था में सुधार करने के लिए आप क्या सुझाव दे सकते हैं ? (गोरखपुर, बी० ए०, १९६३)

भारत के कृषि श्रमिकों की वर्तमान दशा का सक्षेप मे उल्लेख कीजिए। उनकी दशा सुधारने के लिए आपके क्या सुझाव हैं ? (दिल्ली, बी० ए०, १९६६)

19 सहकारी आन्दोलन

(COOPERATIVE MOVEMENT)

"Cooperation has failed but cooperation must succeed"

आधुनिक युग मे ससार दो विरोधी विचारधाराओ मे विभाजित हो गया है। एक ओर पूँजीवाद के समर्थक विचार स्वातन्त्र्य तथा निजी साहस के बल पर आर्थिक विकास करना चाहते हैं तो दूसरी ओर समाजवाद के अनुयायी राजकीय नियोजन एव अधिकार द्वारा आर्थिक कल्याण की कल्पना करत हैं। यदि गम्भीरतापूर्वक विचार किया जाय तो यह दोनो व्यवस्थाएँ ही दोषपूर्ण हैं क्योंकि जहाँ पूँजीवाद सर्वहारा वर्ग के शोषण पर पनपता है वहाँ समाजवाद मनुष्य की आर्थिक एव सामाजिक स्वतन्त्रता छीनकर उसे स्वचालित यन्त्रवत् बना देता है। इन दोनो का मध्यम मार्ग सहकारिता है क्योंकि सहकारिता के अन्तर्गत न केवल व्यक्ति के विकास के लिए पूर्ण स्वतन्त्रता रहती है बल्कि शोषण की क्रियाएँ भी पूर्णत समाप्त कर दी जाती हैं। सहकारिता एक सामाजिक, आर्थिक एव नैतिक दर्शन है जिसका लक्ष्य ऐच्छिक सहयोग द्वारा आत्म-विकास करना है।

१. सहकारिता का अर्थ और सिद्धान्त

सहकारिता एक ऐसा सगठन है जिसमे कुछ व्यक्ति मिलकर अपने सामाजिक तथा आर्थिक हितो की अभिवृद्धि के लिए स्वच्छापूर्वक काम करते हैं। इस प्रकार जो कार्य आर्थिक दुर्बलता के कारण अलग अलग व्यक्तियो द्वारा नही किया जा सकता उसे एक सगठन द्वारा सम्पन्न करने की चेष्टा की जाती है। वस्तुत सहकारिता का मूलमन्त्र 'अपनी सहायता आप' कर एक आत्म-निर्भर शोषणहीन समाज बनाना है।

Dr. C R Fay ने सहकारिता को निम्नलिखित प्रकार से परिभाषित किया है

"सहकारिता सयुक्त कार्य के लिए एक सगठन है जिसमे लोग समानता के आधार पर मानव की हैसियत से अपन आर्थिक हितो की सिद्धि के लिए स्वेच्छा से सगठित होते है। प्रो० कोलबर्ट के अनुसार "सहकारिता सयुक्त व्यवसाय के हेतु एक सगठन है जो दुर्बल लोगो के बीच जन्म लेता है और नि स्वार्थ भावना स चलाया जाता है, जितने लोग सदस्यता के कर्तव्यो को स्वीकार करत हैं तथा सगठन का जिस सीमा तक उपयोग करते हैं, उसके अनुसार इसके लाभ के भागी होते हैं।"

इन परिभाषाओ के आधार पर सहकारिता के आधारभूत सिद्धान्त निम्नलिखित हैं

(१) समानता—सहकारी सगठन मे प्रजातन्त्र का एक श्रेष्ठतम रूप देखने को मिलता है क्योंकि किसी व्यक्ति के पास भले ही कितने ही अश हो, वह केवल एक ही मत देने का अधिकारी होता है। इस प्रकार सहकारी समितियो म कोई भी एक व्यक्ति अधिकार नही जमा सकता।

(२) **नि स्वार्थता**—सहकारी सस्थाएँ लाभ कमाने की दृष्टि से स्थापित नहीं की जाती बल्कि उनका उद्देश्य समाज का शोषण समाप्त कर सदस्यो की आर्थिक स्थिति को सुधारना है।

(३) **ऐच्छिक सदस्यता**—सहकारी समितियों मे सदस्यता सर्वथा ऐच्छिक होती है परन्तु इस बात का ध्यान अवश्य रखा जाता है कि कोई अवांछित व्यक्ति सहकारी समिति का सदस्य न बन सके अन्यथा सबको कष्ट उठाना पड़ेगा।

(४) **मितव्ययिता का पाठ**—सहकारी सस्थाएँ अपने सदस्यों को मितव्ययिता का व्यावहारिक पाठ पढाती हैं। वह केवल उत्पादक कार्यों के लिए ऋण देती हैं और सब सदस्य इस बात का ध्यान रखते हैं कि ऋण की रकम का प्रयोग केवल उचित एव उत्पादक कार्यों के लिए ही किया जाय। अपव्यय करने वाले व्यक्तियो को सहकारी सस्थाओ द्वारा ऋण नहीं दिया जाता।

(५) **पारस्परिक सहयोग**—सहकारिता का एक महत्वपूर्ण मूलमन्त्र **'एक सब के लिए तथा सब एक के लिए'** (Each for all and all for each) है। प्रत्येक व्यक्ति सबके लिए सामर्थ्यानुसार कार्य करता है तथा उसका प्रतिफल प्राप्त करता है। इस प्रकार सभी लोग अपनी शक्ति के अनुसार कार्य करते हैं और पारस्परिक विकास मे सहयोग करते हैं।

(६) **सीमित क्षेत्र**—सहकारी समितियों का क्षेत्र प्राय न बहुत विस्तृत और न बहुत कम रखा जाता है क्योंकि पहली स्थिति मे समिति का प्रबन्ध करने म कठिनाई रहती है और दूसरी स्थिति मे वह अमितव्ययितापूर्ण हो जाती है।

२ सहकारिता का भारत मे विकास

सहकारिता की भावना का जन्म इगलैण्ड के उद्योगपति रॉबर्ट ओवन (१७७१-१८५०) तथा उनके कुछ सहयोगी रॉकडेल के श्रमिको द्वारा हुआ। इन्होंने सहकारी उपभोक्ता भण्डार चालू किये जिनमे सदस्य श्रमिको को अच्छा माल सस्ते मूल्य पर देने की व्यवस्था की गयी। जर्मनी के रेफेजन महोदय ने अपने देश मे कृषको तथा सामान्य कारीगरों के लिए सस्ती साख देने के लिए ग्रामीण साख समितियाँ और शुल्ज डेलिश ने नगरो के मध्यवर्गीय व्यक्तियो को यथासमय सस्ते ऋण देने के लिए नागरिक साख समितियाँ स्थापित की। शनै शनै उपभोक्ता सहकारी भण्डार तथा दोनो प्रकार की साख समितियाँ यूरोप, अमरीका तथा अन्य देशो मे भी स्थापित होनी आरम्भ हो गयी और क्रमश ससार भर मे फैल गयी।

भारत मे सहकारी आन्दोलन का सूत्रपात १९वी शताब्दी के उत्तरार्द्ध मे हुआ। सबसे पहले १८८२ मे सर विलियम वेडरबर्न तथा न्यायाधीश रानाडे ने किसानो को ऋण देने के लिए कृषि बैंक स्थापित करने की सिफारिश की। यद्यपि सरकार ने उनकी योजना को स्वीकार नहीं किया परन्तु उस सुझाव को कार्यान्वित करने के लिए किसानो को ऋण देने सम्बन्धी दो कानून पास किये गये। १८९५ मे फ्रेडरिक निकलसन ने तमिलनाडु मे कृषि बैंक स्थापित करने सम्बन्धी रिपोर्ट प्रस्तुत की। इसी समय डूपर्न महोदय ने उत्तर भारत मे जनता बैंक खोलने का सुझाव दिया और सरकार द्वारा नियुक्त एक समिति ने रेफेजन सहकारी समितियाँ स्थापित करने का सुझाव दिया। १९०१ के अकाल आयोग ने भी सहकारी समितियो की स्थापना की सिफारिश की।

सहकारी अधिनियम, १९०४—उपर्युक्त सब सिफारिशो के परिणामस्वरूप भारत सरकार ने १९०४ म पहला सहकारी साख समिति अधिनियम पास कर दिया। इस अधिनियम के अनुसार देश मे कुछ व्यक्ति मिलकर एक ग्रामीण अथवा नागरिक साख समिति बना सकते थे। ग्रामीण समितियो म ८० प्रतिशत कृषक तथा नागरिक समितियों मे ८० प्रतिशत अकृषक होने आवश्यक थे। प्रत्येक प्रान्त मे समितियो का नियन्त्रण तथा अंकेक्षण एक रजिस्ट्रार के हाथ मे था।

उपर्युक्त दोनो ही प्रकार की समितियो का मुख्य उद्देश्य नागरिको मे बचत की भावना को प्रोत्साहन देना तथा उन्हे आवश्यकता होने पर सस्ती दर पर ऋण उपलब्ध कराना था।

सन् १९१२ का अधिनियम—सन् १९०४ मे सहकारी समिति अधिनियम मे निम्नलिखित कमियाँ थी :

(१) इसमे केवल प्राथमिक समितियाँ (Primary Societies) बनाने की व्यवस्था थी, केन्द्रीय तथा राज्य-स्तरीय समितियाँ नही बनायी जा सकती थी।

(२) इसके अन्तर्गत केवल सहकारी साख समितियो की स्थापना का प्रावधान था।

(३) इसमे ग्रामीण तथा नागरिक समितियो का वर्गीकरण स्पष्ट नही था।

फलत सन् १९१२ मे नया सशोधित सहकारी समिति अधिनियम पास किया गया जिसमे किसी भी प्रकार की सहकारी समिति स्थापित करने की व्यवस्था कर दी गयी। अत राज्य तथा केन्द्रीय सहकारी बैंक तथा विक्रय, उत्पादन, उपभोग आदि सम्बन्धी समितियाँ भी बननी आरम्भ हो गयी।

मेक्लेगन समिति, १९१५—भारत मे सहकारी समस्याओं का अध्ययन करने के लिए ८ अक्टूबर, १९१४ को ई० डी० मेक्लेगन की अध्यक्षता मे एक समिति नियुक्त की गयी जिसने १९१५ मे अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत कर दी। समिति की सिफारिशें निम्नलिखित थी

(१) सहकारी समितियो का विकास धीरे और दृढ आधार पर किया जाना चाहिए।

(२) समितियो के नियन्त्रण की उचित व्यवस्था होनी चाहिए।

(३) सहकारिता मे सरकारी हस्तक्षेप अथवा सक्रियता को कम किया जाना चाहिए।

प्रान्तीय विषय—सन् १९१९ मे सहकारिता का विषय प्रान्तीय सरकारो को सौप दिया गया। फलत बम्बई मे १९२५, तमिलनाडु मे १९३२, बिहार तथा उडीसा मे १९३५, कुर्ग तथा बगाल मे १९३७ मे पृथक-पृथक् सहकारी समिति अधिनियम पास किये गये।

सन् १९१९ के पश्चात् सहकारी आन्दोलन का विस्तार बहुत तेजी से हुआ, क्योकि वह समृद्धिकाल था। जनता द्वारा अधिकाधिक ऋण लिये गये फलत समितियो की सख्या १७,००० (१९१५) से बढकर एक लाख से ऊपर हो गयी।

मन्दी के युग मे सहकारी आन्दोलन को बहुत धक्का लगा क्योकि बहुत से व्यक्ति सहकारी समितियो से लिए गये ऋण चुकता करने मे असमर्थ रहे अत अनेक समितियाँ बन्द हो गयी।

द्वितीय युद्धकाल तथा पश्चात्—युद्धकाल मे मँहगाई तथा नियन्त्रणों के कारण सहकारी उपभोक्ता भण्डारो का विकास तेजी से हुआ। इसके अतिरिक्त अनेक वर्गों की सहकारी समितियाँ स्थापित की गयी। युद्धोत्तर काल मे उपभोक्ता भण्डारो की प्रगति मे कुछ शिथिलता आयी परन्तु अन्य प्रकार की समितियाँ निरन्तर विकसित होती चली गयी। सन् १९३९-४० मे सभी प्रकार की सहकारी समितियो की सख्या १ १७ लाख, कार्यशील पूंजी १०५ करोड रुपये तथा प्राथमिक समितियो की सदस्य सख्या ५१ लाख थी।

३ योजनाकाल मे सहकारिता

भारत जैसे देश मे जहाँ ग्रामो का बाहुल्य है प्रजातान्त्रिक पद्धति से समाजवाद लाने का लक्ष्य रखा गया है, सहकारिता आर्थिक विकास का सर्वश्रेष्ठ माध्यम बन सकती है। भारत मे योजना निर्माताओ ने इस महत्त्वपूर्ण तथ्य का विशेष ध्यान रखा है तथा विकास कार्यों के लिए सहकारिता को माध्यम अपनाया है। अग्र सारणी द्वारा पचवर्षीय योजनाओ के अन्तर्गत सहकारिता के विकास का ज्ञान होता है.

पचवर्षीय योजनाओ के अन्तर्गत सहकारिता—सभी समितियां

वर्ष	सख्या (लाखो म)	अश पूंजी (करोड रुपयो मे)	कार्यशील पूंजी (करोड रुपयो में)
१६५०-५१	१ ८	४५	२७६
१६५५-५६	२ ४	७७	६४६
१६६०-६१	३ ३	२२२	१,३१२
१६६५-६६	३ ५	४५१	२,८००

सारणी से स्पष्ट है कि सन् १६५०-५१ के पश्चात् योजना काल के प्रथम दस वर्षो मे सहकारिता आन्दोलन ने सराहनीय प्रगति की है। समितियो की सख्या सन् १६५०-५१ मे १ ८ लाख थी और उनकी कार्यशील पूंजी २७६ करोड रुपये थी। सन् १६६०-६१ मे समितियो की सख्या ३ ३ लाख तथा कार्यशील पूंजी १,३१२ करोड रुपये हो गयी।

१६६५-६६ मे समितियो की सख्या लगभग दुगुनी और कार्यशील पूंजी लगभग दस गुनी हो गयी।

प्रथम योजना काल मे रिजर्व बैंक के निर्देशन मे सहकारिता आन्दोलन के पुनर्गठन पर, विशेषत सहकारी-साख के पुनर्गठन की दिशा मे प्रयत्न किये गये। योजना आयोग ने प्रथम योजना मे यह मत स्पष्ट रूप म व्यक्त किया कि दस वर्षो मे कुल ग्रामीण जनसख्या का ५०% तथा शहरी जनसख्या का ३०% सहकारिता आन्दोलन के अन्तर्गत आ जाना चाहिए। प्रथम योजना मे साख वितरण का लक्ष्य १३५ करोड रुपय निर्धारित किया गया था। **द्वितीय पचवर्षीय योजना** द्वारा मे 'अखिल भारतीय ग्रामीण साख सर्वेक्षण समिति' क सुझावो को क्रियान्वित करने का प्रयत्न किया गया। गांवो मे प्रमुख आर्थिक क्रियाओ को सहकारी आधार पर करने पर जोर दिया गया। राज्य द्वारा सहकारिता मे साझेदारी (state partnership) पर भी बल दिया गया। ग्रामीण साख समितियो को प्राथमिक विपणन समितियो मे सम्बद्ध करने की भी योजना क्रियान्वित की गयी। द्वितीय योजना मे 'सहकारिता' के लिए ४७ करोड रुपय की व्यवस्था की गयी थी। योजना अवधि म ४७,००० सेवा समितियो (service co operatives) को सगठित करने का लक्ष्य निर्धारित किया गया। अल्पकालीन ऋणो की मात्रा बढाकर ३० करोड रुपये मे १५० करोड रुपये, मध्यावधि ऋणों की मात्रा १ करोड से बढाकर ५० करोड रुपये तथा दीर्घावधि ऋणो की मात्रा ३ करोड से बढाकर २५ करोड रुपये करने का लक्ष्य निर्धारित किया गया। इस प्रकार द्वितीय योजना म, प्रथम योजना की अपेक्षा सहकारी सस्थाओ के विकास पर अधिक बल दिया गया।

तृतीय योजना—द्वितीय योजना काल मे सहकारिता क विकास पर ३४ करोड रुपये व्यय किये गये। इस पर तृतीय योजना काल मे ८० करोड रुपये व्यय करने का लक्ष्य निर्धारित किया किया गया। योजना का लक्ष्य कृषि-जनसख्या के ६०% भाग को सहकारिता आन्दोलन के अन्तर्गत लाना तथा सदस्यो की सख्या बढाकर ३ ७ करना था। यह अनुमान लगाया गया था कि योजनावधि मे अल्पावधि तथा मध्यावधि साख की मात्रा ५३० करोड रुपय तथा दीर्घावधि साख की मात्रा लगभग १५० करोड रुपय हो जायगी (सन् १६६०-६१ मे इनकी मात्रा क्रमश २०४ करोड रुपये तथा ३५ करोड रुपये थी)। योजना काल म ५२ ००० प्राथमिक समितियों को पुनर्जीवित तथा मजबूत करने का लक्ष्य निश्चित किया गया। विपणन समितियो के क्रय विक्रय का लक्ष्य २०० करोड रुपय से बढाकर ४०० करोड रुपय करने का लक्ष्य था।

तृतीय योजना काल मे सहकारिता के विकास पर कुल ७६ करोड रुपया तथा तीन वार्षिक योजनाओ मे कुल ६४ करोड रुपया व्यय किया गया। **चतुर्थ योजना** मे सहकारिता के विकास पर १७६ करोड रुपये का प्रावधान किया गया है।

भारतीय योजना आयोग ने सहकारिता के माध्यम से आर्थिक विकास करने का जो कार्यक्रम बनाया है उसके मूल तत्त्व निम्नलिखित हैं

(१) समिति का क्षेत्र तथा आकार—ग्रामीण साख सर्वेक्षण समिति ने यह मत व्यक्त किया था कि देश में अधिकांश बहुत छोटी सहकारी समितियाँ हैं अत न केवल भविष्य में बड़ी समितियाँ बनाने की चेष्टा करनी चाहिए बल्कि वर्तमान समितियों को भी मिलाकर बड़ा कर देना चाहिए। तदनुसार देश के सभी भागों में बड़ी-बड़ी समितियाँ बनायी गयीं। कहीं कहीं तो यह समितियाँ इतनी बड़ी बन गयीं कि उनकी सदस्यता में ४०-४५ ग्राम सम्मिलित हुए और किसी किसी समिति का विस्तार ३०-३५ मील तक हो गया। इस प्रकार की समितियों का प्रबन्ध करने में अनेक कठिनाइयाँ उत्पन्न हो गयी और बहुत-सी समितियाँ प्राय बन्द हो गयीं।

उपर्युक्त स्थिति की पृष्ठभूमि में मेहता समिति (१९६०) ने यह मत व्यक्त किया कि प्राथमिक सहकारी समितियों का आकार बहुत बड़ा नहीं होना चाहिए। समिति ने एक ग्राम पचायत क्षेत्र में एक सहकारी समिति स्थापित करने की सलाह दी। तदनुसार नवम्बर १९६० में राष्ट्रीय विकास परिषद ने एक प्रस्ताव पास किया जिसके अनुसार लगभग ३,००० जनसख्या वाले क्षेत्र में एक सहकारी समिति बनाने का निश्चय किया गया। इसका तात्पर्य एक पचायत क्षेत्र में एक सहकारी समिति स्थापित करना था। तदनुसार पुरानी समितियों का पुनर्गठन तथा नयी समितियों की स्थापना इस सिद्धान्त के अनुसार की जा रही है।

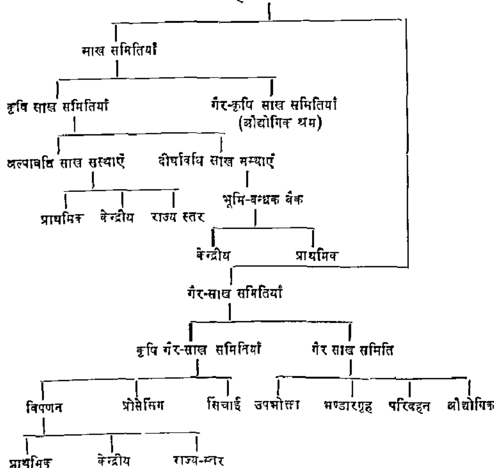
(२) पूंजी में राजकीय भाग—सहकारी सगठन को आर्थिक दृष्टि से बलशाली बनाने के लिए यह निश्चय किया गया कि प्रत्येक प्राथमिक समिति में राज्य भी उतने ही अश खरीद सकेगा जितने कुल सदस्यों ने खरीदे हैं। तदनुसार राज्य सरकारें प्राथमिक समितियों की पूँजी में सक्रिय सहयोग दे रही हैं। यह सहयोग ५,००० से १०,००० रुपये प्रति समिति हो सकता है किन्तु अशधारियों द्वारा खरीदी गयी पूँजी से अधिक नहीं होता।

(३) अनुदान—प्रथम कुछ वर्षों में कार्यालय सम्बन्धी खर्च चलाने के लिए प्रत्येक सहकारी समिति को ५०० रुपये से लेकर १,५०० रुपये वार्षिक तक अनुदान मिल सकता है। यह अनुदान प्राय सहकारी समिति के आकार तथा उसके व्यवसाय की रकम पर निर्भर करता है। इस अनुदान से यह लाभ होता है कि समिति को प्रारम्भिक वर्षों में कुछ आर्थिक सहारा मिल जाता है।

उपर्युक्त अनुदान के अतिरिक्त ऐसी सेवा सहकारी समितियों को जो ग्रामीणों को साख वितरित करने, उत्पादन के उपकरण बाँटने अथवा पदार्थों की विक्रय व्यवस्था में योगदान देती हैं, कुछ 'प्रबन्ध अनुदान' दिया जाता है जिसकी राशि ३ से ५ वर्ष के भीतर ९०० रुपये तक हो सकती है।

४. सहकारिता का ढांचा तथा संगठन
(STRUCTURE AND ORGANISATION)

भारत में सहकारिता आन्दोलन की दो प्रमुख शाखाएँ हैं. (i) साख सहकारिता, तथा (ii) गैर साख सहकारिता। इन दोनों शाखाओं की पुन दो-दो उपशाखाएँ हैं. (i) कृषि, तथा (ii) गैर-कृषि। कृषि सहकारिता ग्रामीण क्षेत्रों में तथा गैर कृषि सहकारिता मुख्यत शहरी क्षेत्रों में पायी जाती है। सहकारिता का ढांचा एक पिरामिड की भांति है। प्राथमिक समितियाँ (Primary Societies) सहकारिता आन्दोलन की आधारशिला हैं तथा राज्य पर शीर्षस्थ (Apex) सहकारी सस्थाएँ। 'आधार' तथा 'शीर्ष' के बीच केन्द्रीय या जिला स्तर की सहकारी सस्थाएँ हैं। भारत में सहकारिता के सगठन तथा ढांचे को अग्रलिखित प्रकार से स्पष्ट किया जा सकता है



उपरोक्त चित्र से स्पष्ट है कि भारत मे सहकारिता आन्दोलन का विकास व्यापक रूप से किया गया है। इनमे से हम 'कृषि साख सहकारिता' तथा 'सहकारी विपणन' पर पहले अलग अध्यायो मे विस्तारपूर्वक अध्ययन कर चुके हैं। अब यहाँ पर हम अन्य प्रकार की सहकारी सस्थाओ का वर्णन करेंगे।

५ अन्य प्रकार की सहकारी सस्थाए

भारत मे 'साख सहकारिता' तथा 'सहकारी विपणन' की ही अधिक प्रगति हुई है। अन्य प्रकार की सहकारी समितियो का विकास कम हुआ है।

(१) **गैर-कृषि साख समितियाँ** (Non-Agricultural Credit Societies)—इस प्रकार की समितियों का शहरी क्षेत्रो के औद्योगिक श्रमिकों मे अधिक प्रचार है। कर्मचारी साख सम्बन्धी आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए सहकारी समिति सगठित करते हैं। इन समितियो मे से कुछ समितियाँ साख के अतिरिक्त अन्य कार्य भी करती हैं। इनके सदस्य नौकरी पेशा वाले व शिक्षित होते हैं अत इनकी अवस्था कृषि-साख समितियो की अपेक्षा अच्छी है। जून १९६८ में इन समितियो की सख्या १३,९६५ तथा सदस्य सख्या ७५ ९३ लाख थी।

(२) ***गैर-साख समितियाँ*** (*Non-credit Cooperative Societies*)—इस प्रकार की समितियाँ दो प्रकार की हैं (i) कृषि गैर-साख समितियाँ, तथा (ii) गैर-कृषि गैर-साख समितियाँ, कृषि गैर-साख समितियों मे विपणन समितियाँ, प्रोसेसिंग समितियाँ, सिंचाई समितियाँ, गन्ना-पूर्ति सहकारी समितियाँ, कृषि समितियाँ, सहकारी दुग्ध सघ आदि सम्मिलित हैं। गैर कृषि गैर-साख

समितियों के अन्तर्गत औद्योगिक सहकारी समितियाँ, बुनकर सहकारी समितियाँ, सहकारी चीनी मिलें, सहकारी उपभोक्ता भण्डार, सहकारी गृह-निर्माण समितियाँ सहकारी बीमा समितियाँ आदि सम्मिलित हैं।

इन समितियों में से यहाँ पर कुछ पर प्रकाश डाला जा रहा है

(३) **बहुउद्देशीय या सेवा सहकारी समितियाँ** (Multipurpose or Service Co-operatives)—ग्रामीण क्षेत्रों में कुछ विशेष प्रकार की समितियाँ पायी जाती हैं जो केवल एक ही प्रकार का कार्य नहीं करती बल्कि विभिन्न प्रकार के कार्य करती हैं। ऐसी समितियों को 'बहुउद्देशीय सहकारी समिति' कहते हैं। ग्रामवासियों को विभिन्न प्रकार की वस्तुओं सेवाओं तथा साख की आवश्यकता पड़ती है। एक ही समिति द्वारा इन सबकी व्यवस्था करने का प्रयत्न किया जाता है। ऐसी समिति को सेवा समिति भी कहते हैं।

(४) **उपभोक्ता सहकारी भण्डार**—उपभोक्ता भण्डारों के जन्मदाता रॉबर्ट ओवन तथा रॉचडेल के कुछ श्रमिक थे। इन्होंने इस उद्देश्य से सहकारी उपभोक्ता भण्डार स्थापित किये कि लोगों को सभी उपभोक्ता पदार्थ (अन्न चीनी, घी, मसाले, तेल आदि) शुद्ध और सस्ते मिल सकें। इन भण्डारों का प्रबन्ध सदस्यों में से चुने हुए कुछ व्यक्तियों की एक प्रबन्ध समिति करती है जो उपभोक्ता माल की खरीद तथा विक्रय की उचित व्यवस्था करने के लिए उत्तरदायी होती है। उपभोक्ता भण्डारों में प्राय भण्डार से माल खरीदने वाले व्यक्तियों को कुछ बोनस या छूट दी जाती है।

भारत में उपभोक्ता भण्डारों का जन्म द्वितीय युद्धकाल तथा उसके पश्चात नियन्त्रित तथा राशनिंग की हुई वस्तुओं की बिक्री के लिए हुआ। फलत चीनी, तेल, वस्त्र, अन्न तथा और बहुत सी वस्तुएँ इन भण्डारों के माध्यम से उपभोक्ताओं को बेची गयीं। १९५१-५२ में देश में ९७५७ उपभोक्ता सहकारी भण्डार थे जिनकी सदस्य-संख्या १८९ लाख थी। इनका वार्षिक व्यवसाय लगभग ८२ करोड़ रुपये के तुल्य था। उपभोक्ता पदार्थों पर से मूल्य नियन्त्रण तथा राशनिंग व्यवस्था हटा लेने पर बहुत से सहकारी भण्डार बन्द हो गये क्योंकि सहकारी भण्डार प्राय उधार माल नहीं देते और निजी व्यापारी उधार की सुविधा दे देते हैं। नवम्बर १९६२ में भारत की सीमाओं पर चीनी आक्रमण के फलस्वरूप उपभोक्ता वस्तुओं का उचित वितरण पुन आवश्यक हो गया अत सरकार ने २०० थोक भण्डार तथा ४००० प्राथमिक भण्डार स्थापित करने का निश्चय किया और देश के विभिन्न भागों में इन भण्डारों की स्थापना कर दी गयी।

जून १९६९ में देश में विभिन्न वर्गों के सहकारी उपभोक्ता भण्डारों की स्थिति निम्नलिखित थी

(१) थोक वस्तु भण्डारों की संख्या	३७१
(२) प्राथमिक एवं शाखा भण्डारों की संख्या	१४,०००
(३) सुपर बाजार ,, ,,	८०
(४) विश्वविद्यालय उपभोक्ता भण्डार	२८
(५) राज्यस्तरीय उपभोक्ता संघ	१४

भारत में उपभोक्ता सहकारी भण्डार केवल संकट अथवा अन्य किसी प्रकार की विशेष परिस्थिति में ही सफल हुए हैं। इसका कारण यह है कि इन भण्डारों का महत्त्व केवल नियन्त्रित अथवा राशन किये हुए माल का वितरण करने तक ही समझा गया है। यह उचित धारणा नहीं है। वास्तव में, उपभोक्ता सहकारी संगठन का उद्देश्य अपने सदस्यों को सभी प्रकार की वस्तुएँ शुद्ध और सस्ते मूल्यों पर उपलब्ध कराना है। देश में खाद्य पदार्थों में मिलावट व मुनाफाखोरी बहुत बढ़ गयी है अत सहकारी भण्डारों की आवश्यकता भी अधिक तीव्रता से अनुभव की जाती

चाहिए। इसके लिए जनमत को उपभोक्ता सहकारिता के पक्ष में तैयार करने की आवश्यकता है। यह काम उचित प्रचार, भण्डारों का कुशल प्रबन्ध तथा सदस्यों को अधिकाधिक सेवा द्वारा सम्पन्न किया जा सकता है। सहकारी भण्डारों की सफलता का अर्थ उपभोक्ता के शोषण का अन्त होता है अतः इस महान् कार्य की सफलता के लिए तपे हुए कर्मनिष्ठ व्यक्तियों को भण्डारों का प्रबन्ध भार देना चाहिए।

(५) औद्योगिक सहकारी समितियाँ (Industrial Co-operative Societies)—भारत में किसी समय कुटीर तथा लघु उद्योगों का बाहुल्य था किन्तु शनैः शनैः बड़े उद्योगों की स्पर्द्धा तथा सरकारी नीति के कारण अनेक ग्रामीण उद्योग धन्धे समाप्त हो गये। इन धन्धों की समाप्ति से कृषक और कृषि दोनों की ही आर्थिक स्थिति में दुर्बलता आयी है। छोटे छोटे कारीगरों के पास कच्चा माल, बिजली अथवा उत्पादन के अन्य उपकरण प्राप्त करने के लिए यथेष्ट रकम नहीं होती है। अतः उनमें से कुछ समझदार व्यक्तियों ने औद्योगिक सहकारी समितियाँ बनानी आरम्भ कर दी हैं। इस प्रकार की समितियों में हथकरघा बुनकरों की सहकारी समितियाँ तथा नारियल की जटा (छिलका) का सामान बनाने वाली समितियाँ विशेष उल्लेखनीय हैं।

तीन प्रकार—भारत के विभिन्न भागों में औद्योगिक सहकारी समितियों के तीन रूप देखने को मिलते हैं

(१) ऐसी समितियाँ जिनमें कारीगर माल का उत्पादन स्वयं करते हैं और केवल सुविधाओं के लिए (यथा—कच्चे माल की पूर्ति अथवा विक्रय) सहकारी समितियों के सदस्य बनते है।

(२) ऐसी समितियाँ जिनमें कारीगर उत्पादन विक्रय तथा अन्य सभी क्रियाएँ सामूहिक रूप में करते हैं। ऐसी समितियों में कारीगरों को वेतन अथवा पारिश्रमिक दिया जाता है और अन्त में शुद्ध लाभ का एक भाग दे दिया जाता है।

(३) तीसरी प्रकार की समितियों में कारीगर सम्पूर्ण उत्पादन क्रियाएँ अलग अलग करते हैं किन्तु मशीनें उपकरण आदि सहकारी समिति के अन्दर ही उपलब्ध होते हैं। इन उपकरणों के प्रयोग के बदले कारीगरों से कुछ शुल्क लिया जाता है।

सुविधाएं तथा अनुदान—औद्योगिक सहकारी समितियों को राज्य सरकारों अथवा खादी ग्रामोद्योग कमीशन से निम्नलिखित सहायता प्रदान की जाती है

(१) चालू पूंजी के लिए सस्ते ब्याज पर ऋण मिल सकता है।

(२) औद्योगिक समितियों के सदस्यों को समिति में अंश पूंजी खरीदने के लिए ऋण प्राप्त हो सकता है।

(३) प्रबन्ध व्यवस्था तथा उपकरणों के लिए अनुदान मिल सकते है।

(४) उच्चस्तरीय अधिकारियों की सेवाएँ प्राप्त करने के लिए उनके वेतन आदि की आंशिक राशि अनुदान में मिल सकती है।

(५) सहकारी बैंकों द्वारा औद्योगिक सहकारी समितियों को दिये जाने वाले ऋण की राज्य सरकार गारण्टी दे देती है।

प्रस्तुत विवरण से स्पष्ट है कि औद्योगिक समितियों को आवश्यक पूंजी प्राप्त करने तथा आवश्यक उपकरणों की व्यवस्था करने के लिए सरकार से काफी सहायता मिल जाती है। इतना ही नहीं, इन समितियों को कच्चा माल (सूत, लोहा, कोयला सोडा आदि) भी सस्ती दरों पर दिया जाता है और उसकी पूर्ति में समितियों को प्राथमिकता दी जाती है।

औद्योगिक सहकारी समितियों की प्रगति के मार्ग में सबसे बड़ी बाधा सरकारी प्रबन्ध व्यवस्था है क्योंकि अनेक बार समिति को लोहा, चद्दर, इस्पात अथवा अन्य किसी वस्तु का कोटा स्वीकृत हो जाता है किन्तु उसकी वास्तविक पूर्ति में बहुत देर लग जाती है। इस प्रकार बहु सी

बार कच्चा माल समय पर नहीं मिलता जिससे समिति को हानि हो जाती है। औद्योगिक समितियों को सहायता तथा अनुदान भी बहुधा समय पर नही मिलने जिससे उनके कार्य-सचालन मे अनेक कठिनाइयां उत्पन्न हो जाती हैं। वर्तमान मे औद्योगिक समितियों को मिलने वाली सहायता राज्य खादी और ग्रामोद्योग मण्डलो के माध्यम से मिलती है जिनकी व्यवस्था प्राय सभी राज्यो मे भ्रष्ट एव दोषपूर्ण है। इस समस्या पर गम्भीरतापूर्वक विचार कर औद्योगिक समितियों को दी जाने वाली आर्थिक सहायता का उचित नियमन एव सचालन करना बहुत आवश्यक है।

(६) श्रम एव निर्माण सहकारी समितियाँ—प्रथम योजना के समय से ही देश के ग्रामीण क्षेत्रो मे सिचाई तथा अन्य परियोजनाओ का ठीक सचालन करने के लिए श्रम हितकारी समितियों के सगठन पर बल दिया गया है। फलत पजाब, आन्ध्र प्रदेश तथा राजस्थान मे श्रम तथा ठेका समितियाँ सगठित की गयी हैं। यह समितियाँ अपने क्षेत्र में सचालित कृषि विकास योजनाओं पर होने वाले कुशल तथा अकुशल श्रम की व्यवस्था का ठेका ले लेती हैं। कालान्तर मे सारी परियोजनाओ (projects) मे श्रम की पूर्ति तथा व्यवस्था का भार सहकारी समितियो को सौपने की कल्पना की गयी है। इसका उद्देश्य यह है कि योजनाओं मे सीमेण्ट, चूना अथवा अन्य जो भी वस्तुएँ काम मे लायी जाती हैं, उनमे घटिया पदार्थों की मिलावट की आशका नही रहेगी जिससे नहरें और बाँध अच्छे और शक्तिशाली बन सकेंगे।

निर्धारित कार्य—श्रम तथा निर्माण सहकारी समितियो और स्वयसेवी सस्थाओ (भारत सेवक समाज आदि) को निम्नलिखित वर्गों के कार्य दिये जा सकते है

(क) सब प्रकार की सिचाई योजनाओं सम्बन्धी खुदाई का काम,

(ख) हल्की सिचाई योजनाओ मे निर्माण सम्बन्धी काम,

(ग) सड़कें बनाने का काम,

(घ) सामान्य सरकारी भवन, जैसे—छात्रावास कार्यालय, आवास भवन, विद्यालय तथा ग्रामीण विकास कार्यो सम्बन्धी भवन निर्माण का काम।

(ङ) भवन निर्माण सम्बन्धी सामान, जैसे—पत्थर, मिट्टी अथवा अन्य वस्तुओं की नियमित पूर्ति का काम।

प्राथमिकता तथा सुविधाएँ—सरकार यह जानती है कि सामान्यत सहकारी श्रम सस्थाएँ निर्माण कार्य लेने मे निजी ठेकेदारो से स्पर्द्धा नही कर सकतीं अत निर्माण कार्यों का कुछ अश *सहकारी समितियो के लिए रिजर्व कर दिया जाता है। दूसरी बात यह है कि इन समितियो को* काम सौपने से पूर्व इनसे गारण्टी ले ली जाती है कि यह निश्चित समय पर निर्धारित काम पूरा करेंगी।

इतना ही नहीं जिन समितियो को निर्माण कार्य दिये जाते हैं उन्हे कुछ विशेष सुविधाएँ भी देने की व्यवस्था की जाती है, जो निम्नलिखित हैं

(क) समितियो को निर्माण खाते मे अग्रिम रकम दी जा सकती है।

(ख) अन्य ठेकेदारो की तुलना मे समितियो को सब बातो मे प्राथमिकता दी जाती है।

(ग) समितियो को प्राविधिक विशेषज्ञों की सेवाएँ उपलब्ध करायी जाती हैं ताकि वह उन्हे सौपे गये निर्माण कार्य को कुशलतापूर्वक कर सकें।

(घ) समितियो को चालू पूंजी तथा उपकरण खरीदने के लिए ऋण दिये जा सकते हैं।

(७) भवन निर्माण सहकारी समितियाँ (Housing Co operatives)—भारत मे जनसख्या की वृद्धि तथा आर्थिक विकास के कारण नगरो और कस्बो मे मकानो की माँग बहुत तेजी से बढ रही है। इस माँग को पूरा करने के लिए प्राय सभी नागरिक क्षेत्रो मे नयी बस्तियाँ बसायी गयी है परन्तु इन बस्तियो मे भवन निर्माण करने के लिए प्रचुर धन की आवश्यकता होती है।

मध्यवर्गीय अथवा नौकरी-पेशा लोगों के प स इतनी पूंजी नहीं होती कि वह अपने साधनों से मकान बनवा सकें अत भवन निर्माण सहकारी समितियां बनाने का कार्य आरम्भ कर दिया गया है।

इन समितियों की सदस्यता किसी क्षेत्र विशेष के सभी नागरिक प्राप्त कर सकते हैं। सरकार अथवा नगर सुधार ट्रस्ट भूमि के प्लाट देते समय इन समितियों को प्राथमिकता देते हैं। यह भूमि सदस्यों को किसी निश्चित क्रम में बांट दी जाती है। तत्पश्चात् उन भूमि-खण्डों पर भवन-निर्माण करने के लिए ऋण देन की व्यवस्था भी की जाती है ताकि मकान शीघ्रतापूर्वक बन सके। इन ऋणों की वसूली सुविधाजनक किस्तों मे कर ली जाती है। इस प्रकार सहकारी भवन निर्माण समितियां सामान्य वर्ग की जनता द्वारा भवन निर्माण मे बहुत सहायक होती हैं।

भारत मे प्रगति—भारत म १३,८१६ भवन निर्माण समितियां हैं जिनकी सदस्य-संख्या ८ लाख है। भारत म भवन निर्माण मे सहायता देने सम्बन्धी अनेक योजनाएँ चालू हैं। एक योजना के अनुसार औद्योगिक श्रमिकों द्वारा मकान बनाने के लिए उन्हे कुल लागत की २५ प्रतिशत रकम अनुदान के रूप में दी जाती है। निम्न आय वर्ग की भवन-निर्माण योजना (Low Income group Housing Scheme) के अन्तर्गत सहकारी समितियों को सरकारी भूमि देने मे प्राथमिकता दी जाती है तथा निजी भूमि प्राप्त करने के लिए सहायता दी जाती है। ग्रामीण भवन निर्माण योजना के अन्तगत चुने हुए गाँवो मे सहकारी समितियां बनाना तथा उनके द्वारा ईंटें, मकानों की खिड़कियाँ और दरवाजे तथा अन्य वस्तुएँ निर्मित करने के लिए ऋण तथा अनुदान दिये जाते हैं।

वस्तुत इन सब योजनाओं का समुचित उपयोग किया जाय तो देश के सभी भागों मे नागरिकों की आवास सम्बन्धी समस्याओं का शीघ्रतापूर्वक समाधान हो सकता है।

(८) **अन्य समितियां**—ऊपर बतायी गयी सहकारी समितियों के अतिरिक्त देश मे अनेक प्रकार की अन्य समितियां भी स्थापित हो गयी है। इनमे सिचाई समितियाँ (Irrigation Societies) बुनकर समितिया (Weavers Societies), मछुआ की समितियाँ (Fishermen's Co operatives), बीमा सहकारी समितियाँ, दुग्ध वितरण करने वाली समितियाँ आदि प्रमुख हैं।

६. सहकारिता सम्बन्धी राष्ट्रीय-स्तर के संघ
(NATIONAL LEVEL FEDERATION OF THE COOPERATIVE INSTITUTIONS)

भारत म सहकारी आन्दोलन के ढाचे पर प्रकाश डाला जा चुका है। गत वर्षों म कुछ राष्ट्रीय-स्तर के सहकारी संघो का गठन किया गया है जो अपने अपने क्षेत्र मे सहकारी आन्दोलन के विकास म महत्त्वपूर्ण योग प्रदान कर रहे हैं। इन संघों मे निम्नलिखित उल्लेखनीय हैं

क्र० स०	नाम	उद्देश्य/कार्य क्षेत्र
१	नेशनल कोआपरेटिव यूनियन आफ इण्डिया	सहकारी आन्दोलन का विकास सहकारी क्षेत्र का विकास सहकारी शिक्षा
२	आल इण्डिया स्टेट कोआपरेटिव बैंक्स फेडरेशन	सहकारी बैंकिंग
३	दी आल इण्डिया सण्ट्रल लैण्ड डेवलपमेंट बैंक्स कोआपरेटिव यूनियन लिमिटेड	भूमि बन्धक बैंकों का विकास
४	नेशनल फेडरेशन ऑफ कोआपरेटिव शुगर फैक्टरीज लिमिटेड	सहकारी चीनी मिलों का विकास
५.	नेशनल कोआपरेटिव कन्जूमर्स फैडरेशन	उपभोक्ता सहकारिता
६	नेशनल एग्रीकल्चरल कोआपरेटिव मार्केटिंग फेडरेशन लिमिटेड	सहकारी विपणन
७	नेशनल फेडरेशन ऑफ इण्डस्ट्रियल कोआपरेटिव लिमिटेड	औद्योगिक सहकारिता
८	नेशनल कोआपरेटिव डेवलपमेण्ट कारपोरेशन	सहकारी आन्दोलन

ये सघ अखिल भारत-स्तर पर कार्यशील हैं। राष्ट्रीय स्तर के इन सघो द्वारा सहकारिता आन्दोलन का तेजी से विकास करने मे मदद मिल रही है। इन सघो मे अन्तिम सघ पर प्रकाश डाला जा रहा है।

७ राष्ट्रीय सहकारी विकास निगम
(NATIONAL COOPERATIVE DEVELOPMENT CORPORATION)

इस निगम की स्थापना मार्च १९६२ म की गयी। (वस्तुत यह निगम National Co-operative Development and Warehousing Board क स्थान पर सगठित किया गया है, जिसकी स्थापना का सुझाव अखिल-भारतीय ग्रामीण साख सर्वेक्षण समिति ने दिया था)।

(क) प्रमुख कार्य—(i) सहकारिता के माध्यम से उत्पादन विपणन, सग्रह, आयात, निर्यात, प्रोसेसिंग आदि का विकास करना है। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए निगम राज्य सरकारो को सहकारी सस्थाओ के विकास के लिए ऋण तथा अनुदान प्रदान करता है। (ii) केन्द्रीय सरकार की ओर से राज्य सरकारो को सहकारी समितियो के लिए वित्तीय व्यवस्था करना, जिससे वे कृषि तथा अन्य वस्तुओ का क्रय कर सकें। (iii) कृषि उत्पादन मे वृद्धि के लिए सहकारी समितियो के माध्यम से बीज, खाद कृषि उपकरण तथा अन्य वस्तुओ की पूर्ति के लिए योजना बनाना तथा उन्हे क्रियान्वित करना।

(ख) प्रबन्ध—यह निगम एक स्थायी आयोग के रूप म कार्य करता है। इसमे सचालक मण्डल' नहीं होता। 'निगम' तथा 'प्रबन्ध समिति उसकी प्रमुख प्रशासनिक तन्त्र है।

(ग) वित्तीय व्यवस्था—केन्द्रीय सरकार निगम को वित्तीय सहायता देती है या समयानुसार ऋण व अतिरिक्त अनुदान भी देती है।

(घ) प्रगति—मार्च १९६९ तक इस निगम ने लगभग १०० करोड रुपया प्रदान कर, सहकारिता के विकास मे महत्वपूर्ण योग दिया। इसके द्वारा दी गयी राशि मुख्यत सहकारी गोदामो के निर्माण, उपभोक्ता भण्डारो की स्थापना, कृषि साख, उत्पादन तथा सहकारी बिक्री सम्बन्धी सस्थाओ को दी गयी है।

८. भारत मे सहकारी आन्दोलन की असफलता

भारत मे सहकारी आन्दोलन का सूत्रपात लगभग ६५ वर्ष पूर्व हुआ था। इतनी लम्बी अवधि के पश्चात् भी सहकारिता की भावना जनता क अन्तस्तल म प्रविष्ट नहीं हो पायी है और लोगो मे सहकारी आन्दोलन के प्रति आस्था का सर्वथा अभाव दिखायी देता है। सम्भवत इसी कारण ग्रामीण क्षेत्रो मे साहूकार का प्रभुत्व बना हुआ है। इस सम्बन्ध मे विशेष उल्लेखनीय बात यह है कि सरकार प्राय सहकारी समितियो को सख्या स आन्दोलन की सफलता का अनुमान लगाती है परन्तु कुछ रजिस्टर्ड सहकारी सस्थाओ का एक बहुत बडा अश (४०-५० प्रतिशत) या तो निष्क्रिय है या बहुत बुरी दशा मे है। इन सब परिस्थितियो के आधार पर ही ग्रामीण साख सर्वेक्षण समिति ने यह मत व्यक्त किया था कि **भारत में सहकारिता असफल हो गयी है**। इस असफलता के कुछ महत्वपूर्ण कारणो पर हम कृषि साख नामक अध्याय मे प्रकाश डाल चुके हैं अत यहां उनका सक्षिप्त विवेचनमात्र किया जायेगा।

(१) सहकारी आन्दोलन—भारतीय सहकारी आन्दोलन मूलत सरकारी आन्दोलन है। इस सम्बन्ध मे अखिल भारतीय ग्रामीण साख सर्वेक्षण समिति ने अपना मत इन शब्दो मे प्रकट किया है:

> 'Co-operation is like a plant held in position with both hands by the Government because its roots refuse to enter the soil"

इसका प्रमाण इस बात से मिलता है कि सहकारी समितियो की स्थापना के लिए सहकारी विभाग के अधिकारी अधिक उत्सुक रहते हैं। सरकार अथवा सहकारी विभाग द्वारा सहकारी समि-

तियों की स्थापना के लक्ष्य निर्धारित किये जाते हैं, जिनकी पूर्ति के लिए सरकारी विभाग के कर्मचारियों को ऐड़ी से चोटी तक का जोर लगाना पड़ता है। इस प्रकार सहकारी अंश पूंजी और अनुदान के लालच में आकर तथा सरकारी विभाग के अधिकारियों के दबाव के कारण समितियाँ बन तो जाती हैं परन्तु विश्वास के अभाव में उनका चलना असम्भव हो जाता है।

आन्दोलन की शिथिलता का एक कारण यह भी है कि सरकार पर अत्यधिक निर्भर रहने के कारण सहकारी संस्थाओं में वास्तविक बल पर नहीं आ सका है जिसके फलस्वरूप सहकारिता ने भारतीय जब अवस्था के अस्वस्थ शिशु का रूप धारण कर लिया है जिसे सम्भवतः अनिश्चित काल तक सरकार द्वारा पालन देना पड़ेगा। यह एक अत्यन्त गम्भीर स्थिति है।

अत्यधिक सरकारी हस्तक्षेप तथा पोषण का एक प्रभाव यह भी पड़ा है कि सहकारी संस्थाओं का विकास व्यवस्था की अकुशलता के कारण कुण्ठित रहता है। राज्य सरकारों के सहकारी विभागों को यदि असहयोगी विभाग कहा जाय तो सम्भवतः अतिशयोक्ति नहीं होगी। उदाहरणार्थ, सम्पूर्ण सहकारी संस्थाओं का अंकेक्षण सहकारी विभाग द्वारा किया जाना अनिवार्य है। यहाँ तक तो ठीक है परन्तु अनेक समितियों का अंकेक्षण वित्तीय वर्ष समाप्त होने के साल भर बाद तक नहीं होता जिससे वह वार्षिक सभा नहीं बुला सकतीं और समिति के उत्साही कार्यकर्ताओं का जोश ठण्डा पड़ जाता है।

उपर्युक्त बातों के अतिरिक्त सहकारी विभागों से समितियों को जो अनुदान या अन्य प्रकार की सहायता मिलती है वह अत्यधिक उलझन भरी होती है, उसमें अनेक कागज-पत्रों को भरना आवश्यक होता है और उनके सम्बन्ध में निर्णय लेने की क्रिया बहुत जटिल होती है। फलतः सहकारी समितियों को आवश्यक सहायता प्रायः समय पर नहीं मिलती और जब मिलती है तब तक प्रबन्ध में प्रबल उत्साही व्यक्तियों का धैर्य भी समाप्त हो जाता है।

(२) राजनैतिक हस्तक्षेप—गत वर्षों में सहकारी आन्दोलन मुख्यतः राजनीतिक व्यक्तियों के हाथ में चला गया है और यह इस आन्दोलन के विनाश की दुःखमय पूर्व सूचना है। इसका कारण यह कि राजनीतिज्ञों के हस्तक्षेप के कारण न केवल ऋण एवं सहायता देने में घोर पक्षपात होता है बल्कि अनेक अवाञ्छनीय समितियाँ स्थापित हो जाती हैं जिनके माध्यम से जनता का नहीं बल्कि कुछ शक्तिशाली व्यक्तियों का हित-साधन होता है। सरकारी प्रबन्ध में इन राजनीतिज्ञों के प्रभाव के कारण ऐसी समितियों के विरुद्ध कोई कार्यवाही करना सम्भव नहीं है।

राजनीतिज्ञों के हस्तक्षेप का दूसरा प्रभाव यह हुआ है कि सहकारी समितियों में बहुत भ्रष्टाचार आ गया है। फलतः आन्दोलन की वाञ्छित उपादेयता में भी समाज के अच्छे लोगों का विश्वास हटता जा रहा है।

(३) अकुशलता—भारतीय सहकारी संगठन में वह सब दोष व्याप्त हैं जो किसी भी सरकारी कार्यालय के प्रबन्ध में होते हैं। उदाहरणार्थ सहकारी समितियाँ ऋण देने में बहुत समय लगाती हैं, ऋणों की वसूली ढीली है, उत्पादन की उचित योजना नहीं बनायी जाती, माल की विक्रय-व्यवस्था यथोचित नहीं है तथा अनेक समितियों के हिसाब-किताब रखे ही नहीं जाते या बहुत दोषपूर्ण हैं। इन सब बातों से भारतीय सहकारी संगठन में निहित अकुशलता एवं अव्यवस्था का अनुमान हो सकता है। ऐसी स्थिति में उनकी सफलता की कैसे आशा की जा सकती है?

(४) विश्वास का अभाव—सहकारी आन्दोलन में सरकार का अत्यधिक हस्तक्षेप होने पर जनता तो यह समझती है कि सहकारी संगठन के प्रति उनका कर्तव्य नहीं है दूसरी ओर सहकारी विभाग के वेतनभोगी अधिकारी (अथवा कर्मचारी) भी अपना काम यन्त्रवत् करते हैं। संगठन में व्याप्त भ्रष्टाचार तथा अकुशलता के कारण अत्यन्त ईमानदार एवं कार्यशील कर्मचारी भी अकर्मण्य हो गये हैं। इस प्रकार सहकारी संगठन में न जनता की आस्था है, न विभागीय अधिकारियों का

विश्वास । अत संगठन का आन्तरिक ढांचा विस्तृत तो बहुत हो गया है परन्तु वह सर्वथा खोखला है। ऐसी स्थिति में अशिक्षित एवं ज्ञानरहित जनता को सहकारिता की जीवनदायिनी शक्ति के प्रति कैसे आश्वस्त किया जा सकता है ?

(५) **दोषपूर्ण संगठन**—भारतीय सहकारी आन्दोलन कहीं-कहीं तो ऐसे व्यक्तियों के हाथ में चला गया जिनके हाथ से किसानों और कारीगरों को बचाने के लिए इसका जन्म हुआ था। अनेक कृषि साख समितियों और औद्योगिक समितियों के पदाधिकारी बड़े बड़े साहूकार या नगरों के प्रभावशाली व्यक्ति हैं जिनसे ग्रामीणों के किसी भी लाभ की कल्पना करना ऊँट को सुई के छेद में से निकालने के समान है। यह लोग धन अथवा अन्य किसी प्रभाव के बल पर समितियों से धन, कच्चे माल तथा अनेक प्रकार का लाभ उठाते रहते हैं।

(६) **सामन्तशाही एवं संकीर्णता**—देश के बहुत से भागों में सहकारी संगठन पर किसी जाति, वर्ग अथवा विश्वास के व्यक्तियों ने अधिकार जमा लिया है और वह ग्रामों को जाति-भेदभाव अथवा धर्मान्धता की संकीर्ण शृंखलाओं से मुक्त करने की बजाय इनकी जड़ें मजबूत बनाते जा रहे हैं। अनेक क्षेत्रों में सहकारी समितियों में केवल एक जाति अथवा वर्ग विशेष के व्यक्ति ही नौकरी पा सकते हैं या अन्य लाभ उठा सकते हैं। इस राष्ट्रघातक प्रवृत्ति के प्रभावस्वरूप सहकारी संगठन एक खिलौना मात्र बन गया है और समाज के अधिकांश व्यक्ति इसे अवांछनीय तत्वों का पथप्रदाता समझने लगे हैं।

उपसंहार—उपर्युक्त तथ्यों से भारतीय सहकारी आन्दोलन में व्याप्त गम्भीर दोषों की एक झलक मिलती है। **सहकारी व्यवस्था संसार की श्रेष्ठतम प्रजातन्त्रीय व्यवस्था है** किन्तु इसका संचालन भी श्रेष्ठ एवं सुयोग्य व्यक्तियों द्वारा ही होना चाहिए, तभी इसकी सफलता की आशा की जा सकती है। सरकारी प्रबन्ध-व्यवस्था को सुधारना निश्चय ही बहुत कठिन है परन्तु सहकारिता को सरकारी प्रभाव से मुक्त करना इतना कठिन नहीं है। दूसरी बात सहकारिता को राजनीतिज्ञों के प्रभाव से मुक्त कराने की है। इस कार्य को धीरे धीरे करना उचित होगा। वस्तुतः 'सहकारी आन्दोलन' से वास्तविक लाभ भूस्वामियों, पुराने सामन्तों तथा चन्द स्वार्थी, शोषक व धनी तत्वों ने ही उठाया या इस आन्दोलन का दुरुपयोग किया है।

वस्तुतः भारतीय सहकारी संगठन को सरकार तथा राजनीतिज्ञों की सामन्तशाही से मुक्त कर जनता के हाथ में देना होगा। सहकारिता का रक्तबीज भारतीय शरीर में अनुप्राणित है परन्तु उस प्राणशक्ति में चेतना संचारित करने के लिए रेफेज़न या रामदास पंतुलु जैसे कर्मवीर खोजने पड़ेंगे। इससे हल्के उपाय इस जर्जर शरीर पर सर्वथा प्रभावहीन होंगे, यह एक कटु सत्य है जिसे सहकारिता का कोई भी उपासक भुला नहीं सकता।

20 सामुदायिक विकास कार्यक्रम

(COMMUNITY DEVELOPMENT PROGRAMME)

"Community development programme which did appear to offer the substance of nourishment to the long-famished farmers received the encomium both in India and abroad, surpassing by far anything that happened in recent times."
—S. K. Dey

भारत एक ग्रामों का देश रहा है और बहुत कुछ आज भी है। जिस समय अन्य देश आर्थिक विकास की दौड़ में औद्योगिक संस्कृति से उन्नत होकर विपुल वैभव तक पहुँच गये, भारतीय कृषि तथा उद्योग प्राचीन कृषि परम्पराओं से चिपके रहे। उधर शताब्दियों की दासता, बढ़ती हुई जनसंख्या तथा पाश्चात्य प्रभाव के प्रति नयी-नयी आवश्यकताओं ने देश की घी-दूध की नदियों का शोषण कर लिया और भारत का समृद्ध किसान क्रमशः निर्धन और अशक्त होता चला गया।

१ प्रारम्भिक प्रयत्न

वर्तमान शताब्दी में प्रारम्भ से ही किसानों के पुनरुत्थान के लिए विचार किया गया है और समय-समय पर अनेक विभिन्न समितियों ने कृषि तथा कृषक के विकास के उपाय सुझाये हैं। इतना ही नहीं, कुछ व्यक्तियों ने ग्रामीण विकास की निश्चित योजना पर कार्य भी किया है। इनमें गांधीजी ने सेवाग्राम, रवीन्द्रनाथ टैगोर ने शान्ति-निकेतन, स्पेन्सर हैच ने मार्तण्डम तथा एफ० एल० ब्रायन ने पंजाब के गुड़गाँव जिले में ग्रामीण विकास की योजनाओं सम्बन्धी प्रयोग किये। सरकार द्वारा आरम्भ किया गया अधिक अन्न उपजाओ आन्दोलन भी ग्रामीण विकास की दिशा में ही एक कदम था।

राजकोषीय आयोग—सन् १९४९ में भारत ने एक राजकोषीय (Fiscal) आयोग नियुक्त किया जिसने अपनी रिपोर्ट में इस बात पर जोर दिया कि भारत में कृषि योजनाएँ और उत्पादन क्रियाओं में सहयोग एवं सामंजस्य होना चाहिए ताकि इंग्लैण्ड तथा अमरीका की भाँति भारत में भी शोध का लाभ उठाकर देशों के विकास की गति तीव्र की जा सके। इस कार्य के लिए आयोग ने एक राष्ट्रीय विस्तार सेवा आरम्भ करने का सुझाव दिया।

अधिक अन्न उपजाओ जाँच समिति—जून १९५२ में अधिक अन्न उपजाओ जाँच समिति ने अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत की और उसने ग्राम्य विकास के लिए महत्त्वपूर्ण योजनाएँ प्रस्तुत कीं जिन्हें योजना आयोग तथा सरकार ने स्वीकार कर लिया। यह सिफारिशें निम्नलिखित थीं :

(१) देश में राष्ट्रीय विस्तार आन्दोलन (National Extension Movement) प्रारम्भ किया जाना चाहिए, जो १० वर्ष में सारे भारत में फैल जाए।

(२) समिति ने मत प्रकट किया कि राज्य, जिला तथा ग्राम्य स्तर पर ऐसा सरकारी तथा गैर-सरकारी सगठन बनाना चाहिए जो ग्राम्य विकास योजनाओं के अनुकूल हो।

(३) राज्यों मे विस्तार सेवा के लिए केन्द्र द्वारा आर्थिक सहायता दी जानी चाहिए।

समिति का यह मत था कि भारत मे भी अमरीका इगलैण्ड तथा अन्य देशों की भाँति एक ऐसा सगठन स्थापित हो जाना चाहिए जो प्रत्यक किसान को ग्रामीण विकास की योजनाओ मे सहयोग की प्रेरणा दे सके।

सामुदायिक कार्यक्रम का प्रारम्भ—अधिक अन्न उपजाओ जाँच समिति की सिफारिशो के अनुसार मई १९५२ मे सामुदायिक विकास योजनाएँ आरम्भ करने का निश्चय किया गया। तदनुसार १९५२ में राष्ट्रपिता महात्मा गाँधी की जन्मतिथि २ अक्टूबर से सम्पूर्ण देश के ५५ क्षेत्रों मे सामुदायिक विकास कार्यक्रम प्रारम्भ कर दिये गये। श्री डे के अनुसार १९६० तक भारत की सम्पूर्ण ग्रामीण जनता को सामुदायिक विकास कार्यक्रम के अन्तर्गत लाने का लक्ष्य रखा गया था परन्तु अनेक कठिनाइयो के कारण इस लक्ष्य को १९६३ के अन्त तक के लिए टालना पडा।

२. सामुदायिक विकास का अर्थ तथा उद्देश्य

भारतीय सस्कृति का एक महत्वपूर्ण मूलमन्त्र **सर्वजन हिताय सर्वजन सुखाय** रहा है जिसका तात्पर्य यह है कि प्रत्येक कार्य सबके हित और सबके सुख के लिए होना चाहिए। सामुदायिक विकास योजनाएँ इस मान्यता का नवीन सस्करण है। प्राचीन भारत मे ग्रामो की जनता मिल-जुल कर काम करने की अभ्यस्त थी। यह अभ्यास शताब्दियों की दासता के कारण छूट गया था। सामुदायिक योजना उस भूले हुए पाठ को पुन स्मरण कराने का प्रयत्न मात्र है।

सामुदायिक विकास योजना का तात्पर्य है, समुदाय के विकास का कार्यक्रम जिसके अन्तर्गत ग्रामीण क्षेत्रों के सभी लोग मिल-जुलकर अपने सामाजिक, आर्थिक, नैतिक तथा शैक्षणिक विकास का प्रयत्न करते हैं। भारत के सामुदायिक विकास मन्त्री श्री एस० के० डे के शब्दो मे सामुदायिक विकास मे **कृषि, पशुपालन, सिचाई, सहकारिता, सार्वजनिक स्वास्थ्य, शिक्षा, सामाजिक उत्थान, सन्देशवाहन, ग्राम्य पचायत तथा जीवन के वह सब महत्वपूर्ण तत्व सम्मिलित हैं जिनका सम्बन्ध भारतीय जन-समूह के ८२ प्रतिशत भाग (ग्रामीण) से है।**

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि सामुदायिक विकास का तात्पर्य ग्रामीण जनता के सर्वांगीण *अथवा सर्वतोमुखी विकास से है जिसके फलस्वरूप देश का पिछड़ा* हुआ ग्रामीण एक पूर्णकाय, सबल एव सुशिक्षित नागरिक बन सके। वस्तुत प्रजातन्त्र का भार जब तक ऐसे नागरिको के कन्धे पर नही होगा, उसकी सफलता सर्वथा सदिग्ध बनी रहेगी।

सामुदायिक विकास के उद्देश्य—*भारत मे सामुदायिक विकास कार्यक्रम* के प्रमुख सलाहकार फोर्ड फाउण्डेशन के प्रतिनिधि **डॉ० डगलस एन्स्मिन्जर** के कथनानुसार सामुदायिक योजना के मुख्य उद्देश्य निम्नलिखित हैं[1]

(१) दृष्टिकोण में परिवर्तन—*भारत का ग्रामीण वश* परम्परा से भाग्यवादी, अन्धविश्वासी एव रूढिवादी है। फलत वह अपने जीवन के प्रति सर्वथा निराश एव निष्क्रिय रहता है। उसे न तो अपने परिवार की शिक्षा-दीक्षा की चिन्ता है, न अपने जीवन स्तर मे क्रान्तिकारी परिवर्तन करने की आकाक्षा है। इस प्रकार का मृतप्राय व्यक्ति किसी भी समाज अथवा राष्ट्र के लिए गौरव का विषय नहीं हो सकता। सामुदायिक विकास योजनाओं का उद्देश्य ग्रामो के निष्क्रिय एव जीवहीन व्यक्तियो को अपने तथा अपने समाज और राष्ट्र के सजग प्रहरी बनाना है।

---

1 *A Guide to Community Development*, pp 3-5

(२) सबल एवं प्रभावशाली नेतृत्व—भारत के ग्रामों में जड़वाद एवं रूढ़ियों के प्रसार के कारण कोई भी कार्य आरम्भ करने में उचित नेतृत्व का अभाव रहता है। अतः किसी भी प्रकार की विकास योजना को सफल बनाने के लिए ग्रामों से ही शक्तिशाली नेतृत्व प्राप्त करना होगा। सामुदायिक विकास कार्यक्रम के अन्तर्गत ग्रामों में ग्रामीणों द्वारा संचालित पंचायतें, सहकारी समितियाँ, विद्यालय, युवक संघ महिला संगठन, कृषक संगठन, अथवा मनोरंजन क्लब स्थापित करने की व्यवस्था है, ताकि इन संगठनों का काम करने वाले व्यक्तियों को समाज-कल्याण सम्बन्धी सभी दिशाओं में यथोचित अनुभव प्राप्त हो सके और वह राष्ट्र निर्माण के सभी कार्यों में नेतृत्व-पूर्ण योग देने में समर्थ हो सकें।

(३) जन-सहयोग—यह सत्य है कि किसी भी योजना की सफलता के लिए सुयोग्य एवं शक्तिशाली नेतृत्व की आवश्यकता होती है परन्तु अनेक बार श्रेष्ठतम योजनाएँ भी जन-सहयोग के अभाव में असफल हो जाती हैं। भारत में यह आशंका और भी अधिक है। सामुदायिक कार्यक्रम का उद्देश्य ग्रामीण जनता में आत्मविश्वास उत्पन्न कर योजनाओं के पक्ष में उत्साहजनक वातावरण उत्पन्न करना है। वस्तुतः इस कार्यक्रम के द्वारा लोगों को विकास कार्यों में उत्साहपूर्ण सहयोग देने की आदत डाली जा रही है, ताकि वह बड़ी-बड़ी योजनाओं को भी सक्रिय योगदान देकर सफल बना सकें।

(४) आय में वृद्धि—भारतीय किसानों पर गत वर्षों में नागरिक सभ्यता का काफी प्रभाव पड़ा है, जिसके फलस्वरूप उनकी भोजन, वस्त्र, शिक्षा, स्वास्थ्य सेवाओं आदि सम्बन्धी आवश्यकताएँ बढ़ी हैं अतः उनकी आमदनी बढ़ाने के प्रयत्न करना आवश्यक है, इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए कृषि व्यवसाय में नयी रीतियाँ अपनाकर उसका सुधार करना आवश्यक है। इसके अतिरिक्त ग्राम में ही संचालित किए जा सकने लायक लघु उद्योगों की स्थापना भी करनी चाहिए ताकि ग्रामीण जनता को अधिक रोजगार मिल सके। सामुदायिक विकास योजना कृषि की नवीनतम पद्धतियों के प्रचार एवं प्रदर्शन द्वारा उत्पत्ति बढ़ाने में सहयोग दे रही है तथा लघुकाय उद्योगों की स्थापना एवं विकास के लिए प्रोत्साहन प्रदान कर रही है।

(५) युवकों को प्रशिक्षण—सामुदायिक विकास योजनाओं का उद्देश्य भारत के ५.५८ लाख ग्रामों को विकेन्द्रित प्रजातन्त्रों के रूप में कार्य करने में सक्षम बनाना है। ऐसा करने के लिए सामुदायिक कार्यक्रमों में ग्रामीण नवयुवकों को विकास के विभिन्न कार्यों से सम्बद्ध कर प्रशिक्षण दिया जा रहा है ताकि वह ग्रामीण आर्थिक विकास में अधिकाधिक उपयोगी सिद्ध हो सकें।

(६) परिवारों को सहायता—सामुदायिक विकास तथा अन्य योजनाओं द्वारा किसान की आय बढ़ने पर यह भी आवश्यक है कि उसे बढ़ी हुई आय का सदुपयोग करने के लिए प्रेरणा एवं मार्ग-दर्शन दिया जाय। इस सम्बन्ध में सामुदायिक विकास योजनाएँ ग्रामीणों को भोजन, वस्त्र, आवास, मनोरंजन तथा धार्मिक आवश्यकताओं के विषय में नियमित सलाह देती हैं और उन्हें उचित प्रकार का जीवन-स्तर निर्माण करने में योगदान देती हैं।

(७) अध्यापक और विकास योजनाएँ—डॉ० एन्स्मिन्जर का मत है कि सामुदायिक योजनाओं की सफलता के लिए ग्राम के अध्यापक द्वारा इन योजनाओं में रुचि लेना बहुत आवश्यक है। अतः गाँव के अध्यापक का सामाजिक एवं आर्थिक स्तर ऊँचा उठाने की आवश्यकता है। इस दृष्टि से सामुदायिक योजनाओं का एक महत्त्वपूर्ण कार्य ग्राम के अध्यापक को समाज की प्रगति की बागडोर अपने हाथ में लेने योग्य बनाना है। इसलिए अध्यापक को प्रशिक्षण भी दिया जा रहा है और उसे ग्रामीण विकास में सामाजिक गुरु का महत्त्वपूर्ण भार सौंपने का प्रयत्न किया जा रहा है।

(८) स्वास्थ्य सुधार—सामुदायिक विकास योजनाओं के माध्यम से ग्रामों में स्वच्छता के महत्त्व का प्रचार किया जा रहा है। इस कार्य की सफलता के लिए पीने के लिए शुद्ध जल की

व्यवस्था करना, सब प्रकार की गन्दगी को यथोचित रूप से काम में लेना, ग्रामों में महामारियों से रक्षा के उपाय करना तथा घरों में बिना धुएँ के चूल्हे बनाना आदि ऐसे कार्य हैं जिन्हें सामुदायिक योजनाओं के माध्यम से सम्पन्न किया जा रहा है।

वर्तमान समय में सामुदायिक विकास कार्यक्रम में केवल कृषि विकास को प्राथमिकता दी गयी है। अतः अब इस कार्यक्रम का मुख्य उद्देश्य कृषि-विकास है। अब यह माना जाने लगा है कि ग्रामीण भारत का उद्धार कृषि-उत्पादन में वृद्धि द्वारा ही हो सकता है।

३. सफलता के लिए आवश्यक तत्त्व

(१) **आधारभूत प्रजातन्त्र (पंचायत)**—सामुदायिक विकास योजनाओं की अधिकाधिक सफलता के लिए ग्रामों में लोकतन्त्र की भावना का यथेष्ट विकास होना चाहिए। इसका तात्पर्य यह है कि ग्राम पंचायतें स्वतन्त्र एवं क्रियाशील संस्थाएँ होनी चाहिए जिनके सदस्यों का चुनाव जाति, धर्म अथवा अन्य किसी दूषित भेदभाव के बिना केवल योग्यता एवं कार्यशीलता के आधार पर हुआ हो। ऐसा होने पर पंचायतें ग्रामीण विकास की आवश्यकताओं को उभार कर सामुदायिक विकास अधिकारियों की सहायता से उन्हें पूरा करने की चेष्टा करेंगी।

(२) **सहकारी समितियाँ**—ग्राम पंचायतों का मुख्य उद्देश्य देश के सामाजिक एवं राजनीतिक ढाँचे को नितान्त कुरीतियों से बचाकर उदार राष्ट्रीयता की ओर मोड़ना है। इस दैनिक कार्य के आर्थिक पक्ष की पूर्ति करने के लिए गाँव गाँव में सबल एवं जीवनदायिनी सहकारी समितियाँ होनी चाहिए जिनमें गाँव के लोगों की शोषण विरोधी जागरूकता मूर्तरूप में स्फुटित हो रही हो। सहकारी समितियाँ पंचायतों के माध्यम से वह सब काम सम्पन्न करने में सहायता करेंगी, जिनका प्रचार एवं समायोजन सामुदायिक योजनाओं द्वारा किया जा रहा है। अतः देश का प्रत्येक ग्रामीण किसी न किसी सहकारी समिति का सदस्य होना चाहिए।

(३) **ग्राम्य विद्यालय**—उपर्युक्त दोनों कार्यों में सहयोग देने के लिए प्रत्येक गाँव में एक सर्व-सुलभ विद्यालय होना चाहिए, जिसमें छोटा-सा उद्यान, अध्यापक के निवास के लिए स्वच्छ भवन तथा गाँव के लोगों की सभाओं के लिए एक विस्तृत प्रांगण हो। इस विद्यालय में प्रातः-सायं बाल-बच्चों की तथा प्रौढ़ों की कक्षाएँ लगनी चाहिए जिनमें अक्षर ज्ञान के साथ-साथ वैज्ञानिक विधियों, वार्ताओं, सरलतम भाषणों तथा अन्य कार्यक्रमों द्वारा सामाजिक उत्थान सम्बन्धी प्रशिक्षण दिया जाना चाहिए। वस्तुतः गाँव का विद्यालय आबाल-वृद्ध के लिए शारीरिक एवं मानसिक क्रीड़ास्थल बनाना आवश्यक है।

(४) **सहयोग की भावना**—सामुदायिक विकास योजना की सफलता गाँव के प्रत्येक वर्ग के सहयोग पर निर्भर है अतः प्रत्येक गाँव में बालकों, नवयुवकों तथा महिलाओं के संगठन होने चाहिए जिनमें खेलकूद, खेती की नयी पद्धतियों तथा ग्रामीणों के लिए उपयोगी अन्य कार्यक्रमों का विकास किया जाना चाहिए। इन सब आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए ही यह मत व्यक्त किया गया है कि विकास खण्ड के अधिकारियों द्वारा प्रत्येक गाँव में एक पंचायत, विद्यालय, सहकारी समिति तथा ग्रामीणों की विभिन्न रुचियों को सन्तुष्ट करने वाले संगठनों की स्थापना करने का प्रयत्न करना चाहिए।

डॉ० एन्समिंगर के शब्दों में उपर्युक्त सब तत्त्व ग्रामीण विकास के लिए आदर्श हैं किन्तु समय तथा परिस्थितियों के अनुसार इनकी उपलब्धि में आवश्यक संशोधन तथा हेरफेर कर लेना उचित है।

४. सामुदायिक विकास का संगठन

सामुदायिक विकास तथा राष्ट्रीय विस्तार सेवा (Community Development and National Extension Service)—सामुदायिक विकास योजनाओं के आरम्भ के दूसरे वर्ष ही

राष्ट्रीय विस्तार योजना लागू की गयी। इस योजना के अन्तर्गत १००-१०० ग्रामो के क्षेत्र लिए गये और उन पर प्रति वर्ष ४ ५ लाख रुपये व्यय करने का प्रावधान रखा गया। प्रत्येक राष्ट्रीय विस्तार सेवा खण्ड की जनसख्या लगभग ६६,००० होती थी। इसके विपरीत, सामुदायिक विकास परियोजना मे लगभग २ लाख की जनसख्या वाले ३००-४०० ग्राम सम्मिलित किये जाते थे। प्रत्येक सामुदायिक परियोजना पर ६५ लाख रुपया खर्च करने की व्यवस्था की गयी।

राष्ट्रीय विस्तार सेवा खण्ड को एक या दो वर्ष मे सामुदायिक परियोजना मे परिवर्तित कर दिया जाता था और उस पर १५ लाख रुपये व्यय करने का प्रावधान रखा जाता था। द्वितीय योजना-काल मे राष्ट्रीय विस्तार सेवा तथा सामुदायिक विकास परियोजनाओं पर व्यय की राशि घटाकर क्रमश ४ लाख रुपये और १२ लाख रुपये हो गयी।

उपर्युक्त ब्यौरे से स्पष्ट है कि राष्ट्रीय विस्तार सेवा तथा सामुदायिक कार्यक्रम मे कोई मौलिक अन्तर नही था। वस्तुत यह एक ही उद्देश्य के दो पहलू मात्र थे। राष्ट्रीय विस्तार सेवा कार्यक्रम ग्रामो के विकास का एक स्थायी तत्त्व था जबकि सामुदायिक योजना का तात्पर्य एक विशेष समय तक किसी क्षेत्र विशेष मे अधिकाधिक शक्ति लगाकर गहन विकास के लिए प्रयत्न करना था।

योजना में परिवर्तन—सन् १९५७ मे बलवन्तराय मेहता समिति ने यह सिफारिश की कि राष्ट्रीय विस्तार सेवा को सामुदायिक विकास कार्यक्रम मे मिला दिया जाना चाहिए। तदनुसार १ अप्रैल, १९५८ से सामुदायिक विकास योजनाओ की अवधि पाँच पाँच वर्ष के दो भागो मे विभाजित कर दी गयी। इस कार्यक्रम के अनुसार सामुदायिक विकास के प्रथम चरण (पाँच वर्ष) में १२ लाख रुपये तथा द्वितीय चरण मे ५ लाख रुपये व्यय करने की व्यवस्था की गयी। इसके अतिरिक्त प्रथम चरण से पूर्व प्रत्येक विकास खण्ड में एक वर्ष तक कृषि विकास पर ही विशेष ध्यान देने का निश्चय किया गया। इस एक वर्ष की अवधि मे १८,८०० रुपये व्यय करने का प्रावधान है और यह रकम विकास खण्ड के प्रथम चरण से प्राप्त करने की व्यवस्था है।

सामुदायिक विकास के चार चरण—बलवन्तराय मेहता समिति तथा सामुदायिक विकास के वार्षिक सम्मेलन (१९६०) की सिफारिशो के आधार पर सामुदायिक विकास कार्यक्रमों को चार भागो अथवा चरणों मे विभाजित किया गया है

(१) **पूर्व-विस्तार अवस्था**—जिस क्षेत्र म सामुदायिक विकास खण्ड स्थापित करना हो उसे पहले पूर्व विस्तार अवस्था मे ले लिया जाता है। यह अवस्था प्राय एक वर्ष लम्बी मानी जाती है। इस अवस्था मे सम्पूर्ण खण्ड का गहन सर्वेक्षण किया जाता है और कृषि विकास के लिए विशेष प्रयत्न किये जाते हैं। वस्तुत यह अवस्था विकास की प्रथम अवस्था की भूमिका होती है अत इसमे विकास क्षेत्र मे आवश्यक कर्मचारियो की नियुक्ति कर ली जाती है, जो आगे के लिए मार्ग बना लेते हैं।

(२) **प्रथम अवस्था वाले खण्ड**—पूर्व विस्तार अवस्था के एक वर्ष की समाप्ति पर विकास की प्रथम अवस्था आरम्भ हो जाती है। यह अवस्था पाँच वर्ष लम्बी मानी जाती है और इस अवधि में १२ लाख रुपये खर्च किये जाते हैं। इस अवस्था मे किया जाने वाला कुल व्यय चार वर्गों मे विभाजित होता है। प्रथम वर्ग मे विकास खण्ड के प्रधान कार्यालय का व्यय, दूसरे वर्ग मे कृषि विकास जिसमे पशु-पालन, सिंचाई तथा भूमि सुधार सम्मिलित हैं, तीसरे वर्ग में ग्रामीण उद्योग तथा चौथे वर्ग मे ग्रामीण स्वास्थ्य, सफाई, शिक्षा सवादवाहन तथा आवास की सुविधाओं की व्यवस्था सम्मिलित है।

प्रथम अवस्था वाले खण्डो मे धनराशि तभी दी जाती है जबकि सरकार को यह विश्वास हो जाय कि सभी वर्गों के कार्यक्रमो मे आवश्यक प्रगति हो रही है। इस प्रगति का वास्तविक

मूल्यांकन करने के लिए विभिन्न क्षेत्रों में निश्चित परिमाण निर्धारित किये जाते हैं, जिनकी पूर्ति करना आवश्यक होता है।

यदि प्रथम अवस्था के पाँच वर्ष पूरे होने पर भी विकास की प्रगति यथेष्ट नहीं हुई हो अथवा निर्धारित आर्थिक सहायता पूरी खर्च नहीं की जा सके तो प्रथम अवस्था की अवधि एक वर्ष के लिए बढ़ायी जा सकती है।

(३) द्वितीय अवस्था वाले खण्ड—सामुदायिक विकास की प्रथम अवस्था में प्राय विकास अधिक तीव्र गति से किया जाता है और विकास क्षेत्र की आर्थिक स्थिति एक निश्चित स्तर तक पहुँच जाती है। तत्पश्चात विकास की दूसरी अवस्था आरम्भ होती है। इस अवस्था की अवधि भी पाँच वर्ष ही मानी गयी है और इस काल में ५ लाख रुपय व्यय किये जाते हैं। यह राशि प्राय पाँच वर्षों में बराबर-बराबर बाँट दी जाती है किन्तु यदि किसी वर्ष विशेष कारणों से कुछ राशि कम खर्च होती है तो कुल की २० प्रतिशत तक राशि अगले वर्ष के लिए हस्तान्तरित की जा सकती है।

(४) द्वितीय अवस्था के पश्चात्—द्वितीय अवस्था की समाप्ति पर प्रत्येक विकास खण्ड में योजनाओं का निश्चित क्रम चालू हो जाता है और वह नियमित रूप से चलता रहता है, अत. उनके लिए प्रथम दो अवस्थाओं की भाँति विशेष राशि देने की व्यवस्था नहीं की जाती। किन्तु यदि द्वितीय अवस्था में भी विकास पर्याप्त नहीं हो पाता तो सरकार सम्पूर्ण स्थिति का अध्ययन करने के पश्चात् विभिन्न मदों के लिए कुछ समय (एक या दो वर्ष) तक १ लाख रुपये प्रतिवर्ष दे सकती है ताकि उस क्षेत्र का विकास आवश्यक स्तर तक पहुँच जाय।

जन-सहयोग की मात्रा—यद्यपि किसी विकास खण्ड के लिए जन-सहयोग का कोई नपा-तुला परिमाण निर्धारित करना सम्भव नहीं है किन्तु फिर भी प्रत्येक क्षेत्र की आर्थिक एव सामाजिक परिस्थितियों के आधार पर यह निश्चित कर दिया जाता है कि अमुक क्षेत्र में श्रम, वस्तु अथवा नकद रकम के रूप में अमुक मात्रा में जन सहयोग की वास्तविक प्राप्ति के आधार पर ही सरकारी अनुदान अथवा सहायता देने की व्यवस्था की जा सकती है।

प्रबन्ध व्यवस्था—सामुदायिक विकास परियोजनाओं की प्रबन्ध व्यवस्था निम्नलिखित है :

(१) केन्द्र स्तर पर सामुदायिक विकास एव सहकारिता मन्त्रालय सम्पूर्ण कार्य के लिए नीति निर्धारित करता है और योजना आयोग तथा खाद्य एव कृषि मन्त्रालयों से परामर्श लेता रहता है।

(२) राज्य स्तर पर राज्य सरकारें राज्य विकास परिषदों की सलाह से सामुदायिक विकास का कार्य सचालन करती हैं और इस कार्य का मुख्य अधिकारी विकास आयुक्त (Development Commissioner) होता है।

(३) नीचे स्तर पर जिलों में जिला परिषदें, ब्लॉक स्तर पर ब्लॉक पचायत समिति तथा ग्रामीण स्तर पर ग्राम पचायतें ग्रामसेवक की सहायता से कार्य करती हैं।

इसके अतिरिक्त प्रत्येक राज्य में खण्ड विकास समितियाँ (Block Development Committees) हैं, जिनमें सहकारिता एव पचायत राज्य के प्रतिनिधि, कुछ प्रगतिशील किसान, सामाजिक कार्यकर्ता, कुछ स्त्रियाँ, उस क्षेत्र के ससद एव विधान सभा के सदस्य आदि सम्मिलित हैं। यह समितियाँ सामुदायिक आयोजन के लिए उत्तरदायी होती हैं और इनको योजना बनाने तथा क्रियान्वित करने के अधिकार होते हैं।

५ प्रशासन तथा कर्मचारी

सामुदायिक विकास कार्यक्रम मानवीय विकास एव उत्थान से सम्बन्धित है और वह उचित प्रकार के मानवीय सहयोग के बिना सफल नहीं हो सकते। यह सहयोग जनता के अतिरिक्त उन कार्यकर्ताओं अथवा अधिकारियों से प्राप्त होता है, जो विकास योजनाओं को कार्यान्वित करने में

दिन रात सलग्न रहते हैं। इन कार्यकर्ताओ मे प्रमुख तीन हैं—ग्राम सेवक, कृषि विस्तार अधिकारी तथा विकास अधिकारी।

ग्रामसेवक ग्राम का बहुधन्धी कार्यकर्ता है। वह अपना सम्पूर्ण समय गाँव की कृषि तथा पशुओं के विकास पर व्यय करता है। उसके कार्यों मे निम्नलिखित अधिक महत्त्वपूर्ण हैं

(१) कृषि विकास के लिए नवीन रीतियो, अच्छे बीजो, आधुनिक खाद तथा नये सुधरे हुए उपकरणो की व्यवस्था करना।

(२) गाँव मे जल का उचित प्रयोग करने तथा कृषि सम्बन्धी अन्य कार्यों के लिए प्रदर्शनो की व्यवस्था करना।

(३) गाँव मे कृषि तथा पशुओ की महामारियो की सूचना उचित अधिकारियो तक पहुँचाना तथा जिला कृषि अधिकारी, जिला पशुपालन अधिकारी तथा सहायक रजिस्ट्रार, सहकारी समितियो के आदेशो का पालन करना।

(४) ग्रामीण उद्योग के सर्वेक्षण मे सहायता करना तथा पचायत और सहकारी समिति के सहयोग से कुटीर तथा लघु उद्योगो की स्थापना एव विकास मे योग देना।

(५) गाँवो मे ग्राम सहायक तथा श्रमदान शिविर लगाने का प्रबन्ध करना।

(६) गाँव मे सामाजिक शिक्षा, स्वास्थ्य आदि के सम्बन्ध मे प्रदर्शनियाँ लगाना तथा अन्य प्रकार के कार्य करना।

वस्तुत ग्रामसेवक पचायत समिति, सहकारी समिति तथा सामुदायिक विकास अधिकारियो के कार्य-कलापो तथा योजनाओ मे उचित समन्वय कर ग्राम के सर्वांगीण विकास म क्रियात्मक सहयोग देना है। वह ग्राम की प्रगति एव कार्यक्रमो का सम्पूर्ण ब्योरा रखता है और समय-समय पर गावो मे घूम-फिरकर वहाँ की समस्याओ को हल करने की चेष्टा करता है।

कृषि विस्तार अधिकारी—यह गाँव के सम्पूर्ण कृषि विकास कार्यक्रम की सफलता के लिए उत्तरदायी होता है। वह कृषि विकास के लिए निम्नलिखित कार्य करने की चेष्टा करता है :

(१) पचायत क्षेत्र की सभी समस्याओ का गहन अध्ययन करना।

(२) पचायत क्षेत्र मे कृषि विकास की योजनाएँ तैयार करने मे सहायता देना।

(३) कृषि विकास के लिए खाद, बीज, सिचाई, भूमि आदि सम्बन्धी सुझाव देना तथा उनके प्रचार द्वारा उन्हे प्रचलित करवाना।

(४) कृषि की प्रगति तथा समस्याओ के सम्बन्ध मे जिला कृषि अधिकारी तथा विकास अधिकारी को यथासमय सूचना देते रहना। उनके हल के लिए इन अधिकारियो को यथासमय सहयोग देना।

(५) कृषको को खेती के लिए ऋण दिलवाने की सिफारिश करना।

(६) किसानो द्वारा उत्पन्न की जाने वाली फसल की किस्म का ध्यान रखना तथा उनमे सुधार का प्रयत्न करना।

(७) फसलो की कीटाणुओ तथा अन्य जन्तुओ से रक्षा करने मे सहयोग देना।

(८) कृषि पदार्थों को सुरक्षापूर्वक सग्रह करने की व्यवस्था करना।

कृषि विस्तार अधिकारी खेती सम्बन्धी समस्याओ का विशेषज्ञ होने के नाते कृषि सम्बन्धी सभी बातो का ध्यान रखता है और उत्पादन की मात्रा तथा गुण म सुधार करने के लिए हर सम्भव प्रयत्न करता है।

विकास अधिकारी—यह पचायत का मुख्य अधिकारी होता है और गाँव की कृषि, उद्योग, ...र, यातायात, ऋण आदि सभी क्रियाओ का सचालन तथा समन्वय करता है। वह विकास के ...र कार्यों की योजना बनाकर पचायत समिति के सामने रखता है तथा उन्हें कार्यान्वित करता है।

वस्तुत: वह विकास सम्बन्धी प्रत्येक कार्य के लिए सरकार तथा पचायत और सहकारी समितियों और सामुदायिक योजनाओ मे तालमेल बनाए रखने का प्रयत्न करना है।

६ सामुदायिक विकास की प्रगति

द्वितीय पचवर्षीय योजना की समाप्ति तक देश भर मे ३,१०० खण्डो में सामुदायिक विकास कार्यक्रम सचालित हो रहा था। १९६४ तक वह ५ २२३ खण्डो मे विस्तृत हो गया और इस प्रकार लगभग सारा देश सामुदायिक योजना क्षेत्र के अन्तर्गत आ गया।

३१ मार्च १९७१ तक भारत म सामुदायिक विकास योजना की प्रगति निम्नलिखित हुई है :

१ विकास खण्डो की सख्या	५,२६५
२ आवृत्त जनसख्या (करोडों मे)	४०
३ आवृत्त ग्राम सख्या (लाखो मे)	५ ६
४ आवृत्त क्षेत्रफल (लाख वर्ग किलोमीटरो मे)	३१ ७

इससे स्पष्ट है कि देश की लगभग ८० प्रतिशत जनसख्या (जिसमे लगभग सम्पूर्ण ग्रामीण जनसख्या आ जाती है) सामुदायिक विकास योजनाओ से लाभान्वित हो चुकी है। इन योजनाओं पर लगभग ५ ५ करोड रुपया वार्षिक खर्च किया जा रहा है।

इन योजनाओ की उल्लेखनीय प्रगतियाँ निम्नलिखित हैं

(१) कृषि विकास—गत कुछ वर्षों म सामुदायिक योजनाओ मे मुख्यत कृषि विकास के कार्यक्रमो पर जोर दिया गया है। उदाहरणत कृषि विकास के लिए ग्रामीण क्षेत्रो मे अधिक विशेषज्ञो की सेवाएँ उपलब्ध करा दी गयी हैं। कृषि, सहकारिता, सिचाई तथा सामुदायिक विकास की क्रियाओं म उच्च स्तर पर यथेष्ट सहयोग स्थापित कर दिया गया है ताकि किसी एक की अवाछनीय नीति म दूसरे को हानि होने की आशका न हो।

ग्रामो की सबसे बडी समस्या किसानो को नयी प्रणालियों मे परिचित कराना और उन्हे अपनाने के लिए तैयार कराना है। इस कार्य की सफलता के लिए विकास खण्ड तथा जिलो के लिए कृषि विकास योजनाएँ तैयार की जाने लगी हैं। इन योजनाओ के अन्तर्गत ही ग्रामो की योजनाएँ बनायी जाने लगी हैं। इससे प्रत्येक ग्राम अपने लिए निर्धारित रकम का प्रयोग कर सकता है और पचायत को यह अनुमान भी लग जाता है कि निर्धारित लक्ष्य पूरा करने मे क्या कठिनाइयाँ आयी। इन कठिनाइयों को भविष्य मे दूर किया जा सकता है।

(२) पंचायत राज—जैसा कि इसस पूर्व लिखा जा चुका है, ग्रामो मे विकेन्द्रित शासन सामुदायिक कार्यक्रम की सफलता के लिए बहुत आवश्यक माना गया है। तदनुसार देश के सभी राज्यो म पचायत राज की स्थापना की जा चुकी है और विकास के अनेक कार्यक्रम पचायत समिति और जिला परिषदो को सौंपे जा चुके हैं। कुल मिलाकर देश मे २ १८ लाख से अधिक ग्राम पचायतें स्थापित की गयी हैं जिनमे भारत की कुल ग्रामीण जनसख्या का लगभग ९८ प्रतिशत सम्मिलित हो चुका है।

पचायत राज की प्रगति का सक्षिप्त ब्यौरा निम्नलिखित है (३१ मार्च, १९७१ तक)

१. कुल पचायतो की सख्या	२ १५	लाख
२ पचायत समितियो की सख्या	३,२६७	
३ जिला परिषदो की सख्या	२५३	
४ आवृत्त ग्रामो की सख्या	५ ५४	लाख
५ पचायतों द्वारा आवृत्त ग्रामो का प्रतिशत	९८	
६. पचायतो द्वारा आवृत्त ग्रामीण जनसख्या (करोडो मे)	३५	
७. पचायतो द्वारा आवृत्त ग्रामीण जनसख्या का प्रतिशत	९८	

पचायती राज्य को अधिक सफल बनाने के लिए देश के विभिन्न भागो मे उसकी समस्याओं का अध्ययन करने के लिए अनेक समितियाँ काम कर रही हैं। पचायती वित्त सम्बन्धी समस्याओ का अध्ययन करने वाली समिति की रिपोर्ट से ग्रामों मे विकास सम्बन्धी वित्तीय कठिनाइयो का भान हो सका है और सरकार उस समिति की रिपोर्ट के अनुसार कार्य कर रही है। ग्राम-सभाओं के कार्य तथा पचायती लेखो में सुधार करने के यत्न भी किये जा रहे हैं, जिनमे से हाल का ही एक सुधार यह है कि ग्रामसेविकाओं के स्थान पर गाँवों की अध्यापिकाओ से विकास कार्य में सहायता ली जायेगी। इससे न केवल ग्राम विकास का व्यय कम हो जायगा बल्कि काम भी पहले से अधिक अच्छा हो सकेगा।

(३) **प्रशिक्षण**—गाँवो मे काम करने के लिए उचित प्रकार के कार्यकर्ताओ की बहुत कमी है। विभिन्न वर्गों के कर्मचारियो को सामुदायिक कार्यक्रमो के दर्शन तथा नीति मे प्रशिक्षित करने की दृष्टि से ग्रामसवको के लिए ६८, सहकार विस्तार अधिकारियो के लिए १३, पचायत सचिवो के लिए ८० तथा पचायत समितियो के पदाधिकारियो के लिए २६ प्रशिक्षण केन्द्र चलाये जा रहे हैं।

(४) **ग्रामीण स्वय सेना (Village Volunteer Force)**—चीनी आक्रमण के कुछ समय पश्चात् ही जनवरी १९६३ म ग्रामीण स्वय सेना का निर्माण किया गया है जिसमे प्रत्येक गाँव के स्वयसेवक भरती हो गये हैं। यह व्यक्ति कृषि उत्पादन, शिक्षा प्रसार तथा सुरक्षात्मक प्रयत्नो मे सक्रिय सहयोग दे रहे हैं। अनेक व्यक्तियो ने वर्ष मे १२ दिन नि शुल्क सेवा करने के लिए अपने नाम सुरक्षा श्रम बैंक मे दर्ज करवाये हैं। ग्रामीण स्वय सेना तथा सुरक्षा श्रम बैंक को एक ही सगठन बनाकर कृषि विकास के प्रयत्नो को अधिकाधिक उन्नत करने की चेष्टा की जा रही है।

७. कठिनाइयाँ तथा सुझाव

सामुदायिक विकास योजनाओ की सफलता के मार्ग मे अनेक कठिनाइयाँ हैं जिनके कारण ग्राम्य विकास के कार्यक्रमों मे आशातीत सफलता नही मिल रही है। उक्त कठिनाइयो मे मुख्य निम्नलिखित हैं

(१) **जन सहयोग का अभाव**—अनेक वर्षों तक लगातार प्रचार एव विकास कार्य करने पर भी भारतीय जनता सामुदायिक विकास योजनाओं तथा पचायत राज और सहकारिता के महत्व को नही समझ पायी है। यद्यपि जनता के आर्थिक सहयोग की मात्रा कुल व्यय की लगभग ३८ प्रतिशत है किन्तु इन तीनो आन्दोलनो मे जनता का हार्दिक सहयोग नही मिल सका है। फलत तीनो की स्थिति ही डाँवाडोल है।

(२) **राजनीतिज्ञों का प्रभाव**—भारत की ग्राम पचायतों मे पुराना सहयोग और समन्वय *आज दिखायी नहीं देता। दुर्भाग्य से प्रत्येक पचायत में विभिन्न राजनीतिक दलों का प्रवेश हो गया* है जिसके फलस्वरूप विरोधी वर्ग आपस म झगडते रहते हैं और विकास कार्य न्यूनतम हो पाते हैं। राजस्थान म पचायतो की मूल्यांकन सम्बन्धी रिपोर्ट तथा सर्वोदय दल की रिपोर्ट इस सम्बन्ध में एकमत है कि जिन क्षेत्रो मे सरकार विरोधी दल पचायती सत्ता प्राप्त कर लेता है उनमे विकास कार्यो म जानबूझकर अडचनें डाली जाती हैं। यह अत्यन्त दुर्भाग्यपूर्ण स्थिति है और पचायत तथा प्रजातन्त्रीय सिद्धान्तो क सर्वथा विपरीत है।

(३) **अधिकारियों में मतभेद**—सामुदायिक विकास योजनाओ की सफलता में एक अन्य बड़ी कठिनाई यह है कि सरकार द्वारा नियुक्त अधिकारी (पटवारी ग्रामसेवक, विकास अधिकारी आदि) तथा ग्रामो म चुनाव द्वारा मनोनीत प्रधान अथवा सरपच मे प्राय मतभेद उत्पन्न हो जाते हैं जिससे फलस्वरूप उनकी शक्तियाँ एक दूसरे को नीचा दिखाने मे ही खर्च हो जाती हैं और विकास कार्य न्यूनतम हो पाता है।

(४) **सरकारी सहायता**—सरकार की शासन व्यवस्था मे जो ढील तथा लालफीताशाही है,

दुर्भाग्य से वह सरकारी कर्मचारियों के साथ-साथ सामुदायिक योजनाओं तथा पंचायतों और सहकारी समितियों में भी आ गयी है। इससे अनेक बार समय पर आर्थिक सहायता नहीं मिल पाती और विकास कार्यों को यथासमय पूरा करने में कठिनाई होती है।

(५) सामुदायिक भावना का अभाव—भारत का वर्तमान ग्रामीण जीवन राजनीतिक प्रभाव से अत्यधिक दूषित हो गया है। अतः ग्रामों में अनेक दल, संघर्ष तथा मतभेद उत्पन्न हो गये हैं। फलतः किसी भी योजना के लिए, भले ही वह कितनी ही श्रेष्ठ हो, सब व्यक्तियों का सहयोग नहीं मिलता। थोड़े से व्यक्तियों के विरोध के कारण भी कई बार अच्छी अच्छी योजनाओं को स्थगित करना पड़ता है अथवा संशोधित करने के लिए बाध्य होना पड़ता है।

सुधार के उपाय—सामुदायिक विकास योजना तथा पंचायती राज व्यवस्था में सुधार करने के लिए अनेक व्यक्तियों ने समय-समय पर अनेक सुझाव दिये हैं जिनमें से अधिक महत्त्वपूर्ण नीचे दिये जा रहे हैं

(१) प्रशासनिक समन्वय—सरकार द्वारा सामुदायिक विकास केन्द्रों में जो भी अधिकारी नियुक्त किये जायें उन्हें दो-तीन मास का विशेष प्रशिक्षण दिया जाना चाहिए ताकि वह ग्रामों की परिस्थितियों एवं समस्याओं को समझकर उनके निर्णय तदनुसार जन की प्रवृत्ति बना सकें। पुराने अधिकारियों को भी समय-समय पर प्रशिक्षण देने की व्यवस्था करनी चाहिए ताकि वह अपने आपको नयी परिस्थितियों के अनुकूल बना सकें।

दूसरी ओर पंच, सरपंच अथवा प्रधानों को भी विशेष प्रकार का प्रशिक्षण दिया जाना चाहिए। वर्तमान प्रशिक्षण सुविधाएँ यथेष्ट नहीं हैं अतः इनमें वृद्धि की जानी चाहिए। इन दोनों वर्गों के यथोचित प्रशिक्षण से योजनाओं के सम्पादन में उचित सहयोग स्थापित होने की आशा की जा सकती है।

(२) सहयोग में वृद्धि—सामुदायिक विकास के लिए जन-सहयोग प्राप्त करने की दृष्टि से गाँवों में प्रचार केन्द्रों की स्थापना की जानी चाहिए जहाँ फिल्मों तथा आकर्षक कार्यक्रमों द्वारा ग्रामीण जनता को विकास योजनाओं का महत्त्व समझाने का प्रयत्न करना चाहिए। वर्तमान में प्रायः यह देखा जाता है कि सरकारी जनसम्पर्क विभाग की गाड़ियां शहरों में फिल्में दिखाती रहती हैं और जनता की गाढ़े पसीने की कमाई बरबाद करती रहती हैं।

(३) राजनीति से छुटकारा—गत वर्षों में सभी दलों के नेताओं ने यह मत व्यक्त किया है कि पंचायतों को दलगत रखा जाना चाहिए परन्तु इस दिशा में सक्रिय कदम नहीं उठाया गया। वास्तव में, कुछ व्यक्ति दलगत राजनीति को प्रजातन्त्र की सफलता का आधारस्तम्भ समझते हैं, अतः वह विकास कार्यों से भी राजनीति को वनवास नहीं देना चाहते। इस सम्बन्ध में यदि और कुछ न हो सके तो सरकार को कम से कम उन क्षेत्रों से विरोध नहीं दिखाना चाहिए जिनमें शासक दल के प्रतिनिधियों का बहुमत न हो। इस सम्बन्ध में सभी दलों द्वारा एक आचार संहिता बना ली जाय तो श्रेष्ठ होगा।

(४) उद्योगों पर अधिक ध्यान—सामुदायिक विकास योजनाओं में प्रायः सारी शक्ति कृषि विकास पर केन्द्रित की गयी है। यह सत्य है कि कृषि भारतीय अर्थव्यवस्था की रीढ़ की हड्डी है और उसके विकास में देश का विकास अन्तर्निहित है परन्तु वह एक अत्यन्त दीर्घकालीन समस्या है अतः कुछ शक्ति लघुकाय एवं कुटीर उद्योगों के विकास में भी लगानी चाहिए ताकि ग्रामीण जनता की आय में कुछ वृद्धि हो सके और किसान को मानसून की अनिश्चितता के भय से कुछ छुटकारा मिल सके।

(५) कृषि रीतियों में परिवर्तन—गत दस-बारह वर्षों के निरन्तर प्रयत्न के पश्चात् भी भारतीय कृषि में आशातीत प्रगति नहीं हुई है, जिससे कृषि एवं अन्य योजनाओं में जनता का

उत्साह भी मन्द पड गया है। अत जनता मे पुन विश्वास जाग्रत करने के लिए कृषि विकास सम्बन्धी एक क्रान्तिकारी सगठन बनाया जाना चाहिए जिसका काम ही गाँव गाँव घूमकर कृषि की नवीनतम प्रणालियों को प्रचारित करना हो। इस सगठन को सामुदायिक विकास योजनाओ के एक अग के रूप मे ही स्थापित किया जा सकता है।

(६) **भूमि सुधार**—*देश के जिन भागो मे किसानो के पास भूमि नही है अथवा न्यूनाधिक* रूप मे अब भी अनुपस्थित जमीदारी जीवित है वहाँ भूमि का एक-एक इच भाग खेती के काम मे लाने की व्यवस्था करनी चाहिए और बजर, दलदली अथवा जैसी भी खराब भूमि उपलब्ध है वह भूमिहीनो को बाँट दनी चाहिए या सहकारी कृषि समितियो को दे देनी चाहिए। इसे साफ करने या खेती योग्य बनाने के लिए सरकार प्राविधिक सहायता दे सकती है। इस प्रकार बेकार भूमि भी खेती के अन्तर्गत आ जायेगी और कृषि उत्पादन के साथ-साथ योजनाओ के प्रति विश्वास में भी वृद्धि हो सकेगी।

उपसहार—प्रथम दो योजनाओ के अन्तर्गत सामुदायिक विकास कार्यक्रम व पचायत राज पर लगभग २४० करोड रुपया व्यय किया गया था। तृतीय योजनाकाल मे इन कार्यक्रमो पर २८८ करोड रुपये खर्च किये गये। तीन वार्षिक योजनाओ (१९६६-६७ से १९६८-६९ तक) मे इन पर ९९ करोड रुपये व्यय किये गये। चतुर्थ योजना (१९६९-७४) काल मे सामुदायिक विकास व पचायत राज पर कुल ११५ करोड रुपये व्यय करने का प्रावधान है।

यह पहले लिखा जा चुका है कि भारत का सम्पूर्ण ग्रामीण क्षेत्र सामुदायिक योजनाओ तथा पचायत राज के प्रभाव मे आ चुका है। आर्थिक विकास के इस महायज्ञ मे सामुदायिक कार्यक्रम, पचायती राज तथा सहकारी आन्दोलन के अतिरिक्त जन-सहयोग की अधिकतम आहुति लगाना आवश्यक है। इसके बिना भारत का अधनगा और अगणित रूढ़ियो मे दबा हुआ ग्रामीण कभी एक स्वतन्त्र देश के नागरिक को मिलने योग्य सम्मान प्राप्त नही कर सकेगा। यह देश के लिए अत्यन्त दुर्भाग्यपूर्ण परिस्थिति होगी। अत सामुदायिक विकास योजनाओ को और लगन तथा उत्साह से क्रियान्वित करने की आवश्यकता है। हमें इन योजनाओं के सबसे बडे समर्थक तथा प्रेरणा स्रोत स्वर्गीय प० जवाहरलाल नेहरू के इन शब्दो को नही भूलना चाहिए

'Community Development Projects are the bright vital and dynamic sparks all over India from which radiate rays of energy hope and enthusiasm"

वस्तुत ग्रामीण भारत की आशाएँ व विकास की सम्भावनाएँ पचायत राज, सहकारिता तथा सामुदायिक विकास योजनाओ की सफलता मे सन्निहित हैं।

प्रश्न

१ सामुदायिक विकास योजनाएँ भारतीय ग्रामो में उत्पादकता तथा जीवन-स्तर बढ़ाने मे कहाँ तक सफल हुई हैं ? **(लखनऊ, बी० ए०, १९५२)**

२ सामुदायिक विकास योजनाओ के उद्देश्य तथा सफलताओं पर एक लेख लिखिए। **(पटना, बी० ए० १९५४)**

३ भारत मे कृषि पदार्थों की न्यून उपज के क्या कारण हैं ? सामुदायिक विकास कार्यक्रम मे भूमि की उपज बढाने के लिए क्या उपाय किये जा रहे हैं ? **(राजस्थान, बी० कॉम, १९६०)**

४ भारत मे आरम्भ की गयी सामुदायिक विकास योजनाओ की क्या क्या मुख्य विशेषताएँ हैं ? *ग्रामीण पुनर्सगठन मे इनकी उपयोगिता का विवेचन कीजिए।* **(आगरा, बी० कॉम०, १९६१, विक्रम, बी० कॉम०, १९६४)**

५ अपने भेंट दिये हुए एक सामूहिक विकास योजना क्षेत्र का चित्रण कीजिए। **(नागपुर, बी० कॉम, १९६४)**

६, भारत मे सामुदायिक विकास आन्दोलन के मुख्य तथ्य दीजिए। **(राजस्थान, बी० ए०, १९६६)**

21 कृषि नीति, पड़त तथा रीतियाँ

(AGRICULTURAL POLICY, INPUTS AND METHODS)

कृषि नीति

(AGRICULTURAL POLICY)

अन्य क्षेत्रों की भांति यह बात भी विवादास्पद है कि कृषि के विकास में सरकार का हस्तक्षेप होना चाहिए या नहीं। एक विचार के अनुसार भूमि का पूरा स्वामित्व किसान का होना चाहिए और उसे कृषि पदार्थ उत्पन्न करने की पूरी स्वतन्त्रता होनी चाहिए। सरकार का काम केवल यह होना चाहिए कि यदि कृषि सम्बन्धी कोई समस्या उत्पन्न हो जाय तो उसे दूर किया जाय। इस प्रकार की स्वतन्त्र खेती के उदाहरण अमरीका तथा जापान में उपलब्ध होते हैं।

इसके विपरीत दूसरा विचार यह है कि कृषि व्यवसाय पर पूर्णतः सरकारी नियन्त्रण होना चाहिए और कृषि पदार्थों की किस्म, भूमि की मात्रा आदि सरकार द्वारा ही निश्चित की जानी चाहिए। किसान का काम केवल सरकार द्वारा निर्धारित नीतियों के अनुसार खेती करना मात्र होना चाहिए। यह नीति चीन और रूस दोनों ही देशों में असफल हो चुकी है और अब दोनों ही देश विदेशों से अन्न तथा कृषि पदार्थ आयात कर रहे हैं।

वास्तव में, सरकार की कृषि नीति पर गौर करते समय हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि विकासशील और विकसित देशों को कृषि की दृष्टि से एक ही धरातल पर नहीं रखा जा सकता। विकसित देशों में कृषि उत्पादन की रीतियां इतनी क्रान्तिकारी और विकसित हो जाती हैं कि वहां सरकारी हस्तक्षेप की विशेष आवश्यकता ही नहीं पड़ती। अविकसित अथवा विकासहीन देशों में कृषि की परम्पराएँ पुरानी होती हैं और कृषि सम्बन्धी साधन (खाद्य, बीज उपकरण तथा वित्त आदि) बहुत कम होते हैं अतः सरकारी सहायता बिना कृषि को लाभदायक एवं सम्पन्न बनाना सम्भव नहीं है। अतः कृषि प्रधान देशों में जहाँ कृषि अभी भी अविकसित दशा में है, सरकार को कृषि की उन्नति के लिए पद-पद पर सहायता देनी पड़ेगी।

कृषि कार्य में सरकारी हस्तक्षेप का औचित्य (बल्कि आवश्यकता) इस दृष्टि से भी है कि जब कृषि पदार्थों का उत्पादन आवश्यकतानुकूल नहीं होता तो सरकार को खाद्यान्न रूई, तिलहन आदि विदेशों से आयात करने पड़ते हैं जिससे देश की विदेशी विनिमय की आय पर बहुत भार पड़ता है और सरकार को विदेशों से ऋण लेने के लिए बाध्य होना पड़ता है। इस स्थिति से बचने के लिए सरकार के लिए यह देख लेना आवश्यक होता है कि कृषि क्षेत्र में कहाँ अनियमितता अथवा अकुशलता है और उसे ठीक करने के लिए यथोचित कार्यवाही करनी पड़ती है।

अतः विकासशील देशों में भूमि का स्वामित्व किसान को देना सर्वथा उपयुक्त है परन्तु

सरकार को उत्पादन के विकास का उचित आयोजन तथा उसकी सफलता के लिए आवश्यक कार्यवाही करना अनिवार्य है।

सरकारी हस्तक्षेप अनिवार्य—कृषि विकास के कुछ मद इस प्रकार के हैं जिनमें सरकारी सहायता या हस्तक्षेप के बिना काम चल सकता है बल्कि सरकारी हस्तक्षेप वास्तव में हानिकारक होता है। जैसे—किस भूमि में किस वस्तु की खेती की जाय, फसल कब बोयी जाय आदि ऐसी व्यक्तिगत समस्याएँ हैं जिनके बारे में किसान अनुभव से पूरी जानकारी रखता है किन्तु अनेक कार्य ऐसे हैं जिनमें किसान सरकारी सहायता के बिना असहाय बना रहेगा। ऐसे कार्य निम्नलिखित हैं

(१) सामाजिक पूंजी (Social Capital)—विभिन्न क्षेत्रों में नहरें, बांध, ट्यूबवैल अथवा सड़कें आदि बनवाना, मण्डियों तथा नियमित बाजारों की स्थापना करना, कृषि-उपज के संग्रह के लिए गोदाम आदि बनवाना ऐसे कार्य हैं, जिनमें अत्यधिक पूंजी की आवश्यकता होती है। यह सामाजिक पूंजी सरकार ही लगा सकती है क्योंकि इस प्रकार की पूंजी के लाभ बहुत देर में उपलब्ध होते हैं।

(२) कृषि शोध—खेती के विभिन्न पहलुओं तथा समस्याओं (बीज की किस्म, खाद की मात्रा एवं उपयोगिता, फसल के पकने का समय आदि) के सम्बन्ध में सरकारी प्रयोगशालाओं में ही शोध हो सकती है और इस शोध के परिणाम सरकार द्वारा ही किसानों तक पहुंचाये जा सकते हैं। वस्तुतः कृषि शोध सम्बन्धी कार्य भी बहुत महँगा है और इसमें मिलने वाले परिणामों से शोध करने वाले को तत्काल कोई लाभ होने की सम्भावना नहीं है।

(३) भूमि सुधार—भूमि के स्वामित्व, वितरण तथा अधिकार सम्बन्धी नियम बनाना सरकार का ही काम है। इस सम्बन्ध में अन्य कोई ऐजेन्सी सहायक या साधक नहीं हो सकती। इसी प्रकार लगान निर्धारित करना, लगान में मुक्ति देना, भूमि की चकबन्दी करना अथवा भूमि की उच्चतम जोत की सीमा निर्धारित करना, यह सब कार्य सरकार के कार्यक्षेत्र में ही आते हैं।

(४) अन्नान सम्बन्धी नीति—यदि देश में अन्न की कमी हो तो अन्न के निर्यात पर प्रतिबन्ध, मूल्य निर्धारण विदेशों से आयात, राशनिंग आदि कार्य भी सरकार द्वारा ही करने योग्य हैं और इनमें से आवश्यक कार्य तत्काल करने पड़ते हैं उनकी प्रतीक्षा करना उचित या सम्भव नहीं है।

(५) प्रबन्ध व्यवस्था—कृषि की उन्नति के लिए मेले अथवा प्रदर्शनियों की व्यवस्था सरकारी सहयोग के बिना सम्भव नहीं और कृषि माल का खपत देश या विदेशों में विक्रय अथवा कृषि पदार्थों के एक स्थान से दूसरे स्थान में आवागमन सम्बन्धी नीति निर्धारण तथा सुविधाओं की व्यवस्था करना सरकार का ही कर्तव्य है।

भारत सरकार की नीति—भारत में प्राचीनकाल में कृषि की समस्याएँ बहुत जटिल नहीं थीं, प्रायः आवश्यकतानुसार सभी प्रकार का माल विभिन्न क्षेत्रों में उत्पन्न होता था और उसकी खपत वहीं हो जाती थी। कभी-कभी अभाव के समय अन्न आदि दूसरे क्षेत्रों से मँगवाना या भेजना पड़ता था। यह कार्य आकस्मिक थे और सरकार इनके नियमित संचालन के लिए कोई विशेष विभाग नहीं रखती थी बल्कि आवश्यकता पड़ने पर किन्हीं भी कर्मचारियों को यह काम सौंप दिया जाता था।

कृषि विभागों की स्थापना—सन् १८८४ में देश के विभिन्न प्रान्तों में कृषि विभाग स्थापित कर दिये गये। इन विभागों को कृषि विकास कार्यों के अतिरिक्त भूमि सम्बन्धी रिकार्ड रखने तथा ... की रजिस्ट्री आदि का निरीक्षण सम्बन्धी काम भी सौंप दिया गया। इतना काम होने पर भी ... विभागों के संचालन के लिए पर्याप्त रकम स्वीकृत नहीं की गयी।

कृषि विभागों के कार्य—इनके मुख्य कार्य अग्रलिखित थे

(१) कृषि फार्मों तथा प्रयोगशालाओं मे शोधकार्य को प्रोत्साहित करना ताकि कृषि प्रणालियो मे सुधार हो सके ।

(२) कृत्रिम खाद के प्रयोग को प्रोत्साहित करना ।

(३) सुधरी हुई किस्म के बीजो के प्रचार तथा वितरण की व्यवस्था करना ।

(४) सरकारी फार्मों अथवा निजी खेतो पर कृषि प्रदर्शनकारियों का सगठन करना ।

(५) कृषि की नवीन पद्धतियो तथा सुधरे हुए उपकरणो का प्रयोग प्रोत्साहित करने के लिए प्रचार की व्यवस्था करना ।

प्रशिक्षण सुविधा की आवश्यकता—सन् १८९२ मे डॉ० वोलकर ने मत प्रकट किया कि भारतीय कृषि का विकास करने के लिए उचित प्रशिक्षण सुविधाओं की आवश्यकता है । फलत १८९२ मे केन्द्रीय सरकार ने एक कृषि रसायनशास्त्री नियुक्त किया और १९०१ मे एक कृषि महा-निरीक्षक (Inspector General of Agriculture) नियुक्त किया गया, जिसका कार्य केन्द्र तथा प्रान्तीय सरकारो को सलाह देना था । १९१२ मे यह पद समाप्त कर इसका काम सचालक, कृषि अनुसन्धानशाला, पूसा को सौंप दिया गया । यही व्यक्ति १९२९ तक भारत सरकार के कृषि सलाहकार के रूप मे कार्य करता रहा ।

कृषि प्रशिक्षण—पूसा कृषि अनुसन्धानशाला की स्थापना १९०३ म की गयी और इस शाला के साथ ही कृषि सम्बन्धी शिक्षा के लिए एक विद्यालय भी स्थापित किया गया । लार्ड कर्जन ने कृषि विभाग के कार्य मे विशेष रुचि प्रदर्शित की और उनमे भूमि आदि सम्बन्धी कार्यों का दायित्व ले लिया गया । इसके अतिरिक्त कृषि शोध, प्रदर्शन तथा प्रशिक्षण कार्यों के लिए अधिक रकम की भी व्यवस्था की गयी ।

सन् १९०८ मे पूना मे कृषि महाविद्यालय की स्थापना की गयी और उसके पश्चात क्रमश कानपुर, नागपुर तथा कोयम्बटूर मे भी ऐसे कॉलेज स्थापित कर दिये गये ।

कृषि मण्डल की स्थापना—सन् १९०५ मे अखिल भारतीय कृषि मण्डल (All-India Board of Agriculture) की स्थापना की गयी जिसका उद्देश्य विभिन्न प्रान्तो मे कृषि विभागो के कार्यों मे समन्वय स्थापित करना था । यह मण्डल प्रान्तीय विभागो की सभाएँ बुलाकर कृषि सम्बन्धी योजनाएँ निर्माण करने मे सहयोग देता था और समय-समय पर सरकार को कृषि विकास सम्बन्धी सुझाव देता था ।

शाही कमीशन, १९२६—सन् १९०५ मे कृषि कार्य को बल देने के लिए भारत सरकार ने अखिल भारतीय कृषि सेवा (All-India Agricultural Service) की स्थापना की और १९१९ मे कृषि विकास का मद प्रान्तीय सरकारों को सौंप दिया किन्तु कृषि की स्थिति बहुत अनुकरणीय नही थी अत सन् १९२६ मे कृषि क्षेत्र मे व्यापक सुधार करने की दृष्टि से शाही कृषि आयोग (Royal Commission on Agriculture) की नियुक्ति की गयी ।

कृषि सम्मेलन—शाही आयोग ने प्राय सारे देश का दौरा किया और कृषि समस्याओं का सर्वांगीण अध्ययन करने के पश्चात् १९२८ मे अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत की । रिपोर्ट मे कृषि के महत्त्व पर प्रकाश डालते हुए खेती की नवीन प्रणालियों, भूमि सुधार, कृषि साख आदि मे व्यापक सुधार करने की सिफारिशें की गयी । अक्टूबर १९२८ मे शिमला मे एक कृषि सम्मेलन बुलाया गया जिसमे प्रान्तों के कृषि मन्त्रियो, सचालकों तथा सहकारी समितियो के उच्च अधिकारियो ने भाग लिया । इस सम्मेलन मे देश के विभिन्न भागो मे कृषि विकास के लिए शाही कमीशन की रिपोर्ट को आधार मानकर चलने का निश्चय किया गया । इसके अतिरिक्त शाही आयोग की सिफारिश के अनुसार शाही कृषि अनुसन्धान परिषद की स्थापना का निश्चय किया गया ।

कृषि अनुसन्धान परिषद (Imperial Council of Agricultural Research)—कृषि

आयोग का मत था कि कृषि के वास्तविक विकास के लिए प्रयोग तथा शोध की आवश्यकता है और यह शोधकार्य अत्यन्त उच्चस्तरीय होना चाहिए। भारत सरकार ने इस प्रकार के शोधकार्य के लिए १९२९ में कृषि अनुसन्धान परिषद की स्थापना कर दी। यह परिषद अब भारतीय कृषि अनुसन्धान परिषद के नाम से विख्यात है।

परिषद का कार्य कृषि सम्बन्धी शोध करना है और कृषि सम्बन्धी सभी कार्यों में वह राज्यों तथा केन्द्रीय सरकार को परामर्श देती है। इसके अतिरिक्त वह भारत तथा अन्य देशों में कृषि तथा पशुपालन सम्बन्धी शोधकार्यों में समन्वय स्थापित कर उसकी सूचना सर्वत्र प्रसारित करती है। इस कार्य के लिए परिषद एक पत्रिका निकालती है।

परिषद की स्थापना के समय भारत सरकार ने २५ लाख रुपये का तात्कालिक अनुदान दिया और ७.२५ लाख रुपये प्रति वर्ष देने की घोषणा की। वर्तमान में परिषद का सम्पूर्ण व्यय भारत सरकार वहन करती है। कृषि सम्बन्धी शोधकार्य के अतिरिक्त परिषद द्वारा देश के विभिन्न भागों में कृषि प्रदर्शनियां सगठित की जाती हैं जहां कृषि की सुधरी हुई प्रणालियों का ज्ञान कराने की चेष्टा की जाती है।

रसल-राइट जांच—शाही कृषि आयोग ने यह सुझाव दिया था कि कृषि अनुसन्धान परिषद की क्रियाओं की समय-समय पर जांच होती रहनी चाहिए। इस उद्देश्य से भारत सरकार ने १९३६-३७ में इंग्लैण्ड से दो विशेषज्ञ सर जॉन रसल तथा डॉ० एन० सी० राइट (Sir John Russell and Dr N C Wright) को आमन्त्रित किया। इन विशेषज्ञों ने अपनी रिपोर्ट में निम्नलिखित सुझाव दिये

(१) शोधकर्ताओं तथा कृषकों में निकट सम्पर्क स्थापित किया जाय।

(२) फसलों के विनाशक कीटाणु किस प्रकार नष्ट किये जायें।

(३) व्यावसायिक फसलों सम्बन्धी अनुसन्धान फसलें खरीदने वालों के सहयोग से किया जाना चाहिए और खाद्यान्नों सम्बन्धी शोधकार्य में पोषक तत्त्व विशेषज्ञों की सहायता ली जानी चाहिए।

(४) भूमि तथा फसलों की रक्षा के लिए भू-संरक्षण तथा फसल संरक्षण समितियों की स्थापना की जानी चाहिए।

(५) फसलों की कीटों, बीमारियों तथा अन्य तत्त्वों से रक्षा करने के लिए स्थायी व्यवस्था की जानी चाहिए।

(६) दुग्ध व्यवसाय तथा पशुपालन के सम्बन्ध में शोध, प्रशिक्षण तथा सलाहकार सेवाओं का विकास किया जाना चाहिए।

(७) परिषद को अधिक वित्तीय सहायता प्रदान की जानी चाहिए।

भारत सरकार द्वारा उक्त सभी सिफारिशें स्वीकार कर ली गयी और कृषि शोधकार्य तथा व्यवस्था को अधिक शक्तिशाली बनाने की चेष्टा की गयी।

अकाल आयोग, १९४५—सन् १९४३ में बंगाल में जो भयानक अकाल पड़ा उसने देश के प्रशासकों तथा जनता का ध्यान आकर्षित किया और अकाल आयोग ने जो सिफारिशें कीं उनको भी कार्यान्वित करने की दिशा में यथोचित कदम उठाये गये। बंगाल के अकाल ने देश को मानो नींद से झकझोर दिया। फलत: 'अधिक अन्न उपजाओ आन्दोलन' आरम्भ किया गया और अन्न वितरण की व्यवस्था भी अधिक शक्तिशाली बनायी गयी।

योजनाकाल तथा कृषि नीति

पंचवर्षीय योजनाओं के अन्तर्गत कृषि को महत्त्वपूर्ण स्थान प्रदान किया गया। प्रथम योजना-काल में कृषि पर ६०२ करोड़ रुपया व्यय किया गया जो सार्वजनिक क्षेत्र के अन्तर्गत किये गये

कुल व्यय का ३१% था। द्वितीय योजनाकाल में कृषि तथा सिंचाई पर ६६० करोड़ रुपया व्यय किया गया जो सार्वजनिक क्षेत्र के कुल व्यय का २०% था। तृतीय योजनाकाल में भी कृषि को महत्त्वपूर्ण स्थान प्रदान किया तथा कृषि व सिंचाई के लिए १,७१८ करोड़ रुपये की व्यवस्था की गयी जो कुल सार्वजनिक क्षेत्र के व्यय का २३% था। तृतीय योजनाकाल में वास्तविक व्यय कृषि पर १,१०३ करोड़ रुपये तथा सिंचाई पर ६५७ करोड़ रुपये हुआ। चतुर्थ पंचवर्षीय योजना (१९६९-७४) की प्रस्तावित रूप-रेखा के अनुसार कृषि, सामुदायिक विकास तथा सहकारिता पर कुल ४,०१७ करोड़ रुपये व्यय किया जायगा जो कुल व्यय का १६.५ प्रतिशत होगा। इस प्रकार योजनाओं के अन्तर्गत सरकार ने कृषि विकास पर पर्याप्त जोर दिया है।

सरकार की नीति योजनाओं के अन्तर्गत कृषि का सर्वांगीण विकास करना रहा है। कृषि के विकास के लिए बहुमुखी तथा बहुउद्देशीय प्रयत्न किये गये। गाँवों का कायाकल्प करने के के उद्देश्य से (to change the face of rural India) सामुदायिक विकास योजनाएँ तथा राष्ट्रीय प्रसार सेवाएँ प्रारम्भ की गयीं। सन् १९६३ तक सम्पूर्ण ग्रामीण भारत इन योजनाओं के अन्तर्गत आ चुका था। सहकारिता के विभिन्न रूपों का बड़े जोर के साथ विकास किया गया। सहकारी साख समितियों का विस्तार, सेवा-सहकारिता, सहकारी कृषि आदि के प्रचार-प्रसार पर जोर दिया गया। भूमि सुधार (land reforms) के क्षेत्र में सरकार की नीति का मुख्य आधार जोतों की अधिकतम सीमा निर्धारित करना, काश्तकारी कानूनों में सुधार तथा मध्यस्थों को समाप्त करना रहा है। 'कृषि मजदूरों' की न्यूनतम मजदूरी निश्चित की गयी। भूमि-संरक्षण की दिशा में भी महत्त्वपूर्ण कदम उठाये गये। पशु-पालन को प्रोत्साहित करने के लिए प्रयत्न किये गये। कृषि उत्पादन में वृद्धि के लिए अच्छी खाद, उर्वरक तथा बीज का वितरण किया गया। आधुनिक वैज्ञानिक कृषि का प्रचार किया गया। जन सहयोग तथा प्रजातन्त्र की दृष्टि से पंचायतों का संगठन किया गया। लघु तथा बड़ी सिंचाई योजनाओं को क्रियान्वित किया गया। कुछ चुने हुए जिलों में जहाँ कृषि उत्पादन में वृद्धि की सम्भावनाएँ अधिक हैं, 'गहन कृषि जिला कार्यक्रम' (Intensive Agricultural District Programme or IADP) तथा 'गहन कृषि क्षेत्र कार्यक्रम' (Intensive Agricultural Area Programme or IAAP) क्रियान्वित किया गया। किसानों को प्रोत्साहन देने की दृष्टि से कृषि मूल्यों की उचित नीति अपनायी गयी।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि योजनाकाल में सरकार की कृषि नीति का मुख्य आधार कृषि का सर्वांगीण विकास करना रहा है। इस दिशा में अनेक प्रकार के प्रयत्न किये गये। उत्पादन वृद्धि के लिए, अधिक से अधिक उपलब्ध भूमि पर खेती कराना, भू-संरक्षण, भूमि-सुधार, कृषि-पडत (agricultural inputs) की व्यवस्था करना तथा कृषि विकास के लिए उचित संगठनों को संगठित करना, किसान को हर प्रकार की सहायता देना आदि सरकार की कृषि नीति के प्रमुख अंग रहे हैं।

वर्तमान कृषि नीति तथा कृषि विकास की नयी स्ट्रेटेजी
(PRESENT AGRICULTURAL POLICY AND NEW STRATEGY FOR THE DEVELOPMENT OF AGRICULTURE)

उपर्युक्त प्रयत्नों के बावजूद भी कृषि का विकास अपेक्षित सीमा तक नहीं किया जा सका तथा देश खाद्यान्नों के सम्बन्ध में आत्मनिर्भर नहीं बनाया जा सका है। प्रति वर्ष कृषि-वस्तुओं विशेषकर खाद्यान्नों का आयात बढ़ता जा रहा है। खाद्य समस्या गम्भीर रूप धारण करती जा रही है। 'यदि हमें खाद्यान्नों के आयात पर निर्भरता को समाप्त करना है तथा देश को कृषि-उत्पादन में आत्म-निर्भर बनाना है तो उत्पादन की आधुनिक विधियों का अधिकाधिक प्रयोग करना तथा कृषि-विज्ञान द्वारा प्रदत्त ज्ञान एवं सुविधाओं का अधिकतम उपयोग करना आवश्यक

है। यदि हमें अल्पकाल में ही प्रभावशाली तथा कारगर परिणाम हासिल करना है तो कृषि-विकास के लिए नयी नीति अपनानी होगी।"

वर्तमान समय में कृषि विकास के लिए जो नीति तथा स्ट्रेटेजी अपनायी गयी है उसके मूल तत्त्व निम्नलिखित हैं :

(१) देश के जिन क्षेत्रों में सिंचाई आदि की यथेष्ट सुविधाएँ उपलब्ध हैं तथा जहाँ कृषि विकास की सम्भावनाएँ अधिक हैं, उन क्षेत्रों में कृषि-विकास के प्रयत्नों को और बड़े पैमाने पर जारी किया जाय। इस प्रकार सभी क्षेत्रों पर समान रूप से ध्यान न देकर, चुने हुए क्षेत्रों पर विशेष ध्यान दिया जाय, इससे कृषि-उत्पादन सम्बन्धी परिणाम अधिक आशाजनक होंगे।

(२) तीसरी योजना के अन्तिम चार वर्षों में किये गये अनुसन्धानों तथा परीक्षण से विभिन्न प्रकार के बीजों का मिश्रण कर संकर बीज तैयार किये गये हैं। इन बीजों के प्रयोग से उत्पादन में आशातीत वृद्धि की जा सकती है। इन बीजों का सफल प्रयोग करने के लिए सिंचाई की यथेष्ट सीमाएँ तथा खाद का अधिकाधिक इस्तेमाल आवश्यक है। अतः सिंचाई के साधनों से पूर्ण क्षेत्रों में इन बीजों का अधिकाधिक इस्तेमाल किया जायगा।

(३) विभिन्न फसलों से सम्बन्धित क्षेत्रों को चुना गया है जहाँ पर इन उन्नत बीजों का इस्तेमाल किया जाता है तथा किसानों को आवश्यक सुविधाएँ प्रदान की जाती हैं।

(४) नये बीजों तथा अधिकाधिक रासायनिक खाद के इस्तेमाल की योजना आरम्भ में IADP तथा IAAP क्षेत्रों (इनका विवरण आगे देखिए) में ही क्रियान्वित की जा रही है क्योंकि इन क्षेत्रों में योग्य कृषि कर्मचारी नियुक्त हैं तथा अन्य सुविधाएँ भी उपलब्ध हैं।

(५) जिन क्षेत्रों में उपर्युक्त योजनाएँ लागू नहीं हैं, उन क्षेत्रों की भी उपेक्षा नहीं की जायेगी तथा आवश्यक कृषि-पड्त (agricultural inputs) व प्रशासनिक सुविधाएँ प्रदान की जायेंगी।

(६) कम समय में तैयार होने वाली फसलों (short duration crops) का अधिकाधिक प्रचार किया जा रहा है तथा फसलों के स्वरूप (crop pattern) के परिवर्तन की दिशा में भी महत्त्वपूर्ण प्रयत्न किये जा रहे हैं।

(७) उन्नत बीजों के महत्त्व को स्वीकार करते हुए, इन बीजों के उत्पादन, परीक्षण क्रम, स्टोरेज तथा समुचित ढंग से वितरण के लिए आवश्यक प्रशासनिक कदम उठाये जा रहे हैं।

(८) राज्य सरकारें बीज उत्पादन क्षेत्रों की उचित व्यवस्था कर रही हैं तथा ५०० एकड़ तक के नये फार्मों की स्थापना कर रही हैं।

(९) नयी कृषि-नीति के अन्तर्गत सहायक खाद्य-पदार्थों जैसे आलू आदि के उत्पादन वृद्धि पर जोर दिया जा रहा है। प्रोटीन जनक वस्तुओं के उत्पादन में भी वृद्धि की जा रही है। दालों के उत्पादन के लिए भी एक योजना तैयार की जा रही है।

(१०) पशुपालन कृषि का आवश्यक तथा महत्त्वपूर्ण अंग है अतः पशुओं की नस्ल-सुधार, रोगों की रोकथाम तथा उनके लिए चारे की उचित व्यवस्था के सम्बन्ध में कदम उठाये जा रहे हैं। मुर्गी पालन व्यवसाय को भी उन्नत व आधुनिक बनाने की चेष्टा की जा रही है।

गत कुछ वर्षों में भारत में कृषि उत्पादन में जो सन्तोषजनक वृद्धि हुई उसमें इस नयी कृषि-नीति का भी योगदान रहा। इस नयी स्ट्रेटजी के अनुसार अधिक उत्पादक बीजों का प्रयोग किया गया, सिंचाई सुविधाओं का अधिकाधिक प्रयोग किया गया, रासायनिक खाद, उन्नत बीज, कृषि सम्बन्धी अच्छे उपकरणों तथा कीटाणुनाशक औषधियों का अधिकाधिक प्रयोग किया गया। देश के कुछ भागों में कम अवधि में तैयार होने वाली फसलों तथा वर्ष में फसलों की संख्या बढ़ाने का भी प्रयत्न किया जा रहा है। इस योजना के अनुसार १९६९-७० में ११.४ मिलियन हेक्टर्स

भूमि पर उन्नत तथा अधिक उत्पादक बीजो का प्रयोग किया गया। उन्नत बीजो का प्रयोग सन् १९६७-६८ मे ६ ४९ मिलियन हेक्टर तथा सन् १९६८-६९ मे ९·३ मिलियन हेक्टर भूमि पर किया गया था। अनुमान है सन् १९७०-७१ मे अधिक उत्पादक बीजो का प्रयोग १४ मिलियन हेक्टर भूमि पर किया गया। सन १९६८-६९ मे बहु-फसलो (Multiple Cropping) के अन्तर्गत ६० लाख हेक्टर भूमि तथा सन् १९६९ ७० व १९७०-७० मे क्रमश ७० ६ लाख हेक्टर व ८१ ४ लाख हेक्टर भूमि थी। इस योजना के अनुसार कृषि पडतों (inputs) की पूर्ति मे अधिकाधिक वृद्धि का प्रयत्न किया जा रहा है। आशा है यह नयी कृषि नीति भारतीय कृषि का कायाकल्प करने मे महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा करेगी।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि सरकार की वर्तमान कृषि-नीति चुनी हुई फसलो तथा चुने हुए क्षेत्रो के विकास पर आधारित है। अल्पावधि-फसलो का प्रचार, नये बीजो का स्तेमाल, सिचाई तथा फर्टीलाइजर की पूर्ति इस नीति के मुख्य आधार हैं। इनके अतिरिक्त भूमि-सुधार, साख व्यवस्था आदि पर भी ध्यान दिया जा रहा है। सरकार की वर्तमान नीति का आधार, कम से कम समय मे कृषि-उत्पादन मे अधिकाधिक वृद्धि करना है।

कृषि पड़त
(AGRICULTURAL INPUTS)

किसी भी 'उत्पादन' म लिए विभिन्न प्रकार के साधनो की आवश्यकता पडती है। कृषि एक बडा व्यवसाय तथा मूल उत्पादन है अत इसके लिए भी विभिन्न साधनो की आवश्यकता होती है। कृषि के साधनो के विकास के लिए तथा आवश्यक पडतो के लिए योजनाकाल मे प्रयत्न किये गये। इन साधनो तथा पडतों का अध्ययन निम्नलिखित शीर्षकों के अन्तर्गत किया जा सकता है १ सिचाई, २. पशुधन, ३. रासायनिक खाद, ४ भू-सरक्षण ५ पौधो की रक्षा, ६ बीज, तथा ७. कृषि-उपकरण।

इसके अतिरिक्त कृषि के क्षेत्रो मे पडतो की उचित व्यवस्था तथा कृषि उत्पादन मे अधिकाधिक वृद्धि के लिए 'सामुदायिक विकास योजना', 'सहकारिता', 'पैकेज योजना' आदि का भी सगठन किया गया है। अतः उनका अध्ययन आवश्यक है।[1]

१ भू-संरक्षण तथा सूखी-खेती

एक अनुमान के अनुसार देश की लगभग २० करोड एकड भूमि क्षरण से पीडित है। प्रथम पचवर्षीय योजनाकाल मे ही इस समस्या का समाधान खोजने के प्रयत्न आरम्भ कर दिये गये थे। फलत १९५३ मे केन्द्रीय भू-सरक्षण मण्डल (Central Soil Conservation Board) स्थापित किया गया जिसका उद्देश्य भूमि तथा जल सरक्षण समस्याओ के सम्बन्ध मे शोधकार्य करना तथा सम्बन्धित कर्मचारियो को प्रशिक्षित करना था। प्रथम योजनाकाल मे भू-सरक्षण कार्यक्रम पर लगभग १ ६ करोड रुपये व्यय किये गये। इसका अधिकाश भाग महाराष्ट्र तथा मद्रास राज्यो मे लगभग ७ लाख एकड भूमि पर कट्टर बांध बनाने के लिए काम मे लिया गया। इसके अतिरिक्त भूमि तथा जल-सरक्षण सम्बन्धी प्रशिक्षण के लिए आठ प्रादेशिक प्रशिक्षण एव प्रदर्शन केन्द्र स्थापित किये गये। रेगिस्तान की समस्याओं का अध्ययन करने के लिए भी जोधपुर मे एक केन्द्र स्थापित किया गया।

द्वितीय योजनाकाल मे भू-सरक्षण कार्य पर लगभग १८ करोड रुपये व्यय किये गये। अकेले महाराष्ट्र राज्य मे ही लगभग २० लाख एकड भूमि को क्षरण से बचाया जा सका। तृतीय

---

[1] उपर्युक्त मे से, सिचाई, पशुधन, सहकारिता, सामुदायिक विकास योजना आदि का अध्ययन पिछले कुछ अध्यायो मे हो चुका है अत यहाँ पर शेष विषयो पर ही प्रकाश डाला जा रहा है।

योजना के पाँच वर्षों में लगभग १ १ करोड भूमि पर कट्टूर बाँध बनाकर २ २ करोड एकड भूमि में सूखी (बिना कृत्रिम सिचाई) खेती की व्यवस्था की गयी।

उपर्युक्त कार्यक्रमो के अतिरिक्त नदी-घाटी योजना क्षेत्रो मे लगभग १ ५ करोड एकड भूमि मे भू-सरक्षण कार्यक्रम लागू करने आवश्यक हैं। द्वितीय योजनाकाल मे १ ४ लाख एकड भूमि को क्षरण से बचाने की व्यवस्था की गयी। तृतीय योजनाकाल मे ७२ करोड रुपये खर्च करके लगभग १० लाख एकड भूमि का सरक्षण किया गया है।

सूखी खेती के विकास के लिए प्रयत्न किये जा रहे हैं। सन् १९७०-७१ मे सूखी-खेती के विकास के लिए ९ अग्रगामी योजनाएँ (प्रत्येक का क्षेत्रफल ८ हैक्टर) चालू की गयी।

२. बीज

कृषि के विकास के लिए उत्तम बीजो की व्यवस्था करना बहुत आवश्यक है और इस कार्य के लिए बढिया बीज उत्पन्न करने वाले केन्द्रो की स्थापना करना आवश्यक है। इसी दृष्टि से प्रथम दो योजनाओ मे ४,००० बीज फार्म स्थापित किये गये। इन फार्मों मे से ९० प्रतिशत बढिया बीज उत्पन्न कर वितरित किये हैं।

एक बीज फार्म प्राय २५ एकड से कम का नही होता। वास्तव मे, अधिकाश फार्म २५ एकड मे काफी बडे हैं। प्रत्येक बीज फार्म के साथ एक बीज भण्डार निर्मित किया गया है। बीजो की वितरण व्यवस्था ठीक करने के लिए तृतीय योजनाकाल मे राज्य सरकारो द्वारा प्रत्येक विकास खण्ड मे एक बीज भण्डार स्थापित किया गया।

बीजो के यथासमय वितरण के लिए बीज फार्मों तथा सहकारी समितियो मे सहयोग स्थापित किया जा रहा है। १९६३-६४ मे राष्ट्रीय बीज निगम (National Seed Corporation) ने कार्य आरम्भ कर दिया है और १,५०० एकड भूमि पर सुधरी हुई किस्म की मक्का उत्पन्न की।

अब उन्नत किस्म के बीजो का प्रयोग बढ रहा है। सन् १९६७-६८ मे १५ मिलियन एकड भूमि पर उन्नत बीजो से खेती की गयी जबकि सन् १९६८ ६९ मे २१ मिलियन एकड क्षेत्र पर उन्नत बीजो का प्रयोग किया गया।

सन् १९६८ मे बीज समीक्षा दल (Seed Review Team) ने अपनी रिपोर्ट मे यह मत प्रकट किया कि देश मे न तो पर्याप्त मात्रा मे बढिया किस्म के बीज उपलब्ध हैं, न उनका उचित प्रयोग करने के लिए जल की पर्याप्त व्यवस्था है। चतुर्थ योजना (१९६९ ७४) काल मे कृषि अनुसन्धान परिषद् राष्ट्रीय बीज निगम तथा कृषि विश्वविद्यालयो के सहयोग मे अधिक उत्पत्ति देने वाले बीजो का विकास किया जायगा तथा अधिक क्षेत्र मे उनका प्रयोग करने की व्यवस्था की जायेगी। राष्ट्रीय बीज निगम के अतिरिक्त 'तराई बीज विकास निगम' भी इस दिशा मे प्रयत्नशील है।

३ रासायनिक खाद

पाश्चात्य कृषिशास्त्रियो के अनुसार खेती को अधिकाधिक रासायनिक खाद देकर उत्पादन मे आशातीत वृद्धि की जा सकती है। भारत के सामने वर्तमान समस्या उत्पादन की मात्रा में वृद्धि करने की है अत रासायनिक खाद का प्रयोग बढाने का प्रयत्न किया जा रहा है। चेस्टर बोल्स का कथन है कि खाद के यथेष्ट प्रयोग से उत्पादन की मात्रा तिगुनी की जा सकती है।

भारत मे फर्टीलाइजर का उपयोग अन्य देशों की तुलना मे बहुत कम है। १९६६-६७ मे, , अनुमान के अनुसार भारत मे केवल ८ किलोग्राम प्रति हैक्टर फर्टीलाइजर का प्रयोग किया जाता है जबकि विश्व का औसत ३४ किलोग्राम प्रति हैक्टर है।

विभिन्न देशों में सभी प्रकार के रासायनिक खाद का उपभोग

(किलोग्राम प्रति हैक्टर)

देश	रासायनिक खाद
ब्रिटेन	१६३ ६६
हालैण्ड	६१०
जापान	३५४
बेल्जियम	५२०
न्यूजीलैण्ड	५०३
भारत	८

भारत में रासायनिक उर्वरकों की खपत का अनुमान निम्न सारणी से लगाया जा सकता है :

रासायनिक उर्वरकों की खपत

(हजार टन)

		१९६५-६६	१९७०-७१
नाइट्रोजन	N	५७५	१,४२५
फास्फेटिक	P_2O_5	१३२	४६१
पोटाश	K_2O	७७	२२९

रासायनिक खादों का प्रयोग उत्तरोत्तर बढ़ता जा रहा है। रासायनिक खादों के उपयोग में सन् १९६६-६७ व १९६७ ६८ में ४० प्रतिशत वार्षिक तथा सन् १९६८-६९ व १९६९-७० में १५ प्रतिशत वार्षिक वृद्धि हुई।

भूमि परीक्षण—रासायनिक खाद एवं बीजों का उचित प्रयोग करने तथा विभिन्न क्षेत्रों की मिट्टी का परीक्षण करने के लिए अनेक प्रयोगशालाएँ स्थापित की जा चुकी हैं जिनमें प्रति वर्ष मिट्टी के लगभग ७ लाख नमूनों का परीक्षण किया जा सकता है चतुर्थ योजनाकाल में मिट्टी के परीक्षण के लिए चलिष्णु प्रयोगशालाओं (Mobile Laboratories) की सुविधाओं का विकास *किया जायगा। इस प्रकार जिन मिट्टियों में लवण, अम्लता* (acidity) या क्षार (alkali) है उन्हें खेती के उपयुक्त बनाया जा सकेगा।

४ गहन कृषि जिला कार्यक्रम

यह कार्यक्रम १९६०-६१ में *आन्ध्र प्रदेश, बिहार, मद्रास* मध्य प्रदेश, पंजाब, राजस्थान तथा उत्तर प्रदेश के सात जिलों में लागू किया गया था। इसके बाद १९६२-६३ में छह तथा १९६३-६४ में तीन और जिले इस कार्यक्रम में शामिल कर लिए गये हैं। सन् १९६५-६६ तक यह कार्यक्रम देश के ३०८ विकास खण्डों पर लागू था, जिनका क्षेत्रफल देश में कुल जोती जाने *वाली* भूमि का ५% था। इन सभी जिलों को फोर्ड फाउण्डेशन की सहायता से विकसित किया जा रहा है। हिमाचल प्रदेश का एक जिला पश्चिमी जर्मनी की सहायता प्राप्त कर रहा है।

गहन कृषि कार्यक्रम से तात्पर्य यह है कि जिन क्षेत्रों में भूमि अच्छी है तथा सिंचाई की *सुविधाएँ पर्याप्त हैं वहाँ अधिक शक्ति और श्रम की सहायता से* कृषि विकास किया जाना चाहिए। जिन क्षेत्रों में गहन कृषि कार्यक्रम आरम्भ किये गये हैं वहाँ कुछ विशेष बातों पर ध्यान देना बहुत आवश्यक है :

(क) कृषि विकास में पंचायतों का अधिकाधिक *सहयोग प्राप्त करना* चाहिए।

(ख) प्रत्येक गाँव के लिए कृषि उत्पादन योजना बनानी चाहिए ताकि प्रत्येक किसान के लिए भी उत्पादन लक्ष्य निर्धारित किये जा सकें।

(ग) सहकारी आन्दोलन मे सम्पूर्ण गाँव को सम्मिलित कर उसे सबल बनाना चाहिए।

(घ) पशुपालन तथा दुग्ध-वितरण के कार्यक्रम को विकसित करना चाहिए।

(ङ) प्रत्येक क्षेत्र क लिए फसल योजनाएं बनायी जानी चाहिए और इन फसल योजनाओं को कृषि योजना मे सग्रथित करना चाहिए।

(च) कृषि से सम्बन्धित कार्यक्रम (भूमि सुधार, वनरोपण, सिंचाई आदि) आरम्भ किये जाने चाहिए।

सन् १९६२ ६३ मे कृषि उत्पादन की गति मे वृद्धि करने के लिए ४० जिलो को चावल की गहन खेती तथा ७६ जिलो को छोटे अनाजों की उत्पत्ति के लिए निश्चित किया गया। इन क्षेत्रो मे कृषि विस्तार अधिकारियो तथा प्रशासन कर्मचारियों द्वारा उचित देखरेख, निरीक्षण तथा रिपोर्ट आदि की व्यवस्था करनी चाहिए ताकि समय-समय पर इनकी प्रगति का सही सही अनुमान लगता रहे।

सन् १९६६-६७ मे यह कार्यक्रम १८ जिलो मे लागू था। सन् १९६५-६६ व १९६६ ६७ मे इस कार्यक्रम के अन्तर्गत क्रमश २८ ९१ लाख हैक्टर व ३१·७३ लाख हैक्टर भूमि थी।

५ गहन कृषि क्षेत्रीय कार्यक्रम

यह कार्यक्रम तृतीय पचवर्षीय योजनाकाल मे आरम्भ किया गया। कार्यक्रम सर्वप्रथम सन् १९६४ मे देश में चुने हुए जिलों के कुछ विकास खण्डो मे प्रारम्भ किया गया। इसके अन्तर्गत सम्पूर्ण देश के ७२ जिलो मे ९४६ विकास खण्ड धान की खेती के लिए ५४ जिलो मे ३१६ विकास-खण्ड ज्वार-बाजरे की खेती के लिए, ३० जिलो म २०० विकास खण्ड गेहूँ की खेती के लिए चुने गये हैं। इस कार्यक्रम के अन्तर्गत भी खेती सम्बन्धी विकास कार्य गहन कृषि जिला कार्यक्रम की ही भाँति चलाये जाते हैं। दोनो कार्यक्रमो म प्रमुख अन्तर यह है कि विकास कार्य 'गहन कृषि क्षेत्रीय कार्यक्रम' के अन्तर्गत 'गहन कृषि जिला कार्यक्रम' की अपेक्षा छोटे पैमाने पर चलाये जाते हैं तथा इनम अपेक्षाकृत व्यय कम होता है। चतुर्थ योजना काल मे सम्पूर्ण IADA तथा IAAP क्षेत्रो मे कृषि के उन्नत तरीको तथा सभी फसलो के उन्नत बीजो का प्रयोग करने का लक्ष्य निर्धारित किया गया।

६ कृषि शिक्षा तथा शोध

देश मे कृषि विकास की उन्नति करने के लिए कृषि कार्य मे शोध करना बहुत आवश्यक है ताकि उत्पादन तथा विकास की नवीनतम पद्धति का प्रयोग किया जा सके। इसके लिए विद्यालय शोध सस्थान आदि स्थापित करना आवश्यक है। द्वितीय योजना के अन्त तक भारत मे कृषि *कॉलिजों की सख्या ५३ थी जिनमे प्रति वर्ष ५,६०० विद्यार्थी प्रशिक्षित होते थे।* *तृतीय योजना* के अन्त तक इनकी सख्या ५७ और शिक्षण क्षमता ६,२०० विद्यार्थी प्रति वर्ष करने का प्रावधान था परन्तु कुछ निजी कॉलिज स्थापित होने के कारण अब कृषि कॉलिजों की सख्या ६५ हो गयी है, जिनमें ७,५०० विद्यार्थी प्रति वर्ष प्रशिक्षित हो रहे हैं। इसके अतिरिक्त देश में ९ कृषि विश्वविद्यालय स्थापित किये जा चुके हैं जिनमें पन्तनगर (उत्तर प्रदेश), लुधियाना (पजाब), उदयपुर (राजस्थान) तथा भुवनेश्वर (उडीसा) कृषि विश्वविद्यालय मुख्य हैं। चतुर्थ योजना मे इन विश्वविद्यालयो के साधन तथा क्रियाशीलता मे वृद्धि की जायगी तथा चार नये कृषि विश्वविद्यालय स्थापित किय जायेंगे। इन विश्वविद्यालयो मे कृषि अनुसन्धान कार्यक्रमो को विशेष प्रोत्साहन देने की व्यवस्था है।

भारतीय कृषि अनुसन्धान परिषद, भारतीय कृषि अनुसन्धान संस्था तथा विभिन्न वस्तुओं से सम्बन्धित समितियों के द्वारा कृषि सम्बन्धी शोधकार्य किया जा रहा है। इन अनुसन्धानों के फलस्वरूप चावल तथा गेहूँ की नयी किस्में ज्ञात की गयी हैं, तथा ज्वार, बाजरा और दालों पर किये गये प्रयोग बहुत सफल रहे हैं। मक्का की सुधरी हुई किस्मों की खेती आरम्भ हो चुकी है। रुई, तिलहन पटसन, तम्बाकू तथा मसालों पर शोधकार्य चालू है तथा फसलों के रोग दूर करने सम्बन्धी अनुसन्धानों की गति तीव्र कर दी गयी है।

उपसंहार—भारत सरकार देश में समाजवादी अथवा लोकतान्त्रिक समाजवाद की स्थापना करना चाहती है, जिसका तात्पर्य यह है कि जनता के सामान्य अधिकार न छीनते हुए एक शोषण-हीन समाज का निर्माण किया जायेगा। जहाँ तक कृषि का प्रश्न है, शोषण के यन्त्र जमींदार को अधिकार-हीन कर दिया गया है और भूमि किसान की हो गयी है। सरकार सामान्यतः कृषि कार्यों में किसी प्रकार का आदेश नहीं देती, न ही हस्तक्षेप करती है। जिन मदों में किसान को कठिनाई होती है उनमें सरकार विस्तृत सहायता देने का प्रयत्न कर रही है।

इस प्रकार सामुदायिक विकास योजनाओं, पंचायत राज तथा सहकारी समितियों की समन्वयात्मक नीति के आधार पर कृषि विकास किया जा रहा है और जहाँ जितनी आवश्यकता है वहाँ उतना धन, प्राविधिक ज्ञान अथवा उपकरण उपलब्ध कराने का प्रयत्न किया जाता है। यह नीति लोकतान्त्रिक समाजवाद तथा जन-जन की भावना के सर्वथा अनुकूल एवं आदर्श है। यदि सरकार अपनी प्रशासन व्यवस्था को तनिक कुशल बनाकर घोषित सहायता यथासमय एवं जरूरतमन्द व्यक्ति को देने का प्रबन्ध कर सके तो देश की कृषि को जड़ता के दलदल से निकालकर समृद्ध करने में कोई समय नहीं लगेगा और यह धरती पुनः 'सुजला सुफला शस्य श्यामला' बन सकेगी, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है।

६. यन्त्रीकृत कृषि

आजकल एक नया विवाद उत्पन्न हो गया है कि भारतीय कृषि का यन्त्रीकरण किया जाय या नहीं। इस सम्बन्ध में कुछ व्यक्तियों का मत है कि अन्य विभिन्न देशों की भाँति भारत में गहन खेती की जानी चाहिए, उसमें अधिकाधिक रासायनिक खाद का प्रयोग किया जाना चाहिए तथा खेती करने में ट्रैक्टर तथा अन्य यन्त्रों का सहयोग प्राप्त करना चाहिए। इससे खेती की उपज में अत्यधिक वृद्धि सम्भव हो सकेगी और देश की कृषि दरिद्रता के दलदल से निकलकर सम्पन्नता का सुख प्राप्त कर सकेगी।

यन्त्रीकरण अनावश्यक—इसके विपरीत, एक दूसरा वर्ग है जो भारतीय कृषि के यन्त्रीकरण करने के पक्ष में नहीं है। इस वर्ग का विचार है कि यन्त्रीकरण भारतीय कृषि के लिए हितकर नहीं होगा। इस पक्ष के तर्क निम्नलिखित हैं:

(१) महँगा—यन्त्रीकरण भारतीय कृषि के लिए बहुत महँगा पड़ेगा क्योंकि एक ट्रैक्टर का कम से कम मूल्य १०,००० रुपये है। कृषि कार्यों में इसका प्रयोग २-३ महीने से अधिक नहीं होगा अतः शेष समय में इतनी महँगी वस्तु बेकार पड़ी रहेगी। यदि सहकारी समितियों द्वारा भी ट्रैक्टर दिये जायें अथवा सहकारी आधार पर ट्रैक्टर खरीदे जायें तो भी वह बहुत महँगे पड़ेंगे।

यन्त्रीकरण एक और दृष्टि से भी महँगा पड़ेगा। ट्रैक्टर चलाने के लिए पेट्रोल तथा डीजल तेल की आवश्यकता पड़ती है जो भारत में अमरीका से दुगुना महँगा है। इसके अतिरिक्त भारत में न तो ट्रैक्टर यथेष्ट संख्या में निर्मित होते हैं और न ही यथेष्ट मात्रा में तेल तथा पेट्रोल उपलब्ध होता है। अतः खेती में प्रयोग करने के लिए इन्हें अधिक मात्रा में आयात करना पड़ेगा जिससे देश को विदेशी विनिमय की स्थिति में अधिक कठिनाई उत्पन्न होगी।

(२) टूटफूट की मरम्मत—कृषि का यन्त्रीकरण करने से एक अन्य कठिनाई का सामना

करना पड़ेगा, वह यह है कि ट्रैक्टरों के खराब होने पर उन्हें नगर में मरम्मत के लिए ले जाना बहुत असुविधाजनक होगा क्योंकि देश के प्रत्येक भाग में तो ट्रैक्टर अथवा अन्य यन्त्रों की मरम्मत के लिए मिस्त्रीखाने स्थापित करना सम्भव नहीं होगा।

(३) **ट्रैक्टर बनाम बैल**—उपर्युक्त कठिनाइयों के अतिरिक्त ट्रैक्टर बैल की भाँति गोबर या मूत्र की खाद नहीं देता अत: किसानों को खाद सम्पूर्ण रूप से बाजार से खरीदनी होगी। रासायनिक खाद गोबर की खाद की अपेक्षा बहुत महँगी भी है तथा देश की सम्पूर्ण भूमि के लिए इसकी पूर्ति भी पर्याप्त नहीं है। यदि आवश्यक मात्रा में रासायनिक खाद भी विदेशों से आयात की जाय तो इसका तात्पर्य यह होगा कि यन्त्रीकरण पूर्णतः विदेशी साधनों द्वारा ही सम्पन्न किया जा सकेगा क्योंकि ट्रैक्टर, पेट्रोल, डीजल तेल तथा रासायनिक खाद विदेशों से आयात करने पड़ेंगे। इससे देश की विदेशी मुद्राकोष स्थिति पर अत्यधिक भार पड़ने की आशंका है।

(४) **प्रयोग हानिकारक**—कृषि विशेषज्ञों का यह मत है कि ट्रैक्टर भूमि को अत्यधिक गहरा खोद देता है और भूमि में स्थित फफूँदी तथा बैक्टीरिया जैसे उपजाऊ तत्त्वों का नाश कर देता है। इसके एक-दो बार में ही भूमि की सम्पूर्ण जीवन-शक्ति समाप्त हो जाती है, फलतः उसे पुनर्जीवन देने के लिए हर बार पहले से अधिक खाद देने की आवश्यकता पड़ती है। इस प्रकार भूमि पर खेती करना निरन्तर अधिक खर्चीला काम होता जाता है।

(५) **फसल परिवर्तन**—स्थिर्ड डेग का मत है कि भूमि की जीवन शक्ति बनाये रखने के लिए प्रायः कई प्रकार की फसलें एक साथ (उदाहरणत: अन्न के साथ दालें) बोयी जाती हैं जिससे एक फसल द्वारा नष्ट किये गये तत्त्वों की पूर्ति दूसरी फसल द्वारा दिये गये तत्त्वों से हो जाती है। यह इस यन्त्रीकृत कृषि-व्यवस्था के अन्तर्गत सम्भव नहीं है क्योंकि इसकी व्यवस्थानुसार एक बहुत बड़े खेत में एक ही प्रकार की फसल बोयी जाती है जिससे भूमि निर्बल हो जाती है और उसमें विनाश-कारी जीव-जन्तु तथा कीटाणु उत्पन्न हो जाते हैं।

(६) **प्रयोग में कठिनाई**—जैसा कि इसके पूर्व लिखा जा चुका है, भारत में अधिकांश खेत बहुत छोटे हैं अतः उनमें ट्रैक्टरों द्वारा खेती तथा अन्य यन्त्रों द्वारा फसल की कटाई न तो सम्भव ही है और न उपयुक्त। अतः भारतीय कृषि में यन्त्रीकरण अपनाना उपादेय नहीं कहा जा सकता।

(७) **अत्यधिक बरबादी**—यन्त्रीकृत खेती के सम्बन्ध में यह भी कहा गया है कि फसल को काटने वाले यन्त्र उपकरण फसल का पूरा भाग काट लेने में समर्थ नहीं हैं। उनके द्वारा फसल का कुछ भाग सदा पौधों पर ही छूट जाता है जिससे कृषक को हानि होती है।

(८) **बेरोजगारी**—भारत जैसे जनाधिक्य वाले देश में यन्त्रीकृत खेती अपनाने का तात्पर्य यह होगा कि देश के बहुत से किसान बेरोजगार हो जायेंगे। जब तक अतिरिक्त व्यक्तियों के लिए रोजगार की व्यवस्था न की जाय, यन्त्रीकरण करना सर्वथा अनुचित होगा।

लाभ—रासायनिक खाद तथा यन्त्रीकरण के पक्ष में यह तर्क दिया जाता है कि इनके सहयोग से कृषि उत्पादन में आशातीत वृद्धि की जा सकती है और इस प्रकार खाद्यान्न तथा कच्चे माल की कमी का अन्त किया जा सकता है। यह बात सैद्धान्तिक दृष्टि से सही हो सकती है किन्तु व्यवहार में सर्वथा सच नहीं है।

विद्वानों का मत है कि गेहूँ, चावल, तथा मक्का का प्रति एकड़ उत्पादन अयन्त्रीकृत देशों में यन्त्रीकृत कृषि वाले देशों से किसी भाँति भी कम नहीं है। यहाँ तक कि गेहूँ का उत्पादन तो मिस्र में सर्वाधिक है। इससे यह भ्रम दूर हो जाता है कि केवल अधिकाधिक यन्त्रचालित कृषि द्वारा ही उत्पादन के स्तर में सुधार हो सकता है।

कीटाणु एवं रोगों से मुक्त—यन्त्रचालित कृषि एवं रसायनों के प्रयोग के सम्बन्ध में दूसरा प्रचलित भ्रम यह है कि इनकी सहायता से फसलों के रोग तथा कीटाणुओं को नष्ट किया जा

सकता है। इस सम्बन्ध मे कैलीफोर्निया विश्वविद्यालय के कृषिशास्त्र के डीन फ्रीबोर्न का मत उल्लेखनीय है। उनका कथन है [1]

"कीटाणुओ को नष्ट करने वाले रसायनो का निरन्तर प्रयोग करते रहने पर भी अमरीका मे कीडो तथा कीटाणुओ द्वारा प्रतिवर्ष लगभग ४ अरब डालर मूल्य की फसलें नष्ट कर दी जाती हैं। इसके अतिरिक्त फफी तथा अन्य रोग भी लगभग ४ अरब डालर मूल्य की फसलें नष्ट करने के लिए उत्तरदायी हैं।"

इससे स्पष्ट है कि रासायनिक खाद तथा रसायन तत्त्व कृषि फसलो की उत्पत्ति तथा विकास के लिए बहुत उपयोगी नही हैं और वह प्राकृतिक विनाश को रोकने मे विशेष सफल नही हो सके हैं। इसके विपरीत, रसायन तथा यन्त्रीकृत उपकरणो द्वारा उत्पन्न पदार्थ स्वास्थ्य की दृष्टि से उतने उपयोगी तथा पुष्टिकारक नही होते जितने कि प्राकृतिक रीतियो द्वारा उत्पन्न पदार्थ होते हैं।

कौन सा मार्ग उचित है ?—ऊपर दिये गये विचारो से स्पष्ट है कि भारत की परिस्थितियो एव साधनो का ध्यान रखते हुए भारत के लिए कृषि की प्राकृतिक रीतियो का प्रयोग करना ही अधिक उचित है। जहाँ तक उत्पादन मे वृद्धि करने का प्रश्न है, **उत्तम बीज, कम्पोस्ट तथा गोबर की खाद, फसलों के अदल-बदल, भू-शक्ति के ह्रास मे रोक** तथा सिचाई की यथेष्ट सुविधाओं के द्वारा इस उद्देश्य की पूर्ति की जा सकती है।

चेस्टर बोल्स का कथन है कि जापान मे प्रत्येक व्यक्ति हाथ से खेती करता है और यह कार्य इस सावधानी से किया जाता है कि कोई भी पौधा नष्ट नहीं हो सकता। फलत. जापान में प्रति एकड़ उत्पादन अमरीका से अधिक है। आगे चलकर वह कहते हैं कि भारत मे, "जब तक स्थानीय उद्योग का विकास सम्पूर्ण ग्रामीण जनता को रोजगार देने लायक न हो जाय, कृषि का यन्त्रीकरण जिसका मुख्य उद्देश्य श्रम मे बचत करना होता है, अधिकाश क्षेत्रों में अनार्थिक प्रमाणित होगा। बैलों की एक अच्छी जोडी को अतिरिक्त पुर्जों तथा गैसोलीन की आवश्यकता नहीं होती, उसके खराब होने का भय बहुत कम होता है तथा वह प्रचुर मात्रा में खाद उत्पन्न करता है।"

बोल्स के शब्दो मे, भारतीय ग्रामीण अर्थतन्त्र का वास्तविक समाधान उभरता हुआ प्रकट होता है। सावधानीपूर्वक जापानी अनुकरण से की गयी खेती भारत के निर्धन, अशिक्षित, किन्तु परिश्रमी किसान के लिए निश्चय ही अधिक उपयुक्त है और यदि उसे कृषि सम्बन्धी सामान्य सुविधाएँ सुलभ करा दी जायें तो वह निश्चय ही अपना और देश का भाग्य बदल सकता है।

७. फसलो का बीमा
(CROP INSURANCE)

अमरीका, ब्रिटेन तथा कुछ अन्य देशो मे फसल के बीमे की व्यवस्था है। इसका तात्पर्य यह है कि बीमा कम्पनी किसान को फसल की एक निश्चित मात्रा की गारण्टी देती है और फसल कम होने पर उसकी क्षतिपूर्ति करती है। इस गारण्टी के लिए किसान कुछ बीमा शुल्क देने का उत्तरदायी होता है।

भारत मे फसलो के बीमे की प्रथा प्रचलित नही है क्योंकि :

(१) फसलें मानसून के कारण अनिश्चित रहती हैं,
(२) सिंचाई सुविधाओ का अभाव है,
(३) कृषि-पद्धतियाँ यथेष्ट विकसित नही हैं,
(४) कृषि एक व्यवसाय न होकर केवल जीवन निर्वाह का साधन है, और
(५) किसान निर्धन है, उसे बीमे का शुल्क (Premium) चुकाने मे बहुत कठिनाई होती है।

---

[1] *A I. C. C, Economic Review*, December 15, 1956, pp 5-7.

पजाब मे प्रयोग—उपर्युक्त सब कठिनाइयो के होते हुए भी पजाब मे फसल बीमा योजना लागू की गयी है। यह योजना प्रारम्भ मे केवल ६ जिलो के १२ केन्द्रो मे प्रयोगात्मक रूप मे सचालित की जा रही है। इन केन्द्रो मे १००-१०० ग्राम हैं और अधिकतर विकास खण्डों मे हैं। आगामी दो वर्षों मे ६ जिले और सम्मिलित करने का कार्यक्रम निश्चित किया गया है। प्रारम्भ मे बीमा योजना केवल चार फसलों अर्थात गेहूँ चना, रुई तथा गन्ने पर लागू की गयी है और यह लागू किये जाने वाले क्षेत्रो के लिए अनिवार्य है। इस योजना द्वारा बाढ, ओले, सूखा, टिड्डी दल अथवा अन्य जीव जन्तु तथा मनुष्य के नियन्त्रण मे न होने वाली प्रत्येक दुर्घटना के विरुद्ध बीमा किया गया है और सरकार इन घटनाओ मे उत्पन्न हानियो की क्षतिपूर्ति करने के लिए उत्तरदायी है।

क्षतिपूर्ति—सरकार केवल उन परिस्थितियो मे क्षतिपूर्ति की व्यवस्था करेगी जबकि बीमा किये गये केन्द्र की फसल की औसत उत्पत्ति प्रमाणित उत्पत्ति के ७५ प्रतिशत से भी कम होगी। प्रत्येक किसान को अपनी सारी भूमि (जिसमे फसल बोयी गयी है) का बीमा करवाना पडेगा और निर्धारित शुल्क चुकाने पडेगे। प्रारम्भ मे प्रत्येक क्षेत्र का पांच वर्ष के लिए बीमा किया जायगा। भारत सरकार इस योजना पर आने वाली कुल लागत का ५० प्रतिशत वहन करेगी।

पजाब मे भाकरा नहरो के कारण अधिकाश कृषि योग्य भूमि सिचाई के अन्तर्गत आ गयी है और वहां की कृषि अन्य राज्यो की तुलना मे अधिक विकसित भी है। अत सिंचाई वाले क्षेत्रों मे फसल बीमा योजना लागू करने मे विशेष जोखिम नही है। देश के अन्य भागो मे यह योजना लागू करने से पूर्व बहुत-सी सुविधाओं की व्यवस्था करना आवश्यक होगा।

८ अन्य पद्धतें व कार्य

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि भारत मे कृषि के विकास के लिए विभिन्न प्रकार की पद्धतो की व्यवस्था की दिशा मे श्लाघनीय प्रयत्न किये गये हैं। उपर्युक्त के अतिरिक्त भी कुछ कदम उठाये गये हैं। जैसे (१) पौध सुरक्षा कार्यक्रम के अन्तर्गत सन् १९६५ ६६ मे १६ ६ मिलियन हैक्टर्स क्षेत्र था जो बढ कर सन् १९६९-७० में ३५ मिलियन हैक्टर्स हो गया।

(२) ट्रैक्टर्स का उत्पादन व आयात बढाने का प्रयत्न किया जा रहा है। सन् १९७० मे भारत मे २०,५०० ट्रैक्टर निर्मित हुए। इसके अतिरिक्त अन्य कृषि उपकरणो का भी आयात किया जाता है।

(३) सभी राज्यों मे Agro Industries Corporations की स्थापना की गयी है जो यन्त्रीकृत कृषि के विकास के लिए तथा कृषि-पद्धता को उपलब्ध कराने की दिशा में प्रयत्नशील हैं।

(४) सन् १९६९ ७० मे सहकारी सस्थाओ के माध्यम से ६८२ करोड रुपये की कृषि साख प्रदान की गयी।

इसके अतिरिक्त दिसम्बर १९७० तक सार्वजनिक क्षेत्र के बैंको द्वारा कृषि को ३४४ करोड रुपये की साख प्रदान की गयी थी।

22 कृषि मूल्यों की समस्या

(PROBLEM OF AGRICULTURAL PRICES)

'If controls are administratively cumbrous and may act as disincentives, lack of them it has to be remembered, may create inequalities and hardships to the prejudice especially of classes that need protection most

—Second Five-Year Plan

स्वतन्त्र अर्थ-व्यवस्थाओं में वस्तु मूल्यों में परिवर्तन एक स्वाभाविक क्रम के अनुसार होते हैं क्योंकि वस्तुओं की पूर्ति और मांग में सामञ्जस्य स्थापित हो चुकता है और आकस्मिक कारणों के फलस्वरूप ही वस्तुओं के मूल्य कभी कुछ बढ़ जाते हैं तो कभी उनमें गिरावट की प्रवृत्ति उत्पन्न हो जाती है। स्वतन्त्र स्पर्द्धा के कारण किसी भी वस्तु के मूल्य न तो अधिक समय तक बहुत ऊँचे और न ही नीचे रह सकते हैं। परन्तु यह सिद्धान्त केवल विकसित अर्थ-व्यवस्थाओं पर ही लागू होता है। अविकसित तथा विकासशील अर्थ-व्यवस्थाओं में प्रायः कृषि का महत्त्व अत्यधिक होता है और कृषि पदार्थों के मूल्य केवल मांग और पूर्ति के सिद्धान्त द्वारा ही निश्चित नहीं होते। उनके परिवर्तन अनेक आन्तरिक एवं बाह्य तत्त्वों द्वारा प्रभावित होते हैं।

१. कृषि मूल्यों में परिवर्तन

भारतीय कृषि पिछड़ी हुई अवस्था में है क्योंकि इसके विकास में प्राकृतिक एवं मानवीय दोनों तत्त्व बाधक हैं। कृषि मूल्यों में प्रायः अत्यधिक उतार-चढ़ाव होते रहते हैं। इस तथ्य की गम्भीरता का अनुमान इस बात से हो सकता है कि गेहूँ, चावल अथवा अन्य खाद्यान्नों के मूल्य में फसल के समय तथा बाद के मूल्यों में कभी-कभी १०-१५ रुपये प्रति मन तक का अन्तर हो जाता है। इस परिवर्तन के फलस्वरूप कृषि पदार्थों के संग्राहक मनमाना लाभ कमाते हैं, किसान को इस लाभ का कोई भाग नहीं मिलता और उपभोक्ता को आर्थिक कठिनाई का सामना करना पड़ता है। कृषि पदार्थों के मूल्यों में उच्च उतार चढ़ावों के निम्नलिखित कारण हैं :

(१) फसल की बिक्री—किसानों के पास संग्रह के साधन न होने के कारण (अथवा अन्य कारणों से) वे अपनी फसल का अधिकांश भाग एक साथ ही बिक्री के लिए मण्डी में लाते हैं। मण्डियों में वह माल बेचकर किसान उसी दिन घर जाना चाहते हैं, अतः माल के संग्राहक व्यापारी इस स्थिति का लाभ उठाकर माल फसल काफी कम मूल्य पर खरीद लेते हैं। इस प्रकार वह कृषि पदार्थों की पूर्ति पर प्रायः एकाधिकार स्थापित कर लेते हैं और क्रमशः मूल्य बढ़ते रहते हैं। कृषि पदार्थों के मूल्यों में फसल के समय बहुत कमी और ७-८ महीने बाद बहुत वृद्धि का यही कारण होता है। इस वृद्धि का सम्पूर्ण लाभ प्रायः व्यापारियों को ही मिलता है।

(२) उत्पत्ति—भारत मे प्रत्येक फसल की वार्षिक मांग प्राय निश्चित होती है अत यदि किसी वस्तु की फसल बहुत अच्छी हो जाय तो उसकी पूर्ति बढ जाने के कारण उसके मूल्य गिर जाते हैं। इसके विपरीत यदि किसी वस्तु का उत्पादन कम हो जाता है या फसल मे कुछ खराबी हो जाने के कारण उसकी पूर्ति कुछ कम हो जाती है तो उस वस्तु के मूल्यो मे कुछ कुछ वृद्धि हो जाती है तो उस वस्तु से मूल्यो म कुछ कुछ वृद्धि हो जाती है। सक्षेप मे, कृषि पदार्थों के मूल्यो का निर्धारण मुख्यत उनकी पूर्ति की स्थिति पर निर्भर करता है। कभी कभी व्यापारी लोग सग्रह किये गये माल को यथासमय विक्रय के लिए प्रस्तुत करने की बजाय उसे रोक लेते हैं और इस प्रकार कृत्रिम अभाव की स्थिति उत्पन्न कर मूल्य बढाने मे सफल हो जाते हैं।

(३) केन्द्रीय बैंक की साख नीति—यदि देश के केन्द्रीय बैंक की साख नीति उदार होती है तो वह व्यापारिक बैंको को सस्ते और सरल ऋण देता है जिससे व्यापारिक बैंक व्यापारियो को सस्ते ऋण देते हैं और व्यापारी बैंक से ऋण लेकर अधिक माल सग्रह कर लेते हैं। इससे प्राय वस्तुओ के मूल्यो मे वृद्धि की सम्भावना रहती है। दूसरी ओर यदि बैंक की साख नीति निरोधात्मक है तो अन्न व्यवसायियों को माल सग्रह करने के लिए कम या महँगी साख मिलती है अत वह कम माल खरीदते हैं अथवा खरीदा हुआ माल शीघ्रतापूर्वक बेचते हैं जिससे कृषि पदार्थों के मूल्य गिर जाने की प्रवृत्ति उत्पन्न हो जाती है।

मूल्यों में उतार-चढाव के दोष—कृषि-पदार्थों के मूल्य भारत सदृश देश की अर्थ व्यवस्था पर व्यापक प्रभाव डालते है। यदि मूल्य ऊँचे हो जाते हैं तो इससे कच्चे माल के व्यापारियो को विशेष लाभ होता है क्योंकि उनके पास माल का भण्डार होता है। इससे औद्योगिक माल के मूल्यो म भी वृद्धि हो जाती है और उपभोक्ताओ को अधिक मूल्य चुकाने के लिए बाध्य होना पडता है।

मूल्यो मे कमी प्राय फसल के समय मे होती है अत उससे सम्पूर्ण हानि किसानो को होती है और वह अगली फसल पर सम्बन्धित वस्तु के स्थान पर अन्य कोई फसल पैदा करने लगते हैं। सम्भवत इसीलिए गन्ने का उत्पादन बनाये रखने के लिए भारत सरकार को प्रति वर्ष गन्ने के मूल्य निर्धारित करने पडते हैं।

उपर्युक्त ब्यौरे से स्पष्ट है कि कृषि वस्तुओ के मूल्य परिवर्तनो का लाभ अधिकतर व्यापारी कमाते हैं और हानि प्राय किसानों अथवा उपभोक्ताओ को उठानी पडती है।

२ मूल्यो मे स्थायित्व की आवश्यकता

कुमारप्पा समिति के मतानुसार किसी देश के भूमि सुधारो का मुख्य उद्देश्य उस देश के कृषि उत्पादन को आदर्श अथवा उच्चतम स्तर तक पहुँचाना होता है। यदि यह सम्भव हो जाय तो कृषि पदार्थों का उत्पादन अत्यधिक हो जाता है और कभी कभी उनके मूल्यो मे गिरावट आने की आशका उत्पन्न हो जाती है। ऐसी स्थिति मे सरकार द्वारा ऐसे प्रयत्न किये जाने चाहिए कि मूल्यो मे बहुत कमी न आने पाय। अमरीकन सरकार प्रति वर्ष काफी मात्रा मे कृषि पदार्थ स्वय खरीद लेती है ताकि बाहुल्य के कारण उनके मूल्य मे अधिक गिरावट न आय और किसानों को हानि न हो।

उपर्युक्त कारण से विकसित देशो मे कृषि पदार्थों के मूल्य स्थिर रखने की आवश्यकता होती है किन्तु अविकसित अथवा विकासशील देशो मे दो प्रकार की समस्याएँ उत्पन्न हो सकती हैं (१) कृषि पदार्थों की बहुलता, तथा (२) कृषि पदार्थो की कमी।

(१) यदि देश मे कृषि पदार्थों की बहुलता है तो मूल्यों के गिरने की आशका होती है, जिससे किसानों को हानि हो सकती है और भविष्य मे उस वस्तु के उत्पादन मे कमी आने का डर रहता है। इस स्थिति का एक प्रभाव यह होता है कि उद्योगो को सम्बन्धित कच्चा माल प्राप्त

करने मे कठिनाई होने लगती है और उनके मूल्य घ न की प्रवृत्ति उत्पन्न हो जाती है। इस प्रकार मूल्यो की गिरावट से किसान तथा औद्योगिक विकास को हानि होती है।

उपभोक्ता को लाभ—कुछ व्यक्तियों की यह मान्यता है कि सस्ते मूल्यों पर कृषि पदार्थ उपलब्ध होने से उपभोक्ताओं को लाभ होता है क्योंकि उनको वह वस्तुएँ सस्ती मिल जाती हैं। *यदि सस्ती होने वाली वस्तु व्यावसायिक किस्म की (रुई, गन्ना, पटसन आदि) है तो उसमे उद्योगो* को सस्ता कच्चा माल मिलने से निर्मित माल भी सस्ता पड़ता है और कृषकों तथा अन्य सभी उपभोक्ताओं को वह माल सस्ता मिलने लगता है।

उपर्युक्त मान्यता केवल सैद्धान्तिक एव काल्पनिक है क्योकि व्यावहारिक जीवन मे कच्चा माल सस्ता होने पर भी उद्योगपति निर्मित माल के मूल्य घटाने मे सकोच करते हैं क्योंकि मूल्यों मे एक बार कमी करने पर उनमे वृद्धि करना कठिन होता है। *वस्तुत उद्योगपतियो के लिए ऐसा* करना इसलिए स्वाभाविक है कि उन्हे यह निश्चय नहीं होता कि औद्योगिक कच्चे माल के मूल्यो मे भविष्य मे वृद्धि होने की कोई सम्भावना नही है। इस दृष्टि से मूल्यो मे स्थायित्व बनाये रखना ही उचित नीति है।

(२) यदि देश मे कृषि पदार्थो का अभाव है तो स्वाभाविक रूप से उनके मूल्यो मे वृद्धि की आशका सदा बनी रहती है। किन्तु जैसा कि पहले लिखा जा चुका है यह वृद्धि फसल के समय पर प्राय सामान्य तथा बाद मे अधिक होती है अत इस स्थिति के प्रभाव भी विस्तृत एव व्यापक होते हैं, अर्थात्

(क) मूल्य वृद्धि से उपभोक्ता को अधिक मूल्य देना पड़ता है

(ख) मूल्य वृद्धि का अधिकाश भाग व्यापारी के हाथ लगता है,

(ग) औद्योगिक निर्मित माल के मूल्यों मे वृद्धि हो जाती है,

(घ) किसान को पहले मे तो अधिक मूल्य मिलता है परन्तु इसकी राशि बहुत कम होती है। इसके साथ ही उसे निर्मित उपभोग्य माल का अधिक मूल्य चुकाना पड़ता है।

उपर्युक्त तर्क भी इस बात की पुष्टि करता है कि कृषि पदार्थों के मूल्यों में विशेष वृद्धि होने देना भी न्यायसगत नही है, अत मूल्य स्थायित्व की नीति ही उचित कही जा सकती है।

मूल्यो में उतार-चढ़ाव से हानि—मूल्यो की अस्थिरता किसानो के लिए विशेष कष्टदायक होती है क्योकि उन्हे फसल के लिए बीज खरीदने पड़ते है जिनके भाव महँगे होने के कारण उन्हे अधिक ऋण लेना पड़ता है। मूल्यो की अनिश्चितता का एक दुष्प्रभाव यह होता है कि भूमि के विकास एव कृषि सुधार पर कोई नयी पूँजी विनियोजित नहीं की जाती क्योंकि उस पूँजी का उचित प्रतिफल मिलने की गारण्टी नहीं होती।

उचित मूल्य—यह निश्चय कर लेने के पश्चात कि कृषि पदार्थों के मूल्यो मे स्थायित्व बनाये रखने की चेष्टा करनी चाहिए, यह तय करना आवश्यक हो जाता है कि मूल्य निर्धारण किस स्तर पर किया जाय।

कुमारप्पा समिति का मत है कि कृषि वस्तुओ के मूल्य ऐसे स्तर पर निश्चित किये जाने चाहिए जो उत्पादक तथा उपभोक्ता दोनो के अनुकूल हो। समिति के विचार मे उचित मूल्य वह है **जिसके द्वारा कृषक को कम से कम इतनी रकम मिल जाय कि वह अपने परिवार सहित एक ऐसा जीवन-स्तर बिता सके जो उस वर्ग के व्यक्तियो के लिए उचित कहा जा सके।** इस सम्बन्ध मे कुमारप्पा समिति ने कृष्णमाचारी समिति की सिफारिशो को स्वीकार करते हुए उचित मूल्य मे निम्न तत्त्वों का समावेश करना आवश्यक बताया है

(१) *कृषि पदार्थों तथा सेवाओं का लागत मूल्य,*

(२) कृषि श्रमिकों की न्यूनतम मजदूरी,

(३) कृषि तथा पशुपालन के बीमे का शुल्क ।

समिति ने स्पष्ट शब्दों में यह मत व्यक्त किया कि कृषि पदार्थों का लागत मूल्य भूमि, जलवायु, फसल की किस्म, भूमि की जोत का आकार तथा अन्य कई तत्त्वों पर निर्भर करता है अतः उसका निर्धारण करने के लिए विशेष जाँच समितियाँ नियुक्त की जानी चाहिए। जब तक इन समितियों की रिपोर्ट प्राप्त नहीं हो जाय तब तक मूल्य निर्धारण लागत तथा जीवन-स्तर दोनों बातों की सामान्य जानकारी के आधार पर निश्चित करना चाहिए।

उचित मूल्य के सम्बन्ध में कृष्णमाचारी समिति ने यह मत व्यक्त किया था कि आधार के लिए १९२४-२५ से लेकर १९२८-२९ के पाँच वर्ष सर्वोत्तम थे क्योंकि इन वर्षों में मूल्य सामान्य स्तर पर आ गये थे। समिति की मान्यता यह है कि उचित मूल्य निर्धारण करने में मूल्य की न्यूनतम तथा अधिकतम सीमाएँ निश्चित करनी चाहिए और यह सीमाएँ निश्चित करते समय वर्तमान आर्थिक स्थिति का ध्यान रखना चाहिए।

यदि गम्भीरतापूर्वक देखा जाय तो कृषि वस्तुओं के मूल्य निर्धारण करने में निम्नलिखित तत्त्वों को अवश्य सम्मिलित करना चाहिए

(१) भूमि का लगान, (२) खाद तथा बीज का मूल्य, (३) कृषि उपकरणों का अपकर्ष, (४) सिंचाई की लागत, (५) बैलों का खर्च, (६) कृषक की मजदूरी, (७) कृषक के ऋण पर ब्याज, तथा (८) अन्य खर्च।

इन सब खर्चों के अतिरिक्त सामान्य जीवन-स्तर का ध्यान भी रखना चाहिए।

३ उचित मूल्य बनाये रखने के उपाय

कृषि पदार्थों के न्यूनतम मूल्यों की घोषणा फसल तैयार होने से पूर्व ही करना उचित होता है जिससे कि कृषकों को विश्वास बना रहे। कभी-कभी फसल तैयार होने पर निर्धारित मूल्यों को बनाये रखना कठिन होता है। अमरीका तथा ब्रिटेन आदि देशों में कृषकों के लिए उचित मूल्यों की गारण्टी दी जाती है और यदि मूल्यों में गिरावट आने लगे तो सरकार फसलों को निर्धारित मूल्यों पर खरीदना आरम्भ कर देती है। यदि मूल्यों में अत्यधिक वृद्धि होने लगे तो सरकार अपने भण्डार मुक्त कर देती है और उचित मूल्य पर आवश्यक मात्रा में माल बेचती है। यदि माल की विशेष कमी हो तो विदेशों से आयात का सहारा भी लिया जा सकता है। इस प्रकार कृषि पदार्थों के मूल्य निश्चित स्तर पर बनाये रखे जाते हैं।

कृष्णमाचारी समिति ने यह सिफारिश की थी कि कृषि पदार्थों के मूल्य फसल से पूर्व ही निश्चित कर देने चाहिए। यदि किसानों को अपनी उपज निर्धारित मूल्यों से कम पर बेचनी पड़े तो सरकार द्वारा हानि की क्षतिपूर्ति कर देनी चाहिए।

आयात-निर्यात—कृषि मूल्यों को स्थिर रखने के लिए सरकार को अपनी आयात-निर्यात नीति बहुत लोचदार रखनी होगी ताकि जिन वस्तुओं के मूल्यों में बहुत कमी आना आरम्भ हो जाय उन्हें विदेशों में निर्यात किया जा सके। अतः सरकार द्वारा जो भी व्यापारिक समझौते किये जाएँ उनमें कृषि पदार्थों के सम्भावित मूल्यों का ध्यान अवश्य रखा जाना चाहिए।

प्रशासन व्यवस्था—मूल्यों में स्थायित्व बनाये रखने के लिए सरकार द्वारा त्रिमुखी नीति अपनाना आवश्यक है—(१) नीति निर्धारित करना, (२) न्यूनतम तथा अधिकतम मूल्य निश्चित करना, तथा (३) निर्धारित मूल्यों को बनाये रखना। इन तीनों कार्यों के प्रशासन का दायित्व कुछ व्यक्तियों को सौंपना आवश्यक है। यदि तीनों के लिए अलग-अलग समितियाँ अथवा कार्यालय स्थापित किये जाएँ तो उनमें यथोचित सामञ्जस्य स्थापित करने की चेष्टा करनी चाहिए ताकि किसी स्थान पर किसी कार्य में बाधा अथवा असुविधा उत्पन्न होने का भय न हो।

वस्तु मूल्यों में स्थायित्व बनाए रखने के लिए विशेषतः निम्नलिखित कार्य करना उपयोगी होता है

(१) नियन्त्रण तथा राशन व्यवस्था—खाद्यान्नों के मूल्यों में निरन्तर वृद्धि होने पर सरकार को उच्चतम मूल्यों की घोषणा कर देनी चाहिए और उनसे अधिक मूल्य लेने वालों को कड़े दण्ड देने की व्यवस्था की जानी चाहिए। मूल्य नियन्त्रण नीति को सफल बनाने के लिए सरकार द्वारा आवश्यक कृषि पदार्थों का राशनिंग कर उनके वितरण के लिए सरकारी दुकानें खुलवानी चाहिए अथवा निजी दुकानदारों को प्रतिनिधि नियुक्त कर देना चाहिए।

(२) सहकारी भण्डार—मूल्य नियन्त्रण वाले कृषि पदार्थों के वितरण का कार्य सहकारी भण्डारों को सौंपना ठीक होता है क्योंकि इन भण्डारों का मुख्य उद्देश्य जनता की सेवा करना है, लाभ कमाना नहीं।

(३) मूल्य कम रखने में सहायता—सहकारी भण्डारों के माध्यम से बिकने वाले कृषि सम्बन्धी माल बेचे जाने वाले उनके भाव उचित स्तर पर निश्चित किए जाने चाहिए। यदि सरकार ने बाजार से या विदेशों से जो माल खरीदा है उससे कम भाव पड़ता हो तो उस नुकसान की हानि सरकार द्वारा सहन कर लेनी चाहिए।

खाद्यान्नों के अतिरिक्त दालें, तेल, चीनी, कपड़ा आदि के मूल्य में अधिक वृद्धि होने लगे तो सरकार द्वारा उनका व्यापार स्वयं हाथ में लेने की आवश्यकता नहीं है क्योंकि इनके मूल्यों को स्थायी बनाए रखने पर नियन्त्रण और बहुत व्यापक प्रकार प्रयत्न की आवश्यकता नहीं है किन्तु फिर भी सरकार द्वारा तीन कार्यवाहियाँ अवश्य करनी चाहिए

(१) सम्बन्धित वस्तुओं के अधिकतम मूल्य घोषित करना तथा अधिक मूल्य लेने वालों को दण्ड देने की व्यवस्था करना।

(२) इन वस्तुओं का सट्टा अनिवार्य रूप से प्रतिबन्धित करना।

(३) इन वस्तुओं का विदेशों से आयात कर उनकी मांग पूरी करने का प्रयत्न करना।

उपर्युक्त कार्यों से उपभोक्ता पदार्थों के मूल्यों में भी असाधारण रूप से अधिक वृद्धि होने की आशंका उत्पन्न नहीं होगी और वृद्धि होगी तो उसकी सीमा निर्धारित की जा सकेगी।

फोर्ड फाउण्डेशन दल के सुझाव—दल के मतानुसार मूल्यों में स्थायित्व रखने का उद्देश्य कृषि पदार्थों के भाव उचित स्तर पर बनाए रखना है। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए एक स्थायी समिति गठित की जानी चाहिए जिसके निम्नलिखित दायित्व हों

(१) न्यूनतम एवं अधिकतम मूल्य निर्धारित करना।

(२) फसल बोने से काफी समय पूर्व उचित मूल्यों की घोषणा करना।

(३) आवश्यकतानुसार विभिन्न पदार्थों के क्रय विक्रय की व्यवस्था करना।

(४) विभिन्न वस्तुओं के स्टॉक की मात्रा तथा स्थान निश्चित कर उनके आवश्यक मात्रा में भण्डार निर्मित करना।

(५) वस्तुओं के आयात-निर्यात सम्बन्धी नीति निर्धारित करना तथा मूल्य नियन्त्रण सम्बन्धी अन्य कार्यवाही करना।

(६) कृषि पदार्थों के वर्गीकरण को प्रोत्साहन देना।

उपर्युक्त दल ने भी यह सिफारिश की थी कि सरकार द्वारा कुछ प्रमुख केन्द्र-स्थानों में मण्डियाँ स्थापित करनी चाहिए ताकि किसान बिचौलियों के पास न जाकर उन स्थानों पर बेच सकें।

मूल्य स्थायित्व के लाभ—कृषि पदार्थों के मूल्य स्थिर रहने से समाज के विभिन्न वर्गों को निम्नलिखित लाभ होते हैं

(१) किसान को उसके श्रम का उचित मूल्य मिलने की गारण्टी होती है।

(२) व्यापारी को कृषि पदार्थों के व्यापार मे जोखिम नही रहती।

(३) उद्योगपति को माल का अधिक भण्डार रखने के लिए अपनी पूंजी का एक भाग कच्चे माल मे नही फँसाना पडता।

(४) निर्मित माल के मूल्यो म स्थिरता रहती है।

(५) उपभोक्ता को आर्थिक कठिनाई का सामना नही करना पडता।

(६) सरकार तथा निजी उद्योगपतियो के लिए प्रशासन व्यवस्था बनाये रखना सरल होता है, क्योकि कर्मचारियो द्वारा बार बार महँगाई भत्ते या वेतन वृद्धि की माँग नही की जाती।

उपर्युक्त लाभो के अतिरिक्त देश की अर्थ व्यवस्था सुगठित एव सबल रहती है जिससे देशी तथा विदेशी लेन देन मे सरलता रहती है। भारत के लिए मूल्य स्थायित्व का सबसे महत्वपूर्ण लाभ यह है कि उसे सभी देशो म व्यापार करने म कठिनाई नही होती और पचवर्षीय योजना के अन्तर्गत लिए जाने वाले कृषि तथा अन्य कार्यक्रमो के लिए विदेशी पूँजी तथा ऋण प्राप्त करने म कोई कठिनाई नही होती।

४ भारत मे कृषि मूल्य

भारत मे मानसून के प्रभाव के कारण कृषि वस्तुओ के उत्पादन म उतार-चढाव होते रह हैं। राजाओ, नवाबो तथा ब्रिटिश शासन के अधिकाश समय म मूल्यो के निर्धारण, नियमन तथा नियन्त्रण सम्बन्धी कोई व्यवस्थाएँ नही थी। जब भी देश मे अभाव की स्थिति उत्पन्न होती, सरकार अन्न वितरण करने के लिए आकस्मिक उपाय कर लेती थी और अभाव की स्थिति समाप्त होने पर वह भी समाप्त कर दिये जाते थे। इस तथ्य की पुष्टि के लिए अधिक ज्वलन्त उदाहरण और क्या दिया जा सकता है कि १९४३ के बगाल के अकाल का मुख्य कारण भी चावल के मूल्य मे अप्रत्याशित वृद्धि थी। सरकार के पास मूल्य नियन्त्रण के लिए उचित प्रशासन क्षमता न होने के कारण लाखो व्यक्तियो को भूख म तडपकर प्राण देने पडे।

योजनाकाल—एक विकासशील अर्थव्यवस्था म मूल्य नीति निर्धारण मे दो बातो का ध्यान रखना आवश्यक होता है। प्रथम यह कि मूल्यो मे परिवर्तन योजना में निर्धारित प्राथमिकताओं तथा उत्पादन लक्ष्यों की प्राप्ति में सहायक हो। दूसरे, सामान्य जनता के दैनिक उपयोग मे आने वाली वस्तुओं के मूल्यो में विशेष वृद्धि नहीं होनी चाहिए। भारत के आयोजन काल म इन दोनो ही तथ्यो के महत्व पर जोर दिया गया और मूल्यो मे वाछनीय प्रवृत्तियो को रोकने की चेष्टा की गयी। किन्तु इन सब प्रयत्नो के होते हुए भी प्रथम योजना के पाँच वर्षो मे निरन्तर उतार चढाव होते रहे हैं और द्वितीय योजनाकाल म वस्तु मूल्यो मे क्रमश वृद्धि होती रही। तृतीय योजना की अवधि म भी कृषि मूल्यो की वृद्धि का क्रम रोका नहीं जा सका।

योजनाकाल मे कृषि वस्तुओ के मूल्यों की प्रवृत्तिया निम्न रही हैं

(१) प्रथम योजना—भारतीय आयोजन के प्रथम पाँच वर्षो मे कृषि पदार्थो के मूल्यों मे परिवर्तन की प्रवृत्तियाँ समान रही हैं क्योकि पटसन तथा तिल के मूल्यो मे सामान्यत गिरावट की प्रवृत्ति दिखायी पडती है जबकि रुई तथा मूँगफली के मूल्यो मे अनियमित उतार चढाव आते रहे हैं। खाद्य पदार्थों के मूल्यो मे सामान्यत वृद्धि की प्रवृत्ति ही प्रबल है। यदि १९५१ का वर्ष निकाल जाय तो रुई के मूल्यो मे निरन्तर वृद्धि दृष्टिगोचर होती है। इन प्रवृत्तियों का स्पष्टीकरण अग्रलिखित तथ्यो से हो सकता है *

प्रथम योजना में मूल्य प्रवृत्तियाँ
(सूचकांक १९३९=१००)

वस्तु	१९५१	१९५६
१ खाद्य पदार्थ	४१४	३५६
२ रुई	४६१	४७२
३ पटसन	१,४००	४३६
४ मूंगफली	८३१	६०१
५ तिल	६५४	४५४

प्रथम योजनाकाल का समारम्भ कोरिया के युद्ध की मँहगाई से हुआ। जैसा कि ऊपर दी गयी तालिका से स्पष्ट है, १९५१ मे प्राय सभी कृषि पदार्थों के मूल्य बहुत ऊँचे थे अत इनके आधार पर योजनाकाल की मूल्य प्रवृत्तियो की तुलना करना उचित नही है। उदाहरणत खाद्य पदार्थों के मूल्य स्तर मे बहुत अच्छी फसल के कारण १९५५ मे काफी गिरावट आयी किन्तु १९५६ मे पुन वृद्धि हो गयी। १९५५ मे गिरावट का एक लाभ यह हुआ कि सरकार ने खाद्यान्नो के कुछ स्टॉक निर्मित कर लिये।

जीवन-निर्वाह सूचकांक—जुलाई १९५५ मे ही खाद्यान्नो के मूल्यो मे पुनः वृद्धि आरम्भ हो गयी और वह प्रथम योजना की शेष अवधि मे निरन्तर बढती गयी। मार्च १९५१ मे श्रमिको का जीवन निर्वाह सूचकांक १०३ (१९४९=१००) था। इसमे प्राय काफी उतार-चढाव होते रहे और मार्च १९५५ मे यह (खाद्यान्नो के मूल्यो मे गिरावट के कारण) ९४ तक गिर गया, किन्तु योजना अवधि के अन्त तक यह पुन १०० तक आ गया। इस प्रकार सम्पूर्ण प्रथम योजना काल में जीवन-निर्वाह व्यय ३ प्रतिशत कम हो गया परन्तु मार्च १९५६ तक मूल्य वृद्धि की क्रमिक प्रवृत्ति दृष्टिगोचर होने लगी थी और एक वर्ष मे ही यह ६ प्रतिशत ऊँचे चले गये।

प्रथम पचवर्षीय योजना मे कृषि मूल्यो की मूल प्रवृत्ति का निर्णय इस बात से किया जाना चाहिए कि १९५१ की तुलना मे मूल्यो का गिरना अत्यन्त स्वाभाविक एव आवश्यक था परन्तु बीच मे खाद्यान्नो के मूल्य मे जो कमी आयी वह अत्यधिक और हानिकारक थी। गिरावट की इस प्रवृत्ति को रोकने मे कुछ समय लग गया क्योंकि लोगो के मन मे निरन्तर यह सन्देह बना रहा कि सरकार न जाने किस मूल्य पर खाद्यान्न खरीदेगी।

(२) **द्वितीय योजनाकाल**—प्रथम योजना के अन्तिम वर्ष मे मूल्यो मे वृद्धि की जिस प्रवृत्ति का आरम्भ हुआ वह निरन्तर द्वितीय योजना काल मे चालू रही। फलत थोक मूल्यों के सामान्य सूचकांक में ३० प्रतिशत, खाद्य पदार्थों में २७ प्रतिशत, औद्योगिक कच्चे माल मे ४५ प्रतिशत तथा निर्मित वस्तुओं मे २५ प्रतिशत की वृद्धि हो गयी। इन प्रवृत्तियो का अनुमान निम्न अंको से लगता है :

द्वितीय योजनाकाल मे मूल्य परिवर्तन[1]
(मार्च के सप्ताहो की औसत के आधार पर आकलित सूचकांक)
(१९५२-५३=१००)

वस्तु	१९५६	१९६१
१. खाद्य वस्तुएँ :	९२·८	११७·६
अनाज	८६	१००
दालें	७७	९३
२ औद्योगिक कच्चा माल :	१०९४	१५९·१
रुई	१०७·	१११
तिलहन	१०६	१५०

1 *Third Five-Year Plan*, p 122

तालिका से यह स्पष्ट है कि द्वितीय योजना मे खाद्य पदार्थों (सम्मिलित) के थोक सूचकांक मे लगभग २५ प्रतिशत की वृद्धि हुई जबकि अन्न तथा दालो के मूल्य निरन्तर बढकर पुन गिर गये। इस प्रकार खाद्य पदार्थों की मूल्य वृद्धि मे अनाज तथा दालो के अतिरिक्त अन्य वस्तुओं का प्रभाव अधिक हुआ है।

वृद्धि के कारण—सन् १९५६ १९६१ मे मूल्य वृद्धि का एक कारण तो यह रहा है कि जनसख्या और मौद्रिक आय बढने से खाद्य तथा अन्य वस्तुओं की माँग में वृद्धि हो गयी। इसके अतिरिक्त पूर्ति के सामान्य अभाव का भी कुछ असर पडा। उदाहरणत, १९५७ ५८ मे अन्न का उत्पादन पिछले वर्ष से ६० लाख टन कम और १९५९ ६० मे गत वर्ष से ४० लाख टन कम था। इसी वर्ष रुई की उपज गत वर्ष से १८ प्रतिशत कम, पटसन की फसल १२ प्रतिशत कम तथा तिलहन का उत्पादन ८ प्रतिशत कम था। इन अभावों का मूल्य स्तर पर बहुत व्यापक प्रभाव पडा।

यद्यपि द्वितीय योजना के अन्त म खाद्यान्नों के मूल्य बहुत ऊँचे नही कहे जा सकते परन्तु पाँच वर्षों मे होने वाले उतार-चढावों ने देश की सम्पूर्ण अर्थ-व्यवस्था को मानो झकझोर कर रख दिया। योजना के अन्तिम भाग म अमरीकी सार्वजनिक नियम-४८० (P L 480) के अन्तर्गत खाद्यानो का आयात किया गया जिससे मूल्यो मे कुछ स्थायित्व की स्थिति उत्पन्न हुई।

जीवन-निर्वाह व्यय—द्वितीय योजना के पाँच वर्षों मे थोक मूल्य सूचकांको की भाँति ही जीवन निर्वाह सूचकांक भी निरन्तर ऊँचे रहे और जीवन निर्वाह सूचकांक जो १९५६ मे १०० (१९४९=१००) था, १९६१ मे १२४ हो गया। योजना के प्रारम्भिक भाग मे जीवन निर्वाह व्यय मे वृद्धि खाद्यान्नो के मूल्य मे वृद्धि के कारण हुई। अन्तिम दो वर्षों में खाद्यान्नो के मूल्य स्थायी हो गये परन्तु जीवन निर्वाह सूचकांक म गिरावट नही लायी जा सकी। इसका कारण यह था कि खाद्य पदार्थों के वर्ग म अन्य कई वस्तुओ के मूल्यो मे वृद्धि हो गयी थी।

द्वितीय योजना की प्रगति से यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि सामान्य मूल्य स्तर मे स्थायित्व मुख्यत इस बात पर निर्भर करता है कि देश मे कृषि वस्तुओं के उत्पादन की क्या गति है तथा सरकार के पास कृषि पदार्थों के अभाव की पूर्ति के लिए कितना माल भण्डार म है। इस सम्बन्ध में कृषि पदार्थों म सट्टे की प्रवृत्ति का भी उचित नियन्त्रण करना आवश्यक है।

(३) तृतीय योजना काल तथा उसके पश्चात्—यह एक सामान्य तथ्य है कि यदि देश म पूँजी विनियोजन की मात्रा बढायी जाय तो जनता की मौद्रिक आय मे वृद्धि हो जाती है और उपभोग्य पदार्थों की माँग बढने लगती है। इस तथ्य को तृतीय योजना के निर्माताओं ने भली प्रकार समझा जिसके फलस्वरूप जहाँ उन्होने पूँजी विनियोग की मात्रा (राष्ट्रीय आय के) को ११ प्रतिशत से बढाकर १४ प्रतिशत करने का प्रावधान किया वहाँ खाद्यान्नो की उत्पत्ति ३० प्रतिशत, रुई म ३७ प्रतिशत, तिलहन मे ३८ प्रतिशत तथा शक्कर के उत्पादन मे २५ प्रतिशत वृद्धि के लक्ष्य निर्धारित किये।

तृतीय योजना के आरम्भ मे कृषि पदार्थों के मूल्य विशेष ऊँचे नही थे क्योंकि सरकार अन्न भण्डारो म से पूर्ति कर मूल्यों म स्थायित्व रखने क लिए प्रयत्न कर रही थी। १९६०-६१ मे फसल अच्छी होने के कारण १९६१-६२ मे कृषि पदार्थों म मूल्यो मे कुछ कमी आयी जिसके फलस्वरूप सामान्य मूल्य सूचकांक मे ३६ प्रतिशत गिरावट आ गयी। किन्तु अप्रैल १९६२ स कृषि पदार्थों के मूल्यो म तीव्र गति स वृद्धि होनी आरम्भ हो गयी। फलत १९६२-६३ म मूल्य क म ३ प्रतिशत की वृद्धि हो गयी। इसके पश्चात् वृद्धि की गति निरन्तर तीव्र होती गयी। ... द्वारा तृतीय योजना एव बाद क काल मे कृषि पदार्थों क मूल्यो म हुई वृद्धि का अनुमान ... जा सकता है

कृषि-वस्तुओं के थोक-मूल्यों का सूचकांक
(आधार वर्ष १९६१-६२=१००)
वर्ष के

	१९६२-६३	१९६५-६६	१९७०-७१
कृषि वस्तुएँ	१००	१४८	१९४
खाद्य वस्तुएँ	१०५	१५०	२००
खाद्यान्न	१०२	१५६	२००
चावल	१०५	१५३	१९५
गेहूँ	९६	१५०	२०८
दालें	११०	१८०	२२८
कपास	११२	११६	२३६
जूट	७०	१६०	१३५
सभी वस्तुएँ	१०४.६	१३३.५	१८०.७

[Source Economic Source 1970-71]

उपर्युक्त सारणी से स्पष्ट है कि कृषि-वस्तुओं की कीमतों का सूचकांक सन् १९७०-७१ में १९४ था तथा सभी खाद्य वस्तुओं और खाद्यान्नों का सूचकांक २०० था। इससे यह स्पष्ट है कि कृषि वस्तुओं विशेषकर खाद्यान्नों की कीमतों में तेजी से वृद्धि हो रही है। गेहूं, दालें और कपास का सूचकांक सन् १९७०-७१ में क्रमशः २०८, २२८ व २३६ था। इस प्रकार इन वस्तुओं की कीमतों में अपेक्षाकृत तेजी से वृद्धि हुई है। वस्तुतः कृषि वस्तुओं की कीमतें सभी वस्तुओं की तुलना में तेजी से बढ़ रही हैं।

कृषि मूल्य आयोग (Agricultural Prices Commission)

कृषि-वस्तुओं के मूल्यों की नीति के सम्बन्ध में सरकार को सलाह देने के लिए सन् १९६५ में इस आयोग की नियुक्ति की गयी। आयोग का कर्तव्य यह देखना भी है कि कृषि मूल्य-नीति का प्रभाव अर्थ-व्यवस्था के शेष भागों पर, विशेषकर जीवन-निर्वाह व्यय, मजदूरी तथा औद्योगिक उत्पादन की लागतों पर किस सीमा तक पड़ता है। आयोग प्रति वर्ष विभिन्न कृषि-वस्तुओं के मूल्यों के सम्बन्ध में सलाह देता है तथा विभिन्न वस्तुओं का मूल्य निश्चित करता है। यह आयोग केवल सलाहकार संगठन है। आयोग विशुद्ध रूप से आर्थिक नियमों तथा अर्थ-व्यवस्था के हितों को ध्यान में रखकर अपना सुझाव देता है, परन्तु दुर्भाग्यवश सरकार आयोग के सुझावों को अधिकांशतः स्वीकार नहीं करती तथा कृषि-वस्तुओं का मूल्य निर्धारण मनमाने ढंग से करती है। १९६५-६६ तथा १९६६-६७ के दो वर्षों में सरकार ने आयोग द्वारा सुझाये गये मूल्यों से अधिक ऊँचे मूल्यों की घोषणा की। इस प्रकार कृषि मूल्यों की समस्या का समाधान करने में आयोग के प्रयत्न निष्फल सिद्ध होते हैं।

निष्कर्ष—कृषि पदार्थों के मूल्यों की समस्या मुख्यतः *उत्पादन एवं वितरण की समस्या है*, अतः मूल्यों में स्थायित्व रखने के लिए उत्पादन तथा पूर्ति का भाव नियमित एवं नियन्त्रित होना चाहिए ताकि असामाजिक तत्वों को अभाव का लाभ उठाने का अवसर न मिल सके। वस्तुतः

कृषि मूल्यो की वृद्धि की समस्या का समाधान अधिक उत्पादन तथा सरकार की निश्चित नीति तथा उसे दृढतापूर्वक क्रियान्वित करने मे सन्निहित है। यह बडे दुर्भाग्य की बात है कि सरकार निश्चित नीति की घोषणा करने तथा उसे क्रियान्वित करने मे पार्टी के राजनीतिक हितो का अधिक ध्यान रखती है तथा देश के आर्थिक हितो का कम। सरकार की आर्थिक नीतियां, कृषि मूल्यो की समस्या के लिए अधिक जिम्मेदार हैं। प्रो० दांतवाला के शब्दो मे

> "If one wants to watch the spectacle of running with the hare and hunting with the hound, the best illustrations is to be found in the Government's economic policy making and in the pyrotechnics of politicians "[1]

---

[1] Prof M L, Dantwala, *The Fallacy of Price Incentives*, Economic Times Sept 26, 1967.

23

भारत में औद्योगिक विकास—सामान्य सर्वेक्षण (सन् १९५१ तक)

(INDIA'S INDUSTRIAL EVOLUTION—GENERAL SURVEY)

"At a time when the west of Europe the birth place of his modern, industrial system, was inhabited by uncivilised tribes, India was famous for the wealth of her rulers and for the high artistic skill of her craftsman" —*Industrial Commission, 1918*

भारत : एक औद्योगिक देश—ईसा के २,००० वर्ष पूर्व भी भारत औद्योगिक दृष्टि से एक समृद्धशाली देश था। मिस्र के पिरामिडों में, भारतीय मलमल में लिपटे शव इस तथ्य के साक्षी हैं। दिल्ली का ऐतिहासिक लौह-स्तम्भ हमारे लौह एवं इस्पात उद्योग की प्राचीनता का ज्वलन्त उदाहरण है। मौर्यकाल में ही भारत का विदेशी व्यापार समुद्री मार्गों द्वारा प्रारम्भ हो गया था। उस समय रेशमी वस्त्र, गलीचे, हाथी दाँत के सामान, बर्तन आदि भारत के निर्यात की प्रमुख वस्तुएँ थीं। भारतीय जहाजरानी भी उस समय उन्नतावस्था में थी। मुगलकालीन कला एवं वाणिज्य का उल्लेख बर्नियर तथा टेवर्नियर ने अपने यात्रा-वृत्तान्तों में प्रशंसापूर्ण शब्दों में किया है। सम्राट अकबर के शासनकाल में भारतीय सूती एवं रेशमी वस्त्रों का निर्यात फारस तथा अन्य अरब देशों को किया जाता था। ग्रामीण क्षेत्रों में सोना, चाँदी, लकड़ी, आभूषण, वस्त्र-निर्माण आदि के उद्योग प्रमुख थे। शहरी उद्योगों में मुर्शिदाबाद के रेशमी वस्त्र, ढाका की मलमल, काश्मीर के शाल, बनारस की जरीदार साड़ी तथा मुरादाबाद के बर्तन प्रसिद्ध थे।

ईस्ट इण्डिया कम्पनी तथा प्रारम्भिक ब्रिटिश-काल—सम्राट अकबर के शासनकाल में भारतीय उद्योग पर्याप्त उन्नतावस्था में थे। उस समय भारत से सूती तथा रेशमी कपड़े मध्य-पूर्व के देशों को बड़ी मात्रा में भेजे जाते थे। भारत के इसी व्यापार ने पश्चिमी देशों का ध्यान आकर्षित किया। सन् १६०० में एलिजाबेथ प्रथम ने ईस्ट इण्डिया कम्पनी को भारत तथा अन्य पूर्वी देशों से व्यापार करने की राजाज्ञा प्रदान की। यूरोप के अन्य देश, जैसे—फ्रांस, पुर्तगाल तथा हालैण्ड भी भारतीय व्यापार की ओर आकर्षित हुए। इस प्रकार भारतीय व्यापार को अपने अधीन करने के लिए इन देशों में भीषण प्रतिस्पर्द्धा प्रारम्भ हुई। ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने भारतीय वस्तुओं का प्रचार यूरोप में किया तथा उन्हें लोकप्रिय बनाया और सत्रहवीं शताब्दी के अन्त तक भारतीय वस्तुओं की धूम यूरोपीय बाजारों में रही तथा इस व्यापार से ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने पर्याप्त लाभार्जन किया। भारतीय निर्यात के कारण ब्रिटेन के उद्योगों को बहुत क्षति उठानी पड़ी। इस परिस्थिति का सामना करने के लिए ब्रिटिश सरकार ने भारतीय वस्तुओं पर

भारी मात्रा में आयात-कर भी लगाना प्रारम्भ कर दिया। इस प्रकार भारतीय निर्यात व्यापार को समाप्त करने का प्रयत्न किया गया।

ब्रिटिश औद्योगिक नीति—सन् १७५० के पश्चात् इंगलैण्ड में औद्योगिक क्रान्ति प्रारम्भ हुई जिसने औद्योगीकरण को एक नयी दिशा प्रदान की। औद्योगिक क्रान्ति के कारण आर्थिक परिस्थितियों में आमूल चूल परिवर्तन हो गया। अब ब्रिटेन को अपने उद्योगों को चलाने के लिए अधिक मात्रा में कच्चे माल तथा मशीनों द्वारा बड़े पैमाने पर उत्पादित निर्मित माल के लिए विदेशी बाजारों की आवश्यकता हुई। अतः ब्रिटेन की व्यापारिक नीति में परिवर्तन हुआ। अब ब्रिटेन ने यह नीति अपनायी कि उपनिवेशों को कृषि-प्रधान देश ही रहने दिया जिससे इंगलैण्ड के उद्योगों को चलाने के लिए वहाँ से कच्चा माल प्राप्त होता रहे तथा पक्के निर्मित माल की वहाँ खपत होती रहे।

भारत में कच्चे माल का आयात आरम्भ—उपर्युक्त नीति के अनुसार भारत में पक्के निर्मित माल का आयात किया जाने लगा। भारतीय उद्योगों के पतन की कहानी आर० सी० दत्त ने इस प्रकार प्रस्तुत की है, "भारत अठारहवीं शताब्दी में एक प्रमुख औद्योगिक और खेतिहर देश था। यहाँ के बने हुए वस्त्र तथा अन्य वस्तुओं की माँग यूरोप और अन्य देशों के बाजारों में होती थी। परन्तु ईस्ट इण्डिया कम्पनी और ब्रिटिश संसद ने अंग्रेजी शासन के प्रारम्भिक वर्षों में इंगलैण्ड के उद्योगों को प्रोत्साहित करने के उद्देश्य से भारतीय उद्योग को हतोत्साहित किया। उनका यह उद्देश्य था कि भारत इंगलैण्ड के उद्योगों के लिए कच्चा माल पैदा करे। इस नीति का अनुगमन बड़ी दृढ़ता के साथ किया गया तथा इसका परिणाम बड़ा ही भयंकर सिद्ध हुआ। भारतीय कारीगर कम्पनी के कारखानों में काम करने के लिए बाध्य किये जाने लगे। साथ ही साथ भारतीय सूती तथा रेशमी कपड़ों पर इतना अधिक आयात-कर लगाया गया कि इंगलैण्ड के बाजारों में वे प्रवेश नहीं कर सकते थे। दूसरी तरफ इंगलैण्ड की वस्तुएँ भारतीय बाजारों में स्वतन्त्र रूप से करमुक्त मँगायी जाती थीं। फलस्वरूप भारत धीरे धीरे कच्चे माल का उत्पादक बन गया और इंगलैण्ड की निर्मित वस्तुएँ भारत तथा एशिया के अन्य देशों में आने लगीं।" रमेश दत्त ने यह लिखा है कि कम्पनी द्वारा भारतीय कारीगरों को एक निश्चित काम एक निश्चित समय में करने का ठेका दिया जाता है। यह काम प्रायः उतने समय में पूरा करना सम्भव नहीं होता था। अतः जब कारीगर उस काम को पूरा नहीं कर पाते तो उनके अँगूठे कटवा दिए जाते थे ताकि वह हाथ से काम करने लायक नहीं रह जायें।

उन्नीसवीं शताब्दी में भारतीय उद्योग—१८वीं शताब्दी के अन्त तक प्रायः भारत के सभी कुटीर उद्योग नष्ट हो चुके थे। उन्नीसवीं शताब्दी में महान आर्थिक परिवर्तन हुए। इस शताब्दी के तृतीय दशक में आधुनिक उद्योगों की आधारशिला रखी गयी। भारत की प्राचीन अर्थ-व्यवस्था नष्ट-भ्रष्ट हो चुकी थी। अतः यह आवश्यक था कि भारत नयी अर्थ-व्यवस्था की ओर अग्रसर हो। परन्तु देश इस परिवर्तन के लिए तैयार नहीं था। तकनीकी शिक्षा और वैज्ञानिक औजारों तथा मशीनों के अभाव के कारण निर्माणकारी उद्योगों की स्थापना नहीं की जा सकती थी। इस प्रकार उन्नीसवीं शताब्दी के प्रथम चरण में जहाँ एक ओर पुरानी अर्थ-व्यवस्था नष्ट हो चुकी थी वहाँ दूसरी ओर किसी नयी अर्थ व्यवस्था का जन्म नहीं हो सका।

आधुनिक उद्योगों का प्रारम्भ—१९वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में अंग्रेज व्यापारियों ने भारत के प्राकृतिक साधनों का विदोहन किया। भारतीय कच्चे माल की माँग में वृद्धि होने के कारण ः उद्योग—चाय, कॉफी, जूट तथा नील—प्रारम्भ किए गये। सन् १८३३ तक ईस्ट इण्डिया कम्पनी की नीति के कारण अंग्रेज साहसी भारत में उद्योग स्थापना के कार्य में हिचकते थे। पश्चिमी द्वीपसमूह में सन् १८३३ में गुलामी प्रथा का अन्त हुआ अतः वहाँ का चीनी उद्योग

समाप्त होने लगा। सस्ते भारतीय श्रम के कारण उद्योगपति बगीचा उद्योगों की ओर आकृष्ट हुए। भारत से जूट का निर्यात सन् १७९५ से ही किया जाता था। खाद्यान्न व्यापार में वृद्धि तथा कच्चा माल भेजने के लिए बोरियों की आवश्यकता हुई जिससे जूट के व्यापार में वृद्धि हुई। सन् १८५६ में क्रीमिया के युद्ध (Crimean War) के कारण रूस से हेम्प की पूर्ति बन्द हो गयी, इससे भी भारतीय जूट के व्यापार को प्रोत्साहन मिला। कहवे के बगीचे सन् १८४० से दक्षिणी भारत में प्रारम्भ किये गये।

नील तथा चाय उद्योग सर्वप्रथम बंगाल में प्रारम्भ किया गया परन्तु उद्योगपतियों एवं खेतिहरों में झगड़े के कारण यह उद्योग बिहार तथा उत्तर प्रदेश में विकसित होने लगा। रेलों के विकास के पश्चात् इस उद्योग ने पर्याप्त उन्नति की। ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने चाय की खेती सन् १८३४ में प्रारम्भ की तथा अपने बगीचों का ⅔ भाग आसाम की कम्पनी को दे दिया। इस उद्योग की प्रगति देखकर यूरोपीय व्यापारियों ने सन् १८५३ से इसमें भाग लेना प्रारम्भ किया।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि भारत में पहले बगीचा उद्योग प्रारम्भ किया गया। इन उद्योगों का विकास यूरोपियनों द्वारा किया गया परन्तु यूरोपीय उद्योगपति आरम्भिक काल में इन *भारतीय उद्योगों को प्रारम्भ करने में विशेष उत्साहित नहीं थे।* ***उनकी निष्क्रियता के निम्नलिखित कारण थे***

(१) ईस्ट इण्डिया कम्पनी द्वारा यूरोपियनों पर भारत में भूमि खरीदने पर प्रतिबन्ध लगा दिया गया था।

(२) सन् १८३३ तक भारतीय व्यापार पर ईस्ट इण्डिया कम्पनी का एकाधिकार था अतः अन्य व्यापारी इस क्षेत्र में प्रवेश नहीं कर सकते थे।

(३) देश में धनी आबादी का अभाव था एवं श्रम सम्बन्धी कठिनाइयाँ थीं।

(४) आन्तरिक यातायात के साधनों का पूर्ण अभाव था।

सन् १८३३ के पश्चात् ये कठिनाइयाँ धीरे धीरे दूर होती गयीं। लॉर्ड डलहौजी के समय सड़क यातायात का विकास किया गया।

निर्माणकारी उद्योग—उन्नीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध तक बगीचा उद्योग की नींव पड़ चुकी थी। इस शताब्दी के उत्तरार्द्ध में निर्माणकारी उद्योगों की दिशा में भी प्रयत्न किये गये। यातायात के साधनों के विकास के कारण अब मशीन आदि का आयात सरलतापूर्वक किया जा सकता था। इंगलैण्ड के व्यापारियों ने भी यह महसूस किया कि भारत में कच्चे माल की प्रचुरता का पूर्ण लाभ आधुनिक उद्योगों की स्थापना करके ही उठाया जा सकता है। अतः उनका ध्यान निर्माणकारी उद्योगों की ओर आकर्षित हुआ।

सन् १८५१ में प्रथम सूती मिल 'दि बॉम्बे स्पिनिंग एण्ड वीविंग कम्पनी' स्थापित हुई जिसने सन् १८५४ से उत्पादन प्रारम्भ किया। 'अमरीकी महायुद्ध' के कारण कपास की कीमत ऊँची रही अतः सूती वस्त्र उद्योग तीव्र गति से प्रगति न कर सका। इसी समय सन् १८५४ में ही पटसन उद्योग की स्थापना की गयी तथा सन् १८६३-६४ में यह उद्योग भली भाँति उन्नति करने लगा। १९वीं शताब्दी के अन्तिम दशक में कृषि की स्थिति बिगड़ने लगी जिसके परिणामस्वरूप कृषि पर *निर्भर रहने वाले उद्योगों की भी दशा खराब होती गयी।* १८९५-१९०० के दुर्भिक्ष के कारण सूती वस्त्र उद्योग की दशा दयनीय हो गयी। सरकार ने कपास पर उत्पादन कर लगा दिया। प्लेग की बीमारी के कारण बम्बई के श्रमिक शहर छोड़कर गाँवों में भागने लगे। इन सभी कारणों से सूती वस्त्र उद्योग की दशा गिरती गयी। दुर्भिक्ष का प्रभाव जूट उद्योग पर भी पड़ा।

बीसवीं शताब्दी का आरम्भिक काल (सन् १९०१ से १९१४ तक)—इस शताब्दी के प्रारम्भ में भारत के राष्ट्रीय नेताओं का ध्यान औद्योगीकरण की ओर गया। उन्नीसवीं शताब्दी के

विभिन्न अकाल आयोगों (Famine Commissions) ने यह मत प्रकट किया था कि अकाल का मुख्य कारण औद्योगिक पिछड़ापन था। राजनीतिक असन्तोष के साथ ही साथ जनता का आर्थिक असन्तोष भी बढ़ता गया। माण्टेग चेम्सफोर्ड की रिपोर्ट के अनुसार 'स्वदेशी आन्दोलन तथा विदेशी बहिष्कार एक ही उद्देश्य के दो पहलू थे।' देश भर में औद्योगिक उत्साह की लहर दौड़ गयी। कपड़ा, पेंसिल, चाकू-छुरे, दियासलाई, शीशा आदि सम्बन्धी अनेक कारखाने स्थापित होने लगे। किन्तु ये सब धीरे-धीरे समाप्त हो गये। इसका कारण व्यावहारिक और व्यावसायिक शिक्षा का अभाव था। विशेष असन्तोष का विषय तो यह है कि इनके समाप्तप्राय होने पर भी सरकार ने इनकी ओर आँख उठाकर भी नहीं देखा।

इधर भारतीय रेलें विदेशी माल ढोने के लिए कम दरें लेती थीं और भारतीय माल पर अधिक दर वसूल करती थीं। इस प्रकार भारतीय उद्योगों को विदेशी माल से निरन्तर स्पर्द्धा का सामना करना पड़ा। किन्तु सरकार की उदासीन एवं विरोधी नीति के होते हुए भी उद्योगों ने अच्छी प्रगति की। सन् १९११ की औद्योगिक गणना के अनुसार उस समय १० से अधिक श्रमिक नियोजित करने वाले कारखानों की संख्या ७,११३ थी। इनमें से ४,५६६ कारखानों में शक्ति के साधनों का प्रयोग किया जाता था।

प्रो० बुकानन के अनुसार सन् १८९० से प्रथम विश्वयुद्ध तक '*सूती मिलों में तकुओं की संख्या दुगुनी से अधिक हो गयी और करघों की संख्या चौगुनी हो गयी, जूट मिलों के करघों में ४½ गुनी वृद्धि हुई, कोयले के उत्पादन में छह गुनी वृद्धि हो गयी तथा रेलों का विस्तार ८०० मील प्रति वर्ष की दर से हुआ।*'

इस विकास के होते हुए भी भारतीय उद्योग प्रथम विश्वयुद्ध के पूर्व पिछड़ी अवस्था में थे। व्यवस्थित ढंग पर चलने वाले उद्योगों में बम्बई की कपड़ा मिलें, कलकत्ता के पास की जूट मिलें, बिहार तथा बंगाल और उड़ीसा की कोयले की खानें ही प्रमुख थीं। इस अवधि में भी सरकारी नीति औद्योगीकरण के प्रति उपेक्षापूर्ण थी। औद्योगिक शिक्षा के क्षेत्र में सरकार ने कुछ कदम अवश्य उठाये थे परन्तु देश की आवश्यकताओं को देखते हुए यह कार्य भी नगण्य थे।

लॉर्ड कर्जन के शासनकाल में सन् १९०५ में 'वाणिज्य एवं उद्योग विभाग' स्थापित हुआ। कुछ राज्य सरकारों ने भी औद्योगीकरण की दिशा में प्रयत्न किया जिसमें तमिलनाडु तथा उत्तर प्रदेश की सरकारों द्वारा किया गया कार्य प्रशंसनीय था। सन् १९१० में तत्कालीन राज सचिव लॉर्ड मार्ले ने इन प्रयत्नों का विरोध किया। मार्ले मुक्त व्यापार नीति के समर्थक थे इसलिए सरकार द्वारा उद्योगों को किसी भी प्रकार का प्रोत्साहन देना उन्हें असह्य था। मार्ले की नीति उस समय की सरकारी नीति का प्रतीक था जिसके द्वारा उद्योगों को प्रोत्साहित करना सरकारी सिद्धान्त के प्रतिकूल समझा जाता था। इसी अवधि में सन् १९०७ में टाटा आयरन एण्ड स्टील कम्पनी की स्थापना की गयी।

तत्कालीन औद्योगिक प्रगति के कारण—भारतीय उद्योगों के प्रति सरकार की उदासीन नीति के बावजूद देश में कुछ औद्योगिक विकास हुआ। इसके निम्नलिखित कारण थे :

(१) **स्वदेशी आन्दोलन**—स्वदेशी आन्दोलन ने विदेशी वस्तुओं, विशेषतया विदेशी कपड़े के बहिष्कार पर जोर दिया। जन-साधारण में विदेशी कपड़े के प्रति विरोध का वातावरण उत्पन्न किया गया जिससे देशी सूती मिलों को बल मिला तथा उनका विकास हुआ।

(२) **अकालों का अनुभव**—उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम चरण में अकालों का ताँता लगा रहा। सन् १८७७ तथा १८८० का अकाल अत्यन्त भयंकर था। विभिन्न अकालों की जाँच के लिए आयोग नियुक्त किये गये। इन आयोगों ने अर्थ-व्यवस्था में परिवर्तन करने का सुझाव दिया। सर जान स्ट्रेची अकाल आयोग (१८८०) तथा मैकडानेल अकाल आयोग (१९०१) ने देश का औद्योगी-

करण करने का सुझाव दिया। इसके अतिरिक्त परिवहन के साधनों के विकास के लिए भी सिफारिशें की गयीं। इन आयोगों के प्रतिवेदनों का सरकारी नीति पर कुछ प्रभाव पड़ा। फलतः सूती वस्त्र, चीनी, कागज, चमड़ा आदि उद्योगों की स्थापना की जाने लगी।

(३) **जापान का उदाहरण**—जापान औद्योगिक प्रगति के कारण एशिया का प्रमुख राष्ट्र हो गया था। जापान की औद्योगिक प्रगति में वहाँ की सरकार का पर्याप्त योगदान रहा। भारत की भाँति जापान में भी जनसंख्या, भूमि पर जनसंख्या का दबाव आदि समस्याएँ थीं जिनका समाधान औद्योगीकरण द्वारा किया गया। इस प्रकार भारतीयों ने जापान का उदाहरण अपने सामने रखा तथा औद्योगिक विकास की ओर अग्रसर हुए।

(४) **चीन में भारतीय सूत की माँग**—इसी समय चीन में भारतीय सूत की माँग की जाने लगी। इस बढ़ी हुई माँग की पूर्ति के लिए भारत में सूती मिलों की संख्या एवं उत्पादन क्षमता में वृद्धि की गयी जिससे सूती उद्योग की प्रगति को बल मिला।

(५) **स्वेज नहर का खुलना**—स्वेज नहर के खुलने से (१८६९) भारत का व्यापारिक सम्बन्ध ब्रिटेन के साथ बढ़ा। दूसरी ओर भारतीय उद्योगों को क्षति भी उठानी पड़ी क्योंकि इंग्लैण्ड से सस्ता माल भारत में अधिक तेजी से आने लगा। इससे देश के व्यापार की मात्रा में वृद्धि हुई और भारतीय व्यापारियों को भी लाभ हुआ, उनके साहस में वृद्धि हुई तथा लाभ द्वारा अर्जित पूँजी का उपयोग उन्होंने देश के औद्योगीकरण के लिए किया।

(६) **परिवहन के साधनों का विकास**—यातायात के साधनों का विकास औद्योगीकरण के लिए आवश्यक होता है। उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में भारत में रेल तथा सड़कों का विकास किया गया। यद्यपि इनके विकास के मूल में अंग्रेजों की स्वार्थपरता एवं राजनैतिक उद्देश्य निहित थे फिर भी इनके कारण औद्योगिक प्रगति को बल मिला। यातायात के साधनों ने उत्पादन के साधनों एवं निर्मित माल को गतिशीलता प्रदान की।

(७) **भारतीय उद्योगपतियों का उत्साह**—भारतीय उद्योगपतियों ने भी देश के औद्योगीकरण के क्षेत्र में सराहनीय कार्य किया। कुछ उद्योगपतियों ने तो त्याग एवं देशभक्ति की भावना से प्रेरित हो उद्योगों की स्थापना की। इस सम्बन्ध में दादाभाई नौरोजी तथा जमशेदजी टाटा के प्रयत्न अविस्मरणीय हैं। भारतीय पूँजीपतियों की इस भावना के सम्बन्ध में स्वर्गीय रानाडे ने कहा था, "भारत उस मार्ग पर काफी अग्रसर हुआ है, जिसका अनुसरण यदि पूँजीपति उसी भावना से करते रहे जिससे वे अब तक प्रेरित रहे हैं, तो उसका (भारत का) औद्योगिक उत्थान निश्चित है।"[1]

प्रथम विश्वयुद्ध से द्वितीय विश्वयुद्ध के आरम्भ तक की प्रगति (१९१४-१९३९ ई०)

प्रथम युद्धकाल में औद्योगिक विकास (१९१४-१९१८)—प्रथम महायुद्ध के समय भारत में विदेशों से माल का आयात बहुत कम हो गया अतः पहली बार यह अनुभव किया गया कि आवश्यक वस्तुओं की पूर्ति के लिए विदेशों पर रहना खतरनाक है। फलतः युद्ध के समय भारतीय उद्योगों को विकसित करने का स्वर्ण अवसर प्राप्त हुआ किन्तु भारतीयों ने इस अवसर से अधिक लाभ नहीं उठाया और भारतीय बाजार में अमरीका तथा जापानी वस्तुएँ अधिक मात्रा में प्रवेश पाने लगीं। भारत के समक्ष उस समय कुछ ऐसी कठिनाइयाँ थीं जो औद्योगिक विकास में बाधक सिद्ध हुईं। इन कठिनाइयों में मशीन तथा औजारों का अभाव, यान्त्रिक विशेषज्ञों एव कुशल श्रमिकों की कमी, यातायात के साधनों का न्यून विकास तथा जहाज, कोयला आदि की कमी प्रमुख थीं।

फिर भी युद्ध ने भारत सरकार को औद्योगीकरण की आवश्यकता का अनुभव कराया।

---

1 "That India has now fairly entered upon the path which, if pursued in the same spirit which has animated its capitalists, hitherto cannot fail to work out its industrial salvation."
—M. G. Ranade, *Essays on Indian Economics*

इस समय मध्य पूर्व के देशो मे रेल की पटरियो की माँग बढ गयी अत टाटा कम्पनी ने अपने उत्पादन मे वृद्धि की। सैनिको की वर्दी आदि की पूर्ति के लिए सूती वस्त्र उद्योग मे भी उत्पादन बढाया गया। सरकार ने यह भी अनुभव किया कि यदि देश औद्योगिक दृष्टि से विकसित होता तो उससे युद्ध प्रयत्नो मे अधिक सहायता प्राप्त होती, इसलिए भारत के औद्योगिक विकास को सैनिक दृष्टि से भी आवश्यक समझा गया।

औद्योगिक आयोग की नियुक्ति—सन् १६१६ मे प्रथम औद्योगिक आयोग की नियुक्ति की गयी जिसने अपनी रिपोर्ट सन् १६१८ मे प्रस्तुत की। आयोग ने इस बात पर जोर दिया कि (क) औद्योगीकरण द्वारा देश को आत्मनिर्भर बनाने मे सरकार का सक्रिय सहयोग होना चाहिए, (ख) इसके लिए यह आवश्यक है कि सरकार के पास वैज्ञानिक एव यान्त्रिक विषयो पर सलाह देने के लिए विशेषज्ञ होने चाहिए, (ग) प्रान्तीय उद्योग परिषदो की स्थापना की जानी चाहिए तथा औद्योगीकरण एव रासायनिक सेवाएँ (Industrial and Chemical Services) प्रारम्भ की जानी चाहिए। आयोग के सुझाव पर प्रान्तीय उद्योग परिषदों की स्थापना कर दी गयी।

भारतीय युद्ध-सामग्री बोर्ड (Indian Munitions Board)—युद्ध की आवश्यकताओ को ध्यान मे रखते हुए भारतीय उद्योगो का विकास करने के लिए भारतीय युद्ध-सामग्री बोर्ड की स्थापना की गयी जिसने देशी उद्योगो को पर्याप्त प्रोत्साहन दिया। बोर्ड भारत में बनी वस्तुओं की प्रत्यक्ष खरीद करता था। इसके अतिरिक्त बोर्ड ने उद्योगो को विदेशो से मशीनो के आयात में सहायता देना, यान्त्रिक विशेषज्ञो के सम्बन्ध मे सहयोग देना तथा उद्योगो की स्थापना मे प्राविधिक कुशलता के विकास आदि कार्यों मे पर्याप्त सहयोग दिया।

प्रथम विश्व युद्धोत्तरकाल (१६१८ से १६३६ तक)—युद्धकाल मे भारतीय उद्योगों को काफी लाभ हुआ, कम्पनियो की सख्या में वृद्धि हुई तथा निर्यात की वस्तुएँ पैदा करने वाले उद्योग—जूट, सूती वस्त्र, लोहा-इस्पात, चमडा मैंगनीज, तेल, सीमेण्ट आदि—ने उल्लेखनीय उन्नति की। युद्धोपरान्त, कम्पनियों की सख्या मे अधिक तेजी से वृद्धि होने लगी। औद्योगिक क्षेत्र मे सर्वत्र आशाजनक वातावरण था, लाभाश की दरों मे वृद्धि हुई तथा औद्योगिक प्रतिभूतियों का मूल्य ऊँचा उठा। इस आशाजनक वातावरण का अनुमान नयी कम्पनियो की सख्या मे वृद्धि से लगाया जा सकता है

वर्ष	नयी कम्पनियो की सख्या	पूँजी (करोड रुपये)
१६१६-२०	६०५	२७५
१६२०-२१	६६५	१४३

युद्ध के पूर्व भारत मे कम्पनियो की कुल सख्या २,६८१ थी जिनकी चुकता पूँजी केवल ७६ करोड रुपये थी परन्तु १६२१-२२ में कम्पनियो की सख्या ८,७६१ हो गयी जिनकी चुकता पूँजी २२३ करोड रुपये थी।

आर्थिक मन्दी—उद्योगो की यह प्रगति अल्पकालीन सिद्ध हुई क्योंकि सन् १६२८ से व्यापारिक अवसाद प्रारम्भ हो गया। इस मन्दी के निम्नलिखित कारण थे (१) युद्धोत्तरकाल मे युद्धकाल की मुद्रा-स्फीतिक परिस्थितियो का लोप हो गया। मुद्रा-स्फीति के कारण मूल्य-स्तर ऊँचा हो गया था तथा लाभ की दरो मे वृद्धि हुई थी परन्तु युद्ध के पश्चात् स्थायी माँग का पूर्ण अभाव था जिसके कारण लाभ की दरो मे कमी होना स्वाभाविक था। (२) युद्ध के पश्चात् प्रमुख राष्ट्रो ने पुन औद्योगिक उत्पादन प्रारम्भ किया। भारत मे विदेशो से माल आयात किया जाने लगा जिससे प्रतियोगिता करना भारतीय उद्योगो के लिए कठिन था। (३) सन् १६२०-२१ मे रुपये की विनिमय-दर मे पर्याप्त कमी हुई जिससे आयात करने वाले व्यापारियो को क्षति उठानी पडी।

धीरे-धीरे मन्दी के लक्षण और घनीभूत होने लगे। भारतीय अर्थ-व्यवस्था भी इस मन्दी की लपेट में आ गयी। भारत में कृषि की प्रधानता थी अतः उसे अधिक हानि उठानी पड़ी। जूट उद्योग अस्त व्यस्त हो गया। विदेशी औद्योगिक प्रतियोगिता भी बढ़ती गयी। भारत के निर्यात व्यापार में काफी कमी हुई तथा उद्योगों को विकट परिस्थितियों का सामना करना पड़ा। इसी काल में सन् १९२१ में प्रशुल्क आयोग की नियुक्ति की गयी। इस आयोग ने अपनी रिपोर्ट सन् १९२३ में प्रकाशित की। आयोग ने भारतीय उद्योगों के लिए विवेचनात्मक संरक्षण नीति (Policy of Discriminating Protection) अपनाने का सुझाव दिया। संरक्षण नीति के अनुसार जिन उद्योगों को संरक्षण प्रदान किया गया उनमें लोहा-इस्पात, सूती वस्त्र, चीनी, कागज, वृहत् रसायन आदि प्रमुख थे। यह उद्योग संरक्षण के फलस्वरूप विदेशी प्रतियोगिता का सामना करने में असमर्थ हो गये।

सन् १९३२ में ओटावा समझौता किया गया जिसके अनुसार साम्राज्य अधिमान (Imperial Preference) की नीति अपनायी गयी। इस नीति के अनुसार भारत में ब्रिटिश माल पर कम आयात कर लगाया जाता था और अन्य देशों के माल पर आयात-कर की मात्रा अधिक थी। इसी प्रकार भारत से जो कच्चा माल इंगलैण्ड का निर्यात होता था, उस पर निर्यात-कर की मात्रा कम होती थी तथा अन्य देशों को निर्यात होने वाले माल पर निर्यात कर अधिक लगाया जाता था। इस नीति के फलस्वरूप ब्रिटिश माल को भारत में प्रोत्साहन मिला और भारत निरन्तर कच्चा माल ही विदेशों को निर्यात करता रहा। यह नीति भारत की अर्थ व्यवस्था के लिए घातक सिद्ध हुई।

उद्योगों को नवजीवन तथा अवसाद (Rejuvenation and Recession of Industries)—आर्थिक मन्दी में ग्रस्त देशों की अवस्था में सन् १९३१ में सुधार के लक्षण दृष्टिगोचर होने लगे। कोयले के अतिरिक्त सभी उद्योगों के उत्पादन में वृद्धि हुई। चीनी उद्योग का उत्पादन सन् १९३६-३७ में १९२९-३० की अपेक्षा तिगुना हो गया। इस अवधि में कपड़े का उत्पादन दुगना हो गया। इसी प्रकार सीमेण्ट, जूट, कागज तथा लोहा-इस्पात उद्योग के उत्पादन में भी वृद्धि हुई। औद्योगिक उत्पादन में यह वृद्धि विदेशों से मशीनों का आयात तथा विवेचनात्मक संरक्षण के कारण हुई। इसी के फलस्वरूप देश में कम्पनियों का निर्माण पुनः प्रारम्भ हुआ। स्वदेशी आन्दोलन ने भी इस औद्योगिक प्रगति में योगदान दिया।

द्वितीय विश्वयुद्ध काल में औद्योगिक विकास—द्वितीय युद्धकाल में भारतीय उद्योगों को पुनः स्वर्ण अवसर प्राप्त हुआ। विदेशों से आयात बहुत घट गया और मित्र राष्ट्रों में युद्ध-सामग्री की माँग में वृद्धि हुई। भारतीय उद्योगपति उस समय अर्द्ध-एकाधिकारी की अवस्था में थे। फलतः देश के अन्दर औद्योगिक क्रियाशीलता आयी। युद्धकाल में युद्ध से सम्बन्धित लगभग २०,००० वस्तुओं का निर्माण किया जाने लगा। सुरक्षा की वस्तुओं का लगभग ९० प्रतिशत भाग भी देश में ही निर्मित होता था। युद्धकाल में अस्त्र शस्त्र, बिजली के तार, पत्र आदि वस्तुओं का निर्यात भी किया गया। सन् १९४० में सरकार ने वैज्ञानिक एवं औद्योगिक अनुसन्धान परिषद् (Council of Scientific and Industrial Research) की स्थापना की। एक औद्योगिक अनुसन्धान कोष भी आरम्भ किया गया जिसमें पाँच वर्ष तक १० लाख रुपया वार्षिक अनुदान दिया गया। औद्योगिक प्रशिक्षण की भी व्यवस्था की गयी। युद्ध के प्रथम दो वर्षों में मित्र राष्ट्रों से १६० करोड़ रुपये के माल की माँग की गयी। सन् १९४१ में हिन्दुस्तान एअरक्राफ्ट फैक्टरी (बंगलौर) की स्थापना हुई। इसी वर्ष भारी रासायनिक उद्योग का भी विकास किया गया और रासायनिक पदार्थों का देश में ही अधिक मात्रा में उत्पादन किया जाने लगा।

इस विकास के होते हुए भी युद्धकालीन औद्योगिक उन्नति को विशेष सराहनीय नहीं कहा

जा सकता। सरकार यह चाहती थी कि युद्धकालीन आवश्यक वस्तुओं के उत्पादन को ही प्रोत्साहन दिया जाय, वह उद्योगों के स्थायी विकास के प्रति उदासीन रही, अतः युद्धकाल में औद्योगिक विकास सुनियोजित एवं व्यवस्थित ढंग पर नहीं किया गया, केवल उपभोक्ता वस्तुओं (Consumers goods) से सम्बन्धित उद्योगों पर ही ध्यान दिया गया, और आधारभूत उद्योग जो देश के आर्थिक विकास की आधारशिला होते हैं, के विकास पर कोई ध्यान नहीं दिया गया। इन कमियों के होते हुए भी यह तथ्य निर्विवाद है कि युद्धकाल में भारत औद्योगीकरण की दिशा में तेजी से अग्रसर हुआ।

युद्धोत्तरकाल में औद्योगिक विकास (सन् १९४५ से १९५० तक)—द्वितीय विश्वयुद्ध काल में भारतीय उद्योगों ने अच्छी उन्नति की। युद्ध से यह तथ्य प्रकाश में आया कि सरकारी प्रोत्साहन से औद्योगिक विकास की गति को अधिक तीव्र किया जा सकता है अतः युद्ध के पश्चात् सन् १९४५ में अन्तरिम प्रशुल्क समिति की नियुक्ति की गयी। माँग की कमी, मशीन आदि प्राप्त करने में कठिनाई श्रमिकों में असन्तोष, कच्चे माल की कमी तथा विनियोगों के अभाव आदि कारणों से औद्योगिक उत्पादन गिर रहा था। सन् १९४७ में अन्तरिम सरकार के द्वारा प्रस्तुत बजट में व्यापार लाभ-कर लगाया गया जिसका उद्योगों पर अत्यन्त प्रतिकूल प्रभाव पड़ा।

अगस्त १९४७ में देश स्वतन्त्र हुआ साथ ही साथ देश का विभाजन भी हुआ। विभाजन का उद्योगों पर अत्यन्त बुरा प्रभाव पड़ा। विभाजन के कारण जूट उत्पादन करने वाले महत्त्वपूर्ण क्षेत्र पाकिस्तान में चले गये अतः पटसन उद्योग के सामने कच्चे माल की भीषण समस्या उपस्थित हो गयी। यही कठिनाई वस्त्र उद्योग के सामने आयी। शरणार्थियों की समस्या एवं साम्प्रदायिक दंगों के कारण औद्योगिक माल के यातायात साधनों की कठिनाई भी उत्पन्न हो गयी। इसके अतिरिक्त बहुत से कुशल श्रमिक भी पाकिस्तान चले गये। इस प्रकार विभाजन के कारण औद्योगिक व्यवस्था एक बार प्रायः अस्त व्यस्त हो गयी।

सरकार ने इन समस्याओं का कुशलतापूर्वक सामना किया। दिसम्बर १९४७ में एक त्रिदलीय सम्मेलन बुलाया गया और सरकार ने उद्योग को प्रोत्साहन देने के लिए निम्न सुविधाएँ देने का निश्चय किया

(१) तीन वर्ष से कम आयु वाले उद्योगों की पूंजी पर ६ प्रतिशत लाभांश आय-कर से मुक्त घोषित किया गया।

(२) आय कर में कमी की गयी। पूँजीगत माल पर आयात-कर में ५० प्रतिशत की छूट तथा कच्चे माल को आयात-कर मुक्त घोषित किया गया।

(३) सन् १९४८-४९ के बजट में उद्योगों को कर-मुक्त कर दिया गया।

(४) मूल्य ह्रास (depreciation) के सम्बन्ध में विशेष छूट दी गयी।

अप्रैल १९४८ में नयी औद्योगिक नीति की घोषणा की गयी जिसने भारतीय अर्थ व्यवस्था को नयी दिशा की ओर अग्रसर किया। सन् १९४९ में प्रधान मन्त्री ने विदेशी पूंजी के सम्बन्ध में सरकारी नीति की घोषणा की। निजी क्षेत्र के उद्योगों के नियमन एवं नियन्त्रण के लिए सन् १९५१ में उद्योग (विकास एवं नियमन) अधिनियम पास किया गया जो मई १९५२ में लागू किया गया।

युद्धोत्तरकाल में जो कदम सरकार द्वारा औद्योगिक अवस्था में सुधार लाने के लिए उठाये गये उनका उद्योगों पर अच्छा प्रभाव पड़ा। सन् १९४७ में औद्योगिक उत्पादन युद्ध-पूर्व स्तर से ५ प्रतिशत कम था परन्तु १९४८ में यह उत्पादन युद्ध-पूर्व स्तर से १५ प्रतिशत अधिक हो गया।

सन् १९५१ में औद्योगिक उत्पादन का सामान्य सूचकांक ११७·४ था। सन् १९४६ से १९५१ तक सरकारी नीति निर्माण का समय था। उस समय उद्योगों में २६० करोड़ रुपये की पूंजी लगी

हुई थी। इस अवधि मे सूती वस्त्र उद्योगों को प्रोत्साहन दिया गया जिसमे उत्पादन मे वृद्धि हुई। आटोमोबाइल उद्योग रेडियोवायरलेस उद्योग तथा विद्युत सम्बन्धी उद्योगो ने भी पर्याप्त प्रगति की। उपभोग सम्बन्धी वस्तुओ मे स्टेनलेस स्टील के बर्तन, स्टील फर्नीचर घड़ियाँ, ब्लेड, चद्दरें टीन आदि उद्योगो म उल्लेखनीय उन्नति दृष्टिगोचर हुई। इस अवधि मे देश म औद्योगिक वाता वरण बनाने का प्रयत्न किया गया जिसके लिए विभिन्न केन्द्रों म औद्योगिक एव प्राविधिक प्रशिक्षणालय तथा शोधशालाएँ स्थापित की गयी।

इस प्रकार प्रथम योजना प्रारम्भ होने के समय भारतीय औद्योगीकरण के प्रयत्न करते सौ वर्ष व्यतीत हो चुके थे। इन सौ वर्षों म विभिन्न उद्योगो की नीव अवश्य डाली गयी परन्तु औद्योगिक विकास की गति को सन्तोषजनक नहीं कहा जा सकता। इसका मूल कारण था भारत की परतन्त्रता। विदेशी सरकार ने भारत को हमेशा के लिए कृषि प्रधान देश बनाये रखने का प्रयत्न किया अत औद्योगिक विकास की आशा रखना मृगतृष्णा मात्र था।

भारत मे उद्योगों के धीमे विकास के कारण—उपर्युक्त विवरण स स्पष्ट है कि भारत मे आधुनिक उद्योगो का प्रारम्भ मुख्यत उन्नीसवी शताब्दी के उत्तरार्द्ध म हुआ किन्तु उनका वास्तविक विकास प्रथम महायुद्ध काल से प्रारम्भ हुआ है। स्वतन्त्रता प्राप्ति तक उद्योगो का मन्द गति स विकास होता रहा और स्वतन्त्रता प्राप्ति के समय तक जो भी औद्योगिक विकास हुआ वह मुख्य रूप से उपभोक्ता वस्तुओ सम्बन्धी उद्योगो (consumer goods industries) म था। मूलभूत उद्योगो की ओर बहुत ही कम ध्यान दिया गया। इसके अतिरिक्त देश के विभिन्न भागो म सन्तुलित औद्योगिक विकास नही हो पाया, अर्थात् उद्योगो का देश के कुछ प्रमुख शहरो मे ही केन्द्रीयकरण हो गया था। फलत भारत औद्योगिक दृष्टि म एक पिछड़ा हुआ देश रह गया। इस औद्योगिक पिछड़ेपन (industrial backwardness) या उद्योगो के धीमे विकास के निम्नलिखित कारण थे :

(१) **विदेशी सरकार की नीति**—अंग्रेजी सरकार ने प्रथम महायुद्ध के समय तक मुक्त व्यापार नीति का पालन किया तथा इसके पश्चात् भी भारतीय उद्योगो को प्रोत्साहन नहीं दिया गया। अंग्रेज भारत को कच्चे माल के निर्यातकर्ता के रूप मे रखना चाहते थे। सन् १९२३ मे विवेचनात्मक संरक्षण की नीति अपनायी गयी परन्तु इसकी शर्तें कठोर होने के कारण अधिकांश उद्योगो को विशेष लाभ नही पहुँचा। साम्राज्य अधिमान (Imperial Preference) की नीति के कारण भी उद्योगो को क्षति उठानी पडी।

(२) **पूँजी का अभाव**—उद्योगों के विकास के लिए बडी मात्रा मे पूँजी की आवश्यकता पडती है परन्तु भारत म पूँजी का सदैव अभाव रहा। 'पूँजी बाजार' (Capital Market) का विकास भारत में अब भी विशेष नही हुआ है। इस प्रकार एक ओर तो पूँजी का अभाव था, दूसरी ओर भारतीय उद्योगपतियो ने उपलब्ध पूँजी का विनियोजन केवल तात्कालिक लाभप्रद उद्योगों मे ही किया। अत सट्टेबाजी तथा व्यापार मे ही अधिक पूँजी का प्रयोग किया गया। इस प्रकार पूँजी के अभाव मे आधुनिक उद्योगो का विकास नही किया जा सका।

(३) **विदेशी पूँजी**—विदेशी पूँजी का प्रयोग भी रेलवे, बगीचा उद्योग तथा अन्य निर्यात सम्बन्धी उद्योगो मे ही किया गया। यह विदेशी पूँजी भी बहुत ही कम मात्रा मे आयी तथा इसका उद्देश्य भारत का औद्योगीकरण करना नही अपितु आर्थिक शोषण करना था।

(४) **श्रमिकों की अकुशलता**—जनसंख्या का आधिक्य होते हुए भी भारत मे कुशल श्रमिको का सदैव अभाव रहा है। देश मे कुशल औद्योगिक श्रमिक वर्ग का प्रादुर्भाव नही हो सका जिससे औद्योगिक विकास की गति कुंठित रही है।

(५) **सामाजिक वातावरण**—जाति-प्रथा, संयुक्त परिवार प्रथा एव धार्मिक विश्वास अब

भी औद्योगिक विकास मे न्यूनाधिक बाधा डाल रहे हैं। सयुक्त परिवार प्रणाली ने सदा प्रेरणा एव साहस को निरुत्साहित किया है और उद्यमकर्ताओ को आगे आने मे रोका है। उत्तराधिकारी के नियम ने पूंजी के विघटन का मार्ग खोल दिया तथा जाति प्रथा ने योग्य व्यक्तियो को कुशलतापूर्ण कार्य अपनाने मे बाधाएं डाली हैं। इस प्रकार भारत का पिछडा हुआ सामाजिक वातावरण औद्योगिक विकास के लिए बाधक हुआ है।

(६) **यातायात के साधनों का कम विकास**—देश मे अभी तक रेलो व सडको का जो विकास हुआ है वह देश की विपुल औद्योगिक आवश्यकताओ को देखते हुए कम है। साथ ही देश के सभी भागो मे परिवहन साधनो का सन्तुलित विकास नही हो सका है।

(७) **आधुनिकीकरण की धीमी प्रगति**—वस्त्र, चीनी तथा कई अन्य उद्योगों मे अब भी पुरानी एव घिसी पिटी मशीनो से कार्य किया जाता है जिसमे उत्पादन कम होता है और लागत अधिक बैठती है। इनके आधुनिकीकरण के लिए कार्यक्रम बनाये गये हैं परन्तु विदेशी मुद्रा की कमी के कारण इन्हे उचित रूप मे पूरा नही किया जा सका है।

(८) **सरकार की कर एव श्रम नीति**—सरकार द्वारा १६४७ से अनेक नये कर लगाये गये। जैसे उपहार कर, सम्पत्ति-कर, आदि। इनके कारण पूंजी सचय को ठेस लगी। इसी प्रकार सरकार की श्रम नीति के अनुसार उद्योगपतियो को श्रमिको की दशा सुधारने के लिए अनक कार्य करने पडे हैं जैसे मॅहगाई भत्ता व बोनस देना अतिरिक्त लाभ एव व कार्य म भाग देना, श्रम कल्याण कार्य आदि जिनसे उनकी लागते बढ गयी हैं और औद्योगिक विकास को निरुत्साह मिला है।

प्रश्न

१ भारत की औद्योगिक स्थिति के सम्बन्ध मे अपने विचार प्रकट कीजिए। देश का तीव्र गति से औद्योगिक विकास करने के लिए आप क्या सुझाव दे सकते हैं?
(राजस्थान, बी० ए०, १६५४)

२ भारत मे औद्योगिक विकास के लिए सरकार ने जो उपाय किये हैं उनका विवेचन कीजिए? क्या ये उपाय यथेष्ट हैं? (पटना बी० ए०, १६६०; बिहार बी० ए०, १६६०)

३ भारत मे औद्योगीकरण की मुख्य समस्याएँ क्या हैं? औद्योगिक उत्पादन को बढाने के उपाय बतलाइए। (गोरखपुर बी० ए०, १६६०)

४ अंग्रेजी शासन के आरम्भ काल मे किन कारणो से भारतीय उद्योगों का ह्रास हुआ?
(आगरा बी० कॉम०, १६६०)

५ 'भारतीय उद्योगो का इतिहास उज्ज्वल रहा है।" उनकी अवनति के कारणो पर प्रकाश डालते हुए इस उक्ति का विवेचन कीजिए (आगरा बी० कॉम० (पूरक) १६६२)

24 योजनाकाल मे औद्योगिक विकास

(INDUSTRIAL DEVELOPMENT DURING THE PLAN PERIOD)

'The industrial programme for the Fourth Plan has to keep in view the objectives of development of backward regions and dispersal of industries with due regard to technical and economic considerations '

—Fourth Five-Year Plan—A Draft Outline

योजनाकाल मे उद्योगो के विकास का अध्ययन करने के लिए मुख्य रूप मे तीन दृष्टिकोणो से विचार करना होगा :

(१) *औद्योगिक विकास सम्बन्धी नीति तथा प्राथमिकताएँ,*

(२) प्रत्येक योजनाकाल मे औद्योगिक विकास पर व्यय, तथा

(३) योजनाकाल मे विभिन्न वस्तुओं के उत्पादन की प्रगति।

१. नीति एवं प्राथमिकताएँ

भारत की प्रथम योजना में कृषि, सिंचाई तथा शक्ति को विशेष महत्त्व दिया गया। इन तीनों मदों पर प्रथम योजना के कुल व्यय की लगभग ४३ प्रतिशत रकम निर्धारित की गयी। इस योजना में उद्योग तथा खनन पर ७ ६ प्रतिशत रकम खर्च करने की व्यवस्था की गयी। इसके विपरीत दूसरी योजना मे उद्योगो को विशेष महत्त्व दिया गया। इस योजना में भी खेती, सिंचाई और शक्ति पर कुल व्यय का लगभग ३१ प्रतिशत निर्धारित किया गया किन्तु उद्योग तथा खनन पर व्यय की जाने वाली रकम का अनुपात ७ ६ प्रतिशत से बढाकर १८ ५ प्रतिशत कर दिया गया। तृतीय योजना में कृषि को सशक्त बनाने, उद्योग, शक्ति तथा परिवहन का विकास करने और औद्योगिक तथा प्राविधिक प्रक्रियाओ मे कान्तिकारी परिवर्तन लाने का निश्चय किया गया। इसके लिए उद्योग तथा खनन पर किया जाने वाला व्यय बढाकर २० प्रतिशत कर दिया गया।

प्रथम योजनाकाल मे भारत के औद्योगिक विकास के लिए १९४८ के औद्योगिक नीति प्रस्ताव का पालन किया गया किन्तु इस काल में सम्पूर्ण औद्योगिक विकास का भार निजी साहसियो पर छोड दिया गया। यह एक दुखद सत्य है कि सरकार की इस नीति के कारण ही देश मे आर्थिक सत्ता के सकेन्द्रण को बल मिला। प्रथम पाँच वर्षों मे भारत या राज्य सरकारो द्वारा किसी भी औद्योगिक योजना को हाथ मे न लेने के कारण किसी बडी औद्योगिक इकाई की स्थापना नहीं हो सकी। वास्तव मे, प्रथम योजना काल एक सक्रमण काल था जिसमें औद्योगिक विकास के लिए शक्तिशाली आधार तैयार करना ही मुख्य लक्ष्य था।

द्वितीय तथा तृतीय योजना काल मे १९५६ के औद्योगिक नीति प्रस्ताव को आधार माना गया जिसका लक्ष्य देश मे एक समाजवादी समाज की रचना करना था। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए इस्पात तथा कोयला सरीखे आधारभूत उद्योगों का विकास करना आवश्यक था। इसके लिए एक शक्तिशाली सार्वजनिक क्षेत्र की स्थापना करना आवश्यक था। अत सरकार ने अनेक भारी उद्योगो मे पूंजी लगाना आरम्भ कर दिया। सार्वजनिक तथा निजी क्षेत्रो के विकास का विस्तृत ब्यौरा एक अन्य अध्याय मे दिया गया है।

प्राथमिकताएँ—योजनाकाल मे उद्योगो के विकास के लिए निम्नलिखित प्राथमिकताएं निश्चित की गयी और उनके अनुसार ही कार्य किया गया :

प्रथम योजना

(१) वर्तमान उत्पादन क्षमता का अधिकाधिक उपयोग करना।

(२) लोहा-इस्पात, सीमेण्ट, खाद, भारी रसायन, मशीन-औजार, एल्यूमीनियम जैसे आधारभूत तथा उत्पादक उद्योगो की उत्पादन क्षमता मे वृद्धि करना।

(३) उन औद्योगिक इकाइयो को पूरा करना जिनकी स्थापना पर पहले ही धन व्यय किया जा चुका है किन्तु जो अधूरी है।

(४) ऐसी नयी इकाइयो की स्थापना करना जिनके द्वारा औद्योगिक विकास मे सहायता मिलेगी तथा औद्योगिक असन्तुलन दूर होगा।

द्वितीय योजना

(१) मूलभूत उद्योगो—इस्पात तथा लोहा, भारी रसायन, मशीन-निर्माण, इजीनियरिंग तथा खाद—के उत्पादन मे वृद्धि करना।

(२) उत्पादन वस्तुओ तथा विकास के लिए आधारभूत वस्तुओ तथा सीमेण्ट एल्यूमीनियम, दवाएँ, रगाई सम्बन्धी वस्तुओ की उत्पादन क्षमता मे वृद्धि करना।

(३) जूट, सूत, चीनी जैसे राष्ट्रीय महत्त्व के उद्योगो का आधुनिकीकरण तथा उनके मशीन-उपकरण आदि मे सुधार।

(४) वर्तमान औद्योगिक उत्पादन का समुचित उपयोग करना।

(५) सामान्य उत्पादन कार्यक्रमो को ध्यान मे रखते हुए उपभोक्ता सम्बन्धी वस्तुओ के उत्पादन मे वृद्धि करना।

तृतीय योजना

(१) द्वितीय पचवर्षीय योजना से चली आ रही अधूरी परियोजनाएँ अथवा जो सन् १९५७-५८ मे विदेशी विनिमय की कठिनाई के कारण भविष्य के लिए छोड दी गयी थी, उन्हें पूरा करना।

(२) *मशीन-निर्माण, इजीनियरिंग सम्बन्धी बडे उद्योग, विशेष स्टील, कास्टिंग तथा फोर-जिंग्स*, लोहा-इस्पात आदि उद्योगो के विस्तार व उत्पादन म भिन्नता लाना तथा पैट्रोलियम वस्तुएं व उर्वरक के उत्पादन मे वृद्धि करना।

(३) मुख्य आधारभूत वस्तुए, जैसे खनिज तेल, एल्यूमिनियम, अकार्बनिक रसायन तथा पैट्रो-केमिकल्स उद्योगो के उत्पादन म वृद्धि करना।

(४) उन देशी उद्योगो के उत्पादन मे वृद्धि करना जो उपभोक्ताओ के लिए आवश्यक हैं, जैसे—कपडा, चीनी वनस्पति तेल तथा गृह निर्माण सम्बन्धी वस्तुएँ।

तीनों योजनाओ मे निर्धारित प्राथमिकताओ से निम्नलिखित निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं :

(१) योजनाकाल मे भारी तथा मूलभूत उद्योगो की स्थापना तथा विकास के लिए विशेष प्रयत्न किये गये हैं।

(२) लोहा-इस्पात कोयला, रसायन आदि मूलभूत उद्योगो के अतिरिक्त उपभोक्ताओ के काम मे आन वाली वस्तुओं के उत्पादन पर भी ध्यान दिया गया है किन्तु यह ध्यान दूसरी और तीसरी योजना मे विशेष रूप मे दिया गया।

(३) देश के प्राकृतिक साधनो का अपने ही प्रयत्नो से सदुपयोग करने की चेष्टा की गयी है।

२ व्यय कार्यक्रम
(INVESTMENT PROGRAMME)

इससे पूर्व यह स्पष्ट किया जा चुका है कि प्रथम योजनाकाल मे औद्योगिक विकास का लगभग सम्पूर्ण भार निजी साहस पर छोड दिया गया किन्तु द्वितीय योजनाओ के अन्तर्गत सरकार द्वारा पर्याप्त रकम विनियोजित करने की व्यवस्था की गयी जिसका अनुमान निम्नलिखित तथ्यो से लग सकता है

योजनाकाल के औद्योगिक क्षेत्र मे विनिमय

(करोड रुपयो में)

	सार्वजनिक क्षेत्र	निजी क्षेत्र	योग	कुल व्यय का प्रतिशत
प्रथम योजना	५५	२३३	२८८	७ ६
द्वितीय योजना	६३८	८५०	१,७८८	१८ ५
तृतीय योजना	१,५२०	१,०५०	२,५७०	२०·०

प्रस्तुत तालिका से स्पष्ट है कि योजनाकाल मे भारतीय उद्योग तथा खनिज व्यवसाय पर कुल ४६ अरब से अधिक रकम खर्च की गयी जिसमे से लगभग ५६ प्रतिशत रकम सार्वजनिक क्षेत्र तथा शेप निजी साहस द्वारा विनियोजित की गयी।

प्रथम योजनाकाल मे लोक क्षेत्र मे उद्योगो पर कुल ६४ करोड रुपये व्यय करने का निश्चय किया गया था किन्तु वास्तविक व्यय केवल ५५ करोड रुपये हो सका। इस रकम से डी० डी० टी० फैक्ट्री, हिन्दुस्तान एण्टीबायोटिक्स तथा टेलीफोन बनाने के कारखाने स्थापित किये गये। द्वितीय तथा तृतीय योजनाकाल मे सार्वजनिक तथा निजी क्षेत्रो मे औद्योगिक विकास को अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान दिया गया जिसके परिणामस्वरूप इस्पात के तीन बड़े कारखाने, हिन्दुस्तान मशीन टूल्स, भारत इलेक्ट्रोनिक्स, तीन रासायनिक खाद फैक्टरियाँ तथा अनेक सीमेण्ट, शक्कर, कागज आदि बनाने के कारखाने स्थापित किये गये।

भारत मे आयोजन का एक महत्त्वपूर्ण उल्लेखनीय तत्त्व यह है कि देश की औद्योगिक सम्पदा मे सरकार का भाग जो १९५०-५१ मे १५ प्रतिशत था वह १९६५-६६ मे बढकर ३५ प्रतिशत हो गया। एक समाजवादी समाज की स्थापना की दिशा मे यह कदम निश्चय ही अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कहा जा सकता है।

वित्त व्यवस्था—तीनो योजनाओ मे सरकारी क्षेत्र मे उद्योगो पर जो पूँजी विनियोजित की गयी उसे विदेशी ऋणो तथा कुछ अशो मे घरेलू साधनो से प्राप्त किया गया। योजनाकाल मे इस्पात कारखानो के लिए जर्मनी, सोवियत सघ तथा ब्रिटेन से जो पूँजी प्राप्त हुई उसके अतिरिक्त औद्योगिक सस्थानो के लिए उपलब्ध विदेशी आँकडे नही हैं। निजी क्षेत्र मे औद्योगिक विकास के लिए पूँजी अग्रलिखित साधनो से प्राप्त की गयी·

निजी क्षेत्र में उद्योगो के लिए पूंजी

(करोड रुपयो मे)

	प्रथम योजना	द्वितीय योजना	तृतीय योजना[1]
१ वित्त निगमो से ऋण	१८	८०	१३०
२ राजकीय सहयोग	२६	२०	२०
३ विदेशी पूंजी तथा ऋण	४५	२००	३००
४ नयी अश पूंजी	४०	१५०	२००
५ आन्तरिक साधन	२११	४००	६००
योग	३४०	८५०	१,२५०

प्रथम योजना मे निजी साहस द्वारा उद्योगो मे २३३ करोड रुपये की रकम विनियोजित करने का प्रावधान किया गया था। इसके अतिरिक्त पुरानी मशीनें बदलने तथा हिस्से आदि बदलने के लिए २३० करोड रुपये की अतिरिक्त आवश्यकता थी। इस प्रकार नयी इकाइयाँ स्थापित करने तथा पुरानी इकाइयो का नवीनीकरण करने के लिए कुल ४६३ करोड रुपये की रकम की आवश्यकता थी। इनमे से निजी साहस द्वारा २३३ करोड रुपये नयी इकाइयो के लिए तथा लगभग १०७ करोड रुपये नवीनीकरण आदि के लिए—अर्थात् कुल ३४० करोड रुपये—विनियोजित किये गये।

दूसरी योजना के अन्तर्गत निजी क्षेत्र मे ६२० करोड रुपया विनियोजित करने का प्रावधान था किन्तु वास्तविक विनियोजन ८५० करोड रुपये हुआ। इसमे से लगभग ४७ प्रतिशत निजी साधनों से, लगभग १८ प्रतिशत नयी पूँजी से शेष और देशी और विदेशी ऋणो द्वारा प्राप्त किया गया। वास्तव मे, द्वितीय योजनाकाल मे निजी क्षेत्र मे औद्योगिक विकास को अप्रत्याशित बल मिला।

तीसरी योजना मे निजी क्षेत्र के लिए उद्योगो मे १,२५० करोड रुपये विनियोजित करने का प्रावधान रखा गया था किन्तु वास्तविक विनियोजन केवल १,०५० करोड रुपये ही हो सका। वास्तव मे तीसरी योजनाकाल मे विदेशी पूंजी तथा आन्तरिक साधन—दोनो ही—उपलब्ध करने मे कठिनाइयाँ उत्पन्न हो गयी क्योकि विदेशी विनिमय का बहुत बडा भाग अनाज तथा सुरक्षा सम्बन्धी आवश्यक वस्तुएँ मँगवाने पर खर्च हो गया।

३ उत्पादन मे वृद्धि

योजनाकाल मे भारत के औद्योगिक उत्पादन म पर्याप्त वृद्धि का अनुमान इस तथ्य से लगता है कि औद्योगिक उत्पादन का सूचकाक (१९५६=१००) जो १९५० ५१ मे ७३ ५ था १९५५ ५६ मे ९१ ९ १९६० ६१ मे १३० १ तथा १९६५ ६६ म १८१ ६ हो गया। इस प्रकार योजना के पन्द्रह वर्षों म औद्योगिक उत्पादन म कुल १०८ १ प्रतिशत की वृद्धि हुई। आगे तीन वर्षों मे औद्योगिक क्षेत्र मे मन्दी का वातावरण बना रहा। १९६८ के पश्चात औद्योगिक उत्पादन मे प्राय ७ प्रतिशत वार्षिक की वृद्धि हुई है। सामान्यत यह प्रगति सन्तोषजनक कही जा सकती है किन्तु कुछ क्षेत्रो मे वृद्धि बहुत साधारण हुई है जैसा कि आगे दिये गये अकों से स्पष्ट है

[1] योजना के आरम्भ में अनुमानित।

भारत में औद्योगिक उत्पादन

	१६५०-५१	१६६६-७०
१ कोयला (मिलियन टन)	३३	८०
२ धातु लोहा (" ")	३	७२
३ तैयार इस्पात (" ")	१	५
४ रेल डिब्बे (हजार)	३	१५
५ बाइसिकलें (")	६६	१,४१८
६ सीमेण्ट (मिलियन टन)	३	१४
७ जूट का सामान (हजार टन)	८३७	६४४
८ सूती वस्त्र (मिलियन मीटर)	४,२१५	७,७५३
६ चीनी (हजार टन)	१,१३४	४,२६१
१०. चाय (मिलियन किलोग्राम)	२७७	४०१
११ वनस्पति तेल (हजार टन)	१७०	४७७

इसस स्पष्ट है कि इस्पात, सीमेण्ट, चीनी, वस्त्र आदि सभी वस्तुओं के उत्पादन में आशातीत वृद्धि हुई है।

नये उद्योगों का विकास—योजनाकाल की सबसे महत्त्वपूर्ण उपलब्धि यह है कि इसमें कुछ उद्योगों का विकास बहुत तेजी स हुआ है जबकि अनेक नये उद्योगों की स्थापना हुई है। नये उद्योगों के काम में आने वाली मशीनें, मोटर साइकिल तथा स्कूटर, डीजल, इंजन, गाडियों के टायर आदि पर्याप्त मात्रा में बनने लगे हैं।

चतुर्थ योजना मे उद्योग

चतुर्थ योजना मे कुल १५,६०२ करोड रुपया सार्वजनिक क्षेत्र म खर्च किया जायगा जिसमे से ३,३३८ करोड रुपया अर्थात् लगभग २१ प्रतिशत भाग बडे उद्योग तथा खनिज के विकास पर खर्च करने की व्यवस्था है और लगभग ७ प्रतिशत भाग ग्रामीण तथा लघु उद्योगों पर व्यय किया जायगा।

चतुर्थ योजना मे उद्योगो को लाइसेंस देने की नीति इस ढग से बनायी गयी है कि पहले से जिन लोगों क हाथ में बहुत से उद्योग हैं उन्हें लाइसेंस न दिये जाएँ। यह योजना नये साहसियो को प्रोत्साहित करने के लिए बनायी गयी है।

नये लक्ष्य—चतुर्थ योजना के अन्त (१६७३-७४) तक मुख्य उद्योगो के उत्पादन लक्ष्य निम्नलिखित निर्धारित किये गये हैं :

१ तैयार इस्पात	८१	लाख टन
२ धातु लोहा	५१४	" "
३ कच्चा पेट्रोल	८५	" "
४. मोटर-साइकिल, स्कूटर	२१	" "
५ सीमेण्ट	१८०	" "
६ शीशा	४५	" "
७ सूती कपडा मिल	५,१००	मिलियन मीटर
८ पटसन सामान	१४	लाख टन
६. चीनी	४७	" "
१०. वनस्पति तेल	६·२५	" "

इन वस्तुओं के अतिरिक्त अनेक प्रकार के इन्जीनियरी सामान तथा मशीनों के उत्पादन में आशातीत वृद्धि की योजना बनायी गयी है।

प्रश्न

१. तृतीय पचवर्षीय योजना के मुख्य उद्देश्य क्या हैं ? इसके अन्तर्गत औद्योगिक विकास कार्यक्रम पर एक सक्षिप्त टिप्पणी लिखिए। (आगरा, बी० ए०, १९६३)

२ प्रथम तथा द्वितीय योजनाओ मे भारत का किस सीमा तक औद्योगिक विकास हुआ है ? आलोचनात्मक विवेचन कीजिए। (बिहार, बी० ए०, १९६३)

३ स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् भारत के औद्योगिक विकास पर एक सक्षिप्त टिप्पणी लिखिए। (बिहार, बी० ए०, १९५३, पजाब, बी० ए०, १९५३, सागर, बी० ए०, १९६१)

४ तृतीय पचवर्षीय योजना के मुख्य उद्देश्य बताइए और इसमे उद्योगो से सम्बन्धित प्रस्तावो का विवेचन कीजिए। (विक्रम, बी० कॉम०, द्वितीय वर्ष, १९६४)

25 औद्योगिक नीति

(INDUSTRIAL POLICY)

"The middle path unstadded with and devoid of the usual irksome throns is a golden mean, happy compromise and panacea for all ills" —*Aristotle*

किसी भी राष्ट्र का द्रुत गति से आर्थिक विकास करके के लिए उसका औद्योगीकरण करना आवश्यक है। समुचित औद्योगिक विकास के लिए निश्चित, सुनियोजित तथा प्रगतिशील औद्योगिक नीति की आवश्यकता होती है। औद्योगिक नीति किस प्रकार की हो—यह उन मुख्य आर्थिक सिद्धान्तो पर निर्भर करता है जिन्हे औद्योगिक नीति की घोषणा करने वाली सरकार मानती है। आर्थिक क्षेत्र म सरकार को किस सीमा तक भाग लेना चाहिए तथा सरकार द्वारा देश की आर्थिक क्रियाओ का नियमन एव नियन्त्रण कहाँ तक वांछनीय है य प्रश्न सदैव विवादग्रस्त रहे हैं।

स्वतन्त्रता प्राप्ति से पूर्व भारत की औद्योगिक नीति

विदेशी सरकार की नीति भारतीय उद्योगो के प्रति उपेक्षापूर्ण ही नही अपितु विद्वेषपूर्ण थी। ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने प्रारम्भिक शासनकाल मे निर्यात उद्योगो को प्रोत्साहन दिया परन्तु ब्रिटेन मे इस नीति का तीव्र विरोध किया गया। अत कम्पनी ने अपनी नीति मे परिवर्तन किया। जब भारत की राज-सत्ता ब्रिटिश सरकार के हाथ मे चली गयी तब यहाँ पर मुक्त व्यापार नीति का पालन किया गया। इस नीति के कारण ब्रिटेन के उद्योगो की प्रतिस्पर्द्धा म हमारे विश्व विख्यात गृह एव लघु उद्योग न ठहर सके और क्रमश नष्ट हो गय। भारत मे ब्रिटेन ने जिस आर्थिक नीति का पालन किया, उसकी अभिव्यक्ति टियर्नें (Tierney) ने इन शब्दो मे की है :

"हमारी आर्थिक नीति का यह सामान्य सिद्धान्त हो कि इगलैण्ड का बना हुआ माल भारत मे बेचा जाय, जिसके बदले मे भारतीय वस्तु ली जाय।"

प्रथम युद्धकाल—प्रथम महायुद्ध के समय इस नीति म कुछ परिवर्तन हुआ। युद्ध की आवश्यकताओ के लिए उत्पादन बढाने का प्रयत्न किया गया। सन् १९१६ म औद्योगिक सम्भावनाओ की जाँच के लिए औद्योगिक आयोग की नियुक्ति की गयी। सन् १९१७ मे इण्डियन म्यूनिशन बोर्ड की स्थापना की गयी। इस बोर्ड ने भी औद्योगिक उन्नति की दिशा मे कुछ प्रयत्न किया। सन् १९१९ मे उद्योग को प्रान्तीय विषय बना दिया गया।

सरक्षण एव प्रगति—सन् १९२३ से विवेचनात्मक सरक्षण की नीति अपनायी गयी जिसके अनुसार पूर्व-निश्चित सिद्धान्तो को ध्यान मे रखते हुए कुछ चुने हुए उद्योगो को सरक्षण प्रदान करने की नीति अपनायी गयी। द्वितीय विश्वयुद्ध काल मे भी भारतीय उद्योगों को प्रोत्साहन मिला।

युद्धकाल मे ही देश के आर्थिक विकास के लिए युद्धोत्तरकालीन पुनर्निर्माण समस्याओ पर विचार करने के लिए औद्योगिक समितियाँ बनायी गयी ।

औद्योगिक नियोजन—सन् १९४४ मे सर आर्देशर दलाल केन्द्रीय सरकार मे नियोजन तथा पुनर्निर्माण (Planning and Reconstruction) विभाग के सदस्य नियुक्त किये गये । उस समय देश मे नियोजन के प्रति उत्साह था । अत 'नियोजन तथा पुनर्निर्माण' विभाग ने २१ अप्रैल, १९४५ को औद्योगिक नीति की घोषणा की। सन् १९४५ की नीति द्वारा प्रथम बार स्पष्ट शब्दो मे उद्योगो के प्रति सहकारी दृष्टिकोण को प्रकट किया गया । यह नीति बडी ही उपयोगी थी परन्तु राजनीतिक परिवर्तनो के कारण इसे कार्यान्वित नही किया जा सका ।

अक्टूबर, १९४६ मे के० सी० नियोगी की अध्यक्षता मे 'नियोजन सलाहकार मण्डल' (Advisory Planning Board) की नियुक्ति की गयी । इस मण्डल ने अपनी रिपोर्ट फरवरी १९४७ मे प्रस्तुत की । बोर्ड ने भावी नियोजन प्रशासन के सम्बन्ध मे महत्वपूर्ण सुझाव दिये, जिनमें एक **'योजना आयोग'** एक **'सलाहकार समिति'** (Consultative Body), एक **'केन्द्रीय सांख्यिकी कार्यालय'** तथा एक **'स्थायी प्रशुल्क मण्डल'** का सगठन करना प्रमुख था । जहाँ तक राज्य द्वारा उद्योगो का स्वामित्व एव प्रबन्ध ग्रहण करने का सम्बन्ध है, इस बोर्ड ने यह सुझाव दिया कि तत्कालीन परिस्थितियों को ध्यान मे रखते हुए ऐसा करना वाछनीय नही होगा । परन्तु कुछ आधारभूत उद्योगो को राज्य के स्वामित्व तथा प्रबन्ध के अन्तर्गत लाना चाहिए ।

स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात औद्योगिक नीति

१५ अगस्त, १९४७ को भारत स्वतन्त्र हुआ । जनता में नये विश्वास एव आशा की लहर आयी परन्तु उस समय की आर्थिक परिस्थितियाँ अनुकूल नही थी । देश विभाजन के कारण औद्योगिक व्यवस्था अस्त-व्यस्त हो गयी थी और आर्थिक दशा गिरती जा रही थी । औद्योगिक उत्पादन कम हो गया, मूल्य स्तर मे वृद्धि हुई और औद्योगिक अशान्ति बढने लगी । इस अनिश्चितता तथा अशान्ति को दूर करने के लिए दिसम्बर १९४७ मे एक **'औद्योगिक सम्मेलन'** आयोजित किया गया । उस समय की आर्थिक परिस्थितियो पर प्रकाश डालते हुए सम्मेलन के अध्यक्ष तथा तत्कालीन उद्योग मन्त्री डॉ० श्यामाप्रसाद मुकर्जी ने कहा, "आर्थिक परिस्थिति गत युद्ध के समय मे गम्भीर है । सही अर्थों मे अब हम औद्योगिक सकट से गुजर रहे हैं ।[1]" इस सम्मेलन ने उचित औद्योगिक नीति के विभिन्न पहलुओ पर विचार किया तथा सरकार के समक्ष निम्नलिखित सिफारिशें प्रस्तुत की

(१) देश की सम्पत्ति एव उत्पादन का उचित वितरण, जिससे भारतीय जनता को सामाजिक न्याय पर आधारित सुविधाएँ मिलें तथा जीवन-स्तर मे तीव्र गति से सुधार हो ।

(२) देश के साधनो का समुचित उपयोग करने की आवश्यकता, जिससे वर्ग विशेष के हाथो मे ही सम्पत्ति का केन्द्रीयकरण न हो ।

(३) केन्द्रीय नियोजन, सामजस्य तथा निदेशन की आवश्यकता, जिससे अधिकतम कार्यक्षमता, उत्पादन और देश के विभिन्न भागो में उद्योगों का समुचित वितरण हो सके । साथ ही साथ मजदूरी व लाभ निश्चित करने का न्यायसगत तरीका अपनाया जाय ।

(४) उद्योगो का तीन प्रमुख श्रेणियो मे विभाजन ।

सन् १९४८ का औद्योगिक नीति का प्रस्ताव

उपर्युक्त सुझावो को ध्यान मे रखते हुए ६ अप्रैल, १९४८ को उद्योग मन्त्री डॉ० श्यामाप्रसाद

---

1 *Proceeding of the Industrial Conference*, December 1947

मुकर्जी ने भारत की औद्योगिक नीति की घोषणा की। औद्योगिक नीति सम्बन्धी इस प्रस्ताव की प्रमुख विशेषताएँ निम्नलिखित थीं

(१) औद्योगिक नीति का उद्देश्य—प्रस्ताव मे यह कहा गया कि

(अ) औद्योगिक नीति का उद्देश्य ऐसे समाज की स्थापना करना है जिसमे सभी नागरिकों को समान अवसर तथा न्याय प्राप्त हो सके।

(ब) देश की वर्तमान अवस्था मे जबकि अधिकाश जनता जीवन निर्वाह स्तर से भी घटिया जीवन व्यतीत करती है उस समय उत्पादन वृद्धि पर जोर देना चाहिए।

(स) वर्तमान धन के पुनर्वितरण मात्र से जन साधारण के लिए कोई मौलिक अन्तर नही पडेगा इसका अर्थ केवल निर्धनता का पुनर्वितरण होगा।

(२) उद्योगों का चार श्रेणियों मे विभाजन—प्रस्ताव मे यह कहा गया था कि उद्योगो के विकास मे सरकार की सक्रियता धीरे धीरे बढनी चाहिए परन्तु उपलब्ध साधनो को ध्यान मे रखते हुए सरकार अपेक्षित सीमा तक उद्योगो के विकास म भाग नहीं ले सकती। अत सरकार ने उद्योगो को चार श्रेणियो मे विभाजित किया

(अ) सरकार का एकाधिकार—*इस श्रेणी के अन्तर्गत तीन उद्योग रखे गये—अस्त्र शस्त्र का निर्माण, अणुशक्ति का उत्पादन तथा नियन्त्रण और रेलवे परिवहन। इन उद्योगो पर सरकार का एकाधिकार रखा गया।*

(ब) उद्योग जिनके विकास का दायित्व भविष्य में केवल सरकार का होगा—इस श्रेणी के अन्तर्गत छह आधारभूत उद्योग रखे गये—कोयला लोहा व इस्पात हवाई जहाज निर्माण, समुद्री जहाज निर्माण, टेलीफोन, तार तथा बेतार के तार सम्बन्धी सामान का निर्माण (रेडियो रिसीविंग सेटो को सम्मिलित करके) और खनिज तल उद्योग। इन उद्योगो के सम्बन्ध मे तीन महत्त्वपूर्ण बातें कही गयी थी

(i) इस श्रेणी के उद्योगो मे नयी इकाइयो की स्थापना केवल केन्द्रीय व प्रान्तीय सरकारो तथा अन्य लोक निकायो (Public Authorities) द्वारा की जा सकती है। परन्तु यदि राष्ट्र हित मे आवश्यक समझा गया तो निजी क्षेत्र से भी सहायता ली जा सकती है।

(ii) इन उद्योगो से सम्बन्धित वर्तमान इकाइयो को १० वर्ष तक विकसित होने का पूर्ण अवसर दिया जायेगा। दस वर्ष के पश्चात् ही इन उद्योगों के राष्ट्रीयकरण के प्रश्न पर विचार *किया जायेगा। यदि किसी इकाई का राष्ट्रीयकरण करने का निश्चय किया गया तो इसके लिए उचित मुआवजा दिया जायेगा।*

(iii) *सार्वजनिक क्षेत्र के उद्योगो की प्रबन्ध व्यवस्था सार्वजनिक निगमो* (Public Corporations) द्वारा की जायेगी।

(स) सरकारी नियन्त्रण तथा नियमन के अन्तगत उद्योग—इस श्रेणी मे वे मूल उद्योग रखे गये जिन पर सरकार का नियन्त्रण रखना राष्ट्रीय हित मे है। इस श्रेणी के उद्योगो के लिए अधिक विनियोजन तथा प्राविधिक ज्ञान की आवश्यकता होती है तथा उनकी स्थिति (location) का राष्ट्रीय महत्त्व होना है अत ऐसे उद्योगो पर सरकार का नियन्त्रण होना आवश्यक है। इस श्रेणी के उद्योग निजी क्षेत्र मे रहेगे परन्तु उनका नियन्त्रण व नियमन सरकार द्वारा किया जायेगा। इन उद्योगो के राष्ट्रीयकरण का कोई भय नही है, परन्तु इन उद्योगो मे भी सरकार नयी इकाइयाँ (units) स्थापित कर सकती है। इस श्रेणी म कुल १८ उद्योग रखे गये जिनमे से मुख्य ये हैं—नमक मोटर, ट्रैक्टर, इलेक्ट्रिक इजीनियरिंग, भारी रसायन, औषधि, खाद, रसायन, पावर अल्कोहल, रबड, सीमेण्ट, चीनी, कागज सूती वस्त्र उद्योग, हवाई परिवहन, जल परिवहन, आदि।

(द) अन्य उद्योग—*शेष सभी उद्योग साधारणतया निजी क्षेत्र के लिए छोड दिये जायेंगे।*

उद्योगों पर सरकार का सामान्य नियन्त्रण रहेगा परन्तु यदि किसी उद्योग की प्रगति सन्तोषजनक नहीं हो, तो सरकार हस्तक्षेप करने में नहीं हिचकेगी।

(३) कुटीर तथा लघु उद्योग—औद्योगिक नीति में कुटीर तथा लघु उद्योगों के महत्त्व पर प्रकाश डाला गया। सरकार इन उद्योगों के विकास के लिए प्रयत्न करेगी। ऐसे उद्योग स्थानीय साधनों के पूर्ण उपयोग तथा कुछ उपभोग की वस्तुओं के सम्बन्ध में स्थानीय आत्मनिर्भरता प्राप्त करने के लिए बहुत ही उपयोगी हैं। इन उद्योगों का विकास राज्य सरकारों का दायित्व है परन्तु केन्द्रीय सरकार इस बात का पता लगायेगी कि ये उद्योग किस प्रकार तथा कहाँ तक बड़े उद्योगों के साथ चलाये जा सकते हैं। सरकार इन सभी प्रकार के उद्योगों में समन्वय स्थापित करने का प्रयत्न करेगी। कुटीर तथा लघु उद्योगों के लिए सहकारिता पर जोर दिया गया।

(४) तट कर नीति—सरकार की तट कर नीति इस प्रकार की होगी जिससे अनावश्यक विदेशी प्रतिस्पर्द्धा को रोका जा सके तथा उपभोक्ताओं पर अनावश्यक भार डाले बिना देश के साधनों का उपयोग किया जा सके।

(५) कर नीति—पूँजीगत विनियोजन व बचत में वृद्धि करने के लिए तथा कुछ व्यक्तियों के हाथों में सम्पत्ति केन्द्रण रोकने के लिए कर प्रणाली में आवश्यक सुधार किया जायेगा।

(६) श्रम नीति—*औद्योगिक विकास के लिए उत्तम औद्योगिक सम्बन्ध आवश्यक है।* सरकार श्रमिकों की स्थिति सुधारने का प्रयत्न करेगी। उद्योगों के लाभ में श्रमिकों को भी हिस्सा मिलेगा तथा उद्योगों के सचालन में श्रमिकों को भागीदार बनाने का प्रयत्न किया जायेगा। पूँजी पर भी उचित लाभ मिले, इस बात का ध्यान रखा जायेगा। श्रमिकों की गृह-समस्या के समाधान के लिए आगामी १० वर्षों में १० लाख मकान बनाये जायेंगे। औद्योगिक झगड़ों के फैसले के लिए उचित व्यवस्था की जायगी।

(७) विदेशी पूँजी—सरकार विदेशी पूँजी का स्वागत करेगी। इसके लिए सरकार निश्चित कानून पास करेगी। नियमानुसार बहुमत-स्वामित्व नियन्त्रण भारतीयों के हाथ में रहेगा। यदि राष्ट्रहित में अनावश्यक समझा गया तो यह शर्त हटायी भी जा सकती है परन्तु प्रत्येक अवस्था में इस बात पर ध्यान दिया जायेगा कि अन्त में धीरे धीरे भारतीय विशेषज्ञ विदेशी विशेषज्ञों का स्थान ग्रहण कर लें। यदि विदेशी पूँजी का राष्ट्रीयकरण किया गया तो उचित मुआवजा दिया जायेगा किन्तु धीरे धीरे विदेशी पूँजी का प्रतिस्थापन भारतीय पूँजी द्वारा किया जायेगा।

(८) वितरण—वर्तमान समय में उत्पादन वृद्धि पर जोर दिया जायेगा और वितरण की समस्या पर भविष्य में विचार किया जायगा।

(९) योजना आयोग—विकास सम्बन्धी योजनाएँ बनाने तथा उनको कार्यान्वित करने के लिए एक 'राष्ट्रीय योजना आयोग' स्थापित किया जायेगा। इसी प्रकार कुटीर उद्योग-धन्धों के विकास के लिए 'कुटीर उद्योग बोर्ड' सगठित किया जायेगा।

सन् १९४८ की नीति की आलोचनात्मक समीक्षा—सन् १९४८ की नीति का कुछ क्षेत्रों में स्वागत किया गया तथा कुछ क्षेत्रों में उसकी कटु आलोचना की गयी। मीनू मसानी के अनुसार इस नीति द्वारा 'प्रजातन्त्रात्मक समाजवाद' की नींव डाली गयी। प्रो० रंगा के अनुसार, 'यह नीति 'गाधीवादी समाजवाद' की विजय थी।" प्रो० के० टी० शाह के अनुसार, "यह वह नीति नहीं थी जिसे एक *प्रगतिशील तथा उन्नति की आशा रखने वाले देश को अपनाना चाहिए।"* कुछ लोगों ने इस नीति को पूँजीवाद की विरोधी घोषित किया।

(१) मिश्रित अर्थ व्यवस्था—भारत सरकार की यह औद्योगिक नीति मिश्रित अर्थ व्यवस्था (Mixed Economy) की नींव डालने की दिशा में पहला कदम था। वस्तुतः कोई भी अर्थ-व्यवस्था परिवर्तन के समय मिश्रित अर्थ व्यवस्था होती है। मिश्रित अर्थ व्यवस्था को जटिल

समस्याओं का सामना करना पड़ता है क्योंकि सार्वजनिक तथा निजी क्षेत्र में समन्वय स्थापित करना बड़ा ही दुष्कर कार्य होता है। सीमित साधनों की प्राप्ति के लिए दोनों क्षेत्रों में स्पर्द्धा हो सकती है। ऐसी अर्थ-व्यवस्था को चलाने के लिए विभिन्न प्रकार से नियन्त्रणों की आवश्यकता पड़ती है जिनसे आर्थिक विकास का मार्ग कभी-कभी अवरुद्ध हो सकता है।

मिश्रित अर्थ-व्यवस्था में भारत पूँजीवादी अर्थ-व्यवस्था से समाजवादी अर्थ-व्यवस्था की ओर अग्रसर हो रहा है। धीरे-धीरे परिवर्तन लाना उचित है परन्तु देश के सामने निश्चित लक्ष्य होना चाहिए। यदि लक्ष्य में परिवर्तन किया भी जाय तो अपने वचनों तथा आश्वासनों को नहीं भूलना चाहिए।

(२) विश्वास का अभाव—इस नीति के कारण उद्योगपतियों में विश्वास उत्पन्न नहीं हुआ अतः वे पूँजी नियोजन करने में डरने लगे। वस्तुतः उस समय देश में अधिक विनियोजन की आवश्यकता थी परन्तु औद्योगिक नीति का विनियोजन पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ा। सर आर्देशर दलाल के शब्दों में, 'राष्ट्रीयकरण, लाभांश की सीमा, लाभ में हिस्सा लिए जाने तथा १० वर्षों के पश्चात् पूँजी के विघटन के भय से विनियोजक भयभीत हो गये।"

(३) राष्ट्रीयकरण का भय—इस नीति के कारण उद्योगपतियों में राष्ट्रीयकरण का भय समा गया। नेताओं द्वारा राष्ट्रीयकरण के सम्बन्ध में कई प्रकार के परस्पर विरोधी विचार प्रकट किये गये। १० वर्षों के पश्चात् भी राष्ट्रीयकरण का भय बना रहा। वस्तुतः १० वर्षों में ही कोई औद्योगिक संस्थान लाभार्जन के योग्य हो पाता है। यदि उसी समय इसका राष्ट्रीयकरण कर लिया जाय तो कोई भी विनियोजक ऐसे संस्थान की स्थापना नहीं करेगा। स्वर्गीय श्री जवाहरलाल नेहरू ने राष्ट्रीयकरण के सम्बन्ध में आश्वासन भी दिया परन्तु उद्योगपतियों का भय दूर नहीं हुआ, इससे देश की औद्योगिक उन्नति में बाधा उपस्थित हुई।

(४) उत्पादन अथवा वितरण—औद्योगिक नीति में यह घोषणा की गयी कि वर्तमान समय में देश की प्रमुख समस्या उत्पादन में वृद्धि करना है, वितरण समस्या का समाधान उतना नहीं। वस्तुतः यह विचार भ्रामक है। उत्पादन तथा वितरण दोनों एक ही क्रिया के दो रूप हैं। उत्पादन के साथ साथ वितरण की समस्या तुरन्त सामने आती है।

(५) अस्पष्ट एवं असन्तोषजनक—इस नीति द्वारा किसी भी पक्ष को सन्तोष नहीं हुआ। राष्ट्रीयकरण, लाभ में हिस्सा, प्रबन्ध में श्रमिकों द्वारा भाग लेना आदि आश्वासन देकर सरकार ने वामपक्षी होने का दावा किया। साथ ही साथ राष्ट्रीयकरण का क्षेत्र धीरे धीरे सीमित कर, ऊँची आय पर करों से छूट देकर तथा करों की चोरी के सम्बन्ध में दुर्बलता दिखाकर शासकों ने पूँजीपतियों को प्रसन्न करने का प्रयत्न किया। अतः "इस नीति ने उद्योगपतियों, विनियोजकों, औद्योगिक श्रमिक और जन-साधारण को असन्तुष्ट किया। ... उत्पादन में किसी भी प्रकार की महत्त्वपूर्ण वृद्धि के लिए जिस सक्रिय उत्साह तथा प्रगतिशीलता की आवश्यकता थी उसे लाने में यह नीति असफल रही है।"

आलोचनाएँ असत्य—यद्यपि उपर्युक्त आलोचनाएँ न्यायसंगत तथा उचित प्रतीत होती हैं फिर भी तत्कालीन परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुए इससे अच्छी औद्योगिक नीति की घोषणा नहीं की जा सकती थी। आर्थिक नीति का निर्माण आर्थिक परिस्थितियों के अनुसार किया जाता है। उस समय देश में उत्पादन वृद्धि की आवश्यकता थी अतः सरकार ने वितरण पक्ष पर ध्यान न देकर उत्पादन पर ध्यान दिया। इसी प्रकार राष्ट्रीयकरण के सम्बन्ध में भी नीति स्पष्ट थी। १० वर्षों के पश्चात् राष्ट्रीयकरण केवल उन्हीं उद्योगों का किया जाना था जिनकी प्रगति सन्तोषजनक न होती। अतः उत्पादन एवं औद्योगिक प्रगति की दृष्टि से यह व्यवस्था सर्वथा उपयुक्त थी। उत्पादन वृद्धि के लिए कुटीर तथा लघु उद्योगों के विकास पर ध्यान दिया गया। श्रमिकों को

प्रोत्साहन दिया गया और उन्हें शोषण से बचाने तथा उत्पादन में उचित हिस्सा दिलाने की जो घोषणा की गयी वह सामाजिक न्याय की दृष्टि से भी पूर्णतया उचित थी।

मिश्रित अर्थ-व्यवस्था की बड़ी कटु आलोचना की गयी है, किन्तु तत्कालीन परिस्थितियों में मिश्रित अर्थ-व्यवस्था के सिद्धान्त को अपनाने के अतिरिक्त दूसरा कोई मार्ग नहीं था। मूलभूत उद्योगों के विकास के लिए अधिक पूंजी की आवश्यकता होती है तथा आरम्भ में लाभ भी प्राप्त नहीं होता। निजी पूंजीपति उपभोग्ता उद्योगों में ही विनियोजन करते थे अतः सरकार को आधारभूत उद्योगों के विकास का दायित्व अपने ऊपर लेना अत्यावश्यक था। इसी प्रकार सुरक्षा सम्बन्धी उद्योगों को भी निजी उद्योगपतियों पर नहीं छोड़ा जा सकता था। सभी उद्योगों को सार्वजनिक क्षेत्र में रखना न तो उचित था और न व्यावहारिक अतः मिश्रित अर्थ व्यवस्था की नीति पूर्णरूपेण उपयुक्त थी। इस प्रकार सन् १९४८ की औद्योगिक नीति को सर्वथा युक्तिसंगत कहा जा सकता है।

उद्योग (विकास एवं नियमन) अधिनियम, १९५१

औद्योगिक नीति को कार्यान्वित करने और उद्योगों के नियमन तथा विकास के लिए अक्टूबर १९५१ में भारतीय संसद ने उद्योग (विकास एवं नियमन) अधिनियम पारित किया जो ८ मई, १९५२ को लागू किया गया। इस अधिनियम में प्रथम अनुसूची में दिये गये उद्योगों के विकास तथा नियमन की व्यवस्था की गयी। इसका मुख्य उद्देश्य योजनाबद्ध विकास तथा उद्योगों का नियमन था। इस अधिनियम की मुख्य व्यवस्थाएं निम्नलिखित थीं :

(१) अनुसूचित उद्योगों की सभी वर्तमान इकाइयों का पंजीयन (Registration) निश्चित समय के अन्दर कराना अनिवार्य है।

(२) केन्द्रीय सरकार से लाइसेंस लिए बिना किसी भी नयी औद्योगिक इकाई की स्थापना नहीं की जा सकती और न वर्तमान इकाइयों का विस्तार किया जा सकता है।

(३) यदि किसी भी उद्योग का उत्पादन गिर जाय, उत्पादन व्यय में वृद्धि हो, उत्पादित वस्तु के गुणों (quality) में गिरावट आती हो या उपभोक्ताओं को हानि होने की सम्भावना हो अथवा उत्पादित वस्तुओं के मूल्य में अनुचित वृद्धि की गयी हो तो सरकार उस उद्योग की जाँच कर सकती है और जांच के पश्चात् निम्नलिखित आदेश दिये जा सकते हैं

(क) वह उद्योग उत्पादन में वृद्धि तथा विकास का प्रयत्न करे।

(ख) वह उद्योग कोई भी ऐसा कार्य न करे जिससे उत्पादन की मात्रा या गुण में गिरावट आये।

(ग) जिस उद्योग की जाँच की गयी हो उसके मूल्य तथा वितरण पर सरकार द्वारा नियन्त्रण लगाया जाय।

(४) ऐसी जाँच के पश्चात् उद्योग यदि दिये गये निर्देशों का पालन नहीं करता है तो सरकार ऐसे उद्योग की प्रबन्ध व्यवस्था अपने हाथ में ले सकती है। सन् १९५३ के संशोधन के अनुसार सरकार बिना जाँच कराये भी उद्योग की प्रबन्ध व्यवस्था अपने हाथ में ले सकती है।

(५) अनुसूचित उद्योगों के विकास तथा नियमन के सम्बन्ध में सरकार को सलाह देने के लिए एक केन्द्रीय सलाहकार परिषद् (Central Advisory Council) बनाने की व्यवस्था की गयी।

(६) नये उद्योगों तथा इकाइयों को लाइसेंस देने के लिए एक अनुज्ञादात्री समिति (Licensing Committee) संगठित करने की व्यवस्था की गयी।

(७) अनुसूचित उद्योगों या सम्बन्धित उद्योगों की उन्नति तथा विकास के लिए पृथक्-पृथक् 'विकास परिषदों' (Development Councils) की स्थापना का प्रावधान किया गया।

केन्द्रीय सलाहकार परिषद्—मई १९५२ में इस परिषद् की स्थापना की गयी जिसमें

उद्योग, श्रमिक, उपभोक्ताओ, प्रारम्भिक उत्पादकों तथा सरकार के प्रतिनिधि हैं। इस समिति में कुल ३० सदस्य हैं। यह परिषद् अनुसूचित उद्योगों के सम्बन्ध में सरकार को सलाह देती है। सरकार इस एक्ट के अन्तर्गत नियम बनाते समय, उद्योगों को निर्देशन देते समय या उनकी प्रबन्ध व्यवस्था अपने हाथ में लेते समय भी परिषद् से सलाह लेती है।

विकास परिषद्—इन परिषदों की स्थापना का मुख्य उद्देश्य सार्वजनिक तथा निजी क्षेत्र में सम्बन्ध स्थापित करना तथा इस बात पर ध्यान रखना है कि निजी क्षेत्र नियोजन के अनुसार कार्य करते हैं या नहीं। इन परिषदों में उद्योगपतियों श्रमिकों प्राविधिक विशेषज्ञों तथा उपभोक्ताओं के प्रतिनिधि होते हैं। परिषदों के प्रमुख कार्य निम्नलिखित है

(१) उत्पादन के लक्ष्य सम्बन्धी सुझाव देना, उत्पादन योजनाओं में समन्वय स्थापित करना तथा समय समय पर उद्योगों की उन्नति की समीक्षा करना।

(२) उत्पादन को अधिकतम करने, उत्पादन व्यय में कमी करने तथा वस्तुओं के गुण में सुधार करने के लिए सुझाव देना।

(३) कच्चा माल प्राप्त करने तथा नियन्त्रित कच्चे माल के वितरण में सहायता देना।

(४) प्राविधिक प्रशिक्षण को बढ़ावा देना तथा वैज्ञानिक व औद्योगिक शोधकार्य को प्रोत्साहित करना।

(५) सरकार द्वारा सौंपे गये मामलों पर अपनी सलाह देना।

इन परिषदों को निजी साहस की धात्रियाँ (nurses for private enterprise) कहा जाता है। देश के अनेक उद्योगों—चीनी, ऊनी वस्त्र, कृत्रिम रेशमी वस्त्र साइकिल, विद्युत आदि—में विकास परिषदें सफलतापूर्वक कार्य कर रही हैं।

अनुज्ञादात्री समिति—इस समिति में योजना आयोग तथा सम्बन्धित मन्त्रालय के प्रतिनिधि है। समिति नयी इकाइयों की स्थापना तथा पुरानी इकाइयों के विस्तार के लिए लाइसेंस देती है। लाइसेंस देते समय पंचवर्षीय योजनाओं के उद्देश्यों तथा प्राथमिकताओं का ध्यान रखा जाता है। वर्तमान में अनेक उद्योगों को स्वतन्त्र रूप से बिना लाइसेंस इकाइयाँ स्थापित करने की अनुमति दे दी गयी है।

अधिनियम की समीक्षा—उद्योग (विकास एवं नियमन) अधिनियम एक महत्त्वपूर्ण अधिनियम है। इसके द्वारा निजी क्षेत्र पर पूर्ण नियन्त्रण रखा जाता है। भारत का औद्योगिक विकास इस बात का साक्षी है कि देश में सुनियोजित तथा समन्वित ढंग पर औद्योगिक विकास नहीं किया गया। उद्योगपतियों ने देश के हित का ध्यान नहीं रखा बल्कि केवल उन्हीं उद्योगों की स्थापना की जिनसे उन्हें शीघ्र लाभ (quick return) प्राप्त हो सके। इसका परिणाम यह हुआ कि औद्योगीकरण की नींव मजबूत नहीं हुई जिससे भावी औद्योगिक विकास में कठिनाइयाँ हुईं। उद्योगपतियों द्वारा मूलभूत उद्योगों (Basic Industries) का विकास न करना इस बात का प्रमाण है। अतः देश के हितों को ध्यान में रखते हुए इस प्रकार के अधिनियम की आवश्यकता थी।

दूसरे, भारत एक विशाल देश है जिसके कुछ भाग आर्थिक दृष्टि से बहुत पिछड़े हुए हैं तथा कुछ भाग अधिक विकसित हैं। पूरे देश के औद्योगिक विकास के लिए यह आवश्यक है कि क्षेत्रीय विकास (Regional Development) पर ध्यान दिया जाय। इस अधिनियम द्वारा इस कार्य में सहायता मिली है।

तीसरे, इस अधिनियम के कारण उद्योगपति मनमानी नहीं कर सकते। नियन्त्रण तथा जाँच की व्यवस्था के कारण उद्योग दृढ़ आधार (sound footing) पर चलाये जायेंगे जिससे उपभोक्ताओं के हितों की रक्षा होगी तथा देश के प्राकृतिक साधनों का समुचित उपयोग सम्भव होगा। इस अधिनियम द्वारा औद्योगिक विकास की अवांछनीय प्रवृत्तियों को रोका जा सकेगा।

सन् १९५६ की औद्योगिक नीति

३० अप्रैल, १९५६ को भारत सरकार ने नयी औद्योगिक नीति सम्बन्धी प्रस्ताव अपनाया इस प्रस्ताव द्वारा सन् १९४८ की औद्योगिक नीति को समाप्त कर दिया गया तथा उसके स्थान पर नयी औद्योगिक नीति की घोषणा की गयी। पिछले आठ वर्षों (१९४८-१९५६) में कुछ महत्त्वपूर्ण आर्थिक तथा राजनीतिक परिवर्तन हो गये थे जिनके कारण औद्योगिक नीति में परिवर्तन करना आवश्यक हो गया था। यह कारण निम्नलिखित थे :

(१) भारतीय संविधान—२६ जनवरी, १९५० से गणतन्त्र भारत का नया संविधान लागू किया गया। इस संविधान द्वारा नागरिकों के लिए कुछ मौलिक अधिकारों की घोषणा की गयी तथा सरकारी नीति विषयक निर्देशक सिद्धान्तों (Directive Principles of Policy) का उल्लेख किया गया। इन निर्देशक सिद्धान्तों मे इस सिद्धान्त का उल्लेख किया गया कि "भौतिक साधनों का स्वामित्व एवं नियन्त्रण अधिकतम सामाजिक समानता लाने के लिए हो तथा अर्थ-व्यवस्था का संचालन जन साधारण के हितों के विरुद्ध न हो और धन तथा उत्पादन के साधनो का सीमित क्षेत्र में केन्द्रीयकरण न हो।" अत संविधान की इन विशेषताओं के अनुरूप औद्योगिक नीति में परिवर्तन करना आवश्यक हो गया।

(२) द्वितीय पंचवर्षीय योजना—देश का आर्थिक विकास नियोजन द्वारा किया जा रहा था। प्रथम पंचवर्षीय योजना पूरी हो चुकी थी तथा द्वितीय पंचवर्षीय योजना आरम्भ कर दी गयी थी। यह योजना मूल रूप मे उद्योग-प्रधान थी। प्रथम योजना के प्राप्त अनुभवों के आधार पर देश का तीव्र गति से औद्योगीकरण करने के लिए भी औद्योगिक नीति में परिवर्तन करना आवश्यक था।

(३) समाजवादी समाज—प्रथम औद्योगिक नीति का उद्देश्य मिश्रित अर्थ-व्यवस्था की स्थापना करना था परन्तु दिसम्बर, १९५४ में संसद ने देश की आर्थिक तथा सामाजिक नीतियों का उद्देश्य समाजवादी समाज की स्थापना करना निश्चित किया। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए सार्वजनिक क्षेत्र का विस्तार करना आवश्यक हो गया। अत औद्योगिक नीति में परिवर्तन करना स्वाभाविक था।

सन् १९५६ की औद्योगिक नीति की विशेषताएँ—सन् १९५६ के औद्योगिक नीति सम्बन्धी प्रस्ताव का उद्देश्य देश म समाजवादी समाज की स्थापना करना है। इस औद्योगिक नीति की प्रस्तावना में कहा गया है "समाजवादी समाज को राष्ट्रीय उद्देश्य के रूप में अपनाना और योजनाबद्ध तथा तीव्र गति से विकास की आवश्यकता इस बात की माँग करते हैं कि आधारभूत एवं सामरिक (strategic) उद्योग और सार्वजनिक हित (public utilities) सम्बन्धी सभी उद्योग सार्वजनिक क्षेत्र मे हों। अन्य अनावश्यक उद्योग भी जिनमें इतनी अधिक मात्रा में विनियोग की आवश्यकता है, जिसे वर्तमान परिस्थितियों मे केवल राज्य ही पूर्ण कर सकता है, सार्वजनिक क्षेत्र में होने की आवश्यकता है। अत राज्य को अधिक विस्तृत क्षेत्र मे उद्योगों के भावी विकास का प्रत्यक्ष दायित्व सम्हालना है। औद्योगिक नीति म निम्नलिखित उद्देश्यों का वर्णन किया गया :

(१) आर्थिक विकास की दर म वृद्धि करना तथा औद्योगीकरण की गति को तीव्र करना,
(२) बड़े उद्योग तथा मशीन निर्माण उद्योग का विकास करना,
(३) सार्वजनिक क्षेत्र का विस्तार करना,
(४) वृहत् तथा बढ़ते हुए सहकारी क्षेत्र (Cooperative sector) को प्रोत्साहित करना,
(५) निजी एकाधिकार तथा कुछ ही हाथों में आर्थिक शक्ति को केन्द्रित होने से रोकना, और
(६) आय और सम्पत्ति की असमानता को कम करना।

इस औद्योगिक नीति की अन्य मुख्य बातें निम्नलिखित थी -

(१) **उद्योगों का विभाजन**—उद्योगों को तीन श्रेणियों में विभाजित किया गया। श्रेणियों का विभाजन इस दृष्टि से किया गया जिससे राज्य का सहयोग निश्चित हो सके।

(क) अनुसूची 'अ'—इसमें वे उद्योग सम्मिलित किये गये जिनके विकास का दायित्व एकमात्र सरकार पर होगा। यह श्रेणी सन १९४८ की औद्योगिक नीति की प्रथम तथा द्वितीय श्रेणियों को मिला कर बनायी गयी। इस श्रेणी में तीन प्रकार के उद्योग सम्मिलित हैं—सार्वजनिक हित सम्बन्धी उद्योग, आधारभूत उद्योग तथा परिवहन एवं खनिज पदार्थ सम्बन्धी उद्योग। इस सूची में १७ उद्योग सम्मिलित किये गये हैं।[1] इन उद्योगों के विकास की जिम्मेदारी सरकार की होगी परन्तु वर्तमान इकाइयों का विकास निजी क्षेत्र द्वारा किया जा सकता है। यदि राष्ट्रहित में आवश्यक समझा गया तो नयी इकाइयों की स्थापना में भी सरकार निजी क्षेत्र का सहयोग ले सकती है परन्तु रेलवे तथा वायु परिवहन, अस्त्र-शस्त्र तथा अणुशक्ति के विकास पर सरकार का एकाधिकार रहेगा। यदि निजी क्षेत्र का सहयोग लिया गया तो सरकार पूँजी में आधे से अधिक भाग (Majority Participation) लेगी या अन्य विधियाँ अपनायेगी जिससे उद्योग का नीति-निर्धारण तथा नियन्त्रण सरकार के हाथ में रहे।

(ख) अनुसूची 'ब'—इस अनुसूची में १२ उद्योग[2] सम्मिलित है जो धीरे-धीरे राज्य के अधीन होंगे तथा साधारणतया नयी इकाइयों की स्थापना सरकार द्वारा ही की जायेगी। निजी साहसी इन उद्योगों का विकास कर सकते हैं। इसके लिए वे उद्योगों की स्वतन्त्र रूप में स्थापना कर सकते हैं या राज्य के साथ सहयोग कर सकते हैं।

(ग) अन्य उद्योग—शेष सभी उद्योग तृतीय श्रेणी में रखे गये। इन उद्योगों का विकास पूर्णतया निजी क्षेत्र पर छोड दिया गया। सरकार किसी भी समय इस श्रेणी से सम्बन्धित उद्योगों की स्थापना कर सकती है। सरकार इस श्रेणी के उद्योगों को पंचवर्षीय योजनाओं के लक्ष्यों तथा प्राथमिकताओं के अनुसार विकास करने में आवश्यक सहायता देगी।

(२) **कुटीर एवं लघु उद्योग**—औद्योगिक नीति प्रस्ताव में पहले की भाँति ही कुटीर एवं लघु उद्योगों के महत्त्व को स्वीकार किया गया। इन उद्योगों द्वारा तुरन्त बडी मात्रा में रोजगार प्राप्त होता है, राष्ट्रीय आय का उचित वितरण होता है तथा ऐसे साधन उत्पादन में योग देने लगते हैं जो सम्भवतः इन उद्योगों की अनुपस्थिति में प्रयुक्त नहीं होते। इन उद्योगों की सहायता के लिए बडे पैमाने के उद्योगों से उत्पादन पर कर लगाकर उनके उत्पादन को सीमित रखा जायेगा या प्रत्यक्ष सहायता दी जायेगी। इस बात का ध्यान रखा जायेगा कि कुटीर तथा लघु उद्योग आत्मनिर्भर हों तथा उनका विकास बडे पैमाने के उद्योगों के एक अंग के रूप में हो। उनकी उत्पादन प्रणाली में सुधार किया जायेगा तथा उन्हें सस्ती दर पर बिजली प्रदान की जायेगी।

---

[1] अनुसूची 'अ' में निम्नलिखित उद्योग हैं—अस्त्र-शस्त्र, अणुशक्ति, लोहा व इस्पात, लोहे व इस्पात की भारी ढलाई व तैयारी, भारी मशीनें, भारी बिजली के यन्त्र, कोयला व लिगनाइट, खनिज तेल, कच्चा लोहा, मैंगनीज क्रोम, जिप्सम, गन्धक, सोना व हीरों का खनन, ताँबा, सीसा, जस्ता, राँगा आदि की खानें खोदना व कच्चा माल सुधारना, अणुशक्ति उत्पादन से सम्बन्धित खनिज, हवाई जहाज बनाना, हवाई यातायात, रेल यातायात, समुद्री जहाज बनाना, टेलीफोन एवं उसके तार, तार एवं बेतार का सामान (रेडियो रिसीविंग सेट छोडकर) और बिजली का उत्पादन एवं वितरण।

[2] अनुसूची 'ब' के उद्योग इस प्रकार हैं—छोटे खनिजों को छोडकर अन्य खनिज पदार्थ, एल्यूमीनियम एवं अलौह धातुएँ जो प्रथम सूची में नहीं हैं, मशीन-औजार, फेरोएलॉयज एवं टूल स्टील, रासायनिक उद्योगों की आधारभूत सामग्री दवाइयाँ, खाद, कृत्रिम रबर, कोयले का कार्बोनाइजेशन, रासायनिक घोल, सडक यातायात एवं समुद्री यातायात।

इस क्षेत्र मे औद्योगिक सहकारी समितियो को प्रोत्साहन दिया जायेगा तथा औद्योगिक बस्तियो के द्वारा इन उद्योगो की अवस्था मे सुधार किया जायेगा।

(३) क्षेत्रीय असमानता को दूर करना—देश के विभिन्न भागो मे विकास सम्बन्धी असमानता को दूर किया जायेगा जिससे औद्योगीकरण का लाभ देश की पूरी अर्थ-व्यवस्था को प्राप्त हो। राष्ट्रीय नियोजन का एक उद्देश्य पिछडे हुए क्षेत्रो मे शक्ति के साधन तथा यातायात के साधनो का विकास करना होगा। प्रस्ताव मे प्रत्येक क्षेत्र म औद्योगिक तथा कृषि अर्थ-व्यवस्थाओ के समन्वित विकास पर जोर दिया गया जिससे देश के प्रत्येक भाग की जनता का जीवन स्तर ऊँचा उठ सके।

(४) औद्योगिक शान्ति—प्रस्ताव के अनुसार उद्योग मे लगे हुए सभी पक्षो को उचित प्रोत्साहन (incentive) दिया जायेगा। श्रमिको की काम करने तथा रहने की दशाओ मे सुधार किया जायेगा जिससे उनकी कार्यक्षमता मे वृद्धि हो सके। औद्योगिक उन्नति के लिए औद्योगिक शान्ति आवश्यक है, श्रम समाजवादी प्रजातन्त्र का साझेदार है अत उसे विकास के कार्य मे उत्साह से भाग लेना चाहिए। श्रम सन्नियमो मे सुधार तथा श्रमिको एव विशेषज्ञो को प्रबन्ध व्यवस्था मे भाग लेने की नीति का पालन किया जायेगा।

(५) प्राविधिज्ञो तथा प्रबन्धको का प्रशिक्षण—नयी औद्योगिक नीति मे यह कहा गया है कि सार्वजनिक क्षेत्र मे तथा कुटीर उद्योगो के सचालन के लिए प्राविधिज्ञो तथा प्रबन्धको को उचित प्रशिक्षण दिया जायगा। विश्वविद्यालयो तथा अन्य सस्थाओ मे प्रशिक्षण की सुविधाओ मे वृद्धि की जायगी।

(६) विदेशी पूँजी—विदेशी पूँजी के सम्बन्ध मे इस नीति मे घोषणा नही की गयी अत प्रधानमन्त्री ने अप्रैल १९४९ मे इस सम्बन्ध मे जो घोषणा की थी उसे ही अपनाया गया। इसमे स्पष्ट किया गया था कि सरकार विदेशी पूँजी व स्वदेशी पूँजी मे कोई भेदभाव नही करेगी।

(७) निजी क्षेत्र का नियमन तथा सहायता—सरकार निजी क्षेत्र को आर्थिक सहायता प्रदान करेगी। यह सहायता विशेषकर ऐसी औद्योगिक योजनाओ मे दी जायगी जिनमे बडी मात्रा मे पूँजी की आवश्यकता पडती है। ऐसी सहायता का स्वरूप या तो अश पूँजी मे भाग लेना होगा अथवा वह ऋणपत्रो के रूप मे होगी। निजी क्षेत्र के उद्योगो को सरकार की आर्थिक तथा सामाजिक नीतियो के अनुसार कार्य करना पडेगा। उद्योग विकास एव नियमन अधिनियम तथा अन्य अधिनियमो के अनुसार निजी क्षेत्र के उद्योग नियन्त्रित होगे। जहाँ तक सम्भव होगा, उद्योगों को पूरी स्वतन्त्रता दी जायगी। यदि किसी उद्योग म सार्वजनिक तथा निजी दोनो पक्ष क्रियाशील हैं तो ऐसी अवस्था मे दोनो मे कोई भेदभाव नही किया जायगा।

इसके अतिरिक्त उद्योगो का तीन वर्गों मे जो विभाजन किया गया है वह उन्हे एक दूसरे स पूणतया अलग नही करेगा। इन क्षेत्रो मे पारस्परिक निर्भरता (sectoral interdependence) के सिद्धान्त का पालन किया जायगा।

(८) सार्वजनिक उद्योगों की प्रबन्ध-व्यवस्था—प्रस्ताव मे यह स्वीकार किया गया कि सार्वजनिक क्षेत्र के विस्तार के साथ ही साथ इस क्षेत्र के उद्योगो की प्रबन्ध व्यवस्था का महत्त्व बढ गया है। प्रबन्धको मे शीघ्र निर्णय तथा उत्तरदायित्व सम्भालने की भावना का होना आवश्यक है। अत अधिकारो का विकेन्द्रित रहना तथा सरकारी उद्योगो का व्यापारिक सिद्धान्तो के अनुसार चलाया जाना आवश्यक है। जहाँ तक सम्भव हो, सरकारी उद्योगो के सचालन तथा प्रबन्ध व्यवस्था मे स्वतन्त्रता होनी चाहिए।

औद्योगिक नीति प्रस्ताव के अन्त मे यह आशा व्यक्त की गयी थी कि इस नयी औद्योगिक नीति का सभी वर्गों द्वारा स्वागत होगा तथा इसमे राष्ट्र को तीव्र गति से औद्योगीकरण करने म मदद मिलेगी।

सन् १९४८ तथा १९५६ के प्रस्तावों की तुलना

औद्योगिक नीति विषयक इन दोनों प्रस्तावों में निम्नलिखित अन्तर दृष्टिगोचर होते हैं :

(१) **सार्वजनिक क्षेत्र का विस्तार**—सन् १९४८ के प्रस्ताव में उद्योगों को चार वर्गों में विभाजित किया गया था जबकि सन् १९५६ के प्रस्ताव में उन्हें तीन वर्गों में ही बाँटा गया। नयी औद्योगिक नीति के अनुसार सार्वजनिक क्षेत्र का काफी विस्तार कर दिया गया तथा सरकारी क्षेत्र में उद्योगों की संख्या बढ़ा दी गयी। १९४८ की नीति के अनुसार केवल तीन उद्योगों पर सरकार का एकाधिकार था और ६ उद्योग ऐसे थे जिनमें नयी इकाइयों की स्थापना सरकार ही कर सकती थी। इनके अतिरिक्त १८ उद्योगों का सरकार द्वारा नियमन तथा नियन्त्रण होना था। शेष उद्योग पूर्णतया निजी क्षेत्र के लिए छोड़ दिए गये थे। परन्तु सन् १९५६ की नीति के अनुसार किसी भी उद्योग की स्थापना सरकार द्वारा की जा सकती है तथा १७ आधारभूत उद्योगों का विकास केवल सार्वजनिक क्षेत्र में ही किया जा सकता है।

(२) **राष्ट्रीयकरण**—सन् १९४८ की नीति में यह कहा गया था कि द्वितीय श्रेणी के उद्योगों के राष्ट्रीयकरण के प्रश्न पर १० वर्ष पश्चात् पुनर्विचार होगा परन्तु सन् १९५६ की नीति में राष्ट्रीयकरण के सम्बन्ध में कोई व्यवस्था नहीं की गयी है बल्कि एक प्रकार का आश्वासन दिया गया कि प्रथम श्रेणी से सम्बन्धित निजी उद्योगों का राष्ट्रीयकरण नहीं किया जायगा। इस प्रकार दूसरी औद्योगिक नीति में निजी उद्योगों को राज्य द्वारा लिए जाने के सम्बन्ध में कुछ भी नहीं कहा गया।

(३) **निजी क्षेत्र**—एक प्रकार से निजी क्षेत्र का भी नयी नीति में विस्तार किया गया। तीनों श्रेणियों के अन्तर्गत चले आ रहे निजी उद्योग का विकास सार्वजनिक उद्योगों के साथ-साथ होता रहेगा, परन्तु वह राज्य के नियन्त्रण में रहेंगे जिससे कि जनहित की रक्षा हो सके।

(४) **सहकारी क्षेत्र**—सन् १९४८ की औद्योगिक नीति में सहकारी क्षेत्र पर जोर नहीं दिया गया था, जबकि १९५६ की नीति के अनुसार निजी क्षेत्र का विस्तार जहाँ तक सम्भव होगा, सहकारी रूप में करने की व्यवस्था की गयी है।

(५) **शिथिल विभाजन**—सन् १९४८ की नीति के अनुसार उद्योगों का वर्गीकरण कठोर ढंग से किया गया था परन्तु सन् १९५६ की नीति में उद्योगों का वर्गीकरण शिथिल है। योजना तथा देश की आवश्यकताओं के अनुसार किसी भी उद्योग की स्थापना किसी भी क्षेत्र में की जा सकती है।

सन् १९५६ की नीति की समालोचना

सन् १९५६ की औद्योगिक नीति के सम्बन्ध में विभिन्न मत पाये जाते हैं। इस नीति की विभिन्न क्षेत्रों में निम्नलिखित आलोचनाएँ की गयी हैं :

(१) ऊपरी तौर से देखने पर ऐसा प्रतीत होता है कि यह नीति निजी क्षेत्र के प्रति अधिक उदार है परन्तु वस्तुतः इस नीति द्वारा निजी क्षेत्र को संकुचित करने का प्रयत्न किया गया है। इस नीति में राष्ट्रीयकरण की धमकी परोक्ष रूप में विद्यमान है। औद्योगिक नीति का यह वाक्य, "inherent right of the state to acquire any industrial undertaking would always remain" इस तथ्य की ओर पर्याप्त संकेत करता है।

(२) औद्योगिक नीति के प्रस्ताव में लोच (flexibility) पर जोर दिया गया है परन्तु इसका प्रयोग 'सार्वजनिक क्षेत्र' के लिए किया जायगा क्योंकि सरकार किसी भी उद्योग को प्रारम्भ कर सकती है। इस प्रकार अनुसूची 'ब' के उद्योगों के क्षेत्र में निजी क्षेत्र का स्थान गौण रहेगा और तृतीय श्रेणी के उद्योगों में भी सरकार का दखल रहेगा।

(३) सहकारी क्षेत्र के विस्तार की जो बात प्रस्ताव में कही गयी है वह भी भ्रामक है। वस्तुतः सहकारी क्षेत्र सरकार के निर्देशन पर ही कार्य करेगा और निजी क्षेत्र के प्रतिनिधियों का स्थान सदैव गौण (Subsidiary) रहेगा। इस प्रकार भारत में सहकारिता के नाम पर राजकीय पूंजीवाद (State Capitalism) को बढ़ावा देने का प्रयत्न किया जा रहा है।

(४) औद्योगीकरण के प्रश्न पर सरकार ने सिद्धान्तों (ideology) का ही ध्यान रखा है, व्यावहारिकता पर ध्यान नहीं दिया है। निजी क्षेत्र के महत्त्व में जो कमी की गयी, वह अवांछनीय थी। प्रथम योजनाकाल में निजी क्षेत्र की सफलता को देखते हुए उसे प्रमुख स्थान प्रदान करना चाहिए था।

(५) विदेशी पूंजी के विषय में प्रस्ताव में कोई व्यवस्था नहीं की गयी है। यदि इसके सम्बन्ध में नीति स्पष्ट होती तथा राष्ट्रीयकरण का क्षेत्र निश्चित कर दिया गया होता तो विदेशी पूंजीपति निःशंक होकर भारत में अधिक पूंजी विनियोजन कर सकते थे।

(६) विश्व बैंक के अध्यक्ष श्री यूजिन ब्लैक ने कहा कि "यदि इस नीति का पालन दृढ़ता से किया गया तो सार्वजनिक क्षेत्र के वित्तीय एवं प्रशासनात्मक साधनों पर, जिन पर पहले से ही अधिक भार है और अतिरिक्त भार पड़ेगा तथा महत्त्वपूर्ण क्षेत्रों में विकास की गति सीमित हो जायेगी।"

सन् १९५६ की औद्योगिक नीति देश के लिए उत्तम है

उपर्युक्त आलोचनाएँ बहुत कुछ एकपक्षीय हैं। वास्तव में, वर्तमान औद्योगिक नीति देश में समाजवादी समाज की स्थापना करने की दिशा में एक महत्त्वपूर्ण कदम है, जिसका अनुमान निम्नलिखित तथ्यों से हो सकता है

(१) सरकारी तथा निजी क्षेत्रों का विकास—नयी औद्योगिक नीति में सरकार द्वारा बहुत बड़े बड़े तथा कुछ सार्वजनिक हित के उद्योग लेने की घोषणा की गयी है। सरकार द्वारा रेल के इंजन, दवाइयां, खाद रसायन, तेल आदि भारी पूंजी वाले उद्योगों के अतिरिक्त कुछ उपभोक्ता सामान उत्पन्न करने की इकाइयाँ (सीमेण्ट, चीनी आदि) भी स्थापित की गयी हैं। इससे निजी साहस को किसी प्रकार कम करने का उद्देश्य नहीं है बल्कि उसके लिए यह अवसर है कि वह सरकारी क्षेत्र के उद्योगों से अधिक कार्यक्षमता प्रदर्शित कर अपने योगदान का अधिकाधिक महत्त्व प्रमाणित करे।

योजनाकाल में भारत की सम्पूर्ण उत्पादक सम्पदा में लोक क्षेत्र का भाग १५ प्रतिशत से बढ़कर ३५% हो गया है। अनेक सफलताओं के होने पर भी सार्वजनिक क्षेत्र के विस्तार से देश में इंजीनियरिंग औजार, रसायन, खाद तथा इस्पात उद्योगों का विकास हुआ है।

(२) निजी उद्योगों पर नियन्त्रण—विकासशील देशों में प्रायः योजनाबद्ध विकास करना होता है और इस कार्य के लिए एक ओर तो प्राथमिकताएँ निश्चित करनी पड़ती हैं, दूसरी ओर सभी उद्योगों का विकास उचित दिशाओं में हो रहा है यह ध्यान रखना पड़ता है। इस दृष्टि से भारत में निजी क्षेत्र के उद्योगों पर नियन्त्रण की जो व्यवस्था की गयी है वह उचित ही नहीं, आवश्यक भी है। इस कार्य के औचित्य का प्रमाण इस तथ्य से मिलता है कि गत वर्षों में भारत सरकार तथा राज्य सरकारों द्वारा कई अकुशल एवं बन्द फैक्टरियों और मिलों का प्रबन्ध सम्हालकर उन्हें चालू किया गया है। नये उद्योगों के लिए लाइसेंस तथा पूंजी विनियोग के लिए पूर्व अनुमति का उद्देश्य यही है कि देश में पहले वही उद्योग विकसित हों जिनकी अत्यधिक आवश्यकता है तथा विभिन्न क्षेत्रों में उद्योगों के विकास में पर्याप्त सन्तुलन बना रहे। इन सभी दृष्टिकोणों से नयी औद्योगिक नीति के अन्तर्गत सरकार द्वारा सब क्षेत्रों में औद्योगिक विकास करना तथा नये-पुराने सभी उद्योगों के विकास का नियमन एवं नियन्त्रण करना सर्वथा न्यायसंगत है।

(३) एकाधिकार का नियन्त्रण—प्रो० जे० पी० ल्युइस ने अपनी पुस्तक *Quiet Crisis in India* में यह मत प्रकट किया है कि भारत में औद्योगिक एकाधिकार की प्रवृत्तियाँ बहुत प्रबल हैं। इस मत की पुष्टि राष्ट्रीय आय सकेन्द्रण समिति ने भी की है। इस दृष्टि से भारतीय औद्योगिक नीति ऐसी होनी चाहिए कि औद्योगिक साम्राज्य (Industrial Empire) का अन्त हो सके। १९५६ का औद्योगिक नीति प्रस्ताव इस दिशा में महत्त्वपूर्ण कदम है। वास्तव में, आवश्यकता इस बात की है कि सरकार इस प्रस्ताव की भावना को यथावत् कार्यान्वित करने की दिशा में उचित कदम उठाये। सरकार द्वारा सभी क्षेत्रों में औद्योगिक विकास के लिए नये-नये उद्योगपतियों को लाइसेंस देने से औद्योगिक एकाधिकार का अन्त करने में सहायता मिल सकेगी। चीनी, सीमेण्ट तथा दियासलाई उद्योगों में इस एकाधिकार के अन्त के लक्षण प्रकट होने लगे हैं। यह अत्यन्त सन्तोषजनक स्थिति है।

आधुनिक प्रवृत्तियाँ
(RECENT TRENDS)

गत वर्षों में निरन्तर यह अनुभव किया गया है कि भारत में उद्योगों को लाइसेंस देने की प्रणाली दोषपूर्ण है और लाइसेंस व्यवस्था के कारण पक्षपात और भ्रष्टाचार को प्रोत्साहन मिलता है। डॉ० आर० के० हजारी की रिपोर्ट से बिड़ला सस्थानों को अत्यधिक उदारतापूर्वक लाइसेंस देने के तथ्य प्रकाश में आये हैं। दूसरी महत्त्वपूर्ण बात यह है कि देश में औद्योगिक विकास की गति तीव्र करने के लिए औद्योगिक नीति में कुछ उदारता लाने की आवश्यकता है। इन बातों को ध्यान में रख कर ही गत वर्षों में औद्योगिक नीति में निम्नलिखित परिवर्तन किये गये हैं

(१) लाइसेंस की छूट—औद्योगिक विकास और नियमन अधिनियम के अन्तर्गत ४२ उद्योगों को बिना लाइसेंस लिए नयी इकाइयाँ स्थापित करने तथा पुरानी इकाइयों का विस्तार करने की छूट दी गयी है। इन उद्योगों में सीमण्ट, लुग्दी, कागज, अखबारी कागज आदि बनाने सम्बन्धी उद्योगों के अतिरिक्त कृषि से सम्बन्धित बहुत से आवश्यक उद्योग जैसे बिजली से चलने वाले पम्प, पानी छिड़कने के यन्त्र, मिश्रित रासायनिक खाद और मशीनी इंजन बनाने के उद्योग तथा बाइसिकिल और सिलाई की मशीन बनाने के उद्योग सम्मिलित हैं। इन उद्योगों को लाइसेंस से छूट देने का एक उद्देश्य देश के निर्यात में वृद्धि करना है।

(२) निर्यात उद्योगों को प्रोत्साहन—इन्जीनियरिंग उद्योगों में उत्पादन को प्रोत्साहन देने की दृष्टि से १९६५ में ही कुछ छूट दी गयी थी जिसे अक्टूबर १९६६ से अन्य कुछ उद्योगों के लिए भी दे दिया गया है। इस छूट के अन्तर्गत उन उद्योगों को जिनके लिए विदेशी मुद्रा की आवश्यकता नहीं है, जिनके लिए नयी मशीनें लगाना आवश्यक नहीं है और जिनसे प्राप्त नवीन उत्पादन कुल उत्पत्ति के २५ प्रतिशत से अधिक नहीं है, उसके लिए लाइसेंस लेना आवश्यक नहीं है।

जिन उद्योगों द्वारा विदेशी निर्यात के लिए माल निर्माण किया जाता है वह नवीन प्रणालियों का प्रयोग करने के लिए इस सुविधा का लाभ उठा सकते हैं।

(३) उत्पादन वृद्धि—अक्टूबर १९६६ में यह घोषणा की गयी थी कि औद्योगिक कम्पनियाँ लाइसेंस लिये बिना कुछ शर्तों पर लाइसेंस में निर्धारित क्षमता से २५ प्रतिशत तक अधिक उत्पादन कर सकती हैं। इस सुविधा का उद्देश्य वर्तमान औद्योगिक क्षमता का अधिकाधिक प्रयोग सम्भव बनाना है।

(४) कल-पुर्जों का आयात—जून १९६६ में भारतीय मुद्रा का अवमूल्यन करने के पश्चात् भारत सरकार ने ५९ उद्योगों की एक सूची प्रकाशित की जिन्हें आवश्यकता पड़ने पर मशीनों के हिस्से, कच्चा माल तथा फालतू पुर्जों के आयात लाइसेंस देने में प्राथमिकता दी जा रही है। इस सुविधा से जिन औद्योगिक इकाइयों को मशीनों के पुर्जे नहीं होने से उत्पादन कम या बन्द कर देना पड़ा था उन्हें उत्पादन वृद्धि में सहायता मिलने लगी है। इससे दूसरा लाभ यह हुआ है कि

इन उद्योगो को अपने पास विदेशी कल-पुर्जों का बहुत स्टॉक नही रखना पडेगा अत. उनकी पूंजी व्यर्थ पडी नही रह सकेगी।

(५) औपचारिक नियन्त्रण मे ढील—भारत सरकार ने उद्योगो को उत्पादन वृद्धि मे प्रोत्साहन देने के लिए समय-समय पर मूल्य नियन्त्रण तथा वितरण मे ढील दी है। गत वर्षों म सीमेण्ट, वस्त्र तथा शक्कर उद्योगो को इस प्रकार की सुविधाएँ दी गयी हैं।

(६) नयी लाइसेंस नीति—फरवरी १९७० मे सरकार द्वारा नयी लाइसेंस नीति अपनायी गयी तथा जून १९७० मे एकाधिकार एव प्रतिबन्धित व्यापार पद्धति अधिनियम लागू हो गया। इन दोनो का उद्देश्य देश मे आर्थिक सत्ता के सकेन्द्रण को रोकना है।

नयी लाइसेंस नीति के मुख्य तत्त्व निम्नलिखित हैं

(१) एक करोड रुपये तक के विनियोगो के लिये नये उद्योग स्थापित करने और पुराने उद्योगो का विस्तार करने के लिए लाइसेंस लेने की आवश्यकता नही है।

(२) एक करोड रुपये से ५ करोड रुपये तक के विनियोग करने के लिए नये साहसियो को उदारतापूर्वक लाइसेंस दिये जायेंगे।

(३) देश के लिए विशेष महत्त्व के उद्योगो को प्राथमिकता के आधार पर लाइसेंस दिये जायेंगे तथा इनमे ५ करोड रुपये से अधिक रकम विनियोग होने पर पुराने उद्योगपतियो को भी लाइसेंस दिये जा सकते हैं।

(४) सयुक्त क्षेत्र—सरकार ने एक सयुक्त क्षेत्र की स्थापना का निश्चय किया है जिसमे सरकार तथा निजी पूंजीपति साझे उद्योगो की स्थापना कर सकेंगे। भारी उद्योगो—जिनमे अधिक पूंजी की आवश्यकता होती है—मे इस प्रकार की साझेदारी को प्रोत्साहन दिया जायगा।

इस नीति का मुख्य उद्देश्य नये साहस को प्रोत्साहित करना है किन्तु इसका यह अर्थ कदापि नही है कि पुराने अनुभवी उद्योगपतियो को लाइसेंस दिये ही नही जायेंगे। वास्तविक स्थिति यह है कि देश के आर्थिक हितो का भी लाइसेंस देते समय या लाइसेंस की मनाही करते समय ध्यान रखा जायगा।

प्रश्न

१ "भारत म स्वतन्त्रता प्राप्ति क बाद सरकारी नीति और राष्ट्रीय प्रयास का मुख्य उद्देश्य वेगशील तथा सन्तुलित आर्थिक उन्नति का रहा है।" भारत की पचवर्षीय योजनाओं के प्रकाश मे इस कथन की विवेचना कीजिए। (सागर, बी० ए०, १९६०)

२ सन् १९४८ स भारत सरकार की औद्योगिक नीति की विवेचना कीजिए। क्या इससे विदेशी पूंजी के विनियोग मे कमी आती है ? (आगरा, बी० ए०, १९६१)

३ स्वतन्त्रता प्राप्त करन के बाद भारत सरकार ने उद्योगो के विकास के लिए क्या नीति अपनायी है तथा उसका उद्योगो के विकास पर क्या प्रभाव पडा है ? (आगरा, बी० कॉम०, १९६१ (पूरक), १९६२)

४ भारत सरकार की औद्योगिक नीति के मुख्य लक्षण बताइए तथा वर्तमान भारतीय अर्थ-व्यवस्था मे सार्वजनिक क्षेत्र के महत्त्व का उल्लेख कीजिए। (आगरा, बी० ए०, १९६२ [पूरक])

५ भारत की १९५६ में घोषित औद्योगिक नीति की विवेचना कीजिए। क्या आप इस नीति मे कुछ परिवर्तन के पक्षपाती हैं ? (पटना, बी० ए०, १९६२)

६ स्वतन्त्रता प्राप्ति के समय से भारत की औद्योगिक नीति क्या रही है ? विवेचनापूर्वक लिखिए। (पटना, बी० ए०, १९५७)

७ युद्धोत्तरकाल मे भारत की औद्योगिक नीति के विकास पर प्रकाश डालिए। (नागपुर, बी० कॉम० १९६४)

८ भारत सरकार की औद्योगिक नीति की समीक्षा कीजिए। भारतीय अर्थ-व्यवस्था मे मन्दी के सदर्भ मे, औद्योगिक नीति मे सुधार के लिए अपने सुझाव दीजिए। (राजस्थान, बी० कॉम० (अन्तिम वर्ष), १९६८)

९ भारतीय औद्योगिक नीति की आधुनिक प्रवृत्तियो का विवेचन कीजिए।

26 भारत की राजकोषीय नीति तथा उद्योगों को संरक्षण

(INDIA'S FISCAL POLICY & PROTECTION TO INDUSTRIES)

किसी भी राष्ट्र के विकास के लिए उचित औद्योगिक नीति का अपनाया जाना आवश्यक है। औद्योगीकरण को गति प्रदान करने के लिए उचित राजकोषीय नीति की आवश्यकता पड़ती है। अतः इस अध्याय में भारत की राजकोषीय नीति का संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत किया जा रहा है।

भारत की आर्थिक नीतियाँ ब्रिटेन की आर्थिक नीतियों से प्रभावित रही हैं। उन्नीसवीं शताब्दी में ब्रिटेन ने मुक्त व्यापार नीति का अनुसरण किया। अतः भारत में राजकोषीय नीति की आवश्यकता नहीं पड़ी। उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम दशक में कुछ मात्रा में आयात व निर्यात-कर लगाया गया था परन्तु लंकाशायर के मिल मालिकों के विरोध के कारण इसे हटाना पड़ा। उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त में केवल चावल पर नाममात्र का निर्यात-कर था। सन् १८६४ में सूती माल पर ५% तथा लोहा व इस्पात के आयात पर १% कर लगाया गया। परन्तु इससे भारतीय उद्योगों को कोई लाभ नहीं हुआ क्योंकि उद्योगों पर उत्पादन कर लगा हुआ था। सन् १६०७ में लार्ड कर्जन के समय वाणिज्य एवं उद्योग विभाग की स्थापना की गयी और प्रशुल्क नीति संचालन का कार्य इस विभाग को सौंपा गया।

प्रथम महायुद्ध तक ब्रिटिश सरकार की नीति में कोई विशेष परिवर्तन नहीं हुआ परन्तु युद्धकाल तथा युद्धोत्तरकाल में कुछ ऐसी परिस्थितियाँ उत्पन्न हुईं जिनके कारण मुक्त व्यापार की नीति में परिवर्तन करना आवश्यक हो गया तथा सरकार को किसी न किसी रूप में संरक्षण की नीति अपनाने के लिए बाध्य होना पड़ा।

संरक्षण नीति अपनाने के कारण

(१) प्रथम महायुद्ध काल में ब्रिटेन ने मक्केना ड्यूटी (Mckenna Duties) लगायी। इस प्रकार मुक्त व्यापार की नीति को आंशिक रूप से छोड़ दिया गया। युद्ध के समय में भारत सरकार ने भी आर्थिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए आयात-कर में वृद्धि की परन्तु उत्पादन कर में वृद्धि नहीं की। इससे भारतीय उद्योगों को कुछ अंशों में प्रोत्साहन मिला।

(२) युद्ध के समय ब्रिटिश सरकार ने यह अनुभव किया कि औद्योगिक दृष्टि से उन्नतिशील भारत ब्रिटिश साम्राज्य के लिए सहायक सिद्ध होगा। अतः सरकार ने औद्योगीकरण में सहायता देने की नीति अपनायी।

(३) सन् १६१६ के औद्योगिक आयोग ने यह सुझाव दिया था कि भारत सरकार को उद्योगों के विकास में सक्रिय भाग लेना चाहिए तथा भारत के राष्ट्रीय हितों को ध्यान में रखते हुए उसे अपनी कर नीति निर्धारित करने का अधिकार होना चाहिए।

(४) भारत मे प्रथम महायुद्ध के पश्चात स्वदेशी आन्दोलन ने जोर पकड़ा, मुक्त व्यापार नीति की कटु आलोचना की गयी और भारतीयो ने भी उन देशो का अनुकरण करना चाहा जिनकी औद्योगिक प्रगति सरक्षण नीति के कारण हुई थी।

उपर्युक्त कारणो से भारत मे कर पद्धति की स्वतन्त्रता के सम्बन्ध मे ससद मे विचार किया जाने लगा। सन् १९१७ में इगलैण्ड की ससद ने यह स्वीकार किया कि भारत को राजनीतिक स्वतन्त्रता के साथ ही साथ कर नीति की स्वतन्त्रता भी मिलनी चाहिए। सन् १९१९ के Fiscal Autonomy Convention मे यह निर्णय हुआ कि भारत के आर्थिक मामलो मे भारत सचिव हस्तक्षेप नही करेगा। इस प्रकार प्रथम बार भारत ने आर्थिक स्वतन्त्रता की ओर कदम बढाया। वस्तुत यह घटना भारतीय प्रशुल्क नीति की आधारशिला थी।

फरवरी १९२१ मे भारतीय विधायिका सभा ने प्रशुल्क नीति के सम्बन्ध मे एक प्रस्ताव पास किया तथा प्रशुल्क नीति पर विचार करने के लिए एक प्रशुल्क आयोग (Fiscal Commission) नियुक्त किया।

प्रशुल्क आयोग, १९२१—इस प्रशुल्क आयोग के अध्यक्ष सर इब्राहीम रहमतुल्ला थे। इस आयोग को निम्नलिखित बातो के सम्बन्ध मे सुझाव देने का अधिकार दिया गया :

(१) सभी हितो को ध्यान मे रखते हुए तट-कर नीति (Tariff Policy) के सम्बन्ध मे सुझाव देना।

(२) साम्राज्य अधिमान (Imperial Preference) के औचित्य पर विचार करना तथा इस सम्बन्ध मे अपने सुझाव देना।

आयोग ने अपनी रिपोर्ट सन् १९२२ मे प्रस्तुत की। आयोग ने यह मत व्यक्त किया कि *भारत मे औद्योगिक विकास बहुत कम हुआ है, अत औद्योगिक विकास के लिए उद्योगो को सरक्षण* देना आवश्यक है। आयोग ने विवेचनात्मक सरक्षण (Discriminating Protection) की नीति अपनाने का सुझाव दिया। इस नीति का अभिप्राय यह था कि सरक्षण देने के उद्देश्य से उद्योगो के चुनाव मे सतर्कता रखी जाय अर्थात् सरक्षण सभी उद्योगो को न दिया जाय बल्कि केवल उन उद्योगो को दिया जाय जो कुछ शर्तों की पूर्ति करते हो। आयोग ने सरक्षण प्रदान करने के लिए तीन शर्तें निश्चित की जिसे त्रिमुखी सूत्र (Triple Formula) कहते है। इसकी शर्तें निम्नलिखित थी

(अ) नैसर्गिक लाभ—उद्योग ऐसा हो जिसे प्राकृतिक सुविधाएँ प्राप्त हो जैसे—कच्चे माल का प्रचुर मात्रा मे पाया जाना, शक्ति का सस्ता साधन, श्रम की पर्याप्त मात्रा मे उपलब्धि तथा विस्तृत घरेलू बाजार। इन सुविधाओं का सापेक्षिक महत्त्व उचित जाँच द्वारा निर्धारित किया जाय तथा ऐसे उद्योगो को सरक्षण न दिया जाय जो स्थायी रूप से समाज के लिए भार बन जायें।

(ब) सरक्षण की अनिवार्यता—उद्योग ऐसा हो जो बिना सरक्षण के या तो बिलकुल उन्नति न कर पा रहा हो अथवा उसके विकास की गति बहुत मन्द हो परन्तु उस उद्योग का विकास राष्ट्रीय हित मे आवश्यक हो।

(स) अस्थायी सरक्षण—उद्योग ऐसा हो जो दीर्घकाल मे बिना सरक्षण के भी अन्तरराष्ट्रीय स्पर्द्धा का सामना कर सके। इसका अर्थ यह था कि सरक्षण हमेशा के लिए न देकर अस्थायी रूप से दिया जाय।

इस त्रिमुखी सिद्धान्त के अतिरिक्त तट-कर आयोग ने कुछ अन्य बातो पर भी जोर दिया जो निम्नलिखित हैं

(१) सरक्षण देते समय उन उद्योगो को प्राथमिकता मिलनी चाहिए जिनका उत्पादन व्यय कम हो सकता हो अथवा जो बड़े पैमाने पर उत्पादन कर देश की सम्पूर्ण माँग की पूर्ति निश्चित समय मे कर सकते हो।

(२) आधारभूत उद्योगों तथा सुरक्षा सम्बन्धी उद्योगों को अवश्य संरक्षण मिलना चाहिए।

(३) जिन उद्योगों को विदेशी माल की राशिपातन (dumping) का सामना करना पड़ता हो उन्हें भी संरक्षण मिलना चाहिए।

(४) कच्चा माल तथा मशीनों का आयात-कर मुक्त होना चाहिए। ऐसे अर्द्ध निर्मित माल पर कम दर से कर लगाना चाहिए।

(५) एक प्रशुल्क मण्डल (Tariff Board) का संगठन होना चाहिए जो संरक्षण के लिए प्रार्थी उद्योगों की आवश्यक जाँच कर संरक्षण के सम्बन्ध में सरकार को आवश्यक सलाह दे सके।

(६) साम्राज्य अधिमान (Imperial Preference) के सम्बन्ध में आयोग ने शर्तरहित साम्राज्य अधिमान की सिफारिश की जिसके अनुसार ब्रिटेन को भारत द्वारा तट-कर में छूट देने में बिना छूट की आशा के दी जाय। साम्राज्य के अन्य देशों को ये सुविधाएँ परस्पर आधार (reciprocal basis) पर दी जायें।

विवेचनात्मक संरक्षण नीति की सफलताएँ—आयोग के सुझावों के अनुसार फरवरी १९२३ में तटकर बोर्ड की स्थापना के विषय में धारासभा ने प्रस्ताव पास किया जिसके परिणामस्वरूप जुलाई १९२३ में प्रथम तट कर बोर्ड की स्थापना हुई। इसकी स्थापना अस्थायी रूप से केवल एक वर्ष के लिए की गयी थी किन्तु बोर्ड का जीवनकाल एक एक वर्ष बढ़ा दिया गया। यद्यपि विवेचनात्मक संरक्षण की नीति बहुत लाभदायक नहीं थी फिर भी विदेशी सरकार द्वारा इस नीति को अपनाया जाना एक महत्त्वपूर्ण घटना थी। इस नीति की सफलताओं का विवरण नीचे प्रस्तुत किया जा रहा है

(१) **औद्योगिक विकास**—इस बोर्ड ने भारतीय उद्योगों का संरक्षण प्रदान करने की समस्या पर विचार किया तथा कुछ महत्त्वपूर्ण उद्योगों को संरक्षण प्रदान करने का सुझाव दिया गया। लोहा तथा इस्पात उद्योग को सन् १९२४ में संरक्षण प्रदान किया गया। इसी प्रकार कागज उद्योग, सूती वस्त्र उद्योग, चीनी उद्योग तथा कृत्रिम रेशम उद्योग को क्रमशः १९२५, १९२६, १९३२ और १९३४ में संरक्षण दिया गया। ये उद्योग भारत के प्रमुख उद्योगों में से थे। इनके अतिरिक्त दियासलाई उद्योग, भारी रासायनिक उद्योग तथा सुनहरे तारों के उद्योग को भी संरक्षण प्राप्त हुआ।

बोर्ड ने कोयला, सीमेण्ट, काँच तथा ऊन उद्योग के प्रार्थना पत्रों पर विचार किया किन्तु इन उद्योगों को संरक्षण नहीं दिया गया। संरक्षण की इस सीमित नीति में भी भारतीय उद्योगों को पर्याप्त प्रोत्साहन मिला और इनके उत्पादन में वृद्धि हुई, जैसे—कागज तथा दियासलाई के उत्पादन में क्रमशः १८% व ३८% की वृद्धि हुई। सन् १९३८ तक लौह उद्योग के उत्पादन में आठ गुनी वृद्धि हुई। इसी प्रकार सूती वस्तुओं के उत्पादन में ढाई गुनी वृद्धि तथा चीनी के उत्पादन में पाँच गुनी वृद्धि हुई।

उद्योगों की अवस्था में सुधार के साथ संरक्षण हटा लिया गया। जैसे, लोहा-इस्पात उद्योग पर सन् १९४७ में संरक्षण हटा लिया गया। इसी प्रकार सूती वस्त्र उद्योग, चीनी उद्योग तथा कृत्रिम रेशम उद्योग पर से भी क्रमशः १९४७, १९५०, १९४७ तथा १९५८ में संरक्षण उठा लिया गया।

(२) **मन्दी का कम प्रभाव**—इस प्रकार विवेचनात्मक संरक्षण की नीति के फलस्वरूप भारतीय उद्योगों का विकास सन् १९२९ की विश्वव्यापी आर्थिक मन्दी के होते हुए भी हुआ। मन्दीकाल में भी उत्पादन में वृद्धि होना विवेचनात्मक संरक्षण नीति की सफलता का पर्याप्त प्रमाण है।

(३) **नये उद्योगों की स्थापना**—विवेचनात्मक संरक्षण की नीति के कारण भारत में कुछ नये उद्योगों की भी स्थापना हुई। इन नये उद्योगों में तार व कील उद्योग प्रमुख हैं। प्रमुख

उद्योगों की प्रगति के कारण कुछ सहायक उद्योगों का भी विकास हुआ। जैसे लोहा उद्योग के विकास के कारण कृषि औजार, इन्जीनियरिंग तथा टिन-प्लेट उद्योगों का विकास हुआ।

(४) कच्चे माल का उत्पादन—सूती कपड़े तथा चीनी उद्योग का संरक्षण प्राप्त होने के कारण गन्ना तथा कपास के उत्पादन में वृद्धि हुई। इन दोनों वस्तुओं की किस्म (quality) में भी सुधार हुआ।

इस प्रकार विवेचनात्मक संरक्षण की नीति के कारण भारतीय उद्योगों की पर्याप्त प्रगति हुई। यह नीति १९३२ से १९३९ तक साधारण परिवर्तनों के साथ चलती रही। कुछ अर्थशास्त्रियों ने विवेचनात्मक संरक्षण की नीति की कटु आलोचना की है।

विवेचनात्मक संरक्षण नीति की आलोचना—इस नीति की मुख्य आलोचनाएँ निम्नलिखित हैं :

(१) त्रिसूत्रीय फार्मूला—संरक्षण देने की शर्तें बहुत ही कड़ी थीं। प्रथम दो शर्तों में विरोधाभास था। यदि किसी उद्योग को प्रथम शर्त के अनुसार सब प्राकृतिक सुविधाएँ प्राप्त हों तो ऐसे उद्योग को संरक्षण की आवश्यकता ही नहीं पड़ेगी। दूसरी शर्त यह थी कि उद्योग ऐसा हो, जो बिना संरक्षण के नहीं पनप सकता हो। यह शर्त उसी उद्योग पर लागू हो सकती है जिसे प्राकृतिक सुविधाएँ प्राप्त न हों। वस्तुतः ऐसा उद्योग मिलना कठिन है जो एक साथ इन दोनों शर्तों की पूर्ति करता हो। तीसरी शर्त के अनुसार यह घोषणा करनी पड़ती थी कि वह भविष्य में अपने पैरों पर खड़ा हो सकेगा। इस प्रकार की भविष्यवाणी करना सर्वथा कठिन था।

आर्थिक दृष्टि से पिछड़े हुए किसी भी देश में यह सर्वथा सम्भव है कि उद्योग प्राकृतिक सुविधाएँ होते हुए भी अन्य कठिनाइयों के कारण अपने आप विकसित न हो सकता हो। अतः संरक्षण मिलने पर ही प्राकृतिक सुविधाओं का लाभ उठाया जा सकता है तीसरी शर्त इस दृष्टि से उपयुक्त थी कि स्थायी संरक्षण उद्योग को अकुशल बना देता है तथा संरक्षण का भार समाज को उठाना पड़ता है। अस्थायी संरक्षण उद्योग के संचालन में सावधानी लाता है तथा उद्योग पैरों पर खड़ा होने का प्रयत्न करता है।

(२) नये उद्योग—विवेचनात्मक संरक्षण की नीति चालू उद्योगों पर ही लागू की गयी। ऐसे उद्योग जो स्थापित होने वाले थे उन्हें किसी प्रकार का प्रोत्साहन नहीं मिला। वस्तुतः भारत जैसे पिछड़े हुए देश में नये उद्योगों की स्थापना को प्रोत्साहन मिलना चाहिए था।

(३) शर्तों का अक्षरशः पालन—संरक्षण की शर्तों के पालन में अनुदारता बरती गयी। उनका अक्षरशः पालन करने के कारण कुछ उद्योगों को संरक्षण नहीं प्राप्त हो सका। जैसे, कच्चे माल की कमी बताकर काँच उद्योग को संरक्षण नहीं दिया गया। इसी प्रकार माँग पर विचार करते समय प्रत्येक उद्योग के घरेलू बाजार पर ही ध्यान दिया गया, निर्यात की सम्भावनाओं पर विचार नहीं किया गया।

(४) दोषपूर्ण दृष्टिकोण—संरक्षण देने में आयोग का दृष्टिकोण अत्यन्त संकुचित रहा। केवल आयात कर लगाने पर ही बल दिया गया। संरक्षण के अन्य रूप जैसे आर्थिक सहायता आदि पर कम ध्यान दिया गया। इसके अतिरिक्त संरक्षण की नीति का उद्देश्य देश का औद्योगिक विकास करना नहीं प्रत्युत विदेशी प्रतिस्पर्द्धा से रक्षा करना रहा है। संरक्षण प्राप्त उद्योगों की जाँच की उचित व्यवस्था भी नहीं की गयी जिससे कई महत्त्वपूर्ण उद्योगों को संरक्षण के लाभ से वंचित रह जाना पड़ा।

(५) ब्रिटिश हितों को लाभ—साम्राज्य अधिमान के अन्तर्गत ब्रिटिश हितों को अधिक लाभ हुआ तथा भारत को हानि हुई क्योंकि भारत को बदले में कम रिआयतें प्राप्त हुईं। इस प्रकार ब्रिटिश हितों की रक्षा के कारण भारत को संरक्षण से अधिक लाभ प्राप्त नहीं हो सका।

(६) प्रशुल्क बोर्ड—भारतीय उद्योगों को संरक्षण देने के लिए एक प्रशुल्क बोर्ड बनाया

गया किन्तु उसका रूप अस्थायी रखा गया। बोर्ड के अधिकार भी सीमित ही रखे गये। सरक्षण के लिए प्रार्थना-पत्र उद्योग विभाग को दिये जाते थे, उद्योग विभाग प्रशुल्क बोर्ड की राय लिए बिना ही उसे अस्वीकृत कर सकता था। आवश्यकता होने पर सरक्षण सम्बन्धी विचार करने तथा विस्तृत जाँच के लिए एक अस्थायी प्रशुल्क मण्डल नियुक्त किया जाता था। प्रशुल्क मण्डल की राय मानना भी सरकार के लिए आवश्यक नही था।

इन कमियो के होते हुए भी विवेचनात्मक सरक्षण द्वारा देश के औद्योगिक विकास मे कुछ सहायता अवश्य मिली। यह नीति द्वितीय महायुद्ध तक चलती रही। युद्ध-काल मे आयात नियन्त्रण के कारण सरक्षण की आवश्यकता नही रही किन्तु जिन उद्योगो को सरक्षण दिया गया था वह जारी रखा गया।

अन्तरिम तट-कर बोर्ड, १९४५ (Interim Tariff Board, 1945)—सन् १९४० मे सरकार ने पुन घोषणा की कि जो उद्योग दृढ व्यापारिक नीति का पालन करेंगे उन्हे सरक्षण प्रदान किया जायेगा। युद्धोत्तरकाल मे औद्योगिक विकास पर अधिक जोर दिया गया और २१ अप्रैल १९४५ को सरकार ने सरक्षण नीति की पुन घोषणा की तथा ३ नवम्बर, १९४५ को दो वर्ष के लिए अन्तरिम तट-कर बोर्ड (Interim Tariff Board) की नियुक्ति की गयी। इसे तदर्थ तट-कर बोर्ड भी कहते हैं। इस बोर्ड ने सरक्षण सम्बन्धी नीति पर पुन विचार किया तथा इसके सम्बन्ध म निम्न सुझाव प्रस्तुत किये :

(१) सरक्षण ऐसे उद्योगो को ही दिया जाय जो पहले से स्थापित हो चुके हो तथा जो दृढ व्यापारिक आधार पर सचालित है।

(२) उद्योग ऐसा हो जो साधन, आर्थिक लाभ व लागत की दृष्टि स उचित समय मे उन्नति कर सके तथा जिस उचित समय के पश्चात् राजकीय सरक्षण की आवश्यकता नही होगी।

(३) सरक्षण प्रदान करना राष्ट्रीय हित मे आवश्यक हो तथा वह सरक्षण समाज के लिए अहितकर न हो।

इन शर्तों की पूर्ति होने पर ही बोर्ड सरक्षण की प्रकृति, मात्रा तथा अवधि का निर्धारण करेगा। इस बोर्ड के दो वर्ष के कार्यकाल मे ४६ उद्योगो ने सरक्षण की माँग की, जिनमे से ४२ को सरक्षण दिया गया। इनमे से ४ उद्योग—सूती वस्त्र उद्योग, इस्पात, कागज तथा चीनी—पुराने उद्योग थे तथा शेष ३८ महायुद्ध के समय के नये उद्योग थे। अन्तरिम तट-कर बोर्ड सुविधाओ के अभाव मे उचित रूप से कार्य नहीं कर सका।

टैरिफ बोर्ड का पुनर्संगठन—देश के विभाजन के पश्चात् नवम्बर १९४७ मे उपर्युक्त टैरिफ *बोर्ड का पुनर्संगठन किया गया। इसका कार्यकाल ३ वर्ष का रखा गया। अन्तरिम तट कर बोर्ड के* अधिकारो के अतिरिक्त इसे दो अधिकार और दिये गये—(अ) सरकार को आवश्यकता पडने पर यह बताना कि आयात की गयी वस्तुओं की अपेक्षा सरक्षण प्राप्त वस्तुओं की लागत क्यों तथा किस समय से बढ रही है ? (ब) आवश्यकता पडने पर लागत-व्यय को कम करने के लिए आवश्यक सुझाव देना। इस प्रकार बोर्ड को उद्योगो की प्रगति तथा उत्पादन स्थिति पर निगरानी रखने का अधिकार दिया गया। इस बोर्ड न बहुत से उद्योगो की जाँच की तथा कुछ उद्योगो को सरक्षण प्रदान किया। इस अवधि मे जिन उद्योगो को सरक्षण दिया गया उनमे एल्यूमिनियम, एण्टीमनी, कास्टिक सोडा, ब्लीचिंग पाउडर, सोडा ऐश, साइकिल, सिलाई की मशीन, क्लोराइड आदि प्रमुख हैं। बोर्ड ने सूती कपडा व सूत, इस्पात, कागज तथा चीनी उद्योग पर से सरक्षण हटाने का सुझाव दिया जिसके फलस्वरूप इन उद्योगो पर से सरक्षण हटा लिया गया।

नयी प्रशुल्क नीति

प्रशुल्क आयोग, १९४९—स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् भारत की आर्थिक नीतियो मे परि-

वर्तन किया गया क्योंकि भारत में लोक कल्याणकारी राज्य (Welfare state) की स्थापना का लक्ष्य रखा गया। लोक कल्याणकारी राज्य की स्थापना के लिए नियोजित आर्थिक विकास (Planned Economic Development) की नीति अपनायी गयी। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए अप्रैल १९४८ में नयी औद्योगिक नीति की घोषणा की गयी जिसके द्वारा 'राज्य द्वारा उद्योगों पर नियन्त्रण' सिद्धान्त अपनाया गया। औद्योगिक नीति के प्रस्ताव में प्रशुल्क नीति के विषय में यह घोषणा की गयी कि सरकार अनुचित विदेशी प्रतिस्पर्द्धा को रोकेगी तथा उपभोक्ताओं पर अनुचित भार टाले बिना आर्थिक साधनों का उपयोग करेगी। इन बदली हुई परिस्थितियों में देश की प्रशुल्क नीति को आर्थिक उन्नति से सम्बन्धित करना आवश्यक समझा गया। अतः अप्रैल, १९४९ में एक प्रशुल्क आयोग (Fiscal Commission) की नियुक्ति की गयी जिसको बदली हुई परिस्थितियों का ध्यान रखकर सुझाव देने का कार्य सौंपा गया। श्री वी० टी० कृष्णमाचारी इस आयोग के अध्यक्ष थे।

इस आयोग के निम्नलिखित कर्तव्य निश्चित किये गये :

(१) सन् १९२२ से वर्तमान समय तक की संरक्षण नीति की जाँच करना,

(२) निम्नलिखित के सम्बन्ध में सुझाव देना :

(अ) संरक्षण के सम्बन्ध में सरकार की भावी नीति तथा संरक्षित उद्योगों के साथ व्यवहार व उनके कर्तव्यों का निर्धारण,

(ब) नीति को कार्यान्वित करने के लिए आवश्यक प्रशासनिक व्यवस्था,

(स) इस नीति से प्रत्यक्ष सम्बन्ध रखने वाली अन्य बातें,

(३) देश की आवश्यकता को ध्यान में रखते हुए सरकार को यह सलाह देना कि अन्तर राष्ट्रीय तट-कर व व्यापार के सामान्य सिद्धान्तों या अन्तरराष्ट्रीय तट कर व व्यापार संगठन के चार्टर के अनुसार कार्य करना कहाँ तक उचित होगा। कमीशन को समस्या के अल्पकालीन व दीर्घकालीन पक्षों पर विचार करने की पूर्ण स्वतन्त्रता दी गयी।

इस आयोग ने देश की औद्योगिक स्थिति का गहराई से अध्ययन किया तथा तट-कर सम्बन्धी सभी समस्याओं पर विचार कर भविष्य के लिए तट-कर नीति की योजना प्रस्तुत की। आयोग की रिपोर्ट जून १९५० में प्रस्तुत की गयी।

प्रशुल्क आयोग ने अपने कार्य क्षेत्र तथा आधारभूत उद्देश्यों का वर्णन करते हुए यह विचार व्यक्त किया कि हमें निम्नलिखित उद्देश्यों की पूर्ति करनी चाहिए[1] :

(१) बेकारी तथा अर्द्ध बेरोजगारी से बचना और उत्पादन व माँग में वृद्धि करना।

(२) देश के प्राकृतिक साधनों का पूर्ण उपयोग करना।

(३) राष्ट्र की उत्पादन शक्ति में वृद्धि करना तथा श्रमिकों की अवस्था सुधारना।

(४) कृषि तथा पशुपालन का वैज्ञानिक ढंग पर विकास करना तथा उद्योगों के लिए पर्याप्त कच्चा माल पैदा करना।

(५) निजी अथवा सहकारी आधार पर कुटीर उद्योग व छोटे पैमाने के उद्योगों की स्थापना करना।

(६) तीव्र गति से औद्योगीकरण करना तथा इसके लिए मिश्रित अर्थ-व्यवस्था की नीति अपनाना।

उद्योगों का वर्गीकरण—संरक्षण के लिए आयोग ने उद्योगों को तीन वर्गों में विभाजित किया तथा इनके सम्बन्ध में संरक्षण नीति का उल्लेख किया :

(१) **सुरक्षा सम्बन्धी उद्योग**—इस श्रेणी में केवल अस्त्र-शस्त्र निर्माण सम्बन्धी उद्योग ही

---

1 Fiscal Commission, 1949-50, *Summary of Findings*, pp 359 60.

नहीं बल्कि उनसे सम्बन्धित अन्य उद्योग भी सम्मिलित होंगे, जैसे—वायुयान निर्माण, वायरलेस तथा केबिल उद्योग आदि। इस वर्ग के उद्योगों को राष्ट्रीय महत्व का ध्यान रखते हुए सरक्षण दिया जायेगा।

(२) आधारभूत तथा मूल उद्योग—इस श्रेणी मे वे उद्योग होंगे जिन पर देश के अन्य उद्योग निर्भर हैं जैसे—यातायात सज्जा निर्माण सम्बन्धी उद्योग, जलयान रेल के डिब्बे, इजन इत्यादि। इस श्रेणी के उद्योगों को भी सरक्षण दिया जायेगा। सरक्षण की प्रकृति, मात्रा तथा शर्तों का निश्चय प्रशुल्क बोर्ड करगा। सरक्षण के पश्चात् इन उद्योगों की प्रगति की जाँच भी प्रशुल्क बोर्ड द्वारा की जायेगी।

(३) अन्य उद्योग—शेष सभी उद्योग इस श्रेणी मे आते हैं। इनके सम्बन्ध मे आयोग ने यह मत व्यक्त किया कि योजना मे प्राथमिकता प्राप्त उद्योगों तथा आधारभूत उद्योगों के सहायक या पूरक उद्योगों को सरक्षण मिलना चाहिए। इनके अतिरिक्त इस श्रेणी के अन्य उद्योगों को सरक्षण देने के लिए दो मुख्य बातों पर विचार करना होगा। प्रथम, वास्तविक व सम्भाव्य लागत का जिसमे उद्योग अपने पैरों पर खड़ा हो सके। द्वितीय ऐसे उद्योगों को सरक्षण देने से समाज पर अधिक भार नहीं पड़ना चाहिए।

सरक्षण की शर्तें—आयोग ने सरक्षण के सम्बन्ध मे कुछ महत्वपूर्ण सुझाव दिये जसे

(१) सरक्षण देने के लिए यह आवश्यक नहीं है कि उद्योग से सम्बन्धित कच्चा माल देश म ही उपलब्ध हो, यदि उद्योग को अन्य आर्थिक लाभ जैसे—आन्तरिक बाजार तथा श्रम की प्राप्ति हो तो सरक्षण दिया जा सकता है।

(२) सरक्षित उद्योगों से साधारणतया यह आशा नहीं रखनी चाहिए कि उनके द्वारा देश की सम्पूर्ण माँग की पूर्ति होगी।

(३) सरक्षण देते समय भावी निर्यात की सम्भावनाओं पर भी ध्यान दिया जाना चाहिए।

(४) जो उद्योग सरक्षित उद्योगों के माल का उपयोग कच्चे माल के रूप मे कर रहे हैं उन्हे भी सरक्षण मिलना चाहिए परन्तु ऐसे उद्योगों को सरक्षण देते समय कच्चे माल की प्रकृति, पक्के माल की माँग तथा समाज पर पड़ने वाले भार का ध्यान रखना चाहिए।

(५) नये उद्योगों को जिनमे अधिक पूंजी तथा श्रमिकों की आवश्यकता है, सरक्षण मिलना चाहिए। वस्तुत स्थापना से पूर्व ही ऐसे उद्योगों को सरक्षण का आश्वासन दे देना चाहिए।

(६) यदि राष्ट्रीय हित मे आवश्यक हो तो सीमित मात्रा मे कृषि पदार्थों को भी सरक्षण देना चाहिए, इस क्षेत्र मे सरक्षण की अवधि ५ वर्ष से अधिक नहीं होनी चाहिए।

(७) सरक्षित उद्योगों पर सामान्यत. उत्पादन कर नहीं लगाना चाहिए परन्तु सरकारी आय मे वृद्धि करने के लिए उत्पादन-कर लगाया जा सकता है।

सरक्षित उद्योगों के कर्तव्य—आयोग द्वारा सरक्षित उद्योगों के कर्तव्यों व दायित्वों का भी उल्लेख किया गया। इन दायित्वों का उद्देश्य सरक्षित उद्योगों की कार्यक्षमता मे वृद्धि करना है। सरक्षित उद्योगों के कर्तव्य इस प्रकार हैं .

(१) इन उद्योगों मे नवीनतम मशीनों तथा उत्पादन प्रणालियों का प्रयोग होना चाहिए।

(२) उद्योग के उत्पादन का पैमाना निरन्तर बढ़ते रहना चाहिए।

(३) उद्योग द्वारा उत्पादित वस्तु निश्चित किये गये प्रमापों के अनुसार होनी चाहिए।

(४) जहाँ तक सम्भव हो, स्थानीय कच्चे माल का प्रयोग किया जाना चाहिए।

(५) सरक्षित उद्योगों द्वारा शोध कार्य व प्राविधिक शिक्षा की व्यवस्था की जानी चाहिए।

(६) सरक्षित उद्योग का समाज के हितों के प्रतिकूल कार्य नहीं करना चाहिए।

यह दायित्व सरक्षण के लिए अनिवार्य न होकर मार्ग दर्शक के रूप मे ही निर्धारित किये गये थे।

स्थायी प्रशुल्क आयोग—आयोग ने एक स्थायी प्रशुल्क आयोग की स्थापना का भी सुझाव दिया था जो अर्द्ध-न्यायिक (Quasi Judicial) आधार पर कार्य करेगा। इस आयोग को अनिवार्य रूप से बयान लेने का विशेष अधिकार होगा। प्रशुल्क आयोग को सरक्षण के मामले मे स्पष्ट तथा विस्तृत रिपोर्ट प्रस्तुत करनी होगी। आयोग का मुख्य कार्य सरक्षण के लिए जाँच करना, सरक्षण का देश की अर्थ व्यवस्था पर प्रभाव तथा सरक्षण करो की जाँच करना, मूल्यों की जाँच करना तथा विभिन्न मन्त्रालयों मे समन्वय स्थापित करने के लिए सुझाव देना होगा।

अन्य सुझाव—उपर्युक्त सुझावो के अतिरिक्त प्रशुल्क आयोग ने अन्य विषयों के सम्बन्ध मे महत्वपूर्ण सुझाव दिये थे

(१) सरक्षण करो से प्राप्त आय मे से कुछ धनराशि पृथक करके एक विकास कोष (Development Fund) स्थापित किया जाना चाहिए। इस धनराशि मे से कुछ उद्योगो को आर्थिक सहायता दी जा सकती है।

(२) सरक्षण प्राप्त उद्योगो की उन्नति पर ध्यान देने के लिए एक सस्था बनायी जानी चाहिए।

(३) आयोग ने उद्योगो के विकास के लिए पूंजी सग्रह विधियो, औद्योगिक प्रबन्ध तथा प्रबन्ध के लिए योग्य व्यक्तियों को प्रशिक्षण देने, औद्योगिक अनुसन्धान, श्रम समस्या तथा यातायात व अधिकोषण के सम्बन्ध मे भी महत्त्वपूर्ण सुझाव प्रस्तुत किये।

इस प्रकार प्रशुल्क आयोग ने देश के समक्ष एक नवीन तट-कर नीति प्रस्तुत की। आयोग ने इस बात पर जोर दिया कि प्रशुल्क-कर उद्योगो की उन्नति का एकमात्र साधन नहीं है। देश की औद्योगिक प्रगति सरकार की आर्थिक नीति, व्यापार नीति तथा औद्योगिक नीति पर निर्भर है। वास्तव मे, औद्योगिक विकास रचनात्मक उपायो द्वारा ही किया जा सकता है और इसी दृष्टि से आयोग ने सरक्षण प्रदान करने के सम्बन्ध मे लागू की जाने वाली शर्तों को बहुत कम कर दिया। इसी के परिणामस्वरूप सरक्षित उद्योगो की सख्या मे प्रति वर्ष वृद्धि होती जा रही है। भारत सरकार की वर्तमान प्रशुल्क नीति इस आयोग द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तो पर ही आधारित है।

प्रशुल्क आयोग, १९५२—प्रशुल्क आयोग ने एक स्थायी तट कर आयोग नियुक्त करने का सुझाव दिया था। इसके फलस्वरूप, १२ सितम्बर, १९५१ को भारतीय ससद द्वारा प्रशुल्क आयोग अधिनियम (Tariff Commission Act) पारित हुआ। एक्ट के अनुसार २१ जनवरी, १९५२ को एक स्थायी आयोग की नियुक्ति की गयी जिसका नाम प्रशुल्क आयोग (Tariff Commission) रखा गया। अधिनियम के अनुसार इसके सदस्यो की न्यूनतम तथा अधिकतम सख्या ३ से ५ हो सकती है। केन्द्रीय सरकार द्वारा किसी भी सदस्य को अध्यक्ष नियुक्त किया जा सकता है। सदस्यों की नियुक्ति सर्वप्रथम तीन वर्ष के लिए करने की व्यवस्था की गयी किन्तु उनका कार्यकाल तीन तीन वर्ष के लिए पुन बढाया जा सकता है। आयोग से हटने के उपरान्त केन्द्रीय सरकार की आज्ञा बिना कोई सदस्य किसी भी निजी क्षेत्र के उद्योग मे नौकरी नही कर सकता। सरकार को किसी भी उद्योग की जाँच कराने का कार्य आयोग को सौंपने तथा उसके सम्बन्ध मे रिपोर्ट माँगने का अधिकार है।

आयोग के कार्य—(१) उद्योगो को सरक्षण प्रदान करना। आयोग नवीन उद्योगो के प्रार्थना-पत्रो पर विचार कर सकता है।

(२) आयोग स्वत किसी उद्योग के लिए सरक्षण सम्बन्धी जाँच कर सकता है तथा सरकार को सुझाव दे सकता है।

(३) आयोग संरक्षण की आवश्यकता तथा मात्रा पर सरकार को सुझाव दे सकता है।

(४) यह संरक्षणात्मक करों मे परिवर्तन की सलाह दे सकता है।

(५) विदेशों से अनुचित स्पर्द्धा तथा राशिपातन (dumping) को रोकने के लिए सरकार द्वारा उचित कार्यवाही करने का सुझाव दे सकता है।

(६) यह संरक्षण प्राप्त उद्योगो पर लगायी गयी शर्तों, विशेषतया निम्न बातों की जाँच करता है

(क) उद्योग अपना उत्तरदायित्व कहाँ तक और किस प्रकार निभा रहा है ?

(ख) इन शर्तों को पूरा करने मे क्या कठिनाइयाँ हैं,

(ग) विशेष शर्तों को पूरा करने के लिए क्या उपाय किए जा सकते हैं।

(७) आयोग इस बात की जाँच कर सकता है कि किसी उद्योग को दिया गया संरक्षण निम्न बातों पर किस प्रकार से प्रभाव डाल रहा है

(क) उत्पादन-लागत पर,

(ख) वस्तु के गुण पर,

(ग) उत्पादन की मात्रा पर,

(घ) उद्योग की भावी उन्नति पर,

(ङ) उद्योग की प्रतिस्पर्द्धा की अवस्था तथा उससे सम्बन्धित बातों पर,

(च) अन्य कारण जिससे उद्योग का प्रभाव देश की आर्थिक व्यवस्था पर पड़ता है।

इस आयोग को कानूनी व अदालती कार्यवाही करने का अधिकार प्राप्त है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि प्रशुल्क आयोग एक स्थायी संस्था है जो संरक्षण एवं तत्सम्बन्धी प्रश्नों पर विचार करती है। विशेषज्ञों द्वारा संरक्षण के सम्बन्ध में जाँच करायी जाती है। संरक्षण की अवधि के विषय में भी आयोग सुझाव देता है। यह अवधि तीन वर्ष से अधिक भी हो सकती है।

स्थापना के पश्चात आयोग ने बहुत से उद्योगों की जाँच की है तथा कतिपय नये-पुराने उद्योगों को संरक्षण प्रदान किया है।

संरक्षण नीति की समीक्षा एवं वर्तमान स्थिति—भारत की संरक्षण नीति के कारण बहुत से उद्योगों को लाभ पहुँचा। यद्यपि विवेचनात्मक संरक्षण की नीति अत्यन्त सीमित थी फिर भी इससे लोहा, सूती वस्त्र तथा चीनी उद्योग आदि काफी लाभान्वित हुए। वर्तमान समय मे प्रशुल्क आयोग उचित ढंग से कार्य कर रहा है। द्वितीय योजनाकाल से विदेशी विनिमय का संकट देश के सामने बराबर बना हुआ है अतः आयातों को सीमित रखने का निरन्तर प्रयत्न किया जा रहा है। आयातों की कमी के कारण कुछ उद्योगों को अप्रत्यक्ष रूप से स्वतः संरक्षण प्राप्त हो गया है अतः संरक्षण के लिए प्रस्तुत प्रार्थना-पत्रों की संख्या मे कमी हुई है।

प्रशुल्क कमीशन उद्योगों को संरक्षण कम समय के लिए ही देता है (अधिकांश उद्योगों को २ वर्ष से १२ वर्ष तक का संरक्षण मिला है) अतः पुराने मामलों की जाँच मे ही अधिक समय लगता है।

संरक्षण समाप्ति—तट-कर आयोग की सिफारिश के अनुसार सूती वस्त्र सम्बन्धी मशीनों, पिस्टन जोड़ कर तैयार करने, ए० सी० एम० आर० (एल्युमीनियम कण्डक्टर स्टील रीइन्फोर्स्ड), एल्युमीनियम कण्डक्टर्स तथा एण्टीमनी तथा रेशम उद्योगों को संरक्षण प्राप्त था। १९६६-६७ मे तट-कर आयोग ने इनकी जाँच कर पहले चार उद्योगों के लिए संरक्षण समाप्त करने का सुझाव दिया है। सरकार ने इस सुझाव को मान लिया है और रेशम को छोड़कर शेष उद्योग १ जनवरी, १९६७ से संरक्षण मुक्त हो गये हैं। रेशम उद्योग को ३१ दिसम्बर, १९७४ तक संरक्षण मिलता रहेगा।

सूत तथा सूती वस्त्र—तट कर आयोग को यह कहा गया कि वह सूत तथा सूती वस्त्र उद्योग के सम्बन्ध में निम्नलिखित बातों पर अपना मत प्रकट करे :

(१) सूत तथा वस्त्र की एक्स मिल कीमत,

(२) इन दोनों वस्तुओं का विक्रय मूल्य,

(३) लागत में निरन्तर होने वाले परिवर्तनों के आधार पर समय-समय पर मूल्यों में परिवर्तन ।

वस्त्र उद्योग द्वारा अनेक किस्मों का वस्त्र निर्मित किया जाता है अत आयोग ने कुछ सामान्य सूत्रों के आधार पर सूत और वस्त्र का मूल्य निर्धारित करने का सुझाव दिया। सरकार ने इन सूत्रों के आधार पर नियन्त्रित वस्तुओं जैसे धोतियाँ, साडियाँ, लट्ठा तथा कमीज और जीन के कपडे के मूल्य निश्चित कर दिये हैं।

भारतीय प्रशुल्क आयोग अब एक स्थायी आयोग है जो सरकार को समय-समय पर विभिन्न उद्योगों को संरक्षण देने तथा मूल्य निर्धारित करने सम्बन्धी सुझाव देता रहता है। यह स्थिति भारत सरकार की इस नीति की परिचायक है कि देश में औद्योगिक विकास का ढाँचा दृढ नींव पर खडा किया जाना चाहिए ताकि यह देश की अर्थ-व्यवस्था के भव्य भवन के लिए विश्वसनीय स्तम्भ का काम कर सके।

प्रश्न

१ विवेचनात्मक संरक्षण नीति से सम्बन्धित त्रिसूत्र (फार्मूला) से आप क्या समझते हैं ? भारत में इस सूत्र के प्रयोग का उद्योगों पर क्या प्रभाव पडा है ? (भागलपुर, बी० ए०, १९६१)

२ भारतीय तट-कर आयोग (१९४९-५०) ने संरक्षण सम्बन्धी जो विचार प्रकट किये उन पर टिप्पणी लिखिए। (नागपुर, बी० कॉम० (द्वितीय वर्ष), १९६४)

३ भारत सरकार की वर्तमान टैरिफ नीति की रचना का वर्णन कीजिए। यह भेदमूलक संरक्षण नीति से किस प्रकार भिन्न है ? (राज०, बी० कॉम० (अन्तिम वर्ष), १९६७)

४ तट-कर नीति का अर्थ तथा आवश्यकता समझाइए। १९५१ से भारतीय तट-कर नीति के प्रमुख लक्षणों पर प्रकाश डालिए। (इलाहाबाद, बी० कॉम० (प्रथम वर्ष), १९६१)

27 कुटीर एवं लघुस्तरीय उद्योग

(COTTAGE AND SMALL-SCALE INDUSTRIES)

भारत का अतीत औद्योगिक दृष्टि से गौरवपूर्ण था। जब ससार अर्द्धसभ्य अवस्था मे था उस समय वाणिज्य एव उद्योग मे भारत उन्नति के शिखर पर आरूढ था। हमारे प्राचीन सामाजिक जीवन मे कुटीर उद्योग एव हस्तशिल्प प्रधान तत्त्व थे। सूती वस्त्र, बहुमूल्य धातु, जहाज निर्माण, जवाहरात का काम, नक्काशी आदि के लिए भारत विश्व-विख्यात था। स्वर्गीय रानाडे के अनुसार, 'ईसा से २०० वर्ष पूर्व की मिस्र देश की ममियाँ बढिया किस्म की भारतीय मलमल मे लिपटी हुई पायी गयी हैं।' ईस्ट इण्डिया कम्पनी की स्थापना के पश्चात भारत की औद्योगिक व्यवस्था धीरे-धीरे नष्ट होने लगी। अंग्रेजो की स्वार्थपूर्ण नीति इन उद्योगो के लिए घातक सिद्ध हुई। अठारहवीं शताब्दी के अन्त तक कुछ उद्योग साँस लेते रहे तथा उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य तक उनका गौरव पूर्णतया नष्ट हो गया। फिर भी हमारे प्राचीन उद्योगो के अवशेष किसी न किसी रूप मे अब भी वर्तमान हैं। स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात भारतीय अर्थ-व्यवस्था मे उनके महत्त्व को स्वीकार किया गया तथा उन्हे नवजीवन प्रदान करने का प्रयत्न किया गया।

प्राचीन कुटीर एव लघु उद्योगों के पतन के कारण

भारतीय कुटीर उद्योग-धन्धो के पतन के निम्नलिखित कारण थे :

(१) देशी राजाओं तथा नवाबो का अन्त—प्राचीन उद्योगो को राजाओ तथा नवाबो का सरक्षण प्राप्त होता था। वे कलापूर्ण वस्तुओं के शौकीन थे। कुशल कारीगरो को उनके यहाँ आश्रय प्राप्त होता था। ईस्ट इण्डिया कम्पनी व्यापार करने के उद्देश्य से आयी थी, परन्तु कुछ समय पश्चात् उसका उद्देश्य राज्य की स्थापना करना हो गया। कम्पनी द्वारा धीरे-धीरे राजाओ तथा नवाबो का अन्त किया जाने लगा जिससे इन उद्योगो को सरक्षण मिलना समाप्त हो गया। कारीगरो के लिए जीविकोपार्जन करना कठिन हो गया। अत उन्होंने अपनी परम्परागत कला को छोड दिया। इस प्रकार कुटीर उद्योग-धन्धो का पतन होने लगा।

(२) ईस्ट इण्डिया कम्पनी तथा ब्रिटिश ससद की नीति—अपने निर्यात व्यापार को बनाये रखने के लिए आरम्भ मे ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने उद्योगों को आर्थिक सहायता आदि दी परन्तु इससे इगलैण्ड के उद्योगो को क्षति उठानी पडी अत स्वार्थी राजनीतिज्ञो ने ससद द्वारा ईस्ट इण्डिया कम्पनी को इस बात के लिए बाध्य कर दिया कि वह भारत से केवल ऐसी वस्तुओ तथा कच्चे माल का निर्यात करे जिनसे इगलैण्ड के उद्योगो को सहायता मिल सके, फलत भारतीय माल पर ऊँची दर से तट-कर लगाये गये। सन् १७०० से १८५४ तक इगलैण्ड मे भारतीय छीटो का उपयोग करना गैर-कानूनी था। इधर भारत मे विदेशी माल के आयात को प्रोत्साहन दिया गया। यह नीति भारतीय उद्योगो के लिए घातक सिद्ध हुई तथा वे नष्ट होने लगे।

(३) मशीनो द्वारा निर्मित विदेशी वस्तुओं की प्रतिस्पर्द्धा—इगलैण्ड की औद्योगिक क्रान्ति के कारण यूरोप मे बडे पैमाने पर मशीनो द्वारा सस्ती वस्तुओ का निर्माण किया जाने लगा। आर० सी० दत्त के अनुसार, "यूरोप मे स्वचालित करघे के आविष्कार ने भारतीय उद्योगो के ह्रास में पूर्णाहुति दे दी।" भारतीय उद्योगो का विदेशी उद्योगो मे स्पर्द्धा करना सम्भव नहीं था क्योंकि विदेशी उद्योग वैज्ञानिक मशीन, बडे पैमाने के उत्पादन एव अन्य साधनो से पूर्ण थे। अत इगलैण्ड से सस्ती वस्तुएँ अधिक मात्रा मे भारत आने लगीं जिनकी स्पर्द्धा मे भारतीय उद्योग टिक नही सके।

(४) यातायात के आधुनिक साधनो का विकास—१८वीं शताब्दी मे यातायात के तीव्रगामी साधनो का आविष्कार हुआ। स्वेज नहर के बन जाने से इगलैण्ड के माल पर यातायात व्यय बहुत कम लगने लगा। भारत मे भी अँग्रेजो ने यातायात के साधनो का विकास किया। इसमे इगलण्ड का माल भारत के कोने-कोने मे भेजना सम्भव हो गया। देश के अन्दर विदेशी माल की खपत में वृद्धि हुई तथा भारतीय माल की माँग कम होने लगी। यातायात के आधुनिक साधनो के कारण विदेशी माल के लिए बढी हुई माँग की पूर्ति करना सम्भव हो सका। अत भारतीय उद्योगों के पतन मे यातायात के आधुनिकतम साधनो ने भी योग दिया।

(५) विदेशी शिक्षा एवं सभ्यता का प्रभाव—भारतीय शिक्षित समाज भी अपने शासको के मापदण्डों तथा उनके जीवनयापन से प्रभावित हुआ। अँग्रेजो ने राज्य-स्थापना के साथ ही साथ अपनी शिक्षा प्रणाली एव सभ्यता का प्रचार किया। अँग्रेजी शिक्षा प्राप्त भारतीयो की रुचि और स्वभाव मे परिवर्तन हुआ। उन्होंने भारतीय वस्तुओ का उपयोग अपनी प्रतिष्ठा के प्रतिकूल समझा और विदेशी वस्तुओं का उपयोग करने में वे गौरव अनुभव करने लगे। इस प्रकार भारतीय वस्तुओं की माग घटने लगी तथा उनसे सम्बन्धित उद्योगो का पतन प्रारम्भ हो गया।

(६) भारतीय कारीगरो से दुर्व्यवहार—अँग्रेज उद्योगपतियों के हितों की रक्षा के लिए भारतीय कारीगरो पर प्रतिबन्ध एव नियन्त्रण रखा गया। अच्छी कलापूर्ण वस्तुओं के निर्माण को हर प्रकार से बन्द करने का प्रयत्न किया गया। हर प्रकार से भारतीय उद्योगो को इगलैण्ड के उद्योगो पर आश्रित करने की नीति अपनायी गयी। रमेश दत्त के अनुसार, कम्पनी द्वारा भारतीय कारीगरो को ठेके पर अत्यधिक काम दिया जाता था और उसे पूरा न करने पर उनके अँगूठे कटवा दिये जाते थे ताकि वह रेशम लपेटने और बुनने का काम करने योग्य न रह जायें।

(७) भारतीय कारीगरो में दूरदर्शिता की कमी—भारतीय कारीगर परम्परावादी थे। उन्हें किसी प्रकार का औद्योगिक प्रशिक्षण नहीं दिया जाता था। बदली हुई परिस्थितियों में भी उन्होंने अपने पुराने ढग को नहीं छोडा। यदि वे बदली हुई परिस्थितियो के अनुसार अपनी उत्पादन प्रणाली मे भी परिवर्तन करते तो प्राचीन भारतीय उद्योगो की दुर्दशा नहीं होती।

कुटीर तथा लघु उद्योगों की परिभाषा तथा दोनों में अन्तर—कुटीर तथा लघु उद्योगो की निश्चित परिभाषा नही दी जा सकती। कुछ अर्थशास्त्रियों तथा आयोगो ने इनके सम्बन्ध मे अपने विचार व्यक्त किये हैं। उनके आधार पर इनके विषय मे कुछ मत प्रकट किया जा सकता है। उत्पादन का पैमाना तथा विनियोग आदि को ध्यान मे रखते हुए उद्योगों को तीन श्रेणियो मे बाँटा जा सकता है—(१) बडे पैमाने के उद्योग (२) लघु उद्योग, तथा (३) कुटीर उद्योग। बडे पैमाने के उद्योग वे हैं जिनमे अधिक मात्रा मे पूंजी लगाकर तथा उत्पादन की आधुनिकतम प्रणालियो का प्रयोग कर बडी मात्रा मे वस्तु तथा सेवाओं का उत्पादन किया जाता है। ऐसे उद्योगो का सचालन बडे पैमाने पर किया जाता है जिसमे उत्पादन के साधनो के श्रेष्ठतम उपयोग का लाभ उठाया जाता है। लघु उद्योग, कुटीर उद्योग तथा बड़े पैमाने के उद्योगो के बीच मे आते हैं। कुटीर तथा बडे पैमाने के उद्योगो के अन्तर को सरलता से समझा जा सकता है परन्तु कुटीर तथा लघु उद्योग

का अन्तर जानना अपेक्षाकृत कठिन है। फिर भी दोनों के अन्तर को जानने के लिए विभिन्न माप-दण्ड बनाए गये हैं। राजस्व आयोग (१९४९-५०) ने इनकी परिभाषा निम्न प्रकार दी है:

कुटीर उद्योग—"कुटीर उद्योग वह है जो पूर्ण अथवा मुख्य रूप से परिवार के सदस्यों की सहायता से पूर्णकालीन अथवा अंशकालीन व्यवसाय के रूप में चलाया जाता है।"[1]

लघु उद्योग—"लघु उद्योग वह है जो मुख्यतः दस से पचास तक श्रमिकों द्वारा चलाया जाता है। लेकिन जो श्रमिक के घर में नहीं चलाया जाता। इनमें वे सब इकाइयाँ व संस्थान सम्मिलित किये जाते हैं जिनमें ५ लाख रुपये से कम पूँजी लगी होती है।"[2]

वर्तमान समय में श्रमिकों की संख्या सम्बन्धी शर्त पर ध्यान नहीं दिया जाता। अब औद्योगिक इकाई में लगी पूँजी को आधार माना जाता है। १ मार्च, १९६७ से उन उद्योगों को लघु उद्योगों की श्रेणी में ले लिया गया है जिनके मशीन आदि में विनियोग ७.५ लाख रुपये से अधिक न हों। इसके पूर्व यह सीमा ५ लाख रुपये थी।

योजना आयोग के अनुसार कुटीर उद्योगों का सम्बन्ध प्रधानतः ग्रामीण क्षेत्रों से है। ये कुटीर व्यवसाय के पूरक के रूप में परिवार के सदस्यों द्वारा ही चलाए जाते हैं तथा इनमें अधिकांश कार्य हाथ से किये जाते हैं। अतः कुटीर उद्योग धन्धे वे हैं जो परिवार के सदस्यों की सहायता से चलाये जाते हैं जबकि लघु उद्योगों में मजदूरी पर भी श्रमिक रखे जाते हैं।

भारतीय अर्थ-व्यवस्था में कुटीर एवं लघु उद्योगों का महत्त्व

भारतीय अर्थ-व्यवस्था में कुटीर एवं लघु उद्योगों का महत्त्वपूर्ण स्थान है। महात्मा गांधी के शब्दों में, "भारत का कल्याण उसके कुटीर उद्योगों में निहित है।" भारत ही नहीं अपितु विश्व के अन्य उन्नतिशील देशों में भी ऐसे उद्योग-धन्धों का महत्त्वपूर्ण स्थान है। जर्मनी में १२.६ प्रतिशत जनसंख्या हाथ से चलाये जाने वाले उद्योगों द्वारा जीविकोपार्जन करती है। फ्रांस में ९९ प्रतिशत ऐसे औद्योगिक संस्थान हैं, जिनमें १०० से कम श्रमिक काम करते हैं। बर्मिंघम जैसे उद्योग-प्रधान शहर में भी आधे ऐसे औद्योगिक संस्थान हैं जो लघु-स्तर पर चलाये जाते हैं तथा जिनमें ५० से कम श्रमिक काम करते हैं। जापान में औद्योगिक जनसंख्या का ५३ प्रतिशत भाग ऐसे लघु उद्योगों से जीविका कमाता है जिनमें ५ से कम श्रमिक काम करते हैं। अमरीका में भी लघु उद्योगों का महत्त्वपूर्ण स्थान है।[3]

भारत में औद्योगिक जनसंख्या का ६०% भाग कुटीर एवं लघु उद्योगों में लगा हुआ है। लघु उद्योगों में केवल हथकरघा उद्योग में ही ५० लाख श्रमिक काम करते हैं जबकि इतने श्रमिक अन्य सभी संगठित उद्योगों में मिलाकर होते हैं। राष्ट्रीय आय में भी इन उद्योगों का अंशदान संगठित एवं बड़े स्तर के उद्योगों का दुगना है। भारतीय अर्थ-व्यवस्था में इन उद्योगों के महत्त्व का अध्ययन निम्नलिखित शीर्षकों के अन्तर्गत किया जा सकता है:

(१) पूर्ण रोजगार की दृष्टि से—भारत में बेरोजगारी एवं अर्द्ध-बेरोजगारी की समस्या दिन-प्रतिदिन गम्भीर रूप ग्रहण करती जा रही है। प्रथम योजना के अन्त में सरकारी अनुमान के अनुसार ५३ लाख व्यक्ति बेरोजगार थे। तृतीय पंचवर्षीय योजना के अन्त में बेरोजगार व्यक्तियों की संख्या ९० लाख थी। जनसंख्या में तीव्र गति से वृद्धि तथा आर्थिक विकास अपेक्षाकृत बहुत मन्द गति से होने के कारण बेरोजगारी की समस्या गम्भीरतर होती जा रही है। इस समस्या के कारण आर्थिक असन्तुलन, राजनीतिक अशान्ति तथा सामाजिक पतन की आशंका है। बेरोजगारी एक सामाजिक कलंक है, जिसका नैतिक प्रभाव बहुत बुरा पड़ता है।

---

1 *Report of the Fiscal Commission*, 1949-50, p. 104.
2 *Ibid.*
3 "In U.S.A., it has been estimated that small business makes up 92.5% of the U.S. business establishment, employ 45% of the country's workers and handles 34% of the volume of business." —*Indian Fiscal Commission Report* (1949-50), p. 101.

भारत एक कृषि-प्रधान देश है जहाँ की ७०% जनसंख्या आजीविका तथा रोजगार के लिए कृषि पर निर्भर है। यहाँ कृषि कार्य पूरे वर्ष भर नहीं चलता। अनुमान लगाया गया है कि भारतीय कृषक के पास वर्ष में ६ माह तक कोई कार्य नहीं रहता इसलिए वह बेकार बैठा रहता है। देश में पूँजी तथा औद्योगीकरण की अवस्था को ध्यान में रखते हुए इस प्रकार की बेरोजगारी की समस्या का एकमात्र हल यही है कि ग्रामीण क्षेत्रों में कुटीर उद्योगों का विकास किया जाय तथा लघु उद्योगों की स्थापना की जाय।

(२) आर्थिक समानता की दृष्टि से—विशाल उद्योगों द्वारा सम्पत्ति एवं आय का अधिकांश भाग उद्योगपतियों तथा पूँजीपतियों के पास चला जाता है। इस कारण आर्थिक असमानता में वृद्धि होती जा रही है। सम्पत्ति तथा आय का कुछ ही हाथों में सकेन्द्रण हो रहा है। धनी वर्ग दिन प्रतिदिन धनी तथा निर्धन वर्ग दिन प्रतिदिन निर्धन होता चला जा रहा है। मजदूरों को मजदूरी नाममात्र को मिलती है तथा उनका आर्थिक शोषण होता है। यह आर्थिक असमानता तथा शोषण राजनीतिक, सामाजिक तथा नैतिक दृष्टियों से हानिकारक है। कुटीर उद्योग में प्रत्येक श्रमिक में स्वामित्व एवं स्वतन्त्रता की भावना पायी जाती है तथा उसे अपने श्रम का उचित पारिश्रमिक प्राप्त होता है। उद्योगों के विकास द्वारा अधिक लोगों में धन का उचित वितरण होगा जिससे आय तथा सम्पत्ति की असमानता दूर हो सकेगी।

(३) सन्तुलित विकास की दृष्टि से—भारत के सभी भागों का सन्तुलित आर्थिक विकास नहीं हो पाया है। कुछ राज्यों में बड़े बड़े उद्योगों का केन्द्रीयकरण हुआ है तथा ऐसे राज्य समृद्ध हैं। इसके विपरीत, आर्थिक दृष्टि से कुछ राज्य बहुत पिछड़े हुए हैं। बड़े पैमाने के उद्योग सामान्यतया बड़े शहरों में ही केन्द्रित हैं। देश के कुछ भागों का ही विकास करने से वास्तविक प्रगति नहीं हो सकती, अतः पिछड़े हुए भागों का आर्थिक विकास करना आवश्यक है। इस दृष्टि से कुटीर एवं लघु उद्योग अधिक सहायक सिद्ध हो सकते हैं। डॉ० श्यामाप्रसाद मुकर्जी के शब्दों में "भारत गाँवों का देश है, अतः सरकार को सन्तुलित अर्थ-व्यवस्था की दृष्टि में कुटीर तथा छोटे पैमाने के उद्योगों के विकास को सर्वाधिक महत्त्व प्रदान करना चाहिए।"[1]

(४) उचित औद्योगिक सम्बन्धों के लिए—औद्योगिक अशान्ति (Industrial unrest) की समस्या प्रायः प्रत्येक देश में पायी जाती है। बड़े पैमाने के उद्योगों द्वारा श्रमिकों का शोषण होने तथा पूँजीपतियों का श्रमिकों से निकट सम्बन्ध न होने के कारण श्रम तथा पूँजी का संघर्ष होता है। परिणामस्वरूप, हड़ताल व तालाबन्दी होती है। कुटीर एवं लघु उद्योगों में व्यक्तिगत सम्पर्क होने के कारण शान्ति का वातावरण बना रहता है। श्रमिक को स्वतन्त्रता होती है तथा मालिक और सेवक की भावना का लोप हो जाता है। पारस्परिक स्पर्द्धा अवश्य होती है परन्तु यह प्रतिस्पर्द्धा स्वस्थ होती है। अतः इन उद्योगों में वर्ग संघर्ष नहीं होता और औद्योगिक शान्ति से देश के आर्थिक विकास में मदद मिलती है।

(५) वस्तुओं के गुण तथा कलात्मक वस्तुओं के उत्पादन की दृष्टि से—मशीनों द्वारा निर्मित वस्तुओं में एकरूपता अवश्य पायी जाती है परन्तु उत्पादित वस्तु में हम कला एवं व्यक्तित्व के दर्शन नहीं कर सकते। इसके विपरीत कुटीर उद्योगों में कलापूर्ण वस्तुओं का उत्पादन होता है। कारीगर अपनी कला का प्रदर्शन कर सकते हैं तथा स्थानीय उपभोक्ताओं की रुचि के अनुसार वे अपने उत्पादन में आवश्यक परिवर्तन करते रहते हैं।

(७) सुरक्षा, युद्ध तथा शान्ति की दृष्टि से—सुरक्षा की दृष्टि से भी कुटीर उद्योग अधिक उपयुक्त है। कुटीर तथा लघु उद्योग विकेन्द्रित होते हैं। यदि देश के एक भाग पर आक्रमण हो तो अपेक्षाकृत कम जन एवं धन की हानि होगी। इसके विपरीत, बड़े पैमाने के उद्योग बड़े शहरों में

---

[1] *Proceeding of the Conference on Industrial Development in India,* December 1947

केन्द्रित होते हैं। अतः शत्रु द्वारा गोलाबारी आदि से अधिक क्षति पहुँचायी जा सकती है। आज अणु एवं उद्जन बम के युग में बड़े-बड़े शहर समूल नष्ट किये जा सकते हैं। शान्ति की दृष्टि से भी लघु उद्योगों का महत्त्व है। संसार के दोनों महायुद्ध आर्थिक कारणों से छिड़े थे। कुटीर एवं लघु उद्योग से हम अहिंसक समाज की ओर अग्रसर होते हैं अतः इनके माध्यम से दीर्घकालीन तथा स्थायी शान्ति स्थापित की जा सकती है।

(७) कृषि पर जनसंख्या का भार—भारतीय कृषि में आवश्यकता से अधिक जनसंख्या नियोजित है। इससे कृषि पर जनसंख्या का भार अधिक हो गया है। कृषि के अतिरिक्त अन्य क्षेत्रों में रोजगार की कमी के कारण कृषि-कार्य में अधिक व्यक्तियों को लगना पड़ता है। यदि देश में कुटीर उद्योग धन्धों की वृद्धि की जाय तथा लघु उद्योगों की स्थापना की जाय तो कुछ जनसंख्या जो कृषि में लगी हुई है, इन उद्योगों में लग जायगी। इससे कृषि में प्रति व्यक्ति उत्पादन तथा कृषकों की आय में वृद्धि होगी।

(८) मानवीय मूल्य की दृष्टि से—नैतिक एवं सामाजिक दृष्टि से भी कुटीर एवं लघु उद्योगों का महत्त्व है। बड़े पैमाने के उद्योगों में श्रमिक मशीनों के पुर्जों की भाँति काम करता है तथा कला एवं कारीगरी का महत्त्व नष्ट हो जाता है। बड़े-बड़े औद्योगिक केन्द्रों पर वातावरण विषाक्त होता है जिसमें श्रमिकों का सामाजिक तथा नैतिक स्तर गिरता है। इसके विपरीत, लघु उद्योगों में वातावरण बिलकुल भिन्न होता है। इसमें 'सादा जीवन उच्च विचार' की भावना का सृजन होता है। सरलता इन उद्योगों की आधारशिला है। सरलता का अर्थ एक उच्च जीवन-दर्शन तथा विशिष्ट प्रकार के विचार से है।[1] इससे मानव व्यक्तित्व का विकास होता है। बड़े पैमाने के उद्योग उच्च जीवन-स्तर प्रदान करते हैं परन्तु कुटीर एवं लघु उद्योग उच्च जीवन-दर्शन की ओर अग्रसर करते हैं।

यह सत्य है कि बड़े पैमाने के उद्योगों में उत्पादन लागत कम पड़ती है तथा उपभोक्ताओं को सस्ती दर पर वस्तुएँ प्राप्त होती हैं। परन्तु ये उद्योग मानव जीवन को सस्ता बना देते हैं।[2] मानवीय मूल्य की दृष्टि से कुटीर एवं लघु उद्योग बड़े पैमाने के उद्योगों से श्रेष्ठतर हैं। अतः यह स्पष्ट है कि भारत की वर्तमान परिस्थितियाँ—सर्वव्याप्त बेरोजगारी तथा अर्द्ध-बेरोजगारी, पूँजी की कमी, वैज्ञानिक एवं प्राविधिक शिक्षा की पिछड़ी अवस्था तथा देश की कृषि-प्रधानता—में कुटीर तथा लघु उद्योगों का विकास करना उपयुक्त ही नहीं अपितु आवश्यक है।

कुटीर तथा लघु उद्योगों की समस्याएँ

भारत सरकार ने कुटीर तथा लघु उद्योगों के महत्त्व को स्वीकार किया है। यह निर्विवाद है कि भारत की आर्थिक अवस्था इन्हीं उद्योगों के पतन के कारण अस्त-व्यस्त हुई है। अतः इन उद्योगों के विकास के लिए हर सम्भव प्रयत्न आवश्यक है। सरकार ने इनके विकास के लिए काफी तत्परता दिखायी है। फिर भी इन उद्योगों की सन्तोषजनक उन्नति नहीं हो पायी है क्योंकि इनके सम्मुख अनेक समस्याएँ हैं जिनमें से मुख्य निम्नलिखित हैं

(१) वित्त की समस्या—वित्त सम्बन्धी कठिनाई इन उद्योगों की वास्तविक समस्या है। भारत का एक साधारण कारीगर इतना निर्धन है कि वह आवश्यक औजार व कच्चा माल अपने निजी साधनों द्वारा खरीदने में असमर्थ है। कारीगरों को ऋण देने की भी समुचित व्यवस्था नहीं

---

1 "Simplicity does not imply squalor, shabbiness and poverty, it denotes a particular mode of thought and an attitude towards life"

—S N Agarwal, quoted in *Principles and Problems of Industrial Organisation*, Ghosh and Omprakash, p 604.

2 "Cloth is dear which saves a few annas to the buyer, while it cheapens the lives of the men women and children who live in Bombay Chawls" —*Gandhiji*

हो पायी है। बैंकों द्वारा उन्हें ऋण उपलब्ध नहीं होता तथा सहकारी समितियों का कारीगरों में विशेष प्रचार नहीं हो पाया है। बाध्य होकर उन्हें देशी साहूकार तथा महाजनों की शरण लेनी पड़ती है जो हर प्रकार से उनका शोषण करते हैं। यही स्थिति लघु उद्योगों की है। पूँजी के अभाव में मशीनें आदि नहीं खरीदी जाती तथा उत्पादन कार्य जैसे-तैसे चलाया जाता है। इन उद्योगों के पास मिश्रित पूँजी कम्पनियों की भाँति साधन संग्रह नहीं हो पाते क्योंकि इन उद्योगों के अंश जनता नहीं खरीदती।

(२) **कच्चे माल की समस्या**—कच्चे माल के लिए इन उद्योगों को कई प्रकार की कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। आवश्यक आर्थिक साधनों की कमी के कारण ये उद्योग बड़े उद्योगों के सम्मुख टिक नहीं पाते। कम मात्रा में बार-बार कच्चा माल खरीदने के कारण इन्हें ऊँची दर पर मूल्य चुकाना पड़ता है। इन उद्योगों को कच्चे माल की पूर्ति में प्राथमिकता नहीं दी जाती अतः जो माल प्राप्त होता है वह निम्नकोटि का होता है। कारीगरों में किसी प्रकार का संगठन न होने से उनकी सामूहिक क्रय-शक्ति भी कमजोर होती है। बहुत से कारीगर तो पूँजी के अभाव के कारण मिलता हुआ कच्चा माल भी नहीं खरीद पाते।

(३) **उत्पादन प्रणाली**—कुटीर उद्योगों में लगे कारीगर आज भी परम्परा से चली आ रही विधियों के अनुसार उत्पादन करते हैं। उनके औजार पुराने हैं तथा वैज्ञानिक विकास का उनकी उत्पादन विधियों पर प्रभाव नहीं पड़ा है। फलस्वरूप वे कम मात्रा में तथा निम्न श्रेणी का उत्पादन कर पाते हैं। कारखानों द्वारा निर्मित वस्तुओं के सामने इन उद्योगों की वस्तुएँ नहीं टिक पातीं। कारीगर की ऐसी अवस्था नहीं है कि वह वैज्ञानिक अध्ययन द्वारा उत्पादन की नयी विधियों का आविष्कार कर सके। अतः इस बात की आवश्यकता है कि इन उद्योगों की उत्पादन विधियों में आमूल परिवर्तन किया जाय। नवीन विधियों का आविष्कार करके कारीगरों को उन विधियों को अपनाने के लिए प्रेरणा देना भी आवश्यक है।

(४) **कारीगरों की अशिक्षा तथा यान्त्रिक शिक्षा का अभाव**—भारतीय कारीगर अशिक्षित हैं। अशिक्षा के कारण उन्हें प्रशिक्षण देने में भी कठिनाई पड़ती है। एक ओर अकुशल उत्पादन प्रणाली के कारण वस्तुओं की लागत अधिक पड़ती है, दूसरी ओर अशिक्षा के कारण कारीगर अपनी वस्तुओं का उचित ढंग से विक्रय भी नहीं कर पाता। उनमें यान्त्रिक शिक्षा का भी अभाव है जिसके कारण वे विकसित उत्पादन प्रणाली का उपयोग नहीं कर सकते। इस दोष को दूर करने के लिए यह आवश्यक है कि कारीगरों को उचित औद्योगिक प्रशिक्षण दिया जाय जिससे वे आधुनिक उपकरणों का प्रयोग कर सकें।

(५) **विक्रय की समस्या**—कुटीर तथा लघु उद्योगों के उत्पादकों को माल बेचने की समस्या का भी सामना करना पड़ता है। उन्हें बाजार की परिस्थितियों का ज्ञान नहीं होता तथा उनकी कोई ऐसी संस्था नहीं होती जो निर्मित माल की बिक्री की व्यवस्था कर सके। बाध्य होकर उन्हें कम मूल्य पर अपनी वस्तुएँ मध्यस्थों को बेचनी पड़ती हैं।

(६) **बड़े उद्योगों से प्रतियोगिता**—बड़े पैमाने के उद्योगों में वस्तुएँ आधुनिक विधियों द्वारा निर्मित की जाती हैं तथा उनका लागत-व्यय कम होता है अतः उनके द्वारा उत्पादित वस्तुएँ सस्ती होती हैं। कुटीर उद्योगों में हाथ से तथा लघु उद्योगों में छोटे पैमाने पर उत्पादन किया जाता है अतः लागत व्यय अधिक पड़ता है। इस कारण इन उद्योगों द्वारा उत्पादित वस्तुएं महँगी पड़ती हैं। सस्ती होने के कारण उपभोक्ता मिल उद्योगों की वस्तुएँ ही खरीदता है। अतः लघु उद्योगों को बड़े पैमाने के उद्योगों की प्रतिस्पर्द्धा का सामना करना पड़ता है जिसमें वे नहीं टिक पाते। इस समस्या के निराकरण के लिए आवश्यक है कि दोनों प्रकार के उद्योग एक-दूसरे के प्रतिस्पर्द्धी के रूप में नहीं, बल्कि पूरक के रूप में कार्य करें।

(७) सस्ती मशीनों तथा चालक शक्ति का प्रभाव—इन उद्योगो की उन्नति के लिए आवश्यक है कि उत्पादन मे छोटी तथा सस्ती मशीनो का प्रयोग किया जाय। कारीगरो के पास पूँजी की कमी होने के कारण वे मशीन नही खरीद पाते। अत उन्हे आवश्यक मात्रा में ऋण मिलना चाहिए तथा किस्त भुगतान पद्धति पर उन्हें मशीनें दी जानी चाहिए। मशीनों को चलाने के लिए सस्ती बिजली या शक्ति के साधनो की व्यवस्था होनी चाहिए। कुछ कुटीर तथा लघु उद्योगो म बिजली का प्रयोग होने लगा है, परन्तु बडे उद्योगो के सामने उन्हें प्राथमिकता नहीं मिल पाती।

(८) उपभोक्ताओ की अरुचि—कुटीर तथा लघु उद्योगो द्वारा निर्मित वस्तुओं को उपभोक्ता पसन्द नहीं करते, इसम उनके द्वारा निर्मित माल की बिक्री अधिक नही हो पाती। उपभोक्ता कुटीर उद्योगों द्वारा निर्मित वस्तुओ की अपेक्षा मिल उद्योगो द्वारा निर्मित वस्तुओ को अधिक पसन्द करते हैं। कुटीर उद्योग उपभोक्ताओ की बदलती हुई रुचि के अनुसार वस्तुओ का निर्माण नही कर पाते तथा उनका उत्पादन व्यय भी अधिक होता है। मिलें नवीनतम फैशन के अनुसार वस्तुओ का निर्माण करती हैं। सुविधा मिलने पर लघु एव कुटीर उद्योग नवीनतम डिजाइनो तथा फैशनो की वस्तुएँ निर्मित कर सकते हैं जिन्ह देशी तथा धनिक उपभोक्ता खरीद सकें। किन्तु कई प्रकार की कठिनाइयो के कारण लघु उद्योग ऐसा करने मे असमर्थ हैं।

(९) करों का भार—कुटीर तथा लघु उद्योगों पर विभिन्न प्रकार के कर भी लगे हुए हैं जिनका भार वहन करने मे ये उद्योग सर्वथा असमर्थ हैं। एक तो उनकी उत्पादन लागत अधिक होती है, दूसरी ओर करों के भार के कारण उनके द्वारा उत्पादित वस्तुएँ उपभोक्ता के लिए अधिक महँगी पडती हैं। इसका प्रभाव उनकी बिक्री पर पडता है। स्थानीय निकायो ने इन उद्योगो पर कई प्रकार के कर लगा रखे हैं। अत इन उद्योगो पर कर लगाने की इस प्रणाली में परिवर्तन लाना आवश्यक है। राज्य सरकारों को इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि कर प्रणाली मे एकरूपता हो तथा कर भार कम हो जिससे कुटीर तथा लघु उद्योगों की प्रगति में बाधा न पडे।

(१०) तैयार माल का निश्चित मापदण्ड—इन उद्योगो द्वारा उत्पादित एक ही प्रकार की वस्तु मे भिन्नता पायी जाती है। इस प्रकार एकरूपता की कमी के कारण उपभोक्ताओ को कठिनाई होती है तथा कारीगर भी वस्तुओ के गुण में सुधार नही कर पाते। अत इस बात की आवश्यकता है कि विभिन्न वस्तुओ के प्रमाप (standard) निश्चित किये जायें, जिससे उनके गुण (quality) पर नियन्त्रण रखा जा सके तथा उनके विपणन मे सरलता हो।

कुटीर एव लघु उद्योग तथा राजकीय प्रयत्न

स्वतन्त्रता प्राप्ति के पूर्व राजकीय नीति—स्वतन्त्रता प्राप्ति के पूर्व भारत मे विदेशी सरकार थी। इस सरकार की नीति भारतीय उद्योगो के प्रति द्वेषपूर्ण थी। इस नीति के कारण कुटीर एव लघु उद्योगों का पतन हुआ। बीसवी शताब्दी के प्रारम्भ से ही स्वदेशी आन्दोलन प्रारम्भ हुआ। सरकार ने इस भावना को कुचलने मे कोई कसर नही उठा रखी। परन्तु स्वदेशी आन्दोलन ने उन उद्योगों के लिए टॉनिक का कार्य किया। देश मे स्वदेशी वस्तुओ के प्रति प्रेम की लहर सी फैल गयी। सन् १९३४ मे ग्रामीण उद्योग सम्स्थान की स्थापना की गयी। उसी वर्ष अन्तरप्रान्तीय उद्योग सम्मेलन हुआ जिसमें करघा उद्योग की विकास समस्या पर विचार किया गया। सरकार ने गृह उद्योगों के विकास के लिए पाँच वर्ष के लिए प्रति वर्ष पाँच लाख रुपये व्यय करने की स्वीकृति दी। सन् १९३५ मे प्रान्तो मे उद्योग विभागो की स्थापना की गयी जिन्हें कुटीर उद्योगो के नियन्त्रण एव विकास का कार्यभार सौंपा गया। उसी वर्ष 'अखिल भारतीय काग्रेस' के तत्वावधान मे 'भारतीय ग्रामोद्योग सघ की स्थापना की गयी। सन् १९३७ मे विभिन्न प्रान्तों मे काग्रेस मन्त्रिमण्डलो ने

कार्य-भार सँभाला। इससे कुटीर उद्योग-धन्धों को पर्याप्त प्रोत्साहन मिला। सन् १९३९ में 'राष्ट्रीय योजना समिति' ने कुटीर उद्योग धन्धों की समस्याओं पर विचार किया। द्वितीय महायुद्ध के पूर्व इन उद्योगों के विकास के लिए जो प्रयत्न किये गये वे नाममात्र के थे तथा उनके द्वारा उद्योगों का सम्वर्द्धन नहीं किया जा सका।

स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् प्रयत्न—स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् भारत सरकार ने कुटीर तथा लघु उद्योगों के महत्त्व को भलीभाँति समझा। सन् १९४८ में एक कुटीर उद्योग बोर्ड सगठित किया गया। उसी वर्ष एक शिष्टमण्डल जापान भेजा गया जिसने जापान के कुटीर उद्योग धन्धों का अध्ययन किया। अप्रैल १९४८ में स्वतन्त्र भारत की प्रथम औद्योगिक नीति की घोषणा की गयी जिसमें कुटीर एवं लघु उद्योगों के क्षेत्र में सरकार द्वारा किये गये प्रयत्नों का अध्ययन निम्नलिखित शीर्षकों के अन्तर्गत किया जा सकता है

(क) निगमों तथा मण्डलों की स्थापना—कुटीर तथा लघु उद्योगों के विकास एवं नियन्त्रण का दायित्व मुख्यत राज्य सरकारों का है फिर भी केन्द्रीय सरकार ने इस क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण कार्य किया है। केन्द्रीय सरकार द्वारा किये गये कार्यों में विभिन्न मण्डलों तथा निगमों की स्थापना प्रमुख है जिनसे कुटीर एवं लघु उद्योगों को विभिन्न प्रकार के प्रोत्साहन प्राप्त हुए हैं :

(१) अखिल भारतीय कुटीर उद्योग बोर्ड, १९४८—इस बोर्ड का सन् १९५० में पुनर्गठन किया गया। इस बोर्ड के कार्य इस प्रकार है

(अ) कुटीर एवं लघु उद्योगों के विकास तथा सगठन के सम्बन्ध में केन्द्रीय सरकार को सलाह देना।

(ब) बड़े पैमाने के उद्योग तथा कुटीर एवं लघु उद्योगों में सामजस्य स्थापित करने के लिए सुझाव देना।

(स) इन उद्योगों से सम्बन्धित राज्य सरकारों की योजनाओं की जाँच करके आवश्यक सुझाव देना तथा उनकी योजनाओं में सामजस्य स्थापित करना।

(२) केन्द्रीय सिल्क बोर्ड (Central Silk Board)—इस बोर्ड की स्थापना रेशम उद्योग की देखभाल के लिए सन् १९४९ में की गयी थी। यह बोर्ड रेशम के कीड़े पालने की भी व्यवस्था करता है।

(३) अखिल भारतीय दस्तकारी बोर्ड (All India Handicrafts Board)—इस बोर्ड की स्थापना नवम्बर १९५२ में की गयी। यह बोर्ड दस्तकारी के उत्पादन तथा विपणन में आवश्यक सुधार लाने का कार्य करता है। यह बोर्ड वस्तुओं की बिक्री के लिए बिक्री केन्द्रों की व्यवस्था करता है। वर्तमान समय में यह बोर्ड देश में १९ पायलट केन्द्रों को सचालित कर रहा है, जिनमें प्रशिक्षण, अन्वेषण, परीक्षण व उत्पादन के क्षेत्र में कार्य किया जाता है। अलग कार्यों के लिए अलग-अलग केन्द्र स्थापित हैं। बोर्ड ने समय-समय पर विदेशी विशेषज्ञों की भी सहायता ली है। देश तथा विदेशों में बोर्ड द्वारा प्रदर्शनियाँ आयोजित की जाती हैं। बोर्ड के प्रयत्नों से दस्तकारियों के उत्पादन में पर्याप्त वृद्धि हुई है। इसके द्वारा लगभग १०० करोड़ रुपये की वस्तुओं का वार्षिक निर्माण किया जाता है।

(४) अखिल भारतीय हथकरघा बोर्ड (All India Handloom Board)—इस बोर्ड की स्थापना अक्टूबर १९५२ में की गयी। यह बोर्ड हथकरघा उद्योग के विकास के लिए कार्य करता है। इस बोर्ड ने हथकरघा उद्योग के विकास के लिए सहकारिता पर बहुत जोर दिया है तथा बुनकरों की सहकारी समितियाँ सगठित की गयी हैं। बोर्ड के तत्वावधान में एक केन्द्रीय बाजार सगठन भी कार्य करता है। यह सगठन हथकरघा उद्योग की वस्तुओं के लिए प्रचार कार्य करता है।

(५) अखिल भारतीय खादी तथा ग्रामोद्योग आयोग (All India Khadi and Village

Industries Board, 1953)—यह आयोग खादी तथा ग्राम उद्योगो के विकास के लिए कार्य करता है। इसके कार्यक्षेत्र के अन्तर्गत खादी, तेल, साबुन, चावल, दियासलाई, गुड, मधुमक्खी-पालन आदि ग्रामोद्योग सम्मिलित हैं। इन उद्योगो के विकास के लिए योजनाएँ बनाना तथा आवश्यक व्यवस्था करना इस बोर्ड का कार्य है। प्रत्येक राज्य मे भी खादी तथा ग्रामोद्योग मण्डल बनाये गये हैं।

(६) लघु उद्योग बोर्ड (Small Industries Board)—इस बोर्ड की स्थापना नवम्बर १९५४ मे अन्तरराष्ट्रीय योजना विशेषज्ञ दल के सुझावो के अनुसार की गयी। यह बोर्ड लघु उद्योगों के विकास के लिए योजनाएँ बनाता है तथा उन्हें कार्यान्वित करता है। बोर्ड द्वारा लघु उद्योगो को प्राविधिक सहायता तथा अन्य सुविधाएँ भी प्रदान की जाती हैं।

(७) नारियल जटा बोर्ड (Co l Board)—सन् १९५४ मे बोर्ड की स्थापना Coil In dustry Act, 1954 के अन्तर्गत की गयी। यह बोर्ड नारियल जटा से निर्मित वस्तुओ के प्रचार तथा उन्नति का कार्य करता है। इसके अतिरिक्त बोर्ड ने केरल मे एक अनुसन्धान सस्था की भी स्थापना की है।

केन्द्रीय सरकार ने निम्नलिखित निगमों की भी स्थापना की है

(१) राष्ट्रीय लघु उद्योग निगम (National Small Industries Corporation)—इस निगम का पजीयन (Registration) ४ फरवरी, १९५५ मे सयुक्त पूंजी कम्पनी के रूप मे किया गया। इसकी सम्पूर्ण पूंजी सरकार ने दी है। इसका उद्देश्य लघु उद्योगो का विकास करना, आर्थिक सहायता प्रदान करना तथा सरक्षण व अन्य प्रकार की सहायता प्रदान करना है। निगम की पूंजी १० लाख रूपये है, जो १०,००० अशो मे विभाजित है। इस निगम के मुख्य कार्य निम्न है·

(क) लघु उद्योगो को वित्तीय सहायता प्रदान करना।

(ख) केन्द्रीय तथा प्रान्तीय सरकारो से लघु तथा कुटीर उद्योगो के लिए आर्डर प्राप्त करना तथा उन्हे आर्डर मे समुचित हिस्सा दिलाना।

(ग) प्राप्त आर्डर की पूर्ति के लिए लघु उद्योगो को आवश्यक शिल्पिक एव आर्थिक सहायता देना।

(घ) लघु उद्योगो को अन्य सस्थाओ के प्राप्त ऋणो पर गारण्टी देना तथा उनके अशो का अभिगोपन करना।

(ङ) बडे पैमाने के उद्योगो तथा लघु उद्योगो मे सामजस्य स्थापित करना जिससे लघु उद्योग बडे उद्योगो के पूरक के रूप मे कार्य कर सकें।

केन्द्रीय सरकार निगम को समय समय पर ऋण तथा अनुदान देती रहती है। इस निगम के अतिरिक्त कई राज्यो मे राज्य स्तर पर लघु उद्योग निगम स्थापित किये गये हैं, जो लघु उद्योगो को शिल्पिक सहायता, कच्चा माल तथा अन्य सुविधाएँ दिलाने मे मदद करते हैं तथा उनके द्वारा उत्पन्न माल की बिक्री की भी व्यवस्था करते हैं। यह निगम लघु उद्योगो को भाडा-बिक्री (Hire Purchase) के आधार पर मशीनें भी प्रदान करता है।

(२) भारतीय दस्तकारी विकास निगम—इस निगम की स्थापना भारत सरकार द्वारा अप्रैल १९५८ मे दस्तकारियो के विकास के लिए की गयी। निगम के कार्य तथा उद्देश्य निम्नलिखित हैं.

(क) व्यापारिक आधार पर दस्तकारी की वस्तुओ के उत्पादन को सगठित करना तथा कारीगरो को अधिक मात्रा में उत्पादन करने के लिए प्रेरित करना।

(ख) कारीगरो द्वारा उत्पादित माल की बिक्री की व्यवस्था करना।

(ग) उत्पादन के उन्नतिशील तथा आधुनिक तरीकों को अपनाने तथा उत्तम प्रबन्ध व्यवस्था करने मे कारीगरो की सहायता करना जिससे वे उत्पादन मे वृद्धि कर सकें।

(ख) आर्थिक सहायता तथा ऋण सुविधाएँ—लघु उद्योगो तथा कुटीर उद्योगो को पूँजी प्राप्त करने तथा अन्य प्रकार की आर्थिक सहायता के क्षेत्र मे सरकार द्वारा सराहनीय प्रयत्न किये गये हैं। गत वर्षों म इन उद्योगो की वित्तीय आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए निम्न प्रकार साधन बढाये गये हैं

(१) उद्योगो को राजकीय सहायता अधिनियम के अन्तर्गत ऋण प्रदान करना—State Aid to Industries Act के अन्तर्गत लघु एव कुटीर उद्योगो को ऋण प्रदान किया जाता है। इस एक्ट के अन्तर्गत दिये जाने वाले ऋणो की राशि मे निरन्तर वृद्धि हुई है।

(२) स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया—इस बैंक ने लघु उद्योगो की वित्तीय आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए एक अग्रगामी योजना (Pilot Scheme) चालू की है। यह योजना स्टेट बैंक की सभी शाखाओ म चालू है। योजना के अन्तर्गत स्वीकृत ऋण की राशि पर बैंक रियायती दर पर ब्याज लेता है। बैंक औद्योगिक विस्तार तथा नवीनीकरण के लिए अधिकतम सात वर्षों के लिए मध्यावधि ऋण भी प्रदान करता है। स्टेट बैंक ने ऋण देने की शर्तें उदार रखी हैं तथा ऋण का भुगतान लेने की प्रक्रिया भी सरल कर दी है।

स्टेट बैंक तथा उसके सहायक बैंकों द्वारा लघु उद्योगो को दी गयी सहायता का ब्यौरा निम्नलिखित है

लघु उद्योगों को सहायता (३१ दिसम्बर, १९७०)

	स्टेट बैंक	सहायक बैंक
१ सहायता प्राप्त इकाइयों की सख्या	३४,०००	१७,०००
१ ऋण स्वीकृतियाँ (करोड रु०)	२११	४५
३ ऋण शेष (करोड रु०)	११४	२७

इससे स्पष्ट है कि ३१ दिसम्बर १९७० को स्टेट बैंक और उसके सहायक बैंको द्वारा लघु उद्योगो को दिये गय ऋण शेष (outstanding) की राशि लगभग १४१ करोड रुपये थी।

(३) रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया—लघु उद्योगो की सहायता के लिए एक और महत्त्वपूर्ण योजना रिजर्व बैंक आफ इण्डिया की साख गारण्टी योजना है। यह योजना प्रयोग के रूप में १ जुलाई, १९६० से चालू की गयी थी। इस योजना के अनुसार गारण्टी देने वाली सस्था अर्थात् रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया और उधार देने वाली सस्था आपस मे मिलकर जोखिम उठाती है। प्रारम्भ में यह योजना केवल ५२ जिलों तक सीमित थी किन्तु अब यह पूरे देश मे लागू कर दी गयी गयी है। इसके अनुसार रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया चुनी हुई ९३ ऋणदात्री संस्थाओं द्वारा लघु उद्योगों को दिये जाने वाले ऋणों के लिए गारण्टी देता है। इनमे स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया तथा उसके सहायक बैंकों के अतिरिक्त अनुसूचित बैंक, राज्य सहकारी बैंक, सहकारी वित्त निगम और मद्रास इण्डस्ट्रियल इनवेस्टमेण्ट कारपोरेशन सम्मिलित है। इस योजना के अन्तर्गत १९७० तक लघु उद्योगों मे बाकी ऋणों की रकम ७१६ करोड रुपये थी।

(४) राज्य वित्त निगम—इन निगमो की स्थापना विभिन्न राज्यो मे सन् १९५१ के 'राज्य वित्त निगम अधिनियम' के अन्तर्गत की गयी है। ये निगम भी लघु उद्योगो को ऋण प्रदान करते हैं।

(५) राष्ट्रीय लघु उद्योग निगम—यह निगम लघु उद्योगो मे लगे संस्थानो (units) द्वारा निर्मित माल के ठेके लेने की व्यवस्था करता है। इस निगम से ८,४३२ लघु औद्योगिक सस्थान सम्बन्धित हैं। जनवरी १९५९ से यह निगम स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया द्वारा दिये गये ऋणो की गारण्टी

देता है। निगम लघु उद्योगों को मशीनें किराया क्रय-पद्धति पर देता है। इसके बदले में अगस्त १९६० से निगम ५ प्रतिशत सेवा चार्ज लेता है। इस निगम की शाखाएँ भी केन्द्रीय सरकार से ऋण तथा अनुदान प्राप्त करती हैं और लघु उद्योगों को वित्तीय सहायता प्रदान करती हैं। इस निगम ने अमरीका के Development Loan Fund से १०० लाख डालर ऋण प्राप्त किया है।

(६) औद्योगिक सहकारी समितियाँ—ग्रामीण कारीगरों को सहायता देने के लिए तथा उनकी वित्तीय आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए औद्योगिक सहकारी समितियाँ भी ऋण देती हैं। इस प्रकार की सहकारी समितियाँ हथकरघा उद्योग में अधिक प्रचलित हैं।

प्राविधिक सहायता—लघु उद्योगों को सरकार द्वारा प्राविधिक सहायता भी दी जाती है। औद्योगिक विस्तार सेवा का आयोजन इसी उद्देश्य से किया गया है। इस योजना के अन्तर्गत १६ लघु उद्योगशालाएँ और ६ प्रादेशिक सेवाशालाएँ स्थापित की गयी हैं। फोर्ड फाउण्डेशन की सहायता से भारतीय विशेषज्ञ विदेशों में प्रशिक्षण के लिए भेजे जाते हैं तथा प्राविधिक सलाह के लिए विदेशी विशेषज्ञ आमन्त्रित किये जाते हैं। औद्योगिक प्रसारण केन्द्र' उद्योगों को प्राविधिक सुविधाएँ प्रदान करते हैं। 'केन्द्रीय लघु उद्योग संगठन' द्वारा नियमित रूप से विभिन्न प्रशिक्षण कार्यक्रम चलाये जाते हैं। इस संगठन ने लघु उद्योग को विभिन्न औद्योगिक कार्यों के लिए वर्कशाप और माल की जाँच के लिए प्रयोगशाला की सुविधाएँ देने का प्रबन्ध किया है। ये सुविधाएँ देश भर में लघु उद्योग सेवा संस्थानों और विस्तार केन्द्रों से सम्बन्धित वर्कशापों और प्रयोगशालाओं में दी जाती हैं। 'सामुदायिक विकास खण्डों तथा 'राष्ट्रीय प्रसार सेवा केन्द्रों' के विकास अधिकारियों को भी प्रशिक्षण दिया जाता है, जिससे वे अपने क्षेत्र में उद्योगों का विकास कर सकें। प्रत्येक खण्ड (block) में एक उद्योग विकास अधिकारी (A. D O Industries) नियुक्त किया गया है जो अपने खण्ड में उद्योगों के सम्बन्ध में सलाह देता है तथा आवश्यक सहायता की व्यवस्था करता है।

औद्योगिक बस्तियाँ (Industrial Estates)—कुटीर तथा लघु उद्योगों की उन्नति के लिए देश के विभिन्न भागों में औद्योगिक बस्तियाँ स्थापित की गयी हैं। इन बस्तियों की स्थापना के लिए केन्द्रीय सरकारें प्रान्तीय सरकारों को ऋण देती है। प्रथम औद्योगिक बस्ती की स्थापना जनवरी सन् १९५५ में सौराष्ट्र में भक्तिनगर में की गयी। अगस्त सन् १९६९ तक भारत में कुल ५०१ औद्योगिक बस्तियाँ विभिन्न अवस्थाओं में थी। इसमें से ३२२ का पूर्ण रूप से निर्माण किया जा चुका है तथा इनमें से २६५ बस्तियों में उत्पादन किया जा रहा है। १७५ औद्योगिक बस्तियाँ निर्माण की विभिन्न अवस्थाओं में हैं। अब तक सरकार इस कार्यक्रम पर ४२ करोड रुपये व्यय कर चुकी है। चतुर्थ योजना काल में २४७ नयी औद्योगिक बस्तियों का निर्माण १,८१५ करोड रुपये की लागत से किया जायेगा। इन औद्योगिक बस्तियों में किसी ग्रामीण क्षेत्र में विभिन्न लघु उद्योगों को एक ही स्थान पर संगठित किया जाता है। औद्योगिक विकेन्द्रीयकरण की दिशा में यह प्रयत्न अत्यन्त ही सराहनीय है।

(७) व्यापारिक बैंक—भारत के अनुसूचित बैंक लघु उद्योगों को सदा से ऋण देते आ रहे हैं परन्तु मार्च १९६७ में लघु उद्योगों की परिभाषा में परिवर्तन आ जाने के पश्चात इस ऋण में विशेष प्रगति आ गयी है। इस प्रगति का अनुमान निम्नलिखित अंकों से लग सकता है .

अनुसूचित बैंकों द्वारा भारतीय लघु उद्योगों को ऋण (करोड रुपये)

दिसम्बर	१९६०	(शेष)	२८
,,	१९६३	,,	४८
मार्च	१९६६	,,	६१
दिसम्बर	१९७०	,,	४६७

इससे स्पष्ट है कि लघु उद्योगों के लिए बैंकों की नीति पहले से अधिक उदार हो रही है। यह निश्चय ही एक शुभ लक्षण है।

विपणन सम्बन्धी सुविधाएँ

कर्वे कमेटी ने सन् १९५५ में यह सुझाव दिया था कि कुटीर तथा लघु उद्योगों द्वारा निर्मित माल के विक्रय के लिए सहकारी विपणन समितियों को संगठित करना चाहिए। इस सुझाव के अनुसार देश के विभिन्न भागों में सहकारी विपणन समितियों एवं विपणन संघों को संगठित किया गया है। अप्रैल १९४९ में ही केन्द्रीय सरकार ने Central Cottage Industries Emporium की स्थापना की थी। यह एम्पोरियम देश तथा विदेशों में कुटीर उद्योगों द्वारा उत्पादित माल के विपणन कार्य में सहायता देता है। विभिन्न प्रान्तों में भी कुटीर उद्योगों द्वारा निर्मित माल की बिक्री के लिए एम्पोरियम स्थापित किये गये हैं। इनके द्वारा विपणन कार्य में काफी सहायता मिलती है।

मिला-जुला उत्पादन कार्यक्रम
(COMPOSITE PRODUCTION)

प्रथम पंचवर्षीय योजना काल में बड़े पैमाने के उद्योग, लघु उद्योग तथा कुटीर उद्योगों के लिए सम्मिलित उत्पादन का कार्यक्रम अपनाया गया। इस कार्यक्रम का मुख्य उद्देश्य बड़े उद्योग, लघु उद्योग तथा कुटीर उद्योगों की पारस्परिक स्पर्धा को समाप्त करना है। इसके अतिरिक्त बड़े पैमाने के उद्योग, लघु उद्योग तथा कुटीर उद्योगों के बीच एक वस्तु का अलग-अलग उत्पादन निर्धारित किया जाता है। प्रत्येक के लिए उत्पादन क्षेत्र सुरक्षित कर दिया जाता है। इस कार्यक्रम को कार्य रूप देने के लिए बड़े उद्योगों की उत्पादन-क्षमता विस्तार पर रोक लगायी जाती है तथा बड़े उद्योगों के उत्पादन पर एक प्रकार का कर (Cess) लगाया जाता है, जिससे प्राप्त आय का उपयोग सम्बन्धित कुटीर तथा लघु उद्योग के विकास के लिए किया जाता है। इस कार्यक्रम द्वारा कुटीर एवं लघु उद्योग बहुत लाभान्वित हुए हैं।

इस प्रकार स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् सरकार द्वारा कुटीर एवं लघु उद्योगों के विकास के लिए महत्त्वपूर्ण कार्य किये गये हैं। इन उद्योगों के विकास के लिए हर प्रकार की सहायता देना तथा सुविधाएँ प्रदान करना सरकार की नीति का मूलाधार है।

पंचवर्षीय योजनाओं में कुटीर तथा लघु उद्योग

पंचवर्षीय योजनाओं में कुटीर तथा लघु उद्योगों को महत्त्वपूर्ण स्थान दिया गया है। सन् १९५०-५१ से १९७३-७४ तक कुटीर तथा लघु उद्योगों के क्षेत्र में किये गये प्रावधान/व्यय का विवरण निम्न सारिणी में दिया जा रहा है

योजनाओं के अन्तर्गत कुटीर व लघु उद्योग

(करोड़ रुपयों में)

योजना	प्रावधान व्यय	योजना के कुल व्यय का प्रतिशत भाग
प्रथम योजना (वास्तविक)	४२·०	२ १
द्वितीय योजना (,,)	१८७ ०	४ १
तृतीय योजना (,)	२२० ०	२ ६
चतुर्थ योजना ( )	२९३ ०	१ ८

प्रथम पंचवर्षीय योजना—प्रथम पंचवर्षीय योजना के अन्तर्गत कुटीर एवं लघु उद्योगों के विकास के लिए ४३ करोड़ रुपये की व्यवस्था की गयी थी। वास्तविक व्यय ४२ करोड़ रुपये था। योजना काल में इन उद्योगों के क्षेत्र में दो महत्त्वपूर्ण कार्य किये गये। प्रथम, इन उद्योगों के

जनाबद्ध विकास के लिए कुछ अखिल भारतीय बोर्डों की स्थापना की गयी (जिनका विवरण पहले या जा चुका है) तथा द्वितीय, सन् १९५५ में कर्वे समिति की, जिसने इन उद्योगो के विकास के ए महत्त्वपूर्ण सुझाव दिये।

द्वितीय पचवर्षीय योजना—द्वितीय पचवर्षीय योजना मे कुटीर तथा लघु उद्योगो को और अधिक महत्त्व प्रदान किया गया। योजना आयोग ने इन उद्योगो के महत्त्व पर प्रकाश डालते र कहा था—"द्वितीय योजना का एक मुख्य उद्देश्य रोजगार देना है। छोटे पैमाने के तथा ामीण उद्योगो के द्वारा अधिक व्यक्तियों को काम मिलता है। उतनी ही पूंजी लगाकर इन उद्योगो बडे उद्योगो की अपेक्षा कही अधिक व्यक्ति खपाये जा सकते है। इन उद्योगो से ग्रामों की र्थ व्यवस्था का अधिक सन्तुलित तथा समन्वित विकास हो पाता है। इन कारणो से द्वितीय पच- र्षीय योजना मे छोटे तथा ग्रामीण उद्योगो पर विशेष जोर डाला गया।"

द्वितीय योजना-काल में प्रगति—द्वितीय पचवर्षीय योजनाकाल मे कुटीर तथा लघु उद्योगो र १८७ करोड रुपये व्यय किये गये। इस अवधि मे कुटीर उद्योग तथा कुछ अशो तक हथकरघा द्योग का विकास ग्रामीण क्षेत्रो मे हुआ जबकि लघु उद्योगो का विकास ग्रामीण क्षेत्रो मे नही, बल्कि डे कस्बो तथा शहरों मे ही हुआ।

सन् १९५१-१९६१ की अवधि मे हथकरघा उद्योग द्वारा लगभग ३० लाख बुनकरो को र्ण रोजगार मिला। खादी कार्यक्रम मे लगभग १४ लाख अतिरिक्त कताई करने वालो को दिन मे छ समय के लिए रोजगार मिला।

लघु उद्योगो के क्षेत्र मे दूसरी योजना की अवधि मे कई छोटे उद्योगो जैसे मशीनी औजार, सिलाई मशीनें, बिजली के पखो, मोटरो, इमारती नल व सामान और अन्य औजारो सम्बन्धी उद्योगो मे विशेष वृद्धि हुई है। इन उद्योगो के उत्पादन में २५ से ५० प्रतिशत वार्षिक वृद्धि का अनुमान लगाया गया है।

तृतीय योजना मे कुटीर एव लघु उद्योग—तीसरी योजना मे इन उद्योगो पर कुल २६४ करोड रुपये व्यय करने की व्यवस्था थी किन्तु वास्तविक व्यय २२० करोड रुपये हुआ।

सन् १९६८-६९ तक १,४०,००० लघु इकाइयाँ रजिस्टर हो चुकी थी, और इसी वर्ष केन्द्रीय सरकार द्वारा लघु इकाइयो से खरीदे गये माल का मूल्य लगभग २९ करोड रुपये था।

हथकरघा उद्योग से ३० लाख बुनकरो को काम मिल गया और इस उद्योग से उत्पन्न वस्त्र का निर्यात १२ करोड रुपये वार्षिक तक पहुँच गया।

खादी तथा ग्रामोद्योग—सन् १९६८-६९ तक विभिन्न प्रकार की खादी का उत्पादन लगभग ९ करोड वर्ग मीटर तक पहुंच गया और इस उद्योग द्वारा लगभग १४ लाख व्यक्तियों को अशकालिक रोजगार मिल गया।

चतुर्थ योजना—इस योजना की अवधि मे लघु उद्योगो ने उत्पादन तकनीक मे सुधार करने को प्रोत्साहन दिया जायगा तथा देश के अधिक से अधिक क्षेत्र मे लघु उद्योगो का विकास किया जायगा।

चतुर्थ योजना मे लघु तथा ग्रामीण उद्योगो पर २९३ करोड रुपया व्यय किया जायगा। इनमे लघु उद्योग, औद्योगिक सम्पदाएँ, हथकरघा, शक्तिचलित करघा, रेशम, नारियल का रेशा उद्योग, दस्तकारी आदि उद्योगो को सहायता देने को कार्यक्रम है।

प्रश्न

१ "भारत की वर्तमान आर्थिक स्थिति मे भारी, लघुकाय तथा अन्य सभी प्रकार के उद्योगो का साथ-साथ विकास करना आवश्यक है।" क्या आप इस कथन से सहमत है ? तर्क सहित उत्तर दीजिए। (आगरा, बी० ए०, १९५६, १९५९)

२ 'तृतीय योजना में भारी तथा बड़े पैमाने के उद्योगों की तुलना में लघु तथा कुटीर उद्योगों को अधिक महत्त्व दिया जाना चाहिए।" इस कथन का विवेचन कीजिए।

(आगरा, बी० ए०, १९६०)

३ भारत में लघु उद्योगों की क्या समस्याएँ हैं? उनको प्रोत्साहन देने की दृष्टि से भारत सरकार ने क्या किया है?

(बिहार, बी० ए०, १९६१; राजस्थान, बी० ए०, १९६१, विक्रम, बी० ए०, १९६२)

४ भारत में लघु तथा कुटीर उद्योगों की वर्तमान स्थिति एवं भविष्य की सम्भावनाओं पर प्रकाश डालिए। (बिहार, बी० ए०, १९६३)

५ भारत में लघु उद्योगों के महत्त्व पर प्रकाश डालिए तथा भारतीय आयोजन में सरल, सस्ते तथा घरेलू साधनों के संग्रह पर प्रकाश डालिए। (बिहार, बी० ए०, १९६३)

६ भारतीय अर्थ व्यवस्था में कुटीर तथा लघु उद्योगों के कार्य पर प्रकाश डालिए। उनके विकास के लिए तृतीय योजना में क्या कार्य किये गये हैं? स्पष्ट कीजिए।

(मगध, बी० ए०, १९६३)

७ सरकार द्वारा लघु तथा कुटीर उद्योगों के विकास के लिए क्या कार्यवाहियाँ की गयी हैं? इनमें कहाँ तक सफलता मिली है? लिखिए।

(नागपुर, बी० कॉम० (द्वितीय वर्ष) १९६४)

४ भारतीय अर्थ-व्यवस्था में कुटीर उद्योगों के महत्त्व पर प्रकाश डालिए। इनके यथोचित विकास में आने वाली बाधाओं का विवेचन कीजिए।

(राजस्थान, बी० ए० (प्रथम वर्ष), १९६४)

६ भारत की पंचवर्षीय योजनाओं में कुटीर और लघु उद्योगों को क्या स्थान समर्पित हुआ है? उनकी सफलताओं और विफलताओं का वर्णन कीजिए।

(राजस्थान, बी० कॉम० (अन्तिम वर्ष), १९६७)

१० भारत सरकार ने कुटीर उद्योग के विकास के लिए क्या विशेष उपाय किये? आपके विचार से क्या यह सब उपाय कुटीर उद्योग को प्रबल स्वावलम्बी तथा आर्थिक इकाई बना सकते हैं। (इलाहाबाद, बी० कॉम० (प्रथम वर्ष), १९६१)

११ भारत के आर्थिक जीवन में कुटीर और लघु उद्योगों का महत्त्व बतलाइए तथा उन उद्योगों की मुख्य समस्याओं की व्याख्या कीजिए। (राजस्थान, बी० कॉम० (अन्तिम वर्ष), १९७१)

28 भारत के प्रमुख बड़े उद्योग

(MAJOR INDUSTRIES OF INDIA)

भारत के प्रमुख उद्योगों में से कुछ का आरम्भ उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में हुआ परन्तु उनका वास्तविक विकास बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में ही हुआ। भारत के वार्षिक औद्योगिक सर्वेक्षण की नवीनतम रिपोर्ट से निम्नलिखित तथ्य प्रकाश में आये हैं जिनसे देश में बड़े उद्योगों के महत्त्व का पता लगता है

(१) इन उद्योगों में लगभग ६,४४८ करोड़ रुपये की उत्पादक पूंजी लगी हुई है।

(२) इनमें ३६·८६ लाख व्यक्ति नियोजित हैं।

(३) यह वेतन और मजदूरी के रूप में प्रतिवर्ष लगभग ६७० करोड़ रुपये का भुगतान करते हैं।

(४) इनका वार्षिक उत्पादन मूल्य ६,४६२ करोड़ रुपये है। देश के प्रमुख उद्योगों में सूती वस्त्र, चीनी, लोहा-इस्पात, जूट, कोयला, सीमेण्ट, कागज, रसायन, खनिज तेल तथा इंजीनियरी उद्योग हैं। प्रस्तुत अध्याय में इन उद्योगों का ब्यौरा दिया जा रहा है।

१. सूती वस्त्र उद्योग
(COTTON MILL INDUSTRY)

सूती वस्त्र उद्योग भारत का श्रेष्ठतम उद्योग है। रोजगार की दृष्टि से कृषि के पश्चात् इसी का स्थान आता है। इस उद्योग में लगभग १५७ करोड़ रुपये की पूंजी लगी हुई है तथा वार्षिक उत्पादन मूल्य लगभग ४०० करोड़ रुपये है। इस उद्योग की मिलों में ८ लाख से कुछ अधिक श्रमिक काम करते हैं। देश की राष्ट्रीय अर्थ-व्यवस्था में इस उद्योग का अत्यन्त ही महत्त्व-पूर्ण स्थान है। प्रो० बुकानन के शब्दों में, सूती वस्त्र उद्योग भारत के प्राचीन युग का गौरव' अतीत और वर्तमान में कष्टों का कारण, किन्तु सदा की आशा है।

संक्षिप्त इतिहास—भारत अपने सूती वस्त्र उद्योग के लिए प्राचीनकाल में विश्वविख्यात था। परन्तु आधुनिक रूप में उद्योग का प्रारम्भ सन् १८५४ से हुआ। वैसे प्रथम सूती मिल सन् १८१८ में कलकत्ता के पास घुसरी नामक स्थान पर बनी थी, सन् १८५४ में श्री कावजी डावर ने बम्बई में सूती मिल प्रारम्भ की। धीरे-धीरे इस उद्योग का विकास बम्बई तथा अहमदाबाद में होने लगा। तत्पश्चात् शोलापुर, कानपुर, मद्रास, नागपुर आदि में इस उद्योग का विकास हुआ।

उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम चरण में भारत में कई बड़े अकाल पड़े, जिनका सूती वस्त्र उद्योग पर बुरा प्रभाव पड़ा। १९०७ से इस उद्योग को कुछ राहत मिली। उस समय कुल मिलों की संख्या २२४ थी। स्वदेशी आन्दोलन, विद्युतशक्ति का आविष्कार, बढ़ी हुई मांग तथा दाम के

धन्धों में वृद्धि आदि के कारण उद्योग उन्नति करने लगा। सन् १९१४ में मिलों की संख्या २७१ हो गयी तथा संसार के सूती वस्त्र उद्योग में भारत का चतुर्थ स्थान हो गया।

प्रथम महायुद्ध के पश्चात्—प्रथम महायुद्ध काल भारतीय उद्योगों के लिए वरदान सिद्ध हुआ। बढ़ी हुई मांग, ऊँचा मूल्य तथा अनुकूल परिस्थितियों से सूती वस्त्र उद्योग ने लाभ उठाया। युद्ध के उपरान्त भारत में किस्म (quality) पर अधिक ध्यान दिया गया। सन् १९२० के पश्चात् जापान की प्रतिस्पर्द्धा तेज होने लगी। इसका अनुमान इस तथ्य से लगाया जा सकता है कि सन् १९१८-१९ में जापान से भारत में कपड़े का आयात २३.८ करोड़ गज था, जो बढ़कर सन् १९२८-२९ में ५६.२ करोड़ गज हो गया। सन् १९२९ की आर्थिक मन्दी ने उद्योग पर बुरा असर डाला। यह स्थिति १९३७-३८ तक चलती रही। द्वितीय युद्धकाल से वस्त्र की आन्तरिक तथा विदेशी मांग में आशातीत वृद्धि हुई। अतः मिलों की संख्या जो १९३८ में ३८० थी १९४६ में ४२१ हो गयी।

द्वितीय विश्वयुद्ध के पश्चात्—युद्ध के पश्चात् परिस्थितियों में परिवर्तन हुआ। जनवरी १९४८ से वस्त्र वितरण पर से नियन्त्रण हटा दिया गया परन्तु मूल्य में अधिक वृद्धि होने के कारण जुलाई १९४८ में उत्पादन तथा वितरण पर पुनः नियन्त्रण लगा दिया गया। युद्ध के पश्चात् इस उद्योग को कई प्रमुख समस्याओं का सामना करना पड़ा। औद्योगिक अशान्ति, मजदूरी में वृद्धि, कपास की कमी तथा मशीनों की पुनर्स्थापना आदि समस्याओं ने इस उद्योग की प्रगति में बाधा उपस्थित की। देश विभाजन के कारण ३८० मिलें भारत तथा १४ मिलें पाकिस्तान के हिस्से में पड़ीं परन्तु कपास पैदा करने का ४०% क्षेत्र पाकिस्तान में चला गया। अविभाजित भारत कपास का निर्यात करता था, परन्तु अब कपास का आयात करना पड़ा। सन् १९४९ में भारत ने रुपये का अवमूल्यन किया परन्तु पाकिस्तान ने सन् १९५५ तक अपनी मुद्रा का अवमूल्यन नहीं किया साथ ही साथ व्यापारिक समझौतों के अन्तर्गत किये गये वायदों का भी पालन नहीं किया गया। इससे वस्त्र उद्योग की कठिनाइयाँ और बढ़ गयी। सन् १९५० का वर्ष भी हड़ताल तथा कपास की कमी के कारण अच्छा नहीं रहा।

पंचवर्षीय योजनाओं में सूती वस्त्र उद्योग का विकास

प्रथम पंचवर्षीय योजना—प्रथम योजना बनाते समय इस बात का ध्यान रखा गया कि सूती वस्त्र उद्योग द्वारा देश की आन्तरिक मांग की पूर्ति हो सके तथा पर्याप्त मात्रा में निर्यात भी किया जा सके। उद्योग का विकास पूर्णतया निजी क्षेत्र पर छोड़ दिया गया।

प्रथम योजना के प्रारम्भ में प्रति व्यक्ति कपड़े की खपत लगभग ११ मीटर थी, परन्तु योजना के अन्त में प्रति व्यक्ति वार्षिक औसत खपत बढ़कर १४.७ मीटर हो गयी।

द्वितीय योजना—योजना आयोग ने यह लक्ष्य निर्धारित किया कि देश में वस्त्र की प्रति व्यक्ति वार्षिक खपत १४.७ मीटर से बढ़कर १७.२ हो जानी चाहिए ताकि प्रति वर्ष १०० करोड़ मीटर कपड़े का निर्यात किया जा सके। इस प्रकार सन् १९६०-६१ तक कुल आवश्यकता का अनुमान ८०० करोड़ मीटर वार्षिक लगाया गया था। इसमें मिल, हथकरघा तथा शक्तिचालित करघा तीनों का उत्पादन सम्मिलित था। मिलों का उत्पादन लक्ष्य ४६५ करोड़ मीटर रखा गया। कपास उत्पादन का लक्ष्य ५५ लाख गांठ वार्षिक रखा गया।

सन् १९५८ में सरकार ने श्री डी० ए० रमन की अध्यक्षता में 'सूती वस्त्र जाँच समिति' (Textile Enquiry Committee) नियुक्त की। इस समिति ने वस्त्र उद्योगों पर उत्पादन-कर कम करने, नवीनीकरण (rationalization) करने तथा स्वचालित करघे लगाने का सुझाव दिया। जुलाई १९५८ से सरकारी उत्पादन कर में कमी की गयी जिसमें निर्यात को प्रोत्साहन मिला।

तृतीय पंचवर्षीय योजना—तृतीय योजना के अन्त तक ८७० करोड़ मीटर कपड़े की आवश्यकता का अनुमान लगाया गया जिसमें से ८०० करोड़ मीटर कपड़ा आन्तरिक उपभोग तथा

७० करोड मीटर कपडा निर्यात के लिए था। इसमें से ५४० करोड मीटर कपडा मिलों द्वारा तथा शेष ३३० करोड मीटर करघे आदि द्वारा बनाने का अनुमान था। योजना के अन्त में कपडे का प्रति व्यक्ति औसत उपभोग १६.४ मीटर हो जाने का प्रावधान रखा गया।

प्रगति एव वर्तमान स्थिति—योजनाकाल मे भारत के सूती वस्त्र (मिल) उद्योग की प्रगति का व्यौरा निम्नलिखित है

सूती वस्त्र मिल उद्योग की प्रगति

वर्ष	मिलों की सख्या	वस्त्र का कुल उत्पादन	मिलों द्वारा उत्पादन (करोड मीटर)	हथकरघा व अन्य (करोड मीटर)	प्रति व्यक्ति वस्त्र उपलब्धि (मीटर)
१९५१	३७८	४७४	३७३	१०१	१० ९९
१९५६	४१२	६५२	४८६	१६६	१४ ७१
१९६१	४७९	७०७	४७०	२३७	१४ ७४
१९६६	५७५	७३४	४२४	३१०	१३ ७८
१९६९	६५६	७७४	४२१	३५३	१४ ३३

सन् १९६९ मे भारत मे वस्त्र का कुल उत्पादन ७७४ करोड मीटर हुआ, जिसमे मिलो का उत्पादन ४२१ करोड मीटर था।

उपर्युक्त तालिका मे भारतीय सूती वस्त्र उद्योग के सम्बन्ध मे निम्नलिखित तथ्य प्रकाश मे आते हैं

(१) सन् १९५१ से १९६९ तक सूती वस्त्र मिलो की सख्या ३७८ से बढकर ६५६ हो गयी। इस सम्बन्ध मे एक उल्लेखनीय तथ्य यह है कि इन ६५६ मे से ३५० केवल कातने वाली तथा ३०६ सयुक्त मिलें थी।

(२) वस्त्र का उत्पादन योजना के लक्ष्यों की पूर्ति करने मे असफल रहा है। इसीलिए वस्त्र की प्रति व्यक्ति उपलब्धि १४ मीटर से कुछ अधिक ही हो पायी है।

(३) देश मे वस्त्र के कुल उत्पादन में १९५१ मे हथकरघा तथा शक्तिचालित करघा क्षेत्र का कुल भाग केवल २१ प्रतिशत था जो १९६९ मे बढकर ४५ प्रतिशत से कुछ अधिक हो गया है। इससे स्पष्ट है कि देश के कुल उत्पादन मे मिल क्षेत्र का भाग निरन्तर कम होता जा रहा है।

सूती वस्त्र उद्योग और विदेशी मुद्रा—भारतीय सूती वस्त्र उद्योग किसी समय विदेशी मुद्रा के अर्जन मे महत्वपूर्ण स्थान रखता था। द्वितीय युद्ध के बहुत समय पश्चात् तक सूती वस्त्र निर्यात मे भारत का स्थान जापान के पश्चात् दूसरा था किन्तु अब यह चौथा रह गया है क्योकि हागकोग तथा मार्क्सवादी चीन के वस्त्र निर्यात मे बहुत वृद्धि हो गयी है।

वर्तमान मे ससार के कुल वस्त्र निर्यात के ७.५ प्रतिशत से ९ प्रतिशत तक वस्त्र भारत से निर्यात होता है। भारत अपने कुल वस्त्र उत्पादन का लगभग १० प्रतिशत ही निर्यात कर पा रहा है। गत वर्षों मे भारतीय वस्त्र के निर्यात की मात्रा मे निरन्तर गिरावट आ रही है और सूत के निर्यात मे कुछ वृद्धि हो रही है जिसका अनुमान निम्नलिखित तथ्यो से लग सकता है.

भारत की मिलों द्वारा सूत व कपडे का निर्यात

वर्ष	सूत (मिलियन किलोग्राम)	वस्त्र (मिलियन मीटर)
१९५६	—	६८०
१९६१	७	५२५
१९६६	१६	४२४
१९६९	३३	४१८

तालाबन्दी—सन् १६६२ मे भारत पर चीनी आक्रमण मे मिलो के सामने अनेक कठिनाइयाँ उत्पन्न हो गयी जिनसे अनेक मिलो मे तालाबन्दी करनी पडी। १६६८ मे ७२ मिलें बन्द हो गयी थी। इस स्थिति के मुख्य कारण (१) रुई की कमी, (२) रुई का महँगापन, (३) मजदूरी तथा महँगाई-भत्ते मे निरन्तर वृद्धि, तथा (४) उत्पादन कर मे निरन्तर वृद्धि होना है। इन सभी कारणो से सूती वस्त्र उद्योग के लाभ मे बहुत कमी हुई है और अनेक मिलो को हानि होने के कारण बन्द होना पडा है।

१ मार्च, १६६६ से मिल कपडे पर उत्पादन कर मे पर्याप्त छूट दी गयी और विकास रिबेट देने का भी निश्चय किया गया। इससे वस्त्र मिलो को राहत मिली है। इसीलिए १६७० में बन्द मिलो के खुलने का कार्यक्रम आरम्भ हो गया है।

राष्ट्रीय टेक्सटाइल निगम (National Textile Corporation)

सूती वस्त्र उद्योग की प्रगति की दिशा मे इस निगम की स्थापना एक महत्त्वपूर्ण कदम है। इस निगम की स्थापना सितम्बर १६६८ मे, दस करोड रुपये की अधिकृत पूँजी के साथ की गयी। निगम के प्रमुख कार्य (i) कमजोर मिलो को अपनी प्रबन्ध व्यवस्था के अन्तर्गत लेना, (ii) मिलो के आधुनिकीकरण के लिए ऋण देना तथा (iii) भविष्य मे नयी मिलो की स्थापना करना है। निगम न अनुमान लगाया है कि केवल आधुनिकीकरण के लिए ३५० करोड रुपये की आवश्यकता होगी। इसके लिए निगम वित्तीय सस्थाओ से सम्पर्क स्थापित कर रहा है। निगम केवल उन्ही कमजोर मिलो को अपने प्रबन्ध मे लेता है, जिनमे सुधार की सम्भावना रहती है। अब तक निगम २४ मिलो को अपनी प्रबन्ध व्यवस्था के अन्तर्गत ले चुका है। जो मिलें बन्द हैं, उन्हें पुन चालू करने के लिए निगम न उनकी कार्यशील पूँजी के ५१% तक ऋण देने की घोषणा की है। निगम को सुचारु रूप से चलाने के लिए भारत सरकार न प्रमुख उद्योगपतियो तथा प्राविधिकों की एक सलाहकार समिति का भी गठन किया है। इस निगम से सूती वस्त्र उद्योग को बडी आशाएँ हैं।

समस्याएँ तथा सुझाव—सूती वस्त्र उद्योग के सामने कुछ प्रमुख समस्याएँ हैं जिनके समाधान से इस उद्योग की आशातीत उन्नति की जा सकती है। इस उद्योग की समस्याओं का अध्ययन निम्नलिखित शीर्षकों के अन्तर्गत किया जा सकता है

(१) अभिनवीकरण (Modernization)—वर्तमान युग मे किसी भी उद्योग के शक्तिशाली होन के लिए उसकी मशीनो का नवीनतम होना आवश्यक है। भारतीय सूती वस्त्र उद्योग मे अधिकाश मशीनें पुरानी तथा बीतकाल हैं। गत वर्षों मे मिलो न नयी मशीनें लगाने के प्रयत्न किये हैं किन्तु अभी तक उद्योग क केवल २० प्रतिशत भाग का ही अभिनवीकरण हो सका है। भारत की अधिकाश सूती वस्त्र मिलो मे मशीनें पुरानी हैं। अन्य देशो मे स्वचालित करघों का अधिक प्रयोग किया जाता है। भारत मे स्वचालित करघों (automatic looms) का कम प्रयोग किया जाता है। अमरीका व हागकाग म शत प्रतिशत स्वचालित करघों का प्रयोग किया जाता है। रूस, चीन, ब्रिटेन तथा ब्राजील की मिलो म क्रमश ७२ ३%, ४७%, ४० ३% व ३८ ६% करघे स्वचालित हैं। पाकिस्तान की मिलो मे ६६ ३०% करघे स्वचालित हैं। किन्तु भारत की मिलो मे केवल १६.६% करघे स्वचालित हैं। पुरानी मशीनों के कारण भारत विदेशी प्रतिस्पर्द्धा मे नहीं टिक पा रहा है। गत वर्षों म उपभोक्ताओ की आय तथा रुचियो मे बहुत परिवर्तन हुआ है अत वस्त्रो के नये डिजायन तथा बढिया किस्में बनाना बहुत आवश्यक है। विदेशी स्पर्द्धा का सामना करने के लिए भी नयी किस्मो का वस्त्र कम मूल्य पर निर्मित करना बहुत आवश्यक है।

अभिनवीकरण के मार्ग मे दो रुकावटें मुख्य हैं। प्रथम सूती वस्त्र उद्योग सम्बन्धी मशीनो की उपलब्धि तथा दूसरे उनके लिए उचित मात्रा मे देशी तथा विदेशी पूँजी की व्यवस्था करना। एक अनुमान के अनुसार भारतीय सूती मिल उद्योग को पुनर्स्थापित करने, पुरानी मशीनें बदलने

तथा विस्तार के लिए नयी मशीनें लगाने के लिए तृतीय पंचवर्षीय योजना काल में लगभग २८१ करोड़ रुपये की आवश्यकता थी जिसमें लगभग ४६ प्रतिशत की पूर्ति भारतीय सूती मशीन उद्योग द्वारा की गयी।

सूती उद्योग सम्बन्धी मशीनरी की माँग निरन्तर बढ़ रही है क्योंकि सरकार द्वारा कताई तथा मिश्रित मिलों को अपनी उत्पादन शक्ति में ७.५ प्रतिशत वृद्धि करने की अनुमति दे दी गयी है। इसके अतिरिक्त प्रत्येक कताई मिल १०० करघे तक लगा सकती है तथा जिन मिलों में २५,००० से कम तकुए हैं उन्हें शीघ्र ही तकुओं की संख्या २५,००० तक बढ़ानी होगी।

अनुमान लगाया गया है कि केवल वीतकाल मशीनों को बदलने में ही सूती वस्त्र उद्योग को लगभग ८०० करोड़ रुपये की आवश्यकता है। इस कार्य के लिए राष्ट्रीय उद्योग विकास निगम (N I D C) द्वारा ऋण दिये जा रहे हैं तथा सरकार ने भी यह निश्चय किया है कि प्रत्येक मिल को उसके कुल वस्त्र निर्यात की २० प्रतिशत कमाई मशीनें आयात करने के लिए दी जा सकेगी।

अभिनवीनकरण की एक समस्या यह है कि नयी मशीनों पर कम श्रमिकों की आवश्यकता होती है। जोशी समिति का मत है कि नवीनीकरण के फलस्वरूप २० प्रतिशत श्रमिकों की छँटनी करनी पड़ेगी। इस प्रकार देश के सामने बेरोजगारी की एक नयी समस्या उत्पन्न हो जायगी। अतः जहाँ एक ओर अभिनवीकरण अत्यन्त आवश्यक है दूसरी ओर उसकी गति बहुत तीव्र करना कठिन है। सूती मिल उद्योग को चाहिए कि वह अभिनवीकरण के साथ साथ विस्तार भी करे ताकि अतिरिक्त श्रमिकों को हटाना न पड़े।

(२) विदेशी प्रतियोगिता तथा निर्यात—गत वर्षों में औद्योगिक दृष्टि से उन्नतिशील देशों में सूती वस्त्र उद्योग ने पर्याप्त प्रगति की है। अच्छी कपास की प्राप्ति आधुनिकतम मशीनों का प्रयोग तथा आधुनिक विधि से उत्पादन करने के कारण उन देशों में कपड़े का उत्पादन व्यय बहुत कम पड़ता है। जापान, चीन, हांगकांग तथा पाकिस्तान हमारे प्रमुख प्रतिस्पर्द्धी हैं। उत्पादन व्यय अधिक होने के कारण, भारतीय वस्त्र उद्योग इन देशों की प्रतियोगिता में नहीं ठहर सकता। निर्यात वृद्धि की दिशा में विभिन्न प्रयत्न के होते हुए भी सूती कपड़े के निर्यात में कमी होती जा रही है, जिसका अनुमान इसमें पूर्व दिये गये आँकड़ों से हो सकता है।

सूती कपड़े के निर्यात में कमी का कारण कच्ची रुई का अभाव, मशीनों का देश में अपर्याप्त उत्पादन तथा आयात की कठिनाइयाँ, कपड़े के उत्पादन व्यय में वृद्धि, मिल तथा विकेन्द्रित क्षेत्र में समन्वय का अभाव तथा अन्तरराष्ट्रीय स्पर्द्धा है। इस स्थिति का सामना करने के लिए 'सूती वस्त्र निर्यात संवर्द्धन परिषद' व 'सूती कपड़ा निधि समिति' तथा भारतीय उद्योगपति प्रयत्नशील हैं। भारतीय कपड़े के अधिक खपत वाले देशों में परिषद ने अपने कार्यालय खोल रखे हैं। परिषद द्वारा कपड़े का निरीक्षण तथा प्रमाणीकरण भी किया जाता है तथा विदेशी बाजार के सम्बन्ध में सूचनाएँ एकत्र की जाती हैं। मिलों ने ऐच्छिक निर्यात योजना अपनायी है, जिसके अनुसार सूती कपड़ा मिलें प्रति वर्ष कपड़े के उत्पादन का १२.५ प्रतिशत तथा सूत के उत्पादन का ३ प्रतिशत भाग निर्यात करती हैं। फिर भी निर्यात की दिशा में अधिक प्रयत्न करने तथा कपड़े की उत्पादन लागत घटाने व किस्म में सुधार करने की आवश्यकता है। भारत से ब्रिटेन, अमरीका, कनाडा, सूडान, आस्ट्रेलिया, इण्डोनेशिया, मलेशिया, न्यूजीलैण्ड, अदन, अफगानिस्तान, सोवियत रूस आदि देशों को वस्त्र निर्यात होता है।

(३) कच्चे माल का अभाव—देश विभाजन के कारण अच्छी रुई पैदा करने वाला अधिकांश क्षेत्र पाकिस्तान में चला गया। अतः भारत की अहमदाबाद मिलों के लिए लगभग १०,००० गाँठें लम्बे रेशे की रुई विदेशों से आयात करनी पड़ती है। यह रुई ऊँची दरों पर उपलब्ध होती है इससे उत्पादन व्यय में वृद्धि हो जाती है। अब देश के अन्दर नये सिंचाई क्षेत्रों

में लम्बे रेशे वाली कपास का उत्पादन बढ़ाने के लिए प्रयत्न किया जा रहा है। फिर भी मिस्र, अमरीका आदि से कपास का आयात जारी है।

(४) मिल, हथकरघा तथा शक्तिचालित करघा में सामंजस्य—भारतीय वस्त्र उद्योग के समक्ष केन्द्रित तथा विकेन्द्रित उत्पादन में सामंजस्य स्थापित करने की समस्या है। रोजगार की दृष्टि से हैण्डलूम की उन्नति की जा रही है। मिलों तथा हैण्डलूम की प्रतिस्पर्द्धा रोकने के लिए दोनों का कार्यक्षेत्र निश्चित किया गया है। मिलों पर एक विशेष कर (Cess) लगाया गया है, जिससे प्राप्त आय का उपयोग हथकरघा उद्योग के विकास के लिए किया जाता है। हथकरघा उद्योग को प्रोत्साहन देना उचित है, परन्तु मिल उद्योगों के हितों की भी रक्षा की जानी चाहिए। सरकार ने निश्चय किया है कि धीरे धीरे हथकरघों का प्रतिस्थापन शक्तिचालित करघों द्वारा किया जायेगा। यह नीति उपयुक्त प्रतीत होती है।

(५) सरकारी कर नीति—सरकार ने सूती वस्त्र तथा सूत पर ऊँची दर से उत्पादन कर (excise duty) लगा रखा है। इससे उद्योग के लाभ में कमी हो जाती है, फलस्वरूप मिलों के आधुनिकीकरण की दिशा में प्रयत्न रुक जाता है।

१ मार्च, १९६६ से उत्पादन कर में कुछ छूट दी गयी है जिससे बन्द मिलों को दोबारा खुलने का प्रोत्साहन मिला है।

(६) अकुशल तथा अलाभप्रद मिलें—भारत में मिलों की संख्या अधिक है। कुछ मिलों का आकार तो इतना छोटा है कि उन्हें बड़े पैमाने के उत्पादन का लाभ ही नहीं प्राप्त होता। उनकी उत्पादन लागत भी अधिक पड़ती है। अतः ऐसी अनार्थिक मिलों को या तो समाप्त कर देना चाहिए या उनका सुधार तथा विस्तार कर उन्हें लाभप्रद तथा आर्थिक आकार का बनाना चाहिए।

(७) मशीनों का निर्माण—सूती वस्त्र उद्योग मशीनों के लिए विदेशों पर निर्भर रहता है। इससे आधुनिकीकरण के कार्य में बाधा उपस्थित होती है। अतः इस उद्योग की आवश्यकता के अनुरूप देश में ही मशीनों का उत्पादन किया जाना चाहिए। इस दिशा में प्रयत्न भी जारी है। वर्तमान में लगभग २० करोड़ रुपये की सूती उद्योग सम्बन्धी मशीनें प्रतिवर्ष बनायी जा रही हैं।

(८) विक्रय अनुसन्धान—विश्व में उन्नतिशील देशों की प्रतिस्पर्द्धा में टिकने के लिए यह आवश्यक है कि सूती वस्त्र उद्योग के क्षेत्र में अनुसन्धान कार्य को प्राथमिकता दी जाय। अतः अनुसन्धान कार्य की उचित व्यवस्था होना आवश्यक है, जिससे उत्पादन प्रणाली में सुधार होगा तथा भारतीय मिलें प्रतिस्पर्द्धा में टिक सकेंगी। भारतीय सूती मिल संघ द्वारा पटसन उद्योग की भाँति उत्पादन अनुसन्धान तथा बिक्री शोध की व्यवस्था की जानी चाहिए ताकि कपड़े की किस्म में सुधार हो तथा नये बाजारों में माल निर्यात किया जा सके।

(९) अन्य समस्याएँ—भारतीय सूती वस्त्र उद्योग के सामने एक समस्या प्राविधिक जानकारी (technical know how) की है, जिसके लिए नयी प्राविधिक प्रशिक्षण सम्बन्धी संस्थाएँ स्थापित की जानी चाहिए। इसके अतिरिक्त देश में सूती वस्त्र की माँग में यथेष्ट वृद्धि नहीं हो रही है क्योंकि वस्तुओं के भाव में तेजी होने के कारण जनता की क्रय-शक्ति पर बहुत बुरा प्रभाव पड़ा है। सरकार को चाहिए कि वस्तु मूल्यों पर नियन्त्रण रखकर उन्हें कम करने की चेष्टा करे, अन्यथा वस्त्र उद्योग की कठिनाइयाँ अधिक बढ़ जायेंगी।

(१०) श्रम उत्पादकता—भारतीय सूती वस्त्र उद्योग में श्रमिकों की उत्पादकता का स्तर बहुत नीचा है। उदाहरणस्वरूप, अमरीका में १,००० तकुओं की देख-भाल के लिए २ श्रमिकों (शुद्ध अंश १.६) की आवश्यकता होती है जबकि भारत में इसी कार्य के लिए १० श्रमिक नियोजित करने पड़ते हैं।

इससे स्पष्ट है कि भारतीय श्रमिक की उत्पादकता बहुत कम है। इसमें वृद्धि करने के

लिए श्रमिक के प्रशिक्षण की व्यवस्था की जानी चाहिए तथा उसके आवास और काम के स्थान के वातावरण में सुधार किया जाना चाहिए।

२. चीनी उद्योग
(SUGAR INDUSTRY)

चीनी उद्योग भारत के प्रमुख संगठित उद्योगों में से एक है। इस उद्योग का कृषि अर्थ-व्यवस्था में भी प्रमुख स्थान है। वर्तमान में भारत में कुल २०५ चीनी मिलें हैं। इनका कुल उत्पादन लगभग ६५ लाख टन है। भारत में समस्त चीनी उत्पादन का ५०% भाग बिहार तथा उत्तर प्रदेश में पैदा किया जाता है। इस उद्योग में १५० करोड़ रुपये की पूंजी लगी हुई है। सरकार को चीनी उत्पादन-कर तथा गन्ना-कर से बड़ी मात्रा में आय होती है। इस उद्योग में लगभग १.५ लाख श्रमिक कार्य करते हैं। कृषि से सम्बन्धित होने के कारण तथा अर्द्ध बेरोजगारी की समस्या को हल करने के कारण इस उद्योग का भारतीय अर्थ व्यवस्था में महत्त्वपूर्ण स्थान है।

संक्षिप्त इतिहास—चीनी उद्योग भारत का अत्यन्त प्राचीन उद्योग है। १५वीं शताब्दी से १९वीं शताब्दी तक भारत चीनी का निर्यात करता रहा है। इंगलैण्ड अपनी आवश्यकता का एक-तिहाई भाग भारत से आयात करता था। सन् १८६६ में मद्रास तथा बंगाल में गुड़ बनाने तथा साफ करने के लिए कारखाने खोले गये परन्तु ये कारखाने पुराने ढंग के थे।

सन् १९३१ में चीनी उद्योग संरक्षण अधिनियम पास किया गया। अधिनियम के अनुसार सन् १९३२ में चीनी उद्योग को १५ वर्षों के लिए संरक्षण प्रदान किया गया।

सन् १९३२ के बाद का विकास—संरक्षण से चीनी उद्योग को पर्याप्त सुरक्षा मिली। सन् १९३१ में भारत में चीनी बनाने के ३२ कारखाने थे तथा उनका उत्पादन केवल १.६ लाख टन था। संरक्षण मिलने के पश्चात् चीनी के कारखानों तथा उत्पादन में तीव्र गति से वृद्धि होने लगी। सन् १९३८-३९ में कारखानों की संख्या १३२ हो गयी तथा चीनी का उत्पादन ६.४२ लाख टन हो गया अतः आयात में पर्याप्त कमी हुई। सन् १९३१ के पूर्व भारत प्रति वर्ष औसत रूप से १० लाख टन चीनी का आयात करता था परन्तु सन् १९३८-३९ में आयात की मात्रा केवल २२,००० टन रह गयी। इससे स्पष्ट है कि चीनी उद्योग को संरक्षण से पर्याप्त लाभ हुआ। संरक्षण के कारण चीनी उद्योग के विकास को देखते हुए यह कहा जाता है कि 'भारतीय चीनी उद्योग संरक्षण का शिशु है।'

द्वितीय विश्वयुद्ध काल तथा पश्चात्—चीनी उद्योग पर किसी न किसी रूप में सरकारी नियन्त्रण लगभग सदैव रहा है। सन् १९३४ के शुगरकेन एक्ट के द्वारा प्रान्तीय सरकारों को गन्ने का न्यूनतम मूल्य निर्धारित करने का अधिकार दिया गया। सन् १९३७ में उत्तर प्रदेश तथा बिहार की चीनी मिलों ने शुगर सिण्डीकेट की स्थापना की। सन् १९३९ में द्वितीय महायुद्ध के प्रारम्भ होते समय चीनी उद्योग के सामने अधिक उत्पादन (over-production) की समस्या थी अतः चीनी के उत्पादन पर प्रतिबन्ध लगाया गया। सन् १९४६-४७ में चीनी का उत्पादन लगभग ६ लाख टन था।

सन् १९४७ में देश का विभाजन हुआ परन्तु इससे चीनी उद्योग को कोई विशेष हानि नहीं हुई क्योंकि गन्ना उत्पन्न करने का क्षेत्र तथा चीनी मिलें भारत में ही थीं। दिसम्बर १९४७ में महात्मा गांधी के प्रयत्नों से चीनी के मूल्य तथा वितरण पर से और सन् १९४८ में चीनी के निर्यात पर से नियन्त्रण हटा लिया गया। उपर्युक्त दोनों नियन्त्रण हटाने उचित नहीं सिद्ध हुए क्योंकि चीनी के मूल्यों में वृद्धि होने लगी। अतः सन् १९४९ में चीनी पर पुनः नियन्त्रण लगाया गया तथा चीनी के मूल्य निर्धारण व वितरण का दायित्व सरकार ने अपने ऊपर ले लिया। सन् १९५०-५१ में भारत में कुल १३८ चीनी मिलें थीं जिनका वार्षिक उत्पादन ११ लाख टन था।

प्रथम पंचवर्षीय योजना प्रारम्भ होने के समय तक भारतीय चीनी उद्योग ने जो प्रगति की उसका अनुमान निम्नलिखित सारिणी से लगाया जा सकता है

	१९३१ ३२	१९३८ ३९	१९४५-४६	१९५०-५१
मिलों की संख्या	३२	१३२	१३५	१३८
उत्पादन (लाख टन)	१ ६२	६	९	११

पंचवर्षीय योजनाओं में चीनी उद्योग की प्रगति

प्रथम पंचवर्षीय योजना—प्रथम योजना प्रारम्भ करते समय भारत में (सन् १९५०-५१) चीनी का उत्पादन ११ लाख टन था जबकि मिलों की उत्पादन क्षमता १५ ४ लाख टन थी। योजना आयोग ने यह अनुमान लगाया कि सन् १९५५ ५६ तक देश की वार्षिक माँग १५ लाख टन होगी, अतः चीनी के उत्पादन का लक्ष्य १५ लाख टन रखा गया। सन् १९५२ में चीनी पर से नियन्त्रण हटाने के कारण माँग में वृद्धि हुई अतः चीनी का उत्पादन लक्ष्य को बढ़ाकर १८ लाख टन कर दिया गया। बढ़ी हुई माँग के कारण १९५४ ५५ में ५ ७ लाख टन चीनी का आयात भी करना पड़ा। सन् १९५४ में चीनी उत्पादन योजना का स्वरूप बदला गया तथा ४३ नयी चीनी मिलों की स्थापना और ४२ पुरानी चीनी मिलों के विस्तार के लिए स्वीकृति दी गयी। इस योजना के अंतिम वर्ष (१९५५ ५६) में चीनी का उत्पादन १८ ६२ लाख टन हुआ जो लक्ष्य से अधिक था परन्तु उस वर्ष उपभोक्ताओं की माँग १९ लाख टन थी। प्रथम योजनाकाल में इस उद्योग के विकास के लिए १५ करोड़ रुपये लगाये गये।

द्वितीय योजना में चीनी उद्योग—योजना आयोग ने यह अनुमान लगाया था कि सन् १९६० ६१ तक देश में चीनी की माँग २८ लाख टन हो जायेगी। इस दृष्टि से द्वितीय योजना का उत्पादन लक्ष्य २२ ५ लाख टन रखा गया। योजनाकाल में सहकारिता के आधार पर ३५ नयी मिल स्थापित करने का लक्ष्य रखा गया। इसके अतिरिक्त पुरानी मिलों के विकास तथा उनकी मशीनों के नवीनीकरण के लिए योजनाएँ बनायी गयीं। इसके अतिरिक्त इस काल में चीनी उद्योग के विकास कार्यक्रम पर ५१ करोड़ रुपये व्यय करने की व्यवस्था की गयी।

सन् १९६० ६१ में चीनी मिलों की संख्या १७८ थी और चीनी का कुल उत्पादन ३० २९ लाख टन हुआ। इन पाँच वर्षों में चीनी उद्योग के विकास तथा विस्तार पर कुल ५६ करोड़ रुपये व्यय किये गये। सन् १९६० ६१ तक देश में ३० सहकारी चीनी मिल स्थापित की जा चुकी थीं। द्वितीय योजनाकाल में चीनी के उत्पादन में इतनी अधिक वृद्धि हुई कि सन् १९५८ में सरकार ने निर्यात करने का निश्चय किया और निर्यात को प्रोत्साहन देने के लिए निर्यात की जाने वाली चीनी पर घाटे की पूर्ति के लिए अधिक उत्पादन कर लगा दिया गया।

तृतीय योजना में चीनी उद्योग—तृतीय योजना के अन्तर्गत चीनी का उत्पादन लक्ष्य ३३ लाख टन निश्चित किया गया और इस काल में सहकारिता के आधार पर २५ चीनी के कारखाने स्थापित करने की व्यवस्था की गयी।

वर्तमान स्थिति—गत वर्षों में चीनी के उत्पादन की स्थिति निम्नलिखित रही है

भारत में चीनी का उत्पादन

(लाख टन)

	१९६१-६२	१९६५-६६	१९७० ७१
उत्पादन	२७	३५	४५

दिसम्बर १९६७ में चीनी के वितरण पर आंशिक नियन्त्रण हटा लिया गया जिसके अनुसार चीनी की उत्पत्ति का ६० प्रतिशत भाग नियन्त्रित दर पर और शेष ४० प्रतिशत खुले

बाजार मे बेचने की व्यवस्था की गयी। १९६८-६९ के लिए खुले बाजार मे बिकने वाली चीनी का भाग केवल ३० प्रतिशत ही रहा और ७० प्रतिशत चीनी नियन्त्रित दरों पर बिकी। इस प्रकार चीनी के दो बाजार—नियन्त्रित और अनियन्त्रित—स्थापित हो गये।

नियन्त्रण हटाया गया—गत दो-तीन वर्षों से चीनी के उत्पादन म निरन्तर वृद्धि हो रही है। १९७०-७१ मे उत्पादन ४५ लाख टन तक पहुंच गया। चीनी मिलो के स्टॉक मे निरन्तर वृद्धि होती रही है जिससे उनके ब्याज और गोदाम मे रखने के खर्च बढने गये हैं। इसी दृष्टि से २५ मई, १९७१ से चीनी के वितरण को स्वतन्त्र कर दिया गया है उस पर कोई नियन्त्रण नही रहा है।

सरकार प्रति मास एक निश्चित मात्रा मे चीनी बेचने की अनुमति देगी जिसे खुले बाजार मे ही बेचा जा सकता है। सरकार की इस नीति से चीनी के मूल्यों मे बहुत गिरावट नही आने पायेगी।

चीनी उद्योग में सहकारी क्षेत्र का महत्त्व—३० जून, १९७० को भारत मे चीनी तैयार करने वाली कुल २०५ फैक्टरियाँ थी जिनकी उत्पादन क्षमता ५७ लाख टन थी। इनमे से ८० *फैक्टरियाँ सहकारी क्षेत्र मे थी जिनकी उत्पादन क्षमता लगभग १८ लाख टन अर्थात कुल क्षमता* की ३६ प्रतिशत थी।

इन सहकारी शक्कर फैक्टरियो की अश-पूंजी लगभग ३१ करोड रुपये है जिसमे से १९ करोड रुपये साधारण सदस्यो तथा शेष की व्यवस्था राज्य सरकारो द्वारा की गयी है। इन फैक्टरियों में से २२ महाराष्ट्र राज्य में हैं। शेष गुजरात, केरल, मद्रास, आन्ध्र प्रदेश, पजाब, उत्तर प्रदेश तथा हरियाणा मे हैं।

समस्याएँ तथा सुझाव—भारतीय चीनी उद्योग की अनेक समस्याएँ हैं, जिनमे से मुख्य निम्नलिखित हैं

(१) **गन्ने सम्बन्धी कठिनाइयाँ**—भारत मे गन्ने की प्रति एकड उपज अन्य देशो की तुलना मे बहुत कम है। गत वर्षों मे गन्ने सम्बन्धी क्षेत्रफल मे निरन्तर वृद्धि हुई है, परन्तु प्रति एकड उपज में कमी हुई है। जावा तथा हवाई द्वीप मे गन्ने की प्रति एकड उपज ५६ तथा ६२ टन है जबकि भारत की औसत १५ टन है अत गन्ने की प्रति एकड उपज मे वृद्धि करना आवश्यक है। भारत के जिन क्षेत्रो मे गहरी खेती के उन्नतिशील तरीके व वैज्ञानिक विधियो का प्रयोग किया गया है वहाँ पर उपज म आशातीत वृद्धि हुई है। दी इन्स्टीटयूट ऑव शुगर टेक्नोलॉजी, कानपुर (स्थापित सन् १९३६), शुगर रिसर्च इन्स्टीटयूट, लखनऊ (सन् १९५२) को इस दिशा मे प्रयत्न करना चाहिए। प्रति एकड कम उपज होने के साथ ही साथ भारतीय गन्ने मे चीनी की मात्रा बहुत कम होती है। गन्ने मे चीनी की कम मात्रा पाये जाने के कारण भारत मे औसत रूप मे केवल १ ३७ टन चीनी प्रति एकड प्राप्त होती है जबकि क्यूबा तथा जावा मे क्रमश ६ ८९ टन व ६ ४४ टन प्राप्त होती है। अत भारत को उत्तम प्रकार के गन्ने की खेती पर ध्यान देना आवश्यक है।

भारतीय गन्ने से कितनी कम चीनी उपलब्ध होती है इसका अनुमान इस बात से होता है कि उत्तर भारत मे बिहार तथा उत्तर प्रदेश का गन्ना प्राय ९ से १० प्रतिशत चीनी देता है जबकि जावा, सुमात्रा, मारीशस आदि मे १३-१४ प्रतिशत तक चीनी उपलब्ध होती है।

दक्षिण भारत मे जो गन्ना उत्पन्न किया जा रहा है उसमे प्राय ११ से १३ प्रतिशत तक चीनी प्राप्त की जा रही है। अत सुधरी हुई किस्म का गन्ना उत्पन्न करने का प्रयत्न किया जाना चाहिए।

(२) **उत्पादन लागत**—गन्ने मे चीनी की मात्रा कम होने के कारण चीनी मे उत्पादन का व्यय अधिक पडता है, अत भारतीय चीनी अन्य देशों की तुलना मे बहुत महँगी पडती है। भारतीय चीनी के उत्पादन व्यय मे ६०% भाग गन्ने के मूल्य का होता है। प्रति एकड कम उपज तथा

चीनी की मात्रा कम होने के कारण चीनी की उत्पादन लागत बहुत ऊँची पड़ती है। अत उत्पादन लागत का घटाना आवश्यक है। यह उसी समय सम्भव है जबकि गन्ने की खेती वैज्ञानिक रीतियों से की जाय। इस कार्य के लिए किसानों को सरकार द्वारा यथेष्ट सहायता मिलनी अत्यावश्यक है।

(३) उप-उत्पादनों की समस्या—चीनी बनाते समय कई सहायक उत्पादन प्राप्त होते हैं, जैसे छोई (bagasse) तथा शीरा (molasses)। इनका प्रयोग कई उपयोगी वस्तुएँ बनाने के लिए किया जा सकता है। जैसे—छोई से कागज गत्ता आदि बनाया जा सकता है तथा शीरे से अल्कोहल व उर्वरक। यदि इन उत्पादकों का समुचित उपयोग किया जाय तो कई उप उद्योग प्रारम्भ किये जा सकते हैं। इससे चीनी के उत्पादन व्यय में पर्याप्त कमी की जा सकती है।

(४) अभिनवीकरण की समस्या—अनेक चीनी मिलों में पुरानी मशीनें लगी हुई हैं अत उनमें नयी तथा आधुनिक मशीनें लगाने की आवश्यकता है। मिलों में श्रमिकों की संख्या भी अधिक है। अभिनवीकरण के लिए पर्याप्त मात्रा में पूंजी की आवश्यकता होगी, जिसका सर्वथा अभाव है। दूसरी ओर श्रमिकों की छँटनी भी करनी पड़ेगी। योजना आयोग ने यह सुझाव दिया कि चीनी उद्योग में अभिनवीकरण की योजना निर्धारित कार्यक्रम के अनुसार धीरे-धीरे की जानी चाहिए। गूँढ़ राव समिति के अनुसार आगामी १० वर्षों में अभिनवीकरण के लिए ६० करोड़ रुपये की आवश्यकता होगी।

(५) अनार्थिक आकार—अनुमान लगाया गया है कि आर्थिक दृष्टि से लाभदायक होने के लिए एक चीनी मिल में लगभग १२५० टन गन्ना प्रतिदिन पेरा (crush) जाना चाहिए। भारत में ४२ मिलें ऐसी हैं, जो प्रतिदिन १,५०० टन गन्ना पेरती हैं तथा कुछ ऐसी भी हैं जो २,००० से २,५०० टन तक गन्ना प्रतिदिन प्रयोग करती हैं, एक बहुत बड़ी संख्या ऐसी फैक्टरियों की है, जो छोटे पैमाने पर उत्पादन करती हैं। इससे उत्पादन लागत अधिक पड़ती है। अत चीनी मिलों का आकार आर्थिक होना चाहिए। प्रत्येक मिल का आकार कम से कम इतना बड़ा हो कि प्रतिदिन कम से कम १२५० टन गन्ना पेरा जा सके।

(६) क्षमता का आंशिक उपयोग—एक ओर तो मिलें आर्थिक आकार (economic size) में छोटी हैं और दूसरी ओर उनकी वर्तमान क्षमता का भी पूर्ण उपयोग नहीं किया जाता है। बहुत से चीनी के कारखाने वर्ष में केवल ५-६ महीने ही चलते हैं। इस समय में भी उन्हें पर्याप्त मात्रा में गन्ना नहीं मिल पाता अत गन्ने के उत्पादन में वृद्धि करने की आवश्यकता है।

चीनी उद्योग की क्षमता का पूरा उपयोग इसलिए भी नहीं हो पाता कि गन्ने के उत्पादन का लगभग ६० प्रतिशत भाग गुड़ तथा खाण्डसारी बनाने के काम आता है। यह दोनों वस्तुएँ देशी ढंग से तैयार की जाती हैं। देशी प्रक्रिया में गन्ने से केवल ५५-६० प्रतिशत रस निकाला जाता है जबकि फैक्टरी में आधुनिक ढंग से चीनी बनाने में गन्ने का लगभग ९० प्रतिशत रस निकाल लिया जाता है। अत गुड़ और खाण्डसारी बनाने में लगभग ३० प्रतिशत रस छिलके में ही छोड़ दिया जाता है। इसका तात्पर्य यह है कि लगभग ३८ लाख टन गुड़ या ३० लाख टन शक्कर के तुल्य रस बेकार जाता है। यह निश्चय ही एक गम्भीर स्थिति है। सरकार द्वारा इस बर्बादी को रोकने का प्रयत्न किया जाना चाहिए।

(७) स्थिति सम्बन्धी समस्या—चीनी मिलें उत्तर भारत में मुख्यतया उत्तर प्रदेश तथा बिहार में ही स्थित हैं। आधे से अधिक चीनी का उत्पादन केवल इन दो राज्यों में ही किया जाता है। इन राज्यों में घटिया गन्ना पैदा होता है और मिलों की मशीनें बहुत पुरानी हैं। ये दोनों राज्य गन्ना उत्पादन के लिए प्राकृतिक दृष्टि से बहुत उपयुक्त नहीं हैं। जलवायु की दृष्टि से दक्षिण भारत गन्ना उत्पादन के लिए अधिक उपयुक्त है। अत नयी मिलों की स्थापना दक्षिण भारत में की जानी चाहिए।

(८) निर्यात—विदेशी मुद्रा की प्राप्ति के लिए अब चीनी का निर्यात भी किया जाता है परन्तु चीनी का अन्तरराष्ट्रीय मूल्य भारत की अपेक्षा बहुत कम है। उदाहरणत चीनी का अन्तरराष्ट्रीय मूल्य लगभग २० पैसे प्रति पौण्ड (१६ पौण्ड प्रति टन) है जबकि भारत मे चीनी के भाव इससे लगभग चार गुने हैं। लागत मूल्यो के आधार पर भी चीनी निर्यात करने के लिए सरकार को देशी मूल्य तथा अन्तरराष्ट्रीय मूल्य के अन्तर की पूर्ति करनी पड़ती है। इससे सरकार को काफी घाटा होता है। सभी परिस्थितिया को ध्यान मे रखते हुए भारत २ लाख टन से अधिक चीनी निर्यात नही कर सकता। गत दो तीन वर्षों मे यही स्थिति रही है।

(६) अन्य समस्याएँ—(क) चीनी तथा खांडसारी उद्योगो म अत्यधिक प्रतिस्पर्द्धा है, जिसमे चीनी उद्योग को गन्ना मिलने मे कठिनाई होती है। इसका मुख्य कारण उनके मूल्यो मे अन्तर पाया जाता है। अत चीनी, गुड तथा खांडसारी के मूल्यो मे सन्तुलन लाने की आवश्यकता है।

(ख) चीनी उद्योग पर कर भार भी अधिक है। समस्त लागत का १७% भाग करो का होता है अत करो की मात्रा मे कमी की जानी चाहिए।

(ग) गन्ने के रस को साफ करने की विधि भी पुरानी है (गन्धक द्वारा)। अत रस को साफ करन की नयी विधि अपनानी चाहिए। इस दिशा मे चीनी उद्योग प्रयत्नशील भी है।

(घ) चीनी उद्योग पर किसी न किसी रूप मे सदैव नियन्त्रण रहा है। इस नियन्त्रण के कारण उद्योग को कोई भी लाभ नही हुआ है बल्कि उपभोक्ताओ को कठिनाइयो का सामना करना पडा है।

वर्तमान प्रवृत्तियाँ—(i) चीनी उद्योग की वर्तमान स्थिति अच्छी नही है। परन्तु गन्ने का भाव किसानों की दृष्टि मे सस्ता है अत लोग कम भूमि मे गन्ना बोने लगे हैं। किसान गन्ने के स्थान पर अन्य लाभप्रद फसलें उगा रहे हैं। इस प्रवृत्ति को रोकने के लिए सरकार ने १९६७-६८ से गन्ने का मूल्य ५ ६८ रुपये क्विण्टल से बढाकर ७ ३७ रुपये प्रति क्विण्टल कर दिया। किन्तु इसे भी कम समझा जा रहा है।

(ii) सरकार ने सन् १९६६ ६७ वर्ष के लिए चीनी पर उत्पादन-कर मे वृद्धि २८ ६५ रुपये प्रति क्विण्टल से बढाकर ३७ रुपये प्रति क्विण्टल कर दी किन्तु १९६८-६९ के लिए इसे घटाकर पुन २८ ६५ रुपये क्विण्टल ही कर दिया गया। १९७१ ७२ के वर्ष के लिए उत्पादन कर ३० रुपये प्रतिशत (मूल्य के अनुसार) कर दिया गया है।

(iii) १९७०-७१ मे चीनी का उत्पादन लगभग ४५ लाख टन हुआ है जो आवश्यकता से बहुत अधिक है। इसी कारण चीनी मिलो के पास स्टॉक मे तेजी से वृद्धि हो गयी। इस कठिनाई से छुटकारा पाने के लिए चीनी की बिक्री पर से नियन्त्रण हटा लिया गया है। अब कुल चीनी खुले बाजार मे बिक रही है। आशा है आगामी वर्षों मे चीनी की पूर्ति तथा मूल्य की समस्या बहुत कुछ हल हो जायगी।

चुकन्दर से चीनी—भारत मे चीनी का उत्पादन बढाने के लिए एक सुझाव यह दिया गया है कि भारत मे भी यूरोप के देशो की भांति चुकन्दर से चीनी बनायी जानी चाहिए। इस सम्बन्ध में लखनऊ मे स्थित नेशनल शुगर इन्स्टीट्यूट ने प्रयोगों द्वारा यह सिद्ध कर दिया है कि चुकन्दर से चीनी का उत्पादन सरल और सस्ता है क्योंकि उत्तर भारत मे एक एकड भूमि में गन्ना केवल १५ टन मिलता है जिसमे लगभग १ ३५ टन चीनी प्राप्त होती है। इसके विपरीत, एक एकड भूमि मे २० टन चुकन्दर मिलता है जिसमे लगभग ३ टन चीनी प्राप्त हो सकती है। दूसरी बात यह है कि चुकन्दर की खेती म गन्ने की तुलना मे कम खर्च पडता है। तीसरा उल्लेखनीय तत्त्व यह है कि

चुकन्दर ३-४ महीने मे फसल दे देती है जबकि गन्ने की फसल ७-८ महीने मे प्राप्त होती है। इसके अतिरिक्त चुकन्दर जम्मू-काश्मीर जैसे ठण्डे भागो मे भी पैदा हो जाती है जबकि गन्ना केवल गर्म प्रदेशो मे ही पैदा किया जा सकता है।

रुद्रपुर के कृषि विश्वविद्यालय ने यह सिद्ध किया है कि तराई के क्षेत्रो मे प्रति एकड ४० से ६० टन तक चुकन्दर पैदा की जा सकती है। अत. उत्तर भारत मे गन्ने के स्थान पर चुकन्दर से चीनी पैदा करने के प्रयत्न किये जाने चाहिए और दक्षिण भारत मे गन्ने से चीनी बनाने का क्रम गतिशील बनाया जाना चाहिए। राजस्थान मे स्थित गगानगर शुगर मिल ने चुकन्दर से चीनी तैयार करने के सफल प्रयोग किये हैं।

गत वर्षो मे अमरीका तथा जापान मे कृत्रिम (Synthetic) मीठे पदार्थों का आविष्कार हो गया है और उनका प्रयोग निरन्तर बढ रहा है। इस दृष्टि से ससार मे चीनी उद्योग (जिसका उत्पादन पहले ही माँग से अधिक है) का भविष्य बहुत उज्ज्वल प्रतीत नही होता। सन्तोष की बात केवल यह है कि कृत्रिम मीठे पदार्थ अभी चीनी से महँगे हैं।

३ जूट उद्योग
(JUTE INDUSTRY)

जूट उद्योग भारत का द्वितीय प्रमुख उद्योग है। यह उद्योग अत्यन्त सगठित तथा केन्द्रित उद्योग है। इस उद्योग द्वारा भारत को प्राय सर्वाधिक विदेशी विनिमय की प्राप्ति होती है। पाकिस्तान बनने से पहले भारत का इस उद्योग पर एकाधिकार था। अधिकाश जूट मिलें पश्चिमी बगाल मे हुगली नदी के किनारे स्थित हैं।

सक्षिप्त इतिहास—भारत मे प्राचीनकाल मे जूट उद्योग कुटीर उद्योग के रूप मे चलाया जाता था परन्तु आधुनिक रूप मे इस उद्योग का प्रारम्भ सन् १८५५ से हुआ। इस वर्ष जॉर्ज आकलैण्ड ने बगाल मे श्रीरामपुर के निकट रिशरा नामक स्थान पर प्रथम जूट मिल की स्थापना की। इसके पश्चात् इस उद्योग का विकास होने लगा। सन् १९१४ तक जूट मिलो की सख्या ६४ हो गयी।

प्रथम युद्ध के पश्चात्—प्रथम युद्धकाल मे जूट उद्योग का अच्छा विकास हुआ। युद्ध के कारण जूट सम्बन्धी वस्तुओ की माँग बढ गयी। उन दिनो जूट उद्योग मे लाभ की दरें ७५% तक पहुच गयी। युद्ध के पश्चात् जूट के सामान की माँग फिर गिर गयी अत उद्योग के सामने सकट उपस्थित हो गया। सन् १९२४ से जूट मिलो ने विस्तार कार्य रोक दिया। सन् १९२९ की आर्थिक मन्दी का प्रभाव भी इस उद्योग पर पडा परन्तु यह प्रभाव इस उद्योग पर उतना बुरा नही था जितना कि अन्य उद्योगो पर। वस्तुत जूट उद्योग ने अपनी प्रगति धीरे-धीरे जारी रखी। सन् १९२९-३० मे जूट मिलो की सख्या ९८ हो गयी जिनमे ११,४०,४३५ तकुए तथा ५३,९०० करघे थे। सन् १९२९ तथा आगामी दो वर्षों मे कच्चे जूट का उत्पादन कम हुआ है अत जूट मिलो में काम करने के घण्टो मे कमी की गयी। यह स्थिति द्वितीय महायुद्ध के प्रारम्भ तक बनी रही।

द्वितीय विश्वयुद्ध काल—युद्ध प्रारम्भ होने के समय जूट उद्योग की अवस्था अच्छी नहीं थी परन्तु युद्ध के दिनो मे इस उद्योग ने अच्छी प्रगति की। देश तथा विदेश मे जूट निर्मित वस्तुओ की माँग बढ गयी। बढी हुई माँग की पूर्ति के लिए जूट मिलो ने काम करने के घण्टे सप्ताह मे ६० कर दिये। सरकार ने भी वर्तमान मे जूट उद्योग पर कारखाना अधिनियम लागू नही किया। सन १९४० के पश्चात् विदेशी माँग मे कुछ कमी हुई। सन् १९४२ मे भारत मे अकाल पडा तथा कोयला व यातायात सम्बन्धी कठिनाइयो के कारण जूट मिलें बन्द करनी पडी। इस प्रकार युद्धकाल मे जूट उद्योग अच्छी तथा विपत्तिपूर्ण दोनों अवस्थाओं से गुजरा। युद्धकाल मे इस उद्योग की प्रगति का अनुमान अग्रलिखित तालिका से लगाया जा सकता है।

वर्ष	मिलों की सख्या	करघों की सख्या (हजारो मे)	तकुओं की सख्या (हजारों मे)
१९३८ ३९	१०७	६८	१,३५०
१९४५-४६	१११	६९	१,४४५

विभाजन का प्रभाव—सन् १९४७ म देश का विभाजन हुआ। इसका प्रभाव जूट उद्योग पर बहुत बुरा पडा क्योंकि जूट पैदा करने वाले क्षेत्र का ७२% भाग पाकिस्तान मे चला गया किन्तु लगभग सभी मिलें भारतीय क्षेत्र म रही। अत जूट उद्योग को कच्चे माल की समस्या का सामना करना पड़ा, फलत कई महीने तक बहुत सी मिलें बन्द रही। पाकिस्तान ने कच्चे जूट पर ऊँची दर से निर्यात कर लगाया। उस समय भारत-पाकिस्तान के बीच कई व्यापारिक समझौते हुए परन्तु पाकिस्तान ने उन समझौतों की शर्तें पूरी नहीं की। सन् १९४९ में भारतीय रुपये के अवमूल्यन का भी जूट उद्योग पर बुरा प्रभाव पड़ा क्योंकि पाकिस्तानी जूट भारत के लिए ४४ प्रतिशत महँगा हो गया। सरकार ने देश के अन्दर जूट के उत्पादन मे वृद्धि करने का प्रयत्न किया और नये क्षेत्रों मे जूट की खेती का विस्तार किया जाने लगा।

पचवर्षीय योजनाओ मे जूट उद्योग

प्रथम पचवर्षीय योजना—जिस समय प्रथम पचवर्षीय योजना प्रारम्भ की गयी उस समय जूट उद्योग के सामने कच्चे माल की समस्या थी। सन् १९५०-५१ म कच्चे जूट का उत्पादन ३३ लाख गाँठ था। प्रथम योजना काल मे इसे बढाकर ५३ ७ लाख गाँठ करने का लक्ष्य था। योजना-काल मे जूट मिलों की उत्पादन क्षमता पर्याप्त थी अत नयी जूट मिलो की स्थापना या वर्तमान जूट मिलो की उत्पादन क्षमता मे वृद्धि करने की योजना नहीं बनायी गयी। जूट की खेती के विस्तार तथा कच्चे जूट की उत्पादन वृद्धि पर विशेष ध्यान दिया गया। इसके अतिरिक्त जूट उद्योग की मशीनो के देश मे निर्माण के लिए भी व्यवस्था की गयी।

सन् १९५५-५६ मे कच्चे जूट का उत्पादन ४२ लाख गाँठ हुआ जो लक्ष्य से ११ ७ लाख गाँठ कम था। जूट के सामान के निर्यात का लक्ष्य ६ ५ लाख टन से बढाकर १० लाख टन करने का था परन्तु योजना के अन्तिम वर्ष मे वास्तविक निर्यात ८ ७५ लाख टन हुआ।

द्वितीय पचवर्षीय योजना—द्वितीय योजना-काल मे कच्चे जूट के सम्बन्ध मे देश को आत्मनिर्भर बनाने का लक्ष्य ६५ लाख गाँठ रखा गया और इसी बीच मिलो की सख्या मे वृद्धि न करने का निश्चय किया गया। योजनाकाल मे इस उद्योग को विदेशी प्रतियोगिता का सामना करना पड़ा, अत निर्यात का लक्ष्य केवल ९ लाख टन और उत्पादन का लक्ष्य १२ लाख टन रखा गया। योजनाकाल मे उत्पादन व्यय कम करने, मशीनो का आधुनिकीकरण तथा निर्यात वृद्धि के प्रयत्नो पर जोर दिया गया। योजना के अन्तिम वर्ष मे कच्चे जूट का उत्पादन ४३ लाख गाँठ हुआ तथा जूट की वस्तुओं का उत्पादन ९ ७० लाख टन हुआ।

तृतीय पचवर्षीय योजना—तृतीय योजना मे कच्चे जूट के उत्पादन का लक्ष्य ७५ लाख टन गाँठ और जूट के सामान के उत्पादन का लक्ष्य ७६ लाख टन रखा गया। १९६५-६६ में जूट तथा मेस्टा का सम्मिलित उत्पादन लगभग ५८ लाख गाँठें था किन्तु १९७१-७२ मे वह ७७ लाख गाँठें होने का अनुमान है। १९७१ ७२ मे जूट की सपत भी ७७ लाख गाँठें होने का अनुमान है।

वर्तमान स्थिति और समस्याएँ—वार्षिक सर्वेक्षण (Annual Survey of Industries) के अनुसार भारत मे ९० जूट मिलें हैं जिनकी सम्मिलित पूँजी ६२ करोड रुपये है और उनमे २ ५७ लाख व्यक्ति नियोजित हैं। गत वर्षों मे जूट उद्योग का उत्पादन अनिश्चित रहा है :

जूट उद्योग का उत्पादन

(लाख टनों में)

वर्ष	उत्पादन
१९५१-५२	९ ६
१९५५ ५६	१११
१९६०-६१	१० २
१९६९-७०	९'७

इससे स्पष्ट है कि जूट के माल का कुल उत्पादन निरन्तर गिर रहा है।

निर्यात उद्योग—जूट उद्योग मुख्यतः एक निर्यात उद्योग है। इसके निर्यात से सर्वाधिक विदेशी विनिमय प्राप्त होती है। उदाहरणस्वरूप १९६९-७० में लगभग २०७ करोड़ रुपये के मूल्य का जूट का सामान निर्यात किया गया जो किसी भी अन्य वस्तु के निर्यात से अधिक था। गत वर्षों में जूट के सामान का निर्यात इस प्रकार रहा है

जूट के सामान का निर्यात

वर्ष	१९६०-६१	१९६९-७०
माल (लाख टन)	८	५ ७
मूल्य (करोड़ रुपये)	२१३	२०७

उपर्युक्त तालिका से स्पष्ट है कि जूट के माल के निर्यात में कमी की प्रवृत्ति दृष्टिगोचर हो रही है।

समस्याएँ तथा सुझाव—वर्तमान समय में भारतीय जूट उद्योग के सामने कुछ समस्याएँ हैं जिनका निवारण आवश्यक है। सन् १९६२ में 'श्रीवास्तव जूट समिति' की नियुक्ति की गयी थी। इस समिति ने जूट उद्योग की समस्याओं पर विचार किया तथा उद्योग की उन्नति के लिए महत्व पूर्ण सुझाव दिये। इस उद्योग की प्रमुख समस्याएँ तथा उनके निराकरण के लिए सुझावों का वर्णन (श्रीवास्तव जूट समिति रिपोर्ट के आधार पर) नीचे दिया जा रहा है

(१) कच्चे जूट की कमी—भारतीय मिलों को अपनी सम्पूर्ण उत्पादन क्षमता का उपयोग करने के लिए लगभग ७५ लाख गाँठ कच्चे जूट की आवश्यकता होती है। १९५०-५१ में मिलों को जूट की आवश्यकता ५९ लाख गाँठें थी जबकि देश में उत्पादन ३३ लाख गाँठें था। १९६०-६१ में आवश्यकता ६४ लाख गाँठें थी और उत्पादन ५३ लाख गाँठ था। १९७१-७२ में आवश्यकता और उत्पादन दोनों समान अर्थात् लगभग ७७ लाख गाँठें होगा।

इस प्रकार कच्चे जूट की समस्या लगभग हल हो गयी है।

(२) विदेशी प्रतिस्पर्द्धा—जूट उद्योग को भीषण प्रतिस्पर्द्धा का सामना करना पड़ रहा है। जूट के उपभोक्ता देश अपने यहाँ स्वयं इस उद्योग का विकास कर रहे हैं। भारत का मुख्य प्रतिद्वन्द्वी पाकिस्तान है। १९६४-६५ से १९६९-७० के बीच भारत का भाग जूट के माल के निर्यात में निरन्तर कम होता गया है। १९६४-६५ में भारत जूट माल के कुल निर्यात का ८० प्रतिशत निर्यात करता था। पाकिस्तान का भाग केवल २० प्रतिशत था। १९६९-७० में भारत का भाग घटकर ५३ प्रतिशत रह गया है, पाकिस्तान का भाग बढ़कर ४७ प्रतिशत हो गया है।

थाईलैण्ड, घाना, नाइजेरिया, इण्डोनेशिया आदि देशों में भी जूट का सामान बनाने के कारखाने लगाये गये हैं और नये कारखाने लगाये जा रहे हैं।

भविष्य में विदेशी प्रतिस्पर्द्धा और बढ़ेगी—'U N Commodity Survey' के अनुसार सन् १९७५ में, जूट के प्रमुख उत्पादक तीनों देशों (भारत, पाकिस्तान व थाईलैण्ड) द्वारा निर्यात के लिए २४१ से ३२८ लाख टन तक जूट की वस्तुएँ उपलब्ध होंगी, जबकि विश्व में जूट वस्तुओं

की माँग केवल १६.७ से २५.५ लाख टन तक होगी। इस प्रकार जूट वस्तुओं की पूर्ति, माँग की अपेक्षा अधिक रहेगी। अमरीका, जापान तथा पश्चिमी यूरोप में जूट के स्थान पर अन्य कृत्रिम वस्तुओं का प्रयोग और बढ़ेगा, जिससे जूट के निर्यात व्यापार की स्थिति और भी बिगड़ेगी। अतः उत्पादन लागत घटाकर ही भारत का जूट उद्योग विश्व में अपनी स्थिति बनाये रख सकता है।

(३) स्थानापन्न वस्तुओं का भय—अनेक पश्चिमी देशों ने जूट के स्थानापन्न पदार्थों का उपयोग आरम्भ कर दिया है। अमरीका पैकिंग के लिए बरलप (Burlap) तथा विशेष प्रकार का कागज प्रयोग में ला रहा है। अभी कुछ समय पूर्व ही पोली प्रोफीलिन (Poly prophlene) नाम का नया रेशा निकाला गया है, जो गलीचों के नीचे (जूट वस्त्र के स्थान पर) लगाया जा सकता है। दक्षिण अफ्रीका, जापान, हांगकांग आदि में भी जूट सरीखे रेशों का उपयोग किया जा रहा है। उक्त प्रवृत्तियाँ भारतीय जूट उद्योग के लिए एक नियमित खतरा बन गयी हैं। वर्तमान में केवल इस बात से सन्तोष किया जा सकता है कि जूट का सामान इन कृत्रिम साधनों से सस्ता पड़ता है।

स्थानापन्न वस्तुओं की स्पर्द्धा में टिकने के लिए भारतीय जूट उद्योग के सामने दो मार्ग हैं—एक तो जूट का सामान सस्ता बनाया जाय, दूसरे जूट के नवीन उपयोग निकाले जायें। इस दृष्टि से जूट उद्योग में शोधकार्य की नितान्त आवश्यकता है। उदाहरणार्थ, यदि पटसन के वस्त्र का लागत मूल्य १० प्रतिशत कम किया जा सके तो पोली प्रोफीलिन से स्पर्द्धा का भय दूर हो सकता है। सन्तोष का विषय है कि जूट उद्योग इस दिशा में प्रयत्नशील है। जूट के नवीन उपयोग खोजने की दृष्टि से भारतीय जूट मिल संघ ने एक शोध संस्थान 'Indian Jute Mills Association Research Institute' की स्थापना की है। इस संस्था ने डेढम की रेशा शोधशाला (Fabric Research Laboratories of Dedham, U S A.) से शोध सम्बन्धी समझौता किया है। इस शोधशाला ने जूट उद्योग में कुछ नवीन शोध की हैं, जिनका संक्षिप्त ब्यौरा निम्नलिखित है :

(क) जूट वस्त्र के ब्लीचिंग तथा रंगने की नवीन पद्धति ज्ञात कर ली गयी है, जो जूट का प्रयोग नवीन साज-सज्जा सम्बन्धी सामान बनाने में मदद करेगी। इससे अमरीका में ही जहाँ पहले ५० लाख मीटर जूट वस्त्र की खपत होती थी, अब ५ करोड़ मीटर हो जाने की आशा है।

(ख) जूट का प्रयोग (उसका शोधन करके) दरवाजों तथा मकानों की विभाजक दीवारों (Partition walls) में करने सम्बन्धी सम्भावनाएँ बढ़ रही हैं और बरलप के स्थान पर अब जूट का कोटिंग देना सम्भव होगा।

इन दो शोधों के अतिरिक्त अनेक दूसरे क्षेत्रों में (वस्त्र उद्योग आदि) भी जूट के प्रयोग सम्बन्धी अनुसन्धान चल रहे हैं। इनकी सफलता जूट उद्योग के लिए सफलता के नये द्वार खोल सकेगी, ऐसी आशा है।

(४) नवीनीकरण की समस्या—देश के विभाजन के समय भारतीय जूट मिलों की अधिकांश मशीनें पुरानी तथा खराब हालत में थीं। इनका परिवर्तन न केवल अन्य देशों की प्रतिस्पर्द्धा में खड़ा रहने के लिए आवश्यक था बल्कि जूट उद्योग का विकास करने तथा निर्यात आदि बढ़ाने की दृष्टि से भी महत्त्वपूर्ण था। इस दृष्टि से जूट उद्योग ने १९५२ में नवीनीकरण का कार्य आरम्भ किया और कताई-स्तर पर लगभग पूर्णतः नवीनीकरण कर लिया गया है। उच्चस्तरीय तन्तुओं के ८६ प्रतिशत तथा निम्नस्तरीय (coarse) तन्तुओं के १०० प्रतिशत भाग का नवीनीकरण किया जा चुका है। नवीनीकरण का यह क्रम पाकिस्तान की सम्भावित स्पर्द्धा के कारण प्रारम्भ किया गया था परन्तु बुनाई-स्तर पर इसमें विशेष प्रगति नहीं हुई है, यह एक गम्भीर स्थिति है। बुनाई-स्तर पर नवीनीकरण न होने का मुख्य कारण यह है कि देश में यथेष्ट मात्रा में मशीनों का उत्पादन नहीं हो रहा है।

कताई-स्तर पर नवीनीकरण के अतिरिक्त जूट उद्योग की कई इकाइयाँ आपस मे मिल भी गयी हैं ताकि वह लाभदायक स्थिति में आ सकें। 'विशेष उत्पादन' में भी मिलो ने वृद्धि कर ली है और उत्पादन मे विविधता लायी गयी है, फिर भी आधुनिकीकरण की दिशा में और प्रयत्न करना चाहिए। उत्पादन मे विस्तार करने के लिए अलाभप्रद कारखानो को प्राथमिकता मिलनी चाहिए तथा नये कारखानो की स्थापना प्रादेशिक आवश्यकता तथा प्राप्त सुविधाओ को ध्यान में रखकर करनी चाहिए।

(५) कच्चे जूट का मूल्य तथा उत्पादन—भारत में कच्चे जूट की कीमतें ऊँची हैं। इससे उत्पादन लागत बढ़ जाती है। जूट उद्योग मे लागत व्यय बढ़ने का एक महत्वपूर्ण कारण यह है कि महँगाई बढ़ने के कारण श्रमिकों ने वेतन तथा महँगाई-भत्ते मे निरन्तर वृद्धि करनी पड़ी है।

गत कुछ वर्षों मे आधुनिकीकरण, छोटी इकाइयों को मिलाकर बड़ी मिलों की स्थापना आदि के कारण उत्पादन व्यय मे कुछ कमी हुई है। 'श्रीवास्तव समिति' ने यह सुझाव दिया है कि अतिरिक्त उत्पादन के लिए वर्तमान करघों को दो पाली (shifts) चलाकर पूरा करना चाहिए। आधुनिकीकरण की दिशा मे जो कमियाँ हैं उनकी पूर्ति होनी चाहिए।

(६) निर्यात—भारत जूट के सामान का महत्वपूर्ण निर्यातक रहा है किन्तु उसके निर्यातों की मात्रा या मूल्य मे वृद्धि नहीं हो रही है। १९६०-६१ मे भारत से जूट का माल लगभग २१३ करोड रुपये के मूल्य का निर्यात किया गया था जबकि १९६९-७० मे निर्यात का मूल्य २०७ करोड़ रुपये था।

निर्यात के सम्बन्ध मे विशेष बात यह है कि १९६०-६१ मे भारत के कुल निर्यातो मे जूट का भाग २१ १ प्रतिशत था जो घटकर १९७०-७१ मे केवल १४ ६ प्रतिशत रह गया है। इस प्रकार कुल निर्यातो मे जूट के माल का भाग कम होता जा रहा है। इन दोनो दिशाओ मे सुधार होने के लिए जूट के माल का किस्म नियन्त्रण (Quality control) होना चाहिए। भारतीय मानक निर्धारण संस्थान (I S I) द्वारा मानकों (standards) का निश्चय होना चाहिए तथा माल बनाने समय ही प्रमापीकरण तथा विज्ञापन किया जाना चाहिए। नयी वस्तुओ के उत्पादन तथा उनके आर्डरों की पूर्ति पर ध्यान देना चाहिए। कुछ देशो मे जूट की वस्तुओ पर संरक्षण प्रशुल्क लगाया जाता है। उनमे कनाडा, अमरीका तथा यूरोपीय साझा बाजार के देश प्रमुख हैं। अत इन ऊँचे तट-करों को कम कराने के लिए आवश्यक कदम उठाये जाने चाहिए।

४ लोहा और इस्पात उद्योग

लोहा तथा इस्पात उद्योग आधारभूत उद्योगों मे सबसे महत्वपूर्ण हैं। देश का आर्थिक विकास बहुत कुछ अशो मे इस्पात उद्योग पर ही निर्भर है। भारत मे इस उद्योग के विकास के लिए सभी प्राकृतिक साधन उपलब्ध हैं। अनुमान लगाया गया है कि भारत मे कुल २,१०० करोड टन कच्चे लोहे का भण्डार है जो संसार के कुल लोहा का ¼ भाग है। लोहा तथा इस्पात उद्योग के विकास के लिए आवश्यक कच्चा माल जैसे लाइम स्टोन, डोलोमाइट और मैंगनीज इत्यादि भी भारत मे पर्याप्त मात्रा मे पाये जाते हैं। भारत मे लोहे तथा कोयले की खानें आसपास हैं, अत इस उद्योग का भविष्य प्रत्येक दृष्टि से उज्ज्वल है।

संक्षिप्त इतिहास—लोहा उद्योग भारत का प्राचीन उद्योग है। भारतीय लोहा गलाने की क्रिया को जानते थे परन्तु यह उद्योग १२वीं शताब्दी तक धीरे-धीरे लुप्त हो गया। आधुनिक रूप मे इस उद्योग का प्रारम्भ सन् १८३० मे तमिलनाडु के निकट दक्षिणी अर्काट मे श्रीहीत (Shriheat) नामक अंग्रेज द्वारा किया गया, परन्तु यह प्रयत्न असफल रहा। सन् १८७४ मे झरिया की कोयले की खानो के पास बराकर आयरन वर्क्स स्थापित किया गया।

इसके पश्चात् अग्रलिखित कारखानो की स्थापना की गयी,

१८७५ आसनसोल बंगाल आयरन कम्पनी,

१८७५ बंगाल आयरन एण्ड स्टील कम्पनी

१९०७ जमशेदपुर टाटा आयरन एण्ड स्टील कम्पनी,

१९१८ हीरापुर इण्डियन आयरन एण्ड स्टील कम्पनी,

१९२३ भद्रावती मैसूर आयरन एण्ड स्टील वर्क्स।

इनमें से बंगाल आयरन कम्पनी को सरकार द्वारा खरीदकर १८८१ में बंगाल आयरन एण्ड स्टील कम्पनी को बेच दिया गया। यह सब कारखाने निजी उद्योग द्वारा स्थापित किये गये, केवल भद्रावती का कारखाना मैसूर सरकार द्वारा आरम्भ किया गया।

प्रथम विश्वयुद्ध और उसके पश्चात्—प्रथम विश्वयुद्ध के प्रारम्भ होने के समय भारत में लोहा तथा इस्पात उद्योग की नींव मजबूत हो चुकी थी। युद्धकाल में लोहा तथा इस्पात का आयात बहुत कम हो गया तथा युद्ध की आवश्यकताओं के लिए माँग में वृद्धि हो रही थी। साथ ही साथ अन्य देशों में भी लोहा तथा इस्पात की माँग बढ़ रही थी। सन् १९१५ में कच्चे लोहे का उत्पादन १.६० लाख टन था जो सन् १९१६-१७ में बढ़कर २.३२ लाख टन हो गया। इसी प्रकार इस्पात का भी उत्पादन ९९ लाख टन था। युद्धकाल में टाटा कम्पनी ने बहुत उन्नति की परन्तु सन् १९२१-२२ के पश्चात् विदेशी इस्पात का मूल्य बहुत गिर गया जिसके कारण लोहा इस्पात उद्योग की प्रगति रुक गयी। अतः उद्योग की रक्षा के लिए संरक्षण की माँग की जाने लगी और १९२४ में इस उद्योग को ३ वर्ष के लिए संरक्षण प्रदान किया गया। सन् १९२४-१९२७ की अवधि में उद्योग को २.०२ करोड़ रुपए की आर्थिक सहायता भी दी गयी। १९२७ में संरक्षण की अवधि ७ वर्षों के लिए बढ़ा दी गयी परन्तु यह संरक्षण ३१ मार्च, १९४७ तक चलता रहा। इस प्रकार २३ वर्षों तक इस उद्योग को बराबर संरक्षण मिलता रहा।

द्वितीय विश्वयुद्ध और उसके पश्चात्—सन् १९३९ में कच्चा लोहा तथा इस्पात का उत्पादन क्रमशः १८ व ८ लाख टन था। द्वितीय विश्वयुद्ध ने इस्पात उद्योग की काया पलट दी। माँग में आशातीत वृद्धि हुई जिसके परिणामस्वरूप कीमतों में भी वृद्धि हुई। अतः सरकार ने उद्योग पर नियन्त्रण लागू कर दिया। इससे उत्पादन की मात्रा के साथ ही साथ माल की किस्म में भी सुधार हुआ। इस काल में लोहे तथा इस्पात की कई प्रकार की नवीन वस्तुओं का उत्पादन प्रारम्भ हुआ।

युद्ध के पश्चात् इस्पात उद्योग को पुनः संकट का सामना करना पड़ा। माँग में कमी, मुद्रास्फीति, देश का विभाजन, मशीनों की पुनर्स्थापना की समस्या, कच्चे माल की कठिनाई, पूँजी का अभाव तथा श्रम समस्याओं आदि के कारण उद्योग का उत्पादन घटने लगा। यह स्थिति सन् १९४८ तक चलती रही। उसके पश्चात् ही स्थिति में सुधार हो सका। १९५० तक भारत में इस्पात का वार्षिक उत्पादन १० लाख टन से अधिक नहीं था।

योजनाकाल में लोहा तथा इस्पात उद्योग

प्रथम योजनाकाल में विकास—प्रथम योजनाकाल में सरकार ने इस उद्योग को सहायता देने का कार्य प्रारम्भ किया। योजना प्रारम्भ होने से पूर्व ही इस उद्योग से सम्बन्धित प्रमुख भारतीय कम्पनियों ने उद्योग के आधुनिकीकरण एवं विस्तार के लिए योजनाएँ बनायी थीं। टाटा कम्पनी ने विस्तार एवं आधुनिकीकरण की योजना बनायी जिसके अन्तर्गत सन् १९५७ तक इस्पात उत्पादन का लक्ष्य ९.३१ लाख टन निर्धारित किया गया। प्रथम योजनाकाल में इस कम्पनी ने इस कार्यक्रम पर ३४.१४ करोड़ रुपये व्यय किये।

मैसूर आयरन एण्ड स्टील वर्क्स के विस्तार एवं आधुनिकीकरण के लिए भी कार्यक्रम तैयार किया गया। प्रथम योजनाकाल में इस कारखाने के विस्तार कार्यक्रम के अन्तर्गत १३.८६ करोड़

रुपये व्यय किये गये। इस कारखाने की उत्पादन क्षमता बढ़ाकर योजना के अन्त तक एक लाख टन करनी थी। इस कारखाने में योजना के अंतिम वर्ष में इस्पात का उत्पादन ३५ हजार टन हुआ। योजनाकाल में इस कारखाने ने कच्चे लोहे का उत्पादन बढ़ाकर तीन गुना कर लिया।

उपर्युक्त दो कारखानों की भाँति बर्नपुर के लोहा-इस्पात कारखाने के विस्तार के लिए कार्यक्रम बनाया गया। इस काल में विस्तार कार्यक्रम पर १५ २७ करोड रुपये व्यय किये गये। पाँच वर्ष में इस कारखाने का उत्पादन लक्ष्य ६-७ लाख टन कच्चा लोहा तथा ४-५ लाख टन इस्पात का निर्धारित किया गया। सन् १९५५-५६ में इसके द्वारा ५ ५३ लाख टन इस्पात तैयार किया गया। प्रथम योजनाकाल में लोहा तथा इस्पात उद्योग की प्रगति का विवरण इस प्रकार है

लोहा इस्पात उत्पादन (लाख टन में)

वर्ष	कच्चा लोहा	तैयार इस्पात
१९५१-५२	१८ ४६	१० ६४
१९५५ ५६	१९ १५	१२ ८६

द्वितीय योजनाकाल में विकास—द्वितीय योजना उद्योग प्रधान थी। अतः लोहा तथा इस्पात उद्योग के विकास पर पर्याप्त ध्यान दिया गया। इस योजनाकाल में इस उद्योग पर ४३१ करोड रुपये व्यय करने का आयोजन था। निजी क्षेत्र के तीनों स्टील प्लाण्ट्स ('टाटा', 'इण्डियन आयरन' और 'मैसूर आयरन') ने विस्तार की योजनाएँ तैयार कीं। टाटा कम्पनी को अपना उत्पादन बढ़ाकर २० लाख टन स्टील इनगाट्स (१५ लाख टन तैयार इस्पात) करना था, इण्डियन आयरन को अपना उत्पादन बढ़ाकर १० लाख टन स्टील इनगाट्स (८ लाख टन तैयार इस्पात) करना था तथा 'मैसूर आयरन' को अपना उत्पादन बढ़ाकर १ लाख टन स्टील इनगाट्स (८५ हजार टन तैयार इस्पात) करना था।

इसके अतिरिक्त सार्वजनिक क्षेत्र में तीन नये स्टील प्लाण्ट्स की स्थापना राउरकेला, भिलाई तथा दुर्गापुर में करनी थी जिनमें से प्रत्येक की उत्पादन क्षमता १० लाख टन रखनी थी। इनकी स्थापना कर दी गयी जिनका संक्षिप्त ब्यौरा निम्नलिखित है

(१) राउरकेला—इसकी स्थापना उड़ीसा राज्य में जर्मनी की दो फर्म Krupp तथा Demag की सहायता से की गयी। इस प्लाण्ट के द्वारा चद्दरें (Flat products) तैयार की जाती हैं। १० लाख टन इनगाट्स को ७ २ लाख टन बिक्री योग्य स्टील में परिवर्तित किया जाता है।

(२) भिलाई—इसकी स्थापना रूस की सहायता से मध्य प्रदेश में की गयी है। इसके लिए फरवरी १९५५ में समझौता किया गया था। इसके द्वारा १० लाख टन स्टील इनगाट्स को ७ ७ लाख टन इस्पात वस्तुओं (Rails, Sleeper bars, Beams, Billets) में परिवर्तित किया जाता है।

(३) दुर्गापुर—इसकी स्थापना पश्चिमी बंगाल में ब्रिटेन की सहायता से की गयी है। इस कारखाने ने दिसम्बर १९५९ में उत्पादन प्रारम्भ किया।

इन तीनों कारखानों का प्रबन्ध हिन्दुस्तान स्टील लिमिटेड के द्वारा किया जाता है। इस कम्पनी की अधिकृत पूँजी ६०० करोड रुपये है तथा यह पूर्णतया सरकार के स्वामित्व में है।

द्वितीय योजनाकाल में मैसूर आयरन वर्क्स', 'टिस्को' तथा 'इण्डियन आयरन' की उत्पादन क्षमता क्रमश १ लाख टन, १५ लाख टन तथा ८ लाख टन होने का अनुमान किया गया। इस काल में लोहा तथा इस्पात का उत्पादन अप्रत्याशित था

लोहा तथा इस्पात का उत्पादन (मिलियन टन मे)

वर्ष	कच्चा लोहा	स्टील	निर्मित स्टील
१९५६	० ४४०	१ ६६६	१ ३५५
१९६१	१ १४०	३ ८७०	२ ९८०

इस प्रकार द्वितीय योजना क लक्ष्यों की पूर्ति नही हो सकी क्योंकि लक्ष्य ६ मिलियन टन इस्पात का रखा गया था।

तृतीय योजनाकाल व वर्तमान स्थिति—निम्नलिखित सारिणी द्वारा लोहा-इस्पात उद्योग की स्थिति पर प्रकाश पड़ता है

लोहा तथा इस्पात का उत्पादन (मिलियन टन)

वर्ष	कच्चा लोहा	स्टील इनगाट्स	निर्मित स्टील
१९६५-६६	७ ०६	६ ५३	४ ५१
१९६९-७०	७ ३६	६ ४३	४ ६४

इस काल म भिलाई की उत्पादन क्षमता १० लाख टन स बढ़कर २५ लाख टन हो गयी किन्तु दुर्गापुर और राउरकेला की क्षमता १०-१० लाख टन म क्रमश १६ और १८ लाख टन बढ़ाने के लक्ष्य पूरे नही किये जा सके। बोकारो मे नया इस्पात कारखाना भी तीसरी योजना मे नहीं लगाया जा सका किन्तु चौथी योजना म लगाया जा रहा है। बोकारो के सम्बन्ध मे १९६५ मे सोवियत रूस से समझौता किया गया है। यह कारखाना १९७४ में पूरा होने की आशा है। इसकी क्षमता ८४ लाख टन इस्पात वार्षिक तैयार करने की होगी।

चतुर्थ योजना के कार्यक्रम

१९७३-७४ तक तैयार इस्पात की माँग ७१ लाख टन तक बढ़ जाने की आशा है। उत्पादन का लक्ष्य लगभग ८१ लाख टन का निर्धारित किया है ताकि इस्पात न केवल देश की आवश्यकताएँ पूरी करे बल्कि उसका निर्यात भी किया जा सके।

सालेम, होसपेट तथा विशाखापत्तनम् मे नये इस्पात कारखाने लगाने का निश्चय किया जा चुका है।

भिलाई, राउरकेला तथा दुर्गापुर की क्षमता मे वृद्धि करने का निश्चय किया गया है।

समस्याएँ—भारतीय इस्पात उद्योग की मुख्य समस्याएँ निम्नलिखित हैं

(१) अच्छे कोयले का अभाव—लोहा गलाने के लिए अच्छे किस्म के कोयले की आवश्यकता पड़ती है परन्तु भारत मे इस प्रकार क कोयले का बहुत अभाव है। इस समस्या के समाधान के लिए कोयला खान की व्यवस्था मे सुधार किया जा रहा है तथा उत्तम श्रेणी के कोयले के उत्पादन मे वृद्धि की जा रही है।

(२) प्राविधिज्ञों का अभाव—लोहा तथा इस्पात उद्योग के लिए पर्याप्त संख्या मे उच्च प्रशिक्षित कर्मचारी नही मिल पाते हैं। अतः अधिक संख्या म विदेशी विशेषज्ञों की नियुक्ति करनी पड़ती है। भिलाई, राउरकेला तथा दुर्गापुर कारखानो के बन जाने के कारण इस समस्या का समाधान हो रहा है क्योंकि अधिक संख्या में कर्मचारी रूस, जर्मनी तथा ब्रिटेन मे प्रशिक्षण प्राप्त कर रहे हैं।

(३) इस्पात की कीमत सम्बन्धी समस्या—देश मे आवश्यकता से कम इस्पात का उत्पादन होता है अतः इस्पात का आयात करना पड़ता है। स्वदेशी इस्पात तथा आयात किये

हुए इस्पात के मूल्य में पर्याप्त अन्तर रहता है। परन्तु समता लाने के लिए दोनों प्रकार का इस्पात एक ही दर पर बेचा जाता है।

जर्मनी के प्रेस ब्यूरो के एक अनुमान के अनुसार दस वर्षों (१९५५-६५) में भारत में इस्पात के मूल्यों में ८० प्रतिशत वृद्धि हुई है। १९५५ में इस्पात का मूल्य ४१८ रुपये टन था जो बढ़कर १९६५ में ७५५ रुपये टन हो गया। अन्य देशों में इस्पात मूल्यों में भारत से बहुत कम वृद्धि हुई।

अन्तरराष्ट्रीय तुलना—विश्व में स्टील उत्पादन करने में प्रथम स्थान अमरीका का (११.७० करोड़ टन), द्वितीय स्थान रूस का (८.५८ करोड़ टन), तृतीय स्थान जापान का (४.०४ करोड़ टन) तथा चतुर्थ स्थान पश्चिमी जर्मनी का (३.७८ करोड़ टन) है। विश्व में, कुल स्टील उत्पादन की दृष्टि से चीन का सातवाँ (१.०० करोड़ टन) तथा भारत का तेरहवाँ स्थान है। एशिया में जापान, चीन तथा भारत प्रमुख उत्पादक देश हैं। इनके अतिरिक्त राष्ट्रवादी चीन तथा टर्की में नाममात्र स्टील पैदा किया जाता है। भारत में स्टील का उत्पादन कुल विश्व उत्पादन का १.४२ प्रतिशत मात्र है। प्रति व्यक्ति वार्षिक उपभोग की दृष्टि से संसार के स्टील उत्पादक देशों में भारत का अन्तिम स्थान (३६वाँ) है। प्रति व्यक्ति, स्टील का वार्षिक उपभोग अमरीका में ६८५ किलोग्राम, रूस में ४२८ कि०, पश्चिमी जर्मनी में ४८८ कि०, जापान में ४६० कि०, इंगलैण्ड में ४२२ कि० तथा भारत में ११ कि० मात्र है।

नयी नीति—स्टील उत्पादन के सम्बन्ध में भारत सरकार बिल्कुल नयी नीति अपना रही है जिसके मुख्य तत्त्व निम्नलिखित हैं

(१) नये कारखानों का निर्माण अथवा पुराने कारखानों का विस्तार तीन चरणों में होगा. प्रथम कच्चा लोहा बनाने, द्वितीय गलाने तथा तृतीय तैयार इस्पात उपलब्ध करने सम्बन्धी चरण होगा। जब तक एक चरण के लक्ष्य पूरे नहीं होंगे, दूसरे का आरम्भ नहीं किया जायगा।

(२) वर्तमान में भारत इस्पात की बनी-बनायी मशीनें तथा पुर्जे आदि आयात करता है। नयी नीति के अनुसार कल-पुर्जों की बजाय विदेशों से प्राविधिक जानकार बुलाये जायेंगे।

(३) अब इस्पात के भी छोटे-छोटे कारखाने अनेक स्थानों पर लगाये जायेंगे ताकि कम पूँजी लगाकर जल्दी उत्पादन मिल सके।

५ कोयला उद्योग

कोयला उद्योग भारत का आधारभूत उद्योग है। किसी भी देश के औद्योगीकरण के लिए कोयला तथा लोहे की आवश्यकता होती है। कोयले का प्रयोग औद्योगिक शक्ति के साधन के रूप में किया जाता है। भारत के प्रमुख कोयला क्षेत्र बंगाल तथा बिहार राज्य में हैं। कोयले का क्षेत्र दामोदर घाटी में फैला हुआ है। रानीगंज (पश्चिमी बंगाल) तथा झरिया (बिहार) की खानों से देश के कुल उत्पादन का क्रमशः ३० व ४०% कोयला निकाला जाता है। कोयले की छोटी छोटी खानें भारत के अन्य राज्यों जैसे उड़ीसा, मध्य प्रदेश, तमिलनाडु, आसाम, गुजरात, राजस्थान और काश्मीर में भी पायी जाती हैं।

संक्षिप्त इतिहास—भारत में कोयला उद्योग का प्रारम्भ सन् १८१४ में हुआ जबकि सब प्रथम रानीगंज की खानों में कोयला निकाला गया। परन्तु १८५३ तक इस उद्योग का विकास नहीं किया जा सका। सन् १८५३ के पश्चात् भारत में रेलों का विकास किया जाने लगा। सन् १८५० के पश्चात् भारत में आधुनिक उद्योगों की स्थापना भी की जाने लगी। इन कारणों से कोयला उद्योग का विकास होने लगा। सन् १८६८ में देश में कोयले का उत्पादन ५ लाख टन हुआ। इसके पश्चात् कोयला उद्योग का निरन्तर विकास होता गया। सन् १९०० में उत्पादन ६१ लाख टन था जो बढ़कर १९५० में ३२० लाख टन हो गया।

योजनाकाल मे कोयला उद्योग—प्रथम योजना के प्रारम्भ मे भारत मे कोयले का उत्पादन ३४४ लाख टन था।

नीचे की सारिणी मे योजनाकाल में कोयला उद्योग की प्रगति का ज्ञान होता है -

योजनाकाल में कोयले का उत्पादन (मिलियन टनों मे)

वर्ष	उत्पादन
१६५०-५१	३२ ८
१६६०-६१	५५ ५
१६६५-६६	७० ३
१६६६-७०	७६ ६

प्रथम योजनाकाल मे देश में कोयले का उत्पादन पर्याप्त था किन्तु बाद के वर्षों मे उद्योगो के विस्तार के लिए कोयले की आवश्यकता मे वृद्धि होती गयी। अतः द्वितीय योजनाकाल मे कोयले का उत्पादन लक्ष्य ६ करोड़ टन रखा गया। वास्तविक उत्पादन ५ ६ करोड़ टन हुआ किन्तु उत्पादन क्षमता ६ करोड़ टन तक पहुँच गयी। इसी काल मे (अक्टूबर १६५६) राष्ट्रीय कोयला विकास निगम की स्थापना की गयी।

तृतीय योजना के लिए कोयला उत्पादन का लक्ष्य ६ ७ करोड़ टन था अर्थात् पाँच वर्षो मे कोयले के उत्पादन मे ३ ७ करोड़ टन की वृद्धि करनी थी। इस वृद्धि मे सार्वजनिक क्षेत्र का दायित्व २ करोड़ टन तथा निजी क्षेत्र का दायित्व १ ७ करोड़ टन था। तृतीय योजनाकाल मे (१६६५-६६ तक) कोयले की उत्पत्ति कुल ७ करोड़ टन तक पहुँच गयी और १६६६-७० का अनुमानित उत्पादन ८ करोड़ टन था।

कोयले का उत्पादन लक्ष्यों से कम होने के मुख्य कारण निम्नलिखित रहे हैं

(१) अनेक उद्योगों मे कोयले की माँग कम हो गयी।

(२) देश के कुछ भागो मे डीजल तथा बिजली से चलने वाले इजनो का प्रयोग होने लगा है।

(३) अनेक औद्योगिक तथा घरलू क्षेत्रो में कोयले के स्थान पर तेल तथा गैस का उपयोग होने लगा है।

(४) देश मे कोयले की नियमित पूर्ति न होने के कारण कोयले की मितव्ययिता की जाने लगी है।

(५) परिवहन की कठिनाइयों के कारण कोयले के कुल उत्पादन का प्रयोग करने मे कठिनाई रही है।

मूल्य नियन्त्रण—योजनाकाल मे कोयले के मूल्यो पर नियन्त्रण बना रहा है और अनेक बार कोयले के मूल्यों मे वृद्धि की गयी है। १६६६-६७ मे कोयले के मूल्य चार बार बढाये गये जिसके फलस्वरूप कोयले का मूल्य सूचकांक ४ ४ प्रतिशत बढ गया।

गत वर्षों में कोयले के निर्यातो मे भी कमी हुई है। इसका अनुमान इस तथ्य से लग सकता है कि १६६६ मे केवल ४·१ लाख टन कोयला निर्यात किया गया जबकि १६६५ में निर्यात की मात्रा लगभग १८ लाख टन थी।

२४ जुलाई, १६६७ से कोयले के मूल्य तथा वितरण पर से नियन्त्रण हटा लिया गया। तब से केवल धातु उद्योगों में काम आने वाले कोयले के मूल्यो पर नियन्त्रण रह गया है। नियन्त्रण हटने से कोयला उत्पादको तथा उपभोक्ताओं की अनेक समस्याएँ हल हो गयी हैं।

समस्याएँ तथा सुझाव—कोयला उद्योग के समक्ष अनेक समस्याएँ हैं, जिनमे से कुछ तो प्राकृतिक हैं, जिन्हें दूर नहीं किया जा सकता और कुछ ऐसी हैं जिन्हें दूर किया जा सकता है। इस उद्योग से सम्बन्धित समस्याओं का संक्षिप्त विवरण अग्रलिखित है :

(१) **कोयला क्षेत्रों का असमान वितरण**—भारत मे कोयले का अधिकाश उत्पादन बिहार तथा पश्चिमी बगाल मे होता है। कुछ अन्य राज्यो मे भी कोयले का भण्डार है परन्तु वहाँ का उत्पादन बहुत ही कम है। बगाल तथा बिहार से कोयला देश के अन्य भागो मे भेजने मे यातायात व्यय बहुत अधिक पड जाता है। योजना आयोग द्वारा नियुक्त 'कोयला उद्योग कार्यकारिणी मण्डल' (Working Group of Coal Industry) ने यह सुझाव दिया था कि कोयले के उत्पादन को प्रादेशिक आधार पर सगठित किया जाय। इससे कोयले के वितरण व्यय मे कमी होगी। सक्षेप मे, इससे सम्बन्धित सुझाव निम्न प्रकार थे

(क) आसाम मे कोयला उद्योग को विकसित करके उसे आत्म-निर्भर बनाया जाय।

(ख) दक्षिण भारत मे कोयले की आवश्यकता की पूर्ति के लिए आन्ध्र प्रदेश मे इस उद्योग का विकास किया जाय।

(ग) जिन राज्यो मे कोयले का उत्पादन नही होता है या बहुत कम होता है, जैसे उत्तर प्रदेश तथा तमिलनाडु, वहाँ पर इस उद्योग को विकसित किया जाय।

(२) **अभिनवीकरण**—भारतीय कोयला उद्योग के समक्ष अभिनवीकरण की समस्या भी प्रमुख है। कोयले की खानो मे श्रम शक्ति का प्रयोग अपेक्षाकृत अधिक है। इससे उत्पादन लागत बहुत अधिक पडती है। खानो म काम करने वाले श्रमिको की कार्यक्षमता भी बहुत निम्न है अत यह आवश्यक है कि मशीनो का अधिकाधिक प्रयोग किया जाय। कोयले की खानो की सख्या भी अधिक है। बहुत-सी खानो का आकार अनार्थिक है अत बहुत छोटी खानो को या तो बन्द कर देना चाहिए या उनका एकीकरण करना चाहिए। अभिनवीकरण के लिए अधिक पूँजी की आवश्यकता होगी जिसे निजी क्षेत्र मे प्राप्त करना कठिन है। अत धीरे-धीरे कोयला उद्योग पूर्ण रूप स सार्वजनिक क्षेत्र मे लेना चाहिए।

(३) **कोयला भण्डार का दुरुपयोग**—भारत मे कोयले का दुरुपयोग भी अधिक होता है। निजी क्षेत्र मे व्यय अधिक होने के कारण खान मालिक अधिक गहराई तक कोयला नही निकालते। वे पुरानी खानो म ऊपरी भाग से कोयला निकाल कर उसे छोड देते हैं तथा नयी खानो मे कोयला निकालने का काय आरम्भ कर देते हैं। कोयला निकालने की विधि भी अवैज्ञानिक तथा दोषपूर्ण है। इस प्रकार इस अमूल्य प्राकृतिक साधन का दुरुपयोग होता है।

देश मे कोयले का भण्डार भी सीमित है। देश मे कोयले का अनुमानित भण्डार केवल ६,००० करोड टन है। सयुक्त राज्य अमरीका का भण्डार २,०८,००० करोड टन तथा रूस का १,४४,००० करोड टन है। इसमे भी उत्तम प्रकार के कोकिंग कोयले (High Grade Coal) का भण्डार केवल २०० करोड टन है। इस प्रकार देश की आवश्यकताओ तथा औद्योगीकरण की गति को देखते हुए यह भण्डार अत्यन्त अपर्याप्त है। अनुमान लगाया गया है कि औद्योगिक शक्ति के अन्य साधनो (other sources of industrial power) का विकास होते हुए भी भारतीय कोयले का भण्डार लगभग १५० वर्षों म समाप्त हो जायेगा। अत कोयले के दुरुपयोग को हर प्रकार से रोकने की आवश्यकता है।

(४) **अच्छे कोयले के उत्पादन में कमी**—एक ओर कोयले के कुल उत्पादन में वृद्धि हो रही है, तो दूसरी ओर अच्छे किस्म के कोयले का उत्पादन प्रतिवर्ष घटता जा रहा है। सामान्यत कोयले की माँग म भी कमी आने की प्रवृति है। इसका कारण रेलवे का विद्युतीकरण, कोयले की पूर्ति नियमित न होने के कारण उद्योगो द्वारा अन्य शक्ति के साधनो का प्रयोग तथा देश मे जल विद्युत शक्ति का विकास है परन्तु यह अवस्था अधिक दिनो तक नही रहेगी। औद्योगीकरण के कारण भविष्य मे कोयले की माँग म वृद्धि होगी।

(५) **परिवहन की समस्या**—देश मे कोयले का क्षेत्र एक ही भाग मे केन्द्रित है, अत देश

के दूसरे भागों में कोयला पहुँचाने में यातायात सम्बन्धी समस्या का सामना करना पड़ता है। यातायात के साधनों की यह बाधा एक स्थायी समस्या हो गयी है। इस कारण कोयले का स्टॉक रहते हुए भी अनेक बार उद्योगों को समय पर कोयला नहीं मिल पाता। अतः कुछ समय के लिए उन्हें उत्पादन कम या बन्द करना पड़ता है।

सरकार कोयला उद्योग की समस्याओं को दूर करने के लिए प्रयत्नशील है। परिवहन के साधनों का विकास किया जा रहा है। देश के अन्य क्षेत्रों में कोयला निकालने की योजनाएँ बनायी जा रही हैं। अच्छे प्रकार के कोयले के उत्पादन में वृद्धि करने के लिए उचित प्रोत्साहन दिया जा रहा है। कोयला उद्योग के लिए विकास छूट की दर २० प्रतिशत से बढ़ाकर ३५ प्रतिशत कर दी गयी है। इससे उद्योग में मशीनों का प्रयोग बढ़ेगा। इससे गहराई से कोयला निकालने के कार्य में मदद मिलेगी।

६ सीमेण्ट उद्योग
(CEMENT INDUSTRY)

वर्तमान युग में संसार के अधिकांश देशों में अनेक प्रकार के निर्माण कार्य चल रहे हैं। आवास के लिए भवनों के निर्माण के अतिरिक्त, पक्की नहरें तथा नदियों पर बड़े-बड़े बाँध बनाये जा रहे हैं। इन सभी निर्माण कार्यों में सीमेण्ट का अत्यधिक महत्त्व है। अनेक क्षेत्रों में तो लोहे अथवा इस्पात के स्थान पर सीमेण्ट (कंक्रीट) काम में लिया जा रहा है अतः सीमेण्ट की माँग में उत्तरोत्तर वृद्धि हो रही है।

भारत में विकास—भारत में सीमेण्ट उद्योग का आरम्भ १९०४ में हुआ जबकि तमिलनाडु में साउथ इण्डिया इण्डस्ट्रियल्स लिमिटेड ने १०,००० टन की उत्पादन शक्ति की एक सीमेण्ट फैक्टरी स्थापित की किन्तु यह प्रयत्न असफल हो गया और फैक्टरी शीघ्र बन्द कर देनी पड़ी। इस दृष्टि से सीमेण्ट उत्पादन की वास्तविक नींव १९१४ में पड़ी जबकि तीन फैक्टरियाँ—पोरबन्दर में टाटा बन्धुओं की, कटनी में लटाऊ तथा लाखेरी में किलिक निक्सन द्वारा—स्थापित की गयीं। इनकी सम्मिलित उत्पादन शक्ति ७६,००० टन वार्षिक था। सीमेण्ट की माँग बढ़ने के कारण प्रथम युद्धकाल में सीमेण्ट की अनेक नयी फैक्टरियाँ स्थापित की गयीं और १९१८ में सीमेण्ट का उत्पादन ८५,००० टन तक पहुँच गया। युद्धकालीन लाभ से प्रेरित होकर कुछ और कारखानों की स्थापना हुई किन्तु यह कारखाने स्थानीय सुविधाओं (कच्चा माल, जल, कोयला या बिजली शक्ति) का ध्यान रखकर स्थापित किये गये अतः इनमें से बहुत से शीघ्र ही बन्द हो गये।

सन् १९२५ में टैरिफ बोर्ड की सिफारिश पर भारतीय सीमेण्ट उत्पादन संघ (Indian Cement Manufacturers Association) की स्थापना की गयी। इस संस्था ने सीमेण्ट के मूल्यों का सफलतापूर्वक नियन्त्रण किया और १९२७ में इसके प्रयत्नों से भारतीय कंक्रीट संगठन (Indian Concrete Association) स्थापित किया गया जिसका कार्य उपभोक्ताओं में सीमेण्ट के प्रयोग का अधिकाधिक प्रचार करना था। इस संगठन के लिए धन की व्यवस्था करने के लिए सदस्यों द्वारा बेचे गये कुल सीमेण्ट पर पाँच आने प्रति टन लाग (levy) लगायी गयी।

युद्धोत्तरकाल में सीमेण्ट का उत्पादन माँग से बढ़ गया अतः उसकी बिक्री एक समस्या बन गयी। इसका हल करने के लिए एक सीमेण्ट विक्रय संस्था (Cement Marketing Company of India) भी स्थापित की गयी जिसके प्रयत्नों के फलस्वरूप सीमेण्ट की बिक्री में वृद्धि हुई। १९३० में सीमेण्ट का उत्पादन बढ़कर ५.७३ लाख टन पहुँच गया। उधर कंक्रीट संगठन तथा विक्रय संघ के प्रचार से सीमेण्ट की बिक्री जो बढ़ी तो फैक्टरियों में स्पर्द्धा होनी आरम्भ हो गयी। इसका दुष्प्रभाव दूर करने के लिए १९३६ में बहुत-सी सीमेण्ट फैक्टरियों ने मिलकर एक संघ बनाया जिसका नाम Associated Cement Companies Ltd रखा गया।

इस विलयन का उद्देश्य यह था कि विभिन्न उत्पादकों में पारस्परिक स्पर्द्धा को दूर किया जा सके और सीमेण्ट के मूल्य तथा पूर्ति का नियमन किया जा सके। इस प्रकार सीमेण्ट उद्योग को सशक्त बनाने का यत्न किया गया। १९३६ में सीमेण्ट का कुल उत्पादन ९.६० लाख टन था। १९३८ में डालमिया समूह की सीमेण्ट कम्पनियों ने ए० सी० सी० वर्ग की कम्पनियों से स्पर्द्धा आरम्भ कर दी। इस समूह ने सस्ती दरों पर सीमेण्ट बेचना शुरू कर दिया, जिससे सीमेण्ट उद्योग में पुनः संकट की स्थिति उत्पन्न हो गयी। यह स्थिति शीघ्र ही सम्हल गयी क्योंकि १९४६ में ए० सी० सी० और डालमिया समूहों में समझौता हो गया। इस समय भारत में कुल २२ सीमेण्ट कम्पनियाँ थीं, जिनमें १३ ए० सी० सी० समूह, ५ डालमिया समूह तथा ४ स्वतन्त्र थी।

द्वितीय महायुद्धकाल में देश के सीमेण्ट उत्पादन का लगभग ८० प्रतिशत भाग सरकार द्वारा खरीद लिया जाता था अतः जनता के लिए बहुत कम सीमेण्ट उपलब्ध था। फलतः सीमेण्ट की पूर्ति पर प्रतिबन्ध लगा दिया गया और सीमेण्ट के राशनिंग की व्यवस्था कर दी गयी। युद्धकाल में सीमेण्ट का उत्पादन भी बहुत बढ़ गया। १९४७ में कुल उत्पादन १४.७० लाख टन था।

योजनाकाल में प्रगति—युद्ध के पश्चात् १९४८ में ए० सी० सी० तथा डालमिया समूह में पुनः मतभेद उत्पन्न हो गया और दोनों समूहों ने स्वतन्त्र रूप में सीमेण्ट बेचना आरम्भ कर दिया। विभाजन के समय भारत में १८ सीमेण्ट कम्पनियाँ थी जिनका वार्षिक उत्पादन २१ लाख टन था, तत्पश्चात् जामनगर, तिरुनेवेल्ली तथा कोट्टायम में तीन कारखाने और खुल गये और उत्पादन ३१ लाख टन तक पहुँच गया। सन् १९४७-५७ की अवधि में सीमेण्ट उद्योग की विकास दर १५ प्रतिशत वार्षिक थी। सन् १९५८-६७ की अवधि में विकास दर घटकर ६.५ प्रतिशत वार्षिक हो गयी। सन् १९४७-६८ की अवधि में, इस उद्योग की विकास दर ९ प्रतिशत वार्षिक रही। भारतीय सीमेण्ट उद्योग की प्रगति का संक्षिप्त ब्यौरा निम्नलिखित है

भारतीय सीमेण्ट उद्योग की प्रगति

(लाख टनों में)

वर्ष (अन्त)	कारखानों की संख्या	उत्पादन
१९१९	३	१
१९३९	११	१०
१९४६	१७	१९
१९५१	२२	३३
१९५६	२८	५०
१९६१	३४	८२
१९६६	३८	१११
१९६९-७०	४३	१३८

सन् १९६९-७० में सीमेण्ट उद्योग की उत्पादन-क्षमता १५० लाख टन थी, परन्तु वास्तविक उत्पादन १३८ लाख टन हुआ। सन् १९७४ तक सीमेण्ट का उत्पादन १८० लाख टन होने का अनुमान लगाया गया है।

उपर्युक्त तालिका से यह स्पष्ट है कि गत बीस वर्षों में सीमेण्ट का उत्पादन लगभग चार गुना हो गया है। यह प्रगति सर्वथा सन्तोषजनक प्रतीत होती है किन्तु बहुत समय तक देश में सीमेण्ट का अभाव बना रहा है। गत वर्षों में स्थिति में पर्याप्त सुधार हुआ है। फिर भी भारत में प्रति व्यक्ति खपत बहुत कम है।

भारत में सीमेण्ट की प्रति व्यक्ति खपत अन्य देशों की तुलना में नगण्य है। इतनी कम

आवश्यकता की पूर्ति भी सीमेण्ट पर नियन्त्रण रखकर की जाती रही है। १ जनवरी, १९६६ से सीमेण्ट के वितरण पर से नियन्त्रण हटा लिया गया तथा सीमेण्ट के मूल्यों मे भी १६ रुपये प्रति टन की वृद्धि की घोषणा की गयी। जनवरी १९६८ से सीमेण्ट के वितरण का अधिकार भारतीय सीमेण्ट निगम (Cement Corporation of India) को दे दिया गया है।

सीमेण्ट उत्पादन में शिथिल प्रगति के कारण—भारतीय सीमेण्ट उद्योग की प्रगति सन्तोषजनक न होने के मुख्य कारण निम्नलिखित हैं

(१) दोषपूर्ण मूल्य नीति—ऐसा कहा जाता है कि भारत सरकार ने सीमेण्ट के जो मूल्य निर्धारित किये हैं, वह यथार्थता से बहुत दूर (अर्थात बहुत कम) हैं फलत सीमेण्ट उद्योगो में लाभ की मात्रा अन्य उद्योगो की तुलना मे बहुत कम रही है।

वस्तुत सीमेण्ट उद्योग मे नयी फैक्टरियाँ लगाने की समस्या नही है; समस्या वर्तमान शक्तियो के उपयोग की है। उदाहरणत, सीमेण्ट उद्योग का वर्तमान उत्पादन उसकी कुल शक्ति का केवल ६४ प्रतिशत है। यदि उत्पादन कुल शक्ति का शत प्रतिशत हो तो समस्या हल हो सकती है।

(२) विनियोगों का अभाव—सीमेण्ट उद्योग एक पूँजीगत (Capital intensive) उद्योग है, जिसमे अधिक पूँजी की आवश्यकता पडती है। सीमेण्ट के एक आधुनिक कारखाने की स्थापना के लिए जिसकी दैनिक उत्पादन-क्षमता ६०० टन दैनिक हो, ४ करोड रुपये पूँजी विनियोजन करने की आवश्यकता पडती है। सन् १९६८-७१ की अवधि मे इस उद्योग के लिए १०० करोड रुपये पूँजी की आवश्यकता पडेगी। गत वर्षों में यद्यपि उद्योगो मे पूँजी विनियोग की मात्रा बढी है परन्तु सीमेण्ट उद्योग मे पूँजी का अभाव रहा है।

ए० सी० सी० समूह के अध्यक्ष श्री खटाऊ ने इन समस्याओ का समाधान करने के लिए तीन मुख्य सुझाव दिये हैं

(क) मूल्य वृद्धि—सीमेण्ट के मूल्य मे कोयल, रेलवे भाडा, मजदूरी या महँगाई-भत्ता आदि खर्चों मे वृद्धि के अनुपात मे वृद्धि की छूट मिलनी चाहिए। इससे उद्योग को लागत बढाने के साथ-साथ अपने आप मूल्य बढाने की अनुमति मिल जायेगी। इसमें एक भय यही है कि कुछ उत्पादक मूल्यो मे अवाछनीय वृद्धि करने लगेंगे किन्तु इस क्रिया पर सीमेण्ट उत्पादक सघ (C. M. O) द्वारा नियन्त्रण लगाया जा सकता है।

(ख) विकास प्रोत्साहन—सीमेण्ट के उत्पादन मे वृद्धि करने तथा उसके मूल्य पर नियन्त्रण रखने के लिए सरकार द्वारा प्रत्येक फैक्ट्री को अतिरिक्त उत्पादन पर कुछ सहायता एक नियमित क्रम से देने की व्यवस्था करनी चाहिए।

(ग) विकास रिबेट—सीमेण्ट उद्योग के विकास के लिए वर्तमान मे २० प्रतिशत विकास रिबेट दिया जाता है। इसे बढाकर ४० प्रतिशत कर दिया जाना चाहिए।

अन्य सुझाव—सीमेण्ट उद्योग का विकास करने के लिए अन्य सुझाव और दिये जा सकते हैं·

(घ) पुरानी इकाइयाँ—सरकार द्वारा पुरानी इकाइयो का विकास करने की ओर विशेष ध्यान देना चाहिए तथा इनका विकास करने मे प्राथमिकता दी जानी चाहिए।

(ङ) प्राविधिक ज्ञान का प्रयोग—वर्तमान मे सीमेण्ट उत्पादन मे जो इकाइयाँ काम कर रही हैं, उन्हें इस उद्योग का अनुभव है अत सरकार को इन इकाइयो द्वारा नये कारखाने स्थापित करने का प्रोत्साहन दिया जाना चाहिए।

(च) विदेशी विनिमय—सीमेण्ट उद्योग का विकास करने के लिए भी नयी मशीनो की आवश्यकता पडती है जिन्हे प्राय विदेशो से आयात करना पडता है किन्तु मशीनें आयात करने के लिए प्राय· विदेशी विनिमय की अनुमति मिलने मे कठिनाई होती है अत सरकार द्वारा सीमेण्ट उद्योग को मशीनें आयात करने के लिए विदेशी विनिमय देने की प्राथमिकता देनी चाहिए।

(घ) किस्म नियन्त्रण—सीमेण्ट उद्योग द्वारा उत्पन्न वस्तुओं की किस्म का यथोचित नियन्त्रण करने की व्यवस्था की जानी चाहिए। जूट तथा वस्त्र उद्योग की भाँति ही सीमेण्ट उद्योग के उत्पादकों द्वारा इस दिशा में प्रयत्न किये जाने जाने चाहिए।

वर्तमान स्थिति तथा भविष्य—भारतीय सीमेण्ट उद्योग में लगभग ११५ करोड़ रुपये की पूँजी लगी हुई है। इस उद्योग में लगभग ५५ ००० व्यक्तियों को काम मिला हुआ है। यह प्रति वर्ष लगभग ३३ लाख टन कोयला प्रयोग करता है तथा सरकार को इस उद्योग से उत्पादन कर (excise duty) द्वारा २८ करोड़ रुपये की वार्षिक आय होती है। इसके अतिरिक्त सीमेण्ट उद्योग भारतीय रेलों को प्रति वर्ष लगभग १४ करोड़ रुपये यातायात शुल्क देता है। इस उद्योग द्वारा उत्पन्न माल का वार्षिक मूल्य लगभग ८० करोड़ रुपये के तुल्य है।

सीमेण्ट उद्योग निगम (Cement Corporation of India)—१८ जनवरी, १९६५ को भारत सरकार ने सार्वजनिक क्षेत्र में एक निगम रजिस्टर्ड किया है। यह चूने के पत्थर (lime stone) की खोज कर नयी सीमेण्ट इकाइयाँ स्थापित करने वालों को उचित सूचना देगा और सीमेण्ट उद्योग के सम्बन्ध में विस्तृत शोध करेगा। कई राज्य सरकारों ने (उदाहरणतः, उत्तर प्रदेश द्वारा चुर्क में) भी सीमेण्ट उत्पादन इकाइयाँ स्थापित की हैं। निगम इनके विकास एवं विस्तार के लिए सब प्रकार की प्राविधिक तथा अन्य प्रकार की सलाह देगा। सीमेण्ट निगम ने देश में १० नये स्थानों पर सीमेण्ट फैक्टरियाँ स्थापित करने का सुझाव दिया है।

७. कागज उद्योग
(PAPER INDUSTRY)

कागज वर्तमान सभ्यता का प्रतीक है। प्राचीन युग में जो कुछ थोड़ा-बहुत लिखने का कार्य होता था वह ताड़पत्रों पर होता था और उन ताड़पत्रों को सुरक्षित रखना एक समस्या थी। ताड़पत्र युग से संसार एक ऐसे युग में पहुँच गया है जबकि प्रतिदिन प्रत्येक विषय का इतना साहित्य सुन्दरतम पुस्तकों के रूप में छपकर बाजार में बिकने के लिए आता है, जिसे पूरी तरह पढ़ने के लिए भी बहुत समय और शक्ति चाहिए।

भारत में विकास—ताड़पत्रों के आलेखों की दृष्टि से भारत कितना ही प्रसिद्ध रहा हो परन्तु कागज का प्रयोग इस देश में बहुत पुराना नहीं है। कहा जाता है कि भारत में कागज बनाने का क्रम मुस्लिम शासनकाल में आरम्भ किया गया। अकबर के शासन में इस व्यवसाय की बहुत उन्नति हुई किन्तु ब्रिटिश शासन के प्रारम्भिक वर्षों में यह व्यवसाय केवल जेलों तक सीमित रह गया।

भारत में आधुनिक ढंग की प्रथम कागज मिल कलकत्ता के समीप बेली में सन् १८७० में स्थापित की गयी। १८८० में टीटागढ़ पेपर मिल स्थापित हुई और तत्पश्चात् क्रमशः लखनऊ, ग्वालियर और रानीगंज में कागज बनाने का कार्य आरम्भ किया गया। १९२५ तक कागज उद्योग की उन्नति अत्यन्त सामान्य थी क्योंकि उस वर्ष देश में ९ कागज मिलें थीं जिनकी वार्षिक उत्पादन शक्ति केवल ३३ ००० टन थी। १९२५ के पश्चात् भारतीय मिलों ने बाँस की लुग्दी तैयार कर उनसे कागज बनाना आरम्भ किया। १९३२ में भारतीय कागज उद्योग को संरक्षण प्रदान किया गया और विदेशों से आयात होने वाली लुग्दी पर भी ४५ रुपया प्रति टन आयात शुल्क लगा दिया गया। संरक्षण प्रदान करने पर भी भारतीय कागज उद्योग की विशेष उन्नति नहीं हुई क्योंकि १९३७ ई० में कागज का उत्पादन केवल ५३,८११ टन तक पहुँच सका। उस समय लगभग १५ लाख टन कागज विदेशों से आयात किया जाता था। द्वितीय युद्धकाल में कागज का आयात बन्द होने के कारण देशी कागज मिलों की संख्या तथा उत्पादन में यथेष्ट वृद्धि हुई। १९४४ में कागज मिलों की संख्या १६ तथा उनका उत्पादन लगभग १ ०४ लाख टन था।

योजनाकाल में प्रगति—भारतीय कागज उद्योग ने योजनाकाल में यथेष्ट प्रगति की है। सन् १९५१ में भारत में कागज तथा गत्ते के कारखानों की संख्या केवल १७ थी जिनकी उत्पादन क्षमता १,३७,००० टन थी। सन् १९६८-६९ में इनकी संख्या ५७ तथा उत्पादन क्षमता ७,३०,००० टन हो गयी। इस उद्योग की प्रगति का अनुमान निम्नलिखित अंकों से लगाया जा सकता है

कागज और गत्ते का उत्पादन

(हजार टनों में)

वर्ष	उत्पादन
१९५१	१३४
१९५६	१९७
१९६१	३६४
१९६६	५८५
१९६९-७०	७२४

तृतीय पंचवर्षीय योजना के समापन तक कागज और गत्ते के उत्पादन का लक्ष्य ७.११ लाख टन रखा गया था किन्तु कच्चे माल की कमी, कल पुर्जों के अभाव तथा आर्थिक साधनों की न्यूनता के कारण उद्योग के लक्ष्यों की पूर्ति सम्भव नहीं हो सकी।

वर्तमान स्थिति और समस्याएँ—भारतीय कागज उद्योग में लगभग १० करोड़ रुपये की पूंजी लगी हुई है, इसमें ५०,००० व्यक्ति नियोजित हैं और इसका (कागज, गत्ते तथा अन्य वस्तुओं का) वार्षिक उत्पादन लगभग ९० करोड़ रुपये के मूल्य का है। कागज तथा तत्सम्बन्धी वस्तुओं की वार्षिक उत्पत्ति लगभग छह लाख टन है।

अन्तरराष्ट्रीय तुलना—भारत में प्रति व्यक्ति कागज की खपत अन्य देशों की तुलना में बहुत कम है, जैसा कि निम्न तालिका से स्पष्ट है

कुछ देशों में प्रति व्यक्ति कागज की खपत (१९६८)

(पौण्डों में)

देश	कागज का उपभोग
संयुक्त राज्य अमरीका	५३०
ब्रिटेन	२६५
पश्चिमी जर्मनी	२२५
जापान	१७६
रूस	४६
चीन	१०
पाकिस्तान	२
भारत	३
विश्व का औसत	६६

समस्याएं—भारतीय कागज उद्योग की उत्पादन क्षमता और वास्तविक उत्पत्ति में जो अन्तर है उसका कारण यह है कि भारतीय कागज उद्योग अनेक समस्याओं से पीड़ित है। यह समस्याएँ निम्नलिखित हैं

(१) **लाभ में कमी**—भारतीय कागज उद्योग की सबसे बड़ी समस्या यह है कि इसको प्रति वर्ष लगभग २० करोड़ रुपया उत्पादन-कर के रूप में चुकाना पड़ता है जो कुल उत्पत्ति का

लगभग २०-२५ प्रतिशत है। इसके साथ ही गत वर्षों मे लागत मूल्य भी (मजदूरी, कच्चे माल आदि के मूल्यो के बढने के कारण) बढ गये हैं। इन दोनो परिवर्तनो की तुलना मे कागज के विक्रय मूल्यो मे विशेष वृद्धि करने की अनुमति नही दी गयी है। इसके फलस्वरूप कागज उद्योग में नये विनियोगो तथा उत्पादन वृद्धि की क्रियाओं को पर्याप्त प्रोत्साहन नही मिल रहा है।

यह सत्य है कि भारत जैसे अविकसित देश मे कागज के मूल्यो मे वृद्धि करने देना उचित नही है किन्तु सरकार को कर-व्यवस्था मे आवश्यक सशोधन करने चाहिए तथा लागत मूल्य कम करने मे सहायता प्रदान करनी चाहिए।

(२) विदेशी विनिमय की कमी—कागज उद्योग के सामने मशीनें, उनके पुर्जे तथा कुछ रसायन विदेशो से मँगवाने की समस्या रहती है और अनेक बार उनके आयात के लिए विदेशी विनिमय प्राप्त करना सम्भव नही होता। अत उत्पादन बढाने मे कठिनाई आती है। एक आधार भूत उद्योग होने के नाते कागज उद्योग के लिए विदेशी विनिमय की व्यवस्था करने मे प्राथमिकता दी जानी चाहिए। इस सम्बन्ध मे उल्लेखनीय बात यह है कि भारत मे प्रति वर्ष लगभग २५ करोड रुपये का कागज गत्ता आदि विदेशो से आयात किया जाता है। इस दृष्टि से सरकार की विदेशी विनिमय सम्बन्धी नीति ऐसी होनी चाहिए जिससे ऐसे कागज के उत्पादन (विशेषत अखबारी कागज) म वृद्धि हो जिसका अधिक आयात करना पडता हो।

(३) अखबारी कागज—भारत मे अखबारी कागज (Newsprint) की बहुत कमी है। अभी तक सरकार की एक मिल (मध्य प्रदेश मे नेपानगर) लगभग ३०,००० टन अखबारी कागज बना रही है जबकि देश मे वार्षिक खपत लगभग १ ३ लाख टन है। अत लगभग एक लाख टन अखबारी कागज विदेशो से आयात करना पडता है। सरकार ने नेपा मिल की उत्पादन क्षमता (तृतीय योजनाकाल मे) ३०,००० से ७५,००० टन करने का निश्चय किया है।

(४) कच्चा माल—अनुमान लगाया गया है कि भारत मे उपलब्ध बाँस से प्रति वर्ष ८ लाख टन कागज तैयार किया जा सकता है। किन्तु राज्य सरकार द्वारा कागज की मिलो को उचित रॉयल्टी पर बाँस क वन ठेके पर नही दिये जा रहे है। अत इस दिशा मे सरकार द्वारा एक निश्चित नीति अपनाने की आवश्यकता है।

कच्चे माल की समस्या का समाधान करने के लिए भारतीय वन सम्पदा का सर्वेक्षण कराना आवश्यक है। इसके अतिरिक्त बढिया कागज तैयार करने के लिए आवश्यक लकडी के वन लगाने की व्यवस्था की जानी चाहिए ताकि स्वीडन अथवा स्विटजरलैण्ड या अन्य देशो से कागज आयात नही करना पडे। गन्ने से प्राप्त छोई (अन्दर का सफेद छिलका—Bagasse) भी कागज निर्माण के कार्य मे ली जानी चाहिए। आशा है कागज निगम की स्थापना से कागज की लुग्दी का अभाव बहुत दूर हो सकेगा।

(५) मशीनो की समस्या—कागज उद्योग की मशीनो तथा उपकरणो सम्बन्धी आवश्यकता घरेलू साधनो से पूरा करना सम्भव नही है। इसक अतिरिक्त देश मे निर्मित मशीनें बहुत महँगी हैं और विदेशों स आयात करन मे विदेशी विनिमय के अभाव की समस्या है। इस समस्या के समाधान के लिए कागज उद्योग सम्बन्धी मशीनो के निर्माण को प्रोत्साहन दिया जाना चाहिए।

शोधकार्य—भारतीय कागज उद्योग की एक बहुत बडी कमी यह है कि उद्योग से सम्बन्धित कच्चे माल के प्रयोग तथा उसकी उत्पत्ति, क्रिया एव उत्पादनो के सम्बन्ध मे कोई शोधकार्य नही हो रहा है। भारतीय लुग्दी तथा कागज प्राविधिक सघ (Indian Pulp and Paper Technical Association) द्वारा शोधकार्य को प्रोत्साहन दिया जाना चाहिए ताकि कागज के उत्पादन की लागत कम की जा सके और किस्म मे सुधार हो सके। इस कार्य के लिए सघ द्वारा एक केन्द्रीय शोधशाला स्थापित की जा । चाहिए, जिसके व्यय के लिए सभी कागज की मिलो द्वारा धन सग्रह

किया जा सकता है। सरकार भी इस शोधशाला को कुछ सहायता प्रदान कर सकती है या कागज पर वसूल किये गये उत्पादन कर (excise duty) का एक भाग इस शोध-संस्था को दिया सकता है।

८. भारी इजीनियरिंग उद्योग
(HEAVY ENGINEERING INDUSTRY)

महत्त्व—वर्तमान युग कल युग अर्थात् मशीनो का युग कहलाता है। यह सर्वथा सत्य है, क्योंकि समाज म उपभोग के काम मे आने वाली अधिकाश वस्तुओं का उत्पादन मशीनो की सहायता से किया जाता है। पाश्चात्य देशो मे तो कृषि की सम्पूर्ण क्रियाएँ (बीज डालने, सिचाई करने, भूमि साफ करने, फसल काटने, पैक करने तथा एक स दूसरे स्थान पर भेजने और वस्तुओ के वर्गीकरण, प्रमापीकरण आदि कार्य सम्पन्न करने) मशीनों द्वारा की जाती हैं। इस प्रकार वस्त्र, पटसन, सीमेण्ट कागज, चीनी आदि सभी उद्योग मशीनो पर निर्भर हैं। इन उद्योगो मे प्राय बहुत बडे आकार की मशीनो की आवश्यकता पडती है। प्रत्यक्ष उपयोग के अतिरिक्त भारी मशीनें छोटी तथा हल्की मशीनें तैयार करने मे भी काम आती हैं। इस प्रकार भारी इजीनियरिंग उद्योग प्राय सभी बडे उद्योगों का आधार कहा जा सकता है।

आवश्यक तत्त्व—भारी इजीनियरिंग उद्योग मे विकास के लिए दो तत्त्व अत्यधिक महत्त्वपूर्ण हैं (१) अधिक पूंजी, (२) प्राविधिक कौशल। भारी मशीन उद्योग मे अत्यधिक मात्रा मे पूँजी की आवश्यकता पडती है, जिसकी उपलब्धि अविकसित देशो के लिए कठिन होती है। कभी-कभी इस पूंजी का एक भाग विदेशी विनिमय के रूप मे होता है, जिसे प्राप्त करना बहुत कठिन होता है। दूसरी आवश्यकता प्राविधिक ज्ञान (Technical skill) सम्बन्धी होती है। शिक्षा का निम्नस्तर होन के कारण अविकसित देशो मे प्राविधिक विशेषज्ञों का भी अभाव रहता है और प्राय. इन विशेषज्ञो को बहुत ऊँचे वतन पर विदेशो स बुलाना पडता है।

भारत में विकास—स्वतन्त्रता प्राप्ति से पूर्व भारी मशीनो व उद्योगो का विशेष विकास नहीं हुआ किन्तु १६४७ के पश्चात् भारत सरकार ने उद्योगो के विकास के लिए विशेष प्रयत्न किये हैं। इस सम्बन्ध मे लोहे और इस्पात उद्योगो की प्रगति का ब्योरा पहले दिया जा चुका है। कुछ मुख्य उद्योगो की प्रगति का विवरण नीचे दिया जा रहा है।

(१) स्टील पाइप और ट्यूब उद्योग—इस उद्योग मे जलपूर्ति और सफाई के लिए बनने वाली काली और गेल्वेनाइज्ड ट्यूबें, सीमलेस ट्यूबें तथा बिजली से प्रभावित न होने वाली ढली हुई ट्यूबें सम्मिलित हैं। इस उद्योग के लिए कच्चा माल तथा अन्य सामान आयात करने की अनुमति उदारतापूर्वक दी जाती है।

काली और गेल्वेनाइज्ड ट्यूबो की उत्पादन क्षमता ३ १६ लाख टन, सीमलेस स्टील ट्यूबो की क्षमता ३०,००० टन तथा बिजली से अप्रभावित ढली हुई ट्यूबो की क्षमता २६,४०० टन है। इन ट्यूबों का प्रयोग तेल निकालने, मोटर उद्योग, तेल शोधन जल सिंचन आदि मे विशेष रूप से होता है।

(२) हैवी स्टील स्ट्रक्चरल्स (Heavy Steel Structurals)—इसमे इस्पात मिलो के भवन, बिजली घरो के ढांचे, बडे पुल तथा परियोजनाओं के ढाँचों को बनाने सम्बन्धी मद सम्मिलित हैं। भारत मे २० औद्योगिक इकाइयाँ इन ढांचो को बनाने मे सलग्न हैं और उनकी वार्षिक उत्पादन क्षमता १ ३८ लाख टन है।

भारी ढाँचो के अतिरिक्त हल्के तथा मध्यम आकार के भवनो आदि के ढाँचे बनाने मे ११७ इकाइयाँ सलग्न हैं जिनकी वार्षिक उत्पादन क्षमता २ ३४ लाख टन है।

(३) भारवाहक, विद्युत सचारक केन्द्र तथा तार आदि (Cranes, Transmission towers, Wire ropes and Electric hoists)—भारवाहक उद्योग का वार्षिक उत्पादन

१०,००० टन है। इस उद्योग के लिए प्रमाणित स्टील प्लेटों तथा सजातीय स्टील की कमी पड़ती है।

विद्युत सचारक सकेन्द्र बनाने वाली १४ इकाइयाँ हैं जिनकी वार्षिक क्षमता लगभग ६६,१०० टन है। १९६९ में इनका वास्तविक उत्पादन ४२,००० टन था।

स्टील के मोटे तार कोयला उद्योग में प्रयुक्त किये जाते हैं जहाँ इन्हे कोयला ढोने के काम में लिया जाता है। इस उद्योग की उत्पादन क्षमता २८,००० टन है। इस उद्योग के लिए लाइसेंस नही दिय जा रहे हैं।

(४) स्टील कास्टिंग—इस्पात की ढली हुई सिल्लियों का प्रयोग रेल के डिब्बे बनाने, डीजल बिजली तथा भाप के इजनों और भारी विद्युत उद्योगों में होता है। वर्तमान मे निजी क्षेत्र ३४ इकाइयाँ स्टील कास्टिंग तैयार करती हैं जिनकी वार्षिक क्षमता १०७ लाख टन है। इस उद्योग की क्षमता बढाने अथवा नयी इकाइयाँ स्थापित करने के लिए लाइसेंस की आवश्यकता नही है।

(५) स्टील फोर्जिंग (Steel Forgings)—मोटर, बुलडोजर, डीजल इजन तथा रेल उद्योग में फोर्जिंग की आवश्यकता पड़ती है। अब मशीन बनाने वाली औद्योगिक इकाइयों के लिए मिश्रित इस्पात की फोर्जिंग बनायी जा रही हैं। स्टील फोर्जिंग की ४६ इकाइयाँ कार्यशील हैं जिनकी वार्षिक उत्पादन क्षमता ८१,२७० टन है। इस उद्योग को भी लाइसेंस मुक्त कर दिया गया है।

(६) कास्ट आयरन प्रेशर पाइप (Cast Iron Pressure Pipes)—अनेक प्रकार की जन प्रदाय सफाई तथा स्वास्थ्य योजनाओं के लिए इन नलों की आवश्यकता पड़ती है। वर्तमान म ऐसे पाइप बनाने वाली १७ इकाइयों की वार्षिक क्षमता ३ ५९ लाख टन है। स्थानीय प्रयोग के अतिरिक्त इस उद्योग का निर्यात की दृष्टि से विशेष महत्त्व है। एक इकाई १० इच व्यास की पाइप बनाने म सफल हो गयी है। इस उद्योग को भी लाइसेंस मुक्त कर दिया गया है।

(७) कास्ट आयरन कास्टिंग्स (Cast Iron Castings)—लगभग सभी इजीनियरिंग उद्योगों मे ऐसी सिल्लियों की आवश्यकता होती है। १९७०-७१ तक इनकी मांग ३० लाख टन तक बढ जाने की सम्भावना है। रेलों के डिब्बे, ट्राली आदि बनाने तथा सेनिटरी फिटिंग के लिए इनकी मुख्य मांग है। वर्तमान समय मे इनका कुल उत्पादन १९ लाख टन है।

(८) रेल के डिब्बे—भारत मे (भारवाहक) रेल के डिब्बे बनाने की वार्षिक क्षमता २९ ००० स कुछ अधिक है। भारत से माल ढोने वाले डिब्बों के निर्यात की सम्भावनाएँ बहुत उज्ज्वल हैं।

दो क्षत्रो में विभाजित—भारत का भारी इजीनियरिंग उद्योग स्पष्टत सार्वजनिक तथा निजी क्षेत्रो मे बाँटा जा सकता है। सार्वजनिक क्षेत्र मे बहुत भारी उद्योग लिये गये हैं तथा निजी क्षेत्र में अपेक्षाकृत कम पूँजी वाली इकाइयाँ स्थापित की गयी हैं। जैसे, चितरजन की इजन बनाने, वाराणसी की डीजल इजन जोड़ने, पेरेम्बूर की रेल के डिब्बे बनाने, विशाखापत्तनम की जहाज बनाने, भोपाल की भारी बिजली का सामान तैयार करने, बेंगलोर की मशीन उपकरण तैयार करने नाहन (हिमाचल प्रदेश) की लोहे का सामान ढालने, कलकत्ता की उपकरण तैयार करने (National Instruments Ltd) दुर्गापुर की भारी इजीनियरिंग सामान निर्माण करने (Heavy Engineering Corporation) बेंगलोर की हवाई जहाज बनाने तथा अनेक अन्य औद्योगिक इकाइयाँ, बडे पैमाने पर भारी मशीनें तथा सामान तैयार कर रही हैं। यह सब फैक्टरियाँ सार्वजनिक क्षेत्र में हैं। इनके अतिरिक्त टाटा (इजन तथा अन्य मशीनें), बिडला, थापर

तथा अनेक देशी और विदेशी उद्योगपतियों के सहयोग से भारी मशीनों तथा पुर्जों एवं अन्य वस्तुओं के उत्पादन को प्रोत्साहन मिला है।

वर्तमान स्थिति—प्रथम पंचवर्षीय योजना के आरम्भ होने के समय भारतीय इंजीनियरिंग उद्योग का उत्पादन नगण्य था। प्रथम योजना के अन्त में इस क्षेत्र के कुल उत्पादन का मूल्य लगभग ३१ करोड़ रुपये था, जो द्वितीय योजना के अन्त तक बढ़कर लगभग १०० करोड़ रुपये अधिक हो गया। तृतीय योजना के अन्त तक इस क्षेत्र की इकाइयों का उत्पादन मूल्य ४४० करोड़ रुपए था।

समस्याएँ—भारी इंजीनियरिंग वर्ग के उद्योगों की सन्तोषजनक प्रगति इस तथ्य की संकेतक है कि यह उद्योग ठीक दिशा में उन्नति कर रहा है परन्तु यदि कुछ समस्याओं का समाधान कर दिया जाता तो यह प्रगति अधिक तीव्र और लाभदायक हो सकती थी। यह समस्याएँ निम्नलिखित हैं

(१) कच्चे माल का अभाव—भारी इंजीनियरिंग वर्ग के उद्योगों के लिए कच्चा माल इस्पात है जिसकी भारत में बहुत कमी है। १९६९-७० में ८१ करोड़ रुपये का इस्पात आयात किया गया था। इस प्रकार भारी मशीन उद्योग का विकास मुख्यतः स्टील उद्योग के विकास पर निर्भर करता है। देश की कुल विदेशी विनिमय की आय का लगभग ७ प्रतिशत इस्पात के आयात पर व्यय कर देना इस बात का साक्षी है कि सरकार इंजीनियरिंग उद्योगों की प्रगति के प्रति जागरूक है परन्तु अधिक स्टील तैयार किये बिना अन्य आश्रित उद्योगों की उन्नति कुण्ठित ही रहेगी।

(२) बिजली तथा अन्य शक्तियों की समस्या—भारी इंजीनियरिंग उद्योगों के लिए कोयला अथवा सस्ती बिजली की यथेष्ट मात्रा में उपलब्धि होनी चाहिए किन्तु देश के अधिकांश भागों में इनमें से किसी भी प्रकार शक्ति नियमित एवं सस्ती दर पर उपलब्ध नहीं है अतः भारी औद्योगिक इकाइयों को अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। समय पर अथवा पर्याप्त मात्रा में शक्ति साधन उपलब्ध न होने पर उत्पत्ति के क्रम तथा मात्रा को प्रतिबन्धित रखना पड़ता है। गत वर्षों में बिजली तथा कोयले की स्थिति कुछ सुधरी है किन्तु अन्ततः सब भारी मशीन उद्योगों को जल विद्युत की यथेष्ट मात्रा उपलब्ध करना आवश्यक होगा क्योंकि भारत में बढ़िया किस्म के कोयले की यथोचित पूर्ति नहीं हो सकती।

(३) यातायात की कठिनाई—भारी इंजीनियरिंग उद्योगों के लिए यातायात सुविधाएँ उपलब्ध कराना आवश्यक है। भारत में अधिकांश इंजीनियरिंग केन्द्रों तक रेल लाइनें हैं परन्तु वह यथेष्ट नहीं हैं। सरकार द्वारा इन उद्योगों के उत्पादन केन्द्रों तक दोहरी रेल लाइनें डालनी चाहिए तथा इन उद्योगों को रेल के डिब्बे उपलब्ध कराने में कुछ प्राथमिकता देने की व्यवस्था करनी चाहिए।

(४) निर्यात में कठिनाइयाँ—गत वर्षों में भारत से माल के डिब्बे, डीजल इंजन आदि अनेक वस्तुएँ निर्यात होनी आरम्भ हो गयी हैं परन्तु इनमें से कुछ का निर्यात राज्य व्यापार निगम (State Trading Corporation) के माध्यम से होता है, जिसमें माल की बिक्री में आवश्यक देर होती है, उद्योगपतियों को समय पर भुगतान नहीं मिलता तथा कभी-कभी उन्हें मूल्य भी कम प्राप्त होता है। सरकार द्वारा इन उद्योगों में सम्बन्धित उत्पादन के निर्यात में सुविधाएँ प्रदान करनी चाहिए। इससे न केवल इन उद्योगों के उत्पादन को प्रोत्साहन मिलेगा वरन् देश के निर्यातों में भी वृद्धि होगी और अधिक विदेशी विनिमय की उपलब्धि हो सकेगी।

भारी औद्योगिक मशीनों के उत्पादन में राष्ट्रीय औद्योगिक विकास निगम (National Industrial Development Corporation) विशेष सहयोग देता है। यह निगम विभिन्न उद्योगों की प्राविधिक समस्याओं का अध्ययन करता है और उनका समाधान करने में सहायता देता है।

भविष्य—भारत सरकार ने इजीनियरिंग क्षेत्र के उद्योगो के विकास के लिए (कई उद्योगों को लाइसेंस लेने की व्यवस्था के मुक्त कर दिया है) अधिक लाइसेंस दिये जायेंगे तथा उनकी उन्नति के लिए आर्थिक सुविधाओ को व्यवस्था की जा रही है। भारतीय योजना आयोग ने इजीनियरिंग उद्योगो के विकास मे सहयोग देने के लिए एक विशेष समिति का गठन किया है, जो समय-समय पर यथावश्यक सलाह देती रहेगी। इस प्रकार भारतीय इजीनियरिंग उद्योग का भविष्य निश्चय ही उज्जवल प्रतीत होता है।

६. भारी रसायन उद्योग
(HEAVY CHEMICALS INDUSTRY)

भारी इजीनियरिंग उद्योगो की भाँति ही भारी रसायन उद्योग भी आधारभूत उद्योग है क्योकि इसके द्वारा उत्पन्न रासायनिक पदार्थ अनेकानेक उद्योगो मे काम आते हैं। रसायनों में अल्कली, सोडा ऐश, कास्टिक सोडा केल्शियम कार्बाईड, सल्फ्यूरिक एसिड, ब्लीचिंग पाउडर, सोडियम सल्फाइट तथा सोडियम थायोसल्फाइट आदि मुख्य हैं। इनमे कास्टिक सोडा, क्लोरीन तथा सोडा ऐश बहुत महत्त्वपूर्ण हैं।

भारत मे विकास—भारत म रसायन उद्योग का विकास सर्वथा आधुनिक है। यद्यपि प्रथम युद्धकाल मे कुछ रसायनो के उत्पादन को बल मिला था परन्तु द्वितीय युद्ध के आरम्भ के समय तक आवश्यक रासायनिक पदार्थ विदेशो से आयात किये जाते थे। द्वितीय युद्धकाल में भी रासायनिक पदार्थों के उत्पादन को कुछ गति मिली किन्तु इस उद्योग को विशेष प्रगति करने का अवसर स्वातन्त्र्यकाल म मिला है।

सिन्द्री (बिहार) मे खाद फैक्टरी स्थापित करना इस उद्योग के विकास की दिशा मे एक महत्त्वपूर्ण कदम था। यह फैक्टरी सरकार द्वारा स्थापित की गयी परन्तु १९४३ ५० के वर्षों मे निजी क्षेत्र मे ५० कम्पनियाँ स्थापित की गयी जिन्होंने विभिन्न रासायनिक पदार्थों का उत्पादन आरम्भ किया।

प्रथम द्वितीय तथा तृतीय योजनाकाल मे रासायनिक उद्योगो का विकास अधिक विस्तृत क्षेत्र मे किया गया क्योकि इस युग मे न केवल आधारभूत रसायनो जैसे कास्टिक सोडा सोडा ऐश तथा सल्फ्यूरिक एसिड के उत्पादन मे वृद्धि की गयी बल्कि यूरिया, अमोनियम सल्फेट, पेनिसिलीन कृत्रिम रेशे औद्योगिक विस्फोटक पदार्थ, पोलिथिलीन, रगलेप आदि अधिकाधिक मात्रा मे तैयार किये जाने लगे हैं।

गत वर्षों मे मुख्य रासायनिक पदार्थों के उत्पादन मे निम्न प्रगति हुई है

(हजार टनों में)

	१९५०-५१	१९६०-६१	१९६९ ७०
१. नाइट्रोजिनस खाद	९	९९	७१६
२ फॉस्फेटिक खाद	९	५३	२२२
३ सल्फ्यूरिक एसिड	१०१	३६८	१,१२९
४ सोडा ऐश	४५	१५२	४२७
५ कास्टिक सोडा	१२	१०१	३६१

डी० डी० टी०—उपर्युक्त पदार्थों के अतिरिक्त अनेक अन्य पदार्थों के उत्पादन मे विकास और वृद्ध हुई है। अप्रैल १९५५ मे हिन्दुस्तान इन्सेक्टिसाइड लिमिटेड (Hindustan Insecticides Ltd) मे एक डी० डी० टी० फैक्टरी स्थापित की गयी। इस फैक्टरी का उत्पादन १९५८ में बढकर दुगुना होकर १,४०० टन वार्षिक हो गया। इसी वर्ष आलवे (केरल) मे एक दूसरी फैक्टरी स्थापित की गयी। इन फैक्टरियो का उत्पादन लगभग २,६०० टन वार्षिक है।

इन फैक्टरियों में लगभग २ करोड रुपये की पूंजी लगी हुई है और इनमें लगभग १८ करोड रुपये और विनियोजित कर इनकी उत्पादन शक्ति का विस्तार किया जा रहा है।

पेनिसिलीन—अगस्त १९५५ में पूना के निकट पिम्प्री नामक स्थान पर भारत सरकार द्वारा स्थापित पेनिसिलीन फैक्टरी ने उत्पादन आरम्भ कर दिया। फैक्टरी का प्रबन्ध हिन्दुस्तान एण्टीबायाटिक्स लिमिटेड (Hindustan Antibiotics Ltd) के अधीन है, जिसकी पूंजी लगभग ४ करोड रुपए है। इस फैक्टरी का वार्षिक उत्पादन ५१५ ५ लाख मेगा यूनिट पेनिसिलीन है। इसकी उत्पादन शक्ति २५ लाख रुपये विनियोजित कर ८०० लाख मेगा इकाई तक बढ़ायी जा रही है।

पिम्प्री में ही फरवरी १९६३ से स्ट्रेप्टोमाइसिन का उत्पादन आरम्भ हो गया है। इसकी उत्पादन क्षमता ८०-९० टन तक करने का प्रयत्न किया जा रहा है। इस परियोजना पर लगभग २२५ लाख रुपए व्यय होने का अनुमान है।

आर्गेनिक रसायन—दिसम्बर १९६० में पनवेल (बम्बई) में ४० प्रकार के रसायन निर्मित करने के लिए एक फैक्टरी लगायी गयी है। इस पर कुल १५० लाख रुपये विनियोजित किये जा चुके हैं। इसके उत्पादन में सहयोग देने के लिए चार जर्मन फर्मों का सहयोग प्राप्त किया गया था।

उर्वरक (Fertilizers)—जनवरी १९५१ में Fertilizers Corporation of India की स्थापना की गयी है, जिसके अन्तर्गत सात फैक्टरियां विभिन्न वस्तुओं का उत्पादन कर रही हैं जिनका संक्षिप्त ब्यौरा निम्नलिखित है

परियोजना	रासायनिक परियोजना
१ सिन्द्री (बिहार)	अमोनियम सल्फेट
	यूरिया
	अमोनियम नाइट्रेट
२ नागल (पंजाब)	कैल्सियम अमोनियम नाइट्रेट
	भारी पानी (Heavy water)
३ ट्राम्बे (महाराष्ट्र)	नत्रजन
	यूरिया और नाइट्रो फॉस्फेट
४ नामरूप (आसाम)	यूरिया
	अमोनियम सल्फेट
५ गोरखपुर (उत्तर प्रदेश)	नत्रजन (यूरिया में)
६ कोरबा (मध्य प्रदेश)	नत्रजन ,,
७ दुर्गापुर (बंगाल)	नत्रजन ,,
	अमोनियम सल्फेट फॉस्फेट

कास्टिक सोडा (Caustic Soda)—कास्टिक सोडा का प्रयोग रेयन, कागज की लुग्दी, वस्त्र, साबुन, प्लास्टिक का सामान, रंग उद्योग, एल्यूमीनियम, वनस्पति तेल, पैट्रोल तथा अन्य उद्योगों में किया जाता है। भारत में २२ फैक्टरियां ऐसी हैं, जो कास्टिक सोडा निर्माण करती हैं। इनमें से एक (सौराष्ट्र केमिकल्स, पोरबन्दर) केवल बिक्री के लिए कास्टिक सोडा निर्माण करती है। सात फैक्टरियां अपने निजी प्रयोग (रेयन, कागज आदि) के लिए कास्टिक सोडा तैयार करती हैं तथा शेष कास्टिक सोडे के साथ साथ अन्य रासायनिक पदार्थ भी तैयार करती हैं और अन्य उद्योगों को बेचती हैं।

सोडा ऐश (Soda Ash)—शीशा, साबुन कागज, वस्त्र, औषधि तथा पैट्रोल की वस्तुओं में सोडा ऐश एक आवश्यक रसायन है। १९४७ तक भारत में केवल दो फैक्टरियां (ध्रांगध्रा

केमिकल वर्क्स, ध्रांगध्रा तथा टाटा केमिकल्स, मीठापुर) थी, जिनकी उत्पादन क्षमता क्रमशः १८,००० तथा ३६,००० टन वार्षिक थी किन्तु वार्षिक उत्पादन की मात्रा केवल १४,००० टन तथा २,८६४ टन थी। १९४६ में उद्योग को संरक्षण दिया गया जिसे ३१ दिसम्बर, १९६४ से समाप्त कर दिया गया है। १९५९ में साहू केमिकल्स एण्ड फर्टिलाइजर्स, वाराणसी तथा १९६० में सौराष्ट्र केमिकल्स पोरबन्दर की स्थापना की गयी। इस प्रकार सोडा ऐश निर्माण करने वाली चार फैक्टरियों में से तीन सौराष्ट्र में हैं। इनकी उत्पादन क्षमता लगभग ३.५ लाख टन है। टैरिफ कमीशन द्वारा देश में सोडा ऐश की माँग ४ लाख टन से कुछ अधिक आँकी गयी है, किन्तु इसकी शुद्धता में सन्देह किया जाता है। भारत सोडा ऐश में लगभग आत्मनिर्भर हो गया है।

उपर्युक्त रसायनों के अतिरिक्त देश में अनेक अन्य रसायनों तथा औषधियों का निर्माण किया जाता है।

समस्याएँ—भारत में विभिन्न रासायनिक पदार्थों के उत्पादन में निम्नलिखित समस्याओं का सामना करना पड़ रहा है

(१) देश में कच्चे माल का बहुत अभाव है।

(२) रासायनिक पदार्थों की माँग बहुत बिखरी हुई है जिससे विक्रय में अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है।

(३) विदेशों के सस्ते माल से स्पर्द्धा करनी पड़ती है।

(४) देश में रासायनिक पदार्थों के उत्पादन की नवीनतम रीतियों के जानकार विशेषज्ञों का अभाव है।

(५) रासायनिक उद्योगों के विकास या विस्तार के लिए आवश्यक यन्त्र तथा उपकरणों की प्राप्ति में कठिनाई होती है।

(६) कुछ उद्योगों के लिए पूँजी प्राप्त करने में कठिनाई है। इस सम्बन्ध में विदेशी विनिमय की उपलब्धि विशेष कठिन है।

(७) रासायनिक उत्पादनों की प्रक्रियाओं में सुधार करने के लिए प्रयोगशालाओं का अभाव है। इस सम्बन्ध में राष्ट्रीय रसायन प्रयोगशाला (National Chemical Laboratory) ने भी विशेष उपयोगी कार्य नहीं किया है।

उपर्युक्त विवरण इस तथ्य की ओर संकेत करता है कि आगामी वर्षों में बढ़ते हुए औद्योगिक विकास के साथ-साथ देश में रासायनिक पदार्थों की माँग निरन्तर बढ़ेगी, जिसकी पूर्ति के लिए विभिन्न रासायनिक वस्तुओं से सम्बन्धित नयी औद्योगिक इकाइयाँ स्थापित की जानी चाहिए। इस दिशा में सरकार तथा निजी साहस के सम्मिलित प्रयत्न विशेष लाभदायक हो सकते हैं।

प्रश्न

१. भारत में लोहा-इस्पात उद्योग का संक्षिप्त विवरण दीजिए। इसके विकास के लिए सरकार द्वारा क्या-क्या कार्यवाहियाँ की गयी हैं? (राजस्थान, बी० ए० (पूरक), १९६१)

२. भारत के लोहा-इस्पात उद्योग की वर्तमान स्थिति तथा समस्याओं पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए। (बिहार, बी० ए०, १९६१, पटना, बी० ए०, १९६१)

३. किसी एक पर निबन्ध लिखिए
लोहा तथा इस्पात उद्योग, पटसन उद्योग तथा चीनी उद्योग। (विक्रम, बी० ए०, १९६१)

४. भारत के लोहे और फौलाद या चीनी उद्योग के विकास, वर्तमान स्थिति एवं प्रमुख समस्याओं के बारे में लिखिए। (विक्रम, बी० ए०, १९६२)

५. स्वतन्त्रता के पश्चात भारतीय लोहा-इस्पात उद्योग के विकास की व्याख्या सरकार के योग को दर्शाते हुए कीजिए। (सागर, बी० ए०, १९६०)

६ भारत के सूती वस्त्र उद्योग या शक्कर उद्योग पर एक निबन्ध लिखिए ।
(पटना, बी० ए०, १६६२)

७ "भारतीय चीनी उद्योग संरक्षित शिशु है ।" इस उद्योग की समस्याओं का वर्णन एवं विवेचन कीजिए । (बिहार, बी० ए०, १६६१)

८. भारत में पटसन अथवा सूती वस्त्र उद्योग के विकास का ब्यौरा लिखिए । इनमें किसी भी उद्योग की समस्याओं तथा उनके समाधान के लिए उपायों का वर्णन कीजिए ।
(राजस्थान, बी० ए०, १६६२)

६ भारत में पटसन उद्योग के विकास तथा वर्तमान स्थिति का विवेचन कीजिए । इस उद्योग की भविष्यकालीन सम्भावनाएँ क्या हैं ? (राजस्थान, बी० ए०, १६६१)

१० भारतीय सूती मिल उद्योग के विकास पर एक संक्षिप्त निबन्ध लिखिए । इसकी वर्तमान समस्याएँ क्या हैं ? (आगरा, बी० ए०, १६६३)

११. भारत के कोयला उद्योग की वर्तमान स्थिति तथा समस्याओं का वर्णन कीजिए ।
(विक्रम, बी० ए०, १६६३)

१२ भारत के लोहा तथा इस्पात उद्योग की वर्तमान समस्याओं का विवेचन कीजिए ।
(बिहार, बी० ए०, १६६३)

१३ निम्नलिखित उद्योगों में से एक की वर्तमान स्थिति तथा समस्याओं का विवेचन कीजिए पटसन उद्योग, लोहा तथा इस्पात उद्योग । (भागलपुर, बी० ए०, १६६३)

१४ निम्नलिखित उद्योगों में से एक की समस्याओं का विवेचन कीजिए
(१) लोहा-इस्पात उद्योग, (२) पटसन उद्योग, (३) चीनी उद्योग ।
(जबलपुर, बी० ए०, १६६३)

१५ भारत में १६४७ के पश्चात कोयला उद्योग तथा लोहा-इस्पात उद्योग का संक्षिप्त विवेचन कीजिए । (सागर, बी० ए०, १६६३)

१६ भारत में सूती वस्त्र उद्योग की प्रगति, विकास तथा वर्तमान स्थिति का ब्यौरा लिखिए ।
(सागर, बी० ए०, १६६१)

१७ भारत में सूती मिल उद्योग के राष्ट्रीयकरण की आवश्यकता तथा सम्भावनाओं पर प्रकाश डालिए । (नागपुर, बी० कॉम०, १६६४)

१८ भारत में कोयला अथवा चीनी उद्योग की वर्तमान स्थिति का विवेचन कीजिए ।
(नागपुर, बी० कॉम०, १६६४)

१६ भारत में सूती वस्त्र उद्योग अथवा चीनी उद्योग की विशेष समस्याओं तथा विकास पर संक्षिप्त निबन्ध लिखिए । (राजस्थान, बी० कॉम०, १६६४)

२० पंचवर्षीय योजनाओं में सूती मिल उद्योग के विकास का वर्णन कीजिए तथा इस उद्योग की समस्याओं का विवेचन कीजिए । (विक्रम, बी० कॉम०, १६६४)

२१ भारत में जूट अथवा चीनी उद्योग की प्रगति और वर्तमान अवस्था का विवेचन कीजिए । इसके भविष्य पर प्रकाश डालिए । (राजस्थान, बी० कॉम० (अन्तिम वर्ष), १६६७)

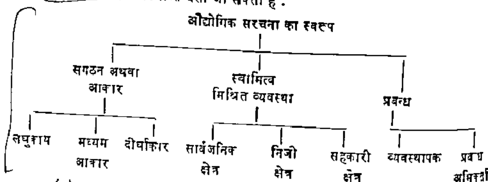
२२ भारत के सूती वस्त्र उद्योग या सीमेण्ट उद्योग की वर्तमान दशा तथा समस्याओं पर प्रकाश डालिए । (राजस्थान, बी० कॉम० (अन्तिम वर्ष), १६६८)

२३ भारतीय सूती मिल उद्योग की प्रगति का वर्णन कीजिए और उन कारणों की विवेचना कीजिए जिन्होंने भारतीय कपड़ा उद्योग को संसार के बाजार में एक शक्तिशाली प्रतिद्वन्द्वी नहीं बनने दिया । (इलाहाबाद, बी० कॉम० (प्रथम वर्ष), १६६५)

29 उद्योगो की संरचना—सार्वजनिक क्षेत्र के उद्योग

(STRUCTURE OF INDUSTRIES—PUBLIC SECTOR INDUSTRIES)

भारतीय उद्योगो की सरचना मूल रूप मे पूंजीवादी है। अंग्रेजी शासन से पूर्व स्थापित सभी औद्योगिक इकाइयां पूंजीपतियो द्वारा स्थापित की गयी थी अथवा ग्रामो मे कारीगरो के परिश्रम एव व्यक्तिगत साधनो पर आधारित थी। अंग्रेजी शासन मे सरकार ने औद्योगिक विकास को प्रोत्साहन देने की दिशा मे तनिक भी रुचि प्रकट नही की बल्कि इगलैण्ड के उद्योगो की उन्नति के लिए भारतीय उद्योगो को निरुत्साहित किया गया। स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् भारतीय उद्योगों के विकास के लिए निश्चित नीति निर्धारित की गयी है और समय-समय पर उस नीति मे परिवर्तन किया गया है। तदनुसार भारत के वर्तमान औद्योगिक ढांचे का एक निश्चित स्वरूप बन गया है। इस स्वरूप को तीन दृष्टिकोणो से देखा जा सकता है.



(१) सगठन अथवा आकार—पूंजीवादी देशो की भांति भारत के उद्योगो का स्वरूप भी त्रिकोण की भांति है जिसके आधार मे बहुत बडी-बडी औद्योगिक इकाइयां हैं जो अनेक प्रकार के यन्त्र आदि का निर्माण करती हैं अथवा बडे पैमाने पर उपभोक्त पदार्थ बनाती हैं। इन इकाइयों के आर्थिक साधन बहुत विकसित हैं तथा इनके पास प्राय नवीनतम प्राविधिक जानकारी की सुविधा है। बडे उद्योगो के सहायक अथवा पूरक के रूप मे कुछ उद्योग ऐसे हैं जो सामान्य मशीनें या फुटकर हल्का माल बनाते हैं। इनके पास सामान्य पूंजी तथा प्राविधिक जानकारी है। इनके अतिरिक्त बहुत कम पूंजी तथा प्राविधिक जानकारी से काम चलाने वाली छोटी औद्योगिक इकाइयां हैं जिनमे सामान्य किस्म का अथवा कलात्मक सामान बनाया जाता है। इन सबका ब्यौरा पिछले अध्यायो मे दिया जा चुका है।

(२) प्रबन्ध—विभिन्न वर्गों के उद्योगो की सरचना प्रबन्ध की दृष्टि से भी महत्त्वपूर्ण होती है। भारत मे अधिकांश बडे उद्योग प्रबन्ध अभिकर्ताओ के प्रयत्नो से स्थापित किये गये हैं और

अब भी पूंजी, व्यवस्था तथा प्राविधिक जानकारी की दृष्टि से प्रबन्ध अभिकर्ताओ के सम्बन्ध मे विस्तृत जानकारी एक अन्य अध्याय मे दी गयी है ।

जिन उद्योगो मे प्रबन्ध अभिकर्ताओ का प्रभाव अथवा प्रभुत्व नही है उनमे सचिव (Secretary), प्रबन्ध सचालक (Managing Director) अथवा महाप्रबन्धक (General Manager) कार्य करते है । वर्तमान युग में प्राय प्रशिक्षित व्यक्तियो को प्रबन्ध सचालन का भार सौंपा जाता है । भारत मे कलकत्ता, बम्बई तथा अहमदाबाद मे प्रबन्ध सचालन सम्बन्धी प्रशिक्षण के लिए विशेष सस्थानो की स्थापना की गयी है ।

(३) स्वामित्व—भारत के औद्योगिक नीति प्रस्ताव मे मिश्रित अर्थ-व्यवस्था अपनाने की घोषणा की गयी है । तदनुसार कुछ क्षेत्रो म निजी साहस को औद्योगिक इकाइयां स्थापित करने की छूट दी गयी है तथा कुछ क्षेत्र सावजनिक क्षेत्र के लिए सुरक्षित रखे गये हैं । इन क्षेत्रा का व्यौरा पिछले अध्यायो मे दिया जा चुका है । कुछ क्षेत्रो मे सहकारी आधार पर उत्पादन को प्रोत्साहन दिया गया है । निजी साहस द्वारा स्थापित उद्योगो मे कही कही सरकार द्वारा आर्थिक अथवा प्राविधिक सहयोग भी दिया गया है । इस प्रकार देश मे उद्योगा का स्वामित्व निम्न वर्गों मे विभाजित किया जा सकता है

(१) निजी उद्योग ।
(२) मिश्रित (निजी+सार्वजनिक) उद्योग ।
(३) सहकारी उद्योग ।
(४) सार्वजनिक उद्योग ।

इनमे से प्रथम तीन क्षेत्रो का व्यौरा पिछले अध्यायो दिया जा चुका है । सार्वजनिक क्षेत्र क उद्योगो का व्यौरा इस अध्याय मे दिया जा रहा है ।

सार्वजनिक क्षेत्र—औद्योगिक विकास प्राय: सार्वजनिक अथवा निजी क्षेत्रो मे किया जाता है । साम्यवादी देशो (सोवियत सघ, चीन आदि) मे सभी छोटे-बडे उद्योगो की स्थापना और विकास सरकार द्वारा (आर्थिक क्षेत्र मे) किया जाता है । इसके विपरीत, पूँजीवादी देशो म जो अर्थ-व्यवस्था को मुक्त अर्थ-व्यवस्था के नाम से पुकारते हैं, सभी उद्योगो का विकास और विस्तार पूंजीपतियो द्वारा किया जाता है । उपर्युक्त दोनो व्यवस्थाएँ दो दृष्टिकोणो की चरम सीमाएँ हैं । व्यावहारिक दृष्टि से यह उचित प्रतीत होता है कि सरकार तथा निजी उद्योगपति दोनो ही वर्ग औद्योगिक विकास मे सहयोग करें क्योंकि पूंजी, प्राविधिक जानकारी अथवा अन्य कठिनाइयो को दूर करने मे सहयोग द्वारा ही तीव्र गति से उद्योगो का विस्तार किया जा सकता है ।

सार्वजनिक क्षेत्र के पक्ष मे तर्क

समाजवादी अथवा वामपन्थी विचारक इस पक्ष मे हैं कि देश मे उद्योगो का विकास केवल सरकार द्वारा किया जाना चाहिए । भारत मे भी इस विचारधारा के समर्थको की कमी नही है । वह सरकार द्वारा ही औद्योगिक विकास के लिए यत्न करने के सिद्धान्त का निम्नलिखित कारणो स समर्थन करते हैं

(१) **समाजवादी समाज**—भारत सरकार ने देश मे समाजवादी समाज की स्थापना का व्रत लिया है अत निजी पूँजीपतियो को औद्योगिक विकास अथवा विस्तार मे कोई स्थान नहीं दिया जाना चाहिए क्योंकि निजी उद्योगपति केवल अपने हितो के लिए कार्य करते हैं । सरकार केवल राष्ट्रीय हित मे कार्य करती है, उसका उद्देश्य लाभ कमाना नही होता । अत राष्ट्रीय अथवा सामाजिक हित मे यही उचित है कि औद्योगिक विकास का दायित्व पूर्णत सरकार के हाथ मे रहे ।

(२) **भारी उद्योग**—प्राय यह देखा गया है कि निजी साहसी अथवा पूँजीपति केवल ऐसे उद्योगों की स्थापना अथवा विकास मे पूंजी लगाना चाहते हैं जिनमे पूंजी का प्रतिफल निश्चित रूप

मे शीघ्रातिशीघ्र मिल सके। इस नीति के फलस्वरूप अनेक बार भारी इंजीनियरिंग उद्योग, इस्पात उद्योग अथवा भारी रसायन उद्योग, जिनमे अत्यधिक पूंजी की आवश्यकता होती है अथवा उच्च स्तरीय प्राविधिक विशेषज्ञता की आवश्यकता होती है, का विकास नहीं होने पाता। भारत में १९४७ से पूर्व निजी साहसियो द्वारा उपभोक्ता उद्योगो मे तो पूंजी लगायी गयी परन्तु भारी उद्योगों के विकास पर बहुत कम ध्यान दिया गया। स्वभावत राष्ट्रीय हितो का ध्यान रखकर सरकार को इन उद्योगो के विकास की ओर ध्यान देना पडता है।

(३) विशिष्ट उद्योग—प्रत्येक विकासशील देश मे सडक, विद्यालय, सिंचाई साधन, प्रशिक्षण व्यवस्था आदि का अभाव रहता है। यह सभी कार्य ऐसे हैं जिनसे प्रत्यक्ष कोई आय या लाभ प्राप्त नहीं होता और इन कार्यों के विकास के लिए जो पूंजी लगायी जाती है, वह सामाजिक पूंजी (Social capital) कहलाती है। इस प्रकार की पूंजी प्रत्येक कल्याणकारी राज्य मे सरकार द्वारा ही विनियोजित की जाती है। इस प्रकार की पूंजी पर जो हानि होती है उसकी पूर्ति के लिए अन्य लाभदायक उद्योगो मे भी पूंजी लगाना आवश्यक हो जाता है। इस दृष्टि से सरकार द्वारा एक निश्चित नीति के अनुसार स्वय ही औद्योगिक विकास करना उचित होगा।

(४) सामाजिक लाभ—उद्योगो के विकास से कालान्तर मे निश्चय ही कुछ लाभ अथवा आय की प्राप्ति होती है। यदि देश के अधिकाश उद्योग निजी पूंजीपतियो के हाथ मे हो तो उन उद्योगो का सम्पूर्ण लाभ पूंजीपतियों की जेब मे जायेगा। यदि यह उद्योग सरकार के हाथ में हों तो इन पर जितना लाभ होगा वह सरकारी आय मे सम्मिलित होगा और उसका प्रयोग सम्पूर्ण देश के हित मे किया जा सकेगा।

(५) प्रादेशिक विकास मे सन्तुलन—निजी उद्योगपतियो द्वारा मुक्त रूप मे उद्योग स्थापित किये जाते हैं। यह औद्योगिक इकाइयाँ प्राय पूंजीपतियो की सुविधा अथवा उपलब्ध लाभों की सम्भावित मात्रा के अनुसार ही स्थापित होती हैं, जिसका परिणाम कभी-कभी यह होता है कि देश के कुछ भाग जो प्राकृतिक साधनो से सम्पन्न हैं, अधिक विकसित हो जाते हैं और कुछ भाग आर्थिक दृष्टि से बहुत पिछड जाते हैं। यदि सभी उद्योगो का विकास सरकार द्वारा किया जाय तो देश के विभिन्न भागो को सन्तुलित रूप मे विकसित होने का अवसर मिलता है।

(६) संकेन्द्रण की समाप्ति—सरकार द्वारा सार्वजनिक क्षेत्र मे औद्योगिक विकास करने पर एक ओर तो प्रादेशिक संकेन्द्रण का भय नही रहता, दूसरी ओर पूंजीपतियो के हाथ मे आर्थिक अथवा राजनीतिक सत्ता का केन्द्रीयकरण नहीं हो पाता। इस प्रकार देश मे आर्थिक, राजनीतिक और सामाजिक शोषण की आशकाएँ समाप्त हो जाती हैं।

सार्वजनिक क्षेत्र के दोष

सरकार द्वारा औद्योगिक विकास पूर्णत अपने हाथ मे लेने के परिणाम केवल लाभदायक ही नही होते। यह नीति अनेक दृष्टिकोणो से अलाभदायक भी है, जो निम्नलिखित है :

(१) कुशलता में हानि—सार्वजनिक क्षेत्र के उद्योगो पर प्राय यह आरोप लगाया जाता है कि उनके द्वारा उत्पादन, विक्रय तथा साधनो के प्रयोग मे बहुत कम कुशलता काम मे लायी जाती है। सरकारी उद्योगों मे प्राय व्यावसायिक नीति का अभाव रहता है अत न तो उनमे लाभ रहता है और न ही जनता को आवश्यक माल यथासमय मिलता है। इस प्रकार सार्वजनिक क्षेत्र के उद्योग किसी के लिए उपयोगी सिद्ध नही होते।

सरकारी कार्यालयो मे व्याप्त लालफीताशाही सार्वजनिक उद्योगो मे भी घर कर जाती है, जिसके फलस्वरूप न तो उत्पादन, क्रय विक्रय आदि सम्बन्धी निर्णय समय पर होते हैं, न ही इन उद्योगो मे काम करने वाले कर्मचारी ईमानदारी से परिश्रम कर उत्पादन बढ़ाने की चिन्ता करते हैं। इस प्रकार सरकारी उद्योगो म अकुशलता सर्वव्यापक हो जाती है।

(२) राजकीय अधिनायकवाद—सार्वजनिक क्षेत्र मे उद्योगो का विकास करने से सरकार को मनमानी कीमत वसूल करन का अवसर मिल जाता है क्योकि सरकारी उद्योगो मे अकुशलता होने पर प्राय उनका उत्पादन का लागत मूल्य अधिक होता है। एकाधिकार होन के कारण जनता को ऊँचे मूल्य देने पडते है और वस्तुओ को प्राप्ति के लिए सरकार पर निर्भर रहना पडता है। इस प्रकार एक ओर तो जनता को महँगी वस्तुएँ मिलती हैं, दूसरी ओर मजदूरो को उचित वेतन आदि भी नही मिलते क्योकि सरकार की सत्ता के विरुद्ध उनकी हडताल आदि सफल नहीं हो पाती।

(३) प्राविधिक ज्ञान का अभाव—सरकारी उद्योगो का प्रबन्ध प्राय: प्रशासनिक सवा (Administrative Service) के व्यक्तियों को सौंपा जाता है, जिन्हे व्यापार अथवा व्यवसाय का तनिक भी अनुभव नही होता। इसके अतिरिक्त विशेष योग्यता प्राप्त विशेषज्ञ सरकारी व्यवसायो मे नौकरी करने को उत्सुक नही रहते क्योकि उन्हे निजी व्यवसायी और उद्योगपति अधिक वेतन दे सकते हैं। अमरीका, इगलैण्ड, जर्मनी तथा अन्य विकसित देशो मे यही स्थिति है और इन देशो मे सभी उद्योग व्यक्तिगत पूँजीपतियो द्वारा सचालित एव व्यवस्थित हैं।

निजी साहस अथवा क्षेत्र के पक्ष मे तर्क

उपर्युक्त दोषो के कारण अनेक अर्थशास्त्री सरकारी स्तर पर औद्योगिक विकास को राजकीय अधिनायकवाद या राजकीय पूँजीवाद (State Capitalism) कहते है और आर्थिक विकास के लिए निजी साहस द्वारा उद्योगों की स्थापना को उचित समझते हैं। निजी क्षेत्र द्वारा औद्योगिक विकास के पक्ष मे निम्नलिखित तर्क दिये जाते हैं

(१) कुशलता—निजी उद्योगपतियो द्वारा औद्योगिक विकास किया जाता है तो वह प्राय. उत्पादन की लागत को कम रखने का प्रयत्न करते हैं, वस्तुओं की किस्म ऊँची रखने का यत्न करते हैं तथा सभी प्रकार के माल की पूर्ति नियमित रखते हैं। इस प्रकार सभी उत्पादक सस्ती से सस्ती दर पर बढिया से बढिया माल देने का प्रत्यन करते हैं। स्वभावत निजी उद्योगो के विकास से जनता को सुविधा रहती है तथा देश के औद्योगिक विकास को बल मिलता है।

(२) अनुभव एव प्राविधिक ज्ञान का लाभ—निजी क्षेत्र मे प्राय विशेषज्ञ इजीनियर तथा प्राविधिक विशेषज्ञो का सहयोग प्राप्त होता है। इस क्षेत्र के व्यक्तियो को व्यवस्था एव प्रबन्ध का अनुभव होता है अत उद्योगो के उत्पादन, बिक्री आदि मे अत्यधिक कुशलता रहती है और देश के उद्योग दूसरे देशो से स्पर्द्धा करने मे समर्थ रहते हैं।

(३) जोखिम—निजी उद्योगपतियों को जोखिम उठाने का अनुभव होता है और उनकी गहन जानकारी के कारण सभी प्रकार की जोखिम का अभाव न्यूनतम होने की सम्भावना रहती है। इस साहस के कारण दूसरे देशों के अनुभवी उद्योगपति भी उस देश के औद्योगिक विकास मे सहयोग देने के लिए तैयार हो जाते हैं।

(४) शोधकार्य—व्यक्तिगत लाभ एव अन्य देशो के उद्योगो से स्पर्द्धा की भावना से प्रेरित होकर निजी क्षेत्र के उद्योग प्राय उत्पादन लागत कम करने अथवा उत्पादन की नयी रीतियाँ ज्ञात करने के लिए निरन्तर प्रयत्नशील रहते है। इस कार्य की सम्पन्नता के लिए वह प्राय अपनी औद्योगिक इकाई का विकास करने के साथ साथ एक उच्चस्तरीय प्रयोगशाला या अनुसन्धान केन्द्र (laboratory or research centre) स्थापित करना आवश्यक समझते हैं। अमरीका, जापान, जर्मनी, फ्रास आदि देशो मे निजी उद्योगों द्वारा स्थापित शोध केन्द्रो ने इन देशो के औद्योगिक विकास म ही नही बल्कि ससार के अन्य देशो को औद्योगिक उन्नति मे भी बहुत योगदान दिया है। इस प्रकार निजी क्षेत्र की क्रमिक सक्रियता देश के औद्योगिक उत्पादन को निरन्तर बल प्रदान करती रहती है।

निजी क्षेत्र द्वारा औद्योगिक विकास के दोष

निजी क्षेत्र को मुक्त रूप से उद्योगों का विकास करने की छूट देने से देश के औद्योगिक विकास को निश्चय ही प्रोत्साहन मिलता है परन्तु इस नीति में अनेक दोष सन्निहित हैं

(१) आर्थिक सत्ता का सकेन्द्रण—निजी क्षेत्र को औद्योगिक विकास का मुक्त अधिकार प्रदान करने का अर्थ यह है कि धीरे धीरे देश की सम्पूर्ण औद्योगिक अथवा आर्थिक सत्ता कुछ शक्तिशाली व्यक्तियों के हाथ में सकेन्द्रित हो जाती है। आर्थिक सत्ता के केन्द्रीकरण का प्रभाव देश की राजनीतिक व्यवस्था पर भी पड़ता है क्योंकि वर्तमान चुनाव प्रणाली में कोई भी व्यक्ति काफी रकम खर्च किये बिना विजयी होने की आशा नहीं रख सकता। भारत सरीखे अविकसित देशों में प्रायः पूंजीवादी वर्ग के लोग अत्यधिक धन खर्च कर निर्धन तथा अशिक्षित मतदाताओं से मत लेने का प्रबन्ध कर लेते हैं और इस प्रकार शासन पूंजीपतियों के हाथ की कठपुतली-मात्र रह जाता है। ऐसी स्थिति में समाजवादी समाज केवल स्वप्न की बात रह जाती है।

(२) असन्तुलित विकास—पूंजीवादी या निजी औद्योगिक व्यवस्था में साहसी केवल ऐसे उद्योगों तथा ऐसे क्षेत्रों में पूंजी लगाते हैं जिनसे कि उनको तत्काल लाभ प्राप्त हो सके। वह देश की आवश्यकता को प्राथमिकता न देकर अपने व्यक्तिगत लाभ को अधिक महत्त्व देते हैं। इससे देश का औद्योगिक विकास तो होता है परन्तु उसके सर्वथा असन्तुलित होने की आशंका बनी रहती है।

(३) शोषण एवं असन्तोष—निजी क्षेत्र में व्यक्तिगत लाभ की लालसा अत्यधिक बलवती होने के कारण मजदूरों को कम से कम मजदूरी अथवा भत्ता देने का प्रयत्न किया जाता है, जिसके फलस्वरूप देश का आर्थिक वातावरण असन्तोष एवं सघर्ष से व्याप्त रहता है। इससे एक ओर तो मजदूरों का शोषण होता है तथा दूसरी ओर उत्पादन की हानि होती है।

(४) पूंजी का अभाव—अनेक बार ऐसा होता है कि विभिन्न औद्योगिक इकाइयों (विशेषतः जहाँ कुछ अधिक पूंजी की आवश्यकता होती है) में निजी साहसियों को पर्याप्त पूंजी प्राप्त करने अथवा ऋण आदि की व्यवस्था करने में कठिनाई होती है। मुद्रा बाजार में अनेक बार पूंजी दुर्लभ हो जाती है जिससे निजी क्षेत्र में औद्योगिक विस्तार करना कठिन हो जाता है।

मिश्रित उद्योग व्यवस्था के लाभ

भारत में सार्वजनिक तथा निजी क्षेत्रों में पारस्परिक सहयोग द्वारा औद्योगिक विकास की नीति अपनायी गयी है। यह नीति अनेक दृष्टिकोणों से लाभदायक है, जिसका ब्यौरा नीचे दिया जा रहा है

(१) तीव्र गति से औद्योगिक विकास—निजी तथा सार्वजनिक, दोनों क्षेत्रों द्वारा उद्योगों की स्थापना का एक परिणाम यह है कि देश में औद्योगिक विकास के प्रयत्न यथेष्ट गतिशील हैं क्योंकि दोनों ही क्षेत्र अपने लिए निश्चित वर्ग के उद्योग की स्थापना करते हैं। इस क्रिया में सबसे सहायक तत्त्व यह है कि दोनों क्षेत्रों का यह चिन्ता है कि उनके लिए निश्चित उद्योगों का विकास कम न रह जाय। इसके अतिरिक्त निजी उद्योगपतियों को मुख्यतः उपभोक्ता वस्तुओं सम्बन्धी उद्योगों के विस्तार का दायित्व दिया जाता है, जो शीघ्र लाभ देने वाले तथा स्थापित करने में सुविधाजनक होते हैं। दूसरी ओर विशेष वर्गों के (सुरक्षा, भारी उद्योग आदि) उद्योग सरकारी क्षेत्र में रखे जाते हैं। फलतः निजी उद्योगपतियों को लाभ की दृष्टि से तथा सरकारी क्षेत्र को राष्ट्रीय हित की दृष्टि से नयी-नयी औद्योगिक इकाइयां स्थापित करने की लगन लगी रहती है जिससे कुल मिलाकर देश के औद्योगिक विकास को बल मिलता है।

(२) स्पर्द्धा एवं कुशलता—दोनों क्षेत्रों पर उद्योग के विकास एवं विस्तार का दायित्व होने के कारण न केवल उनमें पारस्परिक स्पर्द्धा की भावना उत्पन्न हो जाती है बल्कि निजी तथा

सरकारी दोनो क्षेत्रो मे स्थापित उद्योग की क्रियाशीलता एव कौशल क्षमता की तुलना करने का अवसर भी मिलता है। इससे दोनो ही क्षेत्रो मे कुशलता का स्तर ऊँचा रखने के प्रयत्न किये जाते हैं। यह स्थिति देश के आर्थिक विकास के लिए अत्यन्त लाभदायक है।

(३) **निजी क्षेत्र को प्रोत्साहन**—देश मे समाजवादी समाज की स्थापना का अर्थ कुछ व्यक्तियो द्वारा यह समझा गया है कि देश के सभी उद्योगो पर सरकार का स्वामित्व हो जाना चाहिए और सभी नये उद्योग सरकारी क्षेत्र मे ही स्थापित किये जाने चाहिए। इससे भारतीय उद्योगपतियो के हृदय मे एक आशका उत्पन्न हो गयी थी कि उन्होने वर्षों के परिश्रम से जिन औद्योगिक इकाइयो की स्थापना की है उन्हे किसी समय सरकार अपने हाथ में ले लेगी परन्तु नेहरूजी ने यह स्पष्ट कर दिया कि उद्योगो का एकमुश्त राष्ट्रीयकरण नहीं किया जायेगा बल्कि निजी क्षेत्र को विकास करने के अधिकाधिक अवसर प्रदान किये जायेंगे। सरकार इस नीति का निरन्तर दृढतापूर्वक पालन कर रही है। इस नीति से उद्योगपतियों को नये नये क्षेत्रों में औद्योगिक इकाइयाँ स्थापित करने का प्रोत्साहन मिला और उनमे विश्वास की भावना जमी है। स्वभावत: इससे देश के आर्थिक विकास के वातावरण मे सुधार हुआ है।

(४) **सरकारी नियन्त्रण**—भारत मे एक ओर तो निजी उद्योगो के विकास को प्रोत्साहित किया जा रहा है, दूसरी ओर उन पर यथोचित नियन्त्रण रखा जा रहा है। इसका उद्देश्य यह है कि औद्योगिक विकास नियमित रूप मे किन्तु राष्ट्रीय हित के लिए उपयोगी क्षेत्रो मे ही हो। इस प्रकार नियन्त्रण से कुशल औद्योगिक इकाइयों को प्रोत्साहन तथा दुर्बल इकाइयों को बल मिलता है।

(५) **सकेन्द्रण पर रोक**—सरकारी तथा सार्वजनिक, दोनो क्षेत्रो मे औद्योगिक विकास करने से औद्योगिक सत्ता के कुछ व्यक्तियो के हाथ मे केन्द्रित होने का भय कम हो गया है क्योंकि केवल निजी उद्योगपति ही उद्योग की स्थापना के अधिकारी नही हैं सरकार चाहे जिस समय, चाहे जिस क्षेत्र मे नयी औद्योगिक इकाइयाँ स्थापित कर सकती है। स्वभावत इससे कुछ अशो मे निजी औद्योगिक साम्राज्य (Industrial empire) की स्थापना पर रोक लगी है।

भारत मे सार्वजनिक क्षेत्र के उद्योग

पूंजी एव विनियोजन—भारत सरकार के औद्योगिक एव व्यावसायिक सस्थानो की रिपोर्ट के अनुसार ३१ मार्च, १९६७ को भारत सरकार द्वारा ८८ व्यावसायिक सस्थान सचालित थे, जिनकी कुल चालू पूंजी ४,६५७ करोड रुपये थी।

संगठन का स्वरूप

भारत मे सार्वजनिक उद्योगो के सगठन के स्वरूप को तीन वर्गों मे विभाजित किया जा सकता है

(१) **विभागीय सस्थान** (Departmental Undertakings)—इस वर्ग मे रेल, डाक-तार, चित्तरजन का इजन बनाने का कारखाना, पेरेम्बूर का रेलवे के डिब्बे बनाने का कारखाना आदि सम्मिलित हैं। इनका प्रबन्ध भारत सरकार के उद्योग मन्त्रालय द्वारा प्रत्यक्ष रूप मे किया जाता है।

(२) **निगम सस्थान** (Corporations)—कुछ क्षेत्रो मे उद्योगो के सचालन एव विकास के लिए सरकार द्वारा स्वतन्त्र निगम बना दिये गये हैं। यह निगम सम्बन्धित औद्योगिक इकाइयो की व्यवस्था करते हैं परन्तु वह किसी न किसी मन्त्रालय के अधीन हैं और इनकी नीतियो पर ससद का नियन्त्रण रहता है। जीवन बीमा निगम, दामोदर घाटी निगम, औद्योगिक विकास निगम, राष्ट्रीय कोयला विकास निगम आदि इस वर्ग के उदाहरण हैं।

(३) **निजी कम्पनियाँ** (Private Companies)—कुछ क्षेत्रो मे सरकार ने कम्पनियाँ स्थापित कर दी हैं जो निजी हैं तथा जिनका सीमित दायित्व है। यह कम्पनियाँ भारतीय कम्पनी

अधिनियम के अन्तर्गत काम करती हैं। हिन्दुस्तान एयरक्राफ्ट, भारत इलैक्ट्रोनिक्स, हैवी इलैक्ट्रिकल्स आदि इस वर्ग मे सम्मिलित हैं।

विकास—पिछले एक दशाब्द के नियोजन का यह परिणाम निकला है कि भारतीय कम्पनी क्षेत्र मे लोक क्षेत्र का प्राबल्य है। यदि सम्पत्ति की दृष्टि से देखा जाय तो देश की प्रथम दस कम्पनियो मे से ६ सरकारी इकाइयाँ हैं। ३१ मार्च, १९६८ को भारत मे कुल ८३ राजकीय औद्योगिक इकाइयाँ थी जिनमे से ४५ द्वारा उत्पादन किया जा रहा था। इन कम्पनियों द्वारा १९६७-६८ मे कुल १,४०३ करोड रुपये का माल बेचा गया जो १९६६-६७ की विक्रय राशि से २३ २ प्रतिशत अधिक था।

सरकारी कम्पनियो की प्रगति का व्यौरा निम्नलिखित तालिका से लग सकता है

भारत मे लोक क्षेत्रीय उपक्रम

अवधि	इकाइयो की सख्या	कुल विनियोग (करोड रुपयो में)
१-४-१९५१	५	२९
१-४-१९५६	२१	८१
१-४-१९६१	४८	९५३
३१-३-१९६६	८४	२,४१५
३१-३-१९७०	८८	४,०००

सरकारी क्षेत्र की उपर्युक्त प्रगति निश्चय ही उल्लेखनीय है किन्तु इस क्षेत्र की इकाइयों की कुशलता सन्तोषजनक नही है। सन् १९६६-६७ मे इन इकाइयो द्वारा कुल पूँजी पर १ ६ प्रतिशत लाभ प्रदर्शित किया गया और १९६७ ६८ मे लाभ की राशि २ प्रतिशत हो गयी। इतने कम लाभ के मुख्य कारण निम्नलिखित है

(१) बिना बिके माल के स्टाक मे निरन्तर वृद्धि,
(२) अनेक इकाइयो मे हानि,
(३) प्रबन्ध कुशलता का निम्न स्तर।

यह बात निश्चय ही आश्चर्यजनक है कि इन इकाइयो को सरकार से लिए गये ऋणो पर अपेक्षाकृत कम ब्याज देना पडता है तो भी इनके लाभ की दरें बहुत निम्न हैं।

हानि लाभ—सरकारी क्षेत्र मे लाभ कमाने वाली मुख्य इकाइयाँ इण्डियन ऑयल कारपोरेशन, फर्टिलाइजर कारपोरेशन, राज्य व्यापार निगम, शिपिंग कारपोरेशन तथा भारत इलैक्ट्रोनिक्स हैं। जिन इकाइयो को निरन्तर हानि हो रही है उनमे हिन्दुस्तान स्टील, हैवी इलैक्ट्रिकल्स, नीवेली लिगनाइट कारपोरेशन तथा भारत हैवी इलैक्ट्रिकल्स प्रमुख हैं।

अनबिका माल—सरकारी इकाइयो मे से कुछ मे बिना बिके माल के प्रचुर भण्डार एकत्रित हो गये हैं जिससे इनकी लाभार्जन शक्ति पर प्रभाव पडा है। उदाहरणत हिन्दुस्तान साल्ट मे कुल बिक्री के ३७१ प्रतिशत, हैवी इलैक्ट्रिकल्स मे २१७ प्रतिशत, नेशनल इन्स्ट्रूमैंट्स मे १८७ प्रतिशत तथा हिन्दुस्तान शिपयार्ड मे १११ प्रतिशत स्टाक इकट्ठा हो गया था (यह अक १९६७-६८ के हैं)। इस स्थिति का मुख्य कारण यह है कि जिस समय इन इकाइयो की स्थापना की गयी थी, इनसे सम्बन्धित माल की माँग का कुछ अनुमान लगाया गया था जो चतुर्थ योजना के स्थगन के कारण सही नही निकला। भविष्य मे इन इकाइयो द्वारा उत्पन्न माल की माँग बढने की पूरी सम्भावना है जिसके फलस्वरूप इन इकाइयो की आर्थिक स्थिति मे निश्चय ही सुधार होगा।

सार्वजनिक क्षेत्र की महत्त्वपूर्ण इकाइयाँ

भारत सरकार द्वारा स्थापित औद्योगिक एवं व्यावसायिक इकाइयों को पाँच वर्गों मे बाँटा गया है। इनमे से प्रत्येक वर्ग की कुछ महत्त्वपूर्ण इकाइयों का विवरण नीचे प्रस्तुत किया जा रहा है

(१) हैवी इलैक्ट्रिकल्स (Heavy Electricals Ltd.)—यह कम्पनी अगस्त १९५६ मे भोपाल में स्थापित की गयी थी। इसकी स्थापना बिजली के उत्पादन तथा वितरण सम्बन्धी भारी सामान का उत्पादन करने के लिए की गयी।

इस कम्पनी को हरिद्वार (उत्तर प्रदेश), रामचन्द्रपुरम् (आन्ध्र प्रदेश), तिरुवेरुम्बर (मद्रास) तथा भोपाल (मध्य प्रदेश) की परियोजनाओं का विकास करना था। इनमें से पहली तीन इकाइयों को १७ नवम्बर, १९६४ को मिला दिया गया और संयुक्त कम्पनी का नाम भारत हैवी इलैक्ट्रिकल्स लिमिटेड रख दिया गया।

भोपाल स्थित इकाई अनेक प्रकार का बिजली का भारी सामान निर्माण करती है। इसमे ब्रिटेन के एसोसिएटेड इलैक्ट्रिकल इण्डस्ट्रीज का सहयोग है।

१९६८ ६९ में कम्पनी की प्रदत्त पूँजी ५० करोड रुपये थी परन्तु भारत सरकार का इसमे कुल विनियोजन लगभग ८५ करोड रुपये था।

(२) हिन्दुस्तान स्टील लि० (Hindustan Steel Ltd)—यह कम्पनी १९५३ मे १०० करोड रुपये की अधिकृत पूँजी से राउरकेला स्टील प्लाण्ट का निर्माण एव प्रबन्ध करने के लिए स्थापित की गयी थी। तत्पश्चात् भिलाई तथा दुर्गापुर मे भी इस्पात कारखाने स्थापित किये गये। अत अप्रैल १९५७ में इन दोनो को भी हिन्दुस्तान स्टील के अधीन कर दिया गया और कम्पनी की अधिकृत पूँजी ३०० करोड रुपये निश्चित कर दी गयी। मार्च १९६२ मे इन तीनों इस्पात कारखानों की क्षमता मे वृद्धि करने तथा एक अलॉय स्टील प्लाण्ट (Alloy Steel Plant) लगाने के उद्देश्य से कम्पनी की अधिकृत पूँजी बढाकर ६०० करोड रुपये कर दी गयी।

इसके अन्तर्गत राउरकेला, भिलाई तथा दुर्गापुर के स्टील कारखाने हैं जिनकी स्टील उत्पादन क्षमता लगभग ३० लाख टन वार्षिक है।

(३) हिन्दुस्तान मशीन टूल्स (Hindustan Machine Tools Ltd)—यह कम्पनी १९५३ मे बगलौर मे स्थापित की गयी थी। इसकी दो इकाइयाँ बगलौर तथा एक पिंजोर (पजाब) मे है। चौथी इकाई कलम सेरी (केरल) और पाचवी हैदराबाद मे स्थापित की गयी है। यह सभी इकाइयाँ विविध प्रकार की छोटी बडी मशीनें निर्मित करती हैं। बगलौर की एक इकाई मे सिटीजन वॉच कम्पनी (जापान) के सहयोग से घडियाँ भी बनायी जाती हैं। इस इकाई द्वारा ५ लाख घडियाँ प्रति वर्ष बनाने का लक्ष्य निर्धारित किया गया है।

हिन्दुस्तान मशीन टूल्स ने अपनी बिक्री बढाने के लिए फ्रैंकफर्ट, न्यूयार्क, लासएँजेल्स तथा मेलबोर्न मे बिक्री एव सेवा केन्द्र स्थापित किये हैं। १९६७-६८ मे इसकी निर्यात राशि १२० लाख रुपये के मूल्य की हो जाने की सम्भावना है।

(४) खाद निगम (Fertilizer Corporation of India Ltd)—यह कम्पनी १ जनवरी, १९६१ को सिन्द्री तथा नांगल की खाद फैक्टरियों का कार्य सँभालने के लिए स्थापित की गयी थी। इसके अन्तर्गत अग्रांकित सात इकाइयाँ हैं

इकाई	वार्षिक क्षमता	लाख टन
१ सिन्द्री (बिहार)	अमोनियम सल्फेट	३ ५५
	यूरिया	० ३३
	अमोनियम सल्फेट नाइट्रेट	१ ३२
२. नांगल (पजाब)	केल्शियम, अमोनिया नाइट्रेट	३ ८८
	भारी पानी	१४ १ टन
३ ट्राॅम्बे (महाराष्ट्र)	नाइट्रोजन	९०,००० ,,
	यूरिया और नाइट्रोजन फास्फेट	४५,००० ,,
४ नामरूप (आसाम)	यूरिया	५५ ००० ,,
	अमोनियम सल्फेट	१,००,००० ,,
५ गोरखपुर (उत्तर प्रदेश)	यूरिया (नाइट्रोजन)	८०,००० ,,
६ कोरबा (मध्य प्रदेश)	यूरिया (नाइट्रोजन)	१,००,००० ,,
७ दुर्गापुर (प० बगाल)	नाइट्रोजन	१,००,००० ,,
	अमोनियम सल्फेट नाइट्रेट	४,००,००० ,,

निगम की अधिकृत पूँजी ७५ करोड रुपये है तथा ३१ मार्च, १९६८ को इसकी प्रदत्त पूँजी ५७ ५० करोड थी।

(५) हिन्दुस्तान एण्टीबायोटिक्स (Hindustan Antibiotics Ltd)—यह कम्पनी जून १९५४ म पिम्प्री (पूना) नामक स्थान पर स्थापित की गयी थी। यह पेनिसिलीन, स्ट्रेप्टोमाइसिन तथा अन्य सहायक दवाएँ निर्मित करती है। इसकी अधिकृत पूँजी ४ करोड रुपये तथा प्रार्पित पूँजी २.४७ करोड रुपये है। चतुर्थ योजनाकाल मे यह कम्पनी विटामिन 'सी', नियामाइसिन सल्फेट, ऑरियोफगिन का निर्माण करेगी तथा हेमीसिन के उत्पादन मे वृद्धि करेगी।

(६) राष्ट्रीय कोयला विकास निगम (National Coal Development Corporation Ltd)—इस निगम की स्थापना सितम्बर १९५६ मे भारतीय कम्पनी अधिनियम के अन्तर्गत राँची मे की गयी। निगम ने सरकार द्वारा सचालित कोयला खानो का प्रबन्ध सँभाल लिया। इस निगम के आधीन २४ कोयला खानें हैं और १५ परियोजनाएँ निर्माणाधीन हैं। इन खानो की वार्षिक खनन क्षमता लगभग १ ५ करोड टन है।

कोयला विकास निगम कारगली, सवाग, गिडी तथा कठारा मे कोयला धोने की इकाइयाँ चला रहा है। इन इकाइयो द्वारा स्टील उत्पादन के लिए प्रति वर्ष १६ लाख टन धोया हुआ कोयला उपलब्ध कराया जा रहा है।

(७) हिन्दुस्तान शिपयार्ड (Hindustan Shipyard Ltd)—यह सस्था १९४१ मे स्थापित हुई और इसने मार्च १९५२ मे सिंधिया स्टीम नेवीगेशन कम्पनी का जहाज बनाने का कार्य अपने हाथ मे ले लिया। भारत सरकार ने सिंधिया कम्पनी की सम्पूर्ण सम्पत्ति जुलाई १९६१ मे ग्रहण कर ली। हिन्दुस्तान शिपयार्ड (विशाखापत्तनम) मे जहाज बनाने तथा उसकी मरम्मत करने का काम किया जाता है। कम्पनी की अधिकृत पूँजी १० करोड रुपये तथा प्रदत्त पूँजी ९ ०३ करोड रुपये है।

हिन्दुस्तान शिपयार्ड ने अपनी स्थापना (१९४१) से लेकर ३१ मार्च, १९६७ तक कुल ४३ जहाजो का निर्माण किया जिनकी क्षमता ३ ३७ लाख टन थी। १९६६-६७ मे इसने दो जहाज बनाये जिनमे से एक सिंधिया कम्पनी के लिए तथा दूसरा शिपिंग कारपोरेशन के लिए था।

(८) एयर इण्डिया (Air India)—इस संस्था की स्थापना Air Corporations Act, 1953 के अन्तर्गत जून १९५३ में हुई और इसने एयर इण्डिया इण्टरनेशनल लिमिटेड का कार्यभार सँभाल लिया। एयर इण्डिया द्वारा भारत से इंगलैण्ड, अमरीका, जापान, आस्ट्रेलिया, पूर्वी अफ्रीका तथा सोवियत संघ के लिए हवाई सेवाएँ प्रदान की जाती हैं तथा ब्रिटिश ओवरसीज एयर कारपोरेशन (B O A C) के सहयोग से जकार्ता एवं कुवैत तक हवाई सेवा की व्यवस्था की गयी है (विस्तारपूर्वक अध्ययन के लिए 'वायु परिवहन' शीर्षक अध्याय देखिए)। इस कम्पनी में सरकार की कुल २७ करोड़ रुपये की पूँजी लगी हुई है।

(९) इण्डियन एयरलाइन्स (Indian Airlines Corporation)—यह भी एयर कॉरपोरेशन एक्ट १९५३ के अन्तर्गत १५ जून १९५३ को स्थापित की गयी तथा इसने आठ ऐसी कम्पनियों का कार्य सँभाल लिया जो भारत में हवाई सर्विस चला रही थी। कम्पनी में १३ मार्च, १९६८ को भारत सरकार की कुल २७ करोड़ रुपये की पूँजी लगी हुई थी।

(१०) जहाज निगम (Shipping Corporation of India Ltd)—इस निगम की स्थापना सार्वजनिक क्षेत्र के दो निगमों (Eastern Shipping Corporation Ltd and *Western Shipping Corporation Ltd*) *को मिलाकर अक्टूबर १९६१ में की गयी। निगम* में भारत सरकार की लगभग ३२ करोड़ रुपये की रकम लगी हुई है। निगम द्वारा जहाजी विकास कोष समिति तथा जापान के एक बैंक से ५·७८ करोड़ रुपये ऋण लिया गया है। (जहाजरानी शीर्षक अध्याय देखिए।)

(११) नेपा मिल (National Newsprint and Paper Mills Ltd)—१९४७ में नेपानगर (मध्य प्रदेश) में एक निजी कम्पनी स्थापित की गयी जिसका उद्देश्य अखबारी कागज बनाना था। १९४९ में इस कम्पनी का प्रबन्ध भार मध्य प्रदेश सरकार ने सँभाल लिया। १९५८ में भारत सरकार ने इस कम्पनी के अधिकांश अंश खरीद लिये और पूँजी के ढाँचे में आवश्यक परिवर्तन कर दिये।

नेपा मिल देश की कुल माँग का २० प्रतिशत अखबारी कागज उत्पन्न करती है, शेष कागज विदेशों से आयात किया जाता है। देश की अधिकाधिक माँग की देशी उत्पादन द्वारा पूर्ति करने के लिए नेपा मिल की उत्पत्ति ३०,००० टन से बढ़ाकर ७०,००० टन वार्षिक की जा रही है। इस योजना पर लगभग ८ करोड़ रुपये व्यय होने का अनुमान है।

(१२) जीवन बीमा निगम (Life Insurance Corporation of India, Bombay)—सन् १९५६ में भारत में कार्यशील सभी जीवन बीमा कम्पनियों का राष्ट्रीयकरण कर उनका व्यवसाय सौंपने के लिए भारतीय जीवन बीमा निगम की स्थापना की गयी। ३१ मार्च, १९६४ तक निगम जीवन बीमे का व्यवसाय करता रहा किन्तु १ अप्रैल, १९६४ से उसने सामान्य बीमा व्यवसाय भी आरम्भ कर दिया है। ३१ मार्च, १९६८ तक निगम की पुस्तकों में १२८ लाख व्यक्तियों का बीमा दर्ज था और बीमाकृत रकम की मात्रा ५,२४० करोड़ रुपये थी। निगम की कुल सम्पत्ति लगभग १,४०० करोड़ रुपये के मूल्य की थी।

जीवन बीमा निगम उद्योगों के अंश तथा सरकारी प्रतिभूतियों में पूँजी लगाता है। इसके अतिरिक्त राज्य सरकारों की गारण्टी पर जल प्रदाय योजनाओं, भवन निर्माण तथा औद्योगिक विकास कार्यों के लिए स्वायत्त संस्थाओं तथा औद्योगिक संस्थाओं को ऋण देता है। भवन निर्माण के लिए व्यक्तियों को भी ऋण दिये जाते हैं।

(१३) निर्यात साख एवं गारण्टी निगम (Export Credit and Guarantee Corporation Ltd, Bombay)—सन् १९५७ में निर्यात जोखिम बीमा निगम के नाम से एक संस्था की स्थापना की गयी, जिसकी अधिकृत पूँजी ५ करोड़ रुपये रखी गयी। जनवरी १९६४ में इस

सस्था का नाम निर्यात साख एव गारण्टी निगम रख दिया गया। यह सस्था विदेशों से माल निर्यात करने के लिए साख प्रदान करती है तथा निर्यातकों द्वारा विदेशों मे भेजे गये माल के भुगतान की गारण्टी लेती है। इस सुविधा की प्राप्ति के लिए निर्यातक द्वारा अपने वर्ष भर के निर्यातों के आधार पर शुल्क (premium) देना पडता है। साख एव गारण्टी निगम की स्थापना से भारतीय निर्यात व्यापार को यथेष्ट बल मिला है।

सार्वजनिक क्षेत्र के उद्योगों की समस्याएँ और सुझाव—भारत मे सार्वजनिक क्षेत्र निरन्तर विकसित हो रहा है किन्तु उसमे (१) लालफीताशाही, (२) अत्यधिक कानूनी कार्यवाहियों, (३) रूढिवादिता, और (४) व्यवस्था सम्बन्धी दोष उत्पन्न होते गये हैं। इनके हल करने के लिए निम्नलिखित सुझाव दिये जा रहे हैं :

(१) **अनुभवी प्रबन्धक**—सरकारी क्षेत्र मे एक व्यवस्थापकों का वर्ग (cadre) स्थापित करना चाहिए और उन्हे व्यावसायिक व्यवस्था के लिए उचित प्रशिक्षण दिया जाना चाहिए।

(२) **लागत लेखा**—सरकारी क्षेत्र के उद्योगो मे व्यवस्था लेखापाल (Management Accountants) रखे जाने चाहिए तथा लागत लेखा विशेषज्ञों की सहायता से निर्मित वस्तुओं के उचित मूल्यो का निर्धारण किया जाना चाहिए। इसके साथ ही लागतों पर भी नियन्त्रण रखा जाना चाहिए ताकि वस्तु मूल्यो मे बहुत वृद्धि न हो सके।

(३) **राजनीति से अलग**—सार्वजनिक उद्योगो पर ससद का नियन्त्रण रखने में कोई दोष नही है परन्तु उनका सचालन सर्वथा व्यावसायिक दृष्टि से किया जाना चाहिए। उनके लिए पृथक निगम या कम्पनियाँ बनायी जायें। उनके व्यवस्थापक मण्डल मे राजनीतिज्ञो का हस्तक्षेप नहीं होना चाहिए।

(४) **नवीनतम प्राविधियाँ**—सरकारी क्षेत्र के उद्योगो मे उत्पादन अथवा व्यवस्था क्रम मे जडता आने की आशका रहती है। इस दृष्टि से इन औद्योगिक इकाइयों मे उत्पादन की नवीनतम रीतियाँ काम मे लायी जानी चाहिए तथा व्यवस्था मे भी नवीन रक्त का सचार होते रहने देना चाहिए।

सार्वजनिक क्षेत्र की वर्तमान स्थिति पर एक विहंगम दृष्टि

(१) **सार्वजनिक क्षेत्र मे उद्योगों का विस्तार**—भारत मे समाजवादी समाज की स्थापना करना हमारा लक्ष्य है। इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए सार्वजनिक क्षेत्र का विस्तार किया जा रहा है। औद्योगिक क्षेत्र मे सार्वजनिक क्षेत्र के उद्योगो मे विनियोजन की मात्रा बढती जा रही है। इस लक्ष्य का अनुमान निम्न सारिणी से लगाया जा सकता है

उद्योग मे विनियोजन

(वर्तमान मूल्यों पर करोड रुपयों में)

	प्रथम योजना	द्वितीय योजना	तृतीय योजना
सार्वजनिक क्षेत्र	५५	९३८	१,५२०
निजी क्षेत्र	२३३	८५०	१,०५०

(२) **सार्वजनिक क्षेत्रों के उद्योगों का उत्पादन**—सार्वजनिक क्षेत्र के उद्योगों के उत्पादन मे भी तेजी से वृद्धि हो रही है। सार्वजनिक क्षेत्र के सस्थानो (Government Enterprises) के उत्पादन का अनुमान अग्रलिखित तालिका से लगाया जा सकता है :

शुद्ध घरेलू उत्पादन में सरकारी संस्थानों का भाग

वर्ष	सरकारी संस्थानों का उत्पादन (करोड़ रुपयों में)	शुद्ध घरेलू उत्पादन का %
१९५०-५१	२६० ०	३·०
१९५५ ५६	४२० ०	४ २
१९६० ६१	५७० ०	४ ०
१९६२ ६३	६७० ०	४ ३

(३) सार्वजनिक क्षेत्र के उद्योगों की कार्यक्षमता—भारतीय योजना आयोग का यह अनुमान था कि तृतीय पचवर्षीय योजनाकाल म सार्वजनिक औद्योगिक इकाइयो से ५५० करोड़ रुपयों की शुद्ध आय होगी जिसमें ४०० करोड रुपये केन्द्रीय उद्योगो मे तथा १५० करोड़ रुपय राज्य सरकारो द्वारा सचालित उद्योगो स प्राप्त होग परन्तु वास्तविक प्राप्ति क्रमश ३७० करोड़ रुपये तथा १०५ करोड रुपय हुई। यह अक विशेष असन्तोषजनक प्रतीत नही होते किन्तु वस्तुस्थिति सर्वथा भिन्न है।

गत चार वर्षों मे केन्द्रीय सार्वजनिक उद्योगों मे विनियोजित पूँजी तथा लाभ की स्थिति निम्न प्रकार थी

केन्द्रीय सरकार के उद्योग

वर्ष	विनियोजित राशि (करोड रुपयों मे)	लाभ की मात्रा
१९६३-६४	३,४१६	७५ ६
१९६४-६५	३,८८१	४४ ३
१९६५-६६	४,३३५	३७ ८
१९६६-६७	४,६५७	—४ ५

Public

उपर्युक्त सारिणी से स्पष्ट है कि सार्वजनिक उद्योगों में विनियोजित रकम की मात्रा मे निरन्तर वृद्धि तथा लाभ की मात्रा मे क्रमश कमी होती जा रही है। १९६६-६७ मे तो इन पर लाभ नहीं हुआ अपितु ४ ५ करोड रुपये की हानि हुई है। इससे स्पष्ट है कि सरकारी उद्योगो की कार्यक्षमता बहुत निम्न स्तर की है।

(४) उत्पादन क्षमता का कम प्रयोग—सार्वजनिक उद्योगों की क्षमता तो कम है ही परन्तु जितनी है उसका समुचित उपयोग नहीं होता। उदाहरणत, १९६५-६६ मे राँची की हैवी मशीन बिल्डिंग प्लाण्ट की कुल क्षमता के केवल १५ प्रतिशत का उपयोग किया गया।

(५) कर्मचारियों की सख्या मे अनावश्यक वृद्धि—सरकारी औद्योगिक सस्थाओ मे प्राय. पार्किन्सन का नियम लागू होता है जिसके अनुसार क्षमता बढ़ाने के लिए कर्मचारियो की सख्या में निरन्तर वृद्धि होती रहती है। गत पाँच वर्षों मे सरकारी व्यावसायिक सस्थाओं में कर्मचारियों की सख्या दुगनी हो गयी। इससे व्यय की मात्रा मे वृद्धि हुई है।

सक्षेप म, दोषपूर्ण आयोजन, प्रशासनिक ढील, व्यवसाय वृद्धि का अभाव, ऊँचा व्यय तथा अनावश्यक पूँजी का बाहुल्य ऐसे कारण हैं जो सरकारी उद्योगो की शोचनीय स्थिति के लिए उत्तरदायी हैं। इन दोषो को दूर किये बिना सामान्य जनता का सरकारी क्षेत्र से विश्वास बिलकुल हट जायगा और भारत म समाजवादी समाज की स्थापना का लक्ष्य स्वप्न मात्र रह जायगा।

प्रश्न

१. भारत में लोक क्षेत्र की आवश्यकता का महत्त्व स्पष्ट कीजिए।
२. भारतीय उद्योगो मे लोक तथा निजी क्षेत्रों के गुण दोषों का विवेचन कीजिए।
६ भारतीय अर्थ-व्यवस्था में लोक क्षेत्र के योगदान पर प्रकाश डालिए।

30 प्रबन्ध अभिकर्ता प्रणाली

(MANAGING AGENCY SYSTEM)

'In the early days of industrialization when neither enterprise, nor capital was plentiful the managing agent provided both."

—***Fiscal Commission (1949 50)***

औद्योगिक विकास तथा औद्योगिक संस्थाओं के सफल संचालन के लिए प्रचुर मात्रा में वित्तीय साधन तथा कुशल प्रबन्ध की आवश्यकता होती है। उत्पादन के सभी साधन होते पर यदि प्रबन्ध व्यवस्था सन्तोषजनक न हो तो कोई भी उद्योग सफल नहीं हो सकता। औद्योगिक प्रबन्ध व्यवस्था कई प्रकार की हो सकती है—व्यक्तिगत साहसी द्वारा प्रबन्ध, साझेदारी फर्मों द्वारा प्रबन्ध सहकारी प्रबन्ध व्यवस्था, सरकारी प्रबन्ध व्यवस्था तथा सार्वजनिक निगमों द्वारा प्रबन्ध व्यवस्था। भारत की औद्योगिक व्यवस्था में प्रबन्ध अभिकर्ताओं का महत्वपूर्ण स्थान रहा है जिनका संगठन व्यक्तिगत, साझेदारी फर्म या निजी अथवा सार्वजनिक मिश्रित पूंजी कम्पनी के ही रूप में होता है। भारतीय कम्पनी विधान के अनुसार

"प्रबन्ध अभिकर्ता एक व्यक्ति, फर्म अथवा कम्पनी है, जिसे कम्पनी के संविदा (agreement) के अनुसार कम्पनी के संचालकों के संरक्षण और निर्देशों में रहकर या अन्य प्रकार से अथवा संविदा में कोई ऐसी व्यवस्था हो कम्पनी के कुल कार्यों की व्यवस्था करनी पड़ती है। इसके अन्तर्गत कोई भी व्यक्ति फर्म अथवा कम्पनी, जिसे ऐसा पद प्राप्त हो सम्मिलित है, चाहे इसका नाम कुछ भी हो।"

प्रणाली का आरम्भ—भारत में प्रबन्ध अभिकर्ता प्रणाली का प्रारम्भ कलकत्ता से हुआ जहाँ पर यूरोपीय फर्में आयात निर्यात व्यापार में लगी हुई थी। इनमें कुछ फर्मों ने नया व्यापार आरम्भ करना चाहा। भारत की औद्योगिक सम्भावनाएँ विस्तृत थी परन्तु लोग पूंजी विनियोजन करने में डरते थे। बैंकिंग व्यवसाय अविकसित था। उस समय किसी औद्योगिक संस्थान की सहायता के बिना कम्पनी प्रारम्भ नहीं की जाती थी। प्रत्येक कम्पनी का प्रारम्भ प्रबन्ध अभिकर्ता के समर्थन से किया जाता था। प्रबन्ध अभिकर्ता आरम्भ में प्रवर्तक (Promotors) का कार्य करते थे। इस रूप में वे कम्पनी के अधिकांश अंश खरीद लेते थे। वे कार्यशील पूंजी का प्रबन्ध करते थे तथा प्राय कम्पनी की प्रबन्ध व्यवस्था भी अपने हाथ में ले लेते थे। जहाँ तक इनके प्रारम्भ होने के निश्चित समय का सम्बन्ध है डॉ० वीरा एन्स्ट के अनुसार १८३३ से भारत के साथ व्यापार करने की स्वतन्त्रता यूरोपीय व्यापारियों को प्राप्त हुई तथा ईस्ट इण्डिया कम्पनी का एकाधिकार समाप्त हुआ। उसी समय से भारत में प्रबन्ध अभिकर्ता प्रणाली का प्रारम्भ हुआ। इस प्रकार प्रबन्ध अभिकर्ता प्रणाली का जन्म भारत में आधुनिक औद्योगिक विकास के साथ ही हुआ।

स्वरूप और विकास—अधिकांश प्रबन्ध अभिकर्ता फर्में, साझेदारी या निजी कम्पनियों के रूप में पायी जाती हैं। सार्वजनिक कम्पनियों के रूप में इनकी संख्या सीमित है। कम्पनी कार्य विभाग के शोध एवं सांख्यिकीय अनुभाग के एक अध्ययन के अनुसार १९५४-५५ में कुल २९,६२५ कम्पनियाँ रजिस्टर्ड थीं जिनमें से ५,०५५ कम्पनियाँ प्रबन्ध व्यवस्थाओं के नियन्त्रण में थीं। इन कम्पनियों की प्रदत्त पूँजी क्रमशः ९७१ करोड़ और ८६५ करोड़ रुपए थी। ३१ मार्च, १९६८ को प्रबन्ध अभिकर्ताओं के अधीन कम्पनियों की संख्या ६७४ रह गयी जिनकी कुल प्रदत्त पूँजी ५८८.५ करोड़ रुपए थी।

प्रमुख केन्द्र—प्रबन्ध अभिकर्ता फर्में मुख्यतः पश्चिमी बंगाल, बम्बई तथा तमिलनाडु में केन्द्रित हैं। इनमें पश्चिमी बंगाल का प्रथम स्थान है। इन तीनों राज्यों में भारत की कुल प्रबन्ध अभिकर्ता फर्मों की तीन चौथाई फर्में पायी जाती हैं। जिन उद्योगों में इनका प्रभाव अधिक है, वे हैं—जूट, सीमेंट, सूती वस्त्र, विद्युत उत्पादन और वितरण, कोयला, कागज, लोहा, तथा इस्पात और दियासलाई उद्योग। इनके अतिरिक्त मैंगनीज, अभ्रक, पावर अल्कोहल, स्टेनलेस स्टील के बर्तन आदि उद्योगों में भी इनका महत्त्व है। प्रबन्ध अभिकर्ता फर्में भारतीय तथा विदेशी दोनों ही हैं।

प्रबन्ध अभिकर्ता प्रणाली के गुण

प्रबन्ध अभिकर्ताओं द्वारा तीन प्रमुख कार्य किये जाते हैं—प्रवर्तन, वित्त, व्यवस्था **और प्रबन्ध**। वस्तुतः साहसी पूँजीपति तथा उद्योग प्रबन्धक के कार्यों के सम्मिलित प्रतीक हैं।

(१) **प्रवर्तन**—कम्पनियों के प्रवर्तक के रूप में प्रबन्ध अभिकर्ता महत्त्वपूर्ण सेवाएँ प्रदान करते हैं। जब कोई भी उद्योग प्रारम्भ किया जाता है तब पर्याप्त मात्रा में पूँजी उपलब्ध नहीं होती है। विनियोजक आरम्भ में विनियोजन करने में डरते हैं। पश्चिमी देशों में प्रवर्तन के कार्य में उपक्रम गृहों (Promoting Houses) तथा निर्गमन गृहों (Issue Houses) से बड़ी मदद मिलती है। परन्तु भारत में ऐसी संस्थाओं का अभाव है। कम्पनी की स्थापना के पूर्व कुछ आरम्भिक कार्य करने पड़ते हैं। ये सभी आरम्भिक कार्य प्रबन्ध अभिकर्ताओं द्वारा किये जाते हैं। भारत में ऐसे साहसियों का अभाव है जो प्रवर्तन का कार्य कर सकें। प्रबन्ध अभिकर्ताओं द्वारा इस कमी की पूर्ति हुई है। भारत में कई महत्त्वपूर्ण उद्योगों की स्थापना का श्रेय प्रबन्ध अभिकर्ताओं को है। "भारत में स्थापित दस में से नौ औद्योगिक संस्थानों का प्रारम्भ इन प्रबन्ध अभिकर्ताओं द्वारा ही किया गया है।"[1]

(२) **वित्त-व्यवस्था**—प्रबन्ध अभिकर्ताओं का दूसरा महत्त्वपूर्ण कार्य व्यवस्था है। वे औद्योगिक संस्थानों को कार्यशील तथा स्थायी पूँजी के रूप में आर्थिक सहायता प्रदान करते हैं। प्रबन्ध अभिकर्ताओं द्वारा उद्योगों को वित्तीय सहायता देने के कार्य में निम्नलिखित कारणों से वृद्धि हुई: भारत में अविकसित पूँजी बाजार, भारतीय पूँजी में साहस का अभाव (shyness), प्रबन्ध अभिकर्ताओं की दृढ़ आर्थिक स्थिति, बैंकों द्वारा किसी प्रबन्ध अभिकर्ता की गारण्टी के बिना उद्योगों को ऋण न देने की नीति और विदेशी पूँजी का अन्तर्प्रवाह। कम्पनियों के वित्त प्रबन्ध में प्रबन्ध अभिकर्ता साधारणतया निम्नलिखित रीतियों का प्रयोग करते हैं: (क) निजी धन का उपयोग, (ख) जनता से जमा प्राप्ति, (ग) अपनी गारण्टी पर बैंकों से ऋण प्राप्ति, (घ) विनियोग कम्पनी के रूप में कार्य, (ङ) एक कम्पनी की निधि का दूसरी कम्पनी में प्रयोग, (च) वित्तीय एकीकरण और (छ) विदेशी पूँजी का सहयोग।

(३) **प्रबन्ध**—भारत में जब आधुनिक उद्योगों का विकास प्रारम्भ हुआ, उस समय ऐसे व्यक्तियों की कमी थी जिनके पास उद्योगों के प्रबन्ध के लिए आवश्यक योग्यता तथा अनुभव हो।

---

1 M A Mulky, *The New Capital Issue Market in India*, p 6

उस समय यूरोपीय प्रबन्ध अभिर्ताओ ने इस कमी की पूर्ति की। इन अभिकर्ताओं के पास विभिन्न उद्योगो की प्रबन्ध व्यवस्था के लिए विशेष विभाग होते हैं। प्रत्येक विभाग मे योग्य, प्रशिक्षित व अनुभवी प्रबन्धक रखे जाते हैं।

प्रबन्ध अभिकर्ता आयात-निर्यात सम्बन्धी कार्य भी करते हैं, साथ ही साथ वे अपने उद्योगो के लिए कच्चा माल खरीदते हैं तथा उन उद्योगो द्वारा निर्मित वस्तुओ की बिक्री का भी प्रबन्ध करते है। इस प्रकार उनके द्वारा सचालित उद्योगों को बडे पैमाने के व्यापार से होने वाले लाभ प्राप्त होत है। छोटी-छोटी कम्पनियो को भी प्रबन्ध अभिकर्ता द्वारा बडे तथा कुशल विशेषज्ञों की सेवाएँ प्राप्त हो जाती हैं। प्रबन्ध अभिकर्ता एक ही प्रकार की बहुत-सी कम्पनियो का प्रबन्ध करते हैं, अत कम्पनियो के विज्ञापन व्यय मे काफी कमी हो जाती है यदि कम्पनियाँ इस प्रकार की हैं कि एक के द्वारा निर्मित वस्तु दूसरी कम्पनी के लिए कच्चे माल का काम देती है, तो प्रबन्ध अभिकर्ता द्वारा दोनो कम्पनियो को असाधारण लाभ होता है। एक कम्पनी अपने द्वारा निर्मित वस्तुओं को बेचने की चिन्ता से मुक्त हो जाती है तथा दूसरी कम्पनी को कच्चा माल सस्ता प्राप्त होता रहता है। इस प्रकार प्रबन्ध अभिकर्ता, कम्पनियो को कुशल प्रबन्ध-व्यवस्था का लाभ पहुचाते हैं।

प्रबन्ध अभिकर्ता प्रणाली के दोष

प्रबन्ध अभिकर्ताओं ने देश के औद्योगिक विकास मे महत्वपूर्ण योग दिया है। उनकी प्रवर्तन, वित्तीय व्यवस्था तथा प्रबन्ध सम्बन्धी सेवाओ को भुलाया नहीं जा सकता परन्तु इसके साथ ही इस प्रणाली के दोषो के प्रति भी आँखें बन्द नही की जा सकती। इस प्रणाली के दोषों का अध्ययन निम्नलिखित शीर्षकों के अन्तर्गत किया जा सकता है.

(१) आर्थिक प्रभुत्व (Economic Domination)—प्रबन्ध अभिकर्ताओ के माध्यम से भारतीय उद्योगो पर आर्थिक प्रभुत्व बढा है। उद्योगो ने अपनी स्वतन्त्रता खो दी है। वित्त उद्योगों का स्वामी नहीं, अपितु सेवक है परन्तु प्रबन्ध अभिकर्ताओ के कारण 'वित्त उद्योग का सेवक होने के बदले स्वामी बन गया है।' यह आवश्यक नहीं है कि पूँजीपति के पास प्रबन्ध कुशलता भी हो। परन्तु प्रबन्ध अभिकर्ता वित्तीय सहायता के साथ सामान्यत उद्योगो की प्रबन्ध व्यवस्था भी अपने हाथ मे ले लेते हैं। इस प्रकार उनका प्रभुत्व सदैव के लिए जम जाता है। सकटकालीन स्थिति मे ये कम्पनी के हितो की ओर ध्यान नही देते। इस प्रणाली के कारण उद्योगो मे केवल वित्तीय मामलों पर ही ध्यान केन्द्रित हो जाता है अन्य बातें गौण हो जाती हैं।

(२) एकाधिकारिक नियन्त्रण (Monopolistic Control)—प्रबन्ध अभिकर्ता अपनी कम्पनियो पर पूर्ण नियन्त्रण रखते हैं। कम्पनी के सचालको के, जो कम्पनी के वास्तविक प्रबन्धक हैं तथा जो अशधारियो के प्रतिनिधि होते हैं वास्तविक अधिकार कुछ नही रह जाते। प्रवर्तक होने के नाते प्रबन्ध अभिकर्ता पहली बार सचालको की नियुक्ति करना अपना अधिकार समझते हैं। प्रबन्ध अभिकर्ता कम्पनी के साथ जो समझौता करते हैं उनके द्वारा असीमित एकाधिकार प्राप्त कर लेते हैं। इस प्रकार उद्योगों का केन्द्रीयकरण कुछ ही हाथो मे हो जाता है।

(३) आर्थिक शोषण (Economic Exploitation)—प्रबन्ध अभिकर्ताओ द्वारा कम्पनियो का विविध प्रकार से शोषण किया जाता है। वे लाभाश की दरो मे परिवर्तन करते रहते हैं तथा कम्पनी के धन का प्रयोग निजी स्वार्थ के लिए करते हैं। कम्पनी के धन को अनावश्यक कार्यों पर व्यय करना तथा अपने कार्य के लिए ऋण लेना इनके लिए साधारण बातें हैं। व्यक्तिगत भत्ता, उत्पादन पर कमीशन, खरीद पर कमीशन, बिक्री पर कमीशन तथा अन्य विशेष प्रकार के कमीशन इनके द्वारा लिए जाते रहे हैं। इन सब के फलस्वरूप अशधारियो को बहुत कम लाभाश मिल पाता है। योजना आयोग के अनुसार प्रबन्ध अभिकर्ताओ द्वारा कच्चा माल खरीदने, निर्मित माल

बेचने तथा वित्तीय सौदों को पारस्परिक गूंथने सम्बन्धी दोष प्रकाश में आये हैं। इन सबके ऊपर बहुत से *प्रबन्ध अभिकर्ता फर्मों ने अपने प्रशासनिक ढाँचे, कारखाने के प्रबन्ध, क्रय तथा विक्रय* संगठन, पुस्तपालन प्रणाली इत्यादि में कोई सुधार नहीं किया जो औद्योगिक कार्यक्षमता के लिए आवश्यक है।"[1]

(४) अन्तर्विनियोग (Interlocking of Funds)—एक कम्पनी के धन का दूसरी कम्पनी में विनियोजन करना प्रबन्ध अभिकर्ता के लिए साधारण बात है क्योंकि उसके प्रबन्ध के अन्तर्गत कई कम्पनियाँ होती हैं। यदि एक कम्पनी में वित्त अधिक है तो वे दूसरी कम्पनी को ऋण दे देते हैं। ऐसे भी उदाहरण मिलते हैं जबकि एक कम्पनी को जो ऋण विस्तार, आधुनिकीकरण आदि के लिए मिलता है, उसका उपयोग प्रबन्ध अभिकर्ता द्वारा दूसरी कम्पनी को जीवित रखने के लिए किया जाता है। इसका दुष्परिणाम दोनों कम्पनियों को भुगतना पड़ता है। आर्थिक दृष्टि से यह प्रक्रिया उपयुक्त नहीं है। इसमें विकासशील कम्पनियों का विकास रुक जाता है तथा अर्थ-व्यवस्था में कमजोर कम्पनियाँ जीवित रहती हैं। इस प्रकार कुशल तथा सक्षम कम्पनियों की संख्या कम होती जाती है। ऋण के इस लेन-देन में प्रबन्ध अभिकर्ता ब्याज द्वारा लाभ भी कमाते हैं।

(५) शेयर बाजार में सट्टेबाजी (Share Speculation)—कम्पनी तथा अंशधारियों के हितों की परवाह किये बिना प्रबन्ध अभिकर्ता विवेकहीन सट्टेबाजी करते हैं। कम्पनी के पास अपना कार्य चलाने के लिए भी आवश्यक धन भले ही न हो परन्तु प्रबन्ध अभिकर्ता निजी लाभ के लिए इस जुए के खेल से बाज नहीं आते। अपनी स्वार्थसिद्धि के लिए वे कम्पनी के अंशों के मूल्य में अवांछनीय परिवर्तन करते रहते हैं। परिस्थितियों के अनुसार वे एक प्रकार का अंश छोड़कर दूसरे प्रकार का अंश लेते रहते हैं। लाभांश की दरों में परिवर्तन कर खरीद के समय वे अंशों का मूल्य कम कर देते हैं तथा बिक्री के समय मूल्य बढ़ा देते हैं। इस प्रकार कम्पनी सट्टे का अखाड़ा बन जाती है। अंशधारियों तथा विनियोजकों को पूर्ण अन्धकार में रखा जाता है। कभी-कभी अंशधारियों को पूँजीगत हानि भी उठानी पड़ती है।

(६) अधिकारों का हस्तान्तरण (Transfer of Rights)—प्रबन्ध अभिकर्ता मनमाने ढंग से प्रबन्ध का हस्तान्तरण कर दिया करते हैं। प्रबन्ध अभिकर्ता सम्बन्धी अधिकार को प्रायः बाजार में वस्तुओं की भाँति बेचा जाता है। यह कार्य अंशधारियों के हितों तथा क्रेता की वास्तविक आर्थिक स्थिति का ध्यान दिये बिना किया जाता है। इस प्रक्रिया को रोकने के लिए कम्पनी विधान में आवश्यक रोक लगा दी गयी है। *परन्तु किसी न किसी प्रकार प्रबन्ध अभिकर्ता चालाकी से* नियमों का उल्लंघन कर लेते हैं।

(७) प्रबन्ध कुशलता का अभाव (Managerial Inefficiency)—*प्रबन्ध अभिकर्ता* प्रणाली वंशानुगत होने के कारण कार्यक्षमता तथा कुशलता में कमी का कारण बन जाती है। यह आवश्यक नहीं है कि पुत्र या सम्बन्धियों में वही प्रबन्ध कुशलता तथा ईमानदारी हो, जो उनके पूर्वजों में थी। इस कारण बहुत से प्रबन्ध अभिकर्ता फर्मों की प्रबन्ध-कुशलता तथा ईमानदारी में उत्तरोत्तर कमी हुई है।

इस दोष को रोकने के लिए प्रसंविदा की अवधि सीमित कर दी गयी है। परन्तु व्यावहारिक रूप से इससे प्रबन्ध अभिकर्ताओं की क्रियाओं में कोई विशेष अन्तर नहीं हुआ है। "अब यह कहना कि देश की प्रबन्ध योग्यता केवल प्रबन्ध अभिकर्ता गृहों तथा केवल उन्हीं तक ही सीमित है, सत्य नहीं है। व्यापार प्रबन्ध सम्बन्धी प्रशिक्षण अब सीमित नहीं है तथा प्रबन्ध अभिकर्ताओं द्वारा

[1] *Planning Commission Report*, 1951, p 147

प्रबन्धित न होने वाली कम्पनियों के पास प्रशिक्षित प्रबन्ध सचालकों तथा सचिवो का अभाव नही है।'[1]

इन दोषो को ध्यान मे रखते हुए यह कहा जा सकता है कि प्रबन्ध अभिकर्ता प्रणाली सर्वथा दोषपूर्ण है। इनके द्वारा कम्पनियों का शोषण हुआ है तथा सामाजिक नैतिकता का ह्रास हुआ है। परन्तु इसके साथ ही यह नही भूलना चाहिए कि देश के औद्योगिक विकास मे इनका महत्त्वपूर्ण भाग रहा है। प्रशुल्क आयोग १९४९-५० के शब्दो मे "इन्होने पिछले ७५ वर्षों में भारतीय उद्योगो की महत्त्वपूर्ण सेवा की है। औद्योगीकरण के प्रारम्भिक काल मे जब भारत मे न तो साहस था और न पर्याप्त मात्रा मे पूँजी ही उस समय इन्होने ये दोनो चीजें प्रदान की।' इनके महत्त्व तथा उपयोगिता का अनुमान उनके द्वारा की जाने वाली प्रवर्तन, अर्थ प्रबन्धन तथा औद्योगिक प्रबन्ध सम्बन्धी सेवाओ से लगाया जा सकता है। अत इस प्रणाली की समाप्ति नहीं अपितु सुधार की आवश्यकता है जिससे प्रबन्ध अभिकर्ता दोषमुक्त होकर देश के योजनाबद्ध नवनिर्माण मे सहायक हो सकें।

प्रबन्ध अभिकर्ता प्रणाली मे सुधार

गत कुछ वर्षों मे कम्पनी अधिनियम मे आवश्यक सशोधन कर प्रबन्ध अभिकर्ता प्रणाली मे सुधार करने का प्रयत्न किया गया है। नीचे इन सशोधन की सक्षिप्त रूपरेखा प्रस्तुत की जा रही है

(१) कम्पनी सशोधन अधिनियम, १९३६—इस एक्ट के द्वारा प्रबन्ध अभिकर्ता के सम्बन्ध मे निम्नलिखित सशोधन किये गये

(क) प्रबन्ध अभिकर्ताओं की नियुक्ति की अवधि २० वर्ष निश्चित की गयी परन्तु प्रसविदा के नवीनीकरण द्वारा इस अवधि को बढाया भी जा सकता था।

(ख) प्रबन्ध अभिकर्ताओ का पारिश्रमिक निश्चित कर दिया गया तथा अब वे शुद्ध लाभ के एक निश्चित प्रतिशत भाग से अधिक पारिश्रमिक नही ले सकते थे।

(ग) प्रबन्ध अभिकर्ता स्वय प्रबन्धित कम्पनी द्वारा किया जाने वाला व्यापार नही कर सकते।

(घ) वित्त व अन्तर्विनियोग को नियन्त्रित किया गया तथा प्रबन्ध अभिकर्ता चालू खाते के अतिरिक्त किसी प्रकार का ऋण नहीं ले सकते।

(ङ) वे सचालक मण्डल मे एक तिहाई से अधिक सचालकों का मनोनयन नही कर सकते।

इन सशोधनो के होते हुए यह प्रणाली दोषमुक्त नहीं हो सकी। अब भी अंशधारियो के हितो की रक्षा किए बिना अधिकारों का हस्तान्तरण हो सकता था। क्षतिपूर्ति के रूप मे वैधानिक व अवैधानिक तरीकों द्वारा कम्पनियों का शोषण किया गया। प्रत्येक सम्भव रीति द्वारा प्रबन्ध अभिकर्ता आर्थिक लाभ प्राप्त करते रहे।

(२) कम्पनी सशोधन अधिनियम १९५१—प्रबन्ध अभिकर्ता प्रणाली के दोषो को दूर करने के लिए सितम्बर १९५१ मे भारतीय कम्पनी अधिनियम मे पुन सशोधन किया गया। इस सशोधन द्वारा प्रबन्ध अभिकर्ताओं के समाज विरोधी कार्यों पर रोक लगायी गयी। प्रबन्ध अभिकर्ता प्रसविदा मे केन्द्रीय सरकार की अनुमति के बिना कोई परिवर्तन नही किया जा सकता था।

(३) कम्पनी सशोधन अधिनियम, १९५५—उपयुक्त दोनो सशोधनो के पश्चात् भी प्रबन्ध अभिकर्ताओं के सभी दोषो को दूर नही किया जा सका। अत कम्पनी अधिनियम मे पुन सशोधन की आवश्यकता हुई। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए श्री सी० एच० भाभा की अध्यक्षता मे कम्पनी विधान समिति' (Company Law Committee) नियुक्त हुई। इस समिति के सुझावो का मुख्य

[1] Dr S K Basu *The Managing System* p 183

सैद्धान्तिक आधार यह था कि कम्पनी प्रवर्तन तथा प्रबन्ध विषयक धाराओ मे इस प्रकार सशोधन किये जायें जिससे कम्पनी प्रवर्तन तथा प्रबन्ध मे उचित सुधार हो। साथ ही साथ सशोधन इतने कडे न हो, जिनके कारण वैधानिक व्यापार या साहस की प्रवृत्ति पर आवश्यक रोक लगे। इस समिति के सुझावो के आधार पर भारतीय कम्पनी सशोधन अधिनियम, १९५५ पारित किया गया।

इस एक्ट का मुख्य उद्देश्य निजी क्षेत्र का विधान के अनुसार विकास करना तथा उचित तरीको का पालन करना था। जहाँ तक प्रबन्ध अभिकर्ता प्रणाली का सम्बन्ध है, इस एक्ट द्वारा प्रबन्ध अभिकर्ता की नियुक्ति, उनकी सेवाओ की शर्तें, उनका पारिश्रमिक, सचालको से सम्बन्धित अधिकार तथा ऋण प्रमविदा क्रय विक्रय स सम्बन्धित प्रबन्ध अभिकर्ताओ की क्रियाओ के विषय मे आवश्यक सशोधन किये गये।

(४) भारतीय कम्पनी विधान, १९५६—यह एक्ट एक प्रकार से पहले के एक्ट का नया रूप था। कम्पनी विधान म महत्वपूर्ण परिवर्तन किए गये। इस विधान मे कम्पनी विधान समिति के सुझावो को सम्मिलित किया गया। एक्ट मे तीन प्रमुख उद्देश्यो पर ध्यान रखा गया। प्रथम, इसके द्वारा प्रबन्ध अभिकर्ता प्रणाली के उन सभी दोषो का दूर करने का प्रयत्न किया गया, जो सन् १९३६ से प्रकाश मे आये थे। द्वितीय इसके द्वारा अशधारियो तथा सामान्य जनता के हितो की रक्षा का प्रयत्न किया गया तथा प्रबन्ध अभिकर्ता की अनुचित क्रियाओ पर रोक लगायी गयी। तृतीय सामान्य राजनीति के अनुसार निजी क्षेत्र को नियन्त्रित किया गया। प्रबन्ध अभिकर्ताओ के सम्बन्ध म निम्नलिखित सशोधन किये गये

(क) नियुक्ति—केन्द्रीय सरकार को यह अधिकार दिया गया कि कुछ विशिष्ट उद्योग तथा व्यापार म लगी हुई कम्पनियों मे एक निश्चित तिथि के पश्चात् प्रबन्ध अभिकर्ता नियुक्त न होने दें। कोई भी कम्पनी, जो दूसरी कम्पनी की प्रबन्ध अभिकर्ता है, अपने लिए प्रबन्ध अभिकर्ता की नियुक्ति नही कर सकती। इसके अतिरिक्त, कोई भी कम्पनी, स्वय प्रबन्ध अभिकर्ता के नियन्त्रण मे है, किसी अन्य कम्पनी की प्रबन्ध अभिकर्ता नियुक्त नही की जा सकती। कम्पनी विधान की धारा ३२६ के अनुसार प्रबन्ध अभिकर्ता की नियुक्ति या पुनर्नियुक्ति कम्पनी की साधारण सभा मे केन्द्रीय सरकार की स्वीकृति से की जायगी। केन्द्रीय सरकार स्वीकृति देते समय इस बात का ध्यान रखेगी कि (अ) नियुक्त किया जाने वाला प्रबन्ध अभिकर्ता उपयुक्त है तथा नियुक्ति की शर्तें उचित हैं, (आ) प्रबन्ध अभिकर्ता रखना जनहित के विरुद्ध नही है, तथा (इ) प्रबन्ध अभिकर्ता केन्द्रीय सरकार द्वारा निर्धारित शर्तों की पूर्ति करता है।

(ख) प्रबन्ध अभिकर्ताओ की सख्या—१५ अगस्त, १९५६ के पश्चात कोई भी व्यक्ति प्रबन्ध अभिकर्ता के रूप मे दस मे अधिक कम्पनियो मे कार्य नही कर सकता। इस व्यवस्था से आर्थिक शक्ति का कुछ ही हाथो मे विकेन्द्रीयकरण नही होगा।

(ग) अधिकारों का हस्तान्तरण—अधिकारो का हस्तान्तरण उस समय तक नही होगा जब तक कि इसकी स्वीकृति कम्पनी की साधारण सभा तथा केन्द्रीय सरकार दोनो मे प्राप्त न कर ली गयी हो। अब प्रबन्ध अभिकर्ता सम्बन्धी अधिकार वशानुगत नहीं हैं।

(घ) पारिश्रमिक तथा भत्ते—किसी भी वर्ष मे कोई भी कम्पनी अपने शुद्ध लाभ का दस प्रतिशत स अधिक भाग अपने प्रबन्ध अभिकर्ता को पारिश्रमिक के रूप मे नही दे सकती। लाभ कम होने की अवस्था में ५०,००० रुपये वार्षिक की दर से न्यूनतम पारिश्रमिक दिया जायेगा। पारिश्रमिक शुद्ध लाभ के १०% से अधिक भी दिया जा सकता है परन्तु इसके लिए कम्पनी द्वारा विशेष प्रस्ताव पास होना चाहिए तथा केन्द्रीय सरकार की अनुमति प्राप्त होनी चाहिए।

(ङ) नियुक्ति की अवधि—इस एक्ट के प्रारम्भ होने के पश्चात कोई भी कम्पनी एक बार

में पन्द्रह वर्ष से अधिक के लिए किसी भी प्रबन्ध अभिकर्ता की नियुक्ति नहीं कर सकती। पुनर्नियुक्ति भी दस वर्ष से अधिक समय के लिए नहीं की जा सकती।

(च) संविदा में परिवर्तन—प्रबन्ध अभिकर्ता संविदा में कोई भी परिवर्तन कम्पनी की साधारण सभा के प्रस्ताव और केन्द्रीय सरकार की अनुमति प्राप्त किये बिना नहीं किया जा सकता।

(छ) विनियोग पर प्रतिबन्ध—सचालक मण्डल उसी समूह की दूसरी कम्पनी के अंशों तथा ऋणपत्रों में उसकी निर्गमित पूंजी के दस प्रतिशत तक विनियोजन कर सकता है परन्तु इसके साथ यह भी शर्त है कि इस प्रकार का विनियोजन विनियोजक कम्पनी की निर्गमित पूंजी के बीस प्रतिशत से अधिक नहीं होना चाहिए।

(ज) प्रबन्ध अभिकर्ता को ऋण—कोई भी कम्पनी अपने प्रबन्ध अभिकर्ता को ऋण नहीं दे सकती परन्तु अपने व्यापार की सुविधा की दृष्टि से या सचालकों की स्वीकृति से कोई भी कम्पनी प्रबन्ध अभिकर्ता को अधिक से अधिक बीस हजार रुपये तक का ऋण दे सकती है। इसी प्रकार कोई भी कम्पनी एक ही प्रबन्ध व्यवस्था के अधिकार क्षेत्र की दूसरी कम्पनी को बिना विशेष प्रस्ताव के ऋण या गारण्टी नहीं दे सकती।

(झ) अधिकारों पर प्रतिबन्ध—धारा ३६८ के अनुसार प्रबन्ध अभिकर्ताओं के हाथों में अधिकारों के सकेन्द्रण पर रोक लगायी गयी है। प्रबन्ध अभिकर्ता कम्पनी के सीमानियम तथा अन्तर्नियमों की व्यवस्थाओं के अनुसार तथा सचालक मण्डल के नियन्त्रण के अन्तर्गत कार्य करेंगे।

कम्पनी विधान, १९५६ की कुछ क्षेत्रों में कटु आलोचना की गयी, अतः मई १९५६ में श्री विश्वनाथ ए० बी शास्त्री की अध्यक्षता में कम्पनी विधान में सशोधन के लिए आवश्यक सुझाव देने हेतु एक समिति नियुक्त की गयी। इस समिति के सुझावों को ध्यान में रखते हुए १९६० में कम्पनी (सशोधन) अधिनियम पास किया गया।

(५) भारतीय कम्पनी (सशोधन) अधिनियम, १९६०—इस एक्ट के द्वारा प्रबन्ध अभिकर्ता के सम्बन्ध में निम्नलिखित सशोधन किये गये

(क) कोई भी कम्पनी किसी भी सहायक कम्पनी को अपना प्रबन्ध अभिकर्ता नियुक्त नहीं कर सकती।

(ख) कोई भी कम्पनी अपनी निर्गमित पूंजी के तीस प्रतिशत से अधिक भाग का विनियोजन किसी भी दूसरी कम्पनी में नहीं कर सकती।

(ग) कोई भी कम्पनी निम्नलिखित में से किसी एक ही प्रकार के प्रबन्धकों की नियुक्ति कर सकती है—प्रबन्ध अभिकर्ता, सचिव तथा कोषाध्यक्ष प्रबन्धक तथा प्रबन्ध सचालक।

(घ) निजी कम्पनियां जो सार्वजनिक कम्पनी की सहायक कम्पनी हैं, सार्वजनिक कम्पनी मानी जायेंगी।

आधुनिक प्रवृत्तियां—इन सशोधनों द्वारा प्रबन्ध अभिकर्ता प्रणाली के अधिकांश दोष दूर हो गये हैं। यह आशा व्यक्त की गयी है कि प्रबन्ध अभिकर्ता देश के नवनिर्माण में सहायक होंगे। फिर भी कुछ लोगों द्वारा इस प्रणाली को पूर्ण रूप से समाप्त करने की मांग की गयी है।

वर्तमान स्थिति और भविष्य

पटेल समिति के अनुसार प्रबन्ध अभिकर्ता प्रणाली का सबसे महत्त्वपूर्ण गुण है कि उसने सामूहिक प्रबन्ध (group management) को प्रोत्साहन मिला है। कुछ व्यक्तियों की यह धारणा है कि देश में थोड़े से व्यक्तियों के हाथ में बहुत सी कम्पनियों का प्रबन्ध भार है किन्तु यह धारणा सत्य से परे है।

वास्तव में, १९६८ में जितनी अभिकर्ता इकाइयां थीं उनमें से लगभग ५० प्रतिशत केवल १ कम्पनी का प्रबन्ध कर रही थीं। पूंजी की दृष्टि से इन इकाइयों का लगभग ३८ प्रतिशत प्रदत्त

पूँजी पर नियन्त्रण था। अतः यह मान्यता सत्य नहीं है कि प्रबन्ध अभिकर्ता प्रणाली ने आर्थिक सत्ता के केन्द्रण में योगदान दिया है।

पटेल समिति की सिफारिशें—भारतीय प्रबन्ध अभिकर्ता प्रणाली के सम्बन्ध में जाँच कर उसके भविष्य के बारे में सुझाव देने के लिए ४ जनवरी, १९६५ को एक समिति नियुक्त की गयी। भारत सरकार द्वारा नियुक्त इस समिति के अध्यक्ष डॉ० आई० जी० पटेल थे। समिति ने सीमेण्ट, सूती वस्त्र, कागज, शक्कर तथा पटसन उद्योगों के सम्बन्ध में जाँच की और निम्नलिखित सुझाव दिये

(१) **समाप्ति आवश्यक**—दीर्घकाल में प्रबन्ध अभिकर्ता प्रणाली की समाप्ति आवश्यक है किन्तु देश में संकटकालीन स्थिति तथा पूँजी बाजार के ढीलेपन को देखते हुए प्रबन्ध अभिकर्ता प्रणाली को धीरे-धीरे आंशिक रूप में ही समाप्त किया जाना चाहिए।

(२) **कुछ उद्योगों में तत्काल समाप्ति**—शक्कर, सूती वस्त्र तथा सीमेण्ट उद्योगों में प्रबन्ध अभिकर्ता प्रणाली को यथाशीघ्र समाप्त कर दिया जाना चाहिए। इस कार्य के लिए कुछ समय की पूर्व सूचना देना उचित रहेगा। एक सदस्य द्वारा सूती वस्त्र के लिए पाँच वर्ष का समय देने का सुझाव प्रस्तुत किया गया।

(३) **कुछ में समाप्ति नहीं**—समिति ने पटसन तथा कागज उद्योगों में प्रबन्ध अभिकर्ता प्रणाली को समाप्त न करने की सलाह दी। सरकार चाहे तो इन उद्योगों की कुछ इकाइयों में इस प्रणाली को समाप्त किया जा सकता है।

(४) **पूँजी बाजार की सहायता**—शक्कर, सूती वस्त्र तथा सीमेण्ट उद्योगों में प्रबन्ध अभिकर्ता प्रणाली का अन्त करने में पूँजी बाजार में कुछ मन्दी आ सकती है। अतः सरकार द्वारा कुछ समय के लिए पूँजी बाजार तथा कुछ अभिकर्ता इकाइयों को सहायता देने की व्यवस्था करनी चाहिए।

(५) समिति का यह निश्चित मत था कि प्रबन्ध अभिकर्ता प्रणाली धीरे-धीरे स्वयं ही समाप्त हो रही है और कुछ समय पश्चात् उसका अस्तित्व केवल रोपण (Plantations), विद्युत उत्पादन (Electricity generation) तथा पटसन और सूती वस्त्र के अतिरिक्त अन्य वस्त्र उद्योगों में रह जायगा। अतः कम्पनी अधिनियम की धारा ३२४ के अन्तर्गत किसी प्रबन्ध अभिकर्ता को दोबारा मान्यता देने के लिए किसी स्थायी समिति की आवश्यकता नहीं है।

(६) बड़ी कम्पनियाँ जिनकी स्थायी सम्पदा अथवा वार्षिक बिक्री १० करोड़ रुपये से अधिक है, प्रबन्ध अभिकर्ताओं के नियन्त्रण या प्रशासन में नहीं रहनी चाहिए क्योंकि उनकी व्यवस्था के लिए स्वतन्त्र व्यवस्थापक या मैनेजर का होना युक्तिसंगत है तथा यह कम्पनियाँ उनका खर्च भी सहन कर सकती हैं। इन कम्पनियों में प्रबन्ध संचालक, सचिव अथवा कोषाध्यक्ष नियुक्त किये जाने चाहिए जिन पर कम्पनी की व्यवस्था का सम्पूर्ण भार हो।

(७) कुछ व्यक्तियों का यह मत है कि प्रबन्ध अभिकर्ताओं से हुए समझौतों का नवीनीकरण कम्पनी अधिनियम की धारा ३२६ के अन्तर्गत सामान्य नीति के आधार पर नहीं रोका जा सकता। समिति का यह मत था कि धारा ३२६ का संशोधन कर इस बाधा को हटाया जा सकता है।

सरकार का निर्णय—पटेल समिति की रिपोर्ट मार्च १९६६ में प्रस्तुत की गयी। सरकार ने इसकी सिफारिशों को स्वीकार कर लिया तथा जून १९६६ में यह घोषणा की कि पटसन, कागज, सूती वस्त्र शक्कर तथा सीमेण्ट उद्योग में तीन वर्ष के भीतर प्रबन्ध अभिकर्ता प्रणाली को समाप्त कर दिया जायगा, पटेल समिति ने केवल अन्तिम तीन उद्योगों में प्रबन्ध अभिकर्ता प्रणाली समाप्त

करने की सिफारिश की थी जबकि सरकार ने पटसन तथा कागज उद्योगो के सम्बन्ध मे भी अन्य उद्योगो के समान ही निर्णय लिया है।

भारत सरकार के एक निर्णय के अनुसार २ अप्रैल, १९७० से सब उद्योगो में प्रबन्ध अभिकर्ता प्रणाली समाप्त कर दी गयी है।

प्रश्न

१. निम्न पर सक्षिप्त टिप्पणी लिखिए :
प्रबन्ध अभिकर्ता प्रणाली।
(आगरा, बी० कॉम०, १९६०, बी० ए० (पूरक), १९६१)

२. हमारे देश मे प्रबन्ध अभिकर्ता पद्धति के पक्ष व विपक्ष के तर्क प्रस्तुत करते हुए उत्तर के अन्त मे अपना मत प्रकट कीजिए। (विक्रम, बी० ए०, १९६१)

३. भारत मे कम्पनियों के प्रवर्तन मे प्रबन्ध अभिकर्ताओ का क्या योगदान रहा है? क्या वर्तमान परिस्थितियो मे प्रबन्ध अभिकर्ता प्रणाली उपयुक्त है। स्पष्ट कीजिए।

31 विदेशी पूंजी

(FOREIGN CAPITAL)

वर्तमान युग मे ससार के अधिकाश देश विकसित अथवा अल्प-विकसित अवस्था में हैं अत उन्हें अपनी आर्थिक स्थिति सुधारने के लिए आर्थिक तथा प्राविधिक सहायता की आवश्यकता पडती है। आर्थिक सहायता के प्राय दो स्वरूप हो सकते हैं (१) विनियोग पूंजी (Investment capital) तथा (२) ऋण पूंजी (Loan capital)।

विनियोग पूंजी एक प्रकार की जोखिम है जिस पर लाभाश प्राप्त होना है जबकि ऋण पूंजी पर निश्चित दर से ब्याज दिया जाता है। विनियोग पूंजी लगाने पर विदेशी पूंजीपतियो की भारतीय औद्योगिक इकाइया मे प्रत्यक्ष रुचि हो जाती है जबकि ऋण पूंजी म वह केवल अपनी पूंजी का ब्याज प्राप्त करने को उत्सुक रहते हैं। इस प्रकार विनियोग पूंजी प्राप्त करने से देश को प्राविधिक जानकारी भी मिल जाती है जिसका विकासशील देशो मे सवथा अभाव रहता है।

सरकार की नीति—भारत मे विदेशी पूंजी की उपयोगिता एक विवादग्रस्त विषय रहा है। १६वी शताब्दी के उत्तरार्द्ध में अन्तरिक पूंजी के अभाव के कारण विदेशी पूंजी की सहायता से रेलो तथा नहरो का निर्माण किया गया। इसके अतिरिक्त, अंग्रेज व्यापारियो ने भारत मे चाय तथा कहवे के बगीचो, कोयला उद्योग तथा जूट उद्योग मे पर्याप्त मात्रा मे विनियोजन किया। इन उद्योगो की प्रगति का श्रेय विदेशी पूंजी को ही है।

विदेशी पूंजीपतियों ने देश का आर्थिक शोषण किया तथा राजनीतिक लाभ उठाया। उन्होंने अच्छे पदो पर भारतीयो की नियुक्ति नहीं की। इन कारणो से भारत मे विदेशी पूंजी को घृणा की दृष्टि से देखा गया। सन १६२३ के राजकोषीय आयोग न यह सिफारिश की थी कि भारत का औद्योगिक विकास विदेशी पूंजी की सहायता मे किया जाना चाहिए। सन् १६२५ की विदेशी पूंजी समिति (External Capital Committee) ने भी विदेशी पूंजी के महत्त्व को स्वीकार किया तथा इस बात पर जोर दिया कि विदेशी पूंजी का विनियोजन भारतीय हितो के अनुसार होना चाहिए।

अखिल भारतीय कांग्रेस द्वारा नियुक्त राष्ट्रीय योजना समिति न भी विदेशी पूंजी की उपयोगिता का अध्ययन किया तथा यह सुझाव दिया कि भारत मे विदेशी पूंजी का उपयोग सरकार की अनुमति से निर्धारित शर्तों के अनुसार किया जाना चाहिए। विदेशी पूंजी का प्रयोग आधारभूत उद्योगों में नहीं किया जाना चाहिए। ऐसे उद्योगो मे जो विदेशी पूंजी लगी हुई है, उसे शीघ्रातिशीघ्र सरकारी अधिकार में ले लेने का सुझाव दिया गया।

स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् विदेशी पूंजी—सन् १६४८ की औद्योगिक नीति मे सरकार ने विदेशी पूंजी के महत्त्व को स्वीकार किया परन्तु साथ ही साथ यह स्पष्ट कर दिया कि विदेशी पूंजी

पर आवश्यक नियन्त्रण रखा जायेगा तथा जिन उद्योगो मे विदेशी पूँजी लगी हुई है उनकी प्रबन्ध व्यवस्था यथासम्भव भारतीय हाथो मे होगी। इसके साथ ही साथ यह भी स्पष्ट किया गया कि विदेशी पूँजी का प्रयोग देश के प्राकृतिक साधनो के विकास के लिए किया जाना चाहिए तथा इससे विदेशी प्रतियोगिता को प्रोत्साहन नही मिलना चाहिए।

सरकारी क्षेत्र में प्रयोग वाछनीय—सन् १६४६-५० के प्रशुल्क कमीशन ने विदेशी पूंजी के महत्त्व को स्वीकार करते हुए यह मत व्यक्त किया कि विदेशी पूंजी का उपयोग सरकारी क्षेत्र में तथा उन योजनाओ मे होना चाहिए जिनमे आयात अधिक करना पडता है। आयोग ने विदेशी पूंजी के महत्त्व को स्वीकार करते हुए यह कहा है कि "राज्य की नीति इस प्रकार की होनी चाहिए कि वह ऐसी अवस्थाओ की सृष्टि करे और उन्हे कायम रखे, जिनमे इस प्रकार की सारी विदेशी पूंजी का आगमन होता रहे जो भारत मे आना चाहती है।" आयोग ने इस बात पर जोर दिया कि देश मे विदेशी पूँजी के विनियोजन के लिए उचित वातावरण तैयार किया जाना चाहिए। उस समय विदेशी पूँजी के सम्बन्ध मे सन्देहपूर्ण वातावरण था। अत ६ अप्रैल, १६४६ को स्वर्गीय श्री जवाहरलाल नेहरू ने ससद मे विदेशी पूंजी के सम्बन्ध मे सरकार की नीति की घोषणा की।

अप्रैल १६४६ की भारत सरकार की विदेशी पूंजी नीति—इस नीति की मुख्य विशेषताएं निम्नलिखित थीं

(१) विदेशी पूंजी पर नियन्त्रण का उद्देश्य—"राष्ट्रीय हित मे विदेशी पूँजी के क्षेत्र और उसकी राशि का नियमन करने की आवश्यकता पर जोर देने का कारण यह था कि विदेशी पूंजी द्वारा देश की अर्थ व्यवस्था पर अनुचित प्रभुत्व तथा नियन्त्रण रखे जाते थे। परन्तु अब परिस्थितियाँ बदल चुकी हैं अत अब विदेशी पूँजी के नियन्त्रण का उद्देश्य उसका इस प्रकार से उपयोग करना होना चाहिए जिससे वह देश के लिए अधिक उपयोगी सिद्ध हो सके।"

(२) विदेशी पूंजी की अनिवार्यता— 'विदेशी पूँजी से भारतीय पूंजी की अनुपूर्ति करने की आवश्यकता है क्योकि जिस पैमाने पर हम देश का तीव्रगति से विकास करना चाहते हैं राष्ट्रीय बचत उसके लिए पर्याप्त नही होगी। इसके अतिरिक्त कई स्थितियो मे वैज्ञानिक, प्राविधिक तथा औद्योगिक ज्ञान और पूंजीगत वस्तुओ को प्राप्त करने का सबसे अच्छा साधन विदेशी पूंजी है।"

(३) भेदभाव नहीं—भारतीय तथा विदेशी दोनो प्रकार के उपक्रमो से यह आशा की जाती है कि वह सामान्य औद्योगिक नीति की शर्तों का पालन करेंगे तथा भारतीय तथा विदेशी पूंजी मे कोई भेदभाव नही किया जायेगा।

(४) वर्तमान विदेशी उपक्रम—जहाँ तक वर्तमान विदेशी उपक्रमो का सम्बन्ध है, सरकार उन पर कोई भी ऐसा प्रतिबन्ध नही लगायेगी जो भारतीय उपक्रमो पर नही लगे हुए हैं। विदेशी उपक्रमो को लाभ कमाने की छूट होगी तथा उन पर सामान्य शर्तें ही लागू होगी।

(५) उचित मुआवजा—भारत सरकार की विदेशी हितो को किसी भी प्रकार की क्षति पहुँचाने की इच्छा नही है। सरकार भारतीय अर्थ-व्यवस्था के विकास मे उनके रचनात्मक और सहकारी अशदान का स्वागत करेगी। यदि कभी विदेशी उपक्रम अनिवार्यत हस्तगत किये जायेंगे तो उन्हे उचित मुआवजा दिया जायेगा।

(६) लाभ तथा पूंजी भेजने की सुविधा—लाभ भेजने के सम्बन्ध मे वर्तमान सुविधाओं को भविष्य मे बनाये रखने मे कोई कठिनाई नही होगी। सरकार विदेशी पूंजी को वापस ले जाने पर किसी प्रकार का प्रतिबन्ध नही लगायेगी परन्तु लाभ बाहर भेजने की सुविधाएँ विदेशी विनिमय की स्थिति पर निर्भर करेंगी।

(७) भारतीय कर्मचारियों का प्रशिक्षण—सामान्यत विदेशी कारखानो का सचालन भारतीय हाथो मे होना चाहिए परन्तु यदि एक निश्चित अवधि के लिए उन पर विदेशी नियन्त्रण रहता

हो और वह राष्ट्रीय हित के प्रतिकूल न हो तो इसमे सरकार को कोई आपत्ति नही होगी। यह स्पष्ट कर दिया गया कि विदेशी फर्में प्रत्येक श्रेणी के भारतीय कर्मचारियो के प्रशिक्षण के लिए सुविधाएँ प्रदान करेंगी।

इस प्रकार सन् १९४९ की इस घोषणा के द्वारा विदेशी पूंजी का स्वागत किया गया। वर्तमान समय मे भी इसी नीति का पालन किया जा रहा है। पचवर्षीय योजनाओ मे विदेशी पूंजी के महत्त्व पर पर्याप्त जोर दिया गया है। विदेशी मुद्रा की कठिनाई तथा देश के शीघ्रातिशीघ्र औद्योगीकरण की आवश्यकता के कारण विदेशी पूंजी का महत्त्व बढ गया है। विनियोजको की कठिनाई को दूर करना तथा विदेशी पूंजी को हर प्रकार से प्रोत्साहन देना सरकार की वर्तमान विदेशी पूंजी नीति का मुख्य उद्देश्य है। चतुर्थ योजना के मसौदे मे इस बात पर जोर दिया गया है कि विदेशी पूंजी पर निर्भरता से शीघ्र मुक्ति प्राप्त करने की चेष्टा की जायगी।

विदेशी पूंजी की आवश्यकता

विदेशी पूंजी की आवश्यकता निम्न कारणों से होती है

(१) निर्धनता—ससार के अधिकाश देशो मे अत्यधिक विपन्नता एव निर्धनता का साम्राज्य है। जनता की औसत वार्षिक आय बहुत कम होने के कारण जीवन स्तर बहुत नीचा है और शैक्षणिक एव सामाजिक स्थिति अत्यन्त हीनावस्था मे है। गत वर्षों मे अनेक एशियाई अफ्रीकी देशो ने राजनीतिक स्वतन्त्रता प्राप्त कर ली है, जिसके फलस्वरूप उन्हे अपनी आर्थिक स्थिति मे सुधार करने की आवश्यकता तीव्र रूप मे अनुभव होने लगी है। इन देशो की जनता की औसत आय इतनी कम है कि उसमे से बचत करना बहुत कठिन है, जिसके कारण उसमे पूंजी निर्माण की मात्रा बहुत कम होती है। अत· आर्थिक विकास करने के लिए विकसित देशों के ऋण पूंजी अथवा विनियोग पूंजी प्राप्त करना अनिवार्य है। वस्तुत ससार की २ अरब से अधिक जनसख्या को यदि भूख और गरीबी से मुक्त करने के नियमित प्रयत्न नही किय गये तो वह सम्पन्न राष्ट्रो के लिए दु खदायी हो सकती है, जिससे विश्व-शान्ति के भग होने की आशका निरन्तर बनी रहेगी। अत अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति रखने के लिए अविकसित देशों का आर्थिक विकास करना आवश्यक है, जिसके लिए अधिकाधिक विदेशी पूंजी प्राप्त करना आवश्यक है।

(२) प्राविधिक—मानवीय तथा आर्थिक कारणो के अतिरिक्त विदेशी पूंजी की दूसरी आवश्यकता प्राविधिक कारण हैं। अविकसित देशो मे शिक्षा का सामान्य स्तर बहुत नीचा है और वहाँ इजीनियरिंग अथवा अन्य प्राविधिक ज्ञान रखने वाले विशेषज्ञो का सर्वथा अभाव है। अत इन देशो मे विकसित देशों से न केवल मशीनें तथा उनके निर्माण करने सम्बन्धी उपकरण मँगवाना आवश्यक है बल्कि विदेशी प्राविधिक विशेषज्ञो की सहायता भी प्राप्त करना अनिवार्य है। इस माल तथा प्राविधिक ज्ञान के लिए तत्काल भुगतान करना सम्भव नही होता, अत अधिकाश राशि ऋण मे प्राप्त करनी पडती है अथवा विदेशी उद्योगपतियों को पूंजी विनियोग करने के लिए राजी करना पडता है।

(३) राजनीतिक—विदेशी पूंजी की तीसरी आवश्यकता राजनीतिक है। दक्षिणी अमरीका अफ्रीका, एशिया तथा मध्य-पूर्व के देशों मे पुरातन परम्पराओ तथा जीवन पद्धति के विरुद्ध एक भीषण क्रान्ति का सूत्रपात हो चुका है और यदि इन देशो को प्रजातन्त्रीय ढग से आर्थिक विकास करने मे सहायता न दी गयी तो इनमे तानाशाही अधिनायकवाद स्थापित होने की आशका उत्पन्न हो सकती है, जो चीन की भाँति अपने पडोसी राष्ट्रो के लिए सरदर्द बन सकते हैं। अत ससार में वास्तविक, मानसिक, आर्थिक तथा राजनीतिक स्वतन्त्रता बनाये रखने के लिए तब तक अधिकाधिक मात्रा मे विदेशी पूंजी प्राप्त करना आवश्यक है जब तक कि इन देशो का आर्थिक विकास सामान्य स्तर तक नहीं पहुंच जाय।

पूंजी प्राप्त करने में कठिनाई—अविकसित देशो मे पूंजी लगाने मे अनेक दुविधाएं हैं। इन देशो मे शिक्षा की सुविधाएं अत्यन्त न्यून हैं और प्राविधिक विशेषज्ञो की तो बात ही क्या, कुशल तथा प्रशिक्षित श्रमिको का मिलना भी कठिन है। शिक्षा के अभाव में इन देशो मे उत्पादन की नवीन पद्धतियाँ लागू करने मे कठिनाई होती है। इसके अतिरिक्त इन देशो मे प्रशासन व्यवस्था भी कुशल एव सक्षम नहीं होती जिसके फलस्वरूप किसी योजना को आरम्भ करना तथा उसे उचित एव व्यवस्थित रूप मे कार्यान्वित करना भी कठिन होता है। इन सब कठिनाइयो के कारण पूंजी विनियोग का प्रतिफल बहुत धीरे तथा न्यून मात्रा मे प्राप्त होने की सम्भावना होती है, अत देश अथवा विदेश के पूंजीपतियो को धन विनियोजन का उत्साह नही रहता।

उपर्युक्त कठिनाइयो के अतिरिक्त अविकसित देशो मे पूंजी विनियोजन मे सर्वाधिक बाधक तत्त्व इन देशो मे व्याप्त भ्रष्टाचार है, जिसके कारण विदेशी तथा देश पूंजी का एक अश निरन्तर विदेशी बैंको मे जमा होता रहता है और उसका उपयोग देश हित मे नही हो पाता। इस तथ्य की पुष्टि अमरीकी सीनेट के सदस्य श्री जेविट्स के इस कथन मे होती है कि १०-१२ वर्षो मे लैटिन अमरीकी (दक्षिण तथा केन्द्रीय अमरीकी देश) देशो से ६०० से लेकर १,५०० करोड डालर तक धनराशि अमरीका तथा स्विस बैंको मे जमा हुई है। इन देशो की हीन आर्थिक स्थिति को देखते हुए पूंजी का चोरी छिपे इतनी मात्रा मे निर्यात होना वस्तुत एक लज्जाजनक एव दुखद स्थिति है। स्वभावत पूंजी विनियोग करने वाले उदार देश अपनी पूंजी का दुरुपयोग सहन नहीं कर सकते। इसके विपरीत, उनकी यह आकाक्षा होती है कि सहायता प्राप्त करने वाले देश अत्यधिक परिश्रम द्वारा प्राप्त पूंजी का सही उपयोग करें और स्वय भी त्यागवृत्ति अपनाकर विदेशो मे प्राप्त पूंजी मे कुछ वृद्धि करने का प्रयत्न कर। दुर्भाग्य से अनेक देशो मे इस वृत्ति का सर्वथा अभाव है।

विदेशी पूंजी के गुण

विकासशील देशो के लिए विदेशी पूंजी प्राप्त करना अनेक दृष्टिकोणो से लाभदायक होता है जिसका ब्यौरा नीचे दिया जा रहा है

(१) **जोखिम**—प्रत्येक नयी औद्योगिक इकाई की स्थापना मे कुछ जोखिम होती है और अविकसित देशो के उद्योगपतियो को उद्योगो के सम्बन्ध म तनिक भी अनुभव न होने के कारण वह जोखिम उठाने से घबराते हैं। अत देशी पूंजी नये उद्योगो मे नही लगायी जाती, जिससे औद्योगिक विकास की गति कुण्ठित रहती है। विदेशी उद्योगपति नवीन क्षेत्र मे पूंजी लगाने के लिए उत्सुक रहते हैं क्योकि औद्योगिक अनुभव के कारण उन्हे जोखिम का भय नही होता और नये क्षेत्रों से प्राय अधिक लाभ होने की सम्भावना होती है। इसी प्रकार विदेशी पूंजी प्रारम्भिक जोखिम को सहन कर नये उद्योगो की स्थापना मे सहायक होती है।

(२) **सर्वेक्षण**—किसी क्षेत्र मे नये उद्योग स्थापित करने से पूर्व उस क्षेत्र की औद्योगिक सम्भावनाओ का भरपूर सर्वेक्षण तथा विश्लेषण करना आवश्यक होता है। इस कार्य के लिए अनुभवी एव कुशल व्यक्तियो की आवश्यकता होती है, जिनका प्राय अविकसित देशो मे अभाव होता है। विदेशी पूंजीपति नयी औद्योगिक इकाई की स्थापना से पूर्व उस उद्योग के लिए उपयुक्त अनेक क्षेत्रो का यथोचित सर्वेक्षण करते हैं। इन सर्वेक्षणो का लाभ देशी पूंजीपति भी उठा सकते हैं और उनके आधार पर अधिकाधिक क्षेत्रो मे अनेक उद्योगो का विकास किया जा सकता है। इस प्रकार विदेशी पूंजी का सहयोग प्राप्त होने के कारण सर्वेक्षण की दुविधा तथा व्यय की बचत हो जाती है। इसके अतिरिक्त विदेशी पूंजीपतियो के अनुभव से लाभ उठाकर देशी पूंजीपति आवश्यकता पडने पर स्वय भी नये सर्वेक्षण करवा सकते हैं और उन्हे पहले से कम कठिनाई तथा व्यय उठाना पडता है। वस्तुत प्रारम्भिक सर्वेक्षण भविष्य के सर्वेक्षणो के लिए पथ-प्रदर्शक का कार्य करते हैं।

(३) **प्राविधिक कौशल**—विदेशी पूंजी के साथ-साथ प्राय कुछ विदेशी विशेषज्ञ भी देश मे

आते हैं, जो सम्बन्धित औद्योगिक इकाई की प्रबन्ध व्यवस्था करते हैं। स्वभावतः इन विशेषज्ञों के नीचे देशी व्यक्तियों को नियोजित किया जाता है। सहायक मैनेजर, सहायक इन्जीनियर तथा कुशल एवं अकुशल श्रमिक प्राय विदेश से नहीं लिए जाते क्योंकि ऐसा करने में व्यय अधिक होता है, अतः सम्बन्धित देश के विभिन्न वर्गों के व्यक्तियों को विदेशी विशेषज्ञों के साथ कार्य करने का अवसर मिलता है जिससे उनके व्यावहारिक ज्ञान तथा अनुभव में आशातीत वृद्धि होती है। कभी-कभी तो विदेशी विशेषज्ञ देशी कर्मचारियों के नियमित प्रशिक्षण की व्यवस्था भी कर देते हैं ताकि उनकी संख्या में उत्पादन तथा कौशल का स्तर ऊंचा हो सके। इस व्यवस्था के परिणामस्वरूप देश के प्राविधिक कौशल में उन्नति होती है और भविष्य में स्वदेशी पूंजी द्वारा स्थापित होने वाले उद्योगों के लिए योग्य प्रबन्धक तथा इन्जीनियर प्राप्त करने में अधिक कठिनाई नहीं होती।

(४) भुगतान सन्तुलन—अविकसित देशों में जब विकास का क्रम आरम्भ होता है तो उन्हें यन्त्र उपकरणादि पर्याप्त मात्रा में आयात करने पड़ते हैं और यह स्थिति कई वर्षों तक बनी रहने की सम्भावना रहती है, जिसके कारण देश का भुगतान सन्तुलन निरन्तर विपक्ष में रहता है। विदेशी पूंजी आयात होने से यह सन्तुलन ठीक होता रहता है और देश की आर्थिक प्रगति पर विशेष भार नहीं पड़ता। कालान्तर में जब देश का औद्योगिक विकास उचित मात्रा में हो जाता है तो पूंजीगत सामान आयात करने की आवश्यकता नहीं होती। विदेशी पूंजी आयात करने पर विदेशी पूंजीपति प्राय यन्त्र-उपकरणादि भी अपने देश से प्राप्त कर लेते हैं। कभी-कभी यह पूंजी ऋण रूप में प्राप्त की जाती है। ऐसी स्थिति में भी भुगतान सन्तुलन की तात्कालिक समस्या का सामना नहीं करना पड़ता और कुछ वर्षों के पश्चात् औद्योगिक विकास करके अधिक निर्यातों की कमाई से ऋण भुगतान करना सम्भव हो सकता है।

उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट है कि तीव्र गति से औद्योगिक विकास करने के लिए अविकसित देशों द्वारा विदेशी पूंजी का सहयोग प्राप्त करना आवश्यक है।

विदेशी पूंजी के दोष

यह सत्य है कि विकासशील देशों के लिए विदेशी पूंजी प्राप्त करना लगभग अनिवार्य है परन्तु कभी-कभी विदेशी पूंजी कई कठिनाइयां उत्पन्न कर देती है, जिन्हें कोई भी स्वतन्त्र देश पसन्द नहीं कर सकता। इन कठिनाइयों का अनुमान निम्नलिखित तथ्यों से लग सकता है :

(१) देश का शोषण—अधिक मात्रा में विदेशी पूंजी आयात करने से देश की औद्योगिक एवं व्यावसायिक शक्ति विदेशियों के हाथ में चली जाती है, जिससे उन्हें देश का शोषण करने का अवसर मिल जाता है। सभी महत्त्वपूर्ण पदों पर विदेशियों की नियुक्ति की जाती है और जिन थोड़े से स्थानों पर कुछ देशवासियों की नियुक्ति होती है वह प्राय विदेशियों के ही समर्थक बन जाते हैं। इसके फलस्वरूप देश में एक वर्ग विदेशी सभ्यता और भावना का पक्षपाती बन जाता है जो प्रत्येक बात में अपने विदेशी प्रभावों का समर्थन करता है। इस प्रकार देश मानसिक शोषण का शिकार हो जाता है। भारत में अंग्रेजी शासन की स्थापना और उसका दीर्घकाल तक बने रहना इस कथन की पुष्टि करने के लिए पर्याप्त प्रमाण है।

विदेशी पूंजी के देश में आयात होने से देश में अनेक अवांछित तत्त्वों का व्यावसायिक क्षेत्र में प्रविष्ट होना सम्भव है। ये लोग प्राय देश में जासूसी करने लगते हैं और अपने उच्चस्तरीय सम्पर्क का लाभ उठाकर देश की गुप्त सूचनाएं प्राप्त कर अपने देश में भेजने लगते हैं।

(२) राजनीतिक हस्तक्षेप—विदेशी पूंजी के माध्यम से विदेशियों को कभी-कभी अत्यधिक व्यावसायिक शक्ति प्राप्त हो जाती है जिसके बल पर वह देश के शासन-प्रबन्ध तथा राजनीति में हस्तक्षेप करने लगते हैं। विदेशी पूंजीपति प्राय किसी दल विशेष की आर्थिक सहायता करने लगते हैं और इसकी सहायता से विजयी राजनीतिज्ञ स्वभावतः प्रत्येक क्षेत्र में विदेशी व्यावसायिक वर्ग का समर्थन करते हैं। इसका क्रमिक प्रभाव यह होता है कि एक समय ऐसा आता है जबकि शासक

विदेशी व्यापारियो अथवा पूंजीपतियो के हाथ की कठपुतली मात्र रह जाते हैं। भारत तथा अनेक एशियाई, अफ्रीकी तथा दक्षिण अमरीकी देशो मे कुछ समय पहले तक शासन सत्ता पर विदेशी पूंजीपतियो का अधिकार होना इस तथ्य की पुष्टि करता है।

विदेशी पूंजी का एक दुष्परिणाम यह भी होता है कि पूंजीपति तथा उनके सम्बन्धित सरकार प्राय सहायता देते समय कुछ सुविधाओ की मांग करते हैं तथा सहायता प्राप्त राष्ट्रों से प्राय यह अपेक्षा की जाती है कि अन्तरराष्ट्रीय मामलो मे वह उनका समर्थन करें। इससे स्पष्ट है कि विदेशी पूंजी की उपलब्धि के परिणामस्वरूप देशो की आन्तरिक एव विदेशी नीति की स्वतन्त्रता समाप्त होने का भय रहता है और 'आर्थिक दासता राजनीतिक दासता को जन्म देती है' (Economic dependence leads to political depedence) का कथन सत्य सिद्ध हो जाता है।

(३) स्पर्द्धा—विदेशी पूंजी के विनियोजन के फलस्वरूप देश की औद्योगिक शक्ति विदेशियों के हाथ मे जाने का भी भय रहता है और देश की पूंजी से स्थापित औद्योगिक इकाइयों से भीषण स्पर्द्धा करने लगते हैं। इसके फलस्वरूप देशी उद्योगो का पनपना प्राय अत्यन्त कठिन हो जाता है।

(४) लाभाश—विदेशी पूंजी विनियोजन से न केवल विदेशियो को रोजगार ही अधिक मिलता है बल्कि इसके प्रतिफलस्वरूप प्रति वर्ष ब्याज अथवा लाभाश के रूप मे काफी धनराशि विदेशो को भेजनी पडती है। इससे कालान्तर मे देश के भुगतान सन्तुलन पर भार पडता है और मुद्रा की विनिमय दर गिरने की आशका उत्पन्न हो जाती है।

(५) अव्यवस्थित विकास—विदेशी पूंजी के विरुद्ध प्राय एक शिकायत यह की जाती है कि विदेशी पूंजीपति केवल उन क्षेत्रो मे ऐसे उद्योगो का विकास करने का प्रयत्न करते हैं जिनसे उनको अधिकाधिक लाभ हो। अनेक बार यह प्रयत्न देश के हितो के सर्वथा अनुकूल नहीं होते किन्तु विकास के हित मे सरकार को विवश होकर उनकी अनुमति देनी पडती है।

भारत मे विदेशी पूंजी का विनियोजन
(FOREIGN INVESTMENT IN INDIA)

भारत मे बहुत सी विदेशी कम्पनिया ने विभिन्न उद्योगो मे पूंजी विनियोजित की है। इसके अतिरिक्त पचवर्षीय योजनाओ के अन्तर्गत योजनाबद्ध आर्थिक विकास के लिए विभिन्न विदेशी सरकारो द्वारा भी ऋण तथा अनुदान प्राप्त होते रहते हैं। अत भारत मे विदेशी पूंजी के विनियोजन का अध्ययन दो शीर्षको के अन्तर्गत किया जा सकता है · (१) विदेशी निजी पूंजी का विनियोजन तथा (२) विदेशी ऋण और सहायता।

भारत में विदेशी निजी पूंजी का विनियोजन (Foreign Private Capital Investment)

मात्रा—रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया के 'अर्थ विभाग की अन्तरराष्ट्रीय वित्त' शाखा ने भारत मे विदेशी निजी पूंजी के विनियोजन की समस्या के सम्बन्ध मे अप्रैल १९६६ मे एक अध्ययन प्रकाशित किया। इस अध्ययन मे दिसम्बर १९६२ तक के ही समक उपलब्ध हैं, फिर भी इस अध्ययन द्वारा विदेशी निजी पूंजी के सम्बन्ध मे पर्याप्त तथ्य प्रकाश मे आते हैं। इस अध्ययन के प्रमुख तथ्य निम्नलिखित हैं

भारत के निजी क्षेत्र में विदेशी विनियोग शेष

समय		(करोड रुपयो मे)
जून	१९४८	२६४ ६
दिसम्बर	१९५३	३९७ १
"	१९५६	४७८ ३
"	१९६१	६७९ ८
"	१९६५	९३५ ८

प्रस्तुत तालिका से स्पष्ट है कि गत सत्रह वर्षों में निजी क्षेत्र में विदेशी पूंजी की मात्रा में कुल ६७१ २ करोड रुपये की वृद्धि हुई है। योजनानुसार वृद्धि की मात्रा इस प्रकार है :

प्रथम योजना	१७७ ८ करोड रुपये
द्वितीय योजना	१९२ ३ ,,
तृतीय योजना	३०१ १ ,,

इससे स्पष्ट है कि तीसरी योजना में निजी विनियोगो में सर्वाधिक वृद्धि हुई है। इसका मुख्य कारण यह है कि तीसरी योजनाकाल में भारत में विदेशी विनिमय की भीषण कमी का अनुभव किया गया जिसके फलस्वरूप विदेशी पूंजी के आयात को विशेष प्रोत्साहन दिया गया।

उद्योगों के अनुसार विनियोजन—दिसम्बर १९६५ में विभिन्न उद्योगो में विदेशी पूंजी का विनियोजन निम्न प्रकार था

विदेशी व्यावसायिक विनियोग का रूप (दिसम्बर १९६५)

(करोड रुपयो मे)

उद्योग	कुल विनियोग
बागान उद्योग	१२१ १
खान उद्योग	१२ १
पैट्रोलियम	१७७·८
निर्माणकारी उद्योग	४५८ ६
सेवाएँ	१६६ २
योग	९३५ ८

उपर्युक्त तालिका से स्पष्ट है कि निजी क्षेत्र मे विनियोजित अधिकाश विदेशी पूंजी निर्माणकारी उद्योगो मे लगी हुई है। तत्पश्चात् क्रमश पेट्रोल, जन-सेवाएँ तथा प्लाण्टेशन का स्थान है।

देशो के अनुसार विभाजन—भारत मे विदेशी पूंजी विनियोग की दृष्टि से ब्रिटेन का प्रथम स्थान है। सन् १९५५ से १९६५ के बीच विदेशी पूंजी विनियोग की मात्रा मे ४९३ करोड रुपये की वृद्धि हुई, जिसमे से १६३ करोड रुपये की विदेशी पूंजी ब्रिटेन से, १५४ करोड रुपये अमरीका से तथा १७६ करोड रुपये अन्य देशो व स्रोतो से पूंजी भारत मे आयी। देशो के अनुसार भारत मे विदेशी पूंजी की स्थिति निम्न प्रकार थी ·

देशों के अनुसार भारत में विदेशी पूंजी

देश	पूंजी की मात्रा (करोड रुपयो मे)	
	१९५५	१९५५
ब्रिटेन	३६५ ९	५२९·३
अमरीका	३९ ६	१९३ २
अन्य देश	३६ ९	२१३ ३
योग	४४२ ४	९३५ ८

विदेशी पूंजी पर लाभ

विदेशी पूंजी पर १९६३-६४ मे ३८ करोड रुपये तथा १९६४-६५ मे ५४ करोड रुपये शुद्ध लाभ हुआ किन्तु इन रकमो मे से क्रमश ३० तथा ३३ करोड रुपये की राशियाँ वितरित की गयी। शुद्ध लाभ की मात्रा मे वृद्धि के मुख्यत दो कारण थे। प्रथम, व्यवसाय में वृद्धि तथा दूसरे,

सुपर टैक्स के स्थान पर मरटैक्स लगा देने तथा करो मे अन्य छूट देने के फलस्वरूप यह सम्भव हुआ। शुद्ध लाभ का एक महत्वपूर्ण भाग पुन व्यवसाय मे इसलिए लगा दिया गया कि भविष्य में लाभ की सम्भावनाएँ अधिक उज्जवल हैं। लाभ की मात्रा मे मुख्य वृद्धि निर्माण उद्योगो तथा प्लाण्टेशन उद्योगो मे हुई है। कुल विनियोग पूँजी पर शुद्ध लाभ की दर लगभग ६ प्रतिशत है जो विशेष आकर्षक प्रतीत नही होती।

भारत मे विदेशी पूँजी की कम मात्रा के कारण—भारत एक विशाल विकासशील देश है। वस्तुत भारत मे विदशी पूँजी का विनियोजन बहुत अधिक मात्रा मे होना चाहिए था परन्तु विदेशी पूँजी के विनियोजन म कुछ कठिनाइयाँ हैं, जिनका विवरण निम्नलिखित है .

(१) सरकारी नीति—भारत ने सन् १९५६ के औद्योगिक नीति प्रस्ताव मे सार्वजनिक क्षेत्र को अधिक महत्वपूर्ण स्थान प्रदान किया है तथा शासक दल ने देश मे समाजवादी अर्थ व्यवस्था लाने का व्रत लिया है। इन दोनो नीतियो के अतिरिक्त जीवन बीमा व्यवसाय के राष्ट्रीयकरण ने विदेशी पूँजीपतियो के मस्तिष्क मे अनेक शकाएँ उत्पन्न कर दी। भारत के चौदह निजी व्यापारिक बैंकों के (१९ जुलाई, १९६९ को हुए) राष्ट्रीयकरण का भी विदेशी पूँजी पर प्रभाव पडेगा। इसके अतिरिक्त सरकार के मन्त्री तथा अन्य अधिकारी समय समय पर परस्पर विरोधी वक्तव्य देते रहते हैं, जिसम विदेशी विनियोजको की शकाओ मे वृद्धि हो जाती है। वस्तुत सरकार की करनी और कथनी मे सामजस्य होना अत्यन्त आवश्यक है और पूँजी विनियोजन, ऋण तथा आर्थिक समस्याओ से सम्बन्धित अन्य महत्वपूर्ण बातो पर जो भी मन्त्री व अधिकारी सार्वजनिक वक्तव्य दें वह पहले तैयार कर लिए जाने चाहिए ताकि क्षणिक आवेश मे कोई अनुचित बात, जो सरकारी नीति के विपरीत हो, न निकल जाय।

सरकार की अर्थ एव विनियोग नीति के सम्बन्ध मे स्पष्टीकरण क लिए भारत के विदेशों मे स्थित दूतावासो को सतर्क रहना आवश्यक है और भारतीय अथवा अन्य विदेशी स्रोतो द्वारा उत्पन्न भ्रम को तत्काल दूर करने की आवश्यकता है।

(२) लालफीताशाही—भारत मे पूँजी लगाने के लिए उत्सुक प्राय सभी देशों के उद्योगपतियो की यह शिकायत है कि उन्हें उद्योगो के लिए लाइसेंस प्राप्त करने मे बहुत देर लगती है और अनेक कठिनाइयो का सामना करना पडता है। वस्तुस्थिति यह है कि लाइसेंस की स्वीकृति देने से पहले प्रत्येक योजना का कई मन्त्रालयो द्वारा परीक्षण करना आवश्यक होता है और बहुधा इन मन्त्रालयो मे सहयोग के अभाव मे अन्तिम स्वीकृति मिलने तक बहुत अधिक समय लग जाता है। विदेशी पूँजीपतियो तथा विनियोजको को अनेक बार सचिवालय अथवा मन्त्रालय के अधिकारियो के दुर्व्यवहार का शिकार होना पडता है। इन परिस्थितियो के अभ्यस्त न होने के कारण विदेशी विनियोजक भारत मे पूँजी विनियोजन करने मे सकोच करते हैं।

विदेशी पूँजी को वास्तविक प्रोत्साहन देने के लिए उससे सम्बन्धित सब कागज-पत्रों का प्राथमिकता देकर शीघ्रातिशीघ्र निर्णय करने की व्यवस्था करनी चाहिए। उचित तो यह है कि विदेशी पूँजी के सम्बन्ध मे लाइसेंस देने तथा उनकी कठिनाइयाँ दूर करने के लिए एक विशेष अधिकारी की नियुक्ति कर देनी चाहिए, जिससे विदेशी विनियोजको को असुविधा न हो।

(३) विदेशी सहयोग की कठिन शर्तें—भारत सरकार द्वारा किसी औद्योगिक इकाई में प्राय इस शर्त पर सहयोग करने की अनुमति दी जाती है कि उस सस्थान मे कम मे कम ५१ प्रतिशत पूँजी भारतीय होनी चाहिए। यह बन्धन लगाने का कारण यह है कि उस सस्थान की आधी से अधिक मतशक्ति भारतीयो के अधिकार मे होनी चाहिए ताकि उसका सचालन भारतीय हितो के विरुद्ध न जा सके। वस्तुत इस प्रकार के बन्धन लगाने से केवल विदेशी पूँजी की मात्रा ही सीमित होती है क्योंकि निजी विनियोजक प्राय वार्षिक सभाओ मे बहुत कम सख्या

में भाग लेते हैं और प्रायः कोरम पूरा होना ही कठिन होता है। इसके विपरीत, यदि कोई विदेशी पूंजी प्राप्त संस्था भारतीय हितों के अनुकूल संचालित नहीं हो रही हो तो सरकार उसे अन्य अधिकारों के अन्तर्गत भी आदेश दे सकती है। अतः कुछ विशेष वर्ग के उद्योगों को छोड़कर सरकार द्वारा विदेशी पूंजी की मात्रा के प्रति अधिक उदार दृष्टिकोण अपनाना उचित होगा।

गत दो-तीन वर्षों में इस सम्बन्ध में अधिक उदारता की नीति अपनायी गयी है।

(४) विदेशी पूंजी के लिए वातावरण—*उपर्युक्त कठिनाइयाँ न्यूनाधिक रूप में सभी प्रजातन्त्रवादी व्यवस्थाओं में होती हैं और भारत ने ब्रिटेन से शासन परम्परा उत्तराधिकार में प्राप्त की है। उसमें कुछ दोष अन्तर्निहित हैं* किन्तु इन परम्पराओं से हटकर विदेशी पूंजी प्राप्त करने सम्बन्धी क्रियाएँ सरल एवं सुगम बनायी जा सकती हैं। गत वर्षों में मन्त्रालयों के कार्यों में कुछ परिवर्तन करके कुछ कागजी कार्यवाही कम की गयी है परन्तु उसमें अभी सुधार की गुंजाइश है।

भारत में विदेशी पूंजी का सैद्धान्तिक विरोध रहा है क्योंकि भारत अब उस इतिहास की पुनरावृत्ति नहीं होने देना चाहता जिसके अनुसार अंग्रेजों ने भारत के व्यापार और उद्योग के माध्यम से देश का शासन अधिकार प्राप्त कर लिया था। सम्भवतः भारत इसीलिए सम्पूर्ण विदेशी सहायता (पूंजी तथा ऋण) बिना किसी राजनीतिक लगाव के प्राप्त कर रहा है। भारत ने अपने व्यवहार से यह सिद्ध कर दिया है कि वह अपना आर्थिक विकास देश के करोड़ों लोगों को स्वतन्त्रता का वास्तविक सुख अनुभव कराने के लिए कर रहा है। विदेशी इस व्यवहार से आश्वस्त हैं। *इसका प्रमाण इस तथ्य से दिया जा सकता है कि भारत पर चीनी आक्रमण होने पर भी* १९६२ में विदेशी पूंजी का सहयोग पहले के सब वर्षों से अधिक (लगभग ७५.३ करोड़ रुपये) रहा।

सरकार की विदेशी पूंजी नीति में परिवर्तन हो रहा है। सरकार ने निर्णय किया है कि फर्टीलाइजर उद्योग में विदेशी पूंजी का अंश ५०% से अधिक भी हो सकता है तथा सरकार विदेशी विनियोजकों को 'रुपया पूंजी' एकत्र करने में भी सहयोग देगी।

औद्योगिक सहयोग
(INDUSTRIAL COLLABORATIONS)

विदेशी पूंजी भारत में आने की एक रीति यह है कि विदेशी पूंजीपति भारतीय साहसियों के सहयोग से कारखाने खोलते हैं अथवा भारतीयों को कारखाने खोलने में मदद करते हैं। स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् *भारत सरकार द्वारा इस प्रकार के सहयोग को निरन्तर प्रोत्साहन दिया गया है।* इसका अनुमान निम्नलिखित तालिका से लग सकता है

भारतीय उद्योगों में विदेशी सहयोग संख्या[1]

१९५७	८१
१९५८	१०३
१९५९	१५०
१९६०	३८०
१९६१	४०३
१९६२	२९८
१९६३	२९८
१९६४	४०३
१९६५	२४२
१९६६	२६१
जून १९६७ तक	१११
योग	२,७२०

[1] आगे का ब्यौरा उपलब्ध नहीं है।

प्रस्तुत तालिका से स्पष्ट है कि गत १०½ वर्षों मे विदेशियों द्वारा कुल २,७३० औद्योगिक इकाइयों मे सहयोग दिया गया है अर्थात् विदेशी सहयोग की वार्षिक औसत २६० इकाइयां है। यह सहयोग भारत सरकार की अनुमति से ही दिया जा सकता है।

उद्योगों के अनुसार—औद्योगिक सहयोग जिन क्षेत्रो में दिया गया है उनमें मुख्य निम्न-लिखित हैं

उद्योग	सहयोगो की सख्या
१ बिजली व अतिरिक्त मशीनें	७८६
२ बिजली की मशीनें तथा उपकरण	४२२
३ रसायन—सामान्य	१५६
४. परिवहन उपकरण	९०
५ लोहा-इस्पात	७३
६. औषधियाँ	५६
७ औद्योगिक रसायन	५२

प्रस्तुत तालिका से स्पष्ट है कि कुल औद्योगिक समझौतों का लगभग ५० प्रतिशत दो मशीन तथा रसायन उद्योगो से ही सम्बन्धित रहा है। शेष लोहा-इस्पात, औषधियाँ, कागज, रबड़ सीमेण्ट, सूती वस्त्र, जहाज चीनी विद्युत उत्पादन आदि व्यवसायो में किये गये हैं। यह सभी उद्योग भारत की अर्थ-व्यवस्था मे महत्वपूर्ण स्थान रखते हैं।

देशों का स्थान—भारत के औद्योगिक विकास मे सर्वाधिक सहयोग देने वाले देशों मे मुख्य स्थान क्रमश ब्रिटेन, अमरीका पश्चिमी जर्मनी, जापान, स्विट्जरलैण्ड, फ्रास, तथा इटली का रहा है। निम्न तालिका से इस तथ्य की पुष्टि हो जाती है

भारतीय उद्योगों मे विदेशी सहयोग-सख्या

१ ब्रिटेन	७४६
२ अमरीका	४८६
३ पश्चिमी जर्मनी	४०७
४ जापान	२३६
५ स्विट्जरलैण्ड	१२६
६ फ्रास	९८
७ इटली	७४
८ पूर्वी जर्मनी	६०
९. स्वीडन	४३
१० हालैण्ड	४१

इन देशों के अतिरिक्त कनाडा, आस्ट्रेलिया, जेकोस्लोवाकिया, बेल्जियम, यूगोस्लाविया डेनमार्क, फिनलैण्ट, पोलैण्ड तथा हगरी ने भी भारतीय उद्योगो के विकास मे सहयोग किया है।

इकॉनॉमिक टाइम्स के एक अध्ययन के अनुसार १९४ कम्पनियो की २०६ करोड रुपये की पूंजी म स विदेशी पूंजी का भाग लगभग ४९ करोड रुपय अर्थात २४ प्रतिशत रहा है। इसमें पूंजी के अतिरिक्त प्राविधिक सहयोग भी उपलब्ध रहा है।

गत वर्षो मे औद्योगिक सहयोगो की सख्या में कुछ कमी आने की प्रवृत्ति दृष्टिगोचर हो रही है। इसका मुख्य कारण यह है कि प्राय सभी महत्वपूर्ण क्षेत्रो मे औद्योगिक सहयोग उपलब्ध हो चुका है, अत भविष्य की सम्भावनाएँ

विदेशी विनियोजकों द्वारा भारत में पूंजी लगाने के सम्बन्ध में सरकार को इस बात की ओर अधिक ध्यान देना चाहिए कि वह सरकार द्वारा आयोजित अथवा वांछित उद्योगों में ही पूंजी लगायें। इससे भारत की योजनाएँ उचित दिशा में सफलीभूत हो सकेंगी। परन्तु विदेशी उद्योग-पतियों की इस शिकायत को दूर करना बहुत आवश्यक है कि उन्हें नवीन योजना चालू करने की स्वीकृति बहुत देर से मिलती है।

भारत में विदेशी ऋण पूंजी तथा सहायता—युद्धकाल तथा उसके पश्चात् कुछ समय तक भारत में विदेशों से आने वाली ऋण पूंजी की मात्रा बहुत कम थी किन्तु योजना-काल में स्थिति बहुत बदल गयी है। गत वर्षों में भारत में आने वाली ऋण पूंजी की मात्रा निरन्तर बढ़ती जा रही है, जिसका अनुमान निम्नांकित आँकड़ों से हो जायेगा

युद्धोत्तरकाल में विदेशी सहायता

(करोड़ रुपये में)

देश का नाम	तृतीय योजना तक सहायता	१९६६ से १९७०	योग
१ संयुक्त राज्य अमरीका	२,९३६	१७११	४,६४७
२ विश्व बैंक तथा विकास संघ	७२९	५१७	१,२४६
३ सोवियत संघ तथा पूर्वी यूरोप के अन्य देश	६१०	३५१	९६१
४ पश्चिमी जर्मनी	४४५	२०१	६४६
५ ग्रेट ब्रिटेन	३६२	२९०	६५२
६ कनाडा	२२४	२८३	५०७
७ जापान	१६६	१४०	३०६
८. अन्य	२५९	२२१	४८०
योग	५,७३१	३,७१४	९,४४५

इस तालिका से निम्नलिखित निष्कर्ष निकलते हैं

(१) भारत को योजनाकाल में सबसे अधिक विदेशी सहायता (४,६४७ करोड़ रुपये) संयुक्त राज्य अमरीका से प्राप्त हुई है। यह कुल सहायता की लगभग ५० प्रतिशत है।

(२) *विदेशी सहायता के क्रम में निरन्तर वृद्धि हो रही है।*

(३) सहायता करने वाले देशों में अमरीका के पश्चात् सोवियत संघ, जर्मनी, ब्रिटेन, कनाडा तथा जापान का नाम लिया जा सकता है।

(४) कुल ९,४४५ रुपये की विदेशी सहायता में ५८२ करोड़ रुपये के अनुदान हैं, शेष सहायता ऋणों के रूप में हैं।

(५) ऋणों की राशि में केवल २९३ करोड़ रुपये की राशि का भुगतान रुपयों में किया जायगा, शेष विदेशी मुद्रा में करना होगा।

(६) इसी रकम (ऋणों की) में २,१९५ करोड़ रुपये की राशि की सहायता पी० एल० ४८० तथा पी० एल० ६६५ के रूप में प्राप्त हुई है जो भारत के बैंकों में रुपयों में जमा रहेगी तथा जिसका प्रयोग भारत सरकार तथा अमरीकी सरकार के पारस्परिक समझौते द्वारा किया जायेगा। इसका भुगतान भी रुपया में किया जायगा।

विदेशी सहायता की उल्लेखनीय प्रवृत्तियाँ

भारत को प्राप्त विदेशी सहायता के कुछ तत्व अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं जिनमे से विशेष उल्लेखनीय निम्नलिखित हैं :

(१) मात्रा मे तीव्र गति से वृद्धि—गत वर्षों मे भारत को प्राप्त विदेशी सहायता में नियमित रूप मे वृद्धि हो रही है। इसका मुख्य कारण भारत के योजना व्यय मे वृद्धि होना है। तृतीय योजनाकाल मे वस्तुओ के कुल आयात के ३७ प्रतिशत की व्यवस्था विदेशी सहायता से की गयी जबकि दूसरी योजनाकाल मे यह मात्रा केवल २७ प्रतिशत थी।

तीसरी योजनाकाल मे प्रति व्यक्ति शुद्ध विदेशी सहायता की राशि भी ९.७१ रुपये हो गयी जबकि दूसरी योजनाकाल मे यह ६.३३ रुपये की मात्र थी।

(२) रचना में परिवर्तन—तृतीय योजनाकाल मे विदेशी सहायता की रचना में एक उल्लेखनीय प्रवृत्ति यह हुई कि विदेशी मुद्रा मे चुकाने योग्य ऋणो की मात्रा मे बहुत तेजी से वृद्धि हुई तथा अनुदान और पी० एल० ४८० के अन्तर्गत प्राप्त राशियो मे कमी हो गयी। इससे भारत की अर्थ-व्यवस्था पर सामान्य कर-भार बहुत बढ़ गया।

प्रथम योजनाकाल मे विदेशी मुद्रा मे चुकाने योग्य ऋण की रकम केवल २१२ करोड रुपए थी जो १९६९-७० मे ६,१२६ करोड रुपये हो गयी।

(३) शर्तों मे उदारता—तृतीय योजनाकाल मे एक ओर तो अनुदान तथा सहायता में कमी होकर विदेशी मुद्रा के ऋणो मे वृद्धि हो गयी। दूसरी ओर विदेशी ऋणो की शर्तें बहुत नर्म हो गयी। इस काल मे एक ऋणो पर देय ब्याज की औसत दर ४.४ प्रतिशत से घटकर ३.४ प्रतिशत हो गयी तथा ऋणो की भुगतान अवधि १०-२० वर्ष से बढकर १३-२३ वर्ष हो गयी। इस सम्बन्ध मे यह उल्लेखनीय है कि अमरीका के नये ऋणो पर ब्याज की दर २.५ प्रतिशत है। ब्रिटिश ऋण ५.५ से ६ प्रतिशत ऋणवाहक थे अब सस्ते हो गये हैं। हाल ही मे दिये गये कुछ ऋण तो निःशुल्क है। इनकी भुगतान अवधि भी २५ वर्ष है। पूर्वी यूरोप के देशो से प्राप्त ऋणो पर ब्याज की दर २.५ प्रतिशत तथा भुगतान अवधि १२ वर्ष है।

(४) ब्याज का बढ़ता हुआ भार—यद्यपि नये ऋणो पर ब्याज की दरें कम हैं परन्तु ऋण की निरन्तर बढती हुई राशि के कारण ब्याज का भार भी निरन्तर बढता जा रहा है, उदाहरणत द्वितीय योजनाकाल मे भारत की चालू खाते मे विदेशी विनिमय की कमाई का केवल ३ प्रतिशत ब्याज के रूप मे चुकाया गया जबकि तीसरी योजना की अवधि मे यह राशि ११ प्रतिशत तक बढ गयी। यदि विदेशी कम्पनियो द्वारा अर्जित एव प्रेषित लाभाश को भी सम्मिलित कर लिया जाय तो वार्षिक ब्याज की रकम कुल (विदेशी विनिमय की) चालू कमाई का २० प्रतिशत है।

(५) भुगतान का भार—विदेशी ऋणो का भार ब्याज तथा मूल चुकता करते समय विशेष रूप मे अनुभव होता है। यह राशि भी गत वर्षों मे बढ गयी है। इस दृष्टि से ही ऋण देने वाले देशो से ऋण चुकता करने की तिथियो को कुछ स्थगित करने की प्रार्थना की गयी थी। तदनुसार कनाडा, ब्रिटेन, जापान तथा आस्ट्रिया ने अपने ऋण भुगतान लेने मे कुछ ढील दे दी है। अन्य देश भी इस दिशा म विचार कर रहे हैं।

(६) ऋण स्थगन तथा पुन स्वीकृति—भारत पाक विवाद के कारण १९६५ मे कुछ देशो ने दोनो देशो को ऋण देने बन्द कर दिये थे। १९६६ मे उन्होने पुन ऋण देना आरम्भ कर दिया है। भारत सहायता क्लब द्वारा १९६९ ७० के लिए ६२८ करोड रुपये की सहायता का वचन दिया गया।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि भारत का विदेशी ऋण भार तथा नियमित ब्याज भार बढता जा रहा है। यह स्थिति देश के आर्थिक तथा राजनीतिक हितों के अनुकूल नही है। एक स्वतन्त्र देश को अपना स्वाभिमान बनाये रखने के लिए विदेशी सहायता पर अत्यधिक निर्भर करना

अवाछनीय ही नही खतरनाक हो सकता है। अत देश के कर्णधारो को विदेशी सहायता प्राप्त करने में हाथ रोककर सूझबूझ तथा सयम से काम लेना चाहिए।

भारतीय विनियोजन केन्द्र (Indian Investment Centre)—भारत मे अभी बहुत समय तक विदेशी पूंजी की आवश्यकता होनी रहेगी। इस दृष्टि से विदेशी पूंजीपतियो को आकर्षित करने तथा उनकी सब कठिनाइयो को दूर करने के लिए १६ फरवरी, १९६१ को नयी दिल्ली मे भारतीय विनियोजन केन्द्र की स्थापना की गयी। केन्द्र के प्रमुख उद्देश्य निम्नलिखित हैं

(१) पूंजी निर्यातक देशो मे भारत विनियोजन सम्बन्धी नीति एव कार्यविधियो का प्रचार करना।

(२) भारतीय उद्योगपतियो को विदेशी पूजी आकर्षित करने मे सहायता करना।

(३) विदेशी व्यापारियो को भारत मे पूंजी लगाने के सम्बन्ध मे सलाह तथा सहायता प्रदान करना।

(४) विशेष उद्योगो मे विदेशी पूंजी प्राप्त करने की सम्भावनाओ का सर्वेक्षण करना।

(५) भारतीय अर्थतन्त्र के विकास के लिए निजी पूंजी प्राप्त करने के लिए उचित ज्ञान एव सूचनाएँ प्रसारित करना।

विनियोजन केन्द्र के प्रयत्न फलीभूत होने आरम्भ हो गये हैं और देशी तथा विदेशी पूंजीपतियो ने इसका लाभ उठाना शुरू कर दिया है। अमरीका, कनाडा, इगलैण्ड, पश्चिम जर्मनी, स्विटजरलैण्ड, बेल्जियम तथा जापान के अनेक उद्योगपतियो ने 'केन्द्र' के माध्यम से बहुत से भारतीय उद्योगो मे पूजी विनियोग के लिए समझौते किये हैं। केन्द्र शीघ्र ही एक मासिक पत्रिका प्रकाशित करके विनियोक्ताओ के लिए आवश्यक सूचना देने की व्यवस्था कर रहा है।

गत वर्षों मे भारत के अनेक प्रतिनिधि मण्डलो ने विदेशो मे जाकर विदेशियो को भारत मे पूंजी लगाने के लिए आश्वस्त एव प्रोत्साहित किया है। भारत सरकार का यह कर्तव्य है कि रिजर्व बैंक के सहयोग से भारतीय बैंको की विदेशी शाखाओ मे 'सूचना केन्द्र' स्थापित कर दे, जिनमे विदेशी विनियोजको को भारत मे विनियोजन सम्बन्धी सब सूचनाएँ तत्काल प्राप्त हो सकें। जिन देशो मे भारतीय बैंको की शाखाएँ नही हैं वहाँ दूतावासो, भारतीय वाणिज्य दूतावासो अथवा कुछ बडे-बडे बैंको का सहयोग प्राप्त किया जा सकता है। वस्तुत विदेशी पूंजी लाने, उसे उचित समय तक बनाये रखना तथा उसका पूर्णत सदुपयोग करने के लिए भारत सरकार तथा रिजर्व बैंक के कार्यालयो को अधिक सचेष्ट एव सक्रिय होना पडेगा। इसके बिना सारी असुविधाओ तथा समस्याओ का अन्त सम्भव नहीं है।

प्रश्न

१. एक विकासोन्मुख अर्थ व्यवस्था मे विदेशी पूंजी का क्या महत्त्व है ? भारत सरकार की सन् १९४७ से विदेशी पूंजी सम्बन्धी नीति का विवेचन कीजिए। (बिहार, बी० ए०, १९६३)

२ भारत मे विदेशी पूंजी के उपयोग के पक्ष तथा विपक्ष म तर्क प्रस्तुत कीजिए। इस सम्बन्ध मे भारत सरकार की क्या नीति रही है ? अपने सुझाव दीजिए।

(दिल्ली व पजाब, बी० ए०, १९५६)

32 औद्योगिक वित्त

(INDUSTRIAL FINANCE)

"Finance is the life blood of industry" —*Anonymous*

अविकसित तथा अर्द्ध विकसित अर्थ व्यवस्था मे औद्योगिक विकास की गति प्राय शिथिल होती है, बडे पैमाने के उद्योगो का प्राय अभाव रहता है तथा लघु उद्योग भी लाभकारी स्थिति मे रहते हैं। उद्योगो की इस विपन्नावस्था का मुख्य कारण पूंजी का अभाव होता है। बडे उद्योगो को अधिक मात्रा मे तथा दीर्घकाल के लिए पूंजी की आवश्यकता होती है। इसके विपरीत, छोटे उद्योगो की वित्तीय आवश्यकता कम तथा अल्पकालीन होती है परन्तु उनकी साख भी कम होती है और उनके पास धरोहर का अभाव होता है। उपर्युक्त कारणो से दोनो प्रकार के उद्योगो के लिए अर्थाभाव रहता है।

वित्त की आवश्यकता—थॉक समिति के मतानुसार, उद्योगो को मुख्य रूप मे दो प्रकार की पूंजी की आवश्यकता होती है। प्रथम दीर्घकालीन पूंजी जिसका प्रयोग भूमि, मकान तथा मशीन आदि खरीदने के लिए किया जाता है और द्वितीय, अल्पकालीन पूंजी जिसकी आवश्यकता कच्चा माल खरीदने निर्मित माल का विक्रय करने तथा पारिश्रमिक चुकाने आदि के लिए होती है। इसके अतिरिक्त कभी-कभी औद्योगिक विस्तार एव मशीन आदि के भाग परिवर्तन के लिए भी पूंजी की आवश्यकता पडती है। यह आवश्यकता प्राय मध्यकालीन होती है। वस्तुत कच्चा माल खरीदने के लिए भी जो पूंजी प्राप्त की जाती है उसका एक अश मध्यकालीन अथवा दीर्घकालीन बन जाता है क्योकि उस ऋण के एक भाग का प्रति वर्ष नवीनीकरण होता है।

औद्योगिक वित्त के स्रोत

भारत मे औद्योगिक वित्त के प्रमुख स्रोत निम्नलिखित हैं :

(१) विनियोजक जनता (Investing Public), (२) प्रबन्ध अभिकर्ता (Managing Agents) (३) विनियोजक सस्थाएँ तथा व्यापारिक बैंक, बीमा कम्पनियाँ तथा विनियोजक प्रन्यास (Investment Trusts) (४) वित्त निगम, (५) केन्द्रीय तथा राज्य सरकार, (६) देशी बैंकर और साहूकार, (७) सहकारी समितियाँ, तथा (८) विदेशी पूंजी।

१. विनियोजक जनता
(INVESTING PUBLIC)

प्रत्येक देश मे वहाँ की जनता द्वारा उद्योगो म पूंजी विनियोजन किया जाता है। पूंजी विनियोजन के मुख्य साधन निम्नलिखित हैं

अश (Shares)—औद्योगिक कम्पनियाँ प्राय अश पूंजी निर्गमित करती हैं जिसे जनता, बैंक अथवा बीमा कम्पनियाँ खरीद लेती हैं। अश पूंजी की बिक्री उद्योग के सचालको की प्रतिष्ठा

अथवा साख पर निर्भर करती है। उद्योगों द्वारा प्राय सामान्य (Ordinary) अथवा पूर्वाधिकार (Preference) अंश निर्गमित किये जाते हैं। पूर्वाधिकार अंशों पर लाभांश की न्यूनतम दर निश्चित होती है किन्तु सामान्य अंशों पर लाभांश दिया जाता है।

अंशों के अतिरिक्त ऋणपत्रों (*Bonds or Debentures*) द्वारा भी पूंजी संग्रह की जाती है। बड़ी-बड़ी कम्पनियाँ, भूमि-बन्धक बैंक तथा नगर निगम आदि समय समय पर ऋणपत्र निकालते हैं जिन्हें जनता, व्यापारिक बैंक तथा बीमा कम्पनियाँ आदि खरीद लेते हैं।

गत वर्षों में भारत में अंश-पूंजी का निर्गमन निम्नलिखित रहा है

निर्गमित पूंजी

(करोड रुपयो में)

वर्ष	राशि
१९५१	८
१९५६	४५
१९६१	६०
१९६६	४८
१९६७	४६
१९६९	१२५

उपर्युक्त तालिका से स्पष्ट है कि पूंजी निर्गमन के क्रम में निरंतर उतार-चढ़ाव रहे हैं। यह अनुमान लगाया गया है कि १९५१-६९ के मध्य कुल ७३८ करोड रुपये की पूंजी निर्गमित की गयी जिसकी वार्षिक औसत ३९ करोड रुपये है। भारत सरकार तथा राज्य सरकारों द्वारा प्रति वर्ष १५०-२०० करोड रुपये की पूंजी संग्रह की जाती है। इससे निजी क्षेत्र में पूंजी विनियोग की गति शिथिल रहती है।

२. प्रबन्ध अभिकर्ता
(MANAGING AGENTS)

भारतीय वृहदाकार उद्योगों की स्थापना तथा विकास का प्रमुख श्रेय प्रबन्ध अभिकर्ता प्रणाली को है क्योंकि इस वर्ग ने न केवल प्रारम्भिक वर्षों में विभिन्न उद्योगों के लिए आवश्यक पूंजी की व्यवस्था की बल्कि उनका ठीक प्रकार प्रबन्ध करके उन्हें स्वस्थ एवं शक्तिशाली बनने में भी महत्त्वपूर्ण योगदान दिया। डॉ० बसु के शब्दों में

> "The attribute of *managing agents that has most attracted* publ c attention is their role as capitalists, the suppliers of industrial finance"

(अ) **पूंजी की व्यवस्था**—प्रबन्ध अभिकर्ता कम्पनियों के अंश तथा ऋणपत्र खरीदते हैं और प्रतिभूतियों का अभिगोपन कर उनके बिकने में सहायक होते हैं। कुछ प्रबन्ध अभिकर्ता अपनी कम्पनियों के लिए जनता से सामयिक निक्षेप भी प्राप्त करते हैं। डॉ० बसु के ही एक अनुमान के अनुसार १०२० कम्पनियों की २१५ करोड रुपये पूंजी में से २९ करोड रुपये अर्थात् १३.५८ प्रतिशत रकम प्रबन्ध अभिकर्ताओं द्वारा खरीदी हुई थी। राष्ट्रीय व्यावहारिक अर्थ-शोध परिषद (National Council of Economic Research) ने ब्रिटिश प्रबन्ध अभिकर्ताओं द्वारा व्यवस्थित १२५ कम्पनियों के विश्लेषण से यह निष्कर्ष निकाला है कि इनमें लगभग १७ प्रतिशत अंश पूंजी प्रबन्ध अभिकर्ताओं के अधिकार में है। इन तथ्यों से यह स्पष्ट है कि प्रबन्ध अभिकर्ता वर्ग भारतीय उद्योगों के लिए पूंजी प्राप्त करने का एक अच्छा स्रोत है।

(ब) **ऋण तथा गारण्टी**—स्वयं पूंजी लगाने के अतिरिक्त प्रबन्ध अभिकर्ता औद्योगिक संस्थानों को ऋण भी देते हैं तथा अपनी गारण्टी पर उनके लिए ऋणों की व्यवस्था भी करते हैं।

इनकी साख ऊँची होने के कारण जनता तथा बैंको को इनके द्वारा निर्देशित कम्पनियों को ऋण देने मे कोई सकोच नही होता। राष्ट्रीय व्यावहारिक अर्थ-शोध परिषद के एक अनुमान के अनुसार प्रबन्ध अभिकर्ताओ द्वारा व्यवस्थित बृहदाकार कम्पनियो द्वारा प्राप्त कुल ऋणो का १३ प्रतिशत तथा मध्यम आकार वाली कम्पनियो के ऋणो का ७ प्रतिशत स्वय प्रबन्ध अभिकर्ताओ द्वारा दिया हुआ था। अहमदाबाद, बम्बई, पूना तथा ग्वालियर की अनेक मिलें जनता से निक्षेप प्राप्त करती हैं जिनकी गारण्टी प्रबन्ध अभिकर्ताओ द्वारा दी जाती रही है।

अप्रैल १९७० से प्रबन्ध अभिकर्ता प्रणाली का अन्त कर दिया गया है।

(स) विनियोजक सस्थाएँ—औद्योगिक वित्त व्यवस्था मे विनियोजक सस्थाओ यथा—व्यापारिक बैंक, बीमा कम्पनियो तथा विनियोजक प्रन्यासो का महत्त्वपूर्ण योग रहता है क्योंकि ये सस्थाएँ औद्योगिक कम्पनियो की प्रतिभूतियाँ तथा ऋणपत्र आदि खरीदती हैं और उनके लिए बाजार का निर्माण करके इन प्रतिभूतियो के मूल्य स्थिर रखने मे भी योग देती हैं।

३. व्यापारिक बैंक

भारतीय व्यापारिक बैंक ब्रिटिश बैंको की भाँति अधिकतर अल्पकालीन ऋण देते हैं। इसके मुख्यत दो कारण हैं। एक तो उनका दृष्टिकोण कुछ सकीर्ण है तथा उनमे जोखिम उठाने की वृत्ति का अभाव है तथा दूसरे उनके पास किसी औद्योगिक सस्थान की सम्पत्ति का उचित मूल्याकन करने के साधनो की कमी है। परन्तु इस व्यवस्था का मुख्य कारण यह है कि एक बैंक का व्यवसाय केवल अल्पकालीन वित्तीय आवश्यकताओ की पूर्ति करना तथा देश के अर्थतन्त्र को सन्तुलित करने के लिए सामान्य धनराशि की व्यवस्था करना समझा जाता रहा है। सैद्धान्तिक रूप मे भले ही इस मान्यता का पालन किया जाता हो परन्तु व्यावहारिक दृष्टि से अल्पकालीन ऋण की पुनरावृत्ति होती रहती है और एक वर्ष के लिए दिया गया ऋण प्रति वर्ष निरन्तर बढाये जाने के कारण प्राय मध्यकालीन अथवा दीर्घकालीन बन जाता है।

भारतीय बैंको की समस्याएँ—भारत मे बैंको द्वारा मध्यम अथवा दीर्घकालीन ऋणो का कई दृष्टिकोणो से विरोध किया जाता है। इस सम्बन्ध मे पहला तर्क यह है कि भारतीय बैंकों के साधन बहुत सीमित हैं और वह कभी-कभी अल्पकालीन आवश्यकताओ की ही पूर्ति नहीं कर पाते अत उन्हे मध्यम अथवा दीर्घकालीन ऋण देने का विचार ही नही करना चाहिए। दूसरे, मध्यम अथवा दीर्घकालीन ऋण देना एक विशेषित व्यवसाय है, जिसके लिए अधिक प्रशिक्षित एव योग्य कर्मचारियो की आवश्यकता है। स्वभावत इस कठिनाई के कारण यह व्यवसाय केवल सीमित रूप मे ही अपनाया जा सकता है तथा कुछ बडे बैंक ही ऐसे ऋणो की व्यवस्था कर सकते हैं। तीसरा तर्क यह है कि भारतीय बैंको के ऋण निक्षेप अनुपात (Loan-deposit ratio) पहले ही बहुत ऊँचे हैं। अत यदि उन्होने मध्यम अथवा दीर्घकालीन ऋण देने आरम्भ कर दिये तो उनके तरल कोषानुपात बहुत कम हो जायेंगे।

तर्क युक्तसगत नहीं—अथवि ऋणो के विरोधियो द्वारा दिये गये तर्क बहुत शक्तिशाली अथवा सबल नही हैं क्योकि वर्तमान अवस्था मे भी कुछ बैंक तो व्यवहार में मध्यकालीन ऋण देते ही हैं और इससे उनके तरल कोषानुपातो पर कोई बुरा प्रभाव नही पडा है वस्तुत जापान के आर्थिक विकास म तो सबसे अधिक योग वहाँ के बैंको का रहा है, जो व्यापार तथा उद्योगों को अधिक उदारतापूर्वक ऋण देते हैं, जिसके फलस्वरूप जापानी बैंको के ऋण-निक्षेप अनुपात १०० प्रतिशत तक पहुँच जाते। यद्यपि भारतीय बैंको को इस सीमा तक पहुँचने के लिए कुछ अधिक अनुभव की आवश्यकता होगी, परन्तु देश को विकास सम्बन्धी आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए उन्हें उदारतापूर्वक ऋण देने चाहिए।

निक्षेप बीमा निगम (Deposit Insurance Corporation) की स्थापना से भारतीय

बैंकों के लिए अवधि ऋण देना अधिक सरल हो गया है क्योंकि जमा करने वालो के निक्षेप ता बीमे के कारण सुरक्षित हो गये हैं। अत कुछ अधिक लाभ कमाने की दृष्टि से *तथा राष्ट्रीय हितो* मे सहायक होने के विचार से भारतीय बैंको द्वारा उद्योगो को मध्यकालीन ऋण दिये जा सकते हैं।

अवधि ऋण समिति के विचार—भारतीय उद्योगो की बढती हुई वित्तीय आवश्यकताओं की पूर्ति के सम्बन्ध मे सुझाव देने के लिए रिजर्व बैंक ने विभिन्न क्षेत्रो के वित्त-विशेषज्ञो की एक समिति गठित की थी, जिसने नवम्बर १९६१ मे अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत कर दी। समिति ने उद्योगो तथा बैंको की सब समस्याओ का अध्ययन करने के पश्चात् यह विचार व्यक्त किया कि "अवधि ऋण एक विशेषित व्यवसाय है, इसलिए यह सब बैंकों द्वारा नही अपनाया जाना चाहिए। केवल वही बैंक, जिनके यथेष्ट आर्थिक साधन, अनुभवी कर्मचारी तथा सबल सगठन हैं, उद्योगो को अवधि ऋण दे सकते है।' इसके अतिरिक्त अवधि ऋण देने वाले प्रत्येक बैंक को अपने आर्थिक साधनों (निक्षेप तथा कोष आदि) के आधार पर अवधि ऋणो की सीमा निर्धारित कर लेनी चाहिए।

समिति का यह निश्चित मत है कि अवधि ऋणों के लिए वही मापदण्ड नही अपनाये जा सकते, जो अल्पकालीन (एकवर्षीय) ऋणो के लिए अपनाये जाते हैं। अल्पकालीन ऋण के लिए *किसी औद्योगिक इकाई के अन्तिम खाते देखने मात्र से काम चल जाता है परन्तु अवधि ऋण* देने के लिए उसकी भविष्य की सम्भावनाओ के सम्बन्ध मे भी अनुमान लगाना आवश्यक होता है।

भारतीय बैंक और उद्योग—गत वर्षों मे सरकार तथा रिजर्व बैंक ने भारतीय बैंको द्वारा उद्योगो को ऋण देने की प्रवृत्ति को काफी प्रोत्साहन दिया है। इन प्रोत्साहनो के फलस्वरूप बैंको द्वारा उद्योगो को दिये गये ऋणानुपातो में निरन्तर वृद्धि होती रही है।

बैंको द्वारा उद्योगो को दिये गये ऋणो का प्रतिशत गत दस वर्षों की अवधि मे ३९ से बढ़कर ६४ तक पहुँच गया है। इसका अनुमान निम्नलिखित तथ्यो से लग सकता है :

अनुसूचित बैंकों द्वारा उद्योगो को ऋण

(करोड रुपयो मे)

	कुल ऋण	उद्योगो को ऋण	कुल का प्रतिफल
दिसम्बर १९५६	७९४	३९६	३८.५
अप्रैल १९६१	१,३०६	६८८	५२.७
मार्च १९७०	३,७७२	१,९३२	५१.२

इस तालिका से स्पष्ट है कि १९५६ से १९७० की अवधि मे बैंको द्वारा दिये गये ऋणो की कुल राशि ७९४ करोड रुपये से बढकर ३,७७२ करोड रुपये तक पहुँच गयी है। इसमें उद्योगों का भाग १९६१ तक बढता गया है *किन्तु बाद मे कम होता गया है।*

वृहदाकार उद्योगो के अतिरिक्त गत वर्षों मे लघु उद्योगो के लिए ऋण देने के लिए भी बैंको को प्रोत्साहित किया गया है। भारत सरकार की साख गारण्टी योजना के अन्तर्गत सभी महत्वपूर्ण बैंको द्वारा लघु उद्योगो को दिये जाने वाले ऋणो की गारण्टी की व्यवस्था की गयी है। परिणामस्वरूप व्यापारिक बैंको द्वारा लघु उद्योगो को दिये गये ऋणो की रकम दिसम्बर १९७० तक ५१९ करोड रुपये तक पहुँच गयी है।

४. जीवन बीमा निगम

भारतीय जीवन बीमा निगम एक साधनसम्पन्न सस्था है और इसमे प्राप्त अधिकाश राशि दीर्घकालीन होती है, अत. निगम काफी धनराशि लम्बी अवधि के लिए विनियोजित कर सकता है। यह औद्योगिक कम्पनियो के अश तथा ऋणपत्र खरीदकर उनकी *आर्थिक सहायता* करता है। ३१ मार्च, १९७० को निगम की कुल सम्पत्ति लगभग १,६११ करोड रुपये थी, जिसमे से लगभग

१,४२० करोड रुपये विनियोजित थे। इस राशि मे से लगभग २३४ करोड रुपये की राशि निजी अशो तथा ऋणपत्रो मे विनियोजित थी, जो कुल विनियोजनो की लगभग १७ प्रतिशत होती है। जीवन बीमा निगम द्वारा औद्योगिक वित्त निगम, राज्य वित्त निगमो तथा अन्य निगमो के कुल ३२ करोड रुपयो के अश खरीदे गये हैं।

अश खरीदने के अतिरिक्त जीवन बीमा निगम नयी पूंजी का अभिगोपन भी करता है। इससे उद्योगो को नवीन पूंजी निर्गमित करने मे प्रोत्साहन मिलता है और नये उद्योगो को विशेष रूप मे सहायता मिलती है।

५ विनियोग प्रन्यास
(INVESTMENT TRUSTS)

अमरीका तथा इगलैण्ड जैसे उद्योग प्रधान देशो मे विनियोग प्रन्यासो (Investment Trusts) का प्रचार बढ गया है। ये सस्थाएँ अश पूंजी से स्थापित होती हैं और उस पूंजी को विभिन्न उद्योगो के अशो मे विनियोजित करती हैं। इस प्रकार विनियोग ट्रस्ट छोटे विनियोक्ताओं को बचत के लिए प्रोत्साहित करते हैं तथा उनकी बचतो को उचित एव लाभदायक बचतों में विनियोजित करने मे सहायक होते हैं।

विनियोग प्रन्यास एक ऐसी सस्था है जो विनियोजको के समूह के लिए प्रतिभूतियों क्रय विक्रय करने का कार्य करती है।[1] इसकी व्यवस्था आर्थिक विशेषज्ञो के हाथ मे होती है, जो प्राप्त पूंजी को ऐसे अशो म विनियोजित करते हैं, जिनसे अधिकाधिक लाभ प्राप्त होता है। इस प्रकार छोटे विनियोक्ताओ को विनियोजन की जोखिम से मुक्ति मिल जाती है और वह अपनी सामान्य बचतो का अच्छा प्रतिफल प्राप्त कर लेते हैं।

इकाई प्रन्यास (Unit Trust of India)—भारतीय इकाई प्रन्यास की स्थापना जुलाई १९६४ मे की गयी। इसकी अश पूंजी ५ करोड रुपये है, जिसमे से ४ करोड रुपये की पूंजी सरकारी अथवा अर्द्ध सरकारी सस्थाओ द्वारा खरीदी गयी है। रिजर्व बैंक द्वारा २ ५ करोड रुपए, जीवन बीमा निगम द्वारा ७५ लाख रुपये तथा स्टेट बैंक और उसके सहायक बैंकों द्वारा ७५ लाख रुपये की पूंजी खरीदी गयी है। शेष १ करोड रुपये की पूंजी अनुसूचित बैंको तथा विशिष्ट वित्तीय सस्थाओ द्वारा खरीदी गयी है।

इकाइयाँ तथा विक्रय व्यवस्था—इकाई प्रन्यास की प्रत्येक इकाई का मूल्य दस रुपये है, जिसे कोई भी व्यक्ति कितनी भी सख्या मे खरीद सकता है। ट्रस्ट की इकाइयाँ भारत के ३५ अनुसूचित बैंको द्वारा (जिनकी देश भर मे लगभग ३,८०० शाखाएँ हैं) बेची जा रही हैं। इन बैंको को इकाइयो की बिक्री पर १२ पैसे प्रतिशत कमीशन दिया जाता है।

इकाई ट्रस्ट द्वारा ३० जून, १९७० तक ७७ ४५ करोड रुपये की इकाइयाँ बेची गयी।

ट्रस्ट की इकाई ट्रस्ट वापस भी खरीद लेता है। इसके लिए ट्रस्ट समय समय पर क्रय मूल्य की घोषणा करता है। यूनिटो की बिक्री भी १० रुपये या उससे अधिक मूल्य पर की जा सकती है।

विनियोग—इकाई प्रन्यास छोटे विनियोगकर्ताओ को पूंजी विनियोग करने के लिए अवसर दे रहा है। यह व्यक्ति अपनी विनियोग राशि की इकाइयाँ खरीद लेते हैं और ट्रस्ट उस राशि की सुरक्षा की जोखिम उठाता है। ट्रस्ट द्वारा इकाइयाँ बेचकर प्राप्त की गयी रकम विभिन्न उद्योगों की अश पूंजी या ऋण पूंजी खरीदने मे लगा दी जाती है। इस प्रकार उद्योगो के लिए पूंजी प्राप्त होती है और विनियोग करने वालो की रकम का प्रयोग हो जाता है।

1 "An agency for the co operative buying and selling of securities for a group of associated investment beneficiaries"

—H C Moulton, *Financial Organization and the Economic System*

इकाई प्रन्यास के कुल साधन ८२ ५ करोड रुपये के हैं जिनमे से उसने ८१ करोड रुपये के अश पूंजी तथा ऋणपत्र खरीद रखे हैं।

लाभ—इकाई प्रन्यास द्वारा पहले वर्ष ६ १ प्रतिशत, तथा बाद के वर्षों मे ७ प्रतिशत लाभाश बांटा गया है। १९६९-७० की लाभाश दर ७ १ प्रतिशत थी तथा १९७० ७१ के लिए ८ प्रतिशत लाभाश देने की घोषणा की गयी है।

कार्यालय—इकाई प्रन्यास का मुख्य कार्यालय बम्बई मे है तथा नई दिल्ली, कलकत्ता तथा तमिलनाडु मे शाखा कार्यालय हैं।

भारतीय इकाई प्रन्यास अपनी इकाइयो को वापस खरीदने का वचन देता है। इससे भारत के सामान्य विनियोक्ताओ के लिए ट्रस्ट की इकाइयो मे अविश्वास रखन का कोई कारण नही है।

इकाई प्रन्यास भारत म एक नवीन प्रयोग है। इसकी सफलता से निश्चय ही भारतीय उद्योगो को (जो पूंजी के अभाव से पीडित रहते हैं) यथेष्ट प्रोत्साहन मिलने की आशा है।

६. केन्द्रीय तथा राज्य सरकार

वर्तमान काल मे प्रत्येक देश अपना औद्योगिक विकास बहुत तेजी से करना चाहता है परन्तु कुछ उद्योगो के लिए तो अत्यधिक पूंजी की आवश्यकता होती है और कुछ मे स्थापना के कई वर्ष पश्चात् ही लाभ प्राप्त होना प्रारम्भ होता है। अत ऐसे उद्योगो की स्थापना के लिए सरकार को ही पूंजी लगानी पडती है। कभी-कभी सरकार निजी उद्योगपतियो को पूंजी लगाने के लिए प्रोत्साहित करती है और स्वय भी अश खरीद लेती है। उस औद्योगिक इकाई को यदि अधिक पूंजी की आवश्यकता होती है तो सरकार उधार दे देती है अथवा बैंकों मे ऋण प्राप्त करने मे गारण्टी देकर सहायता कर देती है। सरकार वित्त निगमों के अश खरीदती है तथा उन्हे उधार देती है और इस प्रकार परोक्ष रूप मे औद्योगिक इकाइयो को आकस्मिक सहायता भी दी जाती है ताकि वह अपने माल को उचित मूल्य पर बाजार मे बेच सकें। इस प्रकार सरकार अश खरीद कर, ऋण देकर, गारण्टी द्वारा, वित्त निगमो को ऋण देकर अथवा उनके अश प्राप्त कर तथा आकस्मिक सहायता (subsidies bounties) द्वारा उद्योगो को वित्त प्राप्त करने मे योग देती है।

राज्य सरकारें प्राय लघु उद्योगो को ऋण देती हैं। इन ऋणो का एक अश केन्द्रीय सरकार से प्राप्त हो जाता है। उदाहरणत, हथकरघा उद्योग के विकास एव विस्तार के लिए प्राय सम्पूर्ण सरकारी पूंजी केन्द्र से प्राप्त होती है। राज्य सरकारें उद्योगो को राजकीय सहायता अधिनियम (State Aid to Industries Act) के अन्तर्गत धन देती हैं। केन्द्रीय सरकार की भांति वे भी स्वय ऋण देने के अतिरिक्त बैंकों से प्राप्त ऋणो की गारण्टी करती हैं तथा उद्योगो *को भूमि, कच्चा माल, बिजली तथा पानी आदि सस्ती दरो पर देने की व्यवस्था करती हैं।* कभी-कभी औद्योगिक सस्थाओ के अशो अथवा ऋणपत्रो पर न्यूनतम लाभाश अथवा ब्याज की गारण्टी भी सरकार द्वारा दी जाती है। सरकार द्वारा प्राय १० से २० वर्ष की अवधि के लिए ऋण दिये जाते हैं और इन पर रियायती दर पर ब्याज लिया जाता है।

गत वर्षों मे राज्य सरकारो ने राज्य वित्त निगमो की पूंजी खरीदकर परोक्ष रूप में आर्थिक सहायता प्रदान की है और अपने क्षेत्रो मे बडे उद्योगों की भी पूंजी खरीदकर तथा ऋण देकर प्रत्यक्ष अर्थ-व्यवस्था की है।

७ देशी बैंकर और साहूकार

ग्रामीण क्षेत्रो मे छोटे और मध्यमवर्गीय कारीगर तथा कारखानो द्वारा अधिकाश ऋण साहूकार अथवा देशी बैंकर से प्राप्त किये जाते हैं। एक अनुमान के अनुसार लघु उद्योगों की ९०% पूंजी व्यक्तिगत साधनो तथा निजी ऋणो द्वारा प्राप्त की जाती है और बैंक तथा सरकार

शेष १०% की व्यवस्था करते हैं। यह तथ्य तमिलनाडु आन्ध्र, केरल, मैसूर, मध्य प्रदेश तथा महाराष्ट्र राज्यों में स्थित १६ केन्द्रों की सन् १९५७ की औद्योगिक इकाइयों के अध्ययन से प्राप्त हुए हैं। ये राज्य बैंकिंग विकास की दृष्टि से अधिक उन्नत हैं, अतः देश के अन्य राज्यों में औद्योगिक वित्त की स्थिति इनसे अच्छी होने की सम्भावना नहीं है। यह सत्य है कि रिजर्व बैंक द्वारा सचालित साख गारण्टी योजना के कारण लघु उद्योगों के लिए की गयी वित्त-व्यवस्था में व्यापारिक बैंकों का भाग एक-दो वर्षों में बढ़ गया है परन्तु उसमें आशातीत वृद्धि हुई हो ऐसा नहीं जान पड़ता। अतः साहूकारों का महत्त्व किसी प्रकार कम नहीं हुआ है।

भारत के ग्रामीण क्षेत्रों में बुनकर, कुम्हार, लुहार, चमार, तेली तथा अन्य छोटे कारीगरों के लिए अब भी साहूकार ही अधिकांश धन की व्यवस्था करता है क्योंकि इन वर्गों के पास बैंकों के दृष्टिकोण से यथेष्ट जमानत नहीं होती और वे बैंक ऋणों की असुविधाजनक क्रियाओं के अभ्यस्त नहीं हैं। वस्तुतः औद्योगिक सहकारी समितियों ने भी इन वर्गों में यथेष्ट उत्साह उत्पन्न नहीं किया है। अतः सुविधा की दृष्टि से एवं साहूकार की तत्परता के कारण ये लोग अधिक ब्याज देकर भी उससे ऋण लेना अधिक उचित समझते हैं।

श्राफ समिति के कथनानुसार मुलतानी बैंकर छोटे तथा मध्यम आकार के उद्योगों को चालू पूँजी के लिए ऋण देते हैं। इन सर्राफों द्वारा दिये गये ऋण की राशि प्रायः २० करोड़ रुपये रहती है। बम्बई सर्राफ संघ (Bombay Shroffs Association) द्वारा दिये गये वार्षिक ऋणों की राशि भी लगभग १०० करोड़ रुपये होती है परन्तु इसका अधिकांश भाग व्यापार के लिए होता है और उद्योगों के लिए दी गयी राशि के पृथक आँकड़े उपलब्ध नहीं हैं।

८. औद्योगिक सहकारी समितियाँ

प्रत्येक राज्य में लघु उद्योगों को आर्थिक सहायता देने का प्रमुख माध्यम औद्योगिक सहकारी समितियाँ हैं। प्रत्येक राज्य में स्थित खादी तथा ग्रामोद्योग संस्थान (Khadi and Village Industries Boards) विभिन्न वर्गों के कुटीर एवं लघु उद्योगों को औद्योगिक समितियों के माध्यम से ऋण एवं अनुदान देते हैं। प्रायः भवन निर्माण, यन्त्र एवं उत्पादन के अन्य साधनों के लिए तथा बिजली आदि की व्यवस्था के लिए सहकारी समितियों के सदस्य कारीगरों तथा उत्पादकों को कुल खर्च का आधा अनुदान में दे दिया जाता है और कच्चा माल खरीदने, निर्मित माल बेचने तथा अन्य आकस्मिक कार्यों के लिए समितियाँ ऋण देती हैं। सहकारी समितियाँ अब पूँजी तथा ऋणों द्वारा वित्तीय साधन उपलब्ध करती हैं और सदस्यों को सस्ती दर पर उधार दे देती हैं।

९. वित्त संस्थाएँ

भारतीय उद्योगों की सबसे बड़ी समस्या वित्त की कमी रही है। इस कमी की पूर्ति के लिए भारत सरकार तथा उद्योगपतियों ने समय समय पर अनेक संस्थाओं की स्थापना की है। इनमें से महत्त्वपूर्ण संस्थाओं की क्रियाओं का वर्णन नीचे दिया जा रहा है :

१. भारतीय औद्योगिक वित्त निगम
(INDUSTRIAL FINANCE CORPORATION OF INDIA)

इस निगम की स्थापना औद्योगिक वित्त निगम अधिनियम, १९४८ के अन्तर्गत की गयी और उसी वर्ष १ जुलाई से निगम ने अपना कार्य आरम्भ कर दिया। निगम का उद्देश्य बड़े उद्योगों के लिए मध्यम तथा दीर्घकालीन पूँजी की व्यवस्था करना है।

पूँजी—भारतीय औद्योगिक वित्त निगम की अधिकृत पूँजी १० करोड़ रुपये निश्चित की गयी है। ३० जून, १९७० को निगम की प्रदत्त पूँजी ८.३५ करोड़ रुपये थी। यह पूँजी रिजर्व बैंक अनुसूचित बैंक, बीमा कम्पनियों और सहकारी बैंकों द्वारा खरीदी गयी है।

निगम की प्रारम्भिक पूंजी (५ करोड रुपये) पर कम से कम २.२५ प्रतिशत तथा १९६२ मे निर्गमित पूंजी पर ४ प्रतिशत वार्षिक लाभांश देने की भारत सरकार द्वारा गारण्टी की गयी है।

प्रबन्ध—निगम का प्रबन्ध १२ व्यक्तियों के एक संचालक मण्डल के अधीन है। अध्यक्ष की नियुक्ति भारत सरकार द्वारा तथा शेष संचालकों की नियुक्ति निश्चित संख्या में अन्य अंशधारियों द्वारा की जाती है निगम का दैनिक कार्य संचालन एक केन्द्रीय समिति द्वारा होता है, जिसमें पाँच सदस्य हैं। इसके अतिरिक्त विभिन्न उद्योगों के सम्बन्ध में सलाह देने के लिए पांच परामर्शदात्री समितियाँ है जिनमें कुल २९ सदस्य हैं।

निगम का कार्य—भारतीय औद्योगिक वित्त निगम मुख्यत तीन प्रकार के कार्य करता है :

(i) ऋणो की गारण्टी करना, (ii) अंशो अथवा ऋणो का अभिगोपन करना, तथा (iii) ऋण देना।

(क) गारण्टी—वित्त निगम द्वारा विदेशो से उधार माल खरीदने वाली औद्योगिक इकाइयों के लिए ऋणो की गारण्टी की जाती है। ३० जून, १९७० तक निगम द्वारा कुल ४२ गारण्टियाँ दी गयी जिनकी कुल रकम लगभग २८ करोड रुपये थी।

इन गारण्टियो के अतिरिक्त विदेशो से खरीदे गये माल के भुगतान के लिए ६ प्रार्थनापत्रो पर २५ करोड रुपये से अधिक की गारण्टियाँ स्वीकृत की गयी।

(ख) अभिगोपन करना (Underwrite)—औद्योगिक इकाइयो के अंशो तथा ऋणपत्रो के अभिगोपन का कार्य १९५७-५८ मे आरम्भ किया गया। अंशो तथा ऋणपत्रो का अभिगोपन करने से पूर्व सम्बन्धित औद्योगिक इकाई की आर्थिक स्थिति, प्रबन्ध व्यवस्था तथा भविष्य की योजनाओ की पूरी जाँच की जाती है। ३० जून, १९७० तक भारतीय औद्योगिक वित्त निगम द्वारा २६ करोड रुपये के औद्योगिक अंशो तथा ऋणपत्रो का अभिगोपन किया गया।

(ग) ऋण देना—वित्त निगम का मुख्य कार्य उद्योगो को ऋण देना है। यह ऋण प्राय १५ वर्ष की अवधि के वास्ते दिये जाते हैं। एक औद्योगिक इकाई को प्रायः १ करोड रुपये से अधिक रकम उधार नही दी जा सकती परन्तु विशेष परिस्थितियो में केन्द्रीय सरकार की अनुमति लेकर अधिक राशि का ऋण दिया जा सकता है। निगम कम के कम १० लाख रुपये का एक ऋण देता है क्योंकि उससे कम मात्रा मे ऋण राज्य वित्त निगमों से प्राप्त किये जा सकते हैं।

शर्तें—ऋण स्वीकृत करने से पूर्व निगम द्वारा प्रार्थी औद्योगिक संस्था की आर्थिक स्थिति, प्रबन्ध कौशल, लाभार्जन शक्ति तथा जिस योजना के लिए ऋण की माँग की गयी है उसकी पूरी जाँच करली जाती है। ऋण रुपये अथवा विदेशी मुद्रा मे दिये जा सकते हैं तथा उनके पीछे ऋणी की स्थायी सम्पत्ति अथवा निर्मित माल धरोहर के रूप मे रखा जाता है। निगम द्वारा नयी मशीनें या भूमि खरीदने, उत्पादन क्षमता का विस्तार करने तथा नवीनीकरण के लिए ऋण देने की व्यवस्था की जाती है।

ब्याज की दर—निगम ४ मार्च, १९६५ तक देशी ऋणो पर ७.५ प्रतिशत वार्षिक ब्याज लेता था किन्तु ५ मार्च १९६५ मे (रिजर्व बैंक द्वारा १७ फरवरी, १९६५ से बैंक-दर बढाने के कारण) देशी ऋणो पर ब्याज-दर ८.५ प्रतिशत तथा विदेशी मुद्रा पर ब्याज दर ९ प्रतिशत कर दी गयी है। ऋण तथा ब्याज का भुगतान समय पर करने पर आधे प्रतिशत की छूट दी जाती है। विदेशी ऋणो पर भी ब्याज तथा छूट की दर यही है।

प्रबन्ध में भाग—निगम जिन औद्योगिक इकाइयों को ऋण देता है, यदि वह समय पर भुगतान करने मे समर्थ न हो तो निगम उनका प्रबन्ध अपने हाथ मे ले सकता है अथवा उनके संचालक मण्डल में अपना एक प्रतिनिधि नियुक्त कर सकता है।

ऋणो की प्रगति—३० जून, १९७० तक निगम द्वारा कुल १,०७८ ऋण स्वीकृत किये गये जिनकी राशि लगभग ३३७ करोड रुपये थी। इसमे से कुल ३०१ करोड रुपये की रकम ही वास्तव मे वितरित की गयी क्योकि कुछ ऋणो को स्वीकृति के पश्चात् कई कारणो से रद्द करना पडा है।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि औद्योगिक वित्त निगम एक शक्तिशाली संस्था है, जिससे भारतीय उद्योगो को पर्याप्त मात्रा मे विकास ऋण प्राप्त हो रहे हैं।

(२) **राज्य वित्त निगम**—भारतीय औद्योगिक वित्त निगम की स्थापना करते समय ही पाय यह निश्चित था कि वह देश के सभी प्रकार के उद्योगो को यथेष्ट आर्थिक सहायता नहीं दे सकेगा। सम्भवत इसीलिए इसकी कार्यवाहियो को दीर्घाकार उद्योगो तक सीमित रखा गया और इसके द्वारा केवल सार्वजनिक कम्पनियो अथवा सहकारी समितियो को ही ऋण देने की व्यवस्था की गयी। उस समय यह स्पष्ट किया गया था कि लघु उद्योगो के लिए वित्त की व्यवस्था करने के लिए राज्यो मे वित्त निगम बनाना आवश्यक होगा। तदनुसार भारतीय लोकसभा द्वारा २८ सितम्बर, १९५१ को राज्य वित्त निगम (State Financial Corporation) अधिनियम पारित किया गया जिसके अन्तर्गत देश के विभिन्न राज्यो मे १८ राज्य वित्त निगम स्थापित किये जा चुके हैं।

पूंजी—राज्य वित्त निगम अधिनियम के अनुसार, राज्य वित्त निगमो की अधिकृत पूंजी ५० लाख रुपये से ५ करोड रुपये तक हो सकती है। वर्तमान मे अधिकतर राज्य निगमो की अधिकृत पूंजी २ करोड रुपये तथा प्रदत्त पूंजी १ करोड रुपये है। केवल जम्मू-काश्मीर, तमिलनाडु तथा आन्ध्र प्रदेश मे निगमो की प्रदत्त पूंजी क्रमश ५० लाख रुपये, १ ३२ करोड रुपये तथा १ ५ करोड रुपये है।

भारत के सभी १८ राज्य वित्त निगमो की प्रदत्त पूंजी लगभग २० करोड रुपये है। इसे राज्य सरकारो, रिजर्व बैंक अनुसूचित बैंको सहकारी बैंको तथा बीमा संस्थाओं ने खरीद रखा है।

सभी राज्य निगमो की पूंजी तथा उस पर न्यूनतम लाभाश को राज्य सरकारों द्वारा गारण्टी की गयी है। यह गारण्टी ३ से ४ प्रतिशत तक है।

ऋण साधन—पूंजी के अतिरिक्त राज्य वित्त निगम ऋणपत्र निर्गमित कर अतिरिक्त धन प्राप्त कर सकते हैं। ये ऋणपत्र तथा अन्य दायित्व पूंजी तथा कोष के पाँच गुने से अधिक नहीं हो सकते। ऋणपत्रो के ब्याज तथा भुगतान की गारण्टी राज्य द्वारा दी जाती है और निर्गमन की शर्तें (ब्याज आदि) रिजर्व बैंक से स्वीकृत होना आवश्यक है।

३१ दिसम्बर, १९७० तक सभी राज्य वित्त निगमो के ऋणपत्र शेषो की राशि लगभग ७१ करोड रुपये थी।

निक्षेप—अपने साधनो मे वृद्धि करने के लिए राज्य वित्त निगम जनता से ५ वर्ष तक के निक्षेप प्राप्त कर सकते हैं परन्तु इन निक्षेपो की राशि प्रदत्त पूंजी से अधिक नहीं होनी चाहिए। अभी तक केवल आन्ध्र प्रदेश, केरल तथा तमिलनाडु निगमो ने निक्षेप प्राप्त करना आरम्भ किया है। इस मद मे निगमो के पास लगभग १३ करोड रुपये की रकम जमा है।

ऋण—राज्य वित्त निगम रिजर्व बैंक से अल्पावधि (९० दिन) अथवा माँग पर भुगतान योग्य ऋण प्राप्त कर सकते हैं। गत वर्षों मे महाराष्ट्र, उडीसा, पजाब, तमिलनाडु तथा राजस्थान वित्त निगमो द्वारा प्राय नियमित रूप से रिजर्व बैंक मे ऋण प्राप्त किये गये हैं।

कार्य—राज्य वित्त निगम निम्नलिखित कार्य कर सकते हैं -

(१) औद्योगिक संस्थाओं को दीर्घकालीन ऋण देना अथवा ऋणपत्र खरीदना।

(२) औद्योगिक संस्थाओ द्वारा २० वर्ष तक के लिए प्राप्त ऋणो की गारण्टी करना।

(३) औद्योगिक संस्थाओ द्वारा निर्गमित अश, बॉण्ड अथवा ऋणपत्रो का अभिगोपन

करना। यदि अभिगोपन के फलस्वरूप निगम को कुछ अश अथवा ऋणपत्र खरीदने पडें तो उन्हें सात वर्ष के भीतर बेच देना आवश्यक है।

राज्य वित्त निगमो का कार्य अब तक ऋण देने मात्र तक सीमित रहा है। तमिलनाडु निगम के अतिरिक्त अन्य किसी भी निगम ने अभिगोपन अथवा गारण्टी कार्य आरम्भ नही किया है और न ही किसी औद्योगिक सस्था के ऋणपत्र आदि खरीदे हैं।

राज्य निगम एक सस्था को १५,००० रुपये से १० लाख रुपये तक के ऋण दे सकते हैं और ये औद्योगिक इकाइयों के सम्पत्ति निर्माण, विस्तार अथवा नवीनीकरण तथा चालू पूँजी के लिए दिये जा सकते है।

अधिकतर राज्य निगमों द्वारा शुद्ध ब्याज ६ ५ प्रतिशत लिया जाता है अर्थात् दर ७ प्रतिशत वार्षिक निश्चित की गयी है परन्तु मूल तथा ब्याज का समय पर भुगतान करने पर आधा प्रतिशत की छूट (rebate) देने की व्यवस्था है।

राज्य वित्त निगमो द्वारा ३१ दिसम्बर, १६७० को दिये गये कुल ऋणो की शेष रकम लगभग ११८ करोड रुपये थी।

(३) भारतीय औद्योगिक साख एव विनियोग निगम (Industrial Credit and Investment Corporation of India)—सन् १६५३ के अन्त मे भारत सरकार, अमरीकी सरकार के विदेशी कार्य व्यवस्थापन विभाग (Foreign Operations Administration) तथा अन्तरराष्ट्रीय बैंक ने आपसी परामर्श द्वारा भारत मे निजी उद्योगो के विकास मे सहायता देने हेतु एक निगम बनाने का विचार किया। फलत ५ जनवरी, १६५५ से भारतीय औद्योगिक साख एव विनियोग निगम की स्थापना की गयी। निगम को भारतीय कम्पनी अधिनियम के अन्तर्गत रजिस्टर करवाया गया है।

पूँजी—निगम की अधिकृत पूँजी २५ करोड रुपये निश्चित की गयी है किन्तु इसमे से केवल ७ ५ करोड रुपये की पूँजी ही निर्गमित एव प्रदत्त है। निगम का प्रत्येक अश १०० रु० का है।

निर्गमित पूँजी में भारतीय बैंक, बीमा कम्पनियाँ तथा सचालको द्वारा, इगलैण्ड के पूँजीपतियो द्वारा, अमरीकी पूँजीपतियो द्वारा तथा भारतीय जनता द्वारा पूँजी खरीदी गयी है।

निगम के प्रारम्भ मे ही भारत सरकार ने उसे ७ ५ करोड रुपये का ऋण देने का वचन दिया जिसका भुगतान १५ वर्ष पश्चात् १५ वार्षिक किस्तो मे किये जाने की व्यवस्था की गयी। ऋण पर पहले १५ वर्ष तक कोई ब्याज न लने की सुविधा दी गयी। इसके अतिरिक्त विश्व बैंक ने भी निगम को भारत सरकार की गारण्टी पर १ करोड डालर का ऋण तत्काल देने की घोषणा की। इस प्रकार विनियोग निगम देशी तथा विश्व बैंक के सहयोग से स्थापित हुआ। इसके प्रारम्भिक साधन लगभग १७ ५ करोड रुपये के तुल्य थे।

निगम के कार्य—साख तथा विनियोग निगम के कार्य निम्नलिखित हैं

(१) उद्योगो को मध्यम अथवा दीर्घकालीन ऋण देना अथवा उनके अश खरीदना।

(२) नवीन अश एव प्रतिभूतियो का अभिगोपन करना।

(३) अन्य निजी साधनो से प्राप्त ऋणो की गारण्टी करना।

(४) उद्योगो के प्रबन्ध के लिए प्राविधिक (technical) तथा व्यवस्थात्मक सलाह एव सहायता देना।

निगम केवल निजी क्षेत्र के उद्योगो को आर्थिक सहयोग प्रदान करता है परन्तु यदि किसी औद्योगिक इकाई मे सरकार से कुछ आर्थिक सहायता मिली हो तो उसे निगम से ऋण आदि प्राप्त करने मे बाधा नही है। दूसरी महत्त्वपूर्ण बात यह है कि निगम मुख्यतया बडे उद्योगो को को आर्थिक सहायता प्रदान करता है। इसकी न्यूनतम ऋण सीमा ५ लाख रुपये है परन्तु निगम किसी भी उच्च सीमा तक ऋण दे सकता है।

ऋण भारत के किसी भी भाग मे स्थापित किसी भी औद्योगिक इकाई को दिया जा सकता है परन्तु ऋण स्वीकृत करने से पूर्व प्रार्थी कम्पनी की योजना, प्रबन्ध व्यवस्था, विक्रय आयोजन आदि क सम्बन्ध मे पूरी जांच की जाती है।

३१ दिसम्बर, १६७० को निगम द्वारा दी गयी सहायता का कुल ब्यौरा निम्नलिखित था·

(करोड रुपयो मे)

१ ऋण तथा गारण्टी		
रुपयो मे	४३	
विदेशी मुद्रा मे	१२१	१६४
२ अभिगोपन		३०
३ अशों की खरीद		७
	योग	२०१

निगम द्वारा दिये जाने वाले ऋण की ब्याज-दर, अभिगोपन तथा गारण्टी का कमीशन तथा प्राविधिक सहायता आदि के शुल्क सहायता देने के समय ही निश्चित कर लिये जाते हैं।

अभिगोपन तथा विनियोग क्षेत्र मे यद्यपि निगम का कार्य बहुत महत्त्वपूर्ण नहीं है परन्तु यह दोनो नयी दिशाएँ हैं, और निगम के कार्यकाल को देखते हुए इनमे निगम की प्रगति सर्वथा सन्तोषजनक कही जा सकती है।

(४) भारतीय औद्योगिक विकास बैंक (Industrial Development Bank of India)—गत वर्षों मे औद्योगिक विकास के लिए वित्त-व्यवस्था करने वाली जितनी सस्थाएँ स्थापित हुई हैं वह यथेष्ट शक्तिशाली होते हुए भी देश की सभी औद्योगिक आवश्यकताओं की पूर्ति करने मे समर्थ नही हैं। अत एक अत्यधिक साधन-सम्पन्न सस्था की स्थापना की गयी है, जिसका नाम औद्योगिक विकास बैंक है। इसने मई १६६४ मे कार्य आरम्भ किया था।

पूँजी और प्रबन्ध—विकास बैंक की अधिकृत पूंजी ५० करोड रुपये है किन्तु रिजर्व बैंक इसे भारत सरकार की अनुमति से १०० करोड रुपये तक बढा सकता है। बैंक की प्रदत्त पूँजी २० करोड रुपये है। भारत सरकार द्वारा बैंक को १० करोड रुपये का तात्कालिक ऋण देने की व्यवस्था है जिसका भुगतान १५ वर्ष पश्चात् आरम्भ होगा और १५ किस्तो मे चुकाया जा सकेगा। बैंक द्वारा अपने साधन बढाने के लिए जनता से निक्षेप लिये जा सकते हैं तथा ऋणपत्र बेचे जा सकते हैं।

विकास बैंक को ऋण देने के लिए रिजर्व बैंक मे एक दीर्घकालीन औद्योगिक साख कोष (National Industrial Credit Long Term Operations Fund) की स्थापना की गयी है, जिसमे रिजर्व बैंक द्वारा १० करोड रुपये तत्काल स्थानान्तरित करने तथा ५ करोड रुपये वार्षिक डालने की व्यवस्था है।

विकास बैंक की प्रबन्ध-व्यवस्था रिजर्व बैंक के अधीन है तथा रिजर्व बैंक के अध्यक्ष विकास बैंक के भी अध्यक्ष हैं। रिजर्व बैंक का केन्द्रीय सचालक मण्डल विकास बैंक के सचालक मण्डल का काय करता है।

कार्य—भारतीय विकास बैंक के कार्य निम्नलिखित हैं·

यह सब प्रकार के औद्योगिक सस्थानो जैसे निर्माण, खनन, परिवहन, होटल आदि व्यवसायों को आर्थिक सहायता प्रदान करता है। यह वित्तीय सहायता निजी तथा सरकारी, दोनों प्रकार के उद्योगो को दी जा सकती है। यह सहायता निम्न प्रकार दी जा सकती है.

(१) पुनर्वित्त व्यवस्था—भारतीय औद्योगिक वित्त निगम तथा राज्य वित्त निगमो द्वारा उद्योगो को ३ से २५ वर्ष तक की अवधि के सामने दिये गये ऋणो की विकास बैंक द्वारा पुनर्वित्त व्यवस्था की जा सकती है। बैंक यह सुविधा अन्य सस्थाओ द्वारा दिये गये ऋण के सम्बन्ध मे भी दे सकता है किन्तु ऐसा भारत सरकार के आदेश पर ही किया जा सकता है।

अनुसूचित बैंको तथा राज्य सहकारी बैंकों द्वारा ३ से १० वर्ष की अवधि के वास्ते दिये गये ऋणो को भी विकास बैंक पुनर्वित्त व्यवस्था करता है।

विभिन्न वर्गों के बैंको द्वारा ६ मास से १० वर्ष तक की अवधि के वास्ते दिये गये निर्यात ऋणो (export credit) के लिए भी विकास बैंक पुनर्वित्त व्यवस्था करता है।

विकास बैंक द्वारा पुनर्वित्त व्यवस्था का कार्य सम्हाल लेने के कारण पुनर्वित्त निगम (Refinance Corporation) का अलग संस्था के रूप में कोई महत्त्व नहीं रह गया था अतः १ सितम्बर १९६४ से पुनर्वित्त निगम को औद्योगिक विकास बैंक के साथ मिला दिया गया है।

(२) उद्योगो के लिए वित्त व्यवस्था करना—यह व्यवस्था करने के लिए विकास बैंक निम्नलिखित कार्य करता है।

(क) औद्योगिक इकाइयों के अंश ऋणपत्र आदि खरीदना (ख) उद्योगों के अंश ऋणपत्र आदि का अभिगोपन करना (ग) औद्योगिक इकाइयों का प्रत्यक्ष ऋण देना (घ) उद्योगों द्वारा प्राप्य ऋणो की गारण्टी करना (ङ) औद्योगिक बिलों की कटौती या पुनर्कटौती करना, (च) उद्योगो के विकास के लिए विक्रय एवं विनियोग सम्बन्धी शोध की व्यवस्था करना (छ) किसी औद्योगिक इकाई का प्राविधिक एवं व्यवस्थात्मक सहयोग देना (ज) नये उद्योगो की स्थापना तथा विस्तार के लिए योजना बनाना।

उद्योगो को ऋण देते समय विकास बैंक आवश्यक धरोहर की मांग करता है। अत्यधिक पूंजी की विशेष मांग करने वाली औद्योगिक इकाइयों की आर्थिक सहायता करने के लिए विकास बैंक में एक विकास सहायता कोष (Development Assistance Fund) की स्थापना करने की व्यवस्था है। यह कोष सरकारी ऋण, अनुदान अथवा अन्य प्रकार की सहायता से निर्मित किया जायगा तथा इसमें से ऋण देने के पूर्व सरकार की अनुमति लेना आवश्यक होगा।

३० जून १९७० तक औद्योगिक विकास बैंक द्वारा ३४६ करोड रुपये की आर्थिक सहायता दी गयी जिसका ब्योरा निम्नलिखित है

औद्योगिक विकास बैंक—आर्थिक सहायता

(३० जून १९७० तक)	(करोड रुपये में)
१ ऋण राशि	१०७
२ अभिगोपन	२३
३ गारण्टी (निष्पादित)	२७
४ पुनर्वित्त	१००
५ पुनर्कटौतियाँ	६१
६ निर्यातों के लिए	२८
योग	३४६

विकास बैंक एक ऐसे समय स्थापित किया गया है जबकि भारतीय उद्योगो को विकास पूँजी की अधिकाधिक आवश्यकता है अतः यह संस्था देश के औद्योगिक विकास में अधिकतम योगदान दे सकेगी ऐसी आशा है।

प्रश्न

१ भारत में औद्योगिक वित्त की कमी क्यों है? इस कमी को दूर करने के लिए कौन से प्रयत्न किये गये हैं? (आगरा, बी० ए० १९६०)

२ 'भारत के औद्योगिक वित्त निगम' पर टिप्पणी लिखिए। (आगरा, बी० ए०, १९६१)

३ भारत के 'औद्योगिक वित्त निगम' के संगठन और कृत्यों तथा कार्यवाहन का उल्लेख कीजिए। (विक्रम बी० ए० १९६०)

४ भारत में वृहद उद्योगों की वित्तीय व्यवस्था का वर्णन कीजिए। सुधार विषयक सुझाव भी दीजिए। (पटना बी० ए०, १९६१)

५ औद्योगिक वित्त निगम की प्रबन्ध व्यवस्था कार्य तथा प्रगति की समीक्षा कीजिए। (बिहार बी० ए० १९६२, राजस्थान बी० ए० (द्वितीय वर्ष) १९६२, मगध बी० ए०, १९६२, सागर बी० ए०, १९६७)

33 औद्योगिक श्रम

(INDUSTRIAL LABOUR)

श्रम शक्ति औद्योगीकरण की आधारशिला है। किसी देश का आर्थिक विकास मुख्यत दो साधनो पर निर्भर है—प्राकृतिक साधन तथा मानवीय साधन। इन दोनो मे समृद्धि का आधार श्रम ही है। ब्रिटेन जर्मनी तथा जापान का आर्थिक अभ्युदय वहा की विकसित श्रम शक्ति के कारण ही हुआ। पूजी का भी अपना अलग महत्व है परन्तु पूजी भी एक प्रकार का सचित श्रम है। मानव की प्रगति उसके अध्यवसाय का सूचकाक है। आर्थिक विकास के लिए औद्योगीकरण के लिए कुशल जागरूक तथा प्रशिक्षित श्रम शक्ति की आवश्यकता है। भारत आर्थिक उत्थान के पथ पर द्रुतगति से अग्रसर हो रहा है परन्तु यहाँ के आधुनिक औद्योगीकरण के पीछे लम्बा इतिहास नही है। प्रारम्भ से भारत कृषि प्रधान देश रहा है परन्तु किसी समय व्यापार तथा उद्योगो के क्षेत्र मे भारत की ख्याति पराकाष्ठा पर थी। कलापूर्ण एव आकर्षक वस्तुओ के उत्पादन मे हमारा एकाधिकार था।

उन्नीसवी शताब्दी के उत्तरार्द्ध मे परिस्थितियो मे परिवर्तन हुआ तथा आधुनिक औद्योगीकरण की दिशा मे प्रयत्न किये जाने लगे। शहरो मे औद्योगिक केन्द्रो की स्थापना होने लगी। देश के विभिन्न भागो से उद्योगो मे काम करने के लिए लोग आने लगे। देश मे श्रमिक वर्ग का उदय हुआ। औद्योगीकरण की प्रगति के साथ ही साथ श्रमिक वर्ग की सख्या बढती गयी।

१ भारत मे श्रम शक्ति

श्रमिक शब्द का प्रयोग विस्तृत एव सकुचित दोनो अर्थो मे किया जाता है। विस्तृत अर्थ मे सभी प्रकार के उद्योग कृषि विशाल उद्योग लघु तथा कुटीर उद्योग तथा अन्य सेवाओ मे लगी जन शक्ति को श्रमिक वर्ग की सज्ञा दी जाती है परन्तु सकुचित अर्थ मे (या प्रचलित अर्थ मे) श्रमिक वर्ग से अभिप्राय उस जनशक्ति से होता है जो सगठित उद्योगो मे लगी हुई है। इस प्रकार कुटीर उद्योगो मे लगी जन शक्ति को श्रमिक मे सम्मिलित नही करते क्योकि कुटीर उद्योग मे श्रम समस्या नही पायी जाती। अत जब हम श्रम समस्याओ का अध्ययन करते है तो हमारा अभिप्राय सगठित उद्योगो मे लगे हुए श्रमिको की समस्याओ से होता है। भारत मे औद्योगीकरण की गति मन्द रही है अत श्रम शक्ति भी धीरे धीरे बढी है। यहा पर कारखानो तथा खानो मे काम करने वालो की सख्या सन् १९०० मे ५ लाख थी। औद्योगीकरण की प्रगति के साथ ही साथ इस सख्या मे वृद्धि होती गयी। अग्रलिखित सारिणी से भारत के सगठित उद्योगो मे श्रम शक्ति की प्रगति का अनुमान लगाया जा सकता है

भारत में कारखानों में काम करने वालों की औसत दैनिक संख्या

वर्ष	श्रमिक संख्या (लाखों में)
१९५६	३४
१९६६	८०
१९७०	१०/

सन् १९६१ की जनगणना के अनुसार देश में कुल श्रमशक्ति (total labour force) लगभग १८ ८४ करोड़ थी जिनमें से कारखानों में काम करने वालों की संख्या ३३ लाख थी। इस प्रकार काम करने वालों की संख्या देश की कुल श्रमशक्ति की लगभग २ प्रतिशत है। यदि जनसेवा सम्बन्धी उद्योगों (public utilities) में लगी श्रम शक्ति को भी इसमें सम्मिलित करें तो (इस प्रकार) श्रमशक्ति की संख्या ज्ञात होगी। संगठित उद्योगों तथा जन-सेवा सम्बन्धी उद्योगों में लगी श्रम-शक्ति कुल श्रम-शक्ति का लगभग ४५ प्रतिशत है। अतः औद्योगिक श्रम के अन्तर्गत कुल श्रम-शक्ति का बहुत कम भाग आता है।

२. भारतीय श्रम सम्बन्धी कुछ तथ्य

(१) प्रति श्रमिक शुद्ध घरेलू उत्पाद (Net domestic product per worker)—भारत में प्रति श्रमिक शुद्ध घरेलू उत्पाद का ज्ञान निम्नलिखित सारिणी द्वारा होता है

विभिन्न क्षेत्रों में प्रति श्रमिक शुद्ध घरेलू उत्पाद (रुपयों में)

क्षेत्र	१९६०-६१ श्रम-संख्या (हजार में)	कुल श्रमिक संख्या का प्रतिशत	प्रति श्रमिक शुद्ध उत्पाद	
			१९६०-६१	१९६६-६७
१. कृषि	१३६९८३	७३ २	५०८	७६८
२. परिवहन, व्यापार आदि	११०८७	६ ०	१६९९	२९१२
३ अन्य सेवाएँ	१८५९८	९ ९	८६५ ०	१४७२
४. उद्योग	२०४०८	१० ८	१३२०·०	२०८३

सारिणी से स्पष्ट है कि भारत की कुल श्रम-शक्ति का १० ८% उद्योगों (खनन, बड़े पैमाने व छोटे पैमाने के निर्माणकारी उद्योग, निर्माण कार्य, विद्युत उत्पादन तथा गैस आदि) में लगा हुआ है। उद्योगों में प्रति श्रमिक उत्पादन २,०८३ रुपये है। इससे अधिक उत्पादन केवल परिवहन व व्यापार क्षेत्र में होता है।

(२) श्रमिकों की मौद्रिक व वास्तविक आय—भारत में श्रमिकों की मौद्रिक व वास्तविक आय में गत वर्षों में वृद्धि हुई है, परन्तु मूल्यों में तीव्र वृद्धि के कारण वास्तविक आय अपेक्षाकृत कम बढ़ी है जैसा कि निम्न सारिणी से स्पष्ट है

कारखानों के श्रमिकों की मौद्रिक व वास्तविक आय (१९४९-१९६७)

वर्ष	औसत वार्षिक आय (रुपयों में)	सूचकांक १९४९=१००	उपभोक्ता मूल्य सूचकांक १९४९=१००	वास्तविक मजदूरी का सूचकांक $\frac{\text{Col 2}}{\text{Col 3}} \times 100$
१९४९	९८६ ०	१००	१००	१००
१९५१	१०३६ ०	१०५	१०५	१००
१९६०	१३८५ ०	१४०	१२४	११३
१९६७	२०१७ ०	१५१	१६६	९१

कारखानों में काम करने वाले श्रमिकों की मौद्रिक मजदूरी में सन १९४९-६७ की अवधि में ५१% की वृद्धि हुई अर्थात उनकी मौद्रिक-मजदूरी दुगुने से भी अधिक हो गयी परन्तु मूल्य स्तर इन वर्षों में तेजी से ऊपर उठा। फलस्वरूप श्रमिकों को वास्तविक मजदूरी में, इस अवधि में ६ प्रतिशत कमी हो गयी है।

३ भारतीय श्रमिक की विशेषताएँ

भारतीय श्रमिक की कुछ ऐसी विशेषताएँ है जो अन्य उद्योग प्रधान देशों के श्रमिकों से भिन्न हैं। वे विशेषताएँ निम्नलिखित हैं

(१) **अशिक्षा**—अधिकांश भारतीय श्रमिक अशिक्षित होते हैं अत उन्हें अपनी समस्याओं का ज्ञान नहीं होता है। इस अशिक्षा का प्रभाव उनकी कार्यक्षमता पर भी पड़ता है। इस प्रकार एक ओर बेरोजगारी की समस्या है तो दूसरी ओर कुशल श्रमिकों का अभाव है।

(२) **अस्थायी प्रकृति**—अधिकांश श्रमिक अधिक निर्धनता के कारण शहरों में कारखानों में काम करने के लिए आते हैं और खेती के समय पुन घर चले जाते है। इस प्रकार स्थायी रूप से कारखाना में काम न करने के कारण उन्हें अपने काम के विषय म उचित जानकारी नहीं हो पाती। वे कृषि तथा उद्योगों के बीच भ्रमण किया करते है। एक सर्वेक्षण के अनुसार ४०८% श्रमिक स्थायी रूप से कारखानों में कार्य नहीं करते।

(३) **एकता का अभाव**—भारत एक विशाल देश है। देश के विभिन्न भागों में श्रमिक शहरों में जाकर काम करते है। इन श्रमिकों की भाषा, पहनावा, रीति-रिवाज, खान पान तथा रहन-सहन के ढंग में अत्यधिक भिन्नता पायी जाती है। अत भारतीय श्रमिकों में एकता का अभाव पाया जाता है।

(४) **अनुपस्थिति**—भारतीय श्रमिकों में काम पर नियमित रूप से उपस्थित न होने की प्रवृत्ति है। अनुपस्थिति के कई कारण है, जैसे—श्रमिकों का कृषि से सम्बन्ध, परिवार साथ न रहना, शादी विवाह में भाग लेना आदि। इस अनुपस्थिति के कारण उनकी आय नियमित नहीं रहती और उनकी आर्थिक स्थिति खराब रहती है तथा वे कार्यकुशलता भी प्राप्त नहीं कर पाते।

(५) **रहन-सहन का निम्न स्तर**—भारतीय श्रमिकों के रहन सहन का स्तर अत्यन्त निम्न है। इसका प्रमुख कारण उनकी आर्थिक दशा का खराब होना है।

४. भारतीय श्रमिक की कार्यक्षमता

क्या भारतीय श्रमिक कम कुशल हैं?—श्रमिक की पूर्ण कार्यक्षमता (absolute efficiency) ज्ञात करना अत्यन्त कठिन है क्योंकि कार्यक्षमता सापेक्ष (relative) होती है। भारतीय श्रमिक की कार्यक्षमता अन्य देशों के श्रमिकों की तुलना में बहुत कम मानी जाती है। सन् १९२६-२७ का प्रशुल्क मण्डल सूती वस्त्र उद्योग की जाँच के पश्चात इस निष्कर्ष पर पहुँचा था कि संयुक्त राज्य अमरीका में एक सामान्य श्रमिक एक साथ १,१२० तकुओं पर, इंगलैण्ड में ५४० से ६०० तकुओं पर तथा जापान म २४० तकुओं पर काम करता है परन्तु भारत का एक श्रमिक केवल १८० तकुओं पर काम करता है। इस तुलनात्मक अध्ययन से यह ज्ञात होता है कि भारतीय श्रमिक अन्य देशों के श्रमिक की तुलना म बहुत कम कार्यक्षम है। श्री एच० पी० मोदी (अध्यक्ष, बम्बई मिल मालिक सघ) ने श्रम आयोग के समक्ष अपने बयान में कहा था कि "जापान का एक बुनकर ६ करघों की देखभाल करता है तथा उसकी कार्यक्षमता ९५% है। चीन का बुनकर ४ करघों की देखभाल करता है तथा उसकी कार्यक्षमता ८०% है। बम्बई का एक बुनकर २ करघों की देखभाल करता है तथा उसकी कार्यक्षमता ८०% है। जापान और चीन की गणना के आधार पर बम्बई का एक बुनकर जापानी तथा चीनी श्रमिक की अपेक्षा २००% से ३००% तक अधिक मजदूरी पाता है।"

सर अलेक्जेण्डर मेकरॉबर्ट के अनुसार भारतीय श्रमिक की अपेक्षा ब्रिटेन का श्रमिक ४ गुना अधिक कार्यक्षम है। इसी प्रकार सर क्लीमेण्ट सिम्पसन के अनुसार लंकाशायर का श्रमिक भारतीय श्रमिक की अपेक्षा २ ६७ गुना कार्यक्षम है।

भारतीय श्रमिक पर्याप्त सक्षम—उपर्युक्त मतो से ऐसा प्रतीत होता है कि भारतीय श्रमिक उद्योग-प्रधान देशो के श्रमिकों की तुलना मे बहुत कम कार्यक्षम है। परन्तु ये सभी विचार एक-पक्षीय हैं। दूसरी ओर ऐसे लोग भी हैं जिनके अनुसार भारतीय श्रमिक अधिक कार्यक्षम है। श्री हेराल्ड बटलर के अनुसार भारतीय श्रमिक की कार्यक्षमता विवादग्रस्त है। कम से कम कुछ उद्योगो मे तो निर्विवाद रूप से भारतीय श्रमिक की कार्यक्षमता दूसरे देशो के श्रमिकों की कार्यक्षमता से कम नही है। अन्य देशो के श्रमिकों को अधिक सुविधाएँ मिलती हैं, अत इस तथ्य को भी ध्यान म रखना होगा। साधारण भारतीय श्रमिक के सम्बन्ध म बटलर का यह मत है कि वह यूरोपीय श्रमिकों की अपेक्षा कम कार्यक्षम है परन्तु विभिन्न उद्योगो म उसकी कार्यक्षमता अलग-अलग है। भारतीय उद्योगों में प्रति श्रमिक उत्पादन की कमी के लिए केवल श्रमिक ही उत्तरदायी नहीं है। घटिया कच्चा माल प्रबन्धकों की अकुशलता मशीनों की अव्यवस्था आदि भी इसके लिए उत्तर-दायी हैं। इसके साथ ही साथ भारतीय श्रमिक को प्राप्त सुविधा, उसके काम करने की दशाएँ तथा उसकी कम मजदूरी आदि को ध्यान म रखा जाय तो वस्तुत वह अन्य देशो के श्रमिकों की अपेक्षा अधिक काम करता है।

चाहे जो भी तर्क प्रस्तुत किया जाय यह मानना पडेगा कि भारतीय श्रमिक कम कार्यक्षम है यद्यपि इसके लिए श्रमिक स्वय अधिक उत्तरदायी नहीं है, प्रत्युत वे परिस्थितियां जिम्मेदार हैं जिनके अन्तर्गत उसे काम करना पडता है। अन्य देशो के श्रमिकों के समान सुविधा देने पर भारतीय श्रमिक कार्यक्षम सिद्ध हो सकता है।

भारतीय श्रमिकों की कम कार्यक्षमता के कारण—भारतीय श्रमिकों की कम कार्यक्षमता के कारणो का अध्ययन निम्नलिखित शीर्षकों के अन्तर्गत किया जा सकता है

(क) उद्योगो से सम्बन्धित

(१) कार्य के घण्टे, (२) मशीनो और उपकरणो की प्रकृति, (३) कच्चा माल एव शक्ति, (४) कार्य की दशाएँ, (५) मजदूरी देने की रीतियाँ, (६) रहन-सहन का निम्न स्तर।

(ख) बाह्य बातें

(१) जलवायु की दशाएँ, (२) कल्याणकारी योजनाएँ आवास एव स्वच्छता, (३) शिक्षा एव प्रशिक्षण।

(ग) अन्य बातें

(१) पैतृक गुण, (२) श्रमिकों की मनोवृत्तियाँ एव मनोधैर्य।

(क) उद्योग से सम्बन्धित कारण—इन कारणो के अन्तर्गत वे कारण आते हैं जो उद्योगों की आन्तरिक अव्यवस्थाओं से सम्बन्धित हैं। अन्य देशो की तुलना मे भारत मे काम करने के घण्टे अधिक हैं। श्रमिक को अस्वास्थ्यकर वातावरण मे काम करना पडता है, उसे कम मजदूरी प्राप्त होती है। कच्चा माल भी बहुत अच्छी श्रेणी का नहीं होता। उसे पुरानी मशीनों पर काम करना पडता है। मजदूरी देने की भी पुरानी प्रणालियाँ हैं जिससे उसे अधिक काम करने की प्रेरणा नहीं मिलती। श्रमिक की कार्यक्षमता पर इन सभी कारणो का सम्मिलित प्रभाव बहुत बुरा पडता है। जिन परिस्थितियों के अन्तर्गत भारतीय श्रमिक काम करता है, उद्योग-प्रधान देशों के श्रमिक उनकी कल्पना नहीं कर सकते।

(ख) बाह्य कारण—भारत की जलवायु गर्म है। गर्म जलवायु वाले देशो के निवासी अधिक काम नही कर सकते। उनमे आलस्य आ जाता है। बहुत कम कारखानो मे तापमान को नियन्त्रित

करने की व्यवस्था है। श्रमिक गन्दे मकानों में रहते हैं, सरकार तथा श्रम संघों द्वारा श्रम हितकारी कार्य बहुत कम किये जाते हैं, श्रमिकों के प्रशिक्षण की भी उचित व्यवस्था नहीं है, गरम जलवायु, श्रम कल्याणकारी सुविधाओं का अभाव तथा प्रशिक्षण व्यवस्थाओं का अभाव ऐसे तत्त्व हैं जिनका श्रम की कार्यक्षमता पर बहुत बुरा प्रभाव पड़ता है।

(ग) अन्य कारण—भारतीय श्रमिक निर्धनता के कारण जीवन के प्रति उदासीन दृष्टिकोण अपना लेता है। उसमें आशा, उन्नति एवं आत्मविश्वास नहीं रह जाता। वह अपने को उपेक्षित तथा शोषित महसूस करता है। चिन्ताग्रस्त तथा निराश श्रमिक से हम ऊँची कार्यक्षमता की आशा नहीं रख सकते। कुछ लोगों की ऐसी धारणा है कि जातीय गुणों के कारण भी श्रमिक की कार्यक्षमता कम है। वह अकर्मण्य वातावरण में बचपन से ही रहता है अतः अधिक परिश्रम की आशा उससे नहीं की जा सकती परन्तु यह विचार पूर्णतया सत्य नहीं है।

उपर्युक्त कारणों से स्पष्ट है कि भारतीय श्रमिक अपनी कम कार्यक्षमता के लिए स्वयं बहुत कम अंशों में उत्तरदायी है। उचित मजदूरी, काम करने की उत्तम दशाएँ तथा वातावरण, उत्तम प्रकार के कच्चे माल तथा मशीनें ऐसी चीजें हैं जिनका प्रभाव श्रमिक की कार्यक्षमता पर अवश्य पड़ता है। इनमें से किसी पर भी श्रमिक का वश नहीं चलता। यदि काम करने की दशाओं में उचित सुधार किया जाय, अनुकूल परिस्थितियों का सृजन किया जाय, श्रमिक को उचित प्रोत्साहन व प्रशिक्षण दिया जाय, उसे ऐसी परिस्थितियाँ उपलब्ध करायी जायँ जिनके अन्तर्गत विदेशी श्रमिक काम करते हैं तो कोई कारण नहीं कि भारतीय श्रमिक कार्यक्षम सिद्ध न हो। श्रम जाँच समिति (१९४६) ने भी भारतीय श्रमिक की कम कार्यक्षमता को एक रहस्य बताया है तथा यह मत व्यक्त किया है कि उचित सुविधाएँ देने पर भारतीय श्रमिक अन्य देशों के श्रमिकों की तुलना में अधिक कार्यक्षम सिद्ध हो सकता है।[1]

भारत में श्रम नीति का विकास

भारत में औद्योगीकरण सन् १८५० के पश्चात् आरम्भ हुआ। १९वीं शताब्दी के अन्त तक श्रम समस्याओं का उदय नहीं हुआ था। इसके अतिरिक्त सरकार की नीति मुक्त व्यापार (*Laissez faire*) पर आधारित थी, जिसके अनुसार आर्थिक क्रियाओं में राज्य द्वारा कम से कम हस्तक्षेप किया जाता था। १९वीं शताब्दी में श्रम सम्बन्धी जो भी नियम पारित किये गये उनका उद्देश्य श्रमिकों से उनके कर्तव्यों का पालन कराना था। इन नियमों में मजदूरों की भर्ती तथा सेवा की शर्तों पर ध्यान दिया गया। २०वीं शताब्दी के प्रारम्भ में श्रम-नीति में थोड़ा-सा परिवर्तन परिलक्षित होता है। उदाहरण के लिए सन् १९११ का 'कारखाना अधिनियम' कारखानों में व्याप्त बुरी प्रथाओं को दूर करने के लिए पारित किया गया था।

प्रथम विश्वयुद्ध के पश्चात् मूल्य स्तर में वृद्धि, राजनीतिक जागृति, रूस की क्रान्ति, श्रम संघों का विकास तथा नये नेतृत्व के कारण श्रमिकों की विचारधारा में परिवर्तन हुआ। वे अपने अधिकारों के प्रति सचेत हुए। सन् १९२९ में 'शाही श्रम आयोग' की नियुक्ति की गयी जिसने श्रम सम्बन्धी समस्याओं का अध्ययन किया तथा उनके सम्बन्ध में विस्तृत सुझाव दिये। परिवर्तित परिस्थितियों तथा इस आयोग के सुझावों के फलस्वरूप दोनों विश्वयुद्धों के बीच श्रम सम्बन्धी कई अधिनियम पास किये गये। सन् १९३७ में विभिन्न प्रान्तों में कांग्रेस मन्त्रिमण्डलों के बनने के कारण भी श्रम नीति में परिवर्तन हुआ परन्तु द्वितीय महायुद्ध के कारण श्रम सम्बन्धी प्रगतिशील नीतियों का कार्यान्वित नहीं किया जा सका। इस प्रकार स्वतन्त्रता प्राप्ति के समय तक श्रम नीति नहीं थी। उस समय तक जो नियम बनाये गये उनका उद्देश्य कारखाना प्रणाली के दोषों को दूर करना था।

---

[1] *Report of the Labour Investigation Committee, 1946*

नयी उद्योग नीति और श्रम—सन् १९४८ में औद्योगिक नीति की घोषणा की गयी। इस नीति में श्रमिकों को उद्योगों का साझीदार माना गया और लाभ में उचित हिस्सा दिलाने का आश्वासन दिया गया। योजनाकाल में उत्पादन वृद्धि का प्रमुख लक्ष्य रखा गया। इसके लिए श्रमिकों का सहयोग आवश्यक समझा गया अतः सरकार द्वारा श्रमिकों को शोषण से बचाने तथा उन्हें अधिकाधिक सुविधाएँ देने का प्रयत्न किया गया। वर्तमान युग में सरकार की श्रम-नीति का मुख्य उद्देश्य औद्योगिक प्रजातन्त्र (Industrial Democracy) की स्थापना करना है। गत वर्षों में औद्योगिक शान्ति बनाये रखने के लिए श्रम सम्बन्धों को सुधारने का प्रयत्न किया गया है। श्रमिकों के लिए न्यूनतम मजदूरी की घोषणा, समझौते तथा वैधानिक कार्यवाहियों द्वारा श्रम संघर्षों को सुलझाना, श्रमिकों द्वारा प्रबन्ध में भाग लेना, कारखानों में काम करने की उचित दशाओं की सृष्टि करना तथा ऐसा वातावरण प्रस्तुत करना जिसमें श्रमिक अपने को उद्योगों का वास्तविक साझीदार महसूस कर सकें, आदि बातें श्रम नीति के मुख्य आधार हैं। इसके साथ ही साथ श्रमिकों से यह अपेक्षा की जाती है कि वे उत्पादनशीलता तथा कार्यक्षमता में वृद्धि का प्रयत्न करें। वे ऐसी परिस्थितियाँ न उत्पन्न होने दें जिससे उद्योगों में किसी प्रकार की बाधा उपस्थित हो। इस प्रकार वर्तमान श्रम-नीति का उद्देश्य श्रमिकों के कर्तव्यों तथा उनके अधिकारों के क्षेत्र में आवश्यक कार्यवाही करना है। वर्तमान श्रम नीति का उद्देश्य श्रमिकों के कर्तव्यों तथा उनके अधिकारों के क्षेत्र में आवश्यक कार्यवाही करना है। वर्तमान श्रम-नीति के सभी तत्त्वों का अध्ययन करने के पश्चात् *हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि सरकार ऐसे वातावरण की सृष्टि करना चाहती है जिसमें* श्रम सम्बन्धी समस्याएँ खड़ी न हों तथा सरकार द्वारा कम से कम हस्तक्षेप किया जाय, जिससे श्रमिकों के हितों की रक्षा की जा सके।

श्रमनीति के उल्लेखनीय तत्त्व—भारतीय श्रमिकों की मुख्य सुविधा, काम के घण्टे तथा शोध एवं प्रशिक्षण के लिए अनेक व्यवस्थाएँ की गयी हैं। उनमें मुख्य निम्नलिखित हैं

(१) **प्रशिक्षण संस्थान**—श्रमिकों के प्रशिक्षण के लिए मार्च १९६१ में केवल १६३ संस्थान थे जिनकी संख्या दिसम्बर १९६८ में ३५६ हो गयी। प्रशिक्षण क्षमता भी ४३,००० से बढ़कर १,१४,००० वार्षिक हो गयी। चतुर्थ योजनाकाल में इस क्षमता में केवल सामान्य वृद्धि की जायगी।

(२) **शोध**—सन् १९६४ में रोजगार सम्बन्धी शोध करने की दृष्टि से एक केन्द्रीय संस्थान 'Central Institute for Research and Training in Employment Service' स्थापित किया गया। इसी वर्ष भारतीय श्रम अध्ययन संस्थान (Indian Institute of Labour Studies) स्थापित किया गया जिसमें केन्द्रीय तथा राज्य सरकारों के औद्योगिक सम्बन्धी अधिकारियों को प्रशिक्षण दिया जा रहा है।

(३) *सुविधाएँ—दिसम्बर १९७० में कर्मचारी बीमा योजना से देश के ४०० केन्द्रों में* ४० लाख परिवारों को लाभ पहुँच रहा था। श्रमिकों की चिकित्सा तथा अन्य लाभों वाली योजना पर १९६९-७० में १५० करोड़ रुपया व्यय किया गया, इसके अतिरिक्त खानों के श्रमिकों की कल्याण योजना, नियोजित प्रॉविडेण्ट फण्ड योजना से भी श्रमिकों के हितों में वृद्धि हुई है।

(४) **नियोजन केन्द्र**—दिसम्बर १९६९ में रोजगार दिलाने सम्बन्धी केन्द्रों की संख्या ४१६ तक बढ़ गयी।

प्रश्न

१. क्या भारतीय श्रम अन्य देशों के श्रम की तुलना में कम कार्यक्षम है? यदि ऐसा है तो कम कार्यक्षमता के कारणों पर प्रकाश डालिए तथा अपने सुझाव दीजिए।
(राजस्थान, बी० ए०, १९५१)

२. भारत में औद्योगिक श्रम की निम्न कार्यक्षमता के क्या कारण हैं? इस विषय पर उचित सुझाव दीजिए। (पटना, बी० ए०, १९६३)

३. वर्तमान में भारत सरकार द्वारा किये गये श्रम-कल्याण कार्यों का संक्षिप्त विवेचन कीजिए।

34 भारत में श्रम आन्दोलन

(TRADE UNION MOVEMENT IN INDIA)

"Trade Unions are those institutions which lie so near the core of our social life and progress and have proved that stability and progress can be combined"

—Sir Winston Churchill

विश्व में औद्योगिक क्रान्ति के प्रारम्भ होने के साथ ही साथ पूंजी का महत्त्व बढ़ गया, जिसके फलस्वरूप श्रमिकों को पूंजीपतियों के समक्ष पूर्ण समर्पण करना पड़ा। पूंजीपतियों ने श्रमिक वर्ग की इस निर्भरता से लाभ उठाया तथा वे श्रमिकों का शोषण करने लगे। श्रमिक पूंजीपति का मुकाबला नहीं कर सकता था अतः उसके अधिकारों की रक्षा के लिए सामूहिक प्रयत्न अनिवार्य हो गया। फलतः श्रमिकों ने संघ के महत्त्व को समझा। इस प्रकार पूंजीपतियों द्वारा शोषण की प्रतिक्रियास्वरूप श्रम संघों का उदय हुआ। कार्ल मार्क्स के यह शब्द कि 'विश्व के श्रमिको ! संगठित हो जाओ, तुम्हें अपनी जंजीर (दासता की) के अतिरिक्त कुछ नहीं खोना है" ने श्रमिकों में नयी चेतना का संचार किया।

परिभाषा—श्रम संघ श्रमिकों का वह संगठन है, जो उद्योगपतियों के शोषण से बचने तथा श्रमिक के अधिकारों व हितों की रक्षा के उद्देश्य से संगठित किया जाता है। श्रम संघों का प्रमुख कार्य श्रमिकों की काम करने की दशाओं में सुधार प्राप्त कराना है। सिडनी (Sydney) तथा वेब (Beatrice Webb) के अनुसार, 'श्रम संघ श्रमिकों का सतत् संगठन है जिसका उद्देश्य काम की दशाओं को बनाये रखना तथा सुधारना होता है।" वी० वी० गिरि के शब्दों में, "श्रम संगठन श्रमिकों के आर्थिक हितों की रक्षा तथा सुधार हेतु बनाये जाते हैं।" इस प्रकार श्रम संघों का संगठन श्रमिकों के हितों की रक्षा के उद्देश्य से किया जाता है और यह संस्थाएँ श्रमिकों की अवस्था में सुधार लाने के लिए सदैव प्रयत्नशील रहती हैं।

श्रम संघ के उद्देश्य तथा कार्य—श्रम संघ का प्रमुख उद्देश्य श्रमिकों के हितों की रक्षा करना है। श्रम उत्पादन का एक आवश्यक परन्तु निर्बल साधन है। व्यक्तिगत रूप से श्रमिक अपने हितों की रक्षा नहीं कर सकता परन्तु सामूहिक रूप से वह उद्योगपति से सौदेबाजी कर सकता है, अतः श्रम संघों का उद्देश्य श्रमिकों में एकता स्थापित करना है। उद्योगपति सभी श्रमिकों को एक साथ नहीं निकाल सकता क्योंकि संगठन में शक्ति निहित है। इस एकता के द्वारा श्रम संघ श्रमिकों के काम करने तथा रहने की दशाओं में सुधार कर सकते हैं। काम करने के घण्टों में कमी, कारखानों के अन्दर काम करने का उचित वातावरण, नौकरी की दशाओं में सुधार तथा उचित मजदूरी की प्राप्ति श्रम संघों के प्रयत्न से हो सकती है। श्रम संघ श्रमिकों का उचित मार्ग-दर्शन

करते हैं तथा उनमे सहकारिता की भावना का उदय होता है। सघ द्वारा श्रमिकों के सामाजिक तथा नैतिक जीवन का विकास होता है। सघर्ष के समय श्रम सघ उद्योगपतियो से समस्या का समाधान कराने का प्रयत्न करते हैं। श्रम सघो का उद्देश्य श्रमिको मे एकता स्थापित करना तथा उनके जीवन-स्तर को उठाना है।

श्रम सघो के कार्यों को मूल रूप से तीन श्रेणियों मे विभक्त किया जा सकता है

(१) आन्तरिक या सघर्ष सम्बन्धी कार्य—इसके अन्तर्गत श्रम सघो के वे कार्य आते हैं, जिनका सम्बन्ध कार्य करने की दशाओ से है जैसे कारखाने के अन्दर उचित वातावरण की मांग, श्रमिकों को उचित मजदूरी दिलाना, काम करने के उचित घण्टे तथा छुट्टी की मांग करना और प्रबन्ध मे श्रमिकों को भाग दिलाना। इन उद्देश्यो की पूर्ति के लिए श्रम सघ उद्योगपतियो से आवश्यक समझौता करने का प्रयत्न करते हैं और उनकी पूर्ति न होने पर वे हडताल का सहारा लेते हैं।

(२) बाह्य या श्रम कल्याणकारी कार्य—इसके अन्तर्गत श्रम सघो के वे कल्याणकारी तथा रचनात्मक कार्य सम्मिलित हैं जो कारखाने के बाहर किये जाते हैं। श्रम सघ श्रमिकों की आर्थिक तथा सामाजिक दशा को सुधारने का प्रयत्न करते हैं। दुर्घटना, बीमारी या अन्य सकट के समय यह सघ अपने सदस्यो की आर्थिक सहायता करते हैं। श्रमिको मे एकता, अनुशासन व आत्मविश्वास की भावना भरना तथा बच्चों की शिक्षा, श्रमिको की शिक्षा, मनोरजन, आराम व चिकित्सा की व्यवस्था करना भी आजकल के श्रम सघो का महत्त्वपूर्ण कार्य हो गया है। इन रचनात्मक कार्यों का ध्वसात्मक कार्यों से कही अधिक महत्त्व है। कार्ल मार्क्स ने श्रमिको के ध्वसात्मक कार्यों को ही अधिक महत्त्व दिया था।

(३) राजनीतिक कार्य—श्रमिकों मे स्वतन्त्रता, आत्मविश्वास तथा अपने अधिकारो के प्रति जागरूकता पैदा करना भी श्रम सघों का कार्य है। इस प्रकार श्रम सघ लोकतन्त्र की भावना के प्रेरणा-स्रोत हैं। ब्रिटेन मे श्रम सघ राजनीतिक शक्ति के जन्मदाता हैं। वहाँ का श्रम दल (Labour Party) श्रम सघों की राजनीतिक चेतना का प्रतीक है। जनतन्त्रात्मक आधार पर श्रमिक दल ने कई बार चुनाव जीता है तथा अपनी सरकार बनायी है। अन्य देशों मे भी श्रम सघ ससद मे अपने सदस्य भेजते हैं जो उनके हितो की रक्षा करते हैं। इस सम्बन्ध मे उल्लेखनीय बात यह है कि राजनीतिक कार्य देश के सविधान के अनुसार शान्तिपूर्ण ढग से किये जाते हैं। कार्ल मार्क्स ने इन तरीकों का बहिष्कार किया है। वह विध्वसात्मक रीतियो द्वारा ही राजनीतिक सत्ता हथियाने को महत्त्व देते हैं। परन्तु प्रजातन्त्रात्मक देशो म इस विचारधारा को अवाछनीय समझा जाता है।

भारत में श्रम सघो का विकास—भारत मे श्रम सघ आन्दोलन के इतिहास को निम्नलिखित कालो मे विभाजित किया जा सकता है.

(१) श्रम सघो का आरम्भ (सन् १८७५ से १६०० तक),
(२) श्रम सघों का मन्द विकास (सन् १६०० से १६१८ तक),
(३) श्रम सघो की प्रगति का युग (सन १६१८ से १६४७ तक),
(४) वर्तमान काल (सन् १६४७ से वर्तमान समय तक)।

(१) श्रम सघों का आरम्भ (सन् १८७५ से १६०० तक)—भारत मे अन्य देशो की ही भाँति श्रम सघो का प्रारम्भ औद्योगीकरण के कारण हुआ। सन् १८५० १८६० की अवधि मे भारत मे आधुनिक उद्योगो का प्रारम्भ किया गया। कुटीर उद्योग-धन्धो का पतन आरम्भ हो गया। कारखाना प्रणाली ने कई प्रकार की बुराइयो को जन्म दिया। बच्चो तथा स्त्रियो को कम मजदूरी देकर काम लेना प्रारम्भ किया गया। १८७० के पश्चात् श्रमिक इन बुराइयो के प्रति जागरूक हुए।

सन् १८७५ मे श्री सोराबजी सापुरजी बगाली ने श्रमिकों की हीनावस्था की ओर सरकार का ध्यान आकर्षित कराया। उसी वर्ष बम्बई फैक्टरी कमीशन नियुक्त किया गया। सन् १८८१ में कारखाना अधिनियम पास हुआ। १८८४ मे द्वितीय बम्बई कारखाना आयोग नियुक्त किया गया। इन घटनाओं के कारण जनता का ध्यान श्रम समस्याओं की ओर आकर्षित हुआ। १८८४ में श्री नारायण मेघाजी लोखण्डे ने बम्बई के श्रमिकों का एक सम्मेलन किया तथा बम्बई कारखाना आयोग का ध्यान श्रम समस्याओं की ओर आकृष्ट किया। इस सम्मेलन ने सरकार के समक्ष श्रमिकों की कुछ माँगे रखीं। सन् १८९० में लोखण्डे के नेतृत्व में मजदूरों की पुन सभा हुई तथा १७ हजार श्रमिकों के हस्ताक्षर द्वारा सरकार के समक्ष उनकी माँगें रखी गयी। उसी वर्ष लोखण्डे ने भारत के प्रथम श्रम संघ—**'बॉम्बे मिल हैण्ड्स एसोसिएशन'** (Bombay Mill Hands Association) की स्थापना की। इस श्रम संघ का अनुकरण देश के दूसरे भागों में भी किया गया तथा कुछ श्रम संघों की स्थापना की गयी। सन १८९७ मे Amalgamated Society of Railway Servants of India and Burma की स्थापना की गयी। यह संघ रचनात्मक कार्यों में विश्वास नहीं रखता था।

इस प्रकार १९वीं शताब्दी के अन्तिम चरण मे भारत मे श्रम संघों का जन्म तथा आरम्भिक विकास हुआ। इस अवधि के श्रम संघों का संगठन ढीला था। यहाँ तक कि लोखण्डे द्वारा संगठित संगठन का भी कोई निश्चित विधान नहीं था।

(२) श्रम संघों के मन्द विकास का काल (सन् १९०० से १९१८ तक)—२०वीं शताब्दी का प्रारम्भ श्रम संगठनों के लिए उपयुक्त सिद्ध हुआ। सन् १९०५ में स्वदेशी आन्दोलन प्रारम्भ हुआ। इससे श्रमिकों में राजनीतिक चेतना आयी। उन्होंने देश के विभिन्न केन्द्रों मे श्रम संघों की स्थापना की। जैसे सन् १९०३ में प्रेण्टर्स यूनियन, कलकत्ता, सन् १९०७ मे बॉम्बे पोस्टल यूनियन; सन् १९०९ में कामगर हितवर्द्धक सभा तथा सन् १९१० में सोशल सर्विस लीग की स्थापना की गयी। इन श्रम संघों के अतिरिक्त इण्डियन लेबर यूनियन, सीमैन (sea men) यूनियन आदि का नाम उल्लेखनीय है।

प्रथम विश्वयुद्ध के समय कीमतों में वृद्धि हुई। उद्योगपतियों ने काफी लाभ कमाया परन्तु मजदूरी में बहुत कम वृद्धि की गयी। श्रमिकों में असन्तोष की भावना फैलो गयी। सन् १९१७ में रूस की राज्यक्रान्ति ने श्रमिकों में जागरूकता उत्पन्न कर दी और उनमें संगठन की भावना को बल मिला। राजनीतिक दलों द्वारा भी श्रम संघों को प्रोत्साहन दिया गया। इस प्रकार प्रथम विश्व-युद्ध ने श्रम संघों के विकास के लिए वातावरण तैयार किया परन्तु प्रथम विश्वयुद्ध तक श्रम संघों ने वैधानिक तरीकों पर ही ध्यान दिया। इस समय के श्रम-संगठन श्रमिकों के नहीं बल्कि श्रम नताओं के थे। श्रम नेता समाज-सुधारक भी थे जो श्रम कल्याण कार्यों द्वारा श्रमिकों की अवस्था में सुधार लाना चाहते थे।

(३) श्रम संघों की प्रगति का युग (सन् १९१८ से १९४७ तक)—वस्तुत आधुनिक रूप में श्रम संघों का विकास प्रथम महायुद्ध के पश्चात् ही हुआ। सन् १९१८ मे वाडिया ने तमिलनाडु के सूती वस्त्र मिल-मजदूरों की सहायता से तमिलनाडु श्रम संघ की स्थापना की। बड़ी संख्या में उत्साह के साथ श्रमिकों ने इस श्रम संघ का स्वागत किया। एक वर्ष में ही उसकी सदस्य-संख्या २० हजार हो गयी। सूती मिलों में काम करने वाला कोई भी श्रमिक इस श्रम संघ की सदस्यता से वंचित नहीं रहा। वस्तुत भारतीय श्रम-संघ आन्दोलन का यह प्रथम सफल प्रयास था। सन् १९२० में देश के श्रम संघों ने मिलकर All India Trade Union Congress की स्थापना की। इस श्रम संघ ने अन्य संघों का मार्ग दर्शन किया। सन् १९२२ में श्रमिक समिति की स्थापना की गयी। उसी वर्ष ऑल इण्डिया रेलवेमेन फेडरेशन तथा ऑल इण्डिया पोस्ट एण्ड टेलीग्राफ यूनियन की स्थापना की गयी। सन् १९२० में भारत में १२५ श्रम संघ थे जिनकी सदस्य संख्या २.५ लाख थी।

श्रम सगठन की कठिनाइयाँ—इस प्रकार सन् १६२० तक श्रम सघो की नीव अच्छी प्रकार से पड चुकी थी। उस समय के श्रम सगठन हडताल मे अधिक विश्वास रखते थे। श्रम सघो को कोई वैधानिक सरक्षण भी प्राप्त नही था। उद्योगपतियो ने श्रम सघो के मार्ग मे बाधाएँ उपस्थित की। श्रमिको को काम से निकाला गया। अहमदाबाद के 'मिल मजदूर सघ' ने तो एक कोष की स्थापना भी की जिसमे से श्रमिको को क्षतिपूरक सहायता (Victimization Benefit) भी दी जाती थी। मजदूर नेता मजदूरो के घरो मे जाकर चन्दा वसूल नही कर सकते थे। इस प्रकार अनेक तरीको द्वारा श्रम सघो को विघटित करने का प्रयत्न किया गया। उद्योगपति ब्लैक लिस्ट भी तैयार करते थे जिसे सभी औद्योगिक सस्थानो मे भेजा जाता था। सन् १६२१ मे तमिलनाडु न्यायालय ने वाडिया द्वारा स्थापित श्रम सघ को अवैध घोषित कर दिया। इन कठिनाइयो के होते हुए भी श्रम सघ आन्दोलन उन्नति करता गया। सन् १६२१ मे श्री एन० एम० जोशी ने लेजिस्लेटिव असेम्बली मे श्रम सघो के वैधानिक सरक्षण के लिए आवाज उठायी। उन्होने एक ट्रेड यूनियन बिल भी प्रस्तुत किया परन्तु उन्हे सफलता नही मिली। फिर भी श्रमिको का सघर्ष जारी रहा, फलस्वरूप **सन् १६२६ में श्रमिक सघ अधिनियम पास किया गया** जिससे भारतीय श्रम सघ आन्दोलन के इतिहास मे एक नये अध्याय का आरम्भ हुआ।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि भारत मे सन् १६२६ मे श्रम सघो के अस्तित्व को वैधानिकता प्रदान की गयी। सन् १६२६ तक जिन घटनाओ या कारणो से श्रम सघ आन्दोलन को बल प्राप्त हुआ वे निम्नलिखित थे,

(१) प्रथम विश्वयुद्ध के कारण जीवन निर्वाह व्यय मे वृद्धि।

(२) उद्योगो के लाभ मे आशातीत वृद्धि तथा श्रमिको द्वारा यह महसूस करना कि उद्योगपति उनका शोषण कर रहे हैं।

(३) अन्तरराष्ट्रीय श्रम-सगठन की स्थापना तथा भारत का इससे सम्बन्ध।

(४) सन् १६२१ के असहयोग आन्दोलन आदि के कारण श्रमिको मे राजनीतिक चेतना का आना।

(५) युद्ध तथा रूस की राज्यक्रान्ति के कारण सामाजिक, आर्थिक तथा राजनीतिक विचारधाराओ म परिवर्तन।

श्रम सघ अधिनियम, १६२६—इस अधिनियम द्वारा श्रम सघो को वैधानिक मान्यता प्रदान की गयी। रजिस्टर्ड श्रम सघो को सुविधाएँ तथा अधिकार प्रदान किये गये। रजिस्ट्रेशन ऐच्छिक था परन्तु अधिकारो के कारण सभी श्रम सघो ने अपना रजिस्ट्रेशन कराया। श्रम सघ अपने कोष का उपयोग राजनीतिक कार्यो के लिए नही कर सकते थे। प्रत्येक श्रम सघ को अपने नाम तथा उद्देश्यो की घोषणा करनी पडती थी। उनके खाते आदि की वार्षिक जाँच कराने की व्यवस्था की गयी थी। श्रम सघो पर उसके कार्यो के लिए मुकदमा नही चलाया जा सकता था।

सगठन और फूट—इस कानून के द्वारा श्रम सघो को काफी बल मिला। अधिनियम द्वारा श्रम सघो को उत्तरदायित्व तथा अधिकार दोनो प्रदान किये गये। सन् १६२८ के पश्चात् आर्थिक मन्दी प्रारम्भ हुई। मजदूरी की दरो मे कमी की गयी। फलस्वरूप श्रम सघो ने हडताल का रास्ता अपनाया। सन् १६२८ से ही वामपन्थियो ने श्रम सघो पर अधिकार कर लिया। उस समय श्रम सघ आन्दोलन उन्नति की चरम सीमा पर था। वामपन्थियो की नीतियो का समर्थन न करने वालो ने एन० एम० जोशी की अध्यक्षता म अलग से 'ऑल इण्डिया ट्रेड यूनियन फेडरेशन' की स्थापना की। इस प्रकार श्रम सघ दो वर्गो मे विभाजित हो गये। एक वर्ग का नेतृत्व उदारवादियो तथा दूसरे वर्ग का नेतृत्व उग्रपन्थी वामपन्थियो के हाथो मे चला गया। नेताओ की इस पारस्परिक फूट के कारण श्रम सघ आन्दोलन की प्रगति मे बाधा आयी। सरकार ने भी उग्रवादियो को दबाने का प्रयत्न किया जिसका परिणाम कानपुर तथा मेरठ षड्यन्त्र मुकदमा था।

इससे श्रम सघो की काफी बदनामी हुई। सन् १९३३ मे 'नेशनल ट्रेड यूनियन फेडरेशन' की स्थापना की गयी, जिसमे वामपन्थियो के अतिरिक्त सभी श्रम सघ सम्मिलित हो गये। इस प्रकार सन् १९२४-३४ की अवधि मे कम्युनिस्टो का प्रभाव श्रम सघो पर सर्वाधिक रहा। सम्भवत इसीलिए सन् १९२४-३४ की अवधि को 'वामपन्थी श्रम सघवाद' (Left Wing Trade Unionism) की सज्ञा दी गयी है।

सन १९३५ से श्रम सघ आन्दोलन मे पुन एकता लाने का प्रयत्न किया गया किन्तु इन प्रयत्नो को सफलता का बहुत अवसर नहीं मिला क्योंकि सन १९३९ मे द्वितीय विश्वयुद्ध प्रारम्भ हो गया। युद्ध मे सहयोग देने के प्रश्न पर श्रम नेताओ म पुन मतभेद उत्पन्न हो गया। द्वितीय विश्व-युद्ध काल मे श्रम सघो को उन्नति करने का अच्छा अवसर प्राप्त हुआ। युद्धकाल मे कीमतो की वृद्धि, ऊँची दर पर लाभ, मजदूरी मे कम आनुपातिक वृद्धि आदि समस्याएँ उत्पन्न हो गयी। श्रमिको ने ऊँची दर पर मजदूरी प्राप्त करने के लिए न्यायालयो की शरण ली तथा वहाँ से असफल होने पर हड़ताल का मार्ग अपनाया। युद्ध के पश्चात् वामपन्थियो का प्रभाव पुन थ ा, श्रम की माँग मे कमी हुई तथा देश के विभिन्न भागो मे हड़तालें की गयी।

(४) वर्तमान काल (सन् १९४७ से वर्तमान समय तक)—स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् श्रम सघो मे राजनीति का अत्यधिक प्रभुत्व हो गया। विभिन्न राजनीतिक दलो ने श्रम सघो पर अधिकार प्राप्त करने का प्रयत्न किया। सन १९४७ मे अखिल भारतीय काग्रेस पार्टी ने 'इण्डियन नेशनल ट्रेड यूनियन काग्रेस' (INTUC) की स्थापना की। यह श्रम सघ भारतीय श्रमिको की प्रतिनिधि सस्था माना गया। अन्य राजनीतिक दलो ने भी श्रम सघो पर प्रभुत्व जमाना चाहा। प्रजा सोशलिस्ट पार्टी ने सन् १९४८ मे 'हिन्द मजदूर सभा' (HMS) की स्थापना की तथा सन् १९४९ मे के० टी० शाह के नतृ व मे 'यूनाइटेड ट्रेड यूनियन काग्रेस' (UTU.C) सगठित की गयी।

कम्यूनिस्ट पार्टी का प्रभाव अब भी श्रम सघो पर पर्याप्त था अत उन्होंने 'आल इण्डिया ट्रेड यूनियन काग्रेस' (AITUC) को सगठित किया। इस प्रकार देश म चार प्रमुख केन्द्रीय श्रम सघ बन गय, जो अलग-अलग राजनीतिक दलो के प्रभाव क्षेत्र मे कार्य करने लगे। सन् १९४७ म ही भारतीय श्रम सघ अधिनियम मे सशोधन किया गया। इस विधान द्वारा प्रतिनिधि श्रम सघो को उद्योगपतियो द्वारा मान्यता देना अनिवार्य कर दिया गया। इसके पश्चात् स्वतन्त्र भारत म श्रम सघो का विकास द्रुतगति स होन लगा। श्रम सघ अधिनियम मे सन् १९६४ मे सशोधन किया गया, जिसे अप्रैल १९६५ से लागू किया गया। इस सशोधन के अनुसार (i) श्रमिक सघ अपना रिटर्न कैलण्डर-वर्ष के आधार पर देंगे, तथा (ii) नैतिक अपराध के कारण दण्डित व्यक्ति सघ क अधिकारी नहीं बन सकेंगे। गत कुछ वर्षों मे श्रम सघों की सदस्य सख्या मे सराहनीय वृद्धि हुई है। सन् १९४७ ४८ म कुल २,७६६ श्रम सघ रजिस्टर्ड थे, जिसमे से १,६२० श्रम-सघो ने अपनी प्रगति के सम्बन्ध मे सूचनाएँ दी। इन सूचनाओ क अनुसार श्रम-सघो की सदस्य सख्या १६ ६७ लाख थी। गत वर्षों मे श्रमिक सघो की प्रगति का अनुमान निम्नलिखित तथ्यो से लगता है

रजिस्टर्ड श्रम सघ तथा सदस्यता[1]

विवरण	केन्द्रीय सघ		राज्य सघ	
	१९५५-५६	१९६७	१९५५-५६	१९६७
रजिस्टर्ड श्रम सघो की सख्या	१७४	४५१	७ ९२१	१३,८६७
सूचना दने वाले श्रम सघो की सख्या	१०५	९६	३,९०१	१,९४१
सूचना दने वाले श्रम सघो की सदस्य सख्या (हजारों मे)	२१३	३०४	२,०९२	१,०८५

[1] इण्डिया, १९७०।

चारों प्रमुख अखिल भारतीय श्रम संघों से सम्बन्धित (affiliated) श्रम संघों की संख्या तथा उनकी सदस्य संख्या का ज्ञान निम्न सारिणी में प्राप्त होता है

अखिल भारतीय श्रम संगठनों की सदस्यता

(लाखों में)

नाम	सम्बद्ध संघों की संख्या		सदस्य-संख्या	
	१९५८	१९६६	१९५८	१९६६
I N T U C	७२७	१,३०५	९१०	१४·१७
A I T U C	८०७	८०८	५ ३८	४ ३४
H M S	१५१	२५८	१ ९३	४ ३७
U T U C	१८२	१७०	० ८२	० ९३
योग	१,८६७	२,५४१	१७ २३	२३ ८१

उपर्युक्त सारिणी से स्पष्ट है कि स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् श्रम संघों ने बहुत उन्नति की है। इस तीव्र गति से उन्नति के कई कारण हैं :

(१) मूल्य स्तर में बराबर वृद्धि के कारण, जीवन-निर्वाह व्यय में वृद्धि होती रही है परन्तु देश में मजदूरी में अपेक्षाकृत बहुत कम वृद्धि हुई है। चोरबाजारी व भ्रष्टाचार में काफी वृद्धि हुई। ऐसी अवस्था में श्रमिकों में वर्ग भावना (class-consciousness) का उदय हुआ। उन्होंने यह अनुभव किया कि शक्तिशाली श्रम संघों में ही उनका उद्धार निहित है।

(२) राजनीतिक दलों में श्रम संघों पर प्रभुत्व जमाने के लिए होड़ लग गयी।

(३) केन्द्रीय तथा राज्य सरकारों ने परिवर्तित परिस्थितियों में श्रम को महत्वपूर्ण स्थान दिया। विधान द्वारा श्रमिकों के हितों तथा अधिकारों की रक्षा की गयी जिससे श्रम संघों का महत्व बढ़ गया।

भारतीय श्रम संघ आन्दोलन के इस सिंहावलोकन से स्पष्ट है कि श्रम संघों का विकास वास्तविक रूप में सन् १९१८ के पश्चात् प्रारम्भ हुआ तथा द्वितीय विश्वयुद्ध के पश्चात् उनकी बहुत उन्नति हुई। फिर भी अन्य देशों की तुलना में भारतीय श्रम संघ बहुत निर्बल है।

३ श्रम संघ आन्दोलन की समस्याएँ तथा दोष

भारत में श्रम संघों का विकास अन्य देशों की तुलना में बहुत कम हो पाया है। रचनात्मक कार्यों में तो भारतीय श्रम संघ बहुत पीछे हैं। श्रम संघों के इस पिछड़ेपन के कारण ही भारतीय श्रम संगठन दुर्बल है। संक्षेप में, भारत में श्रम संघों के मार्ग में निम्नलिखित बाधाएँ, दोष या समस्याएँ हैं :

(१) **श्रमिकों की अस्थायी प्रकृति**—भारतीय श्रमिक अधिकांशतः शहरों में काम करने के लिए गाँवों से आते हैं। उनका वास्तविक सम्बन्ध कृषि से होता है। साधारणतया परिवार के अन्य सदस्य गाँवों में ही रहते हैं। अतः श्रमिक शहरों में अस्थायी रूप से रहते हैं। स्थायी रूप से काम पर न रहने के कारण वे श्रम संघों के कार्यों में रुचि नहीं लेते। अतः औद्योगिक श्रमिकों का प्रवासी स्वभाव श्रम संघों के विकास में सदैव बाधक रहा है।

(२) **श्रमिकों की निर्धनता**—भारतीय श्रमिक की मजदूरी बहुत ही कम है। कम मजदूरी, दरिद्रता तथा ऋणग्रस्तता के कारण श्रमिक श्रम संघों को चन्दा नहीं दे पाते। अतः श्रम संघों को अपने कार्यों तथा विकास के लिए पर्याप्त धन नहीं मिल पाता। बहुत से श्रमिक चन्दे के कारण श्रम संघों के सदस्य नहीं बनते और यदि सदस्य बनते भी हैं तो नियमित रूप से चन्दा नहीं देते। इसके सम्बन्ध में राबर्ट्स ने कहा है, "भारत में बहुत से संघों के पास कोई कोष नहीं है तथा बहुत से सदस्य चन्दा नहीं देते।"

(३) **श्रमिकों की अज्ञानता तथा अशिक्षा**—अधिकांश भारतीय श्रमिक अशिक्षित हैं। वे श्रम संघों के उद्देश्य तथा महत्त्व को नहीं समझते। उन्हें अपने अधिकारों तथा कर्तव्यों का भी ज्ञान नहीं होता। अतः वे श्रम संघों के कार्यों में यथोचित भाग नहीं लेते।

(४) **श्रमिकों में वर्ग भेद**—भारत एक विशाल देश है। औद्योगिक क्षेत्रों में विभिन्न प्रान्तों, जातियों तथा वर्गों के श्रमिक पाये जाते हैं। श्रमिकों के सामाजिक रीति-रिवाज तथा रहन-सहन में विभिन्नता होने के कारण उनमें एकता नहीं हो पाती। एकता के अभाव में श्रम संघों का विकास नहीं हो पाता।

(५) **काम करने की दशाएँ**—भारत में काम करने के घण्टे अधिक हैं तथा अवकाश आदि की पर्याप्त सुविधाएँ नहीं हैं। कारखानों में कार्य के पश्चात् श्रमिक आराम करने की सोचता है। उसे श्रम संघ के बारे में सोचने का अवसर नहीं मिलता।

(६) **दोषपूर्ण भर्ती प्रणाली**—औद्योगिक केन्द्रों में श्रमिकों की भर्ती मध्यस्थों द्वारा की जाती है। यह मध्यस्थ श्रमिकों का शोषण करते हैं तथा श्रम संघों के विकास में बाधा उपस्थित करते हैं क्योंकि श्रम संघों के विकसित होने पर वे श्रमिकों का शोषण नहीं कर सकते।

(७) **श्रम संघों के निजी दोष**—भारतीय श्रम संघ रचनात्मक कार्यों की ओर बहुत कम ध्यान देते हैं। उनकी प्रवृत्ति विध्वंसात्मक रही है। उनका मुख्य उद्देश्य हड़ताल संगठित करना ही रहा है। वे अपने अधिकारों के प्रति अधिक जागरूक रहते हैं तथा कर्तव्यों पर ध्यान नहीं देते। श्रम संघों में एकता का भी अभाव है। एक ही उद्योग में छोटे-छोटे कई श्रम संघ पाये जाते हैं। ये श्रम संघ आपस में प्रतिस्पर्द्धा तथा द्वेष रखते हैं इसलिए इनमें एकता नहीं आ पाती तथा यह अपने कार्यों में असफल रहते हैं।

(८) **बाहरी नेतृत्व तथा राजनीतिक प्रभाव**—भारतीय श्रम संघों का नेतृत्व ऐसे व्यक्तियों के हाथों में है जो स्वयं श्रमिक नहीं हैं। इनका नेतृत्व प्रायः राजनीतिक नेताओं के हाथ में होता है जो श्रमिकों के हितों के लिए नहीं बल्कि अपने स्वार्थों के लिए कार्य करते हैं। उन्हें श्रम समस्याओं का वास्तविक ज्ञान नहीं होता। अतः श्रम संघों को उचित निर्देशन तथा पथप्रदर्शन नहीं मिल पाता। दूसरे श्रम संघों पर राजनीतिक दलों का व्यापक प्रभाव रहता है जिनमें नीति सम्बन्धी मौलिक मतभेद हैं। अखिल भारतीय स्तर पर आज चार प्रमुख श्रम संघ हैं उन पर विभिन्न राजनीतिक पार्टियों का आधिपत्य है। अतः श्रम संघों के सिद्धान्तों तथा कार्यों में एकरूपता नहीं आ पाती।

(९) **उद्योगपतियों द्वारा विरोध**—भारतीय उद्योगपतियों ने भी श्रम संघ आन्दोलन का सदा विरोध किया है। श्रम संघों को सहयोग देने के स्थान पर वे उनका विरोध करते हैं। श्रम संघों को तोड़ने के लिए वे अनुचित प्रयत्न करते हैं तथा श्रम संघों की कार्यवाहियों में बाधा डालने का प्रयत्न करते हैं। निर्धनता के कारण भारतीय श्रमिक कार्यकर्ताओं को प्रलोभन देकर तोड़ लेना एक साधारण-सी बात है।

४ श्रम संघों की उन्नति के लिए सुझाव

उपर्युक्त दोषों के कारण भारतीय श्रम संघ आन्दोलन अपेक्षित उन्नति नहीं कर सका है। किसी भी देश में उन्नतिशील श्रम संघों का पाया जाना औद्योगिक विकास के लिए आवश्यक है। इनसे श्रमिकों के हितों की भी रक्षा होती है। श्रम संघ समाजवादी प्रजातन्त्र की आधारशिला हैं। पिछड़े हुए देशों में जहाँ प्रजातान्त्रिक प्रणाली है वहाँ श्रम संघों को दो कारणों से शक्तिशाली बनाना आवश्यक है, "वे सामूहिक सौदेबाजी के लिए आवश्यक हैं जिससे श्रमिकों के अधिकारों की रक्षा होगी और राजनीतिक प्रजातन्त्र को स्थायित्व देने के लिए भी उनकी आवश्यकता पड़ती है।" भारत में श्रम संघों के विकास तथा उनके दोषों को दूर करने के लिए अग्रलिखित बातों पर विशेष ध्यान देने की आवश्यकता है

(१) श्रमिकों में शिक्षा का प्रचार—श्रमिकों में शिक्षा का प्रचार होना चाहिए। अपने अधिकारों तथा कर्तव्यों का ज्ञान शिक्षित श्रमिक को सरलता से हो सकता है। मानसिक विकास होने पर श्रमिक अपने संघों के प्रति उदासीन नहीं रहेंगे।

(२) योग्य नेतृत्व—श्रम संघों को उचित नेतृत्व प्रदान करना भी आवश्यक है अतः श्रम संघों का नेतृत्व श्रमिक वर्ग के हाथों में होना चाहिए। राजनीतिक दलों द्वारा नेतृत्व हथियाने की जो परम्परा है उसका अन्त होना आवश्यक है। श्रमिकों की समस्याएँ समान हैं अत उनमे राजनीतिक भेदभाव पैदा करना घातक है। मजदूर वर्ग के हाथों में नेतृत्व होने से श्रम संघ आत्म-विश्वास, उत्तरदायित्व एवं स्वतन्त्रता के साथ कार्य करेंगे। प्रजातन्त्रात्मक देश में श्रम-संघों पर राजनीतिक प्रभाव अवश्य होगा परन्तु प्रयत्न इस बात का होना चाहिए कि श्रमिक व्यक्तिगत स्तर पर राजनीति में भाग लें। योग्य नेतृत्व के लिए प्रशिक्षण की भी व्यवस्था होनी चाहिए। यह सौभाग्य की बात है कि सरकार ने कलकत्ता में श्रम-संघों के सिद्धान्त आदि विषयों में शिक्षा देने के लिए 'एशियन ट्रेड यूनियन कॉलेज' की स्थापना की है। सरकारी श्रम-अधिकारियों के प्रशिक्षण के लिए भी भारतीय श्रम अध्ययन संस्थान (Indian Institute of Labour Studies) स्थापित किया गया है।

(३) आर्थिक स्थिति में सुधार—श्रम संघों की वित्तीय स्थिति में सुधार आवश्यक है। धन के अभाव में वे रचनात्मक कार्य नहीं कर सकते हैं। श्रमिकों की आर्थिक परिस्थिति ठीक नहीं है अत. वे अधिक चन्दा नहीं दे सकते हैं। श्रम संघों की सदस्य-संख्या बढ़ाकर ही इस समस्या का आंशिक हल किया जा सकता है। श्रम संघों को अपने पास सुरक्षित कोष की भी व्यवस्था करनी चाहिए।

(४) क्रियाओं का विस्तार—श्रम संघों को अपनी क्रियाओं में वृद्धि करनी चाहिए। भारतीय श्रम संघ हड़ताल संगठित कर अपने कर्तव्यों की इतिश्री समझ लेते हैं। उन्हें रचनात्मक कार्य भी अपनाने चाहिए जिससे श्रमिकों का बौद्धिक व सामाजिक स्तर ऊँचा उठे। उन्हें श्रमिकों को उनके कर्तव्यों का ज्ञान कराना चाहिए। शिक्षा, स्वास्थ्य, गृह निर्माण, मनोरंजन आदि सम्बन्धी बहुत-से कार्य श्रम संघों द्वारा किए जा सकते हैं।

(५) श्रम संघों को दृढ़ बनाना—भारत में श्रम संघों की संख्या बहुत अधिक है। छोटे-छोटे श्रम संघ श्रमिकों के हित सम्बन्धी अधिक कार्य नहीं कर सकते। छोटे श्रम संघों को उचित नेतृत्व नहीं मिल पाता, उनका संगठन ढीला होता है तथा आर्थिक दृष्टि से उनकी व्यवस्था ठीक नहीं होती। अत छोटे-छोटे श्रम संघों को मिलाकर बड़े बड़े श्रम संघ बनाये जाने चाहिए।

(६) उद्योगपतियों का सहयोग—उद्योगपतियों को श्रम संघों के प्रति द्वेष की भावना नहीं रखनी चाहिए। उन्हें यह समझना चाहिए कि स्वस्थ श्रम संघ औद्योगिक शान्ति तथा उत्पादन-वृद्धि दोनों के लिए ही आवश्यक है। उन्हें यह नहीं समझना चाहिए कि श्रम संघ उनकी प्रतिष्ठा के प्रतिकूल कार्य करेंगे।

(७) सरकार का कर्तव्य—समाजवादी समाज की स्थापना हमारा लक्ष्य है। अत. सरकार को श्रम संघों को उचित प्रोत्साहन देना चाहिए, जिससे श्रमिक अपने को एक उत्तरदायी कर्तव्य-परायण नागरिक समझ सकें। वैधानिक कार्यवाही द्वारा सरकार श्रम संघों के विकास के लिए बहुत कुछ कर सकती है। सन् १९२६ का श्रम संघ अधिनियम थोड़ी हेर-फेर के साथ अब भी चल रहा है। बदली हुई परिस्थितियों में इस विधान की उपयोगिता कम हो गयी है। अत श्रम संघों के सम्बन्ध में एक नये विस्तृत विधान की आवश्यकता है।

अमरीकी श्रम संघ के नेता जोसेफ डी० कीनन ने भारतीय श्रम संघ आन्दोलन को दृढ़ बनाने के लिए यह सुझाव दिया है कि श्रम संघों को राजनीति से दूर रहना चाहिए तथा श्रम संघों

का निर्माण उद्योग के आधार पर किया जाना चाहिए। वी० वी० गिरि ने यह सुझाव दिया है कि हड़ताल को सफल बनाने के लिए श्रम संघ को कल्याण कोष (Benefit Fund) तथा हड़ताल कोष (Strike Fund) की स्थापना करनी चाहिए।

उपर्युक्त सभी सुझावों को कार्यान्वित करने से ही भारत में स्वस्थ श्रम संघों का विकास किया जा सकता है। सरकार ने भी श्रम संघों के लिए कुछ प्रयत्न किया है। योजना आयोग ने श्रम संघों के उचित विकास के लिए कुछ सुझाव दिया है, "श्रमिक संघों को आर्थिक एवं औद्योगिक प्रशासन के एक अनिवार्य अंग के रूप में स्वीकार करना चाहिए और उन्हें अपने दायित्वों के प्रति जागरूक बनाना चाहिए। श्रमिकों में शिक्षा के कार्यक्रम को आगे बढ़ाया जाना चाहिए ताकि संघों का नेतृत्व श्रमिकों के ही हाथ में रहे। अनुशासन संहिता में श्रम संघों को मान्यता देने के लिए जो नियम बनाये गये हैं उनका समुचित रूप से पालन होना चाहिए। देश में सशक्त तथा स्वस्थ श्रम संघ आन्दोलन के विकास के लिए यही आवश्यक है।"

प्रश्न

१ एक श्रम संघ के प्रमुख कार्य क्या हैं? क्या आपके विचार से हमारे श्रम संघों ने सन्तोषजनक कार्य किये हैं? (आगरा बी० ए० (पूरक), १९६०; बी० ए०, १९६१)

२ "श्रमिक संघों का नेतृत्व मध्यम वर्ग के राजनीतिज्ञों, विशेषत वकील द्वारा किया जाता था तथा किया जा रहा है जो राजनीतिक और आर्थिक परिस्थितियों में ठीक ठीक अंतर न कर पा सके तथा न कर पा रहे हैं।" (डॉ० आर० एन० सक्सेना)। इस कथन की पुष्टि कीजिए तथा बतलाइए कि भारत में श्रमिक संघों के विकास में बाहरी नेतृत्व से क्या क्या हानियाँ हुई हैं। (आगरा, बी० कॉम०, १९६१)

३. भारत में श्रमिक संघ आन्दोलन के विकास का वर्णन कीजिए। इसको शक्तिशाली बनाने के लिए अपने सुझाव दीजिए? (विक्रम, बी० ए०, १९६१)

४. १९३९ से भारत में मजदूर संगठन की प्रगति का संक्षेप में उल्लेख कीजिए। देश में औद्योगिक शक्ति को बढ़ावा देने के लिए सरकार कहाँ तक इस आन्दोलन को सही दिशा में लाने में सफल हुई है? (सागर, बी० ए०, १९६०)

५ एक श्रम संघ के कार्य क्या हैं? क्या भारत में श्रमिक संघ आन्दोलन उचित ढंग से विकास कर रहा है? पूर्णतया समझाइए। (आगरा, बी० ए० (प्रथम वर्ष) १९६३)

६ भारत में श्रम संघ आन्दोलन के प्रारम्भ तथा विकास पर प्रकाश डालिए। इस आन्दोलन के क्या दोष हैं तथा उन्हें किस प्रकार दूर किया जा सकता है? (मगध, बी० ए०, १९६३)

७ भारत में श्रम संघ आन्दोलन के प्रारम्भ तथा विकास का इतिहास लिखिए। इसकी क्या कमियाँ हैं? (राजस्थान, बी० ए० (प्रथम वर्ष), १९६४)

35 सामाजिक सुरक्षा और श्रम-कल्याण

(SOCIAL SECURITY AND LABOUR WELFARE)

> *"Social security is the security that society furnishes through appropriate organization against risks to which its members are exposed."*
>
> *—International Labour Organization*

१ सामाजिक सुरक्षा
(SOCIAL SECURITY)

आधुनिक अर्थ व्यवस्था के आरम्भ होने से पूर्व व्यक्ति अपने हितों के लिए स्वयं उत्तरदायी था। जीवनयापन के साधनों को जुटाने के अतिरिक्त वह अपने जीवन की आकस्मिक घटनाओं, जैसे बीमारी, बेरोजगारी, दुर्घटना, मृत्यु आदि, के समय किए जाने वाले व्यय की व्यवस्था पहले से ही स्वयं करता था। परन्तु कालान्तर में यह महसूस किया गया कि सभी नागरिक अपने जीवन की इन आकस्मिक घटनाओं की व्यवस्था स्वयं नहीं कर सकते। अतः एक अच्छे समाज में यह आवश्यक समझा गया कि इन आकस्मिक घटनाओं के समय व्यक्ति की आर्थिक रक्षा समाज द्वारा की जानी चाहिए, जिससे व्यक्ति इन घटनाओं के भय से मुक्त होकर अपने कर्तव्यों का पालन कर सके।

पुरातनकाल में सामाजिक सुरक्षा—सामाजिक सुरक्षा की भावना प्राचीन समय में भी थी जबकि राजाओं द्वारा नागरिकों को बाढ़, अकाल तथा महामारी के समय सहायता दी जाती थी। इसी प्रकार Poor Law के अन्तर्गत भी इंगलैण्ड में सहायता दी जाती थी। धार्मिक संस्थाओं द्वारा भी विधवा, अनाथ, अपाहिज तथा निर्धनों की सहायता की जाती थी। परन्तु इस प्रकार की सहायता दया तथा दानशीलता पर निर्भर थी तथा यह सहायता अनियमित रूप से दी जाती थी। श्रमिक वर्ग ऐसी सहायता को अपना अधिकार समझकर प्राप्त नहीं कर सकता था।

आधुनिक प्रवृत्तियाँ—वर्तमान समय में सामाजिक सुरक्षा का महत्त्व प्रत्येक देश में स्वीकार किया गया है। रानी एलिजाबेथ प्रथम के समय में राज्य का यह कर्तव्य माना गया कि मनुष्य की आर्थिक आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए कुछ व्यवस्था की जानी चाहिए। अतः Poor Laws पास किए गए, जिनके द्वारा निर्धनों को स्थानीय करों के द्वारा सहायता दी जाती थी। यह व्यवस्था काफी दिनों तक चलती रही परन्तु औद्योगिक क्रान्ति के कारण नयी समस्याओं का जन्म हुआ। श्रमिकों की अवस्था कारखाना प्रणाली के साथ ही साथ दयनीय होती गयी। उनकी अवस्था में सुधार लाने के हेतु कारखाना अधिनियम पास हुए तथा विभिन्न देशों में सामाजिक सुरक्षा के क्षेत्र में भी कुछ कदम उठाये गये।

आधुनिक युग मे सामाजिक सुरक्षा का प्रारम्भ जर्मनी मे सन् १८८३ से माना जा सकता है जबकि प्रिंस बिस्मार्क ने अपनी इतिहास प्रसिद्ध बीमारी बीमा योजना (Sickness Insurance Scheme) की घोषणा की। बिस्मार्क की यह योजना आधुनिक सामाजिक सुरक्षा योजना का प्रारम्भ मानी जा सकती है। जर्मनी का अनुकरण ब्रिटेन ने किया। धीरे धीरे ब्रिटेन का अनुकरण अन्य देशो ने किया। ब्रिटेन की बेवरिज योजना (Beveridge Plan) सामाजिक सुरक्षा के इतिहास मे अपना महत्त्वपूर्ण स्थान रखती है, जिसमे व्यक्ति के जन्म से अन्तिम संस्कार तक आने वाली सभी आकस्मिकताओं के समय आर्थिक सहायता की जाती है। सामाजिक सुरक्षा के क्षेत्र मे रूस, अमरीका, जापान, संयुक्त अरब गणराज्य, आस्ट्रेलिया तथा पश्चिमी यूरोप के देशो का नाम उल्लेखनीय है।

भारत मे सामाजिक सुरक्षा

भारत सामाजिक सुरक्षा के क्षेत्र मे एक पिछडा हुआ देश है। वर्तमान समय मे निम्नलिखित अधिनियमो के द्वारा सामाजिक सुरक्षा की व्यवस्था की गयी है

(१) श्रमिक क्षतिपूर्ति अधिनियम, १९२३,

(२) प्रसूति लाभ अधिनियम (राज्यो मे),

(३) कर्मचारी राज्य बीमा अधिनियम १९४८,

(४) कर्मचारी भविष्य निधि अधिनियम, १९५२,

(५) कोयला खान भविष्य निधि एवं बोनस स्कीम अधिनियम १९४८

(६) बेरोजगारी बीमा योजना (विचाराधीन)।

उपर्युक्त अधिनियम के अन्तर्गत सुरक्षा की जो व्यवस्था की गयी है उसका संक्षिप्त विवरण निम्नलिखित है

(१) **श्रमिक क्षतिपूर्ति अधिनियम, १९२३**—इस अधिनियम के द्वारा भारत मे सामाजिक सुरक्षा का प्रारम्भ माना जा सकता है। इस अधिनियम के अन्तर्गत कारखानो मे काम करते समय होने वाली दुर्घटनाओं के फलस्वरूप श्रमिको की स्थायी या अस्थायी अपंगता या मृत्यु की अवस्था मे उनके आश्रितो को क्षतिपूर्ति के रूप म सहायता दी जाती है। इसके अतिरिक्त उन श्रमिको की भी क्षतिपूर्ति की जाती है, जो कारखानो मे काम करने के कारण विशेष बीमारियो (Occupational Diseases) से पीडित होते है परन्तु इसके लिए आवश्यक है कि श्रमिक ने सम्बन्धित कारखाने मे छह महीने से अधिक कार्य किया हो। श्रमिक क्षतिपूर्ति अधिनियम का अन्तिम संशोधन सन १९६२ मे हुआ। इसके अनुसार यह एक्ट उन सभी श्रमिको पर लागू होता है, जिनका मासिक पारिश्रमिक ५०० रुपये से अधिक नही है तथा जिनका रोजगार आकस्मिक नही है। जिन श्रमिको को कर्मचारी राज्य बीमा अधिनियम १९४८ के अन्तर्गत आश्रित लाभ (Dependent Benefit) या अयोग्यता लाभ (Disablement Benefit) प्राप्त होता है, उन्हे इस अधिनियम के अन्तर्गत सहायता नही मिलती।

क्षतिपूर्ति की रकम की मात्रा श्रमिक के औसत मासिक पारिश्रमिक तथा दुर्घटना से उत्पन्न चोट की अवस्था के अनुसार निश्चित की जाती है। घायल श्रमिक जिसका पारिश्रमिक १० रुपये से अधिक नही है को मृत्यु की अवस्था म ५०० रुपय, स्थायी अपगता की अवस्था मे ७०० रुपये तथा अस्थायी अपगता की अवस्था मे औसत मजदूरी का आधा मिलता है। जिस श्रमिक का मासिक पारिश्रमिक ५० रुपय व ३० रुपय के बीच म है उसके लिए उपर्युक्त सम्बन्धित राशि क्रमश: १,८०० रुपये, २५२० रुपय और १५ रुपय मासिक है। ३०० रुपये मासिक से अधिक पारिश्रमिक पाने वालो के लिए उपर्युक्त सम्बन्धित राशि क्रमश ४,५०० रुपये, ६ ३०० रुपये और ३० रुपये मर्यादित है। यदि श्रमिक अवयस्क (minor) है तो क्षतिपूर्ति की रकम उपर्युक्त अवस्थाओ मे क्रमश

७०० रुपये, १,२०० रुपये और औसत मासिक मजदूरी की आधी होगी। श्रमिक की मृत्यु हो जाने पर क्षतिपूर्ति की रकम उसके आश्रितों को दी जाती है।

इस एक्ट में निम्नलिखित संशोधन इस समय विचाराधीन हैं—(i) अपंग श्रमिक को उसकी आयु के आधार पर क्षतिपूर्ति करना (ii) स्थायी अपंगता के कारण सेवा निवृत्त श्रमिक को 'सेवा निवृत्ति' क्षतिपूर्ति देना (iii) खनिज उद्योग में ५०० रुपये मासिक से अधिक वेतन पाने वाले कर्मचारियों पर भी इस एक्ट को लागू करना।

(२) प्रसूति लाभ अधिनियम (राज्यों में)—भारत में सर्वप्रथम बम्बई प्रान्त में सन् १९२९ में प्रसूति लाभ अधिनियम पास किया गया। इसके पश्चात् विभिन्न राज्य सरकारों ने अपने-अपने राज्य के लिए प्रसूति लाभ अधिनियम पास किया। भारत सरकार ने सन् १९४१ में खान प्रसूति लाभ अधिनियम पारित किया। राज्यों के अधिनियमों में एकरूपता नहीं है। सन् १९४८ के कर्मचारी राज्य बीमा अधिनियम के अन्तर्गत भी प्रसूति लाभ प्राप्त होता है। राज्यों के प्रसूति अधिनियमों में एकरूपता लाने के उद्देश्य से केन्द्रीय सरकार ने सन् १९६१ में प्रसूति लाभ अधिनियम पास किया। इस एक्ट के अनुसार प्रत्येक स्त्री कर्मचारी को (जिसने १६० दिन से अधिक काम किया है) बच्चा पैदा होने अथवा गर्भपात (miscarriage) के दिन के बाद ६ सप्ताह की छुट्टी मिलती है। ६ सप्ताह की छुट्टी बच्चा पैदा होने की तिथि से पहले भी मिलती है। इसके अतिरिक्त नियोजक द्वारा २५ रुपये दवा-बोनस भी दिया जाता है। बच्चा पैदा होने से पूर्व या पश्चात् कुछ दिनों तक अधिक परिश्रम का कार्य नहीं लिया जा सकता तथा बच्चे की अवस्था १५ महीने की होने तक स्त्री श्रमिक को दिन में दो बार अवकाश मिलता है। यह अधिनियम उन सभी कारखानों पर लागू होता है जो कारखाना अधिनियम खान अधिनियम तथा प्लान्टेशन अधिनियम के अन्तर्गत आते हैं। परन्तु जिन औद्योगिक संस्थानों पर कर्मचारी राज्य बीमा योजना लागू है वे इसके अन्तर्गत नहीं आते। दिसम्बर १९६५ में केन्द्रीय प्रसूति लाभ अधिनियम में संशोधन किया गया। इसके अनुसार जिन संस्थानों में 'कर्मचारी राज्य बीमा विधान' लागू होगा, उन संस्थानों के स्त्री कर्मचारी इस एक्ट के अन्तर्गत उस समय तक लाभ प्राप्त करते रहेंगे, जब तक कि वे 'राज्य बीमा' के अन्तर्गत लाभ प्राप्त करने के अधिकारी न हो जायें।

(३) कर्मचारी राज्य बीमा योजना, १९४८—सन् १९४३ में श्रम विभाग ने एक अनिवार्य स्वास्थ्य बीमा योजना बनाने के लिए प्रो० बी० पी० अदारकर की नियुक्ति की। प्रो० अदारकर ने १५ अगस्त, १९४४ को अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत की। इसमें कुछ महत्वपूर्ण परिवर्तनों के साथ सरकार ने स्वास्थ्य बीमा योजना को कार्यान्वित करने के लिए अप्रैल १९४८ में कर्मचारी राज्य बीमा अधिनियम पास किया। सन् १९५१ में इस अधिनियम का संशोधन किया गया। वस्तुतः भारतीय कर्मचारी राज्य बीमा योजना सम्पूर्ण एशिया में सामाजिक सुरक्षा के क्षेत्र में एक महत्वपूर्ण प्रयास है।

(क) क्षेत्र—यह अधिनियम जम्मू और काश्मीर को छोड़कर भारत के उन समस्त कारखानों पर लागू होता है जिनमें २० या २० से अधिक व्यक्ति काम करते हैं तथा विद्युत शक्ति का प्रयोग होता है। वे सभी कर्मचारी इस योजना के अन्तर्गत लाभ प्राप्त करते हैं जिनका मासिक पारिश्रमिक ५०० रुपये तक है। इसके अन्तर्गत किसी ठेकेदार के अधीन ठेके पर काम करने वाले श्रमिक भी सम्मिलित किये जाते हैं।

(ख) प्रबन्ध व्यवस्था—इस योजना का प्रबन्ध कर्मचारी राज्य बीमा निगम के द्वारा किया जाता है। इसके अतिरिक्त दो समितियाँ हैं—(१) स्थायी समिति, तथा (२) चिकित्सा लाभ परिषद। कर्मचारी राज्य बीमा निगम एक स्वतन्त्र संस्था है। इसके अन्तर्गत कुल ३८ सदस्य होते हैं जो केन्द्रीय सरकार, राज्य सरकारों, नियोजकों, कर्मचारियों, डाक्टरों तथा संसद के

प्रतिनिधि होते हैं। केन्द्रीय श्रम मन्त्री अध्यक्ष तथा स्वास्थ्य मन्त्री उपाध्यक्ष के रूप में काय करते हैं। प्रमुख अधिकारियों की नियुक्ति केन्द्रीय सरकार द्वारा की जाती है। निगम के काय का सुचारु रूप से चलाने के लिए राज्य सलाहकार समितियाँ भी हैं जिनमें श्रमिक नियोजक तथा राज्य सरकारों के प्रतिनिधि होते हैं।

(अ) चिकित्सा लाभ परिषद—इस समिति का काय चिकित्सा सम्बन्धी विषयों पर निगम को सलाह देना है। इसमें चिकित्सा सम्बन्धी विशेषज्ञ होते हैं।

(आ) स्थायी समिति—यह समिति निगम की प्रबन्ध समिति के रूप में काम करती है। सामान्य प्रशासन तथा निर्देशन का काय इसी समिति के द्वारा किया जाता है। प्रशासन का दायित्व निगम के प्रमुख सचालक पर होता है। प्रमुख सचालक की सहायता के लिए मुख्य अधिकारी होते हैं।

(ग) अथ प्रबन्धन—प्रथम पाँच वर्षों में चिकित्सा आदि पर जो शासकीय व्यय हुआ उसका ६६$\frac{2}{3}$% केन्द्रीय सरकार तथा ३३$\frac{1}{3}$% राज्य सरकारों द्वारा दिया गया। निगम द्वारा दी जाने वाली सुविधाओं पर जो व्यय होगा उसकी व्यवस्था के लिए एक निधि बनायी गयी है। नियोजक तथा श्रमिकों का चन्दा केन्द्रीय तथा प्रान्तीय सरकारों का अनुदान तथा अन्य साधनों से प्राप्त सहायता इस निधि में जमा की जाती है। नियोजक अपने कारखाने में काम करने वाले सभी श्रमिकों की कुल मजदूरी का ० ७५% चन्दे के रूप में देते हैं। जिन क्षेत्रों में योजना के अन्तगत सुविधाएँ दी जा रही हैं वहाँ यह चन्दा सम्पूर्ण मजदूरी का १ २५% होता है। निम्नलिखित सारणी द्वारा प्रत्येक कमचारी के लिए जमा किये जाने वाले अंशदान का ज्ञान होता है

कमचारियों का औसत दैनिक वेतन	कमचारियों का अंशदान	नियोजकों का अंशदान	कुल अंशदान
१ ०० रु० से कम	—	० ४४	० ४४
१ ०० रु० से १ ५० रु० के बीच	० १२	० ४४	० ५६
१ ५० रु० से २ ०० रु० के बीच	० २५	० ५०	० ७५
२ ०० रु० से ३ ०० रु० के बीच	० ३७	० ७६	१ १३
३ ०० रु० से ४ ०० रु० के बीच	० ५०	१ ००	१ ५०
४ ०० रु० से ६ ०० रु० के बीच	० ६९	१ ३७	२ ०६
६ ०० रु० से ८ ०० रु० के बीच	० ९४	१ ८७	२ ८१
८ ०० रु० से अधिक	१ २५	२ ५०	३ ७५

श्रमिक को बीमारी अथवा प्रसूति लाभ प्राप्त करने के लिए यह आवश्यक है कि उसने कम से कम २६ सप्ताह तक चन्दा दिया हो। अयोग्यता तथा आश्रित लाभ प्राप्त करने के लिए चन्दा सम्बन्धी कोई शर्त नहीं है।

(घ) योजना के अन्तगत लाभ—इस योजना के अन्तगत पाँच प्रकार के लाभ प्राप्त होते हैं जो निम्नलिखित हैं

(अ) चिकित्सा लाभ—प्रत्येक बीमा प्राप्त कमचारी के लिए निशुल्क चिकित्सा व्यवस्था की जाती है। यदि नियोजक तथा राज्य सरकार चाहे तो चिकित्सा सम्बन्धी सुविधाएं कमचारियों के परिवार के अन्य सदस्यों को भी दी जा सकती हैं।

(आ) बीमारी लाभ—यह लाभ वर्ष में ८ सप्ताह तक प्राप्त होता है। लाभ की दर साप्ताहिक मजदूरी का $\frac{7}{12}$ है। बीमारी प्रारम्भ होने पर प्रथम दो दिनों तक कोई लाभ नहीं मिलता।

(इ) प्रसूति लाभ—यह लाभ १२ सप्ताह तक प्राप्त होता है जिसमे से लाभ की अवधि बच्चा पैदा होने के पहले ६ सप्ताह से अधिक नही होगी। यह लाभ ७५ पैसे प्रतिदिन की दर से अथवा बीमारी लाभ की दर (दोनो मे जो अधिक हो) प्राप्त होता है।

(ई) अयोग्यता लाभ—स्थायी अयोग्यता की दशा मे कर्मचारी को उसकी औसत साप्ताहिक मजदूरी का $\frac{7}{12}$ भाग मिलता है। अस्थायी अयोग्यता की दशा मे अयोग्यता की अवधि तक साप्ताहिक मजदूरी का $\frac{7}{12}$ भाग मिलता है। आंशिक अयोग्यता की अवस्था मे अयोग्यता की प्रकृति के अनुसार श्रमिक क्षतिपूर्ति अधिनियम की दरो मे लाभ प्राप्त होता है।

(उ) आश्रित लाभ—कारखाने मे काम करते-करते श्रमिक की मृत्यु हो जाय तो श्रमिक की विधवा को आजन्म या पुनर्विवाह की अवधि तक लाभ प्राप्त होना है। लाभ की दर श्रमिक की विधवा या विधवाओं को साप्ताहिक मजदूरी का $\frac{3}{7}$ है। श्रमिक के लडके-लडकियो को साप्ताहिक मजदूरी का $\frac{2}{7}$ भाग मिलता है। बच्चो को यह लाभ १५ वर्ष की अवस्था तक प्राप्त होना है परन्तु यदि व शिक्षा प्राप्त कर रहे हो तो यह लाभ १८ वर्ष की अवस्था तक प्राप्त होता है।

(ऊ) योजना की प्रगति—कर्मचारी राज्य बीमा योजना सर्वप्रथम फरवरी १९५२ मे दिल्ली तथा कानपुर म लागू की गयी। उसके पश्चात् यह योजना धीरे-धीरे देश के अन्य भागो मे भी लागू की गयी। वर्तमान समय मे यह योजना गुजरात के अतिरिक्त सभी राज्यों तथा दिल्ली मे लागू है। ३१ दिसम्बर, १९६९ तक इस योजना से ३१४ केन्द्रो के ३७ ७८ लाख श्रमिक लाभ उठा रहे थे। चिकित्सा की सुविधा सम्बन्धी लाभ उठाने वाले श्रमिको की सख्या १३९·४२ लाख थी और यह लाभ प्रदान करने वाले केन्द्रो की सख्या २६५ थी। बीमा सुविधा के अन्तर्गत आने वाले परिवारो के लिए ५,८२५ बिस्तरो की व्यवस्था है तथा ४४३५ बिस्तरो की क्षमता वाले २५ अस्पतालो का निर्माण कार्य जारी है। इन सुविधाओं पर सरकार १९६८ के अन्त तक लगभग ३८ करोड रुपया व्यय कर चुकी है।

बीमा योजना मे एक संशोधन द्वारा परिवार की परिभाषा को कुछ उदार बना दिया गया है जिसमे बीमाकृत स्त्री के आश्रित माता पिता भी इसके अन्तर्गत आ जाते हैं और चिकित्सा लाभ प्राप्त कर सकते हैं।

(४) कर्मचारी भविष्य निधि अधिनियम, १९५२ (Employees' Provident Fund Act)—यह एक्ट पहली बार सन् १९५२ मे ६ प्रमुख उद्योगो पर लागू किया गया—सीमेण्ट, सिगरेट, इजीनियरी, लोहा तथा इस्पात, कागज और वस्त्र उद्योग। सन् १९६८-६९ मे यह एक्ट १२० उद्योगो पर लागू कर दिया गया जो कम से कम ३ वर्ष पुराने हो तथा जिनमे ५० या अधिक कर्मचारी कार्य करते हो। यह एक्ट उन कारखानो पर भी लागू होता है जो पाँच वर्ष पुराने हो तथा जिनमे कर्मचारियो की सख्या २० या २० से अधिक (परन्तु ५० मे कम) हो। ऐसे कारखानो के वे सभी कर्मचारी इस योजना के सदस्य होने हैं जिनको कुल मिलाकर १ हजार रुपये मासिक से अधिक पारिश्रमिक नही मिलता। इस योजना का सदस्य होने के लिए यह आवश्यक है कि कर्मचारी एक वर्ष लगातार नौकरी मे रहा हो या १२ महीने या इससे कम अवधि मे कम से कम २४० दिन तक वास्तविक रूप से कार्य किया हो।

इस योजना मे कर्मचारी अपने कुल पारिश्रमिक का ६$\frac{1}{4}$ प्रतिशत चन्दे के रूप मे देता है। नियोजक भी इसी दर से चन्दा देता है। कर्मचारी यदि चाहे तो अपने चन्दे की दर बढाकर ८$\frac{1}{3}$ प्रतिशत तक कर सकता है। कर्मचारी के अवकाश प्राप्त करने पर, मृत्यु अस्थायी अयोग्यता, छँटनी विदेश प्रवास या १५ वर्ष के पश्चात नौकरी छोडने पर सम्पूर्ण संचित राशि ब्याज के साथ लौटा दी जाती है। सितम्बर १९६८ मे इस योजना का लाभ उठाने वाले सदस्यो की सख्या

५२.७५ लाख थी। ८१ उद्योगों में इस योजना में सम्मिलित व्यक्तियों का स्वयं तथा सरकार का अंशदान ६$\frac{1}{4}$ प्रतिशत से बढ़ाकर ८ प्रतिशत कर दिया गया है।

(५) कोयला खान भविष्य निधि एवं बोनस स्कीम अधिनियम, १९४८ (The Coal Mines Provident Fund Scheme)—यह योजना जम्मू तथा काश्मीर राज्य के अतिरिक्त भारत की सभी कोयला खानों पर लागू की गयी है। यह योजना खानों में काम करने वाले मजदूरों पर अनिवार्य रूप से लागू की गयी है। वर्तमान समय में नियोजक तथा कर्मचारी दोनों कर्मचारी के कुल मासिक पारिश्रमिक का ८ प्रतिशत (दोनों अलग-अलग) जमा करते हैं। ३१ मार्च १९६८ तक इस योजना के अन्तर्गत लगभग ३.६१ लाख कर्मचारी सम्मिलित थे जो १,३५६ कोयले की खानों से सम्बन्धित थे। इस योजना के अन्तर्गत ३०० रुपये मासिक तक वेतन पाने वाले कर्मचारी आते हैं। वे अपनी आय का $\frac{1}{3}$ भाग तक बोनस प्राप्त करते हैं।

इस प्रकार भारत में सामाजिक सुरक्षा योजनाएँ निश्चित रूप ग्रहण कर रही हैं। इस दिशा में अब तक जो प्रयत्न हुए हैं वे सराहनीय हैं किन्तु वे अत्यन्त कम हैं। योजनाओं के अन्तर्गत मिलने वाली लाभ की मात्रा भी कम है। कोई भी सामाजिक सुरक्षा योजना उस समय तक पूर्ण नहीं कही जा सकती जब तक कि बेरोजगारी लाभ (Unemployment Benefit) भी न प्राप्त हो। सन् १९५८ में नियुक्त साम जिक सुरक्षा अध्ययन दल (सप्रू समिति) ने सुझाव दिया था कि देश में प्रचलित सामाजिक सुरक्षा सम्बन्धी समस्त योजनाओं का एकीकरण किया जाय तथा एक ही केन्द्रीय संस्था द्वारा सामाजिक सुरक्षा का प्रबन्ध किया जाना चाहिए। भारत समाजवादी समाज की ओर अग्रसर हो रहा है। समाजवादी समाज का उद्देश्य समस्त नागरिकों के कल्याण में अधिकतम वृद्धि करना तथा सामाजिक न्याय दिलाना है। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए ब्रिटेन की बवरिज योजना की तरह भारत में भी एक विस्तृत सामाजिक सुरक्षा योजना की आवश्यकता है तभी देश में समाजवादी समाज की स्थापना का स्वप्न साकार हो सकता है।

(६) बेरोजगारी बीमा योजना (Unemployment Insurance Scheme)—तृतीय पंचवर्षीय योजना में बेरोजगार बीमा योजना के लिए २ करोड़ रुपए की व्यवस्था की गयी थी। इस राशि का प्रयोग करने के लिए भारत सरकार के सामाजिक सुरक्षा विभाग ने बेरोजगारी बीमा की एक योजना बनायी है जिसे शीघ्र लागू करने का विचार है। इस योजना की मुख्य विशेषताएँ निम्नांकित हैं

(१) क्षेत्र—इस योजना के अन्तर्गत नियोजित भविष्य निधि योजना (Employees' Provident Fund Scheme) तथा कोयला खान भविष्य निधि योजना (Coal Mines Provident Fund Scheme) के अन्तर्गत लाभ प्राप्त करने वाले ४५ लाख श्रमिकों में से केवल वही श्रमिक सम्मिलित किये जा रहे हैं जिनका मासिक वेतन ५०० रुपए से अधिक नहीं है। इस प्रकार प्रारम्भ में लगभग १५ लाख श्रमिक इस योजना से लाभान्वित होंगे।

(२) कोष—बेरोजगारी बीमा योजना के प्रारम्भिक कोष की व्यवस्था भारत सरकार द्वारा की जायेगी और इसकी मात्रा २ करोड़ रुपये होगी।

(३) नियमित आय—योजना के अन्तर्गत प्रत्येक श्रमिक अपने नियमित वेतन का ०.५ प्रतिशत देगा तथा उसके समान राशि की व्यवस्था मालिकों (नियोक्ताओं) द्वारा की जायेगी। आशा है कि इस प्रकार इस योजना के कोष में प्रति मास २० लाख रुपए की राशि जमा होगी।

(४) लाभ की मात्रा—यदि किसी श्रमिक को नौकरी से हटा दिया जायगा तो नौकरी खोने की तिथि से ही उसे प्रति मास उसके तत्कालीन वेतन की आधी रकम मिलनी आरम्भ हो जायगी। यह सहायता एक वर्ष में छः मास से अधिक समय के लिए उपलब्ध नहीं हो सकेगी। यदि श्रमिक को इसी बीच नौकरी मिल जाय तो यह सहायता बन्द कर दी जायगी।

(५) आवश्यक शर्त—बेरोजगार बीमा योजना का लाभ उठाने के लिए प्रत्येक श्रमिक को रोजगार दफ्तर (Employment Exchange) में नाम दर्ज कराना अनिवार्य है। ज्यों ही उसे रोजगार मिल जायेगा, बीमे की सहायता बन्द कर दी जायेगी। यदि कोई बेरोजगार व्यक्ति रोजगार कार्यालय के माध्यम से प्रस्तावित नौकरी स्वीकार नहीं करेगा तो भी सहायता बन्द हो जायेगी। स्वेच्छा से नौकरी छोड़ने वाले व्यक्तियों अथवा रिटायर होने वाले श्रमिकों को भी इस योजना का लाभ उपलब्ध नहीं हो सकता।

(६) संचालन—*इस योजना का संचालन भारत सरकार द्वारा* किया जायेगा। इस पर होने वाला व्यय सरकार ही वहन करेगी। श्रमिकों को प्राप्त होने वाली रकम बेरोजगारी बीमा कोष में से दी जायेगी जो श्रमिक एवं मालिकों द्वारा (वेतन के २ प्रतिशत) प्रदत्त राशि से निर्मित होगा। *यदि श्रमिकों को कोष की राशि से भी अधिक* रकम भुगतान में देनी पड़े तो उसकी व्यवस्था भारत सरकार द्वारा की जायगी।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि भारत में यद्यपि सामाजिक सुरक्षा के क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण *कार्य किये गए हैं परन्तु विकसित पश्चिमी देशों की तुलना में ये प्रयत्न नगण्य हैं।* वस्तुतः एक अल्प विकसित देश, इस क्षेत्र में अधिक प्रगति करने की क्षमता भी नहीं रखता है। Dr Gunnar Myrdal के शब्दों में, "A poor under-developed country cannot, in the early stages of economic development, really afford much of the type of redistributive measures which in advanced countries are known under the label of 'Social Security' "

२ श्रम-कल्याण
(LABOUR WELFARE)

'श्रम-कल्याण' शब्द का प्रयोग परिस्थितियों तथा आवश्यकताओं के अनुसार विभिन्न अर्थों में किया जाता है। *इसका अर्थ बहुत ही लचीला है। शाही श्रम आयोग (Royal Commission* on Labour) के अनुसार, '*यह एक शब्द है* जो आवश्यक रूप से लचीला होना चाहिए जो प्रत्येक देश में वहाँ की सामाजिक स्थिति औद्योगीकरण की सीमा तथा श्रमिकों के शैक्षणिक *विकास स्तर के अनुसार होगा।" एच० एम० किर्कल्डी के शब्दों में, "श्रम-कल्याण का सम्पूर्ण* क्षेत्र ऐसा है जिसमें औद्योगिक श्रमिक की निराशा की भावना को दूर करने के लिए, उसके स्वास्थ्य को उन्नत करने के लिए आत्म-अभिव्यक्ति का साधन प्रदान करने के लिए, दूसरों की *अपेक्षा आगे बढ़ने को क्षेत्र प्रदान करने के लिए तथा उसे जीवन की विस्तृत धारणा में सहायता* प्रदान करने के लिए बहुत कुछ किया जा सकता है।" सामान्यतः 'श्रम-कल्याण उन क्रियाओं को कहते हैं जो किसी उद्योग के आसपास अथवा उद्योग के क्षेत्र में स्वच्छ एवं स्वास्थ्यकर वातावरण में *काम करते हुए श्रमिक अपने नैतिक स्तर को अच्छा रख सकें।'[1] इन सभी परिभाषाओं की* मुख्य विशेषताओं को ध्यान में रखते हुए यह कहा जा सकता है कि श्रम कल्याण के अन्तर्गत सरकार, उद्योगपति तथा श्रम संगठनों द्वारा कारखानों के अन्दर तथा बाहर प्रदान की जाने वाली समस्त सुविधाएँ सम्मिलित हैं, जिनका उद्देश्य *श्रमिक का शारीरिक, बौद्धिक तथा नैतिक उत्थान* करना होता है।

आन्तरिक तथा बाह्य सुविधाएँ—श्रम कल्याण सम्बन्धी कार्यों को दो वर्गों में विभाजित किया जा सकता है—प्रथम, कारखाने के *अन्दर दी जाने वाली सुविधाएँ (intra-mural)* तथा द्वितीय, कारखाने के बाहर दी जाने वाली सुविधाएँ (extra-mural)। कारखाने के अन्दर दी

---

1 *I L O Asian Regional Conference Report II*, p 3

जाने वाली सुविधाओं के अन्तर्गत स्वास्थ्यप्रद वातावरण, सफाई, स्वच्छ पानी, दवा की सुविधाएँ, कैण्टीन, श्रमिको की शारीरिक सुरक्षा की दृष्टि से किये गये कार्य, जैसे—मशीनों को उचित रूप से ढकना, नौकरी की दशाओं मे सुधार, भर्ती प्रणाली मे सुधार आदि सम्मिलित हैं। कारखाने के बाहर किये जाने वाले श्रम-कल्याण कार्यों (extra mural) के अन्तर्गत श्रमिको के लिए गृह-व्यवस्था, मनोरजन, शिक्षा, भविष्य जमा निधि, वृद्धावस्था, पेंशन आदि सुविधाएँ सम्मिलित हैं।

श्रम-कल्याण के क्षेत्र के सम्बन्ध मे श्रम जाँच समिति के विचार उल्लेखनीय हैं—"श्रम-कल्याण कार्यों के अन्तर्गत श्रमिको के बौद्धिक, शारीरिक, नैतिक और आर्थिक विकास सम्बन्धी कार्यों का समावेश होना चाहिए। ये कार्य चाहे नियोजक, सरकार या अन्य सस्थाओ द्वारा किये जायें अथवा साधारण अनुबन्धनात्मक सम्बन्ध अथवा विधान के अन्तर्गत जो श्रमिको को मिलना चाहिए, उसके अतिरिक्त किये गये हो। अत इसके अन्तर्गत हम गृह व्यवस्था, चिकित्सा तथा शिक्षा सम्बन्धी सुविधाएँ, अच्छा भोजन (कैण्टीन सहित) आराम और मनोरजन की सुविधाएँ, सहकारी समितियाँ, प्रसूति-गृह तथा झूले, शौचालय, वेतन सहित छुट्टियाँ, सामाजिक बीमा, भविष्य निधि, सेवा-निवृत्त वेतन आदि सुविधाओं का समावेश कर सकते हैं।

श्रम-कल्याण की आवश्यकता तथा महत्त्व—श्रमिको के सामाजिक व नैतिक उत्थान के लिए श्रम कल्याण सुविधा देनी आवश्यक है। आर्थिक समृद्धि के लिए औद्योगिक उत्पादन मे वृद्धि करना आवश्यक है। श्रमिक के सहयोग के बिना उत्पादन वृद्धि नहीं की जा सकती। श्रमिक का सहयोग सच्चे अर्थों मे उसी समय प्राप्त हो सकता है जबकि उसे यथेष्ट सुविधाएँ न प्रदान की जायँ जिससे उसे मानसिक चिन्ता से मुक्ति मिल सके। श्रम कल्याण कार्य श्रमिक को कार्यकुशल तथा शारीरिक व मानसिक रूप से स्वस्थ बनाते हैं जिससे उसकी कार्यक्षमता मे वृद्धि होती है तथा उसमे नागरिक उत्तरदायित्व की भावना जाग्रत होती है। श्रम-कल्याण कार्य पर जो कुछ भी व्यय किया जाता है वह मानवीय विनियोजन (investment in man) है जो मशीन, यन्त्र आदि के विनियोजन से कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। सन्तुष्ट श्रम शक्ति के द्वारा उत्पादन मे आशातीत वृद्धि की जा सकती है। श्रम कल्याण सामाजिक न्याय की आधारशिला है।

श्रम-कल्याण काय श्रमिको म कर्तव्य भावना जाग्रत करते है जिससे औद्योगिक शान्ति का वातावरण बनता है। कार्यक्षमता तथा श्रम-कल्याण मे प्रत्यक्ष सम्बन्ध है। "यह एक सैद्धान्तिक तथ्य है कि प्रत्येक कार्य म कार्यक्षमता का उच्च स्तर पाने की केवल उन्ही व्यक्तियो से आशा की जा सकती है जो शारीरिक रूप से स्वस्थ एव मानसिक रूप से सब प्रकार की चिन्ताओं से मुक्त हो, अर्थात् जिनको उचित प्रशिक्षण मिला हो, जो यथोचित मकानो मे रहते हो, उचित रूप से भोजन करते हो और उचित रूप से वस्त्र पहनते हो।"

भारत में श्रम-कल्याण कार्य

स्वतन्त्रता प्राप्ति से पूर्व भारत मे श्रम-कल्याण कार्य उद्योगपतियो की स्वेच्छा पर निर्भर था। केवल कुछ प्रगतिशील उद्योगपति ही श्रम-कल्याण के क्षेत्र मे कुछ सुविधाएँ प्रदान करते थे। ये सुविधाएँ कर्तव्य नहीं अपितु दयाभावना की प्रतीक थी तथा उनकी मात्रा की बहुत कम थी। स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात श्रम कल्याण कार्य को वैधानिक रूप से अनिवार्य कर दिया गया है। वर्तमान समय मे भारत मे जो श्रम कल्याण कार्य किये जाते हैं उनका विवरण निम्नलिखित शीर्षको के अन्तर्गत प्रस्तुत किया जा सकता है

(१) केन्द्रीय तथा राज्य सरकारो द्वारा किये जाने वाले श्रम-कल्याण कार्य,
(२) नियोक्ताओ द्वारा किये जाने वाले श्रम-कल्याण कार्य, या
(३) श्रम-संघो द्वारा किये जाने वाले श्रम-कल्याण काय।

(१) केन्द्रीय तथा राज्य सरकार द्वारा किये गये श्रम-कल्याण कार्य—केन्द्रीय सरकार ने

श्रम-कल्याण के क्षेत्र में जो कार्य किया है, वह मुख्य रूप से वैधानिक अनिवार्यता से सम्बन्धित है। सरकार ने कई ऐसे विधान पारित किये जिनके द्वारा उद्योगपति को श्रम-कल्याण की व्यवस्था करना अनिवार्य कर दिया गया है। इन विधानों के द्वारा श्रम-कल्याण उद्योगपतियों की स्वेच्छा या सद्भावना की वस्तु न रहकर वैधानिक अनिवार्यता की वस्तु हो गया है। जिन औद्योगिक संस्थाओं पर कारखाना अधिनियम, १९४८ लागू होता है उनमें कैण्टीन, आराम गृह, चिकित्सा आदि की व्यवस्था करना अनिवार्य कर दिया गया है। ऐसे कारखानों में श्रम कल्याण अधिकारियों को नियुक्त करना आवश्यक है। ये सुविधाएँ खान अधिनियम, १९५२ तथा बगीचा श्रम अधिनियम, १९५१ (Plantation Act 1951) के अन्तर्गत भी अनिवार्य रूप में देनी पड़ती हैं। इसके अतिरिक्त कोयला तथा अभ्रक की खानों में काम करने वाले श्रमिकों के लिए विशेष कोषों की स्थापना करना वैधानिक रूप से अनिवार्य कर दिया गया है। सरकार ने निरीक्षकों की नियुक्ति की है जो यह देखते हैं कि विभिन्न अधिनियमों की शर्तों का पालन किया जा रहा है या नहीं।

(१) सन् १९४६ में कोयला खान श्रम-कल्याण कोष अधिनियम पारित किया गया, जिसके द्वारा कोयले की खानों में काम करने वाले श्रमिकों के कल्याण सम्बन्धी योजनाओं को कार्यान्वित करने के लिए एक स्वतन्त्र संगठन बनाया गया। एक विशेष कोष प्रारम्भ किया गया है, जिसके द्वारा श्रम-कल्याण कार्यों की वित्तीय व्यवस्था की जाती है। इस कोष द्वारा कई केन्द्रीय अस्पताल तथा क्षय रोग अस्पताल चलाये जा रहे हैं। खानों में काम करने वाले श्रमिकों के बच्चों की प्रारम्भिक शिक्षा के लिए भी योजना बनायी जा रही है। गृह निर्माण के लिए अनुदान तथा ऋण दिया जाता है। इस कार्य के लिए एक कोष निर्माण किया गया है जिसमें कोयले पर ४९·२१ पैसे प्रति मैट्रिक टन की दर पर लगाये गये कर से रकम जमा होती है। १९६८-६९ में इस कोष में ४०७ लाख रुपये की रकम जमा हुई किन्तु ५२६ लाख रुपये का व्यय करना पड़ा।

(२) सन् १९४६ में अभ्रक खान-श्रम कल्याण कोष अधिनियम पारित किया गया। इसके द्वारा भी एक कोष प्रारम्भ किया गया है, जिसमें से चिकित्सा, शिक्षा तथा मनोरंजन सम्बन्धी सुविधाओं की वित्तीय व्यवस्था की जाती है। इस कोष की रकम अभ्रक के निर्यात पर लगाये गये विशेष कर से प्राप्त होती है। वर्तमान में इस विशेष कर की दर २½ प्रतिशत है। इसके द्वारा चार अस्पताल बनाये जा चुके हैं तथा कई लघु चिकित्सालय तथा जच्चा-बच्चा केन्द्र चलाये जा रहे हैं। कोष के द्वारा कई प्रारम्भिक स्कूल खोले गये हैं, बच्चों को छात्रवृत्ति मिलती है तथा पुस्तकें निःशुल्क दी जाती हैं। सन् १९६८-६९ में इस कोष की आय तथा व्यय क्रमशः ३० लाख व ४२ लाख रुपये थी।

(३) सन् १९६१ में The Iron Ore Mines Labour Welfare Cess Act पास किया गया। इसके द्वारा लोहे की खानों में काम करने वाले श्रमिकों के कल्याण कार्यों के हेतु एक कोष प्रारम्भ किया गया है। इस कोष में लोहे के खनन पर २५ पैसे प्रति टन विशेष कर लगाया गया है। इस कोष में से लोहा खानों में काम करने वाले मजदूरों को चिकित्सा, आवास, शिक्षा और मनोरंजन की सुविधाएँ दी जाती हैं।

(४) सन् १९५२ के खान अधिनियम द्वारा खानों में काम करने वाले श्रमिकों की सुरक्षा के लिए नियम बनाये गये हैं। एक 'राष्ट्रीय खान सुरक्षा परिषद' की स्थापना की जा रही है जो शिक्षा तथा प्रचार के माध्यम से सुरक्षा के लिए कार्य करेगी।

(५) सन् १९५१ के Plantations Labour Act द्वारा बागानों में स्थायी श्रमिकों के लिए आवास व्यवस्था करना अनिवार्य कर दिया गया है। इसके अतिरिक्त अस्पताल भी चलाना आवश्यक है। बच्चों की शिक्षा की भी व्यवस्था की जाती है।

(६) सार्वजनिक क्षेत्र के उद्योगों में काम करने वाले श्रमिकों के कल्याण के लिए कोष प्रारम्भ किये गये हैं जिनके द्वारा श्रम-कल्याण कार्यों की वित्तीय व्यवस्था की जाती है।

(७) फैक्टरियों में सुरक्षा व्यवस्था को उत्तम बनाने की दृष्टि से चार National Safety Awards वार्षिक दिये जाते हैं। प्रत्येक Award के अन्तर्गत १५ पुरस्कार दिये जाते हैं। 'श्रम-वीर' पुरस्कार भी प्रतिवर्ष ३५ श्रमिकों को दिये जाते हैं।

राज्य सरकारों द्वारा भी श्रम-कल्याण के क्षेत्र में सराहनीय कार्य किये जा रहे हैं। स्थानीय परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुए, राज्य सरकारों ने श्रम-कल्याण के लिए आवश्यक नियम बनाये हैं। राज्यों द्वारा श्रम-कल्याण केन्द्र चलाये जाते हैं, जिनमें शिक्षा, मनोरंजन आदि की व्यवस्था की जाती है। केन्द्र तथा राज्य सरकारों द्वारा प्रथम पंचवर्षीय योजनाकाल में ७ करोड़ रुपये तथा द्वितीय पंचवर्षीय योजनाकाल में १६.८१ करोड़ रुपये श्रम-कल्याण कार्यों पर व्यय किये गये। तृतीय पंचवर्षीय योजना के अन्तर्गत श्रम-कल्याण कार्यों के लिए ७१.०८ करोड़ रुपये व्यय करने का आयोजन था। १९६१-६६ काल में श्रम-कल्याण तथा प्रशिक्षण पर लगभग ५६ करोड़ रुपये व्यय किये गये तथा १९६६-६९ में इस मद पर ३६ करोड़ रुपये की राशि खर्च की गयी। चतुर्थ योजनाकाल (१९६९-७४) में इस मद पर ३७ करोड़ रुपया व्यय करने का प्रस्ताव किया गया है।

(२) **नियोजकों द्वारा श्रम-कल्याण कार्य**—भारतीय उद्योगपति श्रम-कल्याण कार्यों के प्रति उदासीन रहे हैं। वे श्रम-कल्याण कार्य को एक निरर्थक बोझ मानते हैं, फिर वैधानिक आवश्यकताएँ उन्हें श्रम-कल्याण कार्य करने के लिए बाध्य करती हैं। इस सामान्य परिस्थिति के कुछ अपवाद भी हैं। कुछ उद्योगपतियों ने इस दिशा में सराहनीय प्रयत्न किया है।

(क) **सूती वस्त्र मिल उद्योग**—उद्योगपतियों द्वारा सूती वस्त्र मिलों में चिकित्सालय, मनोरंजन केन्द्र, वाचनालय, शिशु गृह तथा कैण्टीन आदि स्थापित किये गये हैं। जिन मिलों ने श्रम हितकारी कार्य अधिक किया है, उनमें दिल्ली क्लाथ मिल, एम्प्रेस मिल नागपुर, बिरला काटन मिल, दिल्ली, बकिंघम एवं कर्नाटक मिल्स, तमिलनाडु तथा मदुरा मिल्स आदि उल्लेखनीय हैं।

(ख) **जूट उद्योग**—जूट मिलों के श्रमिकों के लिए जूट मिल संघ ने हितकारी कार्य किया है। इस संघ ने पाँच स्थानों पर श्रम-कल्याण केन्द्र खोले हैं। वर्तमान समय में ६५ जूट मिलों में कैण्टीन, ६७ जूट मिलों में चिकित्सालय, १३ मिलों में मातृ-गृह, ४३ मिलों में शिशु गृह, ३२ मिलों में स्कूल तथा २२ मिलों में मनोरंजन केन्द्र चलाये जा रहे हैं।

(ग) **चीनी उद्योग**—चीनी के सभी बड़े कारखानों में चिकित्सालय की व्यवस्था की गयी है। इसके अतिरिक्त स्कूल, मनोरंजन केन्द्र, कैण्टीन आदि सुविधाएँ भी उपलब्ध होती हैं।

इसी प्रकार ऊनी वस्त्र उद्योग, इंजीनियरी उद्योग, बागान उद्योग तथा खानों में श्रम हितकारी कार्य किये गये हैं।

(३) **श्रम संघों द्वारा किये गये श्रम-कल्याण कार्य**—भारत में श्रम संघों के पास धन का अभाव है। इसके अतिरिक्त उन्होंने रचनात्मक कार्यों पर बहुत कम ध्यान दिया है। अतः श्रम-कल्याण के क्षेत्र में श्रम संघों द्वारा किये गये कार्य नगण्य हैं। फिर भी कुछ श्रम संघों ने इस दिशा में कुछ प्रयत्न किये हैं। उनमें अहमदाबाद टेक्सटाइल वर्कर्स ऐसोसिएशन, मजदूर सभा कानपुर, मिल सभा, इन्दौर तथा फैडरेशन ऑफ इण्डियन लेबर के नाम प्रमुख हैं। अहमदाबाद का संघ अपनी आय का लगभग $\frac{1}{3}$ भाग श्रम-कल्याण कार्यों पर व्यय करता है। फैडरेशन ऑफ इण्डियन लेबर ने उत्तर प्रदेश में ४८ श्रम-कल्याण केन्द्र स्थापित किये हैं।

अन्य देशों के श्रम संघों की तुलना में भारतीय श्रम संघ श्रम-कल्याण के लिए बहुत कम कार्य करते हैं। भारत में उपर्युक्त तीनों एजेन्सियों द्वारा जो श्रम-कल्याण कार्य किये गये हैं उनके

क्षेत्र अत्यन्त सीमित है। अतः इस दिशा में सरकार, उद्योगपति तथा श्रम संघों को और अधिक प्रयत्न करने की आवश्यकता है। श्रमिक देश के औद्योगिक ढाँचे के आधारस्तम्भ हैं, अतः जब तक उनकी सुविधाओं का ध्यान नहीं रखा जायेगा, वे हार्दिक सहयोग नहीं दे सकते। अब भी उद्योगपति श्रम हितकारी कार्यों की उपयोगिता से अनभिज्ञ हैं। उन्हें यह समझना चाहिए कि "मशीनों का महत्व मानव जीवन से अधिक नहीं है, श्रमिक परिवार के बच्चे से लाभ अधिक पवित्र नहीं है, कार्यरत कर्मचारी की सुरक्षा व समस्त लाभांश की प्राथमिकता नहीं है। यन्त्रों पर आर्थिक नियन्त्रण यह अधिकार नहीं प्रदान करता कि उद्योग में कार्य करने वाले साझेदार (श्रमिक) को उसके द्वारा उत्पादित वस्तु से उचित हिस्से से वंचित किया जाय तथा इसमें उसकी कोई उचित आवाज न हो।" समाजवादी समाज की रचना के लिए अधिक उत्पादन की आवश्यकता है। श्रम कल्याण सामाजिक न्याय की एक सीढ़ी है जो हमें समाजवादी समाज के लक्ष्य की ओर अग्रसर करने में सहायक होगी।

३. श्रमिकों की गृह-समस्या

भारत में श्रमिकों की गृह समस्या एक गम्भीर समस्या है। श्रमिकों की संख्या में औद्योगीकरण के कारण तेजी से वृद्धि हुई है परन्तु गृह निर्माण की प्रगति बहुत धीमी रही है। शहरों की बढ़ती हुई जनसंख्या ने इस समस्या को और भी गम्भीर बना दिया है। औद्योगिक केन्द्रों में मकान बनाने के लिए जमीन तक नहीं मिलती। श्रमिक किसी प्रकार अपनी गुजर करते हैं। बड़े शहरों में मजदूर जिस प्रकार के मकानों में रहते हैं, उन्हें मकान की संज्ञा नहीं दी जा सकती। बम्बई में श्रमिकों के आवास तथा कानपुर में उनके अहाते जीवित नरक के प्रत्यक्ष प्रमाण हैं। उनके कमरों में वायु तथा प्रकाश का प्रवेश बड़ी कठिनाई से होता है। कुछ मकानों में तो प्रकाश का प्रवेश प्रायः निषिद्ध है। एक ही कमरे में श्रमिक पशुओं की भाँति ठूँस ठूँसकर भरे रहते हैं। अत्यन्त अस्वास्थ्यकर वातावरण के बीच, एक एक छोटे कमरे में अनेक श्रमिक रहते हैं। स्वर्गीय प० जवाहरलाल नेहरू ने कानपुर में श्रमिकों की बस्तियों का निरीक्षण करते हुए सन् १९५२ में कहा था, 'भारतीय श्रमिकों की निवास समस्या बहुत ही जटिल है तथा उनके रहने के स्थान मैली कुचैली गली से अच्छे नहीं कहे जा सकते।" शाही श्रम आयोग ने कानपुर के अहातों के सम्बन्ध में कहा है, "प्रायः प्रत्येक मकान एक एक कमरे का है जिसकी लम्बाई चौड़ाई ८ × १० फुट है। किसी भी कमरे के आगे बरामदा नहीं है और प्रत्येक कमरे में ३-४ परिवार रहते हैं। फर्श कच्चा है तथा नमी रहती है। कहीं भी स्वच्छ वायु प्रकाश आदि का प्रबन्ध नहीं है।"

बम्बई में परिस्थिति और भी बदतर है। वहाँ पर ७०% से अधिक मजदूर एक-एक कमरे के मकान में रहते हैं। उन कमरों में श्रमिक गोदाम में माल की भाँति भरे रहते हैं। हर्ट ने इनका वर्णन इस प्रकार किया है, 'जिसमें दो व्यक्ति भी एक साथ नहीं जा सकते ऐसी तंग गली में घुसने के बाद इतना अँधेरा था कि हाथ से ढूँढ़ने पर दरवाजा मिला। दिन के १२ बजे कमरे की यह दशा थी कि उसमें सूर्य का प्रकाश बिलकुल नहीं था। दियासलाई जलाने पर मालूम हुआ कि उस कमरे में भी अनेक श्रमिक रहते हैं।" शाही श्रम आयोग ने बम्बई के श्रमिक आवास-गृह के सम्बन्ध में कहा था, "उन्हें पूर्णतया समाप्त कर देने के अतिरिक्त अन्य सुधार की कोई गुंजाइश नहीं है।

गन्दी सराब व तंग गलियों के बीच बने छोटे, प्रकाशहीन, सीलनमय कमरों में, जिनमें वायु प्रवेश नहीं करती, भारत के श्रमिक निवास करते हैं। स्वर्गीय प० नेहरू ने इन्हें 'नरककुण्ड' की संज्ञा दी थी। ऐसे कमरों में रहने वाले श्रमिकों के स्वास्थ्य व कार्यक्षमता का अनुमान सरलता से लगाया जा सकता है। श्रमिकों की बस्तियाँ गन्दगी, दुर्गन्ध, बीमारी, आचारहीनता अपराध, शराबखोरी तथा झगड़ों की प्रश्रय भूमि हैं। डॉ० राधाकमल मुकर्जी ने बड़े ही मर्मस्पर्शी शब्दों में कहा है, 'भारतीय औद्योगिक केन्द्रों की श्रम बस्तियों की दशा इतनी भयंकर है कि वहाँ मानवता

का विध्वंस होता है, महिलाओं के सतीत्व का नाश होता है तथा देश के भावी आधारस्तम्भ शिशुओं का गला घुटता है।"

गृह समस्या को सुलझाने के प्रयत्न—गत कुछ वर्षों में श्रमिकों की गृह समस्या समाधान की दिशा में कुछ प्रयत्न किये गये हैं। कुछ उद्योगपतियों ने इस दिशा में सराहनीय प्रयत्न किये हैं। कानपुर ग्वालियर अहमदाबाद तथा जमशेदपुर में औद्योगिक संस्थानों की ओर से श्रमिकों के लिए मकान बनवाये गये हैं परन्तु श्रमिक गृह-समस्या इतनी जटिल समस्या है कि इन प्रयत्नों से उसका शतांश समाधान भी नहीं हुआ है। उद्योगपतियों ने इस समस्या के समाधान के लिए कितना प्रयत्न किया है, इसके सम्बन्ध में आवश्यक आँकड़े उपलब्ध नहीं हैं। अतः यहाँ पर केवल सरकारी प्रयत्नों का ही विवरण दिया जा रहा है।

सन् १९४८ की औद्योगिक नीति में यह घोषणा की गयी थी कि आगामी दस वर्षों में श्रमिकों के लिए १० लाख मकानों का निर्माण किया जायेगा। सन् १९४९ में एक औद्योगिक आवास योजना की घोषणा की गयी परन्तु धनाभाव के कारण इस योजना को विशेष सफलता नहीं मिली। इसके पश्चात सितम्बर १९५२ में राज्य साहाय्य औद्योगिक आवास योजना (Subsidised Industrial Housing Scheme) प्रारम्भ की गयी।

(१) **राज्य साहाय्य औद्योगिक आवास योजना**—इस योजना के अन्तर्गत केन्द्रीय सरकार राज्य सरकारों को ब्याज पर ऋण देती है। राज्य सरकारें इस धन का उपयोग श्रमिकों के लिए मकान बनवाने के लिए हाउसिंग बोर्ड स्थानीय निकायों, उद्योगपतियों तथा औद्योगिक श्रमिकों की सहकारी समितियों को ऋण देकर करती हैं। यह सहायता केवल उन श्रमिकों को मकान बनाने के लिए दी जाती है जो कारखाना अधिनियम, १९४८ की धारा २ (१) के अन्तर्गत तथा खान अधिनियम, १९५२ की धारा २ (h) के अन्तर्गत आते हैं (कोयला तथा अभ्रक की खानों में काम करने वाले श्रमिकों को छोड़कर)। योजना की यह प्रमुख विशेषता है कि सरकार पूरी रकम ऋण के रूप में न देकर कुछ अंश अनुदान के रूप में भी देती है। ऋण दीर्घकालीन तथा ब्याज सहित होता है।

जुलाई १९५३ में इस योजना में संशोधन किया गया तथा संशोधित योजना की उल्लेखनीय बातें निम्नलिखित हैं

(१) केन्द्रीय सरकार द्वारा श्रमिकों के गृह-निर्माण के लिए ५०% ऋण तथा ५०% अनुदान (subsidy) के रूप में दिया जाता है। यह राशि हाउसिंग बोर्ड, स्थानीय निकायों आदि को दी जाती है।

(२) उद्योगपतियों (Industrial Employers) तथा औद्योगिक श्रमिक सहकारी समितियों को कुल व्यय के क्रमशः ७५% तथा ९०% ऋण के रूप में सहायता दी जाती है। दोनों परिस्थितियों में २५% अनुदान (subsidy) दिया जाता है।

(३) शेष १०% श्रमिक द्वारा दिया जाता है। श्रमिक को यह सुविधा दी गयी है कि वह अपनी भविष्य जमा निधि (Provident Fund) से इस राशि के बराबर ऋण ले सकता है जिसे उसे चुकाने की आवश्यकता नहीं है।

द्वितीय पंचवर्षीय योजना के अन्त तक योजना के अन्तर्गत १,४०,००० घरों (tenements) के निर्माण के लिए स्वीकृति दी जा चुकी थी। इनकी कुल लागत ४५ करोड़ रुपये थी। योजना के अन्त तक लगभग एक लाख घर बन चुके थे।

तृतीय पंचवर्षीय योजनाकाल में इसके अन्तर्गत ७३,००० घरों का निर्माण करने की व्यवस्था थी। इसके लिए २९.८ करोड़ रुपए की व्यवस्था की गयी।

वर्तमान में कम आमदनी वाले वर्गों के लिए बनाये गये मकान श्रमिकों को प्राथमिकता के

आधार पर दिये जाते हैं। इनका केवल ७५ प्रतिशत मूल्य लिया जाता है जिसे आसान किस्तों मे चुकाने की व्यवस्था है। मार्च १६६६ तक इस योजना पर केन्द्र सरकार द्वारा लगभग ६७ ०५ करोड रुपये की रकम स्वीकृत की जा चुकी है और १,६७,०३२ मकान बनाये जा चुके हैं।

(२) बागान श्रमिक गृह-निर्माण योजना (Plantation Labour Housing Scheme)—बागान श्रम अधिनियम १६५१ के अन्तर्गत बागानो मे रहने वाले श्रमिको (resident workers) के लिए नियोक्ता द्वारा गृह-निर्माण कराना अनिवार्य है। छोटे नियोक्ताओ की सहायता के लिए अप्रैल १६५६ मे यह योजना बनायी गयी, जिससे वे अपने दायित्वो का पालन कर सकें। इस योजना के अन्तर्गत बागान के मालिको को मकान के सम्भावित मूल्य का ७५ प्रतिशत (२५ प्रतिशत अनुदान तथा ५० प्रतिशत ऋण) दे दिया जाता है। दिसम्बर १६६६ तक इस योजना के अन्तर्गत २,४४३ से अधिक मकान बनाने की स्वीकृति दी जा चुकी थी और १,६१४ मकान बनाये जा चुके थे। राज्य सरकारें इस योजना पर लगभग ३७ ५५ लाख रुपया वितरित कर चुकी हैं।

(३) कोयला तथा अभ्रक की खानों के श्रमिको के लिए गृह-योजना—द्वितीय योजनाकाल मे इन खानो मे काम करने वाले श्रमिको के लिए अतिरिक्त गृह-निर्माण योजना लागू की गयी है।

(क) द्वितीय पचवर्षीय योजनाकाल मे इसके अन्तर्गत ५०,००० मकान बनाने थे।

(ख) इसके अतिरिक्त केवल कोयला की खानो मे काम करने वाले श्रमिको के लिए ३०,००० मकान बनाने का लक्ष्य रखा गया था।

(ग) इसके अतिरिक्त भी ३०,००० और मकानो का निर्माण किया जाना था। इस अन्तिम लक्ष्य की पूर्ति के लिए ११ ४ करोड रुपये की व्यवस्था कोयला खान श्रम-कल्याण निधि से की जानी थी। योजनाकाल मे इस निधि से ८ करोड रुपये व्यय किये गये। इसके द्वारा ३,६६८ मकान बनाये गये। प्रथम (अ) के अन्तर्गत ३१,००० मकान श्रमिको को दिये गये। द्वितीय (आ) के अन्तर्गत लगभग १३,००० मकान बन चुके हैं।

(४) जहाजी श्रमिकों के लिए गृह-निर्माण योजना—तृतीय पचवर्षीय योजना मे बन्दरगाहो मे काम करने वाले रजिस्टर्ड श्रमिको के लिए गृह-निर्माण योजना जारी की गयी है। तृतीय योजना मे इसके लिए २ करोड रुपये की व्यवस्था की गयी और लगभग ५,००० मकान इस स्कीम के अन्तर्गत बनाये गये।

(५) गन्दी बस्तियो की सफाई योजना—यह योजना १६६० मे लागू की गयी है। इसके अन्तर्गत केन्द्रीय सरकार, राज्य सरकारो के माध्यम से स्थानीय निकायो को आर्थिक सहायता देती है। इस योजना के अन्तर्गत गन्दी बस्तियो मे रहने वाले लोगो को पुनर्वास सहायता दी जाती है। यह योजना वर्तमान समय मे बम्बई, कलकत्ता, तमिलनाडु, कानपुर, दिल्ली तथा अहमदाबाद मे लागू की गयी है। बम्बई तथा कलकत्ता के २५० रुपये मासिक से कम पाने वाले तथा अन्य क्षेत्र मे १७५ रुपये मासिक मे कम पाने वाले श्रमिको को यह सहायता दी जाती है। यदि आवश्यक हो तो देश के अन्य शहरो मे भी यह योजना कार्यान्वित की जा सकती है। यह योजना १६६८ मे स्वास्थ्य एव परिवार नियोजन मन्त्रालय को हस्तान्तरित कर दी गयी।

नई दिल्ली मे केन्द्रीय सरकार इस योजना पर ६० लाख रुपये खर्च कर चुकी है। वर्ष के अन्त तक जुलाई के पहले ६,००० प्लॉट तथा जुलाई के बाद ४,००० शिविर स्थान और १,६६० उपवेशी बनाये जाने का सुझाव है।

प्रश्न

१. 'भारत मे श्रम-कल्याण योजनाओ' पर टिप्पणी लिखिए।

(विक्रम, बी० ए०, १६६०, १६६२)

२. भारत के औद्योगिक केन्द्रो मे निवास-स्थान की समस्या की मुख्य विशेषताएँ क्या हैं ?
(इलाहाबाद, बी० ए०, १९६१)

३ गत वर्षों मे भारत सरकार द्वारा श्रम-कल्याण के क्षेत्र मे क्या कार्य किये गये हैं ? क्या ये कार्य सन्तोषजनक हैं ?
(पटना, बी० ए०, १९६२)

४ क्या सामाजिक सुरक्षा औद्योगिक शान्ति प्रदान करेगी ? (इलाहाबाद, बी० ए०, १९६०)

५ भारत मे श्रमिको को उपलब्ध सामाजिक सुरक्षा के स्वभाव का आलोचनात्मक परीक्षण कीजिए।
(गोरखपुर, बी० ए०, १९६१)

६ कर्मचारी राज्य बीमा विधान तथा कर्मचारी प्रॉविडेण्ट फण्ड विधान की समीक्षा कीजिए।
(सागर, बी० ए०, १९५३)

७ श्रम कल्याण का क्या अर्थ है ? भारत मे उद्योगपतियो तथा राज्य सरकारो द्वारा किये गये श्रम-कल्याण कार्यों का उल्लेख कीजिए ?
(जबलपुर, बी० कॉम०, १९६३)

८ स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् भारत मे किये गये श्रम कल्याण कार्यों की समीक्षा कीजिए। क्या ये कार्य पर्याप्त हैं ?
(पटना, बी० ए०, १९६३)

९ 'कर्मचारी राज्य बीमा योजना' की प्रमुख विशेषताओ का उल्लेख कीजिए। क्या आप इसे औद्योगिक श्रम के लिए सामाजिक सुरक्षा की यथेष्ट व्यवस्था मानते हैं ?
(राजस्थान, बी० कॉम० (अन्तिम वर्ष), १९६८)

१० औद्योगिक श्रमिको [की कल्याण-वृद्धि के लिए विगत वर्षों मे भारत सरकार द्वारा किये गये उपायो का एक विवरण प्रस्तुत कीजिए। क्या यह उपाय पर्याप्त हैं ?
(राजस्थान, बी० कॉम० (अन्तिम वर्ष), १९७१)

36 औद्योगिक सम्बन्ध—औद्योगिक संघर्ष

(INDUSTRIAL RELATIONS—INDUSTRIAL DISPUTES)

औद्योगिक संघर्ष वर्तमान पूँजीवादी अर्थ-व्यवस्था तथा विशाल उद्योगों की देन है। प्रबन्ध-व्यवस्था में श्रमिकों का स्थान न होने के कारण उद्योगपति तथा श्रमिकों के विचारों में अन्तर बढ़ता जाता है। बड़े पैमाने के उद्योगों में आर्थिक शक्ति के केन्द्रीकरण की प्रवृत्ति होती है। लाभ की अधिक मात्रा देखकर श्रमिक यह अनुभव करता है कि उसका शोषण हो रहा है। अतः वह श्रमिक संघ की ओर उन्मुख होता है। उद्योगपति यह सोचता है कि श्रमिक संघ उसकी सत्ता को हनन करने का एक षड्यन्त्र है। अतः औद्योगिक संघर्ष के रूप में श्रमिकों का असन्तोष व्यक्त होता है। हड़ताल, तालाबन्दी, काम से अनुपस्थित होना, मन्द गति से काम करना आदि इस संघर्ष के रूप होते हैं। वस्तुतः औद्योगिक संघर्ष उस बीमारी का लक्षण है जिसे कुचलने की नहीं, अपितु दूर करने की आवश्यकता है। इसका समाधान श्रमिकों एवं उद्योगपतियों के दृष्टिकोण में परिवर्तन में निहित है। निःसन्देह, श्रमिक तथा सरकार तीनों की सद्भावना व प्रयत्न से उचित औद्योगिक शान्ति का वातावरण तैयार किया जा सकता है। असन्तोष क्रान्तिमूलक है अतः इसे दूर करना अत्यावश्यक है।

भारत में औद्योगिक संघर्ष—उद्योगों के विकास की प्रारम्भिक अवस्था में औद्योगिक संघर्ष की समस्या नहीं थी क्योंकि उद्योगपति संगठित तथा शक्तिशाली थे और श्रमिक कमजोर तथा असंगठित थे। उन्नीसवीं शताब्दी में औद्योगिक कलह का केवल एक उल्लेखनीय उदाहरण मिलता है जबकि १८७७ में नागपुर की एम्प्रेस मिल में हड़ताल हुई थी। श्रमिकों ने प्रथम विश्वयुद्ध के पश्चात् ही हड़ताल को एक महत्त्वपूर्ण शक्ति के रूप में अपनाया। जीवन निर्वाह व्यय में वृद्धि के कारण असन्तोष फैला, रूस की क्रान्ति ने श्रमिकों में जागरूकता ला दी तथा अन्तरराष्ट्रीय श्रम संगठन के कारण श्रम संघों को बल मिला। राष्ट्रीय आन्दोलन के नेताओं ने भी श्रम समस्याओं पर विचार करना तथा श्रमिकों के प्रति सहानुभूति प्रदर्शित करना प्रारम्भ कर दिया।

सन् १९१९-२० में देश के कुछ उद्योगों में सफल हड़तालें हुईं। सन् १९२८ के पश्चात् आर्थिक मन्दी के समय भी हड़तालें की गयीं। सरकार इस समस्या के प्रति उदासीन रही तथा जो कुछ भी किया वह जन-सुरक्षा तथा कानून की रक्षा के नाम पर किया। सन् १९२९ में शाही श्रम आयोग (Royal Commission on Labour) नियुक्त किया गया जिसके प्रतिवेदन का प्रकाशन सन् १९३१ में हुआ। इस प्रतिवेदन के प्रकाशन के पश्चात् केन्द्रीय तथा प्रान्तीय सरकारों ने वैधानिक कदम उठाये। सन् १९३०-१९३७ की अवधि तुलनात्मक औद्योगिक शान्ति की अवधि थी। परन्तु १९३७-३९ में हड़तालों का तांता लग गया। इसका प्रमुख कारण प्रान्तों में कांग्रेसी मन्त्रिमण्डलों

के बनाए जाने से श्रमिकों में उत्साह की नयी लहर का आना तथा मन्दीकाल में कम की गयी मजदूरी की दरों में वृद्धि की माँग था। युद्धकाल में भारत सुरक्षा नियम की धारा ८१ (अ) लागू होने के कारण अपेक्षाकृत औद्योगिक शान्ति रही। सन् १९४२ में श्रमिकों के 'भारत छोड़ो आन्दोलन' में भाग लेने के कारण कुछ हड़तालें हुईं।

युद्धकाल तथा युद्धोपरान्तकाल में हुए औद्योगिक संघर्षों का अनुमान निम्नलिखित सारणी से लगाया जा सकता है

वर्ष	संघर्षों की संख्या	भाग लेने वाले श्रमिकों की संख्या (हजार में)	क्षति हुए दिनों की संख्या (दस लाख में)
१९५०	८१४	७२०	१२·८१
१९६०	१,५८३	९८६	६·५४
१९६७	२,८१५	१,४९०	१७·१४
१९६८	२,७७६	१,६६१	१७·२४

सन् १९४७ में औद्योगिक संघर्षों की संख्या सर्वाधिक थी। सन् १९५५ में कानपुर की सूती वस्त्र मिलों में अभिनवीकरण के विरोध में हुई हड़ताल ऐतिहासिक कही जा सकती है। यह हड़ताल ८० दिन चली थी तथा इसमें ४५,००० श्रमिकों ने भाग लिया था। सन् १९५७ के पश्चात् संघर्षों की संख्या में कमी हुई परन्तु क्षति बढ़ती गयी। सन् १९६२ व १९६३ अपेक्षाकृत शान्तिपूर्ण वर्ष रहे हैं। इसका कारण राष्ट्रीय संकट की स्थिति था। सन् १९६५, १९६६, १९६७ तथा १९६८ में मूल्य स्तर में वृद्धि के कारण हड़तालों की संख्या बहुत बढ़ गयी।

औद्योगिक संघर्ष के कारण—औद्योगिक संघर्ष के प्रमुख कारण आर्थिक हैं। उद्योगपति ऊँची दर पर लाभ प्राप्त करने पर भी श्रमिकों की मजदूरी में वृद्धि नहीं करते। जीवन निर्वाह व्यय में वृद्धि के कारण श्रमिक ठीक से जीवन-निर्वाह नहीं कर पाते। अतः वे ऊँची दर पर मजदूरी की माँग करते हैं। उद्योगपति श्रमिकों के प्रति मानवीय दृष्टिकोण नहीं अपनाते। श्रमिक सोचता है कि उसका शोषण हो रहा है। कभी-कभी काम करने की दशाओं, छँटनी, छुट्टी आदि के कारण भी हड़तालें होती हैं। परन्तु मुख्यतया इन संघर्षों के कारण आर्थिक ही होते हैं। सामान्यतः हड़तालों के मुख्य कारण निम्नलिखित होते हैं

(१) मजदूरी, भत्ता, बोनस आदि—औद्योगिक संघर्ष का मूल कारण मजदूरी, भत्ता आदि है। मूल्य स्तर में वृद्धि के कारण जीवन निर्वाह स्तर में वृद्धि हो जाती है। अतः श्रमिक मजदूरी में वृद्धि की माँग करते हैं। भारत में मजदूरी मोलभाव के आधार पर निश्चित की जाती है, श्रमिक ऊँची मजदूरी की माँग करते हैं। फलस्वरूप औद्योगिक संघर्ष होता है। पहले बोनस स्वेच्छापूर्वक उद्योगपतियों द्वारा दिया जाता था परन्तु अब मजदूर बोनस को अपनी सामान्य मजदूरी का अंग मानते हैं। अतः कम लाभ या बिल्कुल लाभ न होने वाले वर्ष में भी वे बोनस की माँग करते हैं।

(२) रोजगार व छँटनी—रोजगार व छँटनी सम्बन्धी कारण भ्रातृ-भावना तथा अपने सहयोगियों के प्रति सहानुभूति के प्रतीक हैं। अनुशासन के कारण भी यदि कुछ श्रमिकों की छँटनी की जाती है तो मजदूर हड़ताल का सहारा लेते हैं। कभी उच्च अधिकारियों के दुर्व्यवहार के विरोध में भी हड़तालें की जाती हैं। श्रम-संघों को स्वीकृति न देने के कारण भी हड़तालें होती हैं।

(३) छुट्टियाँ व काम के घण्टे—काम के घण्टों में कमी की माँग, किसी सामाजिक या धार्मिक अवसर पर छुट्टी की माँग या कुछ श्रमिकों को छुट्टी देने में सहानुभूति न दिखाने के कारण भी हड़तालें होती हैं। परन्तु इन कारणों से हुई हड़तालों की संख्या सदैव कम रही है।

(४) भर्ती प्रणाली—भारत में मजदूरों की भर्ती मध्यस्थों के द्वारा की जाती है अत: कभी मध्यस्थों की सहानुभूति या कभी उनके विरोध में हड़ताल होती है।

(५) श्रम-संघ—भारतीय श्रमिक संघ विध्वंसात्मक कार्यों में अधिक विश्वास रखते हैं। हड़ताल का प्रयोग वे अन्तिम नहीं बल्कि प्रथम शस्त्र के रूप में करते हैं। इसके अतिरिक्त श्रम-संघों के बाहुल्य ने उनमें पारस्परिक प्रतिस्पर्द्धा को प्रोत्साहित किया है। प्रत्येक संघ अपने प्रति-स्पर्द्धी पर सर्वस्व प्राप्त करने के लिए अपने सदस्यों की नयी मांगों का सृजन कर हड़तालों का आह्वान करता है।

(६) स्वार्थपूर्ण नेतृत्व तथा राजनीति—श्रमिक संघों का मार्ग-दर्शन राजनीतिक नेताओं द्वारा किया जाता है और अशिक्षित होने के कारण श्रमिक नेताओं के बहकावे में आ जाते हैं। नेता प्राय अपनी स्वार्थसिद्धि के लिए हड़ताल कराते हैं।

(७) काम करने की दशाएँ—कारखानों के अन्दर काम करने की असन्तोषजनक दशाएँ भी हड़तालों का कारण बन जाती हैं। बहुत-से कारखानों का वातावरण स्वास्थ्यकर नहीं है अथवा श्रमिकों के लिए उचित गृह-व्यवस्था नहीं है। अत काम करने की उचित दशाओं की मांग को लेकर भी हड़तालें होती हैं।

(८) प्रबन्ध सम्बन्धी कारण—दोषपूर्ण प्रबन्ध व्यवस्था या श्रमिकों को प्रबन्ध व्यवस्था में कोई भाग न लेने देने के कारण भी हड़तालें होती हैं। मिल-मालिक मजदूरों को छोटे-छोटे कारणों पर परेशान करते रहते हैं। अत प्रबन्धकों के दुर्व्यवहार के विरोध में हड़तालें होती हैं।

औद्योगिक शान्ति की दिशा में भारत में प्रयत्न—भारत में औद्योगिक संघर्ष को रोकने के लिए तथा औद्योगिक संघर्ष की स्थिति में शान्ति स्थापित करने के लिए कुछ सराहनीय प्रयत्न किये गये हैं। इन प्रयत्नों का अध्ययन निम्नलिखित दो शीर्षकों के अन्तर्गत किया जा सकता है

(I) औद्योगिक संघर्षों के निबटारे सम्बन्धी प्रयत्न, और

(II) औद्योगिक संघर्षों को रोकने सम्बन्धी प्रयत्न।

(I) संघर्ष के निबटारे के लिए प्रयत्न—औद्योगिक संघर्षों को रोकने एवं औद्योगिक शान्ति स्थापित करने हेतु निम्नलिखित प्रयास किये गये हैं

(१) श्रम विवाद अधिनियम (Trade Disputes Act, 1929)—भारत में सन् १९२९ तक औद्योगिक झगड़ों के निबटारे के लिए कोई भी कार्य नहीं गया था। मिल-मालिकों तथा श्रमिकों के पारस्परिक समझौतों के द्वारा ही झगड़ों को रोका जा सकता था। सन् १९२९ में Indian Trade Disputes Act पास किया गया। इस अधिनियम के अन्तर्गत केन्द्रीय सरकार को यह अधिकार मिला कि वह श्रम सम्बन्धी झगड़ों को समझौता बोर्ड (Board of Conciliation) या स्थायी जाँच अदालतों (Ad-hoc Courts Enquiry) को सौंप सकती है।

(अ) समझौता बोर्ड—अधिनियम के अन्तर्गत समझौता बोर्डों की स्थापना की गयी। समझौता बोर्ड झगड़े के दोनों पक्षों में समझौता कराने का प्रयत्न करते थे। समझौता होने की स्थिति में वे सरकार को अपनी रिपोर्ट भेज देते थे।

(आ) अस्थायी जांच अदालत—औद्योगिक झगड़ा होने पर अस्थायी जाँच अदालत की नियुक्ति की जाती थी। अदालतें औद्योगिक झगड़ों की जाँच करती थीं तथा अपनी रिपोर्ट समझौता बोर्ड के पास भेजती थीं।

(इ) अधिनियम के अन्तर्गत यह व्यवस्था की गयी थी कि सार्वजनिक हित सम्बन्धी उद्योगों (Public Utilities Services), जैसे—विद्युत, जल पूर्ति, रेल, डाक-तार आदि में हड़ताल के लिए १४ दिनों की पूर्व सूचना देना आवश्यक था।

कमियाँ—इस अधिनियम में झगड़ों को रोकने के लिए कोई व्यवस्था नहीं थी। इसके

अतिरिक्त समझौता बोर्डों या जांच अदालतों के निर्णय को कार्यान्वित करने के लिए सरकार को अधिकार नहीं था। समझौते की कोई स्थायी व्यवस्था नहीं थी। बहुत कम मामलों में जांच अदालत का निर्माण किया गया। इस अधिनियम की एक मुख्य व्यवस्था यह थी कि इसके द्वारा ऐच्छिक पंचनिर्णय (Optional Arbitration) के सिद्धान्त को अपनाया गया। सन् १९३८ में इस एक्ट में संशोधन किया गया जिसके द्वारा सरकार को समझौता अधिकारियों की नियुक्ति का अधिकार दिया गया। ये औद्योगिक झगड़ों में मध्यस्थता करते थे या निबटारे का प्रबन्ध करते थे।

द्वितीय महायुद्ध काल में सरकार ने भारत सुरक्षा अधिनियम की धारा ८१ (अ) लागू की। इस नियम के अनुसार केन्द्रीय तथा प्रान्तीय सरकारों को हड़ताल या तालाबन्दी को अवैधानिक घोषित करने का अधिकार दिया गया। सरकार को यह भी अधिकार था कि वह किसी भी औद्योगिक झगड़े को समझौते (Conciliation) या निष्पक्ष निर्णय (Adjudication) के लिए दे दे। इस प्रकार जो निर्णय प्राप्त होता था उसे लागू किया जाता था। निर्णय की अवधि के निर्णय के पश्चात् हड़ताल को गैर-कानूनी घोषित कर दिया जाता था। इस नियम के कारण युद्ध काल में औद्योगिक शान्ति का वातावरण बना रहा। इसके पूर्व बम्बई प्रान्त में The Bombay Trade Disputes Conciliation Act, 1934 तथा The Bombay Industrial Dispute Act 1938 पास हुआ परन्तु इन विधानों का अखिल भारतीय महत्त्व नहीं है।

(२) औद्योगिक संघर्ष अधिनियम, १९४७—इस अधिनियम के अन्तर्गत १९२९ के विधान तथा भारत सुरक्षा अधिनियम की व्यवस्थाओं को सम्मिलित करने का प्रयत्न किया गया। इस अधिनियम के अन्तर्गत औद्योगिक संघर्ष के लिए दो प्रकार की व्यवस्थाएँ की गयीं—(क) आन्तरिक व्यवस्था (Internal machinery) और (ख) बाह्य व्यवस्था (External machinery)।

(क) आन्तरिक व्यवस्था—कार्य समितियाँ—औद्योगिक संघर्ष अधिनियम उन सभी औद्योगिक संस्थानों पर लागू किया गया जिनमें १०० या अधिक श्रमिक काम करते हों। औद्योगिक संस्थानों में 'कार्य-समितियों' की स्थापना करना अनिवार्य कर दिया गया। समितियों का उद्देश्य श्रम तथा पूँजी के बीच सौहार्द्र एवं सहयोगपूर्ण वातावरण बनाये रखना है। 'समिति' श्रमिकों के हितों पर विचार करती है तथा श्रम व पूँजी में मतभेद होने पर समझौता कराने का प्रयत्न करती है।

(ख) बाह्य व्यवस्था—औद्योगिक झगड़ों के फैसले के लिए इस अधिनियम के अन्तर्गत कुछ बाह्य व्यवस्थाएं भी की गयीं जिनका विवरण इस प्रकार है :

(i) समझौता अधिकारी—औद्योगिक संघर्ष होने की अवस्था में मामला समझौता अधिकारी को सौंपा जाता है। समझौता अधिकारी समझौता कराने का प्रयत्न करता है। इस प्रकार के समझौते का दोनों पक्षों को अनिवार्य रूप से मानना पड़ता है। समझौता न होने की स्थिति में समझौता अधिकारी १४ दिनों के अन्दर अपनी रिपोर्ट सरकार के पास भेजता है। सरकार ऐसे मामलों को समझौता मण्डल या जांच न्यायालय के पास भेज देती है जिसका निर्णय दोनों पक्षों को मान्य होता है।

(ii) समझौता मण्डल—यह मण्डल दो माह के अन्दर समझौता कराने का प्रयत्न करता है। इसके द्वारा किये गए समझौते दोनों पक्षों को कम से कम ६ माह या दोनों पक्षों की सहमति से अधिक दिनों के लिए लागू होते हैं। समझौता न होने की अवस्था में बोर्ड अपना प्रतिवेदन सरकार के पास भेज देता है।

(iii) जांच न्यायालय—यह न्यायालय औद्योगिक संघर्ष के विषय में आवश्यक जांच करते हैं तथा ६ माह के अन्दर अपना प्रतिवेदन सरकार के पास भेजते हैं।

(iv) औद्योगिक न्यायालय—ये न्यायालय औद्योगिक संघर्षों का निर्णय करने के लिए सर्वोच्च न्यायालय हैं। औद्योगिक न्यायालय में हाईकोर्ट जज या जिला जज के पद के दो या दो से

अधिक सदस्य होते है । औद्योगिक झगडे सरकार द्वारा इस न्यायालय को सौंपे जाते हैं । न्यायालय का निर्णय दोनो पक्षो को अनिवार्य रूप म मानना पडता है ।

सार्वजनिक उपयोगिता के उद्योगों में हडताल—सन् १६४७ के अधिनियम के अन्तर्गत उपर्युक्त आन्तरिक तथा बाह्य व्यवस्थाओं के अतिरिक्त हडताल आदि के सम्बन्ध मे भी नियम बनाये गये हैं । अधिनियम के अन्तर्गत साधारण तथा सार्वजनिक उपयोगिता मे भेद किया गया है । जनोपयोगी उद्योगो, जैसे डाक-तार, रेलवे, बिजली आदि की पूर्ति मे ६ सप्ताह की पूर्व-सूचना देना अनिवार्य है । झगडा विचाराधीन होने की अवस्था म या अदालती कार्यवाही के बीच मे या निर्णय के २ माह के अन्दर हडताल या तालाबन्दी गैर-कानूनी होगी जो विधान के अनुसार दण्डनीय है । सार्वजनिक उपयोगिता के उद्योगो मे झगडे की अवस्था म सरकार किसी भी समय हस्तक्षेप कर सकती है परन्तु अन्य उद्योगों मे झगडों के निबटारे के लिए सरकार उसी समय हस्तक्षेप कर सकती है जबकि झगडे से सम्बन्धित दोनो पक्षो का बहुमत सरकार से इस सम्बन्ध मे प्रार्थना करे ।

अपील अदालत—१६४७ के अधिनियम के अन्तर्गत औद्योगिक न्यायालयों की स्थापना की गयी थी । परन्तु एक ही समस्या पर विभिन्न न्यायालयों ने अलग निर्णय दिये । इससे सन्देह का वातावरण तैयार हो गया । अपील के लिए कोई औद्योगिक न्यायालय नहीं था, अत सन् १६५० मे Industrial Disputes (Labour Appellate Tribunal) Act पास किया गया । इसके अन्तर्गत Appellate Tribunal की स्थापना की गयी । इस ट्रिब्यूनल मे औद्योगिक न्यायालयों तथा मजदूर बोर्डों के फैसलो के विरुद्ध अपीलें सुनी जाती हैं । श्रम सघो न इस प्रकार की व्यवस्था का विरोध किया । श्रमिक पूर्व अवस्था को ही बनाये रखना चाहते थे अत सरकार ने Appellate Tribunal को समाप्त करने का निश्चय किया । फलस्वरूप Industrial Disputes (Amendment and Miscellaneous Provisions) Act, 1956 पास किया गया ।

(३) औद्योगिक संघर्ष (संशोधन एवं मिश्रित प्रावधान) अधिनियम, १६५६—इस एक्ट का औद्योगिक संघर्ष के क्षेत्र मे महत्त्वपूर्ण स्थान है । इसके अन्तर्गत तीन प्रकार की अर्द्ध न्यायिक सस्थाओ की स्थापना की गयी । राज्य स्तर पर औद्योगिक न्यायालयों को कायम रखा गया तथा इसके अतिरिक्त दो और न्यायालय बनाये गये । एक्ट के अन्तर्गत जिस प्रणाली को अपनाया गया उसे त्रिमूर्तीय प्रणाली (Three tier System of Labour Tribunals) कहते हैं । ये तीनों सस्थाएँ अलग अलग कार्य करती हैं तथा एक सस्था से दूसरी सस्था मे अपील नहीं की जाती । यह स्मरणीय है कि अब भी हाईकोर्ट तथा सुप्रीम कोर्ट मे अपील की जा सकती है । वर्तमान समय मे औद्योगिक संघर्षों का निर्णय १६५६ के एक्ट के अनुसार ही किया जाता है, अत औद्योगिक शान्ति के लिए वर्तमान समय मे निम्नलिखित व्यवस्था है (सन् १६६५ मे इस एक्ट का पुन संशोधन किया गया, जिसे १ दिसम्बर, १६६५ से लागू किया गया, परन्तु इस संशोधन द्वारा औद्योगिक शान्ति की व्यवस्था मे कोई अन्तर नहीं पडा) ।

वर्तमान समय में औद्योगिक शान्ति के उपकरण—सन् १६५६ के एक्ट के अन्तर्गत तीन प्रकार के श्रम न्यायालयों की व्यवस्था की गयी—(१) श्रम न्यायालय, (२) राष्ट्रीय न्यायालय, तथा (३) औद्योगिक न्यायालय । इन तीन न्यायालयों के अतिरिक्त भी औद्योगिक शान्ति के लिए कुछ व्यवस्थाएँ हैं, जो पहले से चली आ रही हैं । वर्तमान मे भारत मे औद्योगिक शान्ति के क्षेत्र मे निम्नलिखित व्यवस्था है

(१) कार्य समितियाँ (Works Committees),
(२) समझौता अधिकारी (Conciliation Officer),
(३) समझौता मण्डल (Board of Conciliation),
(४) जाँच न्यायालय (Court of Enquiry),

(५) श्रम न्यायालय (Labour Courts),
(६) औद्योगिक न्यायालय (Industrial or State Tribunals), और
(७) राष्ट्रीय न्यायालय (National Tribunals)।

इनमें से क्रम-संख्या १ से ४ तक न्यायालयों की व्यवस्था सन् १९४७ के औद्योगिक संघर्ष अधिनियम के समय से ही चली आ रही है। सन् १९५६ के अधिनियम में तीन प्रकार के न्यायालयों (क्रम संख्या ५, ६ और ७) की व्यवस्था की गयी। इनमें से भी औद्योगिक न्यायालय पहले से ही चले आ रहे हैं। इन तीनों का ब्यौरा निम्नलिखित है

श्रम न्यायालय—राज्य सरकार एक या एक से अधिक श्रम न्यायालयों की नियुक्ति कर सकती है। ऐसे न्यायालय में एक न्यायाधीश होता है जो कम से कम ७ वर्ष का न्यायिक अनुभव रखता हो। ऐसे न्यायालय कम से कम समय में अपने निर्णय की सूचना राज्य सरकार को देंगे। ये न्यायालय निम्न मामलों के सम्बन्ध में अपना निर्णय देते हैं—नियोजक की आज्ञा का अर्थ तथा वैधानिक हड़ताल तथा तालाबन्दी का औचित्य आदि।

औद्योगिक न्यायालय—राज्य सरकार एक या अधिक ऐसे न्यायालयों का संगठन कर सकती है। ऐसे न्यायालयों में एक जज होगा जो हाईकोर्ट जज की समता का होगा। यह न्यायालय मामले की जाँच करेगा तथा अपने निर्णय की सूचना राज्य सरकार को देगा। जिन विषयों पर यह न्यायालय निर्णय दे सकता है वे इस प्रकार हैं—मजदूरी भत्ता, काम करने के घण्टे, विश्राम, अवकाश, मजदूरी के साथ छुट्टी, छुट्टी के दिन, बोनस लाभ में हिस्सा, अनुशासन के नियम, मजदूरों की छँटनी, अभिनवीकरण तथा अन्य मामले।

राष्ट्रीय न्यायालय—केन्द्रीय सरकार एक या एक से अधिक न्यायालय संगठित कर सकती है। ऐसे न्यायालय उन मामलों पर निर्णय देंगे जो राष्ट्रीय महत्त्व के होंगे या ऐसे औद्योगिक संस्थानों के मामले जो एक से अधिक राज्यों में स्थित हों। इस न्यायालय में हाईकोर्ट के न्यायाधीश होता है। न्यायालय अपने निर्णय की सूचना केन्द्रीय सरकार को देता है।

इस प्रकार वर्तमान समय में औद्योगिक शान्ति बनाये रखने के लिए समझौता तथा न्यायिक निर्णय दोनों की व्यवस्था है। समझौते के प्रयत्न सफल न होने पर न्यायालयों की शरण ली जाती है। इन न्यायालयों के निर्णय दोनों पक्षों द्वारा मान्य होते हैं।

औद्योगिक संघर्षों को रोकने के लिए सन् १९५६ के औद्योगिक संघर्ष अधिनियम में कुछ औद्योगिक व्यवस्थाएँ की गयी हैं जो निम्नलिखित हैं

(१) कोई भी नियोजक श्रमिकों को २१ दिन की पूर्व सूचना दिये बिना उनकी मजदूरी, काम के घण्टे आदि में परिवर्तन नहीं कर सकता।

(२) इस एक्ट के अन्तर्गत उन समस्त कर्मचारियों को श्रमिक माना गया है जो ५०० रुपये तक मासिक वेतन पाते हैं।

(II) औद्योगिक संघर्षों के रोकने सम्बन्धी प्रयत्न—उपर्युक्त व्यवस्थाओं का उद्देश्य झगड़ों के सम्बन्ध में निर्णय देना है परन्तु ऐसे निर्णयों के कारण श्रमिकों में कभी-कभी असन्तोष फैलता है। अतः कुछ वर्षों में सरकार द्वारा कुछ ऐसे कदम उठाये गये हैं जिनमें औद्योगिक संघर्ष उत्पन्न होने की परिस्थिति ही पैदा न हो तथा औद्योगिक शान्ति बनाये रखी जा सके। इन प्रयत्नों का एक उद्देश्य औद्योगिक प्रजातन्त्र की भी स्थापना करना है जिससे श्रमिक अपने को उद्योगों में साझेदार समझ सकें। ऐसे प्रयत्नों में निम्नांकित प्रमुख हैं

(१) अनुशासन संहिता (The Voluntary Code of Discipline)—सन् १९५७ में भारतीय श्रम सम्मेलन में एक प्रस्ताव पास किया गया जिसके अन्तर्गत नियोक्ताओं तथा श्रमिकों से यह आशा रखी गयी कि वे पारस्परिक समझौतों तथा विचार-विमर्श द्वारा अपने झगड़ों तथा

शिकायतों को दूर करेंगे। इसी संहिता में पारस्परिक विचार विमर्श समझौता तथा ऐच्छिक मध्यस्थता (mutual negotiations, conciliation and voluntary arbitration) पर जोर दिया गया। संक्षेप में, इस संहिता के अन्तर्गत निम्नलिखित नियम बनाये गये

(१) बिना पूर्व-सूचना के हड़ताल या तालाबन्दी नहीं की जा सकती।

(२) किसी औद्योगिक मामले में एकपक्षीय कार्य नहीं किया जा सकता।

(३) श्रमिक 'कार्य धीरे करो' के नियम को नहीं अपनायेंगे।

(४) उद्योग की सम्पत्ति को किसी प्रकार की क्षति नहीं पहुँचायी जायेगी।

(५) हिंसा, धमकी, उत्पीड़न तथा झगड़ा भड़काने वाले कार्य नहीं किये जायेंगे।

(६) औद्योगिक झगड़ों के निपटारे के लिए जो वर्तमान व्यवस्था है उसका पूर्णतया उपयोग किया जायेगा।

(७) निर्णय तथा समझौता को शीघ्रातिशीघ्र कार्यान्वित किया जायगा।

(८) कोई भी ऐसा कार्य जिससे औद्योगिक सम्बन्ध बिगड़ने की सम्भावना हो, नहीं किया जायेगा।

इस अनुशासन संहिता को नियोक्ता संघ तथा श्रम संघों की मान्यता प्राप्त है। इससे औद्योगिक सम्बन्धों को एक दृढ़ आधार मिला है परन्तु इसके पश्चात् भी कुछ स्थानों में बड़ी हड़तालें की गयी। गत कुछ वर्षों में परिस्थिति में सुधार हुआ है। तृतीय पंचवर्षीय योजना में भी अनुशासन के महत्व को स्वीकार किया गया है।

(२) संयुक्त प्रबन्ध परिषदें—सन् १९४८ की औद्योगिक नीति में श्रमिकों को प्रबन्ध-व्यवस्था से सम्बन्धित करने के महत्व पर प्रकाश डाला गया तथा उद्योगों में संयुक्त प्रबन्ध परिषदें संगठित की गयी जिनमें श्रमिकों के भी प्रतिनिधि होते हैं। इन परिषदों के प्रतिनिधित्व मिलने के कारण श्रमिक अपने को उद्योग का साझेदार समझते हैं। 'संयुक्त प्रबन्ध इस सिद्धान्त पर आधारित है कि धीरे-धीरे श्रमिकों को प्रबन्ध व्यवस्था में भाग लेने को प्रोत्साहित किया जाय। इससे पारस्परिक सद्भावना में वृद्धि होगी तथा श्रमिक अपने कर्त्तव्यों के प्रति सचेष्ट होंगे। इस योजना को कार्यान्वित करने के लिए सरकार प्रयत्नशील है।

(३) संयुक्त विचार-विमर्श या सहयोग—संयुक्त विचार-विमर्श द्वारा एक पक्ष दूसरे पक्ष को भली-भाँति समझता है। इसके द्वारा रचनात्मक आलोचना का अवसर प्राप्त होता है। परस्पर द्वेष व सन्देह की भावना समाप्त हो जाती है। पारस्परिक विचार विमर्श द्वारा जो निर्णय किये जाते हैं उन्हें कार्य रूप में परिणित करने में सुविधा रहती है। यूरोपीय देशों में यह प्रथा बहुत दिन से प्रचलित है। भारत में सर्वप्रथम सन् १९५२ में केन्द्रीय सरकार ने Joint Consultative Board of Industry and Labour की स्थापना एक त्रिपक्षीय समिति के रूप में की। सन् १९५४ में इसे द्विपक्षीय समिति बना दिया गया। यह समिति राष्ट्रीय स्तर पर औद्योगिक संघर्षों को दूर करने के लिए प्रयत्न करती है।

(४) मजदूरी मण्डल—औद्योगिक संघर्षों के प्रमुख कारण मजदूरी से सम्बन्धित हैं। मजदूरी समस्याओं को दूर करने के लिए मजदूरी मण्डल बहुत उपयोगी सिद्ध होते हैं। इनका कार्य उचित मजदूरी समिति के द्वारा निर्धारित सिद्धान्तों के आधार पर मजदूरी का ढाँचा निश्चित करना है। जुलाई १९५७ में भारतीय श्रम अधिवेशन ने देश के प्रमुख उद्योगों में मजदूरी मण्डल संगठित करने की माँग की थी। तदनुसार कई उद्योगों के लिए मजदूरी मण्डलों की स्थापना की जा चुकी है। इन समस्त मण्डलों ने अपने अन्तिम प्रतिवेदन प्रस्तुत कर दिये हैं और अब कोई मण्डल कार्यशील नहीं है।

(५) ऐच्छिक मध्यस्थता—औद्योगिक झगड़ों के फैसले के लिए न्यायालयों की शरण न लेकर ऐच्छिक मध्यस्थता द्वारा झगड़े को हल करने का प्रयत्न किया जाता है। अनुशासन-संहिता में भी ऐच्छिक मध्यस्थता पर जोर दिया गया है। जून १९६४ के Industrial Disputes (Amendment) Act के अन्तर्गत ऐच्छिक मध्यस्थता द्वारा प्राप्त विराम को वैधानिक माना गया है तथा यह निर्णय उसी प्रकार लागू किया जायगा जिस प्रकार Adjudication के निर्णय लागू किये जाते हैं। इस प्रकार देशों में औद्योगिक सम्बन्ध नीति पारस्परिक सहयोग तथा स्वेच्छापूर्वक किये गये निर्णयों पर आधारित होती जा रही है।

सार्वजनिक क्षेत्र में औद्योगिक सम्बन्ध—भारत में सार्वजनिक क्षेत्र का विकास तेजी से हो रहा है अतः इस क्षेत्र के उद्योगों में भी शान्ति बनाये रखने की आवश्यकता है। सार्वजनिक उद्योगों में श्रमिक सेवक तथा स्वामी दोनों होता है। वह श्रमिक के रूप में सेवक तथा नागरिक के रूप में स्वामी होता है। इन उद्योगों में जो लाभ प्राप्त होता है वह व्यक्तिगत स्वार्थ की पूर्ति के लिए नहीं अपितु देश हित तथा पूँजी-निर्माण के लिए होता है। अतः इन उद्योगों में श्रमिक का उत्तरदायित्व बढ़ जाता है। सरकार का उद्देश्य इन उद्योगों में श्रमिकों की शिकायतों को दूर करना तथा उन्हें सन्तुष्टि प्रदान करना है। इसके लिए योजना आयोग ने निम्नलिखित सुझाव दिये हैं

(१) सार्वजनिक उद्योगों में मजदूरी निजी उद्योगों के अनुकूल होनी चाहिए तथा काम करने की दशाएँ व श्रम हितकारी कार्य आदर्श होने चाहिए।

(२) संचालक मण्डल में कुछ ऐसे व्यक्ति अवश्य हों जो श्रम समस्याओं को समझते हों तथा श्रमिकों के प्रति सहानुभूति रखते हों।

(३) उन सभी श्रम सन्नियमों को लागू करना चाहिए जो निजी क्षेत्र पर लागू हैं।

(४) ऐसा वातावरण तैयार किया जाय जिसमें श्रमिक अपने को उद्योगों का साझीदार समझ सकें।

(५) स्वस्थ श्रम संघ आन्दोलन को प्रोत्साहन देना चाहिए।

(६) श्रमिकों के प्रतिनिधियों तथा प्रबन्धकों में जो समझौते होते हों उनमें उत्पादन बढ़ाने, लागत व्यय कम करने, अनुपस्थिति कम करने तथा अनुशासन के पालन के सम्बन्ध में भी बातें सम्मिलित करनी चाहिए।

आधुनिक प्रवृत्ति 'घिराव'—पश्चिमी बंगाल, उत्तर प्रदेश तथा कुछ अन्य राज्यों में श्रमिक संघर्ष के लिए एक नये शस्त्र का आविष्कार किया गया है। इसके अनुसार अपनी माँगें मनवाने के लिए सम्बन्धित अधिकारियों को घेर लिया जाता है तथा तब तक मुक्त नहीं किया जाता है जब तक कि वह अधिकारी श्रमिकों की माँग स्वीकार नहीं कर ले। पश्चिमी बंगाल की संयुक्त मोर्चे की सरकार के मन्त्रियों ने इस प्रवृत्ति को प्रोत्साहित किया है। परिणामस्वरूप बंगाल में घिराव का प्रचार संक्रामक रूप में फैल गया है। सरकार के एक आदेश के अनुसार पुलिस श्रमिकों के मामलों में हस्तक्षेप नहीं कर सकती। दूसरी ओर कलकत्ता उच्च न्यायालय ने घिराव को गैर-कानूनी घोषित किया है और घिराव को समाप्त करने के लिए कदम न उठाने वाले पुलिस अधिकारियों को अपने कर्तव्य से च्युत होने का दोषी ठहराया है। घिराव के निरन्तर प्रयोग से पश्चिमी बंगाल में औद्योगिक क्षेत्र में एक भयपूर्ण वातावरण उत्पन्न हो गया है जिससे नयी पूँजी लगाना बन्द हो गया है। इधर औद्योगिक विकास में बाधा आने के फलस्वरूप सरकारी क्षेत्रों में भी कुछ हलचल मच गयी है और संयुक्त दलों की सरकार भी खतरे में पड़ गयी प्रतीत होती है। यह निश्चित है कि घिराव को एक राजनीतिक शस्त्र के रूप में अपनाना न तर्क की दृष्टि से उचित है, न न्याय की दृष्टि से वांछनीय। अतः इसके परिणाम बहुत सुखद होने की सम्भावना नहीं है।

प्रश्न

१ "यदि भारतीय मजदूर कारखानेदारो से मिलकर उत्पादन मे वृद्धि नही करेंगे तो इससे केवल समाज को ही नही वरन् उनके अपने हितो को भी हानि पहुंचेगी।" इस कथन का विश्लेषण कीजिए। (आगरा, बी० कॉम०, १६६२)

२ "हडताल मजदूरो के शस्त्रालय मे अन्तिम शस्त्र होना चाहिए।" पूर्णत व्याख्या कीजिए। (आगरा, बी० कॉम० (पूरक), १६६१)

३ भारत मे औद्योगिक सघर्षों के प्रमुख कारण क्या है ? औद्योगिक शान्ति की स्थापना के लिए क्या कदम उठाये जा रहे हैं ? (आगरा, बी कॉम०, १६६० (पूरक), १६६१)

४ भारत मे औद्योगिक अवनति के क्या कारण रहे हैं ? क्या आप तृतीय पचवर्षीय योजना के अन्तर्गत औद्योगिक सम्बन्धो के अच्छे होन की आशा करते हैं ? सकारण उत्तर दीजिए। (इलाहाबाद, बी० कॉम०, १६६१)

37

श्रम सन्नियम

(LABOUR LEGISLATION)

Labour legislation is the instution through which the State protects the interests, and ameliorates the moral and material conditions of the working classes'[1]

—*R K Das*

भारत म श्रम सन्नियम का इतिहास बहुत पुराना नही है। १९वी शताब्दी क अन्त तक श्रम सन्नियमो की विशेष आवश्यकता नही थी। उस समय मुक्त व्यापार नीति (*Laissez faire* Policy) का बोलवाला था। उस समय के श्रम विधान नाममात्र के थे जिनका सम्बन्ध मुख्यत श्रमिको के कुछ कार्यों को अवैधानिक घोषित करना था। इस प्रकार १९वी शताब्दी के श्रम सन्नियम उद्योगपतियों के पक्ष म थे।

यह स्मरणीय है कि भारत मे श्रम सन्नियमो की मांग लकाशायर (ब्रिटेन) के सूती वस्त्र उद्योगपतियो द्वारा की गयी क्योकि व भारतीय श्रम क सस्तेपन के विषय मे चिन्तित थे। सन् १८८०-१९०० के बीच बम्बई म कई कारखाना आयोग (Factory Commissions) नियुक्त किये गये। उनके सुझावो के फलस्वरूप स्त्रियो तथा बालको के हितो की रक्षा की गयी। सन् १८८१ तथा १८९१ क कारखाना अधिनियमो द्वारा स्त्री तथा बालको के रोजगार तथा कार्य के घण्टो के सम्बन्ध मे नियम बनाये गये। इसी प्रकार खानो मे काम करने वाले श्रमिको की सुरक्षा सम्बन्धी नियम खान अधिनियम, १९०१ के अन्तर्गत बनाये गय।

श्रमिकों में जागृति—सन् १९११ म दूसरा कारखाना अधिनियम पास किया गया जिसके द्वारा काम करने के घण्टो को नियन्त्रित किया गया। प्रथम विश्वयुद्ध के पश्चात श्रम सन्नियमो की मांग बढी। इसके प्रमुख कारण थे—सन् १९१९ का प्रशासकीय सुधार, श्रमिको म जागरूकता तथा श्रम सघो का विकास, सन् १९१९ म अन्तरराष्ट्रीय श्रम सगठन की स्थापना तथा राजनीतिक वातावरण म परिवतन। सन् १९२६ मे भारतीय श्रम सघ अधिनियम तथा सन् १९२९ मे व्यवसाय विवाद अधिनियम (Trade Disputes Act) पास किये गये।

श्रम आयोग—सन् १९२९ मे शाही श्रम आयोग (Royal Commission on Labour) नियुक्त किया गया। इस आयोग के सुझावो के फलस्वरूप १९३१ के पश्चात कई श्रम सन्नियम पास किये गय। वस्तुत सन् १९३२-३७ के बीच केन्द्रीय तथा राज्य सरकारो द्वारा १९ अधिनियम पास किये गये जिनके द्वारा शाही श्रम आयोग के सुझावो को कार्यान्वित किया गया। सन् १९३४ म

[1] R K Das *Principles and Problems of Indian Labour Legislation* p 1

कारखाना अधिनियम, १६३५ मे खान संशोधन अधिनियम तथा सन् १६३७ मे मजदूरी भुगतान अधिनियम पास किये गये। सन् १६३७ मे विभिन्न प्रान्तो मे कांग्रेस मन्त्रिमण्डल बनाये गये जिन्होने श्रम की अवस्था सुधारने का प्रयत्न किया। सन् १६४३ मे त्रिदलीय अधिवेशन हुआ। इसके सुझावो के फलस्वरूप श्रम समस्याओ की जांच करने के लिए रीगे समिति नियुक्त की गयी। इस समिति के सुझावो को कार्यान्वित करने के लिए केन्द्रीय सरकार ने श्रम सन्नियम मे सुधार के लिए एक पच-वर्षीय योजना बनायी। इसके फलस्वरूप कई श्रम सन्नियम पास किये गये जिनमे औद्योगिक संघर्ष अधिनियम, १६४७ प्रसिद्ध है। स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात सन् १६४८ मे कारखाना अधिनियम पास किया गया जो वर्तमान समय में भी लागू है।

वर्तमान समय मे श्रम सम्बन्धी कई सन्नियम लागू हैं।[1] इन सभी सन्नियमो को निम्न-लिखित वर्गों मे विभाजित किया जा सकता है

(१) कारखाना अधिनियम (Factory Legislation)

(२) खान अधिनियम (Mining Legislation),

(३) मजदूरी सम्बन्धी अधिनियम (Wage Legislation),

(४) औद्योगिक संघर्ष अधिनियम (Industrial Disputes Legislation),

(५) श्रम संघ अधिनियम (Trade Union Legislation),

(६) सामाजिक सुरक्षा अधिनियम (Social Security Legislation)।

उपर्युक्त वर्गों के अधिनियमो मे से अन्तिम तीन श्रेणियो ४, ५ और ६ से सम्बन्धित अधि-नियमो का अध्ययन पिछले अध्यायो मे किया जा चुका है। अत यहां पर केवल कारखाना अधि-नियम, खान अधिनियम तथा मजदूरी सम्बन्धी वर्तमान अधिनियमो का विवरण प्रस्तुत किया जा रहा है:

(१) कारखाना सन्नियम (Factory Legislation)—भारत मे सबसे पहला कारखाना अधिनियम सन् १८८१ मे पास किया गया। यह अधिनियम उन समस्त कारखानो (बगीचा उद्योग को छोडकर) पर लागू होता था जिनमे शक्ति (power) के प्रयोग के साथ १०० मे अधिक श्रमिक काम करते हो। इस अधिनियम के अन्तर्गत ७ वर्ष से कम आयु के बच्चो से कारखानो मे काम नही लिया जा सकता था तथा ७ वर्ष से १२ वर्ष तक की आयु के बच्चो के लिए ६ घण्टे का दिन निश्चित किया गया, जिसमे एक घण्टा अवकाश का भी सम्मिलित था। इस अधिनियम के अन्तर्गत कारखाना निरीक्षक भी नियुक्त किये गये। इस कारखाना अधिनियम मे स्त्रियो तथा प्रौढो के सम्बन्ध में कोई नियम नही बनाया गया। सन् १८६० मे एक कारखाना आयोग नियुक्त किया गया जिसके सुझावों पर सन् १८६१ मे दूसरा कारखाना अधिनियम पास किया गया। यह अधिनियम शक्ति के प्रयोग के साथ ५० से अधिक श्रमिकों वाले कारखानो पर लागू किया गया। बच्चो की न्यूनतम आयु ६ वर्ष तथा उनके लिए काम के ७ घण्टे प्रतिदिन कर दिये गये। स्त्रियो के लिए काम के अधिकतम घण्टे ११ रखे गये।

विद्युत शक्ति के आविष्कार तथा प्रयोग के कारण १६०५ से सूती वस्त्र उद्योग तथा जूट उद्योग मे काम के घण्टे बढाये गये। इससे श्रमिको मे असन्तोष फैला। सन् १६०७ मे नियुक्त कारखाना आयोग के सुझावो के अनुसार सन् १६११ मे नया कारखाना अधिनियम पास किया गया।

---

[1] वर्तमान समय मे लागू श्रम सन्नियमो मे कुछ प्रमुख सन्नियम इस प्रकार हैं:

1 Indian Factories Act 1948 2 *Indian Mines Act*, 3 *Payment of Wages Act*, 4 Minimum Wages Act, 5 Workmen's Compensation Act, 6 Maternity Benefit Acts (States) 7 Indian Trade Union Act, 8 Industrial Disputes Act, 9 Industrial Disputes (Appellate Tribunal) Act, 10 Tea Districts Emigrant Labour Act 11 Shop and Commercial Establishments Acts (States), 12 Employees' State Insurance Act, 13 Collection of Statistics Act, 14 Employee's Provident Funds Act

यह अधिनियम मौसमी उद्योगो पर भी लागू किया गया। पुरुषो के लिए ½ घण्टे विश्राम के साथ १२ घण्टे का दिन निश्चित किया गया। श्रमिको के स्वास्थ्य एव सुरक्षा के विषय मे भी कुछ नियम बनाये गये। इसके पश्चात् श्रम सघ आन्दोलन की प्रगति तथा सन् १६२० मे भारत के अन्तरराष्ट्रीय श्रम सगठन का सदस्य होने के कारण कारखाना अधिनियम मे सुधार की माँग की गयी, अत सन् **१६२२ में चौथा कारखाना अधिनियम** पास किया गया। यह अधिनियम २० से अधिक श्रमिकों वाले कारखाने पर लागू किया गया। बच्चो की आयु १२-१५ वर्ष निश्चित की गयी, पुरुषो के लिए साप्ताहिक घण्टे ६० तथा दैनिक घण्टे ११ निश्चित किये गये। सभी श्रमिको के लिए ½ घण्टे का दैनिक विश्राम तथा १० दिनो की छुट्टी की व्यवस्था की गयी। खतरनाक उद्योगो मे १७ वर्ष स कम आयु के बच्चो और स्त्री श्रमिको से काम लेना वर्जित कर दिया गया।

इसके पश्चात सन् १६३४ मे **पाँचवां कारखाना अधिनियम** पास किया गया। इसके अनुसार बच्चो के लिए ५ घण्टे का दिन निश्चित किया गया तथा उनसे रात को काम नहीं लिया जा सकता था। पुरुष श्रमिको के लिए ५४ घण्टे का सप्ताह तथा १० घण्टे का दिन निश्चित किया गया। दैनिक आवश्यकता की वस्तुओ से सम्बन्धित कारखानो के लिए ५६ घण्टो का सप्ताह तथा मौसमी कारखानो के लिए ६० घण्टो का सप्ताह निश्चित किया गया। इसके अतिरिक्त कारखानों मे नमी रखन, स्वच्छ पानी, प्राथमिक चिकित्सा, मजदूरो के स्वास्थ्य और सुरक्षा के सम्बन्ध मे भी नियम बनाये गये। इस कारखाना अधिनियम मे सन् १६४७ तक ६ बार सशोधन किया गया। स्वतन्त्र भारत मे सन् १६४८ मे कारखाना अधिनियम पास किया गया जो वर्तमान समय मे भी लागू है। अत इस एक्ट का सविस्तार विवरण नीचे प्रस्तुत किया जा रहा है

कारखाना अधिनियम, १६४८—यह अधिनियम १ अप्रैल, १६४६ से लागू किया गया। अधिनियम की प्रमुख व्यवस्थाएँ (provisions) निम्नलिखित थी

(क) अधिनियम का क्षेत्र—यह अधिनियम भारत के उन समस्त कारखानो पर लागू होता है जिनमे शक्ति के प्रयोग के साथ कम स कम १० श्रमिक तथा शक्ति का प्रयोग न करने की अवस्था मे कम से कम २० श्रमिक काम करते है। अधिनियम मौसमी तथा नियमित, दोनो प्रकार के कारखानो पर समान रूप से लागू किया गया। राज्य सरकारो को यह अधिकार दिया गया है कि वे इस एक्ट को उन सभी स्थानो पर लागू कर सकती हैं जहाँ निर्माण कार्य चल रहा हो, श्रमिको की सख्या चाहे कम हो या अधिक। परन्तु पारिवारिक सदस्यो के द्वारा ही चलाये जाने वाले निर्माण सस्थानो पर यह विधान लागू नहीं किया जा सकता।

(ख) काम के घण्टे—काम के साप्ताहिक घण्टो की सख्या ४८ तथा दैनिक घण्टो की सख्या ६ निश्चित की गयी है। एक दिन मे अधिक से अधिक १०½ घण्टे तक काम लिया जा सकता है। कोई भी श्रमिक ½ घण्टे विश्राम के बिना ५ घण्टे से अधिक काम नही कर सकता। सप्ताह मे एक दिन की छुट्टी अनिवार्य है तथा अतिरिक्त समय मे काम करने पर दुगनी मजदूरी दिलाने की व्यवस्था है।

(ग) मजदूरी सहित अवकाश—प्रत्येक वयस्क श्रमिक को जिसने लगातार १२ महीनो तक सेवा की है, अगले १२ महीनो के अन्दर प्रति २० दिन की सेवा पर १ दिन की दर से (पिछले वर्ष के सेवाकाल पर) सवेतनिक छुट्टी दी जायेगी परन्तु छुट्टी के दिनो की सख्या एक वर्ष में १० से अधिक नहीं हो सकती। अवयस्कों के लिए छुट्टी की यह दर प्रति १५ दिन की सेवा के लिए एक दिन तथा वर्ष मे अधिक से अधिक १५ दिन होगी।

(घ) किशोरों की नियुक्ति—१४ वर्ष से कम आयु के बच्चो से कारखानो मे काम नही लिया जा सकता। एक बच्चा जिसने १४ वर्ष की अवस्था प्राप्त कर ली है या किशोर (adolescent) (जिसन १८ वर्ष की अवस्था प्राप्त नही कर ली है) से काम उस समय तक नही लिया जा सकता

जब तक किसी सर्जन द्वारा दिया गया प्रमाणपत्र (काम करने की क्षमता के सम्बन्ध मे) (certificate of fitness) कारखाने के मैनेजर के पास न हो। ऐसे बच्चे या नवयुवक के पास भी प्रमाण-पत्र के सम्बन्ध मे टोकिन (token) होना चाहिए। इसके अतिरिक्त बच्चो से ७ बजे शाम से ६ बजे प्रात के बीच काम नही लिया जा सकता।

(ड) स्त्री श्रमिकों की नियुक्ति—स्त्री श्रमिको के लिए सप्ताह तथा दिन क्रमशः ३८ व ६ घण्टे के होंगे। ७ बजे शाम से ६ बजे प्रात के बीच स्त्री श्रमिको से काम नही लिया जा सकता। खतरनाक कार्यो के लिए स्त्रियो की नियुक्ति नहीं की जा सकती। स्त्री श्रमिक से चालू अवस्था मे मशीन की सफाई तेल डालने या उमे सुधारने सम्बन्धी कार्य नही कराया जा सकता। यदि किसी कारखाने मे ५० से अधिक स्त्री श्रमिक हैं तो उनके ६ वर्ष से कम आयु के बच्चो के लिए एक शिशु सदन होना अनिवार्य है तथा स्त्री श्रमिको द्वारा शिशुओ को दूध पिलाने के लिए अवकाश देना पडेगा।

(च) सुरक्षा सम्बन्धी नियम—बालक या स्त्री श्रमिक खतरनाक मशीनो पर काम नही कर सकते। ट्रान्समिशन मशीनरी का प्रत्येक भाग तथा अन्य मशीनो का खतरनाक भाग चारो तरफ से आड (fencing) लगाकर रखा जाना चाहिए। किसी भी श्रमिक से इतना अधिक बोझा ढोने का काम नही लिया जा सकता जो उसके स्वास्थ्य पर बुरा असर डाले। यदि किसी कार्य विशेष से आंखो पर बुरा प्रभाव पडने की सम्भावना है तो विशेष प्रकार के चश्मो की व्यवस्था नियोक्ता द्वारा की जायगी। धूल तथा आग से बचाव के लिए भी उचित व्यवस्था होनी चाहिए।

(छ) स्वास्थ्य रक्षा तथा आराम सम्बन्धी नियम—अधिनियम मे श्रमिको की स्वास्थ्य रक्षा तथा आराम के लिए भी कुछ नियम बनाये गये। इन नियमो के अनुसार प्रत्येक कारखाने मे सफाई की उचित व्यवस्था होनी चाहिए। कारखाने के अन्दर स्वास्थ्यप्रद तापमान तथा उचित वायु प्रवेश व गन्दी हवा के निकलने के लिए व्यवस्था होनी चाहिए। इस अधिनियम के लागू होने के पश्चात् जिन कारखानो की स्थापना की जाय उनमे प्रति श्रमिक ५०० घन फुट स्थान होना चाहिए तथा पूर्व-प्रचलित कारखानो के अन्दर उचित प्रकाश व्यवस्था होनी चाहिए। पेशाबघर, शौचालय, पीने के पानी आदि की व्यवस्था होनी चाहिए। जिन कारखानो मे २५० से अधिक श्रमिक काम करते हो, उनमे रेफ्रीजरेटर द्वारा ठण्डे किये गये पीने के पानी की व्यवस्था होनी चाहिए।

(ज) कल्याण कार्य—जिन कारखानो मे ५०० से अधिक श्रमिक हो उनमे कल्याण अधिकारी (Welfare Officer) की नियुक्ति अनिवार्य रूप से होनी चाहिए। श्रमिको के लिए उपहार-गृह, प्राथमिक चिकित्सा की व्यवस्था, शिशु-गृह, कपडा धोने के लिए स्थान, बैठने के लिए उचित स्थान आदि की व्यवस्था होनी चाहिए। यदि कोई श्रमिक दुर्घटनाग्रस्त या बीमार हो जाय तो तत्सम्बन्धी सूचना चीफ फैक्टरी इन्सपेक्टर को तत्काल देनी चाहिए। राज्य सरकार परिस्थिति के अनुसार जांच करा सकती है।

कारखाना अधिनियम, १९४८ की व्यवस्थाओ व नियमो के कार्यान्वयन की जांच राज्य सरकार द्वारा नियुक्त इन्सपेक्टर द्वारा की जाती है। नियमोल्लघन या किसी व्यवस्था के अभाव का उत्तरदायित्व उद्योगपति पर होगा। अधिनियम की प्रबन्ध-व्यवस्था राज्य सरकारी द्वारा की जाती है। सन् १९५४ मे इस अधिनियम मे आवश्यक सशोधन किये गये।

कारखाना (सशोधन) अधिनियम, १९५४—इस अधिनियम की मुख्य व्यवस्थाएं निम्न-लिखित हैं

(१) मजदूरी सहित वार्षिक छुट्टी के आरम्भ, बीच या अन्त मे यदि अन्य छुट्टियाँ पडी हैं तो वे छुट्टियाँ मजदूरी सहित छुट्टियो मे नही जोडी जायेंगी।

(२) २४० दिन काम कर लेने के पश्चात् श्रमिक मजदूरी सहित छुट्टी का अधिकारी होगा।

(३) कोई भी श्रमिक ३ माह मे ५० घण्टे से अधिक अतिरिक्त (overtime) काम नही कर सकता।

(४) एक वर्ष की छुट्टी दूसरे वर्ष की छुट्टियो मे जोडी जा सकती है परन्तु छुट्टी के अधिकतम दिनो की सख्या श्रमिक के लिए ३० दिन तथा बच्चो के लिए ४० दिन होगी।

(५) यदि कोई शिफ्ट केवल ६ घण्टो की है तो बीच मे अवकाश देना आवश्यक नहीं होगा।

(६) यदि दूसरी शिफ्ट का कोई श्रमिक अनुपस्थित है या समय पर नहीं आता है तो पहली शिफ्ट वाला श्रमिक काम जारी रख सकता है।

(२) खान अधिनियम (Mining Legislation)—भारत मे सर्वप्रथम सन् १६०१ मे खान अधिनियम पास किया गया। इस अधिनियम द्वारा काम की दशाओं को नियमित किया गया। इसके पश्चात् सन् १६२३ मे इस अधिनियम मे सशोधन किया गया। इसके द्वारा जमीन के ऊपर काम करने वाले श्रमिको तथा जमीन के नीचे काम करने वाले श्रमिको के लिए साप्ताहिक घण्टो की सख्या क्रमश ६० व ५४ रखी गयी। १३ वर्ष से कम आयु के बच्चे खानो मे नीचे कार्य नहीं कर सकते थे। इसके पश्चात् खान अधिनियम मे सन् १६३५ १६३६, १६३७, १६४० तथा १६४६ मे सशोधन किये गये। इन सशोधनो द्वारा खान अधिनियम मे सुधार किये गये। अब जमीन के ऊपर तथा नीचे काम करने वाले श्रमिकों के दैनिक घण्टे क्रमश १० व ६ निश्चित किये गये। इसमे ६ घण्टा काम करने के पश्चात् १ घण्टा विश्राम की भी व्यवस्था की गयी। साप्ताहिक घण्टो की सख्या सब के लिए ५४ रखी गयी तथा एक दिन का साप्ताहिक अवकाश अनिवार्य कर दिया गया। श्रमिक की न्यूनतम आयु १५ वर्ष निश्चित की गयी। लॉकर रूम तथा स्नान-गृहो के लिए भी नियम बनाये गये।

सन् १६४८ के कारखाना अधिनियम द्वारा कारखानो मे काम करने वाले श्रमिको की दशाओ मे सुधार किया गया परन्तु खानो के श्रमिको को कोई सुविधा नही मिली। अत १ जुलाई, १६५२ से नया खान अधिनियम लागू किया गया। इस अधिनियम द्वारा श्रमिको के कल्याण कार्यो मे वृद्धि की गयी तथा सुरक्षा की दृष्टि से सुविधाओ मे वृद्धि की गयी। इस विधान की मुख्य व्यवस्थाएँ निम्नलिखित है

(१) १५ वर्ष से कम आयु के श्रमिक खानो मे काम नही कर सकते। खानो मे जमीन के नीचे काम करने वालो की न्यूनतम आयु १८ वर्ष होनी चाहिए।

(२) १५-१८ वर्ष की आयु के श्रमिक उस समय तक काम नही कर सकते जब तक कि उनके पास डाक्टरी प्रमाण-पत्र न हो। उन्हे ४½ घण्टे काम काम करने के पश्चात् ½ घण्टे का विश्राम मिलना आवश्यक है।

(३) साप्ताहिक घण्टो की सख्या ४८ होगी परन्तु ऊपर काम करने वालो के लिए ६ घण्टे तथा नीचे काम करने वालो के लिए ८ घण्टे का दिन होगा। ५ घण्टे लगातार काम करने के पश्चात् ½ घण्टे का विश्राम मिलेगा।

(४) महिला मजदूरो के लिए यह नियम पहले से ही था कि वे खानो के लिए अन्दर काम नही कर सकतीं।। अब यह व्यवस्था की गयी है कि महिलाएँ खानो के ऊपर भी ७ बजे सायकाल से ६ बजे प्रात काल तक काम नही कर सकती।

(५) अतिरिक्त काम के लिए ऊपर तथा नीचे काम करने वाले श्रमिको को क्रमश डेढ गुना तथा दुगुना वेतन मिलेगा।

(६) १२ महीने की नौकरी पूरी करने पर १४ दिनो का वेतन सहित अवकाश मिलेगा।

(७) बच्चो तथा स्त्रियों के लिए शिशु-गृह तथा पुरुषो व महिलाओ के लिए अलग अलग स्नान-गृह की व्यवस्था करना अनिवार्य है।

(८) जिन कारखानो मे १५० या अधिक श्रमिक काम करते हो उनमे विश्राम-गृह तथा उपहार-गृह की व्यवस्था होनी आवश्यक है।

(९) जिन खानो मे ५०० या अधिक श्रमिक काम करते हो उनमे श्रम कल्याण अधिकारी की नियुक्ति अनिवार्य है।

(१०) ५०० से अधिक श्रमिको वाली खानों के पास एम्बुलेंस गाड़ियो तथा स्ट्रेचरो की व्यवस्था होनी आवश्यक है। सरकार दुर्घटनाओ की जांच करा सकती है।

अधिनियम की धाराओ के कार्यान्वियन की जाँच के लिए मुख्य निरीक्षक की नियुक्ति की गयी तथा निरीक्षण के लिए उचित व्यवस्था की गयी। सन् १९५९ मे खान (संशोधन) अधिनियम पास किया गया।

खान (संशोधन) अधिनियम, १९५९—इस अधिनियम की प्रमुख व्यवस्थाएँ निम्नलिखित हैं :

(१) खान की परिभाषा के क्षेत्र को विस्तृत कर दिया गया तथा इसके अन्तर्गत खानो के अतिरिक्त उनसे सम्बन्धित वस्तुएँ रेलवे, एरियल रोपवे इत्यादि को भी खान के अन्तर्गत समझा गया।

(२) जिन खानो मे १५० श्रमिक काम करते हो उनमे प्राथमिक चिकित्सा केन्द्र की स्थापना करना आवश्यक कर दिया गया।

(३) खान के ऊपर तथा अन्दर काम करने वाले दोनो प्रकार के श्रमिको को अतिरिक्त कार्य के लिए दुगुना वेतन मिलेगा।

(४) खान के अन्दर काम करने वाले श्रमिको को प्रति १६ दिन काम करने पर १ दिन तथा अन्य श्रमिको को प्रति २० दिन काम करने पर १ दिन की दर से वेतन सहित वार्षिक अवकाश मिलेगा।

(५) अधिनियम के नियमो का उल्लघन करने पर विशेष अर्थ-दण्ड की व्यवस्था की गयी है।

इस प्रकार खान अधिनियम के द्वारा खानो मे काम करने वाले श्रमिको को लगभग वही सुविधाएँ प्राप्त हैं जो कारखानो के श्रमिको को प्राप्त हैं।

(३) मजदूरी सम्बन्धी अधिनियम (Wages Legislation)—भारत मे मजदूरी सम्बन्धी दो मुख्य अधिनियम हैं—(१) मजदूरी भुगतान अधिनियम, १९३६, तथा (२) न्यूनतम मजदूरी अधिनियम, १९४८।

मजदूरी भुगतान अधिनियम, १९३६—यह अधिनियम कारखानो, कोयला खानो, रेलवे तथा बागानो पर लागू होता है। अधिनियम के अन्तर्गत केवल वे ही कर्मचारी आते हैं जिनका औसत पारिश्रमिक ४०० रुपये मासिक से कम है। अधिनियम मे मजदूरी के निर्यात भुगतान के सम्बन्ध में नियम बनाये गये हैं।

(१) अधिनियम के अनुसार मजदूरी के अन्तर्गत वे सभी प्रकार के पारिश्रमिक सम्मिलित हैं जिन्हे मुद्रा मे व्यक्त किया जा सकता है तथा इनमें वे सभी भुगतान सम्मिलित हैं जो किसी फर्म ने के फलस्वरूप देय होते हैं। साथ ही साथ बोनस एव अतिरिक्त कार्य के लिए भुगतान आदि भी इनमें सम्मिलित किये जाते हैं। परन्तु मजदूरी के अन्तर्गत मकान सुविधा का मूल्य, नियोक्ता द्वारा पेंशन व भविष्य जमा नीति मे दिया जाने वाला चन्दा तथा यात्रा भत्ता सम्मिलित नहीं किया जाता है।

(२) कोई भी मजदूरी अवधि (wage period) एक माह से अधिक नहीं होगी तथा मजदूरी का भुगतान निश्चित समय (जो मजदूरी अवधि की समाप्ति के पश्चात् १० दिन से अधिक नहीं होगा) के अन्दर कर देना चाहिए।

(३) सम्पूर्ण मजदूरी का भुगतान सिक्कों तथा नोटों में होना चाहिए। अर्थ-दण्ड (fines) रुपए में ३ पैसे से अधिक नहीं हो सकता।

(४) जुर्माने के रूप में प्राप्त रकम को श्रम हितकारी कार्यों में व्यय किया जायेगा।

इस अधिनियम का प्रशासन कारखानों में राज्य सरकार द्वारा नियुक्त कारखाना निरीक्षकों द्वारा किया जाता है। खानों तथा रेलवे में इसका प्रशासन केन्द्रीय सरकार के मुख्य आयुक्त द्वारा किया जाता है।

न्यूनतम मजदूरी अधिनियम, १९४८ (Minimum Wage Legislation)—न्यूनतम मजदूरी, विधान द्वारा निर्धारित मजदूरी की वह दर है जिससे कम दर पर मजदूरी देना विधान का उल्लंघन करना है। इसका उद्देश्य श्रमिकों को नियोक्ताओं द्वारा कम से कम इतनी मजदूरी दिलवाना है जिसमें वे एक न्यूनतम स्तर पर जीवन व्यतीत कर सकें।[1] पहले यह विचारधारा प्रचलित थी कि मजदूरी का निर्धारण भी वस्तुओं के मूल्य की भाँति पारस्परिक सौदेबाजी द्वारा किया जाना चाहिए परन्तु आजकल यह विचारधारा मान्य नहीं है क्योंकि सामान्यतया सौदेबाजी द्वारा श्रमिकों को उचित मजदूरी नहीं मिल पाती है। श्रम की नाशवान प्रकृति, कुछ स्थानों या उद्योगों में श्रम की अधिक पूर्ति, नियोक्ता की दृढ़ स्थिति तथा श्रम की हीन आर्थिक दशा के कारण उसे उचित मजदूरी नहीं मिल पाती। इस प्रकार श्रमिकों का शोषण होता है और उनमें वर्ग संघर्ष की भावना का उदय होता है जो औद्योगिक संघर्षों का मूल कारण है अतः राज्य सरकार द्वारा मजदूरी के सम्बन्ध में हस्तक्षेप करना अनिवार्य हो जाता है।

न्यूनतम मजदूरी निर्धारित करने का उद्देश्य सामाजिक न्याय, श्रमिकों की सन्तुष्टि तथा औद्योगिक शान्ति बनाए रखना है। सामान्यतया न्यूनतम मजदूरी निश्चित करते समय इस बात का ध्यान रखा जाता है कि मजदूरी कम से कम इतनी अवश्य हो जिससे श्रमिक अपने परिवार का पालन-पोषण ठीक से कर सके। इसके साथ ही साथ उद्योग विशेष की आर्थिक परिस्थिति का भी ध्यान रखा जाता है।

भारत में श्रम सन्नियमों में न्यूनतम मजदूरी की व्यवस्था नहीं की गयी थी। सर्वप्रथम सन् १९२८ में अन्तरराष्ट्रीय श्रम संगठन ने न्यूनतम मजदूरी के सम्बन्ध में एक प्रस्ताव पास किया। शाही श्रम आयोग ने अन्तरराष्ट्रीय श्रम संगठन के प्रस्ताव को ध्यान में रखकर अपनी रिपोर्ट में न्यूनतम मजदूरी निश्चित करने की सिफारिश की। फिर भी परतन्त्र भारत में इस सम्बन्ध में कोई कदम नहीं उठाया गया। स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् सन् १९४८ में भारत में पहली बार न्यूनतम मजदूरी अधिनियम पास किया गया। इस अधिनियम की मुख्य बातें निम्नलिखित हैं

(१) यह अधिनियम एक हजार या अधिक श्रमिकों वाले सभी कारखानों पर लागू होता है।

(२) अधिनियम में न्यूनतम समय मजदूरी (minimum time wage), न्यूनतम कार्य मजदूरी (minimum job wage), निश्चित समय मजदूरी (guaranteed time wage) निर्धारित करने के सम्बन्ध में नियम बनाये गये हैं। इसके अतिरिक्त समुचित अतिरिक्त मजदूरी (over-time wage) भी निश्चित करने की व्यवस्था की गयी है।

(३) यह अधिनियम केवल अनुसूचित उद्योगों पर ही लागू होगा परन्तु राज्य सरकारें तीन माह की पूर्व सूचना देकर इसे किसी भी उद्योग पर लागू कर सकती हैं।

---

[1] A sum sufficient for the normal and reasonable needs of workers with a family in locality

(४) न्यूनतम मजदूरी के लिए राज्य सरकारें समितियाँ तथा उपसमितियाँ नियुक्त करेंगी। इन समितियों के कार्यों में सामंजस्य स्थापित करने के लिए केन्द्रीय सरकार 'केन्द्रीय सलाहकार बोर्ड' नियुक्त करेगी जिसमें दोनों पक्षों के प्रतिनिधि होंगे। इस अधिनियम के अन्तर्गत विभिन्न उद्योगों के लिए न्यूनतम मजदूरी निश्चित की गयी है।

उचित मजदूरी (Fair Wages)—गत कुछ वर्षों में उचित मजदूरी के सम्बन्ध में भी विचार-विमर्श चल रहा है। श्रमिक के जीवन स्तर की दृष्टि से मजदूरी तीन प्रकार की हो सकती है—प्रथम, न्यूनतम मजदूरी जो विधान द्वारा निश्चित की जाती है। द्वितीय, जीविका योग्य मजदूरी (living wage) जिसके द्वारा श्रमिक अच्छा जीवन-स्तर व्यतीत कर सके तथा उसकी कार्य-क्षमता उचित रूप में बनी रहे। तृतीय, उचित मजदूरी (Fair Wage) जिसके द्वारा श्रमिक अच्छा जीवन व्यतीत करते हुए कुछ बचत भी कर सके। उचित मजदूरी न्यूनतम मजदूरी से अधिक होती है। वस्तुतः उचित मजदूरी, न्यूनतम मजदूरी तथा जीविका योग्य मजदूरी के बीच की एक कड़ी है।

भारत में अगस्त १९५० में उचित मजदूरी के सम्बन्ध में एक विधेयक प्रस्तुत किया गया, परन्तु पास नहीं किया जा सका।

राष्ट्रीय श्रम आयोग (National Commission for Labour)—दिसम्बर १९६६ में भारत सरकार द्वारा भारत के भूतपूर्व मुख्य न्यायाधीश पी० बी० गजेन्द्र गडकर की अध्यक्षता में एक आयोग नियुक्त किया गया है जिसका कार्य निम्नलिखित मामलों में सुझाव देना था

(१) श्रम कानून—वर्तमान श्रम कानून का अध्ययन कर उसमें परिवर्तन सम्बन्धी सुझाव देना।

(२) निर्वाह स्थिति—भारतीय श्रमिकों की आर्थिक स्थिति (मजदूरी, जीवन-स्तर, स्वास्थ्य आदि) का अध्ययन कर उनके सम्बन्ध में सुझाव देना।

(३) सामाजिक सुरक्षा—वर्तमान सामाजिक सुरक्षा सम्बन्धी नियमों तथा उनके परिपालन का अध्ययन कर उनके सुधार के उपाय बताना।

(४) ग्रामीण श्रम—ग्रामों में कार्य करने वाले श्रमिकों की आर्थिक स्थिति में सुधार के लिए उपाय बताना।

आयोग ने अपनी अन्तरिम रिपोर्ट में ५०० रुपये मासिक से कम वेतन पाने वालों के लिए महँगाई भत्ते की सिफारिश की थी जिसे भारत सरकार ने स्वीकार कर लिया। आयोग ने अपनी अन्तिम रिपोर्ट प्रस्तुत कर दी है किन्तु उसकी सिफारिशें अभी प्रकाश में नहीं आयी हैं।

राष्ट्रीय श्रम आयोग की सिफारिशें

राष्ट्रीय श्रम आयोग ने (जिसके अध्यक्ष श्री गजेन्द्र गडकर) थे अपनी रिपोर्ट अगस्त १९६९ में प्रस्तुत कर दी। यह रिपोर्ट २६ अगस्त, १९६९ को भारतीय संसद में रखी गयी। इसमें मुख्य सिफारिशें निम्नलिखित थीं :

(१) हड़तालों से सम्बन्धित आयोग ने श्रमिकों की हड़तालें कम करने, रोकने तथा समाप्त करने के लिए निम्नलिखित सिफारिशें की हैं :

(i) आयोग ने देश के कुल उद्योगों को मूलभूत उद्योग तथा अन्य उद्योगों में वर्गीकृत किया है। मूलभूत उद्योगों में हड़तालें नहीं की जा सकतीं। अन्य उद्योगों में हड़ताल एक मास में समाप्त करना अनिवार्य होगा।

औद्योगिक सम्बन्ध आयोग—श्रम आयोग ने यह सिफारिश की है कि देश में दो प्रकार के औद्योगिक सम्बन्ध आयोग (Industrial Relations Commission) बनाये जाने चाहिए। एक तो राष्ट्रीय औद्योगिक सम्बन्ध आयोग (National Industrial Relations Commission) तथा दूसरे राज्य औद्योगिक सम्बन्ध आयोग (State Industrial Relations Commission)।

श्रमिको तथा मालिको के सभी विवाद अपने अपने क्षेत्र के औद्योगिक आयोगो को सौप देने की सिफारिश की गयी है ।

हड़तालो को कम करने या रोकने की दृष्टि से यह सुझाव दिया गया है कि यदि औद्योगिक सम्बन्ध आयोग का फैसला श्रमिको के खिलाफ हो तो उन्हे हड़ताल की अवधि की मजदूरी नही देनी चाहिए । यदि फैसला मालिको के खिलाफ हो तो उन्हे हर्जाना देने के लिए बाध्य किया जाना चाहिए । इस प्रकार जो वर्ग भी दोषी होगा, उसे दण्ड दिया जा सकेगा अत हड़तालो की सख्या मे कमी आने की सम्भावना रहेगी ।

राष्ट्रीय औद्योगिक सम्बन्ध आयोग की नियुक्ति केन्द्रीय सरकार द्वारा तथा राज्य आयोग की नियुक्ति राज्य सरकार द्वारा की जायेगी । इन आयोगो मे ऐसे व्यक्तियो की ही नियुक्ति हो सकेगी जो उच्च न्यायालय के न्यायाधीश होने की योग्यता रखते हो ।

(२) **समझौता**—औद्योगिक सम्बन्ध आयोग मे एक इकाई समझौता अधिकारियो की होगी । यह अधिकारी प्रत्येक विवाद मे श्रमिको तथा मालिको की आपसी बातचीत करवाकर समझौता करवाने का प्रयत्न करेंगे ।

(३) **श्रम अदालत**—श्रम आयोग ने प्रत्येक क्षेत्र मे श्रम अदालतें स्थापित करने की सिफारिश की है । यह अदालतें श्रमिको तथा मालिको के दायित्व, अधिकार, दावे तथा सभी कानूनी मामलो का फैसला करेंगी ।

(४) **श्रम सगठन**—आयोग ने अच्छे शक्तिशाली श्रम सगठनो को औद्योगिक विकास तथा श्रमिको की उन्नति के लिए अनिवार्य बतलाया है ।

मान्यता—आयोग ने सिफारिश की है कि जिस श्रम सघ के सबसे अधिक सदस्य हो उसे नियमित रूप मे मान्यता प्रदान की जानी चाहिए । जब भी किसी विवादग्रस्त मामले पर समझौते की वार्ता हो, केवल मान्यताप्राप्त श्रम सघ के प्रतिनिधियो को ही उस वार्ता मे भाग लेने देना चाहिए ।

श्रम सघ को मान्यता देने मे श्रम सम्बन्ध आयोग का निर्णय ही अन्तिम माना जाना चाहिए ।

आयोग ने श्रम सघो मे पारस्परिक सघर्ष को औद्योगिक वातावरण के लिए घातक बतलाया है । इस वातावरण को स्वस्थ रखने के लिए आयोग ने निम्नलिखित सुझाव दिये हैं

(i) श्रम सघो का अनिवार्य पजीयन (registration),

(ii) श्रम सघ बनाने के लिए श्रमिको की सख्या का निर्धारण

(iii) सदस्यता शुल्क की न्यूनतम राशि मे वृद्धि,

(iv) श्रमिक सघों के आन्तरिक नेतृत्व को प्रोत्साहन ।

नियोक्ता सघ—श्रम आयोग ने मालिको के सगठन को मान्यता देने का भी सुझाव दिया है।

(५) **मजदूरी**—श्रम आयोग ने श्रमिको की मजदूरी के बारे मे निम्नलिखित सुझाव दिये हैं

(i) देश मे राष्ट्रीय न्यूनतम मजदूरी की दरें निश्चित करना उचित नही है किन्तु प्रत्येक प्रदेश या क्षेत्र के लिए न्यूनतम मजदूरी निश्चित की जानी चाहिए ।

(ii) कृषि मजदूरो पर भी न्यूनतम मजदूरी लागू होनी चाहिए ।

(iii) किसी कारखाने या उद्योग की आर्थिक स्थिति को न्यूनतम मजदूरी का आधार नही माना जा सकता ।

(iv) मजदूरो को साधारणतया आवश्यकता के आधार पर (need based) मजदूरी दी जानी चाहिए परन्तु वर्तमान मे उसे केवल उन्हीं उद्योगो पर लागू करना चाहिए जिनमे इतनी मजदूरी देने की क्षमता है ।

(v) श्रमिको की मजदूरी का नये सिरे से निर्धारण करने के लिए एक वेतन आयोग की

नियुक्ति की जानी चाहिए। सरकारी क्षेत्र के श्रमिकों के लिए इस प्रकार के आयोग का विशेष रूप से सुझाव दिया गया है।

(vi) मजदूरी के सम्बन्ध में पारिश्रमिक मण्डल (Wage Board) की सिफारिश को अन्तिम माना जाना चाहिए।

(vii) श्रमिकों की मजदूरी में जीवन निर्वाह सूचकांक (Cost of Living Index) के आधार पर नियमित रूप से परिवर्तन की व्यवस्था की जानी चाहिए।

(६) महँगाई भत्ता—आयोग ने एक ही वर्ग के सभी श्रमिकों को समान महँगाई भत्ता देने का सुझाव दिया है किन्तु जिन क्षेत्रों में महँगाई भत्ते की दर न्यूनतम से अधिक है, उसे कम नहीं किया जाना चाहिए। महँगाई भत्ते को शीघ्र ही न्यूनतम मजदूरी में मिलान की सिफारिश की गयी है। ऐसा इसलिए किया गया है ताकि भविष्य में महँगाई बढ़ने पर स्वतः ही मजदूरी में वृद्धि की जा सके।

(७) यन्त्रीकरण—श्रम आयोग ने सुझाव दिया है कि कारखानों तथा औद्योगिक प्रतिष्ठानों में सामान्य यन्त्रीकरण को रोका नहीं जाना चाहिए अन्यथा कुशलता में वृद्धि होना सम्भव नहीं होगा। यन्त्रीकरण—जहाँ तक हो सके—श्रमिकों की सलाह से किया जाना चाहिए तथा ऐसा करते समय निम्नलिखित तीन बातों का ध्यान रखा जाना चाहिए

(i) यन्त्रीकरण के फलस्वरूप मजदूरों की छँटनी नहीं हो,

(ii) यन्त्रीकरण से कुशलता में वृद्धि होने के फलस्वरूप उद्योग के लाभ में जो वृद्धि हो उसमें श्रमिकों का भी हिस्सा हो, तथा

(iii) समाज को कम कीमत पर माल तथा अन्य सुविधाएँ मिल सकें।

श्रम आयोग की सिफारिशों पर भारत सरकार विचार कर रही है। आशा है कि इनको कार्यान्वित करने पर देश के औद्योगिक क्षेत्र में अधिक सौहार्द्रपूर्ण वातावरण बन सकेगा और उद्योग तथा श्रम दोनों का कल्याण होगा।

प्रश्न

१. भारत में औद्योगिक श्रमिकों की न्यूनतम मजदूरी निर्धारित करने की आवश्यकता पर प्रकाश डालिए? इसकी सफलता की क्या आशा है? (पटना, बी० ए०, १९५२)

२. गत चालीस वर्षों में कारखाना अधिनियम में हुए महत्त्वपूर्ण परिवर्तनों पर प्रकाश डालिए। श्रम कार्यक्षमता पर उनका क्या प्रभाव पड़ा है? (आगरा, बी० ए०, १९५३)

३ न्यूनतम मजदूरी अधिनियम, १९४८ की प्रमुख व्यवस्थाओं का उल्लेख कीजिए। इस अधिनियम ने औद्योगिक श्रमिकों की किस प्रकार सहायता की है?

38 भारत मे आर्थिक नियोजन

(ECONOMIC PLANNING IN INDIA)

"Planning will help us in having an emotional awareness of our problems as a whole" —*Jawaharlal Nehru*

वर्तमान युग नियोजन का युग है। प्राय सभी देशों मे, चाहे वे पूँजीवादी हो या समाजवादी आर्थिक नियोजन किसी न किसी रूप म अवश्य अपनाया जाता है। वस्तुत आर्थिक नियोजन आधुनिक आर्थिक विकास की व्यवस्था का दूसरा नाम है। सामान्य जीवन मे मानव के समस्त कायकलाप किसी न किसी प्रकार के नियोजन पर ही आधारित होते हैं क्योकि पूर्व विचार तथा पूर्व निर्णय प्रत्येक कार्य मे निहित हैं। इसके साथ ही साथ कोई भी ऐसा राज्य नही है, जिसकी समस्त क्रियाएँ पूर्व नियोजित न हो अत नियोजन एक सापेक्षिक शब्द है जो सीमा (degree) की ओर सकेत करता है। इस प्रकार हमारा चुनाव नियोजन व नियोजनहीनता के बीच नही है अपितु विभिन्न प्रकार की नियोजन पद्धतियो के बीच है।

(१) आर्थिक नियोजन का अर्थ—आर्थिक नियोजन एक अत्यन्त व्यापक शब्द है। विभिन्न अर्थशास्त्रियों तथा विद्वानो ने इसे विभिन्न प्रकार से परिभाषित किया है। प्रो० राबिन्स के अनुसार, 'नियोजन करना, सोद्देश्य कार्य करना व चुनाव करना है और चुनाव आर्थिक क्रिया का मूल है।" डिकिन्सन के अनुसार, "आर्थिक नियोजन का अर्थ निर्धारित सत्ता द्वारा सम्पूर्ण आर्थिक एव सामाजिक व्यवस्था के एक विस्तृत सर्वेक्षण के आधार पर जान-बूझकर आर्थिक निर्णय करना है।" कार्ल लेण्डोर के अनुसार, "नियोजन एक सस्था द्वारा आर्थिक क्रियाओं का पथ-प्रदर्शन है जो एक योजना द्वारा सख्यात्मक एव गुणात्मक उत्पादन को एक निश्चित भविष्यकाल के लिए निर्धारित करता है।"[1] यह परिभाषा कुछ सकुचित है। विद्वान लेखक ने नियोजन शब्द का स्पष्टीकरण करते हुए पुनः कहा है, 'नियोजन का अर्थ बाजार मे स्वत स्थापित होने वाले समन्वय के स्थान पर विशेष प्रयत्न द्वारा समन्वय स्थापित करने की क्रिया को कहते हैं। यह विशिष्ट समाज की एक सस्था द्वारा किया जाता है। अत नियोजन की प्रकृति सामूहिक है तथा इसके द्वारा समाज व्यक्तियों की क्रियाओं का नियमन करता है।"

(२) नियोजन का उद्देश्य—नियोजन का उद्देश्य मानव समाज का कल्याण करना तथा उसे सम्पन्न बनाना है। नियोजन द्वारा देश के सीमित साधनो का श्रेष्ठतम प्रयोग करने की चेष्टा की जाती है। नियोजन एक सतत् प्रयत्न है जिसके द्वारा मानव के आर्थिक व सामाजिक

---

[1] Carl Landaure, *Theory of National Economic Planning* p 13

स्तर को ऊँचा उठाने का प्रयत्न किया जाता है। सामान्यत अधिकतम उत्पादन, उचित वितरण, अवसर की समानता, पूर्ण रोजगार, सामाजिक न्याय, स्वतन्त्रता तथा मानवीय मूल्यो को महत्त्व देना ऐसे तत्त्व हैं जिनके द्वारा मानव-कल्याण को अधिकतम किया जा सकता है। अत आर्थिक नियोजन का उद्देश्य उपर्युक्त सभी तत्त्वो की प्राप्ति करना है। कभी कभी ये तत्त्व परस्पर विरोधी भी हो सकते हैं। अत नियोजन का उद्देश्य इन तत्त्वो म सामजस्य स्थापित करना है। नियोजन का उद्देश्य केवल भौतिक उन्नति करना ही नही है, अपितु मानव का सही अर्थ मे सर्वांगीण विकास करना है। मानव म विनियोजन उतना ही महत्त्वपूर्ण है जितना कि भौतिक उत्पादन मे। मानव और मानव व्यक्तित्व का विकास नियोजन का प्रमुख उद्देश्य है।

भारत म भी नियोजन का 'मूलभूत उद्देश्य यह है कि सतत् आर्थिक उन्नति के लिए दृढ आधार की व्यवस्था हो, लाभदायक रोजगार के लिए अवसरो का और बढाया जाय और आम लोगो के जीवन स्तर तथा काम करने की परिस्थितियो को सुधारा जाय।" नियोजन का प्रमुख उद्देश्य 'प्रयत्न और व्यापक रूप से सम्मिलित होकर किये गए त्याग और बलिदानो द्वारा एक ऐसे समाज की स्थापना है जिसमे कोई जाति श्रेणी या विशेषाधिकार न हो और उसमे समाज के प्रत्येक वर्ग तथा देश के समस्त भागो को विकसित होने एव राष्ट्रीय कल्याण मे योगदान करने के लिए पूर्ण अवसर प्राप्त हो।"

(३) **नियोजन की आवश्यकता**—नियोजन की आवश्यकता का अनुभव पूँजीवादी अर्थ-व्यवस्था की अनिश्चित अवस्था के कारण हुआ। पूँजीवादी अर्थ-व्यवस्था समय-समय पर व्यापार चक्रो से प्रभावित होती रहती है अत इसमे आर्थिक स्थायित्व नही होता है। नॉर्मन ऐंजिल के शब्दों में, "मुक्त व्यापार धराशायी हो गया है और यदि औद्योगिक एव वित्तीय व्यवस्था को कार्य करना है तो सजग नियन्त्रण आवश्यक है।"[1] पहले यह विश्वास किया जाता था कि पूँजीवादी अर्थ-व्यवस्था मे ऐसे तत्त्व विद्यमान हैं जो असन्तुलन की स्थिति को स्वत ठीक कर देते हैं। परन्तु अब इस सिद्धान्त में विश्वास नही किया जाता। पूर्ण स्पर्द्धा स्वप्नमात्र रह गयी है। मानव की स्वार्थपरता, बाजार की अपूर्णताएँ तथा उपभोक्ताओं की अज्ञानता के कारण आर्थिक अन्याय की सृष्टि होती है। प्रयत्नो के होते हुए भी समय-समय पर पूँजीवादी अर्थ-व्यवस्था को आर्थिक मन्दी तथा बेरोजगारी की समस्या का सामना करना पडता है। इन दोषो को दूर करने के लिए कुछ देशो मे आशिक नियोजन अपनाया गया। अमरीका म न्यू डील (New Deal) इसका ज्वलन्त उदाहरण है।

इसके अतिरिक्त नियोजन द्वारा प्राकृतिक साधनो का समुचित उपयोग किया जा सकता है। राष्ट्रीय आवश्यकताओ को ध्यान मे रखत हुए उनका यथोचित विदोहन किया जा सकता है। नियोजन द्वारा अनावश्यक स्पर्द्धा को दूर किया जा सकता है। अनियोजित अर्थ-व्यवस्था के निश्चित लक्ष्य नही होते। अत नियोजन द्वारा अल्पकाल मे ही देश का आर्थिक विकास किया जा सकता है।

अर्द्ध-विकसित देशों (under-developed countries) मे नियोजन की आवश्यकता तथा उपयोगिता निर्विवाद है। अर्द्ध विकसित का अर्थ भूतकाल मे सामाजिक एव आर्थिक अवरोध तथा भविष्य मे उन्नति एव विकास की आशा से है। प्राय समस्त अर्द्ध विकसित देशो मे कृषि की प्रधानता, निर्धनता, बेरोजगारी एव अर्द्ध बेरोजगारी, अशिक्षा, अन्धविश्वास, रूढिग्रस्तता, जनसख्या का आधिक्य, प्राविधिक ज्ञान का अभाव, अविकसित आर्थिक संस्थाएँ तथा विदेशी व्यापार, अल्प राष्ट्रीय आय, निम्न जीवन स्तर आदि पायी जाती हैं। ऐसी अर्थ-व्यवस्था मे मध्यकालीन विशेष-

---

[1] '*Laissez faire* has broken down and if the industrial and financial machinery is to work, there must be conscious control.' —Normal Angell, *From Chaos to Control* 1933 p 51

ताओं के साथ ही साथ कहीं-कहीं और किसी-किसी क्षेत्र में अनियोजित आधुनिकता भी पायी जाती है। ऐसे देशों का आर्थिक विकास करना एक जटिल समस्या है।

विकसित देशों में नियोजन की आवश्यकता आर्थिक असन्तुलन को दूर करने के लिए होती है, परन्तु अर्द्ध-विकसित देशों में नियोजन आर्थिक विकास के लिए आवश्यक शर्त होता है। नियोजन द्वारा ऐसे देशों के साधनों का समुचित उपयोग करते हुए अल्प समय में ही आर्थिक विकास किया जा सकता है। 'एक अर्द्ध विकसित देश के सामने केवल वर्तमान आर्थिक और सामाजिक संस्थाओं के ढाँचे के भीतर और अधिक परिणाम प्राप्त करने का ही प्रश्न नहीं होता बल्कि उन्हें इस तरह ढालने और बनाने की समस्या होती है जिससे वे और अधिक विस्तृत और गहरे सामाजिक मूल्यों की प्राप्ति में प्रभावशाली ढंग से अपना योगदान कर सकें।"[1] इस उद्देश्य की पूर्ति आर्थिक नियोजन द्वारा ही की जा सकती है।

भारत में आर्थिक नियोजन सम्बन्धी प्रयत्न (Earlier attempts at Planning in India)—आर्थिक नियोजन का महत्व द्वितीय विश्वयुद्ध के पश्चात् अधिक बढ़ गया है। भारत में सरकारी स्तर पर सर्वप्रथम मार्च १९५० में योजना आयोग की स्थापना की गयी। तब से नियोजन का व्यावहारिक कार्य प्रारम्भ हुआ परन्तु इसके पूर्व भी व्यक्तिगत स्तर पर कुछ ऐसे प्रयत्न किये गये थे जिनका ऐतिहासिक महत्त्व है। 'भारत के स्वतन्त्रता-संघर्ष काल में स्वाधीनता का राजनीतिक पक्ष अन्य सब चीजों पर हावी था। फिर भी शुरू से ही भारत की राष्ट्रीयता में आर्थिक चिन्तन और समाज-सुधार के तत्व बड़ी मात्रा में मौजूद थे। आम लोगों की गरीबी को दूर करने तथा भारत के सामाजिक और आर्थिक जीवन के समस्त ढाँचे के पुनर्निर्माण के लिए स्वतन्त्रता को ही अनिवार्य साधन माना जाता था। दादाभाई नौरोजी से लेकर, जिनका 'दि पावर्टी ऑव इण्डिया' विषयक लेख १८७६ में प्रकाशित किया गया था, अनेक राष्ट्रीय नेताओं ने इन उद्देश्यों को राष्ट्रीय संग्राम में सर्वोपरि स्थान दिया।" महात्मा गाँधी ने राजनीतिक नेतृत्व के साथ ही साथ सामान्य जनता के आर्थिक एवं सामाजिक उत्थान को सर्वोपरि महत्त्व दिया। भारतीय स्वतन्त्रता संग्राम का आर्थिक तथा सामाजिक समस्याओं से अटूट सम्बन्ध रहा। राष्ट्रीय कांग्रेस ने सन् १९४१ में एक व्यापक आर्थिक कार्यक्रम तैयार किया।

सन् १९३४ में सुप्रसिद्ध इंजीनियर तथा राजनीतिज्ञ सर एम० विश्वेश्वरैया ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक भारत के लिए नियोजित अर्थ-व्यवस्था (Planned Economy for India) प्रस्तुत की। सम्भवतः भारत के आर्थिक पुनर्निर्माण के लिए यह प्रथम योजना थी। सन् १९३६ में राष्ट्रीय कांग्रेस ने कृषि के विकास के लिए एक कृषि कार्यक्रम स्वीकार किया। उसके पश्चात् सन् १९३८ में स्वर्गीय पं० जवाहरलाल नेहरू की अध्यक्षता में राष्ट्रीय कांग्रेस ने राष्ट्रीय आयोजन समिति गठित की गयी। युद्ध के कारण यह समिति अपना प्रतिवेदन सन् १९४८ में प्रस्तुत कर सकी।

द्वितीय विश्वयुद्ध काल में युद्धोपरान्त आर्थिक निर्माण की बात चलती रही। जून १९४१ के पश्चात् भारत सरकार ने पुनर्निर्माण का एक अलग पद प्रारम्भ किया। सर आर्देशिर दलाल ने यह पद ग्रहण किया। उसी समय गैर-सरकारी स्तर पर कुछ योजनाएँ देश में प्रकाशित की गयीं जिनका संक्षिप्त विवरण निम्न प्रकार है :

(१) **बम्बई योजना**—सन् १९४३ के अन्त में बम्बई के आठ प्रमुख उद्योगपतियों ने 'A Plan for Economic Development in India' प्रस्तुत किया। यह योजना बम्बई योजना के नाम से प्रसिद्ध है। सर पुरुषोत्तमदास ठाकुरदास, जे० आर डी० टाटा, ए० डी० श्राफ, जी० डी० बिरला आदि इस योजना के प्रणेता थे। इस योजना का लक्ष्य १५ वर्ष की अवधि में कृषि

---

[1] तृतीय पंचवर्षीय योजना, पृ० ५।

उत्पादन मे १३०% तथा औद्योगिक उत्पादन मे ५००% की वृद्धि करना था। इसका लक्ष्य प्रति व्यक्ति आय १००% की वृद्धि करना (६५ रुपये से १३० रुपये) भी था। योजना मे मूल उद्योगो को अधिक महत्त्व दिया गया था, जिससे कृषि की प्रधानता कम हो सके तथा देश का आर्थिक विकास सन्तुलित किया जा सके। योजना मे १५ वर्षो मे कुल व्यय १०,००० करोड रुपये निश्चित किया गया था।

(२) जन योजना (People's Plan)—अप्रैल १९५४ मे इण्डियन फेडरेशन आव लेबर की ओर से एम० एन० राय ने जन योजना (People's Plan) प्रकाशित की। यह योजना १० वर्ष की अवधि के लिए बनायी गयी थी तथा इसके अन्तर्गत कुल व्यय १५,००० करोड रुपये करना था।

इस योजना मे कृषि तथा उपभोक्ता उद्योगो को प्राथमिकता दी गयी थी। योजना का लक्ष्य कृषि उत्पादन मे ४००% तथा औद्योगिक उत्पादन मे ६००% की वृद्धि करना था।

(३) गाँधीवादी योजना—सन् १९४४ म ही आचाय श्रीमन्नारायण अग्रवाल द्वारा देश क आर्थिक विकास के लिए गाँधीवादी योजना प्रस्तुत का गयी। यह योजना आदर्शवादी थी, जिसमे व्यय कार्यक्रम व लक्ष्यो पर ध्यान कन्द्रित न करके योजना-विधि पर अधिक ध्यान दिया गया था। इस योजना मे आत्मनिर्भर गाँवो पर आधारित विकेन्द्रित अर्थ-व्यवस्था, कृषि-कुटीर एव ग्रामोद्योग आदि को महत्त्वपूर्ण स्थान दिया गया।

(४) सरकारी स्तर पर प्रयत्न—सन् १९४४ म स्थापित नियोजन तथा विकास विभाग ने आर्थिक स्थिति को सामान्य करने के उद्देश्य से एक अल्पकालीन योजना तथा आर्थिक पुनर्निर्माण एव विकास के लिए एक दीर्घकालीन योजना तैयार की। स्वतन्त्रता प्राप्ति के पूर्व अन्तरिम सरकार न एक सलाहकार आयोजन बोर्ड स्थापित किया। इस बोर्ड का प्रमुख कार्य आयोजन के लिए आवश्यक आकडे एकत्र करना था। देश-विभाजन एव तदुर्जानत समस्याओ के कारण बोर्ड की सिफारिशों को कार्यान्वित नही किया जा सका। २६ जनवरी, १९५० से भारत मे नया सविधान लागू किया गया। सविधान क निर्देशक सिद्धान्तो द्वारा यह घोषणा की गयी कि :

"राज्य जनता के कल्याण की अभिवृद्धि का प्रयत्न एक ऐसी सामाजिक व्यवस्था की यथा-सम्भव प्रभावशाली रूप मे स्थापना और उसकी रक्षा करके करेगा जिसके अन्तर्गत सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक न्याय राष्ट्रीय जीवन की समस्त सस्थाओ मे व्याप्त होगा।"

इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए देश का आर्थिक नव-निर्माण करना आवश्यक हो गया। आर्थिक नव-निर्माण क लिए योजनाबद्ध विकास आवश्यक समझा गया। अत मार्च १९५० मे योजना आयोग की स्थापना की गयी, "जिसका उद्देश्य देश के भौतिक, पूँजीगत और मानवीय साधनो का मूल्याकन करना और इनके अत्यधिक प्रभावशाली एव सन्तुलित उपयोग की योजना बनाना था।" स्वर्गीय श्री जवाहरलाल नेहरू योजना आयोग क अध्यक्ष थे। जुलाई १९५१ मे योजना आयोग न प्रथम पचवर्षीय योजना की रूपरेखा (draft outline) प्रस्तुत की। यह योजना १ अप्रैल, १९५१ से आगामी पाँच वर्षों के लिए लागू की गयी। इस प्रकार भारत मे योजनाबद्ध आर्थिक विकास का श्रीगणेश हुआ।

यहाँ यह स्मरणीय है कि भारत ने उस योजना को नही अपनाया जिसे रूस आदि साम्यवादी देशो ने अपनाया था। भारतीय आयोजन प्रजातन्त्रात्मक आयोजन (Democratic Planning) है जो विश्व के लिए एक नयी वस्तु है। इस प्रकार सन् १९३८ में गठित राष्ट्रीय आयोजन समिति का स्वप्न साकार हुआ, जिसने प्रजातन्त्रात्मक आयोजन पर जोर दिया तथा उसे परिभाषित किया था।

प्रथम पंचवर्षीय योजना
(THE FIRST FIVE YEAR PLAN)

जुलाई १९५१ में योजना आयोग ने प्रथम पंचवर्षीय योजना की रूपरेखा प्रस्तुत की। यह योजना १ अप्रैल, १९५१ से ३० मार्च, १९५६ तक के लिए तैयार की गयी थी। आरम्भ में सार्वजनिक क्षेत्र में कुल २,०६९ करोड़ रुपये योजनाकाल में व्यय करने का निश्चय किया गया था। सन् १९५३ में बेरोजगारी की समस्या को दूर करने के उद्देश्य से कुल व्यय की राशि बढ़ाकर, २,२४६ करोड़ रुपये कर दी गयी। बाद में व्यय की कुल राशि बढ़ाकर २,३७८ करोड़ रुपये कर दी गयी। इस प्रकार मूल रूप में प्रथम पंचवर्षीय योजना के अन्तर्गत २,०६९ करोड़ रुपये व्यय करने के कार्यक्रम बनाये गये तथा अन्तिम रूप में यह राशि बढ़ाकर २,३७८ करोड़ रुपये कर दी गयी थी।

(१) प्रथम योजना के उद्देश्य—प्रथम पंचवर्षीय योजना के प्रमुख उद्देश्य निम्नलिखित थे

(i) आर्थिक असन्तुलन को दूर करना—द्वितीय विश्वयुद्ध तथा देश-विभाजन के कारण उत्पन्न आर्थिक असन्तुलन को दूर करना।

(ii) पूर्व योजनाओं की पूर्ति—प्रथम पंचवर्षीय योजना के प्रारम्भ से पहले ही केन्द्रीय तथा राज्य सरकारों द्वारा कुछ परियोजनाएँ (Projects) प्रारम्भ की गयी थीं। इन पूर्व-चालित योजनाओं को भी प्रथम पंचवर्षीय योजना में सम्मिलित कर लिया गया। वास्तव में, उन योजनाओं को भी पूर्ण करना प्रथम योजना का प्रमुख लक्ष्य था।

(iii) दीर्घकालीन उद्देश्य—योजना का दीर्घकालीन उद्देश्य अर्थ व्यवस्था को इस प्रकार विकसित करना था जिससे आर्थिक असन्तुलन दूर हो सके, राष्ट्रीय आय में वृद्धि हो तथा जनता का जीवन स्तर ऊँचा उठ सके।

प्रथम पंचवर्षीय योजना तत्कालीन आवश्यकताओं को ध्यान में रखकर तैयार की गयी थी, इसमें दीर्घकालीन उद्देश्यों पर विशेष ध्यान नहीं दिया गया।

(२) प्राथमिकताएँ—(i) कृषि—प्रथम पंचवर्षीय योजनाओं में कृषि को प्रधानता दी गयी। उस समय देश के समक्ष खाद्य-समस्या थी तथा कपास, जूट आदि कच्चे माल का अत्यन्त अभाव था। अतः कृषि को सर्वोच्च प्राथमिकता दी गयी। कृषि कार्यक्रमों के अन्तर्गत भूमि-सुधार, सिंचाई सुविधाएँ, कृषकों के लिए ऋण व्यवस्था, सहकारिता, पशुपालन, बीज, खाद तथा कृषि के सुधरे हुए उपकरणों का प्रयोग और कुटीर उद्योग-धन्धों को प्राथमिकता दी गयी।

(ii) विद्युत तथा उद्योग—सिंचाई तथा लघु उद्योगों के विकास के लिए विद्युतशक्ति आवश्यक थी, अतः विद्युत उत्पादन को द्वितीय प्राथमिकता दी गयी। इसके साथ ही साथ वृहत् रसायन आदि उद्योगों के विकास पर जोर दिया गया तथा राष्ट्रीय महत्व के उद्योगों का विकास आवश्यक समझा गया।

(iii) सामाजिक सेवाएँ—तीसरी प्राथमिकता शिक्षा, समाज कल्याण, स्वास्थ्य आदि सामाजिक सेवाओं को दी गयी।

(iv) सामुदायिक विकास तथा यातायात—इस योजना में सामुदायिक विकास पर पर्याप्त जोर डाला गया। स्थानीय जन शक्ति के उपयोग के लिए सामुदायिक विकास योजनाओं को अत्यन्त उपयोगी समझा गया। ग्रामीण क्षेत्रों में सड़क-निर्माण आदि के लिए श्रमदान को उपयोगी समझा गया। रेल यातायात के विकास को अन्तिम प्राथमिकता दी गयी।

(३) व्यय सम्बन्धी कार्यक्रम—आरम्भ में कुल २,०६९ करोड़ रुपये व्यय करने के कार्यक्रम बनाये गए थे। इन कार्यक्रमों में परिवर्तन किया गया तथा अन्तिम रूप से कुल व्यय की राशि

बढाकर २,३७८ करोड रुपये कर दी गयी, परन्तु योजनाकाल मे वास्तविक व्यय १,९६० करोड रुपये होने का अनुमान लगाया गया है जैसा कि निम्न तालिका से स्पष्ट है

प्रथम पचवर्षीय योजना का वास्तविक व्यय

	व्यय (करोड रुपये)	प्रतिशत
१ कृषि तथा सामुदायिक विकास	२९१	१५
२. सिंचाई तथा शक्ति	५७०	२९
३ उद्योग तथा खनिज	११७	६
४ यातायात तथा सवादवाहन	५२३	२७
५. सामाजिक सेवाएँ व अन्य	४५९	२३
योग	१,९६०	१००

(४) **योजना की वित्त व्यवस्था**—मूल रूप मे प्रथम योजना २,०६९ करोड रुपय की थी परन्तु उसमे वास्तविक व्यय १,९६० करोड रुपये हुआ जिसकी वित्तीय व्यवस्था निम्न प्रकार की गयी

वित्तीय साधन	राशि (करोड रुपये)	प्रतिशत
१ कर तथा रेलवे का आधिक्य	७५२	३८
२ बाजार ऋण	२०५	१०
३. अल्पबचत तथा ऋण	३०४	१६
४ अन्य पूँजीगत प्राप्ति	९१	५
५ विदेशी सहायता	१८८	१०
६ हीनार्थ-प्रबन्धन	४२०	२१
योग	१,९६०	१००

(५) **प्रथम पचवर्षीय योजना की सफलता**—योजनाकाल मे राष्ट्रीय आय मे १७ ५% की वृद्धि हुई है। प्रति व्यक्ति आय २५० रुपये से बढकर २६८ रुपये हो गयी। प्रति व्यक्ति उपभोग मे ८% की वृद्धि हुई। कृषि तथा उसके सहायक धन्धो में उत्पादन मे १४ ७% की वृद्धि हुई। खाद्यान्न का उत्पादन २०%, कपास का उत्पादन ४५% तथा तिलहन का उत्पादन ८% अधिक हुआ। सन् १९५०-५१ में खाद्यान्नो का उत्पादन ५४० लाख टन था जो सन् १९५५-५६ मे बढकर ६४९ लाख टन हो गया जबकि योजना का लक्ष्य ६१६ लाख टन था। सिंचित भूमि का क्षेत्रफल ५१० लाख एकड (१९५०-५१) से बढकर सन् १९५५-५६ मे ६५० लाख एकड हो गया जबकि लक्ष्य ७०७ लाख एकड था।

औद्योगिक उत्पादन मे ४०% की वृद्धि हुई। विद्युत उत्पादन-क्षमता २३ लाख किलोवाट (सन् १९५०-५१ से बढकर ३४ लाख किलोवाट हो गय (लक्ष्य ३६ लाख किलोवाट)। सीमेण्ट का उत्पादन २६ ९ लाख टन से बढकर ५५ ९ लाख टन हो गया (लक्ष्य ४८ लाख टन)। मिलो द्वारा उत्पादित कपडे का उत्पादन ३७,१८० लाख गज (सन् १९५०-५१) स बढकर ५५,१०२ लाख गज हो गया जबकि योजना का लक्ष्य केवल ४७ ००० लाख गज था। जूट द्वारा निर्मित वस्तुओं का उत्पादन ८२४ हजार टन से बढकर १ ०५४ हजार टन हो गया। भारी रसायन, इंजीनियरी, चीनी, कागज तथा साइकिल के उत्पादन मे भी सन्तोषजनक वृद्धि हुई। सार्वजनिक क्षेत्र म कुछ नये कारखाने खोले गये जैसे—सिंदरी का कारखाना, चित्तरजन लोकोमोटिव वर्क्स, हिन्दुस्तान शिपयार्ड, हिन्दुस्तान मशीन टूल्स, टेलीफोन फैक्टरी, आदि

प्रथम पचवर्षीय योजना देश की आर्थिक समस्याओ के समाधान की दिशा मे महत्वपूर्ण प्रयत्न थी। प्रारम्भ मे योजना की प्रगति धीमी रही परन्तु अन्तिम दो वर्षों मे सन्तोषजनक प्रगति हुई।

द्वितीय पचवर्षीय योजना
(THE SECOND FIVE YEAR PLAN)

द्वितीय पचवर्षीय योजना प्रथम पचवर्षीय योजना की अपेक्षा अधिक महत्वाकाक्षी थी। प्रथम पचवर्षीय योजना का उद्देश्य नियोजित आर्थिक विकास की आधारशिला रखना था और द्वितीय योजना का उद्देश्य इस आधार को मजबूत बनाना था। यह योजना १ अप्रैल, १९५६ से ३१ मार्च, १९६१ तक के लिए थी। साधन सीमित होने के कारण प्रथम योजना के लक्ष्य बहुत ऊँचे नहीं थे।

प्रथम योजना मे कृषि को प्राथमिकता दी गयी थी परन्तु द्वितीय योजना मे मूल तथा आधारभूत उद्योगो को सर्वोच्च स्थान प्राप्त हुआ। प्रथम योजना मे आर्थिक विकास की गति धीमी थी। अत द्वितीय योजना मे आर्थिक विकास की गति मे तीव्रता लाना आवश्यक हो गया। सन् १९५४ मे कांग्रेस के अवाडी अधिवेशन मे समाजवादी ढग के समाज की स्थापना (Socialistic Pattern of Society) का लक्ष्य रखा गया। भारतीय ससद ने भी आर्थिक नीतियो का उद्देश्य समाजवादी समाज की स्थापना निश्चित किया। मार्च १९५६ मे नयी औद्योगिक नीति की घोषणा की गयी जिसके द्वारा सार्वजनिक क्षेत्र को विस्तृत करने का लक्ष्य रखा गया। इन घटनाओ का द्वितीय योजना के लक्ष्यो तथा उद्देश्यों पर भी प्रभाव पडा।

(१) द्वितीय योजना के उद्देश्य—(i) **जीवन-स्तर को ऊँचा करना**—राष्ट्रीय आय मे इतनी वृद्धि करना जिससे सामान्य जनता का जीवन-स्तर ऊँचा उठ सके। राष्ट्रीय आय मे वृद्धि का लक्ष्य पाँच वर्षों में २५% रखा गया। राष्ट्रीय आय मे इस सीमा तक वृद्धि के लिए उत्पादन तथा विनियोग मे अधिक तेजी से वृद्धि करना आवश्यक हो गया।

(ii) **औद्योगीकरण**—देश का शीघ्रातिशीघ्र औद्योगीकरण करने के लिए वृहत् तथा आधारभूत उद्योगो पर विशेष जोर दिया गया।

(iii) **रोजगार मे अधिक वृद्धि करना** जिससे श्रम शक्ति के आधिक्य का समुचित उपयोग किया जा सके। योजनावधि में १२५ लाख व्यक्तियों को अतिरिक्त रोजगार दिलाने का लक्ष्य निश्चित किया गया।

(iv) **आर्थिक असमानता दूर करना**—इसके लिए आय तथा सम्पत्ति की असमानता म कमी करना तथा आर्थिक शक्ति के उचित वितरण का लक्ष्य रखा गया जिससे समाजवादी समाज की स्थापना मे सहायता मिल सके।

इस प्रकार द्वितीय पचवर्षीय योजना का उद्देश्य औद्योगीकरण द्वारा देश का तीव्र गति से आर्थिक विकास करना तथा राष्ट्र को सामाजिक व आर्थिक न्याय की दिशा मे अग्रसर करना था। योजना आयोग के शब्दो मे, "हमारी द्वितीय पचवर्षीय योजना का उद्देश्य ग्रामीण भारत का पुनर्निर्माण करना, भारत की औद्योगिक प्रगति की सुदृढ नींव रखना, जनता के दुर्बल तथा आधारहीन वर्ग को उन्नति के अवसर प्रदान करना तथा देश के समस्त भागों का सन्तुलित विकास करना था।

(२) योजना में व्यय—योजना म सार्वजनिक क्षेत्र के अन्तर्गत कुल ४,८०० करोड रुपये तथा निजी क्षेत्र के अन्तर्गत कुल २,४०० करोड रुपये व्यय करने का लक्ष्य निश्चित किया गया परन्तु योजना को कार्यान्वित करते समय आर्थिक कठिनाइयाँ सामने आयी। ये कठिनाइयाँ आन्तरिक साधनो तथा विदेशी विनिमय दोनों मे सम्बन्धित थीं। आयात की जाने वाली मशीनो तथा उपकरणो का मूल्य बढ गया। इसके प्रमुख कारण अन्तरराष्ट्रीय मूल्य-स्तर मे वृद्धि तथा स्वेज नहर सकट थे। विनियोग की मात्रा अधिक होने तथा उसकी तुलना मे उत्पादन कम होने के कारण

देश में भी मूल्य स्तर ऊँचा उठा तथा मुद्रा-स्फीति की परिस्थितियाँ उत्पन्न हो गयीं। इन कारणों से द्वितीय योजना के भौतिक लक्ष्यों की पूर्ति के लिए अधिक वित्तीय साधनों की आवश्यकता हुई। परन्तु देश में साधनों का अभाव था। अत द्वितीय पचवर्षीय योजना को दो भागों में बाँट दिया गया। प्रथम भाग (Part-A) में व्यय का कार्यक्रम ४,५०० करोड रुपये निश्चित किया गया। इस भाग में वे योजनाएँ सम्मिलित की गयीं जिनका सम्बन्ध कृषि उत्पादन म वृद्धि करने से था या जिन पर अधिक व्यय किया जा चुका था, जैसे—रेलवे, इस्पात कोयला तथा विद्युत उत्पादन सम्बन्धी योजनाएँ। दूसरे भाग (Part B) में ३०० करोड रुपये की योजनाएँ रखी गयीं जिनकी पूर्ति अतिरिक्त वित्तीय साधनों की प्राप्ति पर निर्भर थी।

द्वितीय पचवर्षीय योजना (सार्वजनिक क्षेत्र) ४,८०० करोड रुपये की थी परन्तु वास्तविक व्यय केवल ४,६०० करोड रुपये किया जा सका।

निम्नांकित तालिका से सार्वजनिक क्षेत्र में योजना के विभिन्न मदों पर नियोजित तथा वास्तविक व्यय का ज्ञान होता है

द्वितीय पचवर्षीय योजना के अन्तर्गत व्यय

(करोड रुपये)

विवरण	वास्तविक व्यय	
	कुल व्यय	प्रतिशत
१ कृषि तथा सामुदायिक विकास	५३०	११
२ सिंचाई एव विद्युत शक्ति	८६५	१९
३ उद्योग एव खनिज	१ ०७५	२४
४ यातायात तथा सवादवाहन	१,३००	२८
५ सामाजिक सेवाएँ ६ विविध	८३०	१८
योग	४,६००	१००

प्रथम पचवर्षीय योजना में कृषि को अधिक महत्त्व दिया गया था। कृषि सिंचाई योजनाओं पर योजना के कुल व्यय का ३१% व्यय करना था। परन्तु द्वितीय पचवर्षीय योजना में औद्योगिक विकास को प्राथमिकता दी गयी। योजना में उद्योग व खनिज पर कुल व्यय का २४% व्यय किया गया जिसम ग्रामीण और लघु उद्योगों का भाग ४% था। इस प्रकार मूल तथा बडे पैमाने के उद्योगों पर कुल व्यय का २०% भाग व्यय किया गया। यातायात सम्बन्धी कठिनाइयों को दूर करने के लिए इस पर व्यय की मात्रा काफी बढ़ा दी गयी। प्रथम पचवर्षीय योजना में सामाजिक सेवाओं तथा विभिन्न मदों (miscellaneous) पर ३३% व्यय किया गया जबकि द्वितीय पचवर्षीय योजना में इन पर कुल व्यय का १८% व्यय किया गया। कृषि पर कुल व्यय ६५० करोड रुपये हुआ जबकि प्रथम पचवर्षीय योजना में कृषि पर कुल व्यय ६०१ करोड रुपये हुआ था।

(३) विनियोग—द्वितीय योजना में सार्वजनिक क्षेत्र के अन्तर्गत पूँजी विनियोग ३,६३० करोड रुपये हुआ, जबकि प्रथम योजना में विनियोग की यह राशि १,३६० करोड रुपये थी। प्रथम तथा द्वितीय पचवर्षीय योजनाओं में व्यय तथा पूँजी विनियोग निम्न प्रकार हुआ

प्रथम एव द्वितीय योजनाओं में व्यय तथा पूँजी विनियोग

(करोड रुपये)

क्षेत्र	प्रथम योजना	द्वितीय योजना
१ सरकारी क्षेत्र का व्यय	१,९६०	४,६००
२ सरकारी क्षेत्र का पूँजी विनियोग	१,५६०	३,६५०
३ निजी क्षेत्र का पूँजी विनियोग	१,८००	३,१००
४ योग (पूँजी विनियोग)	३,३६०	६,७५०

निजी क्षेत्र के अन्तर्गत प्रथम योजना में विनियोग का लक्ष्य १,६०० करोड़ रुपये निर्धारित किया गया था। द्वितीय पंचवर्षीय योजना में निजी क्षेत्र का पूँजी विनियोग लक्ष्य २,४०० करोड़ रुपये का था।

प्रथम एवं द्वितीय पंचवर्षीय योजना में निजी क्षेत्र का पूँजी विनियोग निर्धारित लक्ष्य से अधिक हुआ।

(४) योजना के वित्तीय साधन—द्वितीय पंचवर्षीय योजना की वित्तीय व्यवस्था निम्न प्रकार करनी थी।

(करोड़ रुपये)

साधन	अनुमानित आय
१. वर्तमान आय से बचत	८००
२ जनता से ऋण	१,२००
३ बजट के अन्य साधन (रेलें तथा प्रॉवीडेण्ट फण्ड आदि)	४००
४. बाह्य साधन—विदेशी सहायता	८००
५ हीनार्थ-प्रबन्धन	१,२००
६ अन्तर को पूरा करने के लिए विदेशी साधनों से प्राप्ति का प्रयत्न	४००
कुल योग	४,८००

द्वितीय योजनाकाल में वास्तविक व्यय ४,६०० करोड़ रुपये हुआ। इसका ५१% भाग कर ऋण तथा अन्य साधनों से प्राप्त हुआ।

४,६०० करोड़ रुपये में ३,५१० करोड़ रुपये आन्तरिक साधनों द्वारा (रिजर्व और स्टेट बैंक द्वारा पी० एल० ४८० की जमा राशियों से दी गयी राशियों को सम्मिलित करके) तथा १,०९० करोड़ रुपये विदेशी सहायता से प्राप्त हुए।

(i) औद्योगिक प्रगति—द्वितीय पंचवर्षीय योजनाकाल में आर्थिक प्रगति सन्तोषजनक रही। योजना के अन्तिम वर्ष में खाद्यान्नों का उत्पादन ७६० लाख टन हुआ (प्रारम्भिक लक्ष्य ७५० लाख टन, संशोधित लक्ष्य ८०५ लाख टन) औद्योगिक क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण सफलता प्राप्त हुई। औद्योगिक उत्पादन का सूचकांक सन् १९६०-६१ में १९४ हो गया (१९५०-५१=१००)। योजनाकाल में तीन इस्पात के कारखाने स्थापित किये गये (भिलाई, राउरकेला, दुर्गापुर)। मशीन निर्माण उद्योग ने सन्तोषजनक प्रगति की। मशीन टूल्स का उत्पादन सन् १९५०-५१ में ३४ करोड़ रुपये का था जो सन् १९६०-६१ में बढ़कर ५५ करोड़ रुपये का हो गया। खाद उद्योग तथा रसायन उद्योग की प्रगति सराहनीय रही। पूँजीगत वस्तुओं सम्बन्धी उद्योग ने आशातीत उन्नति की। कुछ सर्वथा नयी वस्तुओं का उत्पादन देश में प्रारम्भ हुआ।

(ii) रोजगार—योजना-काल में ८० लाख अतिरिक्त व्यक्तियों को रोजगार प्रदान किया गया जिसमें से ६५ लाख व्यक्तियों को कृषि के बाहर अन्य क्षेत्रों में रोजगार प्राप्त हुआ। योजना का लक्ष्य १ करोड़ था जिसमें से ८० लाख व्यक्तियों को कृषि के बाहर रोजगार दिलाना था। रोजगार के लक्ष्य की पूर्ति नहीं की जा सकी क्योंकि द्वितीय योजना के अन्त में देश में ९० लाख व्यक्ति बेकार थे।

(iii) राष्ट्रीय आय—राष्ट्रीय आय, बचत तथा विनियोग की दरों में वृद्धि हुई। बचत का लक्ष्य योजनाकाल में ७% से बढ़कर १०% (राष्ट्रीय आय का) करना था परन्तु बचत की दर ७% से बढ़कर केवल ८·५% हुई। वास्तविक विनियोग की दर (राष्ट्रीय आय के प्रतिशत रूप में)

७·३१% से बढ़कर ११% हो गयी। राष्ट्रीय आय तथा प्रति व्यक्ति आय मे क्रमश २५ तथा १८ प्रतिशत वृद्धि का लक्ष्य निश्चित किया गया था परन्तु इसमे वास्तविक वृद्धि क्रमशः २१ तथा ६ प्रतिशत हुई। इस प्रकार यद्यपि द्वितीय योजना की प्रगति सन्तोषजनक थी फिर भी लक्ष्यो तथा सफलताओ मे पर्याप्त अन्तर रहा। अत योजना का यथार्थवादी होना आवश्यक समझा गया।

(६) **द्वितीय पचवर्षीय योजना की कठिनाइयां**—द्वितीय पचवर्षीय योजना म कुछ ऐसी कठिनाइयो का सामना करना पडा जो अप्रत्याशित थी। ये कठिनाइयां निम्नलिखित थी

(i) **विदेशी विनिमय सकट**—योजना के प्रारम्भ होत ही अर्थ-व्यवस्था को विदेशी विनियम सकट का सामना करना पडा। यह अनुमान लगाया गया था कि योजनावधि मे विदेशी व्यापार कुल १,१०१ करोड रुपये मे प्रतिकूल रहेगा परन्तु योजना के प्रथम दो वर्षो मे ही व्यापारिक प्रतिकूलता १,०२६ करोड रुपय हो गयी। अधिक मात्रा म आयात—विशेषतया लोहा तथा इस्पात, औद्योगिक कच्चा माल तथा पूंजीगत वस्तुओं के कारण भारत को घोर विदेशी विनिमय सकट का सामना करना पडा। 'पौण्ड पावनो' (Sterling Balances) मे से जो राशि योजना के पांच वर्षों मे निकलनी थी, वह योजना के प्रथम १½ वर्षो मे ही व्यय कर दी गयी। विदेशी विनिमय सकट आगामी वर्षों में और अधिक बढता गया तथा योजनावधि मे कुल १ ८५६ करोड रुपये का व्यापारिक घाटा रहा।

(ii) **मूल्य-स्तर में वृद्धि**—प्रथम पचवर्षीय योजना के अन्तिम वर्ष से ही मूल्य स्तर म वृद्धि प्राप्त हुई, तब से यह समस्या लगातार बनी हुई है। थोक मूल्यो का सामान्य सूचकांक जो सन् १९५५-५६ में ६६ था (१९५२-५३=१००) सन् १९५६-५७ में बढकर १०४ हो गया। फरवरी १९५८ से मूल्य-स्तर मे और भी तेजी से वृद्धि होने लगी। सितम्बर १९५८ में थोक मूल्यो क सूचकाक ११६ ५ तथा अप्रैल १९६० म १२० ४ हो गया। मार्च १९६१ मे थोक मूल्यों का सूचकांक १२७ हो गया (१९५०-५१=१००)। इस प्रकार योजनाकाल मे मूल्य स्तर म कुल ३०% की वृद्धि हुई। मूल्य स्तर में इस वृद्धि के कारण आर्थिक जीवन मे अनिश्चितता आ गयी। योजना व्यय सम्बन्धी सभी अनुमान गलत सिद्ध हो गये। मूल्य-स्तर म इस वृद्धि का प्रमुख कारण कृषि उत्पादन में कमी तथा अल्प समय मे ही अधिक मात्रा में विनियोजन करना था।

(iii) **कृषि उत्पादन में कमी**—योजना की कठिनाइयो का प्रमुख कारण कृषि उत्पादन मे कमी भी था। सन् १९५६-५७ मे सन् १९५५-५६ की अपेक्षा २५ लाख टन खाद्यान्नो का अतिरिक्त उत्पादन करने का लक्ष्य था परन्तु उत्पादन मे उस वर्ष केवल १५ लाख टन वास्तविक वृद्धि हुई। सन् १९५७-५८ व १९५८-५९ मे भी कृषि उत्पादन सन्तोषजनक नहीं रहा। १९५९-६० में खाद्यान्नो का उत्पादन पूर्व वर्ष की अपेक्षा ४० लाख टन कम हुआ। उसी वर्ष पूर्व वर्ष (१९५८-५९) की तुलना मे कपास के उत्पादन मे १०%, जूट के उत्पादन मे १२% तथा तिलहन के उत्पादन मे ८% की कमी हुई। कृषि उत्पादन मे इस कमी तथा उतार चढाव के कारण मूल्य-स्तर पर बुरा प्रभाव पडा, जीवन-निर्वाह व्यय मे वृद्धि हुई तथा जनता की कठिनाइयां बढ गयी।

(iv) **आन्तरिक साधनों का अभाव तथा व्यय मे कमी**—विदेशी विनिमय सकट के साथ ही साथ आन्तरिक वित्तीय साधन एकत्र करने मे भी कठिनाइयां हुई। राज्य सरकारें अतिरिक्त कर द्वारा अपेक्षित आय प्राप्त करने मे असमर्थ रही। वर्तमान करो की दरो (१९५५-५६) पर आय मे स ३५० करोड रुपय की बचत करनी थी, जबकि वस्तुत योजनाकाल मे इस मद म १०० करोड रुपये की कमी रही। अल्प बचत योजना स केवल ३८० करोड रुपये प्राप्त हुए (लक्ष्य ५०० करोड रुपये) आर्थिक साधनों की कमी के कारण ही योजनाकाल मे केवल ४,६०० करोड रुपये व्यय किये जा सके।

इस प्रकार द्वितीय पचवर्षीय योजनाकाल म विभिन्न प्रकार की आर्थिक कठिनाइयो का

सामना करना पड़ा। इसका प्रमुख कारण योजना का अधिक महत्त्वाकांक्षी (over-ambitious) होना था। भौतिक लक्ष्यो पर नियोजकों ने अधिक ध्यान दिया, साधन संग्रह पर ध्यान नहीं दिया गया। उन्होंने प्रशासन सम्बन्धी सुधार अर्थ व्यवस्था के विभिन्न अंगो का सन्तुलित विकास तथा यातायात सम्बन्धी कठिनाइयां आदि समस्याओ पर अपेक्षित ध्यान नही दिया। योजना के आरम्भिक वर्षों से ही यह कठिनाइयाँ बढती गयी। 'अभाव' तत्कालीन अर्थ-व्यवस्था की मुख्य विशेषता थी। उपभोक्ता वस्तुओं का अभाव, चोरबाजारी, मूल्य स्तर मे वृद्धि, भ्रष्टाचार मे वृद्धि, श्रम सम्बन्धी कठिनाइयाँ तथा अर्थ-व्यवस्था के विभिन्न अवयवो मे असन्तुलन की स्थिति का पाया जाना द्वितीय पंचवर्षीय योजनाकाल की प्रमुख विशेषताएँ थी। परन्तु इन सबके लिए केवल नियोजक (Planners) ही उत्तरदायी नही थे। योजना की सफलता कई बातो पर निर्भर थी, जिनमें से अधिकांश पर उनका कोई अधिकार नही था।

तृतीय पंचवर्षीय योजना
(THE THIRD FIVE YEAR PLAN)

तृतीय पंचवर्षीय योजना प्रथम तथा द्वितीय पंचवर्षीय योजनाओ की अपेक्षा काफी बड़ी योजना थी। इसके अन्तर्गत कुल ११,६०० करोड़ रुपये व्यय करने की व्यवस्था थी जिसमे से ७,५०० करोड रुपये सार्वजनिक क्षेत्र मे तथा ४,१०० करोड़ रुपये निजी क्षेत्र के लिए निर्धारित किया गया।

(१) योजना के उद्देश्य—तृतीय योजना मे दीर्घकालीन विकास तथा विकास के लिए अधिक शक्तिशाली प्रयत्नों पर जोर दिया गया। योजनाकाल मे कृषि की व्यवस्था मे पर्याप्त सुधार करने, उद्योग, विद्युत-शक्ति तथा परिवहन के साधनो का विकास करने, सम्पूर्ण अतिरिक्त श्रम शक्ति के लिए रोजगार की व्यवस्था तथा अवसर की समानता व समाजवादी समाज की स्थापना की दिशा मे महत्त्वपूर्ण कदम उठाने का प्रावधान किया गया। योजना के निर्माण के समय निम्नलिखित मुख्य लक्ष्य निर्धारित किये गये

(i) **राष्ट्रीय आय में वृद्धि**—राष्ट्रीय आय मे प्रतिवर्ष ५% वृद्धि तथा योजनाकाल मे राष्ट्रीय आय मे कुल ३०% वृद्धि का लक्ष्य रखा गया।

(ii) **कृषि**—खाद्यान्नों के उत्पादन मे इतनी वृद्धि करने का निश्चय किया गया कि आत्म-निर्भरता की स्थिति उत्पन्न हो सके और कृषि के विभिन्न पदार्थों के लिए यह संकल्प किया गया कि उनका उत्पादन देश के उद्योग तथा निर्यातो की आवश्यकता लायक बढ़ाया जा सकेगा।

(iii) **आधारभूत उद्योगों का विस्तार**—इस्पात, रसायन, ईंधन और बिजली जैसे आधार-भूत उद्योगो का विस्तार करना और मशीन-निर्माण क्षमता को इतना बढ़ाना कि आगामी दस वर्षों में और औद्योगीकरण की आवश्यकताएँ देश मे निर्मित साधनो से पूरी की जा सकें।

(iv) **रोजगार**—देश की जनशक्ति का यथासम्भव पूरा उपयोग करना और रोजगार के अवसरो मे पर्याप्त वृद्धि करना।

(v) **आय व सम्पत्ति की असमानता दूर करना**—क्रमश अवसरो की अधिकतम समानता प्रदान करना, आय और सम्पत्ति की विषमता मे कमी करना तथा आर्थिक शक्ति का अधिक समान रूप से वितरण करना।

(२) व्यय कार्यक्रम तथा विनियोग—योजना मे सार्वजनिक क्षेत्र का कुल व्यय ७,५०० करोड रुपये तथा निजी क्षेत्र का व्यय ४,१०० करोड रुपये निर्धारित किया गया। इस प्रकार योजनाकाल मे कुल ११,६०० करोड रुपये के व्यय कार्यक्रम निश्चित किये गये। सार्वजनिक क्षेत्र मे व्यय किये जाने वाले ७,५०० करोड रुपये मे से ६,३०० करोड़ रुपये पूंजी विनियोग तथा १,२०० करोड रुपये चालू व्यय के लिए थे। योजना मे यह स्पष्ट कर दिया गया कि योजना मे

सम्मिलित सभी भौतिक कार्यक्रमों को पूरा करने के लिए कुल ८,००० करोड रुपये की आवश्यकता सार्वजनिक क्षेत्र मे होगी। निम्न सारिणी मे सार्वजनिक क्षेत्र मे किये जाने वाले व्यय (७,५०० करोड रुपये) का मुख्य मदो के अन्तर्गत वितरण दिखाया गया है -

तृतीय योजना का व्यय कार्यक्रम—सार्वजनिक क्षेत्र (करोड रुपये)

वितरण	कुल व्यय	प्रतिशत
१ कृषि तथा सामुदायिक विकास	१,०६८	१४
२ बडी तथा मध्यम सिचाई योजनाएँ	६५०	६
३ बिजली	१,०१२	१३
४ ग्राम और लघु उद्योग	२६४	४
५ सगठित उद्योग और खनिज	१,५२०	२०
६ परिवहन और सचार साधन	१,४८६	२०
७ सामाजिक सेवाएँ और विविध	१,३००	१७
८ इन्वेण्टरी	२००	३
योग	७,५००	१००

७,५०० करोड रुपये में ३,७२५ करोड रुपये राज्य सरकारो द्वारा तथा ३,७७५ करोड रुपये केन्द्रीय सरकार द्वारा व्यय करने की व्यवस्था की गयी परन्तु राज्यो द्वारा योजनाओ के भौतिक कार्यक्रमो को पूरा करने के लिए कुल ३,८४७ करोड रुपये की आवश्यकता का अनुमान लगाया गया।

इस योजनाकाल मे सरकारी तथा निजी क्षेत्रो मे मिलाकर १०,४०० करोड रुपये की पूँजी विनियोग करनी थी।

समस्त भौतिक कार्यक्रमो को पूरा करने मे ८,००० करोड रूपये सरकारी क्षेत्र मे व्यय करने थे। *योजना-काल में श्रम-शक्ति मे १७ करोड की वृद्धि का अनुमान लगाया गया* जिसमे से केवल १४ करोड व्यक्तियों को रोजगार देने की सम्भावना व्यक्त की गयी। सभी कार्यक्रमो के पूरे हो जाने पर राष्ट्रीय आय मे ३४% की वृद्धि, कृषि तथा सम्बन्धित क्षेत्रो के शुद्ध उत्पादन मे २५%, खानो और कारखानो के उत्पादन मे ८२% तथा अन्य क्षेत्रों के उत्पादन मे ३२% की वृद्धि की गयी। यदि राष्ट्रीय आय मे केवल ३०% की वृद्धि हुई तो राष्ट्रीय आय योजना के अन्त मे *१६,००० करोड रुपये हो जायगी (द्वितीय योजना के अन्त में सन् १९६०-६१ के मूल्यो पर* राष्ट्रीय आय १४,५०० करोड रुपये थी)। जनसख्या के तत्कालीन अनुमानो के आधार पर तीसरी योजना के अन्त मे प्रति व्यक्ति आय ३८५ रुपये हो जाने की आशा की गयी।

(४) योजना के वित्तीय साधन—योजनाकाल मे कुल विनियोग १०,४०० करोड रुपये का प्रावधान किया गया अर्थात् पूँजी विनियोग की दर कुल राष्ट्रीय आय के ११% से बढाकर १४% करनी थी। स्वदेशी बचत की दर *राष्ट्रीय आय के लगभग ८ ५% से बढाकर तृतीय योजना के* अन्त तक ११ ५% करने का सकल्प किया गया। योजना मे कुल ७,५०० करोड रुपये व्यय करने का लक्ष्य रखा गया। परन्तु योजना मे सम्मिलित सभी भौतिक कार्यक्रमो को पूरा करने के लिए कुल ८,००० करोड रुपये की आवश्यकता का अनुमान लगाया गया। अग्रलिखित तालिका मे सरकारी क्षेत्र के विभिन्न वित्तीय साधनो से प्राप्त होने वाली आय दिखायी गयी है। तुलना की *दृष्टि से द्वितीय पचवर्षीय योजना के वित्त (वास्तविक प्राप्ति) के प्रमुख स्रोत भी दिये गये है* -

द्वितीय तथा तृतीय योजना के वित्तीय साधन (करोड रुपये)

शीर्षक		द्वितीय योजना	तृतीय योजना
१	चालू राजस्व से बचत (अतिरिक्त कराधान को छोड़कर)	—५०	५५०
२	रेलवे का अंशदान	१५०	१००
३	सरकारी उद्योगो की बचत	—	४५०
४	जनता से ऋण (विशुद्ध)	७८०	८००
५	अल्प बचतें (विशुद्ध)	४००	६००
६	प्रॉवीडेण्ट फण्ड	१७०	२६५
७	इस्पात समीकरण कोष	३८	१०५
८	विविध पूंजीगत प्राप्ति	२२	१७०
	योग	१,४१०	३,०४४
९	अतिरिक्त कराधान, जिनमे सरकारी उद्योगो एव व्यवसायो की बचत बढ़ाने के उपाय शामिल हैं	१,०५२	१,७१०
१०	विदेशी सहायता के रूप मे बजट मे दिखायी गयी प्राप्तियाँ	१,०९०	२,२००
११	हीनार्थ प्रबन्धन	९४८	५५०
	कुल योग	४,६००	७,५००

योजना-काल मे २,२०० करोड रुपये की विदेशी सहायता की आवश्यकता का अनुमान लगाया गया।

इस राशि मे पी० एल० ४८० के अन्तर्गत किये खाद्यान्नो के आयात का मूल्य सम्मिलित करने पर योजना-काल मे भुगतान सन्तुलन मे कुल ३,२०० करोड रुपये की कमी का अनुमान था। १०,४०० करोड रुपये के विनियोग के लिए २,०३० करोड रुपये की प्रत्यक्ष विदेशी मुद्रा की आवश्यकता थी। योजना की उपर्युक्त आवश्यकताओ के अतिरिक्त कच्चा माल, कल-पुर्जे, पुरानी मशीनो को बदलने (Maintenance Imports) आदि के लिए ३,६५० करोड रुपये मूल्य के आयात करने की व्यवस्था की गयी।

(५) **तृतीय योजना की प्रगति**—तृतीय योजना-काल (अप्रैल १९६१ से मार्च १९६६ तक) मे सार्वजनिक क्षेत्र मे कुल ८,६३१ करोड रुपये व्यय किये गये जबकि प्रस्तावित व्यय केवल ७,५०० करोड रुपये था। योजनाकाल मे कृषि, सहकारिता तथा सामुदायिक विकास पर १,१०३ करोड, सिंचाई तथा विद्युत पर १,९१९ करोड, लघु व ग्रामीण उद्योगो पर २२० करोड, संगठित उद्योग तथा खनिज पर १,७३५ करोड, परिवहन व सवादवाहन पर २,११६ करोड, सामाजिक सेवाओ पर १,४२२ करोड तथा अन्य मदो पर ११६ करोड रुपये व्यय किये गये। इस प्रकार व्यय सम्बन्धी लक्ष्यो की पूर्ति हो गयी, परन्तु उत्पादन के लक्ष्यों की पूर्ति नही की जा सकी।

तृतीय योजनाकाल मे आर्थिक विकास की गति मन्द रही। विकास-दर (growth rate) राष्ट्रीय आय मे वृद्धि के सन्दर्भ मे सन् १९६१-६२ मे २ ५%, १९६२-६३ मे १ ७%, १९६३-६४ मे ४ ९% १९६४-६५ मे ७ ६% तथा १९६५-६६ में ४ २% (negative) रही। कृषि का

उत्पादन लगभग पूर्ववत् रहा तथा अधिक मात्रा में खाद्यान्नों का आयात करना पड़ा। केवल वर्ष १९६४-६५ में खाद्य उत्पादन स्थिति ठीक रही (उत्पादन ८.९ करोड़ टन)। योजनावधि में औद्योगिक उत्पादन भी आशानुकूल नहीं बढ़ सका। मूल उद्योगों विशेषतः इस्पात का उत्पादन लक्ष्य से बहुत कम रहा। योजनाकाल में मूल्यों में ३६% वृद्धि हुई, जिससे देश की आर्थिक कठिनाइयाँ बढ़ गयीं। रोजगार के लक्ष्यों की भी पूर्ति नहीं हो सकी।

योजना का अन्तिम वर्ष १९६५-६६ पूर्णतः असामान्य रहा। प्रत्येक क्षेत्र में उत्पादन में शिथिलता आयी। इस वर्ष कृषि उत्पादन में १९% कमी हुई औद्योगिक उत्पादन ३.८% मात्र बढ़ा तथा राष्ट्रीय आय में ४.०% कमी हुई। निर्यात में भी कमी हुई। खाद्यान्न की समस्या, बढ़ते हुए मूल्यों की समस्या, विदेशी विनिमय की समस्या, बेरोजगारी की समस्या, जनसंख्या की समस्या आदि पहले से भी अधिक कठिन हो गयीं। इस प्रकार तृतीय योजनाकाल भारत की अर्थ-व्यवस्था के लिए असफलताओं एवं आर्थिक कठिनाइयों का काल रहा।

भारत में आर्थिक नियोजन के प्रथम पन्द्रह वर्ष
(ACHIEVEMENTS OF FIRST FIFTEEN YEARS OF PLANNED DEVELOPMENT)

३१ मार्च, १९६६ को भारत में आर्थिक नियोजन के पन्द्रह वर्ष पूरे हुए तथा १ अप्रैल, १९६६ से चतुर्थ पंचवर्षीय योजना के अन्तर्गत आर्थिक विकास प्रारम्भ हुआ। यहाँ पर गत पन्द्रह वर्षों के योजनाबद्ध आर्थिक विकास की उपलब्धियों पर एक विहंगम दृष्टि डालेंगे जिससे हमें यह ज्ञात हो सके कि गत वर्षों में भारत की प्रगति किस सीमा तक हुई है। कुछ आलोचकों ने भारत में नियोजन की सफलता की कटु आलोचना की है। परन्तु यदि हम नियोजित आर्थिक विकास की उपलब्धियों पर विवेक के साथ विचार करें तो निश्चित रूप से इस निष्कर्ष पर पहुँचेंगे कि विभिन्न कठिनाइयों, आर्थिक समस्याओं तथा कुछ क्षेत्रों में योजनाओं की असफलताओं के होते हुए भी भारतीय अर्थ-व्यवस्था की प्रगति सन्तोषजनक रही है। अब हम इन सफलताओं पर कुछ विस्तारपूर्वक प्रकाश डालेंगे।

(१) राष्ट्रीय आय में वृद्धि—नियोजन के पूर्व अर्थात् १९५० तक, भारत में आर्थिक विकास की दर औसत रूप से एक प्रतिशत वार्षिक मात्र थी। सन् १९०० से १९५० तक कृषि विकास दर ०.१ प्रतिशत ही थी। प्रथम पंचवर्षीय योजनाकाल (१९५१-५२ से १९५५-५६) में भारत में आर्थिक विकास दर २.४ प्रतिशत वार्षिक तथा द्वितीय योजनाकाल (१९५६-५७ से १९६०-६१) में विकास दर (growth rate) ४ प्रतिशत वार्षिक थी। विभिन्न आर्थिक कठिनाइयों के होते हुए भी तृतीय योजनाकाल (१९६१-६२ से १९६५-६६) के प्रथम वर्ष में २.५ प्रतिशत, द्वितीय वर्ष में १.७ प्रतिशत, तृतीय वर्ष में ४.९ प्रतिशत, चतुर्थ वर्ष में ८.२ प्रतिशत राष्ट्रीय आय में वृद्धि हुई। योजना के अन्तिम वर्ष (१९६५-६६) में देश के विभिन्न भागों में अनावृष्टि तथा भारत-पाक युद्ध के कारण राष्ट्रीय आय में ४.२ प्रतिशत की कमी हुई। निम्न सारिणी द्वारा आय की वृद्धि पर प्रकाश पड़ता है।

राष्ट्रीय आय में वृद्धि

	१९५०-५१	१९६०-६१	१९६८-६९
१. शुद्ध उत्पादन (अरब रुपयों में)			
(i) वर्तमान मूल्यों पर	९५.३	१४१.५	
(ii) १९४८-४९ के मूल्यों पर	८८.५	१२७.३	
२. प्रति व्यक्ति उत्पादन (रुपयों में)			
(i) वर्तमान मूल्यों पर	२६६.५	३२६.०	५४२.३
(ii) १९४८-४९ के मूल्यों पर	२४७.५	२९३.३	३२३.३

सन् १९६०-६१ के मूल्यो पर सन् १९६१-६२ मे शुद्ध राष्ट्रीय आय १४,४६० करोड रुपये थी जो बढकर सन् १९६९-७० मे १९,१७२ करोड रुपये हो गयी। प्रति व्यक्ति राष्ट्रीय आय ३०६ रुपये से बढकर ३३९ रुपये हो गयी (१९६०-६१ के मूल्यो पर)।

(२) जीवन-स्तर मे सुधार—साधारण नागरिक जीवन स्तर मे १५ वर्षों मे सुधार हुआ। प्रति व्यक्ति आय २६७ रु० से बढकर ४२६ रु० हो गयी। औसत जीवन-काल ३२ से बढकर ५० वर्ष हो गया, प्रति व्यक्ति खाद्यान्नो की उपलब्धि १२ ८ औंस प्रतिदिन मे बढकर १५ ४ औंस हो गयी, और कपडे की प्रति व्यक्ति उपलब्धि ११ मीटर वार्षिक से बढकर १५ मीटर वार्षिक हो गयी।

(३) कृषि विकास—कृषि के क्षेत्र मे पर्याप्त विकास हुआ। कृषि उत्पादन का सूचकांक सन् १९५०-५१ मे ९६ था (१९४९-५०=१००) जो सन् १९६४-६५ मे बढकर १५८ हो गया (१९६५-६६ कृषि के लिए असामान्य वर्ष था)। इस प्रकार १५ वर्षों मे कृषि उत्पादन मे ६५% वृद्धि हुई।

पन्द्रह वर्षों मे सिंचित भूमि का क्षेत्रफल ५६० लाख एकड से बढकर ९७० लाख एकड हो गया। इस अवधि मे देश मे सात लाख नल कूप लगाये गये तथा सत्रह हजार गाँवो मे नल द्वारा पानी पहुँचाया गया। गाँवो मे सात लाख कुएँ बनाये गये। भारत का प्रत्येक गाँव अब सामुदायिक विकास योजनाओ के अन्तर्गत आ गया है।

(४) उद्योगों की प्रगति—कृषि की तुलना मे उद्योग, परिवहन तथा विद्युत उत्पादन मे सराहनीय वृद्धि हुई है। बिजली की भारी मशीनें, इन्जीनियरिंग की भारी मशीनें, मशीन निर्माण, पैट्रोल, बिजली के सामान आदि के उत्पादन मे बहुत अधिक वृद्धि हुई है। निम्नांकित सारिणी औद्योगिक प्रगति पर प्रकाश डालती है .

प्रमुख उद्योगो का विकास

विवरण	इकाई	१९५०-५१	१९६८-६९
तैयार इस्पात	दस लाख टन	१ ०४	४ ७
अल्यूमीनियम	हजार टन	४ ००	१२५'३
डीजल इंजन (स्थायी)	हजार मे	५ ५०	११९ ५
ऑटोमोबाइल्स	,,	१६ ५०	७८ ०
मशीन टूल्स	मूल्य करोड रुपये	० ३४	२४ ७८
सीमेण्ट	दस लाख टन	२ ७०	१२ २४
नाइट्रोजिनस फर्टि०	हजार टन (N)	९'००	५४१ ०
कोयला	दस लाख टन	३२ ८०	७ ४५
पैट्रोलियम	,,	० २०	१५ ४०
विद्युत उत्पादन क्षमता	दस लाख किलोवाट	२ ३०	५ १७

औद्योगिक उत्पादन का सूचकांक सन् १९५१ मे ७४ था (१९५६=१००) जो सन् १९६८ मे बढकर १७२ ५ हो गया। इस प्रकार औद्योगिक उत्पादन में १७२ प्रतिशत वृद्धि हुई।

द्वितीय योजना के प्रारम्भ काल (१९५६-५७) से वर्तमान समय तक स्टील, एल्यूमीनियम, रासायनिक, इन्जीनियरिंग, पैट्रोलियम तथा फर्टिलाइजर उद्योगो की उत्पादन क्षमता मे सराहनीय वृद्धि हुई है। इन उद्योगों की प्रगति भारत के औद्योगिक भविष्य की सूचक है। निकट भविष्य में ही भारत औद्योगिक दृष्टि से एक महत्त्वपूर्ण देश हो जायेगा।

(५) परिवहन का विकास—किसी भी देश के आर्थिक विकास के लिए परिवहन के साधनो का विकास आवश्यक है। योजना के प्रथम पन्द्रह वर्षों मे परिवहन के क्षेत्र मे भारत की प्रगति

सन्तोषजनक रही है। रेलवे की माल ढोने की क्षमता ९३० लाख टन (१९५०-५१) से बढकर २,०५० लाख टन हो गयी, जहाजरानी की टनेज ३ ९ लाख जी० आर० टी० से बढकर मार्च १९७० मे २४ लाख जी० आर० टी० हो गयी तथा पक्की सडकें सन् १९५१ मे १ ५७ लाख किलोमीटर से बढकर १९६६ मे ३·२५ लाख किलोमीटर हो गयी।

(९) सामाजिक सेवाओ की प्रगति—नियोजन का प्रमुख उद्देश्य सामान्य जनता के जीवन-स्तर मे सुधार लाना तथा उसके जीवन को अधिक सुखमय बनाना है। सामाजिक सेवाओ मे वृद्धि द्वारा इस उद्देश्य की प्राप्ति मे सहायता मिलती है। गत पन्द्रह वर्षों मे सामान्य शिक्षा, जन-स्वास्थ्य तथा प्राविधिक शिक्षा आदि क्षेत्रो मे भारत ने सराहनीय प्रगति की है। इसका अनुमान निम्नांकित सारणी से लगाया जा सकता है

सामाजिक सेवाओ की प्रगति

विवरण	१९५०-५१	१९६५-६६
स्कूलों की सख्या (हजार मे)	२३१	५०५
स्कूलो मे विद्यार्थी (६-१७ वर्ष के) (हजार मे)	२३ ५	६७ ७
इजीनियरिंग व प्राविधिक विद्यालयो मे प्रवेश देने की क्षमता (हजार मे)	५ ९	४९ ९
प्राथमिक चिकित्सा केन्द्र	—	४,८००
परिवार नियोजन केन्द्र	—	११,४७४
अस्पतालो मे बिस्तरो की सख्या (हजार मे)	११३	२४०

सन् १९५०-५१ मे २ ७५ करोड रुपये की छात्रवृत्तियाँ दी गयी जबकि सन् १९६५-६६ मे ३५ करोड रुपये इस मद मे व्यय किये गये। ५२,३०० गाँवो तथा कस्बो मे बिजली पहुँचायी गयी। सामाजिक सुरक्षा के क्षेत्र मे भी प्रगति सन्तोषजनक रही है। कर्मचारी राज्य बीमा योजना के अन्तर्गत तृतीय योजना के अन्त मे ३१ १० लाख कर्मचारी लाभ प्राप्त कर रहे थे।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि भारत मे प्रथम पन्द्रह वर्षों के योजनाबद्ध विकास के काल मे अच्छी प्रगति की तथा भारतीय अर्थ-व्यवस्था गतिशील एव विकासोन्मुख रही। बचत, विनियोग तथा पूँजी-निर्माण की दरो मे वृद्धि हुई। पन्द्रह वर्षों मे २८० लाख व्यक्तियो को रोजगार प्राप्त हुआ। योजनाओ के आलोचक जो भी कहें यह तथ्य निर्विवाद है कि गत वर्षों मे जनता के जीवन-स्तर मे सुधार हुआ है। कृषि, सामुदायिक विकास, उद्योग, परिवहन आदि के विकास द्वारा जन-साधारण विभिन्न दृष्टियो से लाभान्वित हुआ है।

वार्षिक योजनाएँ १९६६-६७, १९६७ ६८ तथा १९६८-६९

तृतीय पचवर्षीय योजना की अवधि ३१ मार्च, १९६६ को समाप्त हुई। उस समय चतुर्थ-पचवर्षीय योजना की रूपरेखा पर विचार-विमर्श चल रहा था। चतुर्थ योजना की रूपरेखा भी प्रकाशित की गयी परन्तु अब उस रूपरेखा का कोई महत्त्व नही है। वस्तुत अब तक चतुर्थ-योजना के सम्बन्ध मे जो कुछ किया गया है, उसे मानसिक-व्यायाम कहना ही अधिक उपयुक्त होगा। तृतीय-योजना के प्रमुख लक्ष्यो की पूर्ति न होने, पाकिस्तान के आक्रमण, वित्तीय साधनो की कमी तथा विदेशी सहायता की अनिश्चितता के कारण चतुर्थ-योजना को अब तक भी अन्तिम रूप नहीं दिया जा सका है।

(१) व्यय—इस प्रकार तीन वर्षों तक एक प्रकार से 'योजनावकाश' (Plan Holiday) रहा। इन तीनों वर्षों मे तीन वार्षिक योजनाएँ क्रियान्वित की गयी। इन वार्षिक योजनाओ का सक्षिप्त विवरण प्रस्तुत किया जा रहा है।

वार्षिक योजनाओं के अन्तर्गत व्यय

(करोड रुपयों मे)

विवरण	१९६६-६७ व्यय	१९६७-६८ व्यय	१९६८-६९ प्रावधान
१ कृषि व सामुदायिक विकास	३३१	३६३	३२८
२ सिंचाई व बिजली	५४६	५४२	४९३
३ उद्योग व खान	५५८	५६४	५८१
४. परिवहन व सवादवाहन	४२३	४१९	४२६
५ सामाजिक सेवाएँ तथा अन्य	२८३	३४२	५०९
योग	२,१४१	२,२३०	२,३३७

(२) **वार्षिक योजनाओ के वित्तीय साधन**—निम्न सारिणी द्वारा इन वार्षिक योजनाओ के वित्तीय साधना का ज्ञान होता है

(करोड रुपयो मे)

मद	१९६६-६७ (वास्तविक)	१९६७-६७ (वास्तविक)	१९६८-६९ (वास्तविक)
१ मुख्यत बजट के साधनो से	५१०	३६४	७४५
२ घरेलू-ऋण	८३९	८५०	७१६
कुल घरेलू साधन (१+२)	१,३४९	१,२१४	१,४६१
३ विदेशी सहायता	७८८	९९१	८७६
योग	२,१३७	२,२०५	२,३३७

उपर्युक्त आँकडा से स्पष्ट है कि इन वार्षिक-योजनाओ के लिए भी भारत को एक तिहाई से अधिक साधनो के लिए विदेशी सहायता पर निर्भर रहना पडा।

प्रगति—पुस्तक के विभिन्न अध्यायो के अन्तर्गत हम वार्षिक प्रगति सम्बन्धी सूचनाएँ दे चुके हैं। यहाँ पर हम प्रगति पर सामान्य रूप से विचार करेंगे। सन् १९६६-६७ का वर्ष भारतीय अर्थ-व्यवस्था के लिए अत्यन्त ही खराब था। इस वर्ष इस शताब्दी का सबसे बडा अकाल पडा। सन् १९६६-६७ मे राष्ट्रीय आय म केवल एक प्रतिशत वृद्धि हुई तथा प्रति व्यक्ति आय मे १ ४% कमी हुई। प्रारम्भिक अनुमानो के अनुसार सन् १९६७-६८ मे राष्ट्रीय आय मे ९·१% वृद्धि तथा प्रति-व्यक्ति आय मे ६ ५% वृद्धि हुई। इसके पूर्व के दो वर्ष कृषि के लिए अत्यन्त ही प्रतिकूल रहे। सन् १९६७-६८ मे पूर्व वर्ष की तुलना मे कृषि-उत्पादन मे २० ३% वृद्धि हुई।

चतुर्थ पचवर्षीय योजना (१९६९-७४)

चतुर्थ योजना मे कुल व्यय की राशि २४,८८२ करोड रुपये निश्चित की गयी है जिसमे से १५,९०२ करोड रुपये लोक क्षेत्र द्वारा तथा ८,९८० करोड रुपये निजी क्षेत्र द्वारा खर्च किया जायगा। लोक क्षेत्र म [illegible] अग्रलिखित रकम खर्च करने का आयोजन किया गया है

चतुर्थ योजना में व्यय

(करोड रुपयो मे)

मद	रकम	कुल का प्रतिशत
१. कृषि तथा सम्बन्धित क्षेत्र	२,७२८	१७
२. सिंचाई, बाढ नियन्त्रण आदि	१,०८७	७
३. शक्ति	२,४४८	१६
४. ग्राम एव लघु उद्योग	२९३	२
५. उद्योग तथा खनिज	३,३३८	२१
६ परिवहन तथा सचार	३,२३७	२०
७ सामाजिक सेवाएँ	२,५७९	१६
८ अन्य	१९२	१
योग	१५,९०२	१००

इस तालिका से स्पष्ट है कि चतुर्थ योजना में कृषि तथा सिंचाई पर २३ प्रतिशत, उद्योग तथा खनिज पर २१ प्रतिशत, परिवहन तथा सचार पर २० प्रतिशत, शक्ति तथा सामाजिक सेवाओं पर १६-१६ प्रतिशत रकम खर्च करने का प्रावधान किया गया है। इसका अर्थ यह है कि सभी महत्त्वपूर्ण क्षेत्रो को प्राय समान स्तर पर रखने का प्रयत्न किया गया है ताकि देश का आर्थिक विकास सर्वांगीण हो सके।

उद्देश्य—चतुर्थ योजना के सामान्य उद्देश्य तथा नीतियाँ वही हैं जो अन्य योजनाओ की थी किन्तु इसमे कुछ दिशाओ मे आत्मनिर्भरता तथा राष्ट्रीय चेतना पर अधिक जोर दिया गया है। यह निम्नलिखित बातो से स्पष्ट हो जाता है

(१) स्थायित्व के साथ विकास (Growth with Stability)—चतुर्थ योजना मे कृषि पदार्थों के मूल्यो मे उतार-चढाव रोकने की आवश्यकता पर बल दिया गया है। इसके लिए आवश्यक वस्तुओं के पर्याप्त भण्डार निर्मित करने का निश्चय किया गया है ताकि कमी के समय इनका उपयोग किया जा सके।

(२) विदेशी सहायता से छुटकारा—योजनाकाल मे पहली बार इस बात पर जोर दिया गया है कि विदेशी सहायता से शीघ्रातिशीघ्र मुक्ति पाने का प्रयत्न किया जायगा। इसके लिए राष्ट्रीय स्तर पर अधिक से अधिक परिश्रम करने की आवश्यकता का महत्त्व समझा गया है।

(३) निर्यात—विदेशी सहायता से छुटकारा पाने के लिए निर्यातों मे प्रति वर्ष ७ प्रतिशत की वृद्धि करने का निर्णय किया गया है।

(४) सामाजिक न्याय और समानता की आवश्यकता पर अधिक बल दिया गया है, इसके लिए आय की विषमता को कम करने का निश्चय किया गया है।

(५) प्रादेशिक असतुलन को कम करने के लिए पिछडे हुए क्षेत्रो के विकास पर अधिक ध्यान देने का निश्चय किया गया है।

(६) संस्थागत परिवर्तन—प्रजातन्त्र को शक्तिशाली बनाने के लिए वित्तीय तथा विकास सम्बन्धी सस्थाओ को शक्तिशाली बनाने के प्रयत्न को महत्त्वपूर्ण माना गया है।

इस प्रकार चतुर्थ योजना मे आत्मनिर्भरता तथा सामाजिक एव आर्थिक न्याय की आवश्यकता पर अधिक बल दिया गया है जो समाजवादी भावनाओ के सर्वथा अनुकूल है।

वित्तीय साधन

चतुर्थ योजना के लिए अग्रांकित साधनो से धन प्राप्त करने का निर्णय लिया गया है :

(१) आन्तरिक साधन	१२,४३८	७८ २ प्रतिशत
(२) विदेशो से प्राप्तियाँ	२,६१४	१६·५ ,,
(३) घाटे की बजट व्यवस्था	८५०	५ ३ ,,
	१५,९०२	१०० ०

कमियाँ—इससे स्पष्ट है कि चतुर्थ योजना म एक ओर तो मूल्यो मे स्थायित्व की आवश्यकता पर जोर दिया गया है, दूसरे घाटे की बजट व्यवस्था का त्याग करने का निश्चय नहीं किया गया है। पाँच वर्ष म ८५० करोड रुपये की रकम हीनार्थ प्रबन्धन द्वारा प्राप्त करने का निश्चय उचित नहीं होता। पिछले दो वर्षों (१९६९-७० तथा १९७०-७१) मे ही लगभग ५०० करोड रुपये का हीनार्थ प्रबन्धन हो चुका है। शेष तीन वर्षों मे भी हीनार्थ प्रबन्धन अधिक होने की ही आशका दिखलायी पडती है।

दूसरी महत्त्वपूर्ण बात यह है कि १२,४३८ करोड रुपये के आन्तरिक साधनो मे ३,१९८ करोड रुपये अतिरिक्त करों से प्राप्त करने का निर्णय किया गया है। इसमे २,१०० करोड रुपये राज्य सरकारो द्वारा अतिरिक्त करो से प्राप्त किये जाएँगे। यह निश्चय देखने मे तो बहुत श्रेष्ठ दिखलायी पडता है किन्तु व्यवहार मे बहुत कठिन प्रतीत होता है। भारत मे राज्य सरकारें प्राय कर लगाने मे समर्थ नहीं हैं क्योंकि दल-बदल की नियमित घटनाओ के कारण राज्यो मे स्थायित्व समाप्त हो गया है। अपनी कुर्सी बनाये रखने के लोभ के कारण नये कर लगाने की शक्ति बहुत क्षीण हो गयी है।

केन्द्रीय सरकार के भी अधिकतर निर्णय राजनीति से प्रेरित होने लगे हैं, आर्थिक महत्त्व को दृष्टि मे रख कर नहीं। अत एक ओर तो राज्य सरकारें केन्द्र पर अधिक निर्भर होती जा रही हैं दूसरी ओर केन्द्र स्वय भी अधिक कर लगाने मे समर्थ नहीं है। ऐसी स्थिति मे पर्याप्त धनराशि जुटाना सम्भव प्रतीत नहीं होता।

क्रान्तिकारिता का अभाव—चतुर्थ योजना मे कोई ऐसी व्यवस्था नहीं है जिसे क्रान्तिकारी कहा जा सके। इसमे पहली तीन योजनाओं के निश्चय ही नये शब्दो मे दोहराये गये हैं। आर्थिक विषमता और प्रादेशिक असन्तुलन दूर करने म बहुत मजबूती से क्रान्तिकारी कदम उठाने पड़ेंगे। १९७१ मे "गरीबी हटाओ" का नारा लगाकर चुनाव तो जीत लिया गया किन्तु १९७१ ७२ के बजट में गरीबी हटाने के लिए कोई ऐसा कदम नहीं उठाया गया जो इस निश्चय की सत्यता या ईमानदारी को प्रमाणित कर सके। ढीले ढाले, सामान्य प्रयत्नो से न तो देश की गरीबी हट सकती है, न आर्थिक विषमता दूर हो सकती है। इसके लिए नये उत्साह से नयी नीतियो का सूत्रपात करना पड़ेगा। ऐसा लगता है कि भारतीय शासक केवल वचनो से समाजवादी हैं, उनका रहन सहन तथा व्यवहार पूँजीवाद और नौकरशाही के घिनौने विष से युक्त है। जब तक कथनी और करनी मे अन्तर रहेगा, समाजवाद एक स्वप्न मात्र बना रहेगा, साकार सत्य नहीं हो सकता।

प्रश्न

१. 'आर्थिक नियोजन' के अर्थ तथा उद्देश्यो का विवेचन कीजिए।

(जोधपुर, बी० ए० (अन्तिम वर्ष), १९६८)

२ भारत मे प्रथम तीन पचवर्षीय योजनाओ की अवधि मे उद्योग या कृषि क्षेत्र के विकास का वर्णन कीजिए।

(जोधपुर, बी० ए०, १९६८)

३ भारत म आर्थिक नियोजन के इतिहास की सक्षिप्त विवेचना कीजिए। भारत की अर्थ-व्यवस्था को आर्थिक नियोजन से किन दिशाओ मे लाभ हुआ है?

(राजस्थान बी० ए०, १९६५)

४ योजनाओ की अवधि मे भारतीय अर्थ-व्यवस्था की प्रगति पर प्रकाश डालिए।

(दिल्ली, बी० ए०, १९६६)

५ भारत की चतुर्थ योजना पर आलोचनात्मक टिप्पणी लिखिए।

39 विदेशी व्यापार

(FOREIGN TRADE)

Individuals find it for their interest to employ their industry in a way in which they have some advantage over their neighbours

—ADAM SMITH

किसी भी देश की व्यापारिक अवस्था उसके आर्थिक विकास की द्योतक है। व्यापार वृद्धि बढ़ती हुई आर्थिक प्रगति का प्रतीक है। आर्थिक दृष्टि से पिछड़े हुए देशों में विदेशी व्यापार का महत्व और भी अधिक है। ऐसे देशों के आर्थिक विकास के लिए पूंजीगत साधनों की आवश्यकता होती है जिनकी प्राप्ति विकसित देशों से ही की जा सकती है। इसके लिए विदेशी मुद्रा की आवश्यकता होती है जो निर्यात व्यापार द्वारा ही प्राप्त की जाती है। विकास सम्बन्धी आवश्यकताओं की पूर्ति विदेशी ऋण तथा अनुदानों द्वारा भी की जा सकती है परन्तु यह व्यवस्था अल्पकालीन ही हो सकती है। दीर्घकाल में निर्यात वृद्धि के अतिरिक्त अन्य कोई उपाय नहीं है। अत आर्थिक विकास के लिए विदेशी व्यापार अत्यावश्यक है।

किसी भी देश के व्यापार को दो वर्गों में विभाजित किया जा सकता है—(१) आन्तरिक व्यापार, तथा (२) विदेशी व्यापार।

(१) आन्तरिक व्यापार (Internal Trade)—आन्तरिक व्यापार वह व्यापार है जो देश की सीमाओं के अन्दर किया जाता है। एक देश के अन्दर विभिन्न क्षेत्रों मे किया जाने वाला पारस्परिक व्यापार आन्तरिक व्यापार कहलाता है। सामान्य रूप में आन्तरिक व्यापार की मात्रा विदेशी व्यापार से अधिक होती है।

(२) विदेशी व्यापार (Foreign Trade)—एक देश दूसरे देशों के साथ जो व्यापार करता है उसे विदेशी व्यापार कहते हैं। विदेशी व्यापार के क्षेत्र मे भारत विश्व के पन्द्रह प्रमुख राष्ट्रों में से एक है।

भारत मे विदेशी व्यापार का संक्षिप्त इतिहास

(१) सन् १८६९ तक का काल—प्राचीनकाल मे भारत का विदेशी व्यापार दूर दूर के देशों के साथ होता था। भारत दुर्लभ व कलापूर्ण वस्तुओं के निर्यात के लिए विश्वविख्यात था। सूती कपड़ा, बर्तन, हाथी दांत का सामान, मसाले तथा अन्य वस्तुओं का निर्यात किया जाता था।

मुगल शासन काल मे भी भारत का विदेशी व्यापार उन्नत अवस्था मे था। भारत की समृद्धि तथा विदेशी व्यापार ने ही पश्चिमी देशो का ध्यान इसकी ओर आकर्षित किया। ईस्ट इण्डिया कम्पनी की स्थापना पूर्वी देशो विशेषत भारत के साथ व्यापार करने के लिए हुई थी। यह कम्पनी रेशमी वस्त्र, कलापूर्ण वस्तुएँ तथा मसाले भारत से यूरोपियन देशो को निर्यात करती थी। ब्रिटेन के उद्योगपतियो के प्रयत्नो से वहाँ पर भारतीय वस्तुओ पर बहुत ही ऊँची दर से आयात-कर लगाया गया तथा भारतीय वस्तुओ का प्रयोग निषिद्ध कर दिया गया। पराधीनता के कारण भारत को अंग्रेजो की आर्थिक नीतियो का पालन करना पडा। उनका उद्देश्य भारत को कच्चे माल का निर्यातक तथा कृषि प्रधान देश बनाना था, अत भारत का निर्यात व्यापार (निर्मित वस्तुओ का) धीरे धीरे समाप्त होने लगा। इगलैण्ड की औद्योगिक क्रान्ति भारत के औद्योगिक पतन तथा उसकी निर्मित वस्तुओ के विदेशी व्यापार की समाप्ति का सन्देश लेकर आयी। श्रीमती नूल्स के अनुसार, "भारत अब इगलैण्ड मे हुई औद्योगिक क्रान्ति के फलस्वरूप उन्नत कारखानो के लिए कच्चे माल, रुई चमडा तिलहन, रग जूट इत्यादि निर्यात करने लगा और बदले मे अधिकाधिक मात्रा मे इगलैण्ड से लोहा और सूत का तैयार माल खरीदने लगा उस समय भारतीय व्यापार की रूपरेखा बिलकुल बदल चुकी थी। अभी तक वह जिन वस्तुओ का निर्यात करता था, अब वह उन्हीं वस्तुओ का आयात करने वाला देश रह गया।"

(२) सन् १८६९ से १९१४ तक का काल—भारत के विदेशी व्यापार का आधुनिक काल सन् १८६९ से प्रारम्भ होता है। सन् १८६९ म स्वेज नहर के खुल जाने के कारण भारत तथा इगलैण्ड के बीच की दूरी ५,००० मील कम हो गयी। इससे इगलैण्ड के साथ होने वाले व्यापार मे काफी वृद्धि हुई। उस समय इगलैण्ड भी औद्योगिक तथा व्यापारिक दृष्टि से ससार का केन्द्र बन चुका था। प्रथम महायुद्ध के समय तक भारत का विदेशी व्यापार निरन्तर बढता गया। रुपये तथा पौण्ड की विनिमय दर निश्चित हो जाने के कारण भारतीय व्यापार म और भी वृद्धि हुई।

इस काल के व्यापार की प्रमुख विशेषताएँ यह थी—(१) व्यापार सन्तुलन का अनुकूल होना, (२) अन्य पश्चिमी देशो तथा जर्मनी, फ्रास, इटली आदि से व्यापारिक सम्बन्ध स्थापित होना, (३) मुक्त व्यापार नीति का पालन, (४) कच्चे माल का अधिक निर्यात तथा पक्के निर्मित माल का आयात, आदि।

(३) प्रथम विश्वयुद्ध से द्वितीय विश्वयुद्ध के प्रारम्भ तक का काल (१९१४ से १९३९ तक)—प्रथम विश्वयुद्ध का भारतीय व्यापार पर प्रतिकूल प्रभाव पडा। आयात तथा निर्यात दोनों की मात्रा म कमी हुई। इसके प्रमुख कारण यह थे—शत्रु देशो से व्यापारिक सम्बन्धो की समाप्ति, भारतीय माल की माँग का विदेशो मे कम होना, विदेशो मे मुद्रा-स्फीति के कारण भारतीय माल का महँगा होना, भारतीय माल पर ऊँची दर से निर्यात-कर लगाना और जहाजो की कमी। युद्ध के समाप्त होते ही जापान भारत का प्रमुख प्रतिस्पर्द्धी बन गया, अत युद्ध के पश्चात भी भारत के निर्यात व्यापार मे सन्तोषजनक प्रगति नही हो सकी। सन् १९२०-२२ मे भारत का व्यापार सन्तुलन प्रतिकूल रहा परन्तु सन् १९२३ मे व्यापार की अवस्था मे पुन सुधार होने लगा तथा उस वर्ष व्यापार सन्तुलन अनुकूल हो गया। भारत के कुल व्यापार मे वृद्धि हुई परन्तु स्वदेशी आन्दोलन तथा विवेचनात्मक सरक्षण की नीति के कारण भारत के आयात म कमी हुई। १९२८-२९ तक भारत का विदेशी व्यापार पर्याप्त उन्नति कर चुका था।

सन् १९२९ से विश्वव्यापी आर्थिक मन्दी प्रारम्भ हुई। इसका भारत के विदेशी व्यापार पर बहुत बुरा प्रभाव पडा। भारत कृषि-प्रधान देश था, कृषि वस्तुओ के मूल्यो मे बहुत अधिक

गिरावट हुई। भारत कृषि वस्तुओं का ही अधिक निर्यात करता था, अत उसका निर्यात व्यापार बहुत कम हो गया। सन् १९३३-३४ के पश्चात् मन्दी का प्रभाव समाप्त हुआ, अत भारतीय व्यापार मे पुन वृद्धि प्रारम्भ हुई। इसके पूर्व सन् १९३२ मे भारत ने "ओटावा समझौता" किया था जिसका प्रभाव भारत के व्यापार पर अनुकूल पडा। सन् १९३४ म जापान के साथ व्यापारिक समझौता हुआ। सन् १९३६-३७ तक भारत की व्यापारिक स्थिति मे काफी सुधार हो चुका था। सन् १९३७-३८ से अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति मे पुन परिवर्तन हुआ। जबकि सभी प्रमुख राष्ट्र द्वितीय विश्वयुद्ध की तैयारी म लग गये, अत भारत के विदेशी व्यापार मे पुन गिरावट आने लगी। कृषि की अवस्था भी उस समय खराब थी जिसका प्रभाव आयात तथा निर्यात दोनों पर प्रतिकूल पडा।

दोनो विश्वयुद्धों के बीच के काल की यह विशेषता थी कि भारत का व्यापार सन्तुलन अनुकूल था (सन् १९२० २२ के अतिरिक्त)। विदेशी व्यापार मुख्यतया ब्रिटेन क साथ होता था। इसका अनुमान इस तथ्य से होता था कि हमारे कुल आयात का ३२% तथा कुल निर्यात का ४५% भाग ब्रिटेन से सम्बन्धित था। परन्तु अन्य देशो के साथ भी व्यापारिक सम्बन्ध बढ रहे थे। भारतीय व्यापार की एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण विशेषता यह थी कि औद्योगिक प्रगति के कारण कच्चे माल का आयात बढ रहा था तथा निर्मित माल का आयात कम हो रहा था।

(४) द्वितीय विश्वयुद्ध के प्रारम्भ से स्वतन्त्रता प्राप्ति तक का काल (१९३९ से १९४७ तक)—द्वितीय महायुद्ध का भारतीय व्यापार पर अनुकूल प्रभाव पडा। भारतीय माल की माँग विदेशो मे बढने लगी। वस्तुओं का मूल्य-स्तर भी ऊँचा हो गया और व्यापार निरन्तर बढता चला गया। परन्तु यह स्थिति अधिक दिन तक नही चली। इसका कारण यह था कि युद्ध की प्रगति के साथ ही साथ अधिकाधिक देश उसमे सम्मिलित होते गये, अत युद्धरत देशो के साथ व्यापार मे कमी होने लगी। सन् १९४१ मे जापान के युद्ध मे सम्मिलित हो जाने के कारण पूर्वी देशो मे भारत का व्यापार समाप्त हो गया। सन् १९४० से ही आयात तथा निर्यात पर नियन्त्रण लगाया गया। यह नियन्त्रण धीरे धीरे और भी कडा होता गया। युद्धकाल मे जहाजी भाडा तथा बीमा व्यय मे वृद्धि का भी व्यापार पर प्रतिकूल प्रभाव पडा। जहाजो की कमी के कारण भी व्यापार मे रुकावट आयी। इन प्रतिकूल परिस्थितियो के होते हुए भी भारत के विदेशी व्यापार म अधिक गिरावट नहीं आयी क्योकि मित्र-राष्ट्रो मे भारतीय खाद्यान्नो तथा कच्चे माल की माग मे वृद्धि हुई। दूसरे, मध्य-पूर्व के देश निर्मित माल के लिए भारत पर ही निर्भर रहने लगे।

इस प्रकार युद्धकाल मे कुछ प्रतिकूल परिस्थितियो के होने हुए भी भारत के विदेशी व्यापार मे वृद्धि हुई तथा भुगतान सन्तुलन अनुकूल बना रहा। निर्मित वस्तुओ के निर्यात म काफी वृद्धि हुई। जूट का सामान, सूती कपडा तथा कमाये हुए चमडे के निर्यात मे पर्याप्त वृद्धि हुई। सन् १९४३-४४ और १९४४-४५ मे भारत का कुल निर्यात क्रमश २१० करोड रुपय तथा २२७ करोड रुपये का था जिसमे निर्मित वस्तुओ का निर्यात क्रमश १०६ करोड रुपये तथा ११६ करोड रुपये का था। सन् १९४४-४५ मे भारत का व्यापार शेष ४२ करोड रुपये के अनुकूल था।[1]

युद्ध के समाप्त होने ही जहाजो की स्थिति मे सुधार हुआ तथा आयात-निर्यात नियन्त्रण ढील किये गय। अत भारत के विदेशी व्यापार म पुन वृद्धि आरम्भ हुई। परन्तु आयातो म अधिक वृद्धि होने के कारण प्रतिकूल भुगतान की स्थिति उत्पन्न हो गयी। आयात में अचानक वृद्धि

---

[1] युद्धकालीन वर्षों के विश्वसनीय आँकडे उपलब्ध नही हैं। आँकडो मे युद्ध देशो से आयात व युद्ध देशो को निर्यात सम्मिलित नही हैं।

के कई कारण थे—(१) उपभोग की वस्तुओं के आयात में वृद्धि जिन पर युद्धकाल में नियन्त्रण लगाया गया था, (२) खाद्य समस्या के कारण खाद्यान्नो का अधिक मात्रा में आयात, (३) जल विद्युत तथा रेलवे के लिए अधिक मात्रा मे आयात, तथा (४) नये उद्योगो के लिए मशीनो के आयात मे अत्यधिक वृद्धि।

इस काल मे व्यापारिक प्रगति का ज्ञान निम्नलिखित सारणी से होता है

भारतीय विदेशी व्यापार (१९४० से १९४७)

(करोड रुपयो मे)

वर्ष	आयात	निर्यात	व्यापारिक सन्तुलन
१९४०-४१	१५७	१८७	+४२
१९४१-४२	१७३	२३७	+८०
१९४२-४३	११०	१८७	+८४
१९४४-४५	२०४	२३०	+४२
१९४६	३१६	३०६	—१०
१९४७	४४६	४०८	—३८

(५) **स्वतन्त्रता प्राप्ति के समय से प्रथम योजना के प्रारम्भ तक (सन् १९४७ से १९५०-५१ तक)**—स्वतन्त्रता के पश्चात् भारत के विदेशी व्यापार मे महत्वपूर्ण परिवर्तन हुए। मुद्रा-स्फीतिक परिस्थितियाँ अब भी बनी हुई थी तथा खाद्यान्नो का अभाव था। देश विभाजन के कारण खाद्यान्न तथा कच्चे माल की ओर भी कमी हो गयी। खाद्यान्नो के निर्यात पर प्रतिबन्ध लगाया गया तथा आवश्यकतानुसार आयात भी किया गया। इधर देश विभाजन का विदेशी व्यापार पर बहुत बुरा प्रभाव पडा।

(१) **देश-विभाजन का व्यापार पर प्रभाव (Effects of Partition on Trade)**—(क) **कच्चे माल की कमी**—पश्चिमी पजाब तथा पूर्वी बगाल खाद्यान्नो के उत्पादन के लिए प्रसिद्ध थे। इसके अतिरिक्त हमारे दो अत्यन्त महत्वपूर्ण उद्योगो—सूती वस्त्र तथा जूट के लिए कच्चा माल इन्हीं क्षेत्रो से प्राप्त होता था। ये दोनो क्षेत्र पाकिस्तान मे चले गये। जूट तथा सूती वस्त्र के कारखाने भारत मे ही रहे, अत अब उनके लिए कच्चे माल का सकट उपस्थित हो गया। विभाजन के पूर्व भारत कच्चे जूट तथा कपास का निर्यात करता था किन्तु अब इन वस्तुओं का आयात किया जाने लगा। केवल सन् १९४८ मे ही ७१ करोड रुपये के जूट का आयात करना पडा। इसी प्रकार विभाजन के ही कारण सन् १९५१ तथा सन् १९५२ मे क्रमश ११३ करोड रुपये तथा ११५ करोड रुपये के मूल्य का कपास आयात करना पडा।

(ख) **खाद्य सकट**—खाद्यान्नो के भी महत्त्वपूर्ण क्षेत्र पाकिस्तान मे चले गये अत देश के समक्ष गम्भीर खाद्य सकट उपस्थित हो गया। सन् १९४७-४८ तथा १९४८-४९ मे क्रमश २६ ६० लाख टन तथा ३० ५० लाख टन खाद्यान्नों का आयात किया गया। सन् १९४७ से १९५२ तक खाद्यान्नो का औसत आयात ३२ ७० लाख टन वार्षिक रहा। केवल सन् १९४८ मे ही ८७ ३ करोड रुपये के खाद्यान्नो का आयात किया गया। इसके अतिरिक्त खाल तथा चमडे का भी आयात करना आवश्यक हो गया।

(ग) **आन्तरिक व्यापार में परिवर्तन**—विभाजन के पूर्व पाकिस्तान की सीमाओं के अन्दर जो व्यापार होता था वह हमारा आन्तरिक व्यापार था। अब यह आन्तरिक व्यापार विदेशी

व्यापार बन गया। व्यापार मे बडी कठिनाइयाँ आयी तथा कुछ दिनो तक दोनो देशो के बीच व्यापार बन्द रहा। बाद मे द्विपक्षीय समझौते द्वारा व्यापार को किसी प्रकार जारी रखा गया।

(घ) **प्रतिकूल भुगतान शेष**—भारत का व्यापार सन्तुलन प्रतिकूल हो गया। अत इसे ठीक करने के लिए व्यापारिक नीतियो मे परिवर्तन करना आवश्यक हो गया। अगस्त १९४८ मे मुक्त लाइसेंस (Open General Licence) की नीति अपनायी गयी थी जिससे अधिक निर्यात किया जा सके तथा मुद्रा स्फीति के प्रभावो को दूर किया जा सके परन्तु सन् १९४८-४९ मे व्यापार का प्रतिकूल शेष २८३ करोड रुपये हो गया। अत मई १९४९ मे इस नीति का परित्याग करना पडा और आयातो पर कडे प्रतिबन्ध लगाये गये।

(२) **अवमूल्यन तथा उसके प्रभाव** (Effects of Devaluation)—युद्धोत्तर काल मे भारत के आयात बराबर बढते गये जिसमे व्यापार सन्तुलन प्रतिकूल हो गया। इधर ब्रिटेन की भुगतान सन्तुलन की स्थिति बहुत विगड रही थी अत उसने १८ सितम्बर, १९४९ को पौण्ड का अवमूल्यन कर दिया और पौण्ड का मूल्य डालर के अनुपात मे ३० ५% कम कर दिया गया। भारत का व्यापार-शेष प्रतिकूल था। यह प्रतिकूल व्यापार-शेष अमरीका के साथ अधिक था। अमरीका से हमारे आयात बढ रहे थे तथा निर्यात घट रहे थे। उदाहरण के लिए, सन् १९४६ मे डालर मुद्रा की कमी केवल ५ करोड रुपये थी जो सन् १९४७ मे बढकर ८३ करोड रुपये हो गयी। अत ब्रिटेन की भाँति भारत को 'डालर सकट' का सामना करना पडा। डालर सकट को दूर करने के लिए तथा भुगतान-शेष की समस्या को हल करने के लिए भारत द्वारा भी २१ सितम्बर, १९४९ को रुपये का ३० ५% अवमूल्यन कर दिया गया और १ डालर जो पहले ३ रुपये ३० पैसे के बराबर था, अवमूल्यन के पश्चात ४ रुपये ७६ पैसे के बराबर हो गया। पौण्ड के सन्दर्भ मे रुपये का मूल्य वही रहा जो पहले था (१ रु०=१ शि० ६ पें०)। **इस अवमूल्यन के प्रभाव निम्नलिखित थे :**

(क) **निर्यात पर प्रभाव**—अवमूल्यन का निर्यातो पर अनुकूल प्रभाव पडा। दुर्लभ मुद्रा वाले (Hard Currency) क्षेत्रो मे भारतीय निर्यात की वृद्धि हुई। कपडा, चमडा, तिलहन, तम्बाकू, अभ्रक, चाय, कॉफी, मसाला, मैंगनीज आदि के निर्यात मे अच्छी वृद्धि हुई। अवमूल्यन करने के पहले वर्ष मे भारतीय सूती कपडे का निर्यात ३१ करोड रुपये था परन्तु अवमूल्यन के बाद वाले वर्ष मे ८२ करोड रुपये के कपडे का निर्यात किया गया। 'डालर मुद्रा क्षेत्र' मे सन् १९४८-४९ मे हमारा कुल निर्यात ६१ ६३ करोड रुपये का था परन्तु अवमूल्यन के पश्चात् एक वर्ष मे इस क्षेत्र को १२४ ८४ करोड रुपये के माल का निर्यात किया गया। इस सम्बन्ध मे यह उल्लेखनीय है कि निर्यात मे वृद्धि केवल अवमूल्यन के कारण ही नही हुई बल्कि कोरिया के युद्ध तथा निर्यात बढाने के प्रयत्नो का भी सहयोग मिला।

(ख) **आयात पर प्रभाव**—अवमूल्यन के कारण भारत का आयात व्यापार कम हुआ। मुद्रा का अवमूल्यन न करने वाले देशो की वस्तुएँ भारत मे महँगी पडने लगी। इस प्रकार 'डालर क्षेत्र' से आयात मे कमी हुई। सन् १९४८-४९ मे 'डालर मुद्रा क्षेत्र' से भारत का आयात १२४ ५४ करोड रुपये का था परन्तु अवमूल्यन के बाद वाले वर्ष मे यह आयात ११५ ३१ करोड रुपये का हुआ। अवमूल्यन का भारत के आयातो पर एक बुरा प्रभाव पडा। खाद्यान्न, मशीन आदि के लिए भारत अमरीका पर अधिक निर्भर रहने लगा था परन्तु अवमूल्यन के कारण अमरीकी वस्तुएँ भारत को महँगी पडने लगी। इस प्रकार भारत के डालर ऋण मे वृद्धि की गति तीव्र होने लगी।

(ग) **व्यापार सन्तुलन पर प्रभाव**—अवमूल्यन के कारण भारत के आयात मे कमी तथा निर्यात मे वृद्धि हुई। इसका प्रभाव व्यापार सन्तुलन पर पड़ा। सन् १९४८-४९ में हमारा व्यापार

सन्तुलन १२७ करोड रुपये मे विपक्ष मे था परन्तु सन् १६५० मे यह सन्तुलन २५ करोड रुपये मे पक्ष मे हो गया। इससे कुल मिलाकर व्यापार सन्तुलन की स्थिति सन्तोषजनक हो गयी।

(घ) कठिनाइयाँ—इस प्रकार अवमूल्यन का भारतीय व्यापार पर अनुकूल प्रभाव पडा। परन्तु इस अनुकूल प्रभाव के होते हुए भी भारत को अवमूल्यन के कारण कुछ कठिनाइयो का सामना करना पडा। पाकिस्तान ने अपने रुपये का अवमूल्यन नही किया। फलस्वरूप, पाकिस्तान के १०० रुपये भारत के १४४ रुपये के बराबर हो गये। अत दोनो देशो के बीच कुछ समय के लिए व्यापार रुक गया। पाकिस्तान से जूट, कपास आदि का आयात बन्द हो जाने के कारण भारतीय उद्योगो को क्षति उठानी पडी। सन् १६५१ मे दोनो देशो के बीच एक समझौता हुआ परन्तु भारत को केवल जूट तथा कपास के ही लिए २५ करोड रुपये अधिक देने पडे। डालर मुद्रा का मूल्य बढ जाने के कारण अन्तरराष्ट्रीय मुद्रा कोष के भारतीय ऋणो मे भी वृद्धि हो गयी। इसके अतिरिक्त भारत की पौण्ड पावने (Sterling Balances) की उस राशि का भी जो डालर मे परिवर्तित की गयी, मूल्य गिर गया।

इन हानियो को ध्यान मे रखते हुए यह निश्चित रूप से नही कहा जा सकता कि अवमूल्यन का प्रभाव भारत के पक्ष मे रहा या विपक्ष म। सन् १६४६-५० के प्रशुल्क आयोग के अनुसार अवमूल्यन से भारत के व्यापारिक हितो को सरक्षण मिला और एक वर्ष पूर्व ही भयावह रूप म असन्तुलित अर्थ-व्यवस्था सन्तोषजनक स्थिति मे आ गयी।

अवमूल्यन के पश्चात् कोरिया युद्ध के कारण भी भारतीय निर्यातो मे आशातीत वृद्धि हुई। जूट का सामान, चाय, खाल व चमडा, वनस्पति तेल, धातुएँ तथा सूती वस्त्र आदि के निर्यात मे वृद्धि हुई। परन्तु वह अवस्था थोडे ही दिनो तक रही। फरवरी १६५१ म सरकार ने विदेशी व्यापार नीति मे परिवर्तन किया। अब निर्यात के प्रोत्साहन देने के स्थान पर देश की आन्तरिक माँग की पूर्ति के लिए ही वस्तुओ की अधिक आवश्यकता थी। अत जूट की वस्तुओ तथा सूती वस्त्र पर निर्यात-कर म वृद्धि की गयी। कच्ची धातुओ तथा कच्चे चमडे का निर्यात निषिद्ध कर दिया गया। सन् १६४८ से प्रथम योजना के आरम्भ तक भारत के विदेशी व्यापार का अनुमान निम्नलिखित सारणी मे लगाया जा सकता है

योजना काल से पूर्व भारत का व्यापार

(करोड रुपयो म)

वर्ष	आयात	निर्यात	व्यापार सन्तुलन
१६४८	५४२ ६१	४२३ ३८	—'११६ २३
१६४६	५६० ५१	४८५ ८०	—७४ ७१
१६५०-५१	६५० ४३	६०० ६८	—४६ ७५

40 विदेशी व्यापार की आधुनिक प्रवृत्तियाँ

(RECENT TRENDS IN FOREIGN TRADE)

पिछले अध्याय मे भारत के विदेशी व्यापार के विकास पर प्रकाश डाला जा चुका है। हमने देखा कि सन् १९५०-५१ तक भारत के विदेशी व्यापार की प्रगति किस प्रकार हुई। १ अप्रैल, १९५१ से प्रथम पचवर्षीय योजना प्रारम्भ की गयी और देश का योजनाबद्ध आर्थिक विकास प्रारम्भ हुआ। एक अर्द्ध विकसित देश होने के नाते भारत को आर्थिक विकास के लिए बडी मात्रा मे दूसरे देशो से मशीन, उपकरण आदि पूँजीगत वस्तुओ का आयात करना पडा। अत प्रथम पचवर्षीय योजनाकाल से ही भारत के विदेशी व्यापार मे तेजी से वृद्धि प्रारम्भ हुई।

१. व्यापार की मात्रा
(Volume of Trade)

गत वर्षो मे भारत के विदेशी व्यापार (आयात-निर्यात) मे बहुत तेजी से वृद्धि हुई है। पचवर्षीय योजनाओ के कारण विदेशी व्यापार का महत्त्व और भी बढ गया है। आर्थिक विकास की आवश्यकताओ *तथा खाद्य सकट के कारण आयात मे निरन्तर वृद्धि हो रही है। योजनाओ का* उद्देश्य देश का नियोजित ढग मे शीघ्रातिशीघ्र आर्थिक विकास करना है। इसके लिए भारत को अधिक मात्रा मे मशीन आदि पूँजीगत वस्तुओ (Capital goods) का आयात करना पडता है। अत आयात व्यापार बडी तेजी से बढा है, निर्यात सवर्द्धन के लिए भी सभी सम्भव प्रयत्न किये जा रहे हैं। आगे आयात-निर्यात की वृद्धि का अध्ययन किया जा रहा है

(क) आयात—प्रथम तथा द्वितीय पचवर्षीय योजनाओ की अवधि मे आयात मे बडी तेजी से वृद्धि हुई है। औद्योगिक उन्नति तथा आर्थिक विकास के साथ ही साथ आयात मे भी वृद्धि होती गयी।

प्रथम योजनाकाल मे कुल आयात की राशि ३,६३० करोड रुपये के तुल्य थी। द्वितीय योजनाकाल मे कुल आयात लगभग ५,३६० करोड रुपये का हुआ। इस प्रकार वार्षिक औसत आयात १,०७२ करोड रुपये का हुआ जो प्रथम योजना के औसत से ५०% अधिक था। द्वितीय योजनाकाल मे खाद्यान्न, कच्चे माल और मशीनो का आयात अत्यधिक मात्रा मे करना पडा जिससे कुल आयात मे तीव्र गति से वृद्धि हुई।

भारत का विदेशी व्यापार[1]

(वस्तुओं का) (करोड़ रुपये)

वर्ष	आयात (—)	निर्यात (+)	व्यापार शेष
१९५१-५२	९७९.३३	७३२.९५	—२४६.३८
१९५५-५६	७७४.२५	६०८.९०	—१६५.३५
१९६०-६१	१,१२१.६२	६४२.०७	—४७९.५५
१९६५-६६	१,४१०.१३	८०५.६६	—६०४.४७
१९६९-७०	१,५६७.४९	१,४१३.६४	—१५३.८५

तृतीय योजनाकाल में व्यापार शेष की प्रतिकूलता और भी बढ़ गयी और कुल ६,३०५ करोड़ रुपये का माल आयात किया गया। इस प्रकार वास्तविक आयात का वार्षिक औसत १,२६१ करोड़ रुपये रहा। आयात में इस वृद्धि के कारण भुगतान शेष की समस्या और भी जटिल हो गयी। सन् १९६८-६९ में आयात व्यापार में कमी होनी प्रारम्भ हुई है।

(ख) **निर्यात**—प्रथम तथा द्वितीय पंचवर्षीय योजनाकाल में निर्यात सामान्यतया स्थिर रहे। प्रथम योजनाकाल में औसत वार्षिक निर्यात ६०९ करोड़ रुपये का था। द्वितीय योजनाकाल में औसत वार्षिक निर्यात ६१४ करोड़ रुपये रहा। द्वितीय योजनाकाल में निर्यात की गयी वस्तुओं की मात्रा में ९ प्रतिशत की वृद्धि हुई परन्तु मूल्य-स्तर नीचा होने के कारण निर्यात के मूल्यों में वृद्धि लगभग नगण्य हुई। आर्थिक विकास तेजी से होने के कारण इस काल में माल की आन्तरिक माँग में भी वृद्धि हुई। इस प्रकार निर्यात के लिए कम मात्रा में वस्तुएँ प्राप्त हुईं। तृतीय योजनाकाल में निर्यात का वार्षिक औसत ७६२ करोड़ रुपये था। योजना के प्रथम तीन वर्षों में निर्यात में वृद्धि हुई। परन्तु अन्तिम दो वर्ष विशेष अच्छे नहीं थे। सन् १९६५-६६ में वस्तुतः निर्यात सन् १९६४-६५ से भी कम हुए (देखिए सारणी)। जून १९६६ में रुपये के अवमूल्यन के पश्चात् निर्यात व्यापार में कमी हुई। परन्तु सन् १९६८-६९ से निर्यात-व्यापार में वृद्धि हो रही है। सन् १९६८-६९, १९६९-७० तथा १९७०-७१ में निर्यात व्यापार में क्रमशः १३.१%, ४.५% तथा ८.५% वृद्धि हुई। सन् १९७०-७१ में भारत का कुल निर्यात १,५३१ करोड़ रुपये था जबकि इस वर्ष का निर्यात लक्ष्य केवल १५१२ करोड़ रुपये था।

उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट है कि सन् १९५१-५२ व १९७०-७१ की अवधि में भारत के विदेशी व्यापार की कुल मात्रा में अधिक वृद्धि हुई है। व्यापार सन्तुलन का प्रतिकूल होना गत वर्षों में भारतीय व्यापार की विशेषता रही है। प्रथम योजनाकाल में व्यापार सन्तुलन की प्रतिकूलता १०२ करोड़ रुपये वार्षिक थी तथा दूसरी पंचवर्षीय योजनाकाल में वार्षिक प्रतिकूलता ४५१ करोड़ रुपये थी। सन् १९५६-५७ से ही देश विदेशी विनिमय-संकट से गुजर रहा है। सन् १९६८-६९ से स्थिति में उत्तरोत्तर सुधार हो रहा है।

उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट है कि स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् भारत के विदेशी व्यापार में आशातीत वृद्धि हुई है। आर्थिक विकास की आवश्यकताओं तथा खाद्य संकट के कारण आयात में निरन्तर वृद्धि होती रही है। व्यापार सन्तुलन को अनुकूल बनाने के प्रयत्नों के कारण निर्यात व्यापार में भी सामान्य वृद्धि हुई है।

---

[1] *Report of Currency and Finance*, 1969-70 & *Economic Survey* 1970-71 & Economic Times May, 1, 1971.

२. विदेशी व्यापार की रचना
(Composition of Foreign Trade)

किसी देश की 'व्यापार रचना' का अभिप्राय यह है कि वह देश किन-किन वस्तुओं का आयात तथा निर्यात करता है। गत वर्षों मे भारत के विदेशी व्यापार की रचना में महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हुए हैं।

(क) भारत के आयात की रचना (Composition of India's Imports)

भारत विभिन्न प्रकार की वस्तुओं का आयात करता है। मशीन-औजार, उपकरण, लोहा तथा इस्पात, खाद्यान्न कपास, रासायनिक पदार्थ, खनिज तेल, अलौह धातुएँ, परिवहन के उपकरण आदि भारत के प्रमुख आयात हैं। निम्न सारणी द्वारा प्रथम द्वितीय तथा तृतीय योजनाकाल मे भारत के द्वारा आयात की जाने वाली प्रमुख वस्तुओं के वार्षिक औसत पर प्रकाश पड़ता है।

योजनाओं की अवधि में प्रमुख आयातों की वार्षिक औसत

(मूल्य करोड़ रुपयों में)

प्रमुख आयात	प्रथम योजना	द्वितीय योजना	तृतीय योजना
खाद्यान्न	१२०	१६०	२१६
उर्वरक	३	११	१७
कपास	७७	४५	५१
जूट	२५	५	५
खनिज तेल	७३	८०	८६
रासायनिक पदार्थ	३४	५३	५३
अलौह धातुएँ	१०	३५	५४
इस्पात तथा लोहा	३४	६६	७७
विद्युत उपकरण	१६	१९	१९
मशीन तथा इंजिन	११६	२६५	३६५
अन्य वस्तुएँ	२१२	३११	२७३
योग	७३०	१,०८०	१,२१६

इस सारणी से भारत के प्रमुख आयातों पर प्रकाश पड़ता है। अब हम कुछ प्रमुख आयातों पर विचार करेंगे।

(१) खाद्यान्न—कृषि प्रधान देश होते हुए भी भारत को खाद्यान्नों का आयात करना पड़ता है और गत वर्षों म खाद्यान्नों के आयात की मात्रा प्रति वर्ष बढ़ती ही गयी है। खाद्यान्नों म गेहूँ व चावल का अधिक मात्रा मे आयात किया जाता है। गेहूँ का आयात मुख्यत अमरीका से पी० एल० ४८० के अन्तर्गत होता रहा है। इसके अतिरिक्त आस्ट्रेलिया, कनाडा से भी गेहूँ का आयात किया जाता है। सन् १९६०-६१ मे १५३ करोड़ रुपये, सन् १९६५-६६ मे २६५ करोड रुपये तथा १९६८-६९ मे २५९ करोड रुपये मूल्य के गेहूँ का आयात किया गया। चावल का आयात

ब्रह्मा, थाइलैण्ड, अमरीका, संयुक्त अरब गणराज्य आदि देशों से किया जाता है। सन् १९६०-६१ में २२ करोड़ रुपये, सन् १९६६-६७ में ७६ करोड़ रुपये तथा १९६८-६९ में ५७ करोड़ रुपये का चावल आयात किया गया। कुछ मात्रा में मक्का का भी आयात किया जाता है। सन् १९६९-७० में २६१ करोड़ रुपये मूल्य के खाद्यान्नों का आयात किया गया।

(२) मशीनें—योजनाओं के अन्तर्गत बड़े पैमाने पर विकास कार्यों के कारण भारत को मशीनों का आयात बड़ी मात्रा में करना पड़ता है। भारत के आयात में मशीनों का प्रथम स्थान है। विभिन्न प्रकार की औद्योगिक मशीनें, बिजली की मशीनें तथा कुछ परिवहन उपकरणों का आयात किया जाता है। देश के अन्दर भी कुछ मशीनों का निर्माण प्रारम्भ हो गया है, फिर भी भारत में मशीनों का आयात प्रति वर्ष बढ़ता जा रहा है। मशीन तथा परिवहन सम्बन्धी उपकरणों का आयात सन् १९६६-६७ में ४७५ करोड़ रुपये, १९६८-६९ में ५१६ करोड़ रुपये तथा १९६९-७० में ३९२.७ करोड़ रुपये था। मशीनों का आयात मुख्यतः संयुक्त राज्य अमरीका, ब्रिटेन, पश्चिमी जर्मनी, तथा रूस से होता है।

(३) खनिज तेल—भारत में पेट्रोलियम तथा सम्बन्धित वस्तुओं का उत्पादन कम होता है। अतः इनकी कमी आयातों द्वारा पूरी की जाती है। हम बिना साफ किया हुआ तेल अधिक मात्रा में आयात करते हैं तथा इसकी सफाई देश के तेल शोधक कारखानों द्वारा की जाती है। तेल का आयात मुख्यतया ईरान, कुवैत, ब्रह्मा, अमरीका तथा रूस से किया जाता है। सन् १९६६-६७ में ३६ करोड़ रुपये का पेट्रोल, और २६ करोड़ रुपये का मिट्टी का तेल तथा अन्य पेट्रोल पदार्थों का आयात किया गया। सन् १९६९-७० में १३७.६ करोड़ रुपये के पेट्रोल, मिट्टी के तेल व अन्य पदार्थों का आयात किया गया।

(४) लोहा तथा इस्पात—भारत में इस्पात तथा लोहा उद्योग का विकास तेजी से किया जा रहा है फिर भी देश में लोहे की माँग पूर्ति से अधिक है अतः इसका आयात अमरीका, ब्रिटेन तथा पश्चिमी जर्मनी से किया जाता है। सन् १९६०-६१ में १२३ करोड़ रुपये तथा सन् १९६९-७० में ८१.१ करोड़ रुपये के लोहे तथा इस्पात का आयात किया गया।

(५) रासायनिक पदार्थ—उद्योगों के लिए भारत विभिन्न प्रकार के रासायनिक पदार्थों का आयात अमरीका, ब्रिटेन, रूस आदि देशों से करता है। विभिन्न प्रकार के रंगों तथा दवाइयों का भी आयात किया जाता है। सन् १९६०-६१, सन् १९६६-६७ तथा सन् १९६९-७० में क्रमशः ८६ करोड़ रुपये, १८५ करोड़ रुपये तथा २०३.६ करोड़ रुपये के रसायन तथा उर्वरकों का आयात किया गया।

(६) कपास—भारत में लम्बे रेशे की, अच्छी किस्म की कपास पैदा नहीं होती अतः उत्तम किस्म की कपास का भारत को आयात करना पड़ता है। सन् १९६०-६१ में ८२ करोड़ रुपये, सन् १९६५-६६ में ४६ करोड़ रुपये, तथा १९६९-७० में ८२.८ करोड़ रुपये की कपास आयात की गयी। यह ध्यान में रखने योग्य बात है कि भारत मोटे रेशे की कपास का निर्यात भी करता है। अच्छी किस्म की कपास का आयात अमरीका, संयुक्त अरब गणराज्य तथा सूडान आदि देशों से किया जाता है।

उपरोक्त वस्तुओं के अतिरिक्त भारत विभिन्न प्रकार के परिवहन उपकरण, धातु से निर्मित वस्तुएँ, अलौह धातुएँ, विद्युत मशीनें, कागज, स्टेशनरी की वस्तुएँ आदि का भी आयात करता है। अग्र सारणी द्वारा भारत के प्रमुख आयातों पर प्रकाश पड़ता है।

भारत के प्रमुख आयात (करोड रुपयो मे)
(अवमूल्यन के पश्चात के मूल्यो पर)

वस्तु	१९६०-६१	१९६९-७०
१ अनाज व खाद्य पदार्थ	२८६	२६१
२ कपास	१२९	८३
३ ऊन	१६	२३
४ पेट्रोल व मिट्टी का तेल तथा अन्य पेट्रोल पदार्थ	१०९	१३८
५ रासायनिक पदार्थ तथा उर्वरक	१४१	२०४
६ इस्पात तथा लोहा	१९३	१०८
७. अलौह धातुएँ	७५	७५
८ मशीन तथा परिवहन सम्बन्धी उपकरण	५२४	३९३

गत वर्षों मे भारत के आयातो की प्रकृति मे परिवर्तन हुआ है। द्वितीय विश्वयुद्ध के पूर्व भारत निर्मित वस्तुओ का अधिक आयात करता था। स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात खाद्यान्नो तथा कच्चे माल का आयात, निर्मित वस्तुओ की अपेक्षा अधिक किया जाता है। आयात मे अब भी मशीनो का प्रमुख स्थान है जो देश की औद्योगिक प्रगति का सूचक है।

भारत मुख्यतया अमरीका, ब्रिटेन, पश्चिमी जर्मनी तथा रूस से आयात करता है। इन देशो के अतिरिक्त भारत पूर्वी यूरोप के साम्यवादी देशो, कनाडा, जापान, आस्ट्रेलिया, यूरोपीय साझा बाजार के अन्य देशो, बेल्जियम, इटली, सयुक्त अरब गणराज्य, लका, मलाया, ब्रह्मा तथा पूर्वी अफ्रीका आदि देशो मे विभिन्न प्रकार की वस्तुओ का आयात करता है।

गत वर्षो मे भारत के आयात के स्वरूप (Pattern of Imports) मे जो परिवर्तन हुए, निम्न सारणी उन पर प्रकाश डालती है

कुल आयात के प्रतिशत रूप में आयातों का वर्गीकरण

वर्ग	प्रथम योजना	द्वितीय योजना	तृतीय योजना
पूंजीगत वस्तुएँ	२९	४२	३५
कच्चा माल	२४	१०	२१
उपभोक्ता वस्तुएँ	२३	२०	१६
खाद्यान्न	१६	१५	२५
अन्य वस्तुएँ	८	५	३

(ख) भारत के प्रमुख निर्यात (Main Exports of India)

भारत अपना निर्यात व्यापार बढाने का प्रयत्न कर रहा है। भारत मुख्यतया चाय, जूट द्वारा निर्मित वस्तुओ, सूती वस्त्र, लोहा, मैंगनीज, मसाला, चमडा तथा चमडे का सामान, इस्पात तथा लोहा, इजीनियरिंग-वस्तुएँ, तम्बाकू, अभ्रक, काजू, आदि का निर्यात करता है। भारत के प्रमुख निर्यातो का विवरण अग्रलिखित है.

(१) चाय—चाय भारत के तीन प्रमुख निर्यातों म मे एक है। ब्रिटेन भारतीय चाय का सबसे बडा ग्राहक है। इसके अतिरिक्त कनाडा, अमरीका, ईरान, सयुक्त अरब गणराज्य, सूडान रूस, पश्चिमी जमनी, तथा अन्य कुछ देशो को भारत चाय का निर्यात करता है। भारत को वर्तमान समय मे लका, इण्डोनेशिया तथा अफ्रीका से प्रतिस्पर्द्धा का सामना करना पडता है। सन् १९६७-६८ तथा सन् १९६८-६९ मे क्रमश १८० करोड रुपये व १५६ ५ करोड रुपय की चाय का निर्यात किया गया। १९६९-७० मे चाय का निर्यात घटकर १२४ ५ करोड रुपया रह गया।

(२) जूट का सामान—चाय तथा जूट भारत के परम्परागत निर्यात हैं। जूट के कुल विश्व निर्यात मे भारत का प्रतिशत भाग धीरे-धीरे घटता जा रहा है। सन् १९४९-५० म जूट के कुल विश्व निर्यात मे भारत का भाग ९७% था जो सन् १९५९-१९६० म घटकर ७६% मात्र रह गया। पाकिस्तान भारत का प्रमुख प्रतिस्पर्द्धी है। विभिन्न प्रकार की जूट की वस्तुओ—जूट का कपडा, जूट की बोरियाँ जूट द्वारा निर्मित अन्य वस्तुओ का कुल निर्यात सन् १९६७ ६८ म २३४ करोड रुपये तथा सन् १९६८-६९ म २१८ करोड रुपये का किया गया। १९६९-७० मे यह निर्यात २०७ करोड रु० रह गया। अमरीका, सयुक्त अरब गणराज्य, क्यूबा हागकाग, आस्ट्रेलिया, रूस ब्रिटेन, कनाडा अर्जेन्टाइना, आदि भारतीय जूट के प्रमुख ग्राहक हैं।

(३) सूती वस्त्र—सूती वस्त्र तथा सूत भारत के प्रमुख निर्यातो मे से एक है। सन् १९६७-६८, १९६८-६९ तथा १९६९-७० मे क्रमश ६५ करोड तथा ७० ५ करोड रुपये तथा ७० करोड रुपये के सूती वस्त्र का निर्यात किया गया। ब्रिटेन, मलाया आस्ट्रेलिया, लका, अफगानिस्तान, सूडान, ब्रह्मा, अदन आदि देशो को सूती वस्त्र का निर्यात किया जाता है। जनवरी १९७२ म ब्रिटेन द्वारा राष्ट्रमण्डलीय देशो से आयात पर १५% शुल्क लगाये जाने से भारतीय सूती वस्त्र के निर्यात मे गिरावट आने की सम्भावना है।

(४) चमडा तथा चमडे का सामान—देश विभाजन के पश्चात् चमडे का निर्यात कम हो गया है। फिर भी पक्का चमडा तथा चमडे द्वारा निर्मित वस्तुओ का निर्यात सन् १९६७ ६८ म ५३ ५ करोड रुपये सन् १९६८ ६९ मे ७३ करोड रुपये तथा सन् १९६९-७० मे ८१ ५ करोड रुपय का किया गया। पश्चिमी जमनी ब्रिटेन, रूस, अमरीका तथा फ्रास भारतीय चमडे के प्रमुख ग्राहक हैं।

(५) मसाले—मसालो का निर्यात मुख्यतया यूरोपीय देशो तथा अमरीका को किया जाता है। सन् १९६७ ६८, १९६८-६९ तथा १९६९ ७० मे क्रमश २७ करोड रुपये, २५ करोड रुपये तथा ३४ करोड रु० के मसालो का निर्यात किया गया।

(६) तम्बाकू (अनिर्मित)—भारत कच्चे तम्बाकू का प्रमुख निर्यातकर्ता है। रोडेशिया तथा दक्षिणी अफ्रीका हमारे प्रमुख प्रतिस्पर्द्धी हैं। भारत तम्बाकू का निर्यात ब्रिटेन, रूस, यूरोपीय साझा बाजार के देशो, मलाया, अदन, जापान आदि देशो को करता है। सन् १९६७ ६८, सन् १९६८ ६९ तथा सन् १९६९-७० मे भारत ने क्रमश ३६ करोड रुपये, ३४ करोड रुपये व ३३ करोड रुपय के मूल्य के तम्बाकू का निर्यात किया।

(७) काजू—भारत ने गत वर्षों मे काजू के निर्यात को बढाने का प्रयत्न किया है। अमरीका तथा यूरोपीय देशो मे भारतीय काजू की बहुत अधिक माँग है। सन् १९६७ ६८, १९६८-६९ तथा १९६९ ७० मे क्रमश ४३ करोड, ६१ करोड तथा ५७ करोड रुपय मूल्य के काजू का निर्यात किया गया।

(८) 'आयरन ओर'—भारत आयरन ओर का भी निर्यात बढा रहा है। ब्रिटेन तथा

जापान भारतीय लोहे के प्रमुख ग्राहक हैं। सन् १९६७-६८ में ७५ करोड तथा ८८ करोड तथा १९६९-७० में ९५ करोड रुपये का आयरन ओर निर्यात किया

(९) खली (Oil-cakes)—गत वर्षों में निर्यात की दृष्टि से खली का महत्त्व बढ रहा है। सन् १९६७-६८ सन् १९६८-६९ तथा १९६९-७० में क्रमश: ४५ ५ करोड रुपये तथा ४१ ५ करोड रुपये तथा ४२ ५ करोड रुपये की खली का निर्यात किया गया। जापान, जेकोस्लोवाकिया, पूर्वी जर्मनी, पोलैण्ड, रूस, ब्रिटन आदि देशों को भारतीय खली का निर्यात किया जाता है।

(१०) चीनी—भारत ने चीनी के निर्यात में भी उल्लेखनीय प्रगति की है। सन् १९६७-६८ में १६ करोड, सन् १९६८-६९ में १० २ करोड तथा सन् १९६९-७० में ८ ६ करोड रुपये की चीनी का निर्यात किया गया। अमरीका, मलाया, कनाडा, जापान, हांगकांग, नेपाल तथा ब्रिटेन भारतीय चीनी के ग्राहक हैं।

उपरोक्त वस्तुओं के अतिरिक्त भारत वनस्पति तेल, कपास, मैंगनीज, माइका, मशीन तथा उपकरण, काँसी, बिजली के पंखे, सिलाई की मशीनें तथा अन्य इंजीनियरिंग वस्तुओं, मछली, मनुष्य के बाल, नारियल की जटा से बनी वस्तुओं आदि का निर्यात करता है। निम्न सारणी द्वारा भारत के प्रमुख निर्यातों पर प्रकाश पडता है

भारत के प्रमुख निर्यात (करोड रुपयों में)
(अवमूल्यन के पश्चात् के मूल्यों पर)

वस्तु	सन् १९६०-६१	१९६९-७०
चाय	१२४ ७	१२४ ५
काफी	११ ४	१९ ६
काजू	२९ ८	५७ ४
खली	२२ ५	४१ ५
तम्बाकू	२४ ८	३३ ४
इंजीनियरिंग वस्तुएं	१३ ४	८९ ५
चमडा	१४ ९	८ ४
रसायनिक पदार्थ	५ ४	२२ २
अभ्रक	१६ ०	१८ २
खनिज लोहा	२६ ८	९४ ६
मैंगनीज	२२ १	११·१
चमडा तथा चमडे की वस्तुएं	३९ ३	८१ ५
सूती वस्त्र	६० ६	६९ ७
जूट का सामान	१३२ ९	२०६ ७
इस्पात तथा लोहा	८ ७	७७ ९

भारत के निर्यात व्यापार की एक प्रमुख विशेषता यह है कि भारत अब भी अधिकाशतया कृषि-वस्तुओं तथा उनसे निर्मित माल का निर्यात करता है। जूट, चाय, तथा सूती वस्त्र अब भी भारत के परम्परागत निर्यात हैं। यह प्रसन्नता की बात है कि गत वर्षों में औद्योगिक निर्मित वस्तुओं का निर्यात भी बढ रहा है।

३. व्यापार की दिशा
(Direction of Trade)

स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात भारत के व्यापार की दिशा मे भी परिवर्तन हुआ है। १९५१-५२ मे भारत अपनी कुल आवश्यकता का २१ १% ब्रिटेन से आयात करता था परन्तु अब ब्रिटेन पर यह निर्भरता कम हो रही है। सन् १९६५-६६ मे भारत के कुल आयात मे ब्रिटेन का भाग केवल १० ७% था। भारत के निर्यात व्यापार में सन् १९५०-५१ में ब्रिटेन का भाग २३ ५% था जो सन् १९६५-६६ म लगभग १८ प्रतिशत रह गया। इस प्रकार ब्रिटेन का महत्व भारतीय आयात व निर्यात दोनों में घट रहा है।

हमारे आयात मे युद्ध के पूर्व अमरीका का भाग ७ प्रतिशत था, परन्तु यह प्रतिशत भाग बढकर सन् १९५० ५१ व सन् १९६५-६६ म क्रमश १८ ६ व ३७ ७ हो गया। इसी प्रकार हमारे निर्यात व्यापार म भी अमरीका का भाग द्वितीय महायुद्ध के पूर्व ९%, सन् १९५० ५१ मे १९ २% तथा सन् १९६५-६६ म १८ ३ प्रतिशत था। निम्नलिखित सारणी से भारत के निर्यात व आयात की दिशा म हुए परिवर्तनों का पता चलता है

भारत के व्यापार की दिशा (प्रतिशत भाग)

देश/क्षेत्र	निर्यात		आयात	
	१९५२	१९६८-६९	१९५२	१९६८-६९
१	२	३	४	५
क ECAFE क्षेत्र	२६	२५	१४	१५
जिसम जापान का भाग	(४)	(१२)	(२)	(६)
ख अमरीका	४	५	४	८
ग यूरोपीय साझा बाजार के देश	८	९	९	१३
घ यूरोपीय मुक्त व्यापार क्षेत्र के देश	—	१६	—	९
जिसमें से ब्रिटेन	(२४)	(१५)	(२१)	(७)
ड उत्तरी अमरीका	२१	२०	३७	३६
च पूर्वी यूरोप	१	१९	२	१७
छ अन्य	१६	३	१५	२
	१००	१००	१००	१००

नोट—कोष्ठक म दिये गये प्रतिशत मुख्य शीर्षक मे सम्मिलित हैं।

उपर्युक्त विवरण म निम्नलिखित तथ्य स्पष्ट होते हैं

(१) भारत का व्यापार पूर्वी यूरोप के देशो मे (जिनमे सोवियत रूस मुख्य है) तीव्र गति से बढ रहा है। यह इस तथ्य से स्पष्ट है कि १९५२ मे भारत से पूर्वी यूरोप के देशो को कुल माल का केवल १ प्रतिशत निर्यात हुआ जबकि १९६८ ६९ मे यह प्रतिशत १९ तक बढ गया। इसी प्रकार आयातो का प्रतिशत जो १९५२ म केवल २ था १९६८-६९ मे १७ हो गया।

(२) भारत के आयात तथा निर्यात अमरीका से भी बढ रहे हैं। आयातो मे अन्न का प्रमुख स्थान है।

(३) भारत के व्यापार म ब्रिटेन का एकाधिकार प्राय समाप्त हो गया है।

(४) भारत का विदेशी व्यापार ससार के सभी प्रमुख देशो से होने लगा है, जिसका अनुमान निम्न तालिका से होता है.

सन् १६६६-७० में भारत के विदेशी व्यापार मे प्रमुख देशों का भाग (प्रतिशत)

देश	आयात करोड रुपये	आयात में भाग	निर्यात करोड रुपये	निर्यात मे भाग
१ सयुक्त राज्य अमरीका	४६०	२६ ३	२३८	१६ ६
२ ब्रिटेन	१००	६ ४	१६४	११ ७
३ पश्चिमी जर्मनी	८४	५ ३	३०	२ १
४ सोवियत सघ	१७०	१० ६	१७६	१२ ५
५ जापान	६७	४ ३	१७६	१२ ७
६ कनाडा	७४	४ ७	२६	१ ६
७ सयुक्त अरब गणराज्य	२४	१ ५	३५	२ ५
८ आस्ट्रेलिया	३१	२ ०	२४	१ ७
६ चैकोस्लोवाकिया	२३	१ ५	३०	२ १
१० बर्मा	२०	१ ३	२१	१ ५

Soure Commerce, May 22, 1971

अब तक हमने भारत के विदेशी व्यापार की मात्रा मूल्य, व्यापार का स्वरूप तथा व्यापार की दिशा का अध्ययन किया। इस अध्ययन से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि भारत के विदेशी व्यापार मे गत वर्षों मे महत्वपूर्ण परिवर्तन हुए है। आयात तथा निर्यात की मात्रा मे आशातीत वृद्धि हुई है। आयात तथा निर्यात की रचना मे भी परिवर्तन हुआ है। अब भारत मे निर्मित माल का आयात घट रहा है तथा कच्चे माल व पूँजीगत वस्तुओ का आयात बढ रहा है। यह हमारी आर्थिक उन्नति का प्रतीक है। इसी प्रकार निर्यात के स्वरूप मे भी परिवर्तन हुआ है। चाय, जूट जैसे महत्वपूर्ण परम्परागत निर्यात सम्बन्धी वस्तुओ के निर्यात का मूल्य बढा है परन्तु निर्यात मे इनका प्रतिशत भाग धीरे धीरे घट रहा है। कुछ नयी वस्तुओ का निर्यात बढ रहा है। इस प्रकार भारत के विदेशी व्यापार मे विविधता आ रही है। जहाँ तक व्यापार की दिशा का सम्बन्ध है, भारत के व्यापारिक सम्बन्ध अमरीका, जर्मनी, रूस तथा पूर्वी यूरोप के देशो के साथ बढ रहे हैं। ब्रिटेन का हमारे व्यापार मे कुल प्रतिशत भाग धीरे-धीरे कम होता जा रहा है।

४. भारत के विदेशी व्यापार की विशेषताएँ
(Characteristics of India's Foreign Trade)

व्यापार की मात्रा, आयात तथा निर्यात का स्वरूप, व्यापार की दिशा, व्यापारिक सन्तुलन, विदेशी व्यापार के सम्बन्ध मे सरकार की नीति तथा अन्य देशो के व्यापारिक सम्बन्धो का अध्ययन किसी भी देश मे विदेशी व्यापार की विशेषताओ के अन्तर्गत किया जाता है। इनमे से व्यापार की मात्रा, आयात तथा निर्यात का स्वरूप तथा व्यापार की दिशा का विस्तृत वर्णन हम गत पृष्ठो मे कर चुके हैं, अत यहाँ इनका विवरण सक्षिप्त रूप मे तथा अन्य विशेषताओ का विवरण सविस्तार प्रस्तुत किया जा रहा है।

(१) व्यापार की मात्रा—स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् भारत के आयात तथा निर्यात की मात्रा तथा मूल्य मे बडी तेजी से वृद्धि हुई है। सन् १९४८ मे भारत मे आयात तथा नियम ५३३

करोड रुपये तथा ४२३ करोड रुपये के थे जो १९६९-७० मे बढकर क्रमश १५६७ तथा १४१४ करोड रुपयो के तुल्य हो गये है अत सन् १९४८ की तुलना मे भारत के कुल विदेशी व्यापार में लगभग २४० प्रतिशत की वृद्धि हुई है।

(२) **आयात तथा निर्यात का स्वरूप**—गत वर्षों मे आयात तथा निर्यात के स्वरूप मे महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हुआ है। पहले निर्मित वस्तुओ का अधिक आयात होता था परन्तु अब कच्चे माल तथा पूँजीगत वस्तुओ के आयात मे वृद्धि हुई है।

(३) **व्यापार की दिशा**—भारत के व्यापार की दिशा मे भी महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हुए है। वर्तमान समय मे भी भारत के आयात तथा निर्यात व्यापार मे ब्रिटेन का महत्त्वपूर्ण स्थान है परन्तु सयुक्त राज्य अमरीका ब्रिटन स बाजी मार चुका है। भारत का व्यापार रूस, जापान, इटली, कनाडा, तथा मिश्र आदि देशो के साथ बढ रहा है। डर्लफ क्षेत्र के देशो के साथ भी हमारा व्यापारिक भविष्य उज्ज्वल है। द्वितीय महायुद्ध से पहले डालर मुद्रा क्षेत्र के देशो के साथ भारत का विदेशी व्यापार उसके कुल व्यापार का केवल १०% था तथा व्यापारिक सन्तुलन पक्ष में था परन्तु युद्ध के पश्चात् इस देश के क्षेत्रो के साथ हमारा व्यापार बढकर ३०% हो गया है तथा व्यापारिक सन्तुलन प्रतिकूल हो गया है।

(४) **व्यापार सन्तुलन**—द्वितीय विश्वयुद्ध काल तथा उसके पूर्व सामान्यतया भारत का व्यापार सन्तुलन अनुकूल था। परन्तु देश विभाजन के पश्चात् इस स्थिति मे परिवर्तन हो गया। भारत को कपास तथा जूट का आयात करना पडा जिसम स्वतन्त्रता प्राप्ति के पूर्व भारत आत्म-निर्भर था। गत वर्षों मे खाद्य समस्या के कारण खाद्यान्नो का अधिक मात्रा मे आयात करना पड रहा है। योजनाओ के अन्तर्गत आर्थिक विकास की आवश्यकताओ के लिए अधिक मात्रा म पूँजीगत वस्तुओ का आयात करना पड रहा है। निर्यात प्रयत्नो के होते हुए भी व्यापार सन्तुलन की अवस्था का अनुमान निम्नलिखित सारणी से लगाया जा सकता है

भारत का व्यापार-शेष

(करोड रुपयों में)

वर्ष	आयात	निर्यात	व्यापार-शेष (प्रतिकूल)
१९५०-५१	६५०	६०१	४९
१९५५-५६	७७४	६०९	१६५
१९६०-६१	१,१२२	६४२	४८०
१९६५-६६	१,४१०	८०६	६०४
१९६७-६८	१,९५०	१,१९७	७५३
१९६८-६९	१८५९	१,३६०	४९९
१९६९-७०	१५६७	१४१४	१५४

द्वितीय महायुद्ध के पश्चात् विशेषत देश विभाजन के पश्चात भारत के समक्ष प्रतिकूल व्यापार-शेष की समस्या रही है। आयात नियन्त्रण तथा निर्यात सवर्द्धन के प्रयत्नो के होते हुए भी व्यापार सन्तुलन की समस्या गम्भीर रूप धारण करती जा रही है।

प्रतिकूल व्यापार सन्तुलन के कारण

(१) **देश विभाजन**—देश-विभाजन के कारण जूट तथा कपास उत्पादन के क्षेत्र पाकिस्तान म चले गये। जूट पैदा करने का ७२% क्षेत्र तथा अच्छी कपास पैदा करने वाला अधिकाश क्षेत्र

पाकिस्तान में चले जाने के कारण इन वस्तुओं का अधिक मात्रा में आयात करना पड़ा। सन् १९५१ तथा १९५२ में क्रमशः ११३ करोड़ रुपये व ११५ करोड़ रुपये की कपास का आयात करना पड़ा। इसी प्रकार विभाजन के पश्चात् सन् १९४८ में ७१ करोड़ रुपये के जूट का आयात करना पड़ा। कपास का आयात अब भी अधिक मात्रा में करना पड़ता है।

(ii) खाद्यान्नों का आयात—भारत को बड़ी मात्रा में खाद्यान्नों का आयात करना पड़ा है। प्रथम पंचवर्षीय योजना के दो वर्षों के अतिरिक्त, प्रति वर्ष खाद्यान्नों का अधिक मात्रा में आयात किया जा रहा है। इसकी गम्भीरता का अनुमान इस बात से लगाया जा सकता है कि सन् १९५१ से १९६८ तक भारत ने लगभग ३,३०० करोड़ रुपये का अन्न आयात किया।

अन्न आयात के योजनावार आँकड़े निम्नलिखित हैं :

(करोड़ रुपये)

प्रथम योजना	द्वितीय योजना	तृतीय योजना	१९६६-६७ से ६८-६९
५६१	६९३	१,२०१	१,३००

इतनी अधिक मात्रा में खाद्यान्नों के आयात का प्रभाव व्यापार-शेष पर बहुत ही प्रतिकूल पड़ा है।

(iii) मशीनों तथा यन्त्रों का आयात—द्वितीय महायुद्ध के पश्चात् से ही मशीनों के आयात में निरन्तर वृद्धि होती रही है। युद्धकाल में मशीनों का आयात बन्द हो गया था, इसलिए युद्ध के पश्चात् सभी उद्योगों में मशीनें जीर्ण-शीर्ण अवस्था में थीं। अतः युद्ध के पश्चात् मशीनों के आयात में वृद्धि हुई। पंचवर्षीय योजनाओं में औद्योगीकरण के कार्यक्रम को महत्त्व दिया गया है और बड़ी मात्रा में मशीनों का आयात किया जा रहा है। सन् १९५१-१९५६ की अवधि में औसत रूप से लगभग १२५ करोड़ रुपये वार्षिक मशीनों तथा यन्त्रों के आयात पर व्यय किया गया। इसी प्रकार सन् १९५६-१९६१ की अवधि में औसत रूप से ३२३ करोड़ रुपये वार्षिक मशीनों पर व्यय किया गया। तृतीय योजनाकाल में कुल २,१५८ करोड़ रुपये की मशीनें आयात की गयीं अर्थात् मशीनों का औसत वार्षिक आयात ४३१ करोड़ रुपये हो गया। सन् १९६८-६९ में ५१६ करोड़ रुपये की मशीनों तथा परिवहन उपकरणों का आयात किया गया।

व्यापारिक असन्तुलन को दूर करने की दिशा में प्रयत्न

व्यापारिक असन्तुलन की समस्या के समाधान के लिए सरकार ने जो प्रयत्न किये हैं वे निम्नलिखित हैं :

(१) रुपये का अवमूल्यन—सितम्बर १९४९ व जून १९६६ में भारतीय रुपये का अवमूल्यन किया गया। इसका प्रभाव विदेशी व्यापार पर अनुकूल पड़ा। सन् १९४८-४९ में व्यापारिक सन्तुलन १३० करोड़ रुपये से प्रतिकूल था, परन्तु १९४९-५० में यह प्रतिकूलता घटकर ७५ करोड़ रुपये हो गयी। परन्तु अवमूल्यन का प्रभाव अल्पकालीन रहा। पाकिस्तान ने अपने रुपये का अवमूल्यन नहीं किया, अतः भारत को कठिनाइयों का सामना करना पड़ा जिसका ब्यौरा इससे पूर्व दिया जा चुका है।

योजनाकाल में भारतीय व्यापार को जिन परिस्थितियों का सामना करना पड़ा है उनके कारण व्यापार सन्तुलन की स्थिति निरन्तर बिगड़ती गयी है। इस स्थिति पर नियन्त्रण करने के लिए ६ जून, १९६६ में रुपये का पुनः ३६.५ प्रतिशत से अवमूल्यन किया गया। इस अवमूल्यन से निम्नलिखित आशाएँ की गयी थीं :

(१) देश के निर्यातों में वृद्धि होगी।
(२) आयात निरन्तर कम होते जायेंगे।
(३) रुपये की विनिमय दर में स्थायित्व आ जायेगा।

सन् १६६६ के अवमूल्यन के प्रभाव

उपर्युक्त आशाओं की पूर्ति के लिए यह आवश्यक था कि सरकार मूल्यों की वृद्धि पर नियन्त्रण रखती तथा निर्यात किये जाने वाले माल का उत्पादन बढ़ाने के लिए विशेष प्रयत्न करती। दुर्भाग्य से इन दोनों दिशाओं में ही सरकार असफल रही है। जून १६६६ के पश्चात् प्राय सभी वस्तुओं के मूल्यों में निरन्तर वृद्धि होती रही है और श्रमिक निरन्तर अधिकाधिक महँगाई भत्ते की माग कर रहे हैं। इसके परिणामस्वरूप देश में निर्मित जूट का माल, वस्त्र, मशीनें तथा चाय आदि जिनके निर्यात से भारत को प्रति वर्ष करोडो रुपये की विनिमय प्राप्त होती है, महँगे होते जा रहे हैं तथा उनके निर्यात घट रहे हैं।

यह आशा व्यक्त की गयी थी कि रुपये के अवमूल्यन द्वारा भुगतान शेष की समस्या का स्थायी रूप में समाधान हो जायेगा, भारत के निर्यात व्यापार में अत्यधिक वृद्धि होगी जिससे देश का आर्थिक विकास तेजी से होगा तथा देश आत्मनिर्भर हो सकेगा। निम्नलिखित विवरण द्वारा अवमूल्यन के प्रभावों पर प्रकाश पडता है

(i) जून सन् १६६६ से मई सन् १६६७ (१२ महीने में) भारत के निर्यात व्यापार में २०६ मिलियन डालर की कमी हुई है। इस अवधि में भारत को कुल निर्यात का मूल्य १,५०५ मिलियन डालर रहा जबकि इसके ठीक एक वर्ष पूर्व की अवधि में (जून १६६५ से मई १६६६) भारत के कुल निर्यात का मूल्य १७११ मिलियन डालर था। सन् १६६७-६८ में भारत का व्यापार शेष ७५३ करोड रुपये में और १६६८-६६ में ४६६ करोड रुपये से प्रतिकूल रहा। परन्तु सन् १६६८ से व्यापार की स्थिति में सुधार आरम्भ हुआ। निर्यात में वृद्धि तथा आयात में कमी होती जा रही है। निम्नलिखित सारणी द्वारा अवमूल्यन के पश्चात् भारत के विदेशी व्यापार पर प्रकाश पडता है

अवमूल्यन के पश्चात् भारत का विदेशी व्यापार

(करोड रुपयों में)

वर्ष	आयात	निर्यात	व्यापार शेष
१६६७ ६८	१,६५० २७	१,१६७ ०४	—७५३ ४३
१६६८ ६६	१,८५८ ८७	१ ३६० ०२	—४६८ ८५
१६६६-७०	१,५६७ ४६	१,४१३ ६४	—१५३ ८५

अवमूल्यन के पश्चात् प्रथम वर्ष में स्थिति खराब रही। सन् १६६७-६८ में भारत का व्यापार शेष ७५३ ४३ करोड रुपये से प्रतिकूल रहा जो पूर्व के वर्षों से अधिक था। परन्तु सन् १६६८ से अवमूल्यन के अनुकूल प्रभाव परिलक्षित होने लगे। सन् १६६६-७० में व्यापार शेष केवल १५४ करोड रुपये से प्रतिकूल रहा। सन् १६६६ ७० वर्ष से आयात में तेजी से कमी तथा निर्यात में आशातीत वृद्धि हो रही है। इससे यह मालूम होता है कि अब अवमूल्यन के अनुकूल प्रभाव पडने प्रारम्भ हो गये हैं।

(ii) अवमूल्यन के कारण अब हमें अवमूल्यन के पूर्व जितनी विदेशी मुद्रा प्राप्त करने के लिए निर्यात की जाने वाली वस्तुओं की मात्रा में ५७ ५% वृद्धि करनी पडेगी। वस्तुत भारत

निर्यात की मात्रा मे इस सीमा तक वृद्धि करने मे असमर्थ है अत निर्यात के कुल मूल्य का कम होना स्वाभाविक है।

(iii) अवमूल्यन से निर्यात मे कमी हुई, दूसरी ओर आयातो का मूल्य रुपयो मे ५७ ५% बढ गया, इस प्रकार आयात के मूल्यो म वृद्धि के कारण भारत का व्यापार-शेष और अधिक प्रतिकूल हो गया।

(iv) आयात के मूल्यो मे वृद्धि होने से मूल्य-स्तर भी ऊँचा उठा है।

(v) अवमूल्यन के कारण विदेशी ऋणो का भार और बढ गया है, इस प्रकार प्रतिकूल भुगतान शेष की समस्या देश के समक्ष काफी समय तक बनी रहेगी।

वास्तव म मुद्रा का अवमूल्यन निर्यात वृद्धि मे तभी सहायक हो सकता है जबकि सरकार मूल्य-स्तर को नियन्त्रण मे रखे तथा निर्यात सवर्द्धन के लिए व्यापारियो को यथोचित प्रोत्साहन दे। अत सरकार को उन दिशाओ मे शक्तिशाली कदम उठाने चाहिए, अन्यथा अवमूल्यन का शस्त्र व्यर्थ हो जायेगा।

(२) कड़ी आयात नीति का पालन—सरकार आयात पर कठोर नियन्त्रण की नीति का पालन कर रही है। पूरी जाँच के पश्चात् केवल आवश्यक वस्तुओ के आयात के ही लिए लाइसेंस दिये जाते हैं। सन् १९५८ से आयात नियन्त्रण को और भी कडा कर दिया गया है।

(३) निर्यात सवर्द्धन—निर्यात सवर्द्धन की दिशा मे सरकार पूर्णरूप स प्रयत्नशील है। है। निर्यात वृद्धि के लिए कई प्रकार की प्रोत्साहन योजनाएँ कार्यान्वित की जा रही हैं। इसके लिए कुछ विशेष सस्थाओ की भी स्थापना की गयी है।

(४) कच्चे माल—जूट तथा कपास के उत्पादन में वृद्धि—स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् कपास तथा जूट का अधिक मात्रा मे आयात करना पडा। इन दोनो वस्तुओ के उत्पादन म वृद्धि करने के लिए प्रयत्न किये गये। फलस्वरूप इनके उत्पादन म वृद्धि हुई है। सन् १९४८ म ७१ करोड रुपये की जूट तथा सन् १९५१ म ११३ करोड रुपये की रुई का आयात करना पडा था। परन्तु उत्पादन वृद्धि के प्रयत्नो के कारण सन् १९६८-६९ मे केवल ९ करोड रुपये की जूट तथा ६० करोड रुपये की रुई आयात की गयी।

(५) विदेशी व्यापार पर सरकार का नियन्त्रण—युद्धोत्तरकाल मे विदेशी व्यापार पर सरकार द्वारा पूर्ण नियन्त्रण रहना भी भारतीय विदेशी व्यापार की एक प्रमुख विशेषता है। वस्तुत विदेशी व्यापार पर नियन्त्रण युद्धकाल मे लागू कर दिया गया था। उस समय व्यापार नियन्त्रण का उद्देश्य विदेशी मुद्रा तथा जहाजो की पूर्ति (Shipping space) को नियन्त्रित करना था। उसके पश्चात् योजनाबद्ध विकास के साथ ही साथ आयात नियन्त्रण बढता गया तथा वर्तमान समय मे वस्तुत सभी वस्तुओ पर आयात नियन्त्रण लागू है। सन् १९७१ से आयात व्यापार का राष्ट्रीयकरण कर लिया गया है।

वर्तमान युग मे आयात नियन्त्रण के उद्देश्यों मे भी परिवर्तन हुआ है। अब इसका उद्देश्य विदेशी विनिमय की बचत ही नही, अपितु औद्योगिक विकास तथा मूल्य स्तर को अनुशासित रखना भी है। देश को विदेशी मुद्रा के भयकर सकट का सामान करना पड रहा है, अत आयात पर और भी कडा नियन्त्रण रखना आवश्यक हो गया है।

(६) विश्व व्यापार में भारत का क्रमश घटता हुआ भाग—गत वर्षों मे भारत के कुल व्यापार मे वृद्धि हुई है परन्तु भारत के निर्यात व्यापार का प्रतिशत भाग विश्व व्यापार मे क्रमश घटता जा रहा है। १९५१-१९६८ की अवधि मे ससार का निर्यात ७४ ८ अरब डालर से बढकर

२१० अरब डालर हो गया अर्थात् विश्व निर्यात व्यापार में लगभग १५५ प्रतिशत की वृद्धि हुई। विश्व निर्यात व्यापार में भारत के घटते हुए भाग का अनुमान निम्नलिखित सारणी में लगाया जा सकता है

विश्व निर्यात में भारत का भाग

(दस लाख अमरीकी डालर में)

वर्ष	विश्व निर्यात	भारत का निर्यात	भारत का प्रतिशत भाग
१९५१	७,८००	१,६११	२१
१९५६	९२ ३००	१,३००	१ ३
१९६१	११७,४००	१,३८७	१ २
१९६३	१ ३६,१००		१ २
१९६७	१,९०,०००	१,६१४	० ८
१९६८	२,१२ ६००	१,७५३	० ८
१९७०	२,७८ ०००	१,९००	० ७

विश्व निर्यात में भारत के घटते हुए भाग का प्रमुख कारण निर्यात मूल्य के घटने की प्रवृत्ति तथा अन्य देशों के निर्यात में अधिक गति से वृद्धि है।

विशेषताओं का सारांश—भारतीय व्यापार के उपर्युक्त विश्लेषण के पश्चात उसकी विशेषताएँ इस प्रकार प्रकट की जा सकती हैं

(१) भारत के आयात तथा निर्यात में क्रमश वृद्धि होती गयी है।

(२) आयात में निर्यात की अपेक्षा अधिक वृद्धि हुई है।

(३) भारत के समक्ष भुगतान सन्तुलन की गम्भीर समस्या उत्पन्न हो गयी है।

(४) गत वर्षों में पूँजीगत वस्तुओं तथा कच्चे माल के आयात में वृद्धि हुई है।

(५) निर्यात संवर्द्धन के प्रयत्नों को कुछ सफलता मिली है। कुछ नयी वस्तुओं का भी निर्यात किया जा रहा है।

(६) भारत के व्यापार की दिशा में महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हुए हैं।

(७) व्यापार पर कठोर नियन्त्रण नीति का पालन किया गया है।

(८) व्यापार में वृद्धि होते हुए भी विश्व निर्यात व्यापार में भारत का प्रतिशत भाग क्रमश कम होता जा रहा है।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि गत वर्षों में भारत के विदेशी व्यापार में सन्तोषजनक वृद्धि हुई है परन्तु भारत के निर्यात व्यापार में अपेक्षित वृद्धि नहीं हुई है। सन् १९६३-७० की अवधि में विश्व निर्यात बढ़कर दुगुने से भी अधिक हो गया, परन्तु इसी अवधि में भारत के निर्यात-व्यापार में केवल २० प्रतिशत वृद्धि हुई। सन् १९५१ में विश्व-निर्यात में भारत का प्रतिशत भाग २ १ प्रतिशत था, जो घटकर सन् १९६३ में १ २ प्रतिशत तथा सन् १९७० में ० ७ प्रतिशत मात्र रह गया। विश्व के निर्यात कर्ता देशों में सन् १९६६ में भारत का २५ वाँ स्थान था परन्तु सन् १९७० में भारत का स्थान घटकर २६ वाँ हो गया। सन् १९६३ में एशिया महाद्वीप म निर्यात की दृष्टि से भारत का दूसरा स्थान था (प्रथम स्थान जापान का था, परन्तु सन् १९७० मे एशिया म निर्यात की दृष्टि से भारत का पाँचवा स्थान हो गया (जापान, ईरान, सऊदी अरब तथा हांगकांग के पश्चात)। यह स्मरणीय है कि हांगकांग का निर्यात

व्यापार सन् १९६३ मे भारत के कुल निर्यात-व्यापार का केवल पचास प्रतिशत था। भारत के निर्यात व्यापार मे सन् १९६८-६९ मे १३ ५ प्रतिशत वृद्धि हुई (सन् १९६७-६८ की तुलना मे) परन्तु सन् १९६९ ७० व सन् १९७०-७१ से यह वृद्धि क्रमश ४ ५ प्रतिशत तथा ८ ५ प्रतिशत आय हुई।

अभ्यास-प्रश्न

१ भारत के विदेशी व्यापार की प्रकृति, मात्रा तथा दिशा मे सन् १९४० से क्या परिवर्तन हुए हैं ? (राजस्थान, बी० ए०, १९६०)

२ भारत के विदेशी व्यापार मे गत वर्षों मे हुए परिवर्तनों का वर्णन कीजिए तथा उनके मौलिक प्रभावों को बतलाइए। (राजस्थान, बी० ए०, १९५९)

३ युद्धोत्तरकाल म भारत के प्रतिकूल भुगतान सन्तुलन के कारणो का उल्लेख कीजिए। इस ठीक करने के लिए क्या प्रयत्न किय गये हैं। (राजस्थान, बी० ए०, १९६१)

४ सन् १९३९ से भारत के आयात तथा निर्यात की क्या स्थिति रही ? इसका भारतीय अर्थ-व्यवस्था के परिवर्तनों पर क्या प्रभाव पडा है ? (राजस्थान, बी० ए०, १९६१)

41 निर्यात सवर्द्धन व व्यापारिक समझौते

(EXPORT PROMOTION AND TRADE AGREEMENTS)

It has been evident for sometime past that a greatly intensified export effort is essential if the country is to be in a position to meet its growing import requirement and to move forward progressively towards a balance in external accounts

—THIRD FIVE YEAR PLAN

निर्यात सवर्द्धन
(Export Promotion)

आवश्यकता

(१) **व्यापार सन्तुलन के लिए**—भारत में पंचवर्षीय योजनाओं के साथ-साथ निर्यात का महत्त्व बढ़ता जा रहा है। भारत के समक्ष विदेशी मुद्रा की कठिनाई अनवरत रूप से चल रही है। आयात को हर प्रकार से सीमित करने के प्रयत्नों के होते हुए भी विदेशी मुद्रा की कठिनाई बनी हुई है। यह कठिनाई तभी समय दूर हो सकती है जबकि निर्यात की मात्रा में अधिक से अधिक वृद्धि की जाय। प्रथम तथा द्वितीय पंचवर्षीय योजनाकाल में निर्यात की वार्षिक औसत क्रमशः ६०६ करोड़ रुपये तथा ६०६ करोड़ रुपये थी। अर्थात् औसत निर्यात की राशि लगभग स्थिर थी। इन दोनों योजनाओं की अवधि में आयात की वार्षिक औसत क्रमशः ७२३ करोड़ रुपये तथा ९७६ करोड़ रुपये थी। तृतीय योजना के प्रथम तीन वर्षों में निर्यात की स्थिति में कुछ सुधार हुआ परन्तु अन्तिम दो वर्षों में स्थिति सन्तोषजनक नहीं रही। तृतीय योजनाकाल में निर्यात की वार्षिक औसत ७६२ करोड़ रुपये थी। विश्व निर्यात व्यापार में सन् १९६० में भारत का भाग १.२% था जो सन् १९६८ में घटकर ०.८ प्रतिशत मात्र रह गया। निर्यात की इस असन्तोषजनक स्थिति के कारण भारत का विदेशी विनिमय संकट बढ़ता जा रहा है।

तृतीय योजनाकाल में कुल निर्यात का लक्ष्य ३,८०० करोड़ रुपये निश्चित किया गया था। तृतीय योजनाकाल में वास्तविक निर्यात ३,८१२.३६ करोड़ रुपये हुआ। इस प्रकार योजना लक्ष्य की पूर्ति हो गयी। भारत के समक्ष प्रतिकूल व्यापार शेष की समस्या कई वर्षों से बनी हुई है।

विभिन्न प्रयत्नों के होते हुए भी सन् १९६८-६९ में भारत का व्यापार ५५२ करोड़ रुपये से प्रतिकूल रहा। अतः विदेशी विनिमय संकट पूर्ववत बना रहा। इस कारण यह आवश्यक है कि निर्यात में वृद्धि कर व्यापार असन्तुलन को दूर किया जाय।

(७) **विदेशी ऋण के भार को कम करने के लिए**—व्यापार असन्तुलन तथा विकास योजनाओं के कारण भारत विदेशी ऋणों से दबता जा रहा है, और अब स्थिति इतनी गम्भीर हो गयी है कि पुराने ऋणों तथा उनके ब्याज के भुगतान के लिए भी भारत को नये ऋण लेने पड़ रहे हैं। कोई भी अर्थ व्यवस्था ऐसी स्थिति में बहुत दिनों तक नहीं चल सकती है। प्रथम, द्वितीय तथा तृतीय योजनाकाल में भारत द्वारा ली गयी विदेशी सहायता की मात्रा क्रमशः २०३ करोड़, १,०९० करोड़ तथा २,४१५ करोड़ रुपये थी जो इन योजनाओं के कुल व्यय (Plan Outlay) का क्रमशः १०.३%, २३.७% तथा २८.५% था। अप्रैल सन् १९७१ में भारत पर लगभग ८६०० करोड़ रुपये का विदेशी ऋण था। भारतीय अर्थ-व्यवस्था को विदेशी ऋण से मुक्त कराना आवश्यक है और इस लक्ष्य की पूर्ति निर्यात-संवर्द्धन द्वारा ही सम्भव है।

भारत में निर्यात-संवर्द्धन सम्बन्धी प्रयत्न

स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात से ही सरकार निर्यात वृद्धि के लिए प्रयत्नशील है। विभिन्न समयों में विभिन्न प्रकार के प्रयत्न किये गये। नीचे हम इन प्रयत्नों का संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत कर रहे हैं

१ जाँच समितियों की नियुक्ति

निर्यात सम्बन्धी समस्याओं का अध्ययन करने के लिए ए० डी० गोरवाला की अध्यक्षता में एक निर्यात समिति की नियुक्ति की गयी। इसके अतिरिक्त भी विभिन्न समयों में निर्यात वृद्धि के लिए प्रयत्न किये गये जिनका संक्षिप्त विवरण निम्नलिखित है :

(क) **गोरवाला समिति, १९४९**—इस निर्यात संवर्द्धन समिति की नियुक्ति देश-विभाजन तथा द्वितीय विश्वयुद्ध से उत्पन्न भुगतान सन्तुलन की कठिनाइयों का अध्ययन करने तथा उन्हें दूर करने के उपाय और साधनों के सम्बन्ध में सुझाव देने के लिए की गयी थी।

(ख) **डी' सूजा समिति—१९५७** में सरकार ने वी० एल० डी' सूजा की अध्यक्षता में एक और समिति की नियुक्ति की। १९५७ की भुगतान सन्तुलन कठिनाइयाँ कुछ भिन्न प्रकार की थीं क्योंकि उस समय हमने पंचवर्षीय योजनाओं के अधीन देश की अर्थ-व्यवस्था का विकास करने तथा देश के औद्योगीकरण करने के लक्ष्य पर चलना आरम्भ कर दिया था। इस स्थिति में ही निर्यात संवर्द्धन ने देश के विकास सम्बन्धी कार्यक्रम में एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कड़ी का रूप धारण किया इसलिए इस समिति ने भारतीय व्यापार का मूल्यांकन अन्तरराष्ट्रीय स्तर पर किया और कुछ विशेष वस्तुओं के निर्यात को बढ़ाने के लिए विशिष्ट उपाय सुझाये। समिति ने उत्पादन की लागत में कमी करने की आवश्यकता एवं निर्यात-योग्य वस्तुओं को उत्पादन-कर तथा बिक्री-कर से पूर्णत मुक्त करने पर जोर दिया।

(ग) **मुदालियर समिति, १९६१**—तृतीय योजना में निर्यात लक्ष्यों की पूर्ति के लिए सुझाव देने के हेतु मुदालियर समिति की नियुक्ति की गयी। इस समिति ने समस्त आयात-निर्यात, व्यापार नीति और कार्यविधि तथा निर्यात-संवर्द्धन प्रयत्नों की समीक्षा की। समिति ने कुछ ऐसे सुझाव दिये जिनका सम्बन्ध निर्यात प्रोत्साहन से था, जैसे :

(1) निर्यात सम्बन्धी उद्योगों के लिए कच्चा माल, मशीनरी आदि हेतु आवश्यक विदेशी मुद्रा की व्यवस्था होनी चाहिए।

(ii) ऐसे अतिरिक्त आयात के लिए आयात-निर्यात समता कोष (Import Export Stabilization Fund) स्थापित करना चाहिए।

(iii) आय कर में तीन प्रकार से छूट देनी चाहिए (अ) मूल निर्यात के लाभ पर करो मे छूट, (ब) ऐसी छूट जिससे निर्यातक एक निर्यात विकास निधि (Export Development Reserve) स्थापित कर सके, और (स) अतिरिक्त निर्यात पर विशेष छूट।

(iv) जो उद्योग निर्यात सम्बन्धी कठिनाइयो का सामना कर रहे हैं उन कठिनाइयो को दूर किया जाय।

(v) उद्योगपतियो तथा व्यापारियो को चाहिए कि वे आन्तरिक उपभोग (domestic consumption) पर एक उप-कर (cess) लगायें तथा इस कर से प्राप्त आय का उपयोग निर्यात व्यापार मे सहायता करने के लिए करे।

समिति की राय म अनिवार्य निर्यात आवश्यक है। इसके अतिरिक्त समिति ने अन्तरराष्ट्रीय मेलो मे भाग लेने विदेशो यात्रियो की सख्या मे वृद्धि करने, वस्तु विनिमय व्यापार, राजकीय व्यापार, क़िस्म-नियन्त्रण तथा निर्यात जोखिम आदि के सम्बन्ध मे महत्त्वपूर्ण सुझाव दिये। सरकार ने इनम से कुछ सुझावों को कार्यान्वित भी किया है।

२ निर्यात सवद्धन सगठनो का बनाया जाना

निर्यात सवर्द्धन के कार्यो को सुचारु रूप से चलाने के लिए कुछ सस्थागत सगठन बनाये गये हैं, जिनका विवरण निम्नलिखित है

(क) व्यापार मण्डल—मई १९६२ मे इस बोर्ड की स्थापना की गयी। इस बोर्ड का कार्य व्यापार तथा वाणिज्य के सभी पहलुओ पर विचार करना तथा उनके सम्बन्ध मे सरकार को सलाह देना है। अन्तरराष्ट्रीय व्यापार वृद्धि के लिए विशेषतया निर्यात वृद्धि के लिए प्रयत्न करना बोर्ड का प्रमुख कार्य है। बोर्ड ने समय समय पर निर्यात व्यापार से सम्बन्धित वस्तुओ तथा देशो के विषय म विश्लेषण किया है तथा निर्यात सम्बन्धी अवसरो के विषय मे जानकारी प्राप्त करायी है। उत्पादन व्यय म कमी, साख-सुविधा, जहाज तथा भाडे की समस्या, विदेशो मे व्यापार प्रतिनिधियो की नियुक्ति आदि विषयो पर इसने महत्त्वपूर्ण सुझाव दिये हैं। बोर्ड ने Institute of Foreign Trade की भी स्थापना की है। बोर्ड द्वारा १० समितियाँ भी बनायी गयी हैं जो विदेशी व्यापार के विभिन्न पहलुओं का अध्ययन करती हैं।

(ख) निर्यात सवर्द्धन निदेशालय (Export Promotion Directorate)—इसकी स्थापना अगस्त १९५७ म की गयी। इसका प्रमुख कार्य निर्यातको को आवश्यक सूचनाएँ तथा सहायता देना तथा व्यापार मण्डल के आदेशो व सुझावो को कार्यान्वित करना है। निदेशालय ने चार क्षेत्रीय कार्यालय तथा बम्बई, कलकत्ता और मद्रास मे Port Office बनाये हैं।

(ग) निर्यात सवर्द्धन सलाहकार परिषद (Export Promotion Advisory Council)—इसकी स्थापना केन्द्रीय स्तर पर की गयी है। इस समिति मे व्यापार के प्रतिनिधि होते हैं। समिति सरकार की निर्यात नीति की समीक्षा करती है तथा सरकार को इस विषय मे सलाह देती है।

(घ) क्षेत्रीय निर्यात सवर्द्धन सलाहकार समितियाँ—देश के विभिन्न भागों से निर्यात की सम्भावनाओं तथा समस्याओं पर यह समितियाँ विचार करती हैं। अपने क्षेत्र की निर्यात विषयक समस्याओं पर ये समितियाँ सरकार का ध्यान आकर्षित करती हैं। ये समितियाँ महीने मे एक बार मिलती है तथा अपने-अपने क्षेत्र की उद्योग तथा व्यापार सम्बन्धी समस्याओ पर विचार करती है और सुझाव देती हैं। समितियो का नेतृत्व स्थानीय व्यापार व उद्योग के अवैतनिक निर्यात सवर्द्धन

सलाहकार द्वारा किया जाता है। इस समय बम्बई, कलकत्ता, मद्रास तथा अर्नाकुलम बन्दरगाहों पर य समितियां कार्य कर रही हैं।

(ङ) निर्यात संवर्द्धन परिषदें—इन परिषदों की स्थापना स्वायत्तशासी निगमों के रूप में की गयी है। इनमें उद्योग व व्यापार के प्रतिनिधि तथा सरकार के प्रतिनिधि होते हैं। ये परिषदें अपने उद्योग की वस्तुओं का निर्यात बढ़ाने के लिए प्रयत्न करती हैं। इस समय देश में इस प्रकार की १६ परिषदें कार्य कर रही हैं, जो अलग-अलग सूती वस्त्र, काजू मसाला, तम्बाकू, चमड़ा, रेशम, रेयन रासायनिक पदार्थ, खेल का सामान, फल, इंजीनियरी का सामान आदि के निर्यात संवर्द्धन सम्बन्धी कार्य कर रही हैं।

(च) वस्तु मण्डल—निर्यात संवर्द्धन परिषदों के अतिरिक्त बहुत से बोर्ड सगठित किये हैं, जैसे टी बोर्ड, कॉफी बोर्ड, सिल्क बोर्ड, ऑल इण्डिया हैण्डलूम बोर्ड आदि-ये बोर्ड सम्बन्धित वस्तुओं के निर्यात के विषय में सूचना व सहायता देते हैं। ये बोर्ड निर्यात संवर्द्धन परिषदों के समान कार्य भी करते हैं।

(छ) निर्यात साख गारण्टी निगम (The Export Credit and Guaranttee Corporation)—इस निगम की स्थापना सितम्बर १९५७ में की गयी। यह निगम निर्यातकों को उन जोखिमों के लिए बीमा सुविधाएँ प्रदान करता है, जो सामान्यतया साधारण बीमा कम्पनियों द्वारा प्रदान नहीं की जाती हैं। निर्यातकों को निगम द्वारा बैंकों से इसकी निर्यात साख गारण्टी पालिसी (Export Credit Guaranttee Policies) के आधार पर ऋण भी दिलाया जाता है। निगम सन्तोषजनक ढंग से कार्य कर रहा है तथा इसके द्वारा निर्यात प्रोत्साहन में पर्याप्त सहायता मिलती है।

(ज) राज्य व्यापार निगम (State Trading Corporation)—इस निगम की स्थापना १८ मई, १९५६ को निर्यात संवर्द्धन तथा आवश्यक वस्तुओं का आयात करने के उद्देश्य से की गयी। इसकी स्थापना एक सरकारी कम्पनी के रूप में १ करोड़ रुपये की प्रदत्त पूँजी के साथ की गयी जिसे बढ़ाकर सन् १९५८-५९ में २ करोड़ रुपया कर दिया गया। अक्तूबर १९६३ में इस निगम के दो भाग कर दिये गये तथा पृथक भाग का नाम 'खनिज व धातु व्यापार निगम' (Mineral and Metals Trading Corporation of India) रखा गया। इस नये निगम को खनिज व धातुओं का व्यापार सौंप दिया गया। निगम के प्रमुख कार्य निम्नलिखित हैं - (i) भारत के निर्यात व्यापार में वृद्धि करना, (ii) परम्परागत निर्यातों के बाजारों को बनाये रखना, (iii) नयी वस्तुओं के निर्यात के लिए बाजार तलाश करना (iv) आवश्यक वस्तुओं का आयात करना।

राज्य व्यापार निगम की सहायक संस्था के रूप में 'दस्तकारी व हाथ करघा निर्यात निगम' (Handicrafts and Handloom Export Corporation) दस्तकारी की वस्तुओं आदि के निर्यात-संवर्द्धन के लिए प्रयत्न करता है। राज्य व्यापार निगम ने गत वर्ष में सराहनीय प्रगति की है जिसका अनुमान निम्नलिखित सारणी से लगाया जा सकता है

राज्य व्यापार निगम—कार्य प्रगति (करोड़ रुपयों में)

वर्ष	औसत निर्यात
द्वितीय योजनाकाल	३५
तृतीय योजनाकाल	८७
१९६७-६८	३२१
१९६९-७०	४४५

उपर्युक्त तालिका से स्पष्ट है कि निगम द्वारा गत १२ वर्षों में लगभग १,२४२ मिलियन रुपये का माल निर्यात किया गया और देश के लिए विदेशी मुद्रा की प्राप्ति की गयी।

राज्य व्यापार निगम द्वारा किये गये निर्यात छह वर्गों में रखे जा सकते हैं

(१) रेल के डिब्बे तथा सम्बन्धित सामान,

(२) इंजीनियरी का सामान तथा कल पुर्जे,

(३) रसायन दवाएँ तथा नमक आदि,

(४) उपभोक्ता माल जिसमें चमड़ा, जूते, चोटियाँ तथा सिर के बाल, कपड़ा तथा तैयार वस्त्र सम्मिलित हैं,

(५) कृषि पदार्थ तथा फल,

(६) सीमेंट।

प्रस्तुत विवरण से स्पष्ट है कि व्यापार निगम विविध वर्गों की अनेक वस्तुएँ निर्यात करता है जिनमें फल, अचार, मुरब्बे आदि से लेकर रेल के डिब्बे, मशीनें, कल-पुर्जे, चीनी, सीमेंट, रसायन तथा दवाएँ और बाल सरीखी वस्तुएँ सम्मिलित हैं।

राज्य व्यापार निगम के कार्य की एक विशेषता यह है कि इसके निर्यात का लगभग दो-तिहाई भाग पूर्वी यूरोप के साम्यवादी देशों को होता है। इसमें से भी ४०-४५ प्रतिशत माल अकेले सोवियत संघ को निर्यात किया जाता है।

निर्यातों को मिला कर राज्य व्यापार निगम लगभग १६० करोड़ रुपये के तुल्य वार्षिक व्यवसाय करता है।

राज्य व्यापार निगम पर मुनाफाखोरी का आरोप लगाया गया है। वस्तुस्थिति यह है कि इसके द्वारा कुछ आयातित माल बहुत महँगा बेचा जाता है तथा निर्यात होने वाले माल में भी यह अधिक लाभ का सीमान्तर रखता है। यह स्थिति सन्तोषजनक नहीं है। सरकार द्वारा इस दिशा में ध्यान दिया जाना चाहिए।

(ख) खनिज व धातु व्यापार निगम (Minerals and Metals Trading Corporation of India)—इस निगम की स्थापना १ अक्तूबर, १९६३ में राज्य व्यापार निगम से पृथक रूप से की गयी। इसके पूर्व खनिज व धातु का निर्यात व्यापार, राज्य व्यापार निगम द्वारा किया जाता था। इस निगम का प्रमुख कार्य खनिज व धातुओं का आयात करना है। निगम द्वारा मैंगनीज अभ्रक, खनिज, लोहा आदि का निर्यात किया जाता है। सन् १९६३-६४ (१ अक्तूबर, १९६३ से ३१ मार्च, १९६४) में निगम का कुल प्रत्यक्ष व्यापार २४ ४ करोड़ रुपया था जो बढ़कर सन् १९६८-६९ में १०६ १ करोड़ रुपया हो गया। सन् १९६३ ६४ में, इसके निर्यात का मूल्य १२ ४ करोड़ रुपया था जो बढ़कर सन् १९६८-६९ में ८० २ करोड़ रुपया हो गया।

(ज) निर्यात निरीक्षण परिषद्—भारतीय निर्यात निरीक्षण परिषद की स्थापना निर्यात अधिनियम, १९६३ के अन्तर्गत की गयी। इस परिषद में व्यापार व उद्योगों के प्रतिनिधि तथा तकनीकी विशेषज्ञ हैं। परिषद को सरकार द्वारा ऋण, अनुदान आदि के रूप में आर्थिक सहायता मिलती है। परिषद ने किस्म-नियन्त्रण का कार्य प्रारम्भ कर दिया है। इसने माल के लदान के पूर्व निरीक्षण तथा वस्तुओं के परीक्षण के लिए सुविधाएँ प्रदान करने का कार्य भी प्रारम्भ कर दिया है।

उपर्युक्त संगठनात्मक कार्यों के अतिरिक्त निर्यात प्रोत्साहन के लिए राज्यों में निर्यात सवर्द्धन सलाहकार बोर्ड की स्थापना की गयी है तथा राज्य सम्पर्क अधिकारी भी नियुक्त किये गये हैं।

प्रोत्साहन योजनाएँ तथा सहायता

वर्तमान समय मे निर्यात सवर्द्धन के लिए कुछ प्रोत्साहन योजनाएँ भी कार्यान्वित की जा रही हैं जिनके अन्तर्गत निर्यातकों के लिए आवश्यक मशीन आदि आयात करने कच्चा माल मँगाने आदि की सुविधाएँ प्रदान की गयी हैं। इन योजनाओं का सक्षिप्त विवरण निम्नलिखित हैं

(१) **कच्चे माल व पुर्जों का आयात**—निर्यात किये गये माल का एक निर्धारित प्रतिशत मूल्य उन कच्चे पदार्थों तथा पुर्जों के आयात के लिए उपयोग करने की अनुमति दी जाती है जिनकी आवश्यकता निर्यात सम्बन्धी वस्तुओं के उत्पादन मे पड़ती है। आयात करने का यह अधिकार सामान्यत निर्यात होने वाले माल मे प्रयुक्त हुए आयातित माल के दुगुन परन्तु निर्यातों के जहाज पर पड़ने वाले मूल्य के ७५% से कम आधार पर निधारित किया जाता है।

(२) **मशीनो का आयात**—इस आयात अधिकार का एक भाग सामान्यत निर्यातों के जहाज पर के मूल्य के १०% तक उन मशीनों व पुर्जों आदि के आयात करने मे उपयोग करने की अनुमति दी जाती है जिनकी आवश्यकता पुर्जे बदलने अथवा आधुनिकीकरण के लिए पड़ती है। कृषि, बागान, खनिज तथा निर्माणकारी उद्योगों के निर्यात करने वाले अग के आधुनिकीकरण आदि के लिए आवश्यक मशीनें मँगाने के लिए प्राथमिकता दी जाती है।

(३) **अग्रिम लाइसेंस**—कुछ विशेष परिस्थितियों मे अग्रिम लाइसेंस देने की अनुमति भी दी जाती है। जिससे निर्यातक निर्यात सम्बन्धी वायदों की पूर्ति के लिए आवश्यक सामान खरीद सकें। ऐसे अग्रिम लाइसेंस पक्का ऑर्डर मिलने या 'अटल साखपत्र' (Confirmed Letters of Credit) खोलने पर ही दिये जाते हैं।

(४) **आयतित माल को बेचना**—निर्यात सवर्द्धन योजना के अधीन आयात किये गये माल को सामान्यतया निर्यातक को अपने कारखाना म प्रयुक्त करने की ही अनुमति मिलती है, परन्तु वह आयातित माल उसी निर्यात सवर्द्धन योजना के क्षेत्र मे आने वाले किसी अन्य ऐसे निर्माता को बेचा भी जा सकता है जो सीधे निर्यात करता है या निर्यात के लिए अपना माल दूसरों को बच देता है।

(५) **देशी माल की सुविधा**—निर्यात सवर्द्धन योजना मे कुछ देशी कच्चे पदार्थों, जैसे कच्चा लोहा, इस्पात, टीन की चादरें आदि, को रिआयती दर पर दिया जाता है तथा इनके वितरण म प्राथमिकता दी जाती है।

(६) **कर सम्बन्धी रिआयतें**—१ कुछ वस्तुओं के आयात-कर मे वापसी की सुविधाएँ दी गयी हैं।

२ निर्यात स प्राप्त आय पर लगने वाल आय कर म भी छूट दी जाती है।

३. चाय पर निर्यात-कर मे कमी की गयी है।

(७) **ऋण सुविधाएँ**—सन् १९६२ मे निर्यातकों को ऋण सुविधाएँ देने के लिए सरकार ने एक अध्ययन मण्डल नियुक्त किया था। इनके सुझावों के अनुसार निर्यातो को प्रोत्साहन देने के लिए अनेक प्रकार की ऋण सुविधाएँ दी गयी हैं।

इन सुविधाओं के अतिरिक्त निर्यात के लिए परिवहन सुविधा देने मे भी प्राथमिकता दी जाती है तथा भाड़े की दरों मे भी छूट दी जाती है।

(८) **निर्यात के लिए परिवहन तथा भाड़े सम्बन्धी रिआयतें**—निर्यात बढ़ाने के लिए अनेक उपायों म से परिवहन की पर्याप्त सुविधाओं का उपलब्ध होना भी काफी महत्वपूर्ण है। निर्यातकों को इस सम्बन्ध मे जो सुविधाएँ देने की व्यवस्था की गयी है वे आगे दी जा रही हैं :

(i) गमनागमन में प्राथमिकता—देश मे उत्पादन केन्द्रो और बन्दरगाहो के मध्य लम्बी दूरी होने के कारण परिवहन और उसकी लागत दोनो के सम्बन्ध मे निर्यात व्यापार को काफी कठिनाइयो का सामना करना पडा है। अत रेलवे बोर्ड के साथ-साथ क्षेत्रीय रेलो के मुख्य कार्यालयों के साथ निकट सम्पर्क बनाये रखकर ये कठिनाइयाँ काफी सीमा तक दूर कर दी गयी हैं। माल डिब्बो के सभरण तथा गमनागमन के लिए प्राथमिकता की अनुसूची मे निर्यात सम्बन्धी यातायात को काफी ऊँचा स्थान दिया गया है। इसके अतिरिक्त अन्तरराष्ट्रीय व्यापार मन्त्रालय के कहने पर रेलवे बोर्ड द्वारा सभी क्षेत्रीय रेलो के लिए ऐसे स्थायी आदेश दिये गये हैं कि वे निर्यात सम्बन्धी यातायात पर विशेष नजर रखने की व्यवस्था करे जिससे कि यह सुनिश्चित हो सके कि निर्यात सम्बन्धी यातायात की कोई भी वस्तु ढोने म विलम्ब न हो।

दूसरे, निर्यात के माल से लदे हुए डिब्बो को शीघ्रता से बन्दरगाहो तक आगे बढाने मे सुविधाजनक बनाने के लिए, माल भेजने वाले के द्वारा ऐसा माल ले जाने वाले डिब्बो पर चिपकाने के लिए एक विशिष्ट प्राथमिकता के लेबिलो की रूपरेखा तैयार की गयी है और उसे विभिन्न निर्यात परिषदो तथा जिन्स बोर्डों के द्वारा व्यापारियो मे बाँट दिया गया है। रेलो द्वारा अपने कर्मचारियो को यह सुनिश्चित करने के आदेश दिये गये हैं कि इस प्रकार के लेबिलों वाले कोई भी माल डिब्बे मार्ग म जाते हुए विभिन्न मार्शलिंग यार्डों पर न रुके और मंजिल तक यथासम्भव तेजी से भेज दिये जाये। रेलवे बोर्ड द्वारा नए पैकेज माल डिब्बे भी बनाये गये हैं जिनके द्वारा निर्यातित वस्तुएँ अधिक द्रुतगति से बन्दरगाहा तक भेजने की व्यवस्था है।

(ii) रेल-भाडे मे रिआयतें—चूँकि परिवहन का व्यय तुलनात्मक लागत का एक महत्वपूर्ण अग है अत रेलवे बोर्ड ने निर्यात व्यापार से सम्बन्धित अनेक वस्तुओं के लिए रेल भाडे म २५ % से लेकर ५० % तक रिआयतें दी है।

(iii) समुद्री भाडे मे रिआयत—परिवहन मन्त्रालय के अधीन बम्बई स्थित भाडा जाँच ब्यूरो इस मन्त्रालय से निकट सम्पर्क रखते हुए काम करता है, जिसके प्रयत्नों के फलस्वरूप अनेक निर्यात योग्य वस्तुओं के लिए समुद्री भाडे मे छूट दी गयी है।

निर्यात सवर्द्धन सम्बन्धी अन्य कार्य

निर्यात सवर्द्धन के लिए उपर्युक्त सुविधाओ के अतिरिक्त जो अन्य प्रयत्न किये गये हैं, वे निम्नलिखित हैं

(१) निर्यात सदन—निर्यात व्यापार म विशिष्टीकरण का विकास करने तथा कार्य निष्पादन का उच्च स्तर बनाये रखने के उद्देश्य से विख्यात व्यावसायिक फर्मों को निर्यात सदनों के रूप म मान्यता देने के सम्बन्ध मे सरकार ने एक योजना बनायी है। मान्यता-प्राप्त निर्यात सदनो को नीचे लिखी सुविधाएँ उपलब्ध होती हैं

(क) निर्यात के सम्बन्ध मे विदेशों म व्यावसायिक यात्रा करने के लिए वार्षिक आवश्यकता की विदेशी मुद्रा का एक मुश्त उपलब्ध होना।

(ख) उसके द्वारा किये जाने वाले बाजारो के अध्ययन तथा निर्यात सम्बन्धी प्रचार पर हुए व्यय के अश को पूरा करने के लिए सरकार द्वारा विपणन विकास निधि मे से अनुदान देना।

(ग) तीन अथवा इससे अधिक निर्यात सदनो द्वारा विदेश म कार्यालय की स्थापना अथवा किसी एक निर्यात सदन और एक स्वीकृत व्यापार सगठन जैसे निर्यात सवर्द्धन परिषद के साथ मिलकर किसी देश मे कार्यालय खोलने के कुल व्यय के एक अश को पूरा करने के लिए सरकार

द्वारा विपणन निधि मे से अनुदान प्रदान करना। सरकार द्वारा अब तक ४६ निर्यात सदनो को मान्यता दी जा चुकी है।

(२) विपणन विकास निधि—भारतीय उत्पादको तथा जिन्सो के लिए विदेशी बाजारो का विकास करने की योजनाओ का तथा प्रायोजनाओ का वित्त-पोषण करने के लिए भारत सरकार ने जुलाई १९६३ मे विपणन विकास निधि का गठन किया है। इस निधि मे से नीचे लिखे कार्यों के लिए अनुदान दिये हैं (क) विपणन गवेषणा, जिन्स गवेषणा, क्षेत्रीय सर्वेक्षण और गवेषणा कार्यक्रम, (ख) निर्यात सम्बन्धी प्रचार तथा जानकारी का प्रसार (ग) व्यापारिक मेलो तथा प्रदर्शनियो मे भाग लेना, (घ) व्यापारिक शिष्टमण्डल तथा अध्ययन दलो की नियुक्ति, (ङ) विदेशो में कार्यालय शाखाओ की स्थापना, (च) निर्यात का विस्तार तथा विदेशी व्यापार का सवर्द्धन करने के लिए निर्यात सवर्द्धन परिषदो तथा अन्य सगठनो को सहायता अनुदान देना, (छ) किस्म नियन्त्रण तथा लदान से पूर्व निरीक्षण, (ज) परिवहन की सहायता सहित निर्यात-योग्य जिन्सो के लिए निर्यात सम्बन्धी सहायता देना, (झ) निर्यात जोखिम बीमा, और (ञ) विदेशो मे भारतीय उत्पादनो तथा जिन्सो के निमित्त बाजारो के विकास का सवर्द्धन करने के लिए सोची गयी कोई भी अन्य ऐसी योजना।

इस निधि का प्रशासन एक समिति द्वारा किया जाता है जिसमे निम्नलिखित अधिकारी होते हैं—(१) सचिव, वित्त मन्त्रालय, आर्थिक कार्य विभाग भारत सरकार, अध्यक्ष, (२) सचिव वित्त मन्त्रालय, व्यय विभाग, भारत सरकार सदस्य और (३) सचिव, अन्तरराष्ट्रीय व्यापार मन्त्रालय भारत सरकार, सदस्य।

(३) निर्यात अधिनियम, १९६३—निर्यात किये जाने वाले माल पर अनिवार्य किस्म नियन्त्रण (Compulsory Quality Control) तथा जहाज पर माल लादने से पूर्व निरीक्षण के सम्बन्ध मे जनवरी १९६३ मे निर्यात (किस्म नियन्त्रण और निरीक्षण) अधिनियम पास किया गया। इसके द्वारा दोनो बाते अनिवार्य कर दी गयी हैं। वस्तुओ के लिए मानक भी निर्धारित किये गये हैं। प्रमाणीकरण तथा चिह्नाङ्कन की योजना लागू की गयी है। किस्म नियन्त्रण के लिए परीक्षणगृहो तथा प्रयोगशालाओं की स्थापना की गयी है।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि सरकार निर्यात सवर्द्धन की दिशा मे पूर्णरूप से प्रयत्नशील है। इन योजनाओ के कारण निर्यात को काफी प्रोत्साहन मिला है। सन् १९४६-४८ मे निर्यात का वार्षिक औसत ३३१ ६ करोड रुपये था, जो सन् १९६७ मे बढकर १,१९७ करोड रुपये हो गया है।

जून १९६८ में सरकार ने ६ निर्यात सवर्द्धन के उद्देश्य से (i) 'चाय वित्त एव गारण्टी निगम (Tea Finance and Guaranttee Corporation), तथा (ii) हैण्डलूम निर्यात सवर्द्धन परिषद (Handloom Export Promotion Council) की स्थापना की। 'चाय वित्त एव गारण्टी निगम' की स्थापना चाय के निर्यात मे वृद्धि करने के लिए तथा वित्तीय सहायता देने के उद्देश्य मे की गयी है। यह निगम बैंक आदि से चाय कम्पनियो को प्राप्त ऋण पर गारण्टी देता है। 'हैण्डलूम निर्यात सवर्द्धन परिषद' का मुख्य कार्यालय मद्रास मे स्थापित किया गया है।

अवमूल्यन के पश्चात निर्यात सवर्द्धन की नीति—जून १९६६ मे रुपये के अवमूल्यन के पश्चात् निर्यात सवर्द्धन योजनाएँ एक प्रकार से स्थगित कर दी गयी। निर्यातको मे अनिश्चितता का वातावरण व्याप्त हो गया। परन्तु अवमूल्यन से निर्यात मे प्रत्याशित वृद्धि नहीं हुई, अत पूर्व घोषित सवर्द्धन योजनाएँ एक एक कर आवश्यक सशोधन के साथ पुन. लागू की जा रही

है। केन्द्रीय वाणिज्य मन्त्री ने १६ अगस्त, १९६६ को निर्यात सवर्द्धन सम्बन्धी नयी नीति की घोषणा की जो वर्तमान समय मे भी लागू है। इस नीति के प्रमुख तत्त्व निम्नलिखित हैं

(i) पजीकृत निर्यातको को निर्यात के बदले, आयात करने का अधिकार दिया गया है। आयात का मूल्य निर्यात की गयी वस्तु के निर्माण मे लगायी गयी आयातित वस्तुओं के मूल्य तथा निर्माण करते समय हुई छीजन (wastage) से अधिक नही होगा। आयात की जाने वाली वस्तु की मात्रा (निर्यात की जाने वाली वस्तु के निर्माण के लिए) का निर्णय सरकारी अधिकारी करेंगे।

(ii) जो निर्यातक स्वय निर्माणकर्ता नही है वे उस सस्थान के नाम की घोषणा करेंगे जिनसे वे निर्यात करने के लिए माल खरीदते हैं, जिसके आधार पर ऐसे निर्माणकर्ताओ को आयात लाइसेंस दिये जा सकें।

(iii) निर्यात उद्योगो को पूँजीगत वस्तुओं तथा अन्य आवश्यक वस्तुओ के आयात के लिए प्राथमिकता दी जायेगी।

(iv) कच्चा जूट, कच्चा चमड़ा आदि वस्तुएँ O. G L के अन्तर्गत सम्मिलित कर दी गयी हैं।

(v) जहाँ तक देशी कच्चे माल का सम्बन्ध है, निर्यात उद्योगो की आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए उन्हे, आवश्यक सामग्री अधिनियम' के अन्तर्गत सम्मिलित कर लिया गया है जिससे कच्चे माल के वितरण म निर्यात उद्योगो को प्राथमिकता दी जा सके।

(vi) हिन्दुस्तान स्टील लिमिटेड के अन्तर्गत 'Steel Sales Promotion Division' की स्थापना की जा रही है, जो स्टील तथा सम्बन्धित वस्तुओ की निर्यात वृद्धि का प्रयत्न करेगा।

(vii) जिन वस्तुओ के निर्यात की सम्भावनाएँ अनुकूल है, उनके लिए नकद सहायता (cash assistance) दी जायेगी। जिन वस्तुओ को अवमूल्यन के पूर्व Import Entitlement या अन्य प्रत्यक्ष, अप्रत्यक्ष सुविधाएँ दी जाती थी, उन्हे अब नकद सहायता दी जायेगी। सहायता की मात्रा वस्तु के f o b मूल्य के १० से २० प्रतिशत होगी। यह सहायता स्क्रेप स्टील, लोहा तथा इस्पात ऊनी कालीन, चीनी तथा इजीनियरिंग वस्तुओं को दी जायेगी।

(viii) स्क्रेप स्टील के लिए निर्यात सहायता १०%, कुछ चुनी हुई लोहा तथा इस्पात की वस्तुओ के लिए १५%, ऊनी कालीन के लिए १०% दी जायगी। इजीनियरिंग वस्तुओ को तीन समूहो म विभाजित किया गया है। प्रथम समूह के अन्तर्गत आने वाली वस्तुओ के लिए नकद सहायता की मात्रा १०%, द्वितीय समूह के लिए १५%, तथा तृतीय समूह के लिए २०% होगी। चीनी को अब निर्यात सहायता अवमूल्यन के पूर्व दी जाने वाली सहायता से कम होगी। सहायता की मात्रा अवमूल्यन तथा अन्तरराष्ट्रीय मूल्यों को ध्यान मे रख कर दी जायेगी।

उपर्युक्त निर्यात सवर्द्धन नीति सर्वथा उपयुक्त है। इससे निर्यातकों को प्रोत्साहन मिला है तथा निर्यात-व्यापार म कम मूल्य दिखाने की प्रवृत्ति (under invoicing) रोकने मे सहायता मिली है। आशा है यह नीति सफल सिद्ध होगी।

निर्यात वृद्धि के लिए सुझाव—गत वर्षों मे निर्यात सवर्द्धन के लिए किये गये प्रयत्नो के फलस्वरूप भारत के निर्यात व्यापार मे वृद्धि हुई है। फिर भी इस दिशा मे और प्रयत्नो की आवश्यकता है। निर्यात म वृद्धि करने के लिए निम्नलिखित सुझावो पर ध्यान देना विशेष लाभप्रद सिद्ध होगा

(१) निर्यातकों को अधिक साख एव परिवहन सम्बन्धी सुविधाएँ प्रदान करना।

(२) कृषि, औद्योगिक तथा खनिज पदार्थों के उत्पादन मे वृद्धि करना।

(३) वस्तुओं की उत्पादन लागत में कमी करना।

(४) सरकार, उद्योगों तथा व्यापारियों द्वारा व्यवस्थित ढंग से निर्यात वृद्धि के लिए प्रयत्न करना।

(५) वस्तुओं की कीमतों को अन्तरराष्ट्रीय प्रतिस्पर्द्धी स्तरों पर बनाये रखना।

(६) विदेशी बाजारों का सर्वेक्षण तथा उचित प्रचार (Publicity)।

(७) विदेशों में औद्योगिक प्रदर्शनियाँ तथा व्यापारिक मेले लगाना।

(८) भारतीय वस्तुओं की किस्म में सुधार तथा किस्म नियन्त्रण करना।

(९) भारतीय व्यापारियों द्वारा ईमानदारी से निर्यात व्यापार करना, आदि।

(१०) विदेशी व्यापार का राष्ट्रीयकरण तथा राज्य व्यापार निगम द्वारा और प्रयत्न करना।

व्यापारिक समझौते
(Trade Agreements)

२०वीं शताब्दी में विदेशी व्यापार की यह विशेषता रही है कि विभिन्न देशों में व्यापारिक समझौतों द्वारा व्यापार वृद्धि का प्रयत्न किया गया है। भारत ने भी व्यापारिक सम्बन्ध मजबूत बनाने की दृष्टि से अनेक समझौते किये। इन समझौतों का संक्षिप्त विवरण निम्नलिखित है

(१) **ओटावा व्यापारिक समझौता**—इस समझौते के द्वारा भारतीय आयात निर्यात की रूपरेखा तैयार की गयी। इस समझौते के अनुसार भारत ने ब्रिटेन के बने हुए माल पर आयात करों में कमी की। आयात कर में यह कमी विभिन्न वस्तुओं पर अलग-अलग दरों में की गयी। यह छूट औसत रूप में १० प्रतिशत थी। भारत ने कुछ वस्तुओं के निर्यात-करों में छूट दी तथा कुछ वस्तुओं पर से निर्यात कर हटा लिया। इस छूट से सम्बन्धित वस्तुएँ भारतीय कपास, जूट तथा जूट की वस्तुएँ, चाय, मसाले, तम्बाकू आदि थे। ब्रिटेन ने भी भारत से भेजे जाने वाले माल पर आयात-करों में छूट दी। इस समझौते को साम्राज्य अधिमान (Imperial Preference) भी कहा जाता है। यह समझौता जनवरी १९३३ में लागू किया गया। आरम्भ में यह समझौता तीन वर्षों के लिए लागू किया गया। सन् १९३९ में इसके सम्बन्ध में एक नया समझौता हुआ जिसे Indo-British Trade Agreement भी कहते हैं।

ओटावा समझौता कुछ दृष्टियों से भारत के लिए लाभप्रद सिद्ध हुआ। भारत इंगलैण्ड की बड़ी मशीनों को अब आसानी से आयात कर सकता था। परन्तु यह लाभ बहुत ही सीमित था। वस्तुतः इस समझौते द्वारा भारत को हानि अधिक उठानी पड़ी क्योंकि प्राप्त रियायतों का प्रभाव भारतीय निर्यात पर बहुत अच्छा नहीं पड़ा। यह समझौता ब्रिटेन के पक्ष में अधिक था। भारत ने इंगलैण्ड को १६२ वस्तुओं पर छूट दी थी जबकि इंगलैण्ड द्वारा भारत को कम वस्तुओं पर छूट दी गयी तथा यह छूट ऐसी वस्तुओं पर दी गयी थी जिनमें इंगलैण्ड के बाजार में भारत का कोई प्रतियोगी नहीं था। इस समझौते के कारण भारत ब्रिटिश साम्राज्य के देशों के अतिरिक्त अन्य देशों से व्यापारिक सम्बन्ध नहीं बढ़ा सका।

जनवरी १९७२ से यह समझौता टूटने की आशंका हो गयी है क्योंकि ब्रिटेन भारतीय वस्त्रों के आयात पर १५ प्रतिशत कर लगा रहा है।

(२) **भारत-जापान व्यापारिक समझौता**—भारत-जापान के बीच प्रथम व्यापारिक समझौता सन् १९०४ में किया गया था। सन् १९२९-३० में जापान ने अपनी मुद्रा का अवमूल्यन किया। जापानी कपड़े भारत में अधिक सस्ते पड़ने लगे अतः भारत के सूती वस्त्र उद्योग को

क्षति उठानी पड़ी। भारत ने सूती कपड़ों पर ७५ प्रतिशत आयात-कर लगा दिया। इसके बदले में जापान ने भारतीय कपास का बहिष्कार कर दिया। अतः व्यापारिक सम्बन्ध सुधारने के लिए एक नया समझौता किया गया जो १२ जुलाई १९३४ से लागू किया गया। इस समझौते के अनुसार भारत जापान व्यापार सम्बन्धी वस्तुओं के कोटा निश्चित किये गये। इस समझौते से दोनों देशों के व्यापारिक सम्बन्धों में वृद्धि हुई। सन् १९३७ में भारत-जापान के बीच तीन वर्षों के लिए एक नया समझौता किया गया। सन १९४० में इस समझौते में पुनः संशोधन किया गया परन्तु द्वितीय महायुद्ध के कारण यह समझौता समाप्त कर दिया गया। युद्ध के पश्चात सन् १९४८ में भारत जापान के बीच दूसरा समझौता हुआ। इस समझौते की अवधि को विभिन्न अवसरों पर बढ़ाया गया।

(३) हवाना चार्टर—द्वितीय महायुद्ध के पश्चात् अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में वृद्धि करने का प्रयत्न किया गया। नवम्बर १९४७ में हवाना में एक अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन किया गया। इस सम्मेलन में अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार संघ की स्थापना की गयी। इस सम्मेलन में एक अधिकार-पत्र भी तैयार किया गया जिसे हवाना चार्टर कहते हैं। २४ मार्च, १९४८ को ५४ राष्ट्रों ने इस चार्टर को मान्यता दी। इसके मुख्य उद्देश्य निम्नलिखित थे

(i) अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में वृद्धि करना तथा पिछड़े हुए देशों की आर्थिक व्यवस्था की उन्नति करना।

(ii) सदस्य देशों द्वारा आयात निर्यात की वस्तुओं पर सामान्य करों के अतिरिक्त अन्य नियन्त्रण न लगाना।

(iii) सदस्य देशों में पारस्परिक समझौते करना तथा एक दूसरे को सर्व मान्यता का व्यवहार (Most Favoured Nations Treatment) करने की अनुमति देना, आदि।

फरवरी १९५१ में अमरीका ने इस समझौते को मानने से इनकार कर दिया अतः यह समझौता कागजी कार्यवाही मात्र रह गया।

(४) व्यापार एवं प्रशुल्क पर सामान्य समझौता (General Agreement on Tariffs and Trade)—अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में वृद्धि के लिए सन् १९४७ में जेनेवा में एक बैठक हुई जिसमें यह निर्णय किया गया कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में वृद्धि के प्रयत्न किये जायें। सम्मेलन में यह तय किया गया कि राष्ट्रों के बीच व्यापारिक सम्बन्धों को बढ़ाया जाय तथा बहुपक्षीय व्यापार तथा भुगतान (Multilateral Trade and Payments) के सिद्धान्त को अपनाया जाय। आयात तथा निर्यात-करों को घटाने की दृष्टि से एक सामान्य समझौता किया गया, जिसे GATT (General Agreement on Tariffs and Trade) कहते हैं। इस समझौते के कारण स्वर्ण तथा डालर की कमी व युद्धकालीन प्रशुल्क कर तथा नियन्त्रण से उत्पन्न कठिनाइयों को दूर करने में मदद मिली। यह समझौता अधिकतम राष्ट्रों के अधिकतम हित में वृद्धि की दिशा में एक महत्त्वपूर्ण कदम है। संसार के कुल ३८ राष्ट्र इस समझौते के सदस्य हैं। संसार के कुल व्यापार का लगभग ८० प्रतिशत इन देशों के हाथ में है।

भारत आरम्भ से ही इस समझौते का सदस्य है। इस समझौते के अन्तर्गत बहुत-से देशों से भारत को तट कर में छूट मिली है तथा भारत ने बदले में अन्य देशों को छूट दी है। इस समझौते के अन्तर्गत सम्बन्धित देशों ने भारत से निर्यात की जाने वाली वस्तुओं में से लगभग ५० प्रतिशत पर तट कर में छूट दी है। अतः समझौते द्वारा भारत के निर्यात व्यापार में वृद्धि हुई है। सन् १९४९-५० के प्रशुल्क आयोग ने भी इस समझौते को भारत के लिए उपयोगी बताया था।

सन् १९५५ में जेनेवा में हुए GATT सम्मेलन में अर्द्ध-विकसित देशों को अतिरिक्त छूट देने का सिद्धान्त अपनाया गया। सन् १९५९ में टोकियो सम्मेलन में भारत सरीखे अर्द्ध-विकसित देशों में किये गये आयात पर धीरे धीरे सब प्रकार के प्रतिबन्ध हटाने के सम्बन्ध में प्रस्ताव पास किया गया। जुलाई १९६२ में हुए टैरिफ सम्मेलन ने अन्तिम एक्ट पास किया। इसके अनुसार विभिन्न देशों ने व्यापार के विषय पर बातचीत की। भारत ने इस सम्मेलन में अमरीका, यूरोपीय साझा बाजार, आस्ट्रेलिया, स्वीडन, नार्वे, फिनलैण्ड, डेनमार्क टर्की तथा हेट्टी से व्यापार बढ़ाने के लिए बातचीत की। इसके परिणामस्वरूप अमरीका से हुए समझौते के अन्तर्गत भारत को २८ वस्तुओं (जूट वस्तुएँ, काजू, नारियल, चटाई आदि) पर अमरीका ने तट-कर में छूट दी। इसके बदले में भारत ने १७ वस्तुओं पर अमरीका को छूट दी। यूरोपीय साझा बाजार में हुए समझौते में भारत को यह आश्वासन मिला कि साझा बाजार के देशों द्वारा भारतीय वस्तुओं पर सामान्य दर (common tariff) से ऊँची दर पर तट-कर नहीं लगाया जायेगा।

जून १९६४ में इस समझौते के सिद्धान्तों के अनुसार जेनेवा में विश्व व्यापार सम्मेलन हुआ जिसमें ११९ देशों ने भाग लिया। इस सम्मेलन ने अन्तरराष्ट्रीय व्यापार को एक नयी दिशा प्रदान की है। सम्मेलन में अधिक से अधिक अन्तरराष्ट्रीय आर्थिक सहयोग के विषय पर प्रस्ताव पास किया गया। इस सम्मेलन ने १४ जून, १९६४ को अन्तरराष्ट्रीय व्यापार समस्याओं के समाधान के लिए स्थायी संगठन स्थापित करने का निश्चय किया।

इन सभी प्रस्तावों को संयुक्त राष्ट्र संघ की साधारण सभा मान्यता प्रदान करेगी। इसके पश्चात् संगठन की स्थापना की जायेगी। विशेषज्ञ समिति के सदस्यों की घोषणा राष्ट्र संघ के महासचिव करेंगे। यह भी निश्चय किया गया है कि विश्व व्यापार सम्मेलन प्रति दूसरे या तीसरे वर्ष किया जाय। जून १९६७ में ४६ देशों ने जेनेवा में 'Kennedy Round' के अन्तर्गत अन्तरराष्ट्रीय व्यापार बढ़ाने के उद्देश्य से एक समझौता किया। समझौते के अनुसार ये देश औसत रूप से टैरिफ में ३०% कटौती के लिए सहमत हुए—अक्तूबर १९६७ में अल्जीयर्स में तथा अप्रैल १९६८ में भारत में 'UNCTAD' का सम्मेलन हुआ जिसमें अन्तरराष्ट्रीय व्यापार की समस्याओं पर विचार किया गया। व्यापार वृद्धि के लिए टैरिफ में कमी करने का सुझाव दिया गया।

इस प्रकार अब अन्तरराष्ट्रीय आर्थिक सहयोग बढ़ रहा है। भारत प्रायः सभी अन्तरराष्ट्रीय आर्थिक संगठनों का सदस्य है। इससे भारत के विदेशी व्यापार को काफी लाभ पहुँचा है।

(५) **द्विपक्षीय व्यापारिक समझौते**—स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् भारत ने विश्व के विभिन्न देशों के साथ व्यापारिक सम्बन्ध बढ़ाने का प्रयत्न किया है। गत वर्षों में भारत ने कई देशों के साथ व्यापारिक समझौते किये हैं। वर्तमान समय में जिन देशों के साथ व्यापारिक समझौते जारी हैं उनमें से मुख्य निम्नलिखित हैं :

(क) **एशिया**—अफगानिस्तान, वर्मा, श्रीलंका, इण्डोनेशिया, ईराक, ईरान, जापान, जोर्डन, उत्तरी कोरिया नेपाल, उत्तरी वियतनाम, मोरक्को, सीरिया (कुल १४ देश)।

(ख) **यूरोप**—बल्गेरिया, चेकोस्लोवाकिया, फ्रांस, पूर्वी जर्मनी, पश्चिमी जर्मनी, यूनान, हंगरी, इटली, पोलैण्ड, रूमानिया, स्वीडन, स्विटजरलैण्ड, यूगोस्लाविया और सोवियत रूस (कुल १४ देश)।

(ग) **दक्षिणी अमरीका**—चिली, ब्राजील।

(घ) **अफ्रीका**—सूडान, ट्यूनिशिया।

इन सभी देशो के साथ किये गये समझौतो मे अलग-अलग शर्तें हैं। प्रत्येक समझौते का विवरण देना यहाँ पर सम्भव नही है। अत हम केवल इन समझौतो की प्रमुख विशेषताओ (Broad Features) का ही उल्लेख करेंगे।

समझौतो की मुख्य विशेषताएं

(१) **उद्देश्य**—इन समझौतो का प्रमुख उद्देश्य परस्पर व्यापारिक सम्बन्ध बढाना है। भारत ने इन समझौतो द्वारा निर्यात व्यापार मे वृद्धि करने का प्रयत्न किया है।

(२) **सामान्य शर्तें**—इन समझौतो के अन्तर्गत यह आवश्यक नही है कि सम्बन्धित देश समझौते मे लिखी हुई वस्तुओ का निश्चित मात्रा मे आयात या निर्यात करें। इनके द्वारा उन वस्तुओ की जानकारी प्राप्त होती है जो एक देश दूसरे को दे सकता है। इससे उनके व्यापार मे वृद्धि होती है। फिर भी कुछ देशो (जैसे पश्चिमी जर्मनी) के साथ ऐसे समझौते किये गये हैं, जिनके द्वारा दी गयी सुविधाओ के बदले भारत को निर्यात कोटा प्राप्त हुआ है।

(३) **अवधि**—सामान्यतया ये समझौते एक वर्ष के लिए किये जाते हैं तथा प्रति वर्ष उनका नवीनीकरण किया जाता है। परन्तु कुछ ऐसे भी देश हैं जिनके साथ २ वर्ष से ५ वर्ष तक की अवधि के लिए समझौते किये गये हैं। भारत-नेपाल व्यापार समझौते के अन्तर्गत कोई निश्चित अवधि नही दी गयी है।

(४) **भुगतान की शर्तें**—भुगतान की शर्तों की दृष्टि से ये समझौते दो प्रकार के हैं (अ) रुपये मे भुगतान वाले समझौते, तथा (आ) स्टर्लिंग मे भुगतान वाले समझौते।

(अ) **रुपये में भुगतान सम्बन्धी समझौते**—रूस तथा पूर्वी यूरोप के देशो, उत्तरी कोरिया, संयुक्त अरब गणराज्य आदि के साथ किये गये समझौतो के अनुसार भुगतान रुपयो मे किया जायेगा। इस प्रकार भारत को तुरन्त विदेशी मुद्रा मे भुगतान नही करना पडेगा। जब इन समझौतो के अन्तर्गत माल का आयात किया जाता है तो सम्बन्धित देश (निर्यातक) के नाम रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया म एक खाता खोला जाता है तथा मंगाये हुए माल का मूल्य उस देश के खाते मे जमा कर दिया जाता है। इसी प्रकार जब माल भारत से बाहर भेजा जाता है तो सम्बन्धित रकम को आयातक देश के खाते मे नाम लिख दिया जाता है, इसमे विदेशी मुद्रा की आवश्यकता तुरन्त नही पडती।

रुपये मे भुगतान सम्बन्धी समझौते रूस, पूर्वी यूरोप के देश, सयुक्त अरब गणराज्य, फ्रांस, इटली, स्विटजरलैण्ड आदि देशो के साथ किये गये हैं। इन समझौतो के कारण भारत के निर्यात व्यापार मे वृद्धि हुई है समझौते से सम्बन्धित देश अपने-अपने देश मे भारत के निर्यात संवर्द्धन प्रयत्नो मे सहयोग देते हैं। इन समझौतो को कार्यान्वित करने के लिए सयुक्त आयोग भी सगठित किये गये है।

जिन देशो के साथ इस प्रकार के समझौते किये गये हैं, वे अन्य देशो के साथ किये गये व्यापार मे मध्यस्थ का कार्य नही कर सकते अर्थात् उनके द्वारा किसी तीसरे पक्ष को वस्तुओ का पुर्निर्यात नही किया जा सकता।

रुपये में भुगतान सम्बन्धी समझौतो की उपयोगिता—इन समझौतो के विषय मे कई प्रकार के मत पाये जाते हैं। जहाँ तक इनसे प्राप्त लाभ का सम्बन्ध है (१) भारत के निर्यात व्यापार मे अवश्य वृद्धि होती है, (२) इनके द्वारा तुरन्त विदेशी विनिमय संकट का सामना नही करना पडता, तथा (३) इनके द्वारा एक प्रकार से अल्पावधि के लिए ऋण मिल जाता है। इस प्रकार हम देश के विकास के लिए आवश्यक वस्तुओ का आयात कर सकते हैं।

दोष—ये समझौते सर्वथा दोषमुक्त नहीं हैं। इन समझौतों के अन्तर्गत जिन वस्तुओं का आयात किया जाता है वे वस्तुएँ प्रायः महँगी हैं। कुछ देश कमाये गये रुपये का उपयोग करने के लिए भारत में अधिक मात्रा में वस्तुएँ खरीदते हैं तथा उन्हें दूसरे देशों में बेच देते हैं। इस प्रकार हमारे परम्परागत बाजारों में ही हमारी वस्तुएँ बेची जाती हैं। मुदालियर समिति ने इन समझौतों के विषय में यही मत व्यक्त किया है। समिति ने इन समझौतों के सम्बन्ध में कुछ सुझाव भी दिये हैं, जैसे (१) यह निश्चय कर लेना चाहिए कि भारतीय निर्यातों का प्रयोग केवल सम्बन्धित देश में ही किया जायगा। (२) इन देशों में निर्यात वृद्धि के लिए अधिक से अधिक प्रयत्न करने चाहिए। (३) समझौते के अन्तर्गत मँगायी जाने वाली वस्तु पर भी आयात नियन्त्रण होना चाहिए। (४) निर्यात सम्बन्धी सभी सौदों का रजिस्ट्रेशन होना चाहिए। इन बातों का ध्यान रखने से इन समझौतों को अधिक उपयोगी बनाया जा सकता है।

(आ) अन्य समझौते—इन समझौतों के अन्तर्गत उन देशों के साथ किये गये समझौते सम्मिलित हैं जिनके साथ किये गये व्यापार का भुगतान रुपयों में नहीं किया जाता है। इन समझौतों का उद्देश्य व्यापारिक सम्बन्ध बढ़ाना है। ये समझौते अफगानिस्तान, श्रीलंका, चिली, फ्रांस, ईरान आदि देशों के साथ किये गये हैं। राज्य व्यापार निगम भी अन्य देशों के साथ व्यापारिक समझौते करता है।

अभ्यास प्रश्न

१ हाल के वर्षों में सरकार ने भारतीय वस्तुओं के निर्यात को बढ़ाने की कौन-कौनसी कार्यवाहियाँ की हैं। (राजस्थान, बी० कॉम० (अन्तिम वर्ष), १९६७)

२ 'एक देश की समृद्धि विदेशी व्यापार पर निर्भर करती है" विवेचना कीजिए। भारतीय व्यापार की मुख्य समस्याओं को संक्षेप में लिखिए। (इलाहाबाद, बी-कॉम० I, १९६५)

३ भारत में नियोजन के प्रारम्भ के समय से भुगतान शेष की समस्या का सिंहावलोकन कीजिए। (दिल्ली, बी० ए०, १९६६)

४ भारत द्वारा विभिन्न देशों के साथ किये गये व्यापारिक समझौतों की सामान्य विशेषताओं का उल्लेख कीजिए। (सागर, बी० ए०, १९६१)

५ GATT की सामान्य विशेषताएँ क्या हैं? भारत को इससे क्या लाभ प्राप्त हुए हैं?

६ संक्षिप्त टिप्पणियाँ लिखिए—(१) साम्राज्य अधिमान, (२) राज्य व्यापार निगम, (३) निर्यात संवर्द्धन योजनाएँ।

७ तृतीय पंचवर्षीय योजनाकाल में निर्यात संवर्द्धन की सम्भावनाओं पर प्रकाश डालिए। (राजस्थान, बी० ए०, १९६१)

42

भारत में रेल परिवहन

(RAIL TRANSPORT IN INDIA)

The extraordinary rapidity with which the construction of railways in India was achieved produced an economic revolution in that country which like all revolutions, was not unaccompanied by suffering. The obligations to save life in times of drought and the necessity of lines of strategic utility have been the cause of rapidity.

—LOVEDAY

भारत में प्रथम रेलगाड़ी १६ अप्रैल १८५३ को बम्बई प्रान्त में बोरी बन्दर से थाना तक चलायी गयी। यह रेल मार्ग ३२ किलोमीटर लम्बा था। उस समय से निरन्तर रेलवे का विकास होता रहा। वर्तमान समय में पूरे देश में ५९७०० किलोमीटर[1] लम्बे रेलमार्ग हैं तथा रेलवे परिवहन का सबसे महत्त्वपूर्ण साधन हो गया है। भारतीय रेलवे का एशिया में प्रथम तथा विश्व में दूसरा स्थान है। रेलवे भारत का सबसे बड़ा राजकीय उद्योग है जिसमें ३,७९७.२ करोड़ रुपये की पूंजी लगी हुई है। रेलवे कर्मचारियों की संख्या १३.५ लाख है। भारतीय रेलवे द्वारा प्रतिदिन दस हजार रेलगाड़ियाँ चलायी जाती हैं जो देश के ७,०३२ रेलवे स्टेशनों से गुजरती हैं। इनके द्वारा प्रतिदिन ९१ लाख यात्री तथा ५.५ लाख टन से भी अधिक माल ढोया जाता है। भारतीय रेलवे की दैनिक आय २.२ करोड़ रुपये है। रेलवे द्वारा राजस्व को प्रति वर्ष लगभग ९०० करोड़ रुपया प्राप्त होता है। रेलवे को वर्तमान अवस्था में पहुँचने में ११९ वर्ष लगे हैं। आगे के पृष्ठों में 'भारतीय रेलवे विकास' के इतिहास पर विहंगम दृष्टि डाली गयी है। रेलवे विकास का इतिहास अत्यन्त विस्तृत है, अत: यहाँ पर केवल प्रमुख घटनाओं का ही उल्लेख किया गया है। सुविधा की दृष्टि से रेलवे के इतिहास को (काल विभाजन की दृष्टि से) निम्नलिखित वर्गों में बाँटा गया है :

१. प्रारम्भ काल से १९वीं शताब्दी तक

(क) पुरानी गारण्टी पद्धति का समय (१८४४-१८६९)

(ख) सरकारी निर्माण तथा प्रबन्ध का समय (१८६९-१८७९)

(ग) नयी गारण्टी पद्धति का समय (१८७९-१९००)

---

[1] एक किलोमीटर ⅝ मील के तुल्य होता है।

२ द्वितीय विश्वयुद्ध के अन्त तक का समय

(क) तीव्र प्रगति और विकास का काल (१९००-१९१४)
(ख) प्रथम महायुद्ध काल (१९१४-१९१९)
(ग) विकास एवं उन्नति का नया काल (१९२०-१९२९)
(घ) आर्थिक मन्दी का काल (१९३०-१९३९)
(ङ) द्वितीय महायुद्ध काल (१९३९-१९४५)

३ द्वितीय महायुद्ध के पश्चात का काल

(क) प्रथम पचवर्षीय योजना के पूर्व का काल (१९४५-१९५१)
(ख) प्रथम पचवर्षीय योजनाकाल (१९५१-१९५६)
(ग) द्वितीय पचवर्षीय योजनाकाल (१९५६-१९६१)
(घ) तृतीय पचवर्षीय योजनाकाल (१९६१ से वर्तमान समय तक)

(१) पुरानी गारण्टी पद्धति का समय (१८४४-१८६९)—भारत में रेलों के विकास के लिए तत्कालीन गवर्नर ने इंगलैण्ड से क्लार्क नामक रेलवे इन्जीनियर को आमन्त्रित किया। क्लार्क ने भारत में रेलवे विकास की एक विस्तृत योजना प्रस्तुत की। भारत में पूँजी का अभाव था। इंगलैण्ड के पूँजीपति भारतीय रेलवे में धन का विनियोजन नहीं करना चाहते थे क्योंकि भारत में लाभ की सम्भावनाएँ अनिश्चित थीं। अतः वे अपने विनियोजन पर निश्चित लाभ की गारण्टी चाहते थे। इस दृष्टि से सर्वप्रथम अगस्त १८४९ में सरकार ने दो अंग्रेजी कम्पनियों के साथ रेलवे निर्माण के लिए समझौते किये जिसे पुरानी गारण्टी प्रथा कहते हैं। इस गारण्टी प्रथा की मुख्य शर्तें निम्नलिखित थीं

(१) कम्पनियों को रेलवे निर्माण के लिए भूमि निःशुल्क दी जायेगी।

(२) सरकार ने कम्पनियों द्वारा लगायी गयी पूँजी पर ४½ से ५% तक ब्याज देने की गारण्टी दी।

(३) विनिमय की दर २२ पैंसे प्रति रुपया निश्चित की गयी।

(४) ब्याज के पश्चात जो लाभ शेष बचेगा वह कम्पनियों तथा सरकार के बीच आधा-आधा बाँट दिया जायेगा।

(५) किराये-भाड़े की दरों पर सहमति देने, गेज नियन्त्रण व निरीक्षण आदि का अधिकार सरकार के पास सुरक्षित था।

(६) रेलवे निर्माण के प्रथम २५ या ५० वर्षों के पश्चात ६ महीने के अन्दर कम्पनी की सम्पत्ति के बराबर धन देकर सरकार रेलवे को खरीद सकती थी।

इस प्रथा के अन्तर्गत सन् १८६९ तक भारत में रेलवे का निर्माण किया गया। इस अवधि में कुल ४,२८७ मील लम्बे मार्ग का निर्माण किया गया परन्तु यह प्रथा देश के आर्थिक हितों के प्रतिकूल थी। वस्तुतः सम्पूर्ण हानि सरकार को सहन करनी पड़ती थी। कम्पनियों ने निर्माण व्यय को भी कम करने का प्रयत्न नहीं किया, अतः धन का अपव्यय हुआ। ब्याज की दर अत्यधिक ऊँची थी। रेलों के निर्माण तथा सचालन पर दोहरा नियन्त्रण होने के कारण रेलवे की आशातीत उन्नति नहीं हुई। इस काल में सरकार को कुल २० करोड़ रुपये की हानि सहन करनी पड़ी।

(२) सरकारी निर्माण तथा प्रबन्ध का समय (१८६९-१८७९)—उपर्युक्त कमियों के कारण पुरानी गारण्टी प्रथा का त्याग किया गया। लार्ड लारेंस ने सरकार द्वारा रेलवे निर्माण का

सुझाव दिया अत १८६६ से सरकार द्वारा रेलो का निर्माण प्रारम्भ हुआ। सरकार द्वारा रेलव का निर्माण करने से निर्माण व्यय मे कमी हुई। पुरानी गारण्टी प्रथा मे निर्माण व्यय २०,००० पौण्ड प्रति मील पड़ता था। यह निर्माण व्यय घटकर १०,६०० पौण्ड प्रति मील हो गया। इस काल मे पटरियो की चौडाई पर भी विचार किया गया। मुख्य रेलवे मार्गों (Trunk Lines) के लिए चौड़ी रेलवे लाइनें (Broad Gauge) तथा सहायक मार्गों (Feeder Lines) के लिए कम चौड़ी लाइन (Metre Gauge and Narrow Gauge) बनायी गयी। दुर्भिक्ष आयोग के सुझावो पर सरकार ने निजी कम्पनियो से पूजी की सहायता लेना भी प्रारम्भ किया। सन् १८८१ ८२ म रेलवे मार्गों की लम्बाई ९ ८७५ मील हो गयी तथा इस अवधि म सरकार ने कुल ११४ करोड रुपये व्यय किया।

(३) **नयी गारण्टी की पद्धति (१८७९-१९००)**—सरकार पर्याप्त मात्रा म रेलवे निर्माण व्यय वहन करने म असमर्थ थी, अत कम्पनिया की सहायता से रेलवे का निर्माण पुन प्रारम्भ किया गया। पुरानी गारण्टी प्रथा की शर्तो मे कुछ सुधार किया गया। सरकार ने रेलमार्गों को दो श्रेणियो के अन्तर्गत रखा। प्रथम श्रेणी के अन्तर्गत वह रेलवे लाइनें रखी गयी, जो रक्षात्मक कार्यों (protective works) के लिए थी। इनका निर्माण सरकार द्वारा तथा दूसरी श्रेणी की रेलवे का निर्माण निजी कम्पनियों के द्वारा होना था। कम्पनियों के साथ सरकार का नया समझौता हुआ। इस समझौते से नयी गारण्टी पद्धति का जन्म हुआ। इस समझौते की मुख्य विशेषताएँ निम्नलिखित थी

(१) कम्पनियो को ३ से ३½% ब्याज की गारण्टी दी गयी।

(२) २५ वर्ष पश्चात या उसके प्रति १० वर्ष पश्चात सरकार रेलवे कम्पनियो का प्रबन्ध अपन हाथ म ले सकती थी।

(३) शुद्ध लाभ का ६०% भाग सरकार के लिए सुरक्षित किया गया।

नयी गारण्टी पद्धति मे विभिन्न कम्पनियो के साथ भिन्न भिन्न शर्तो पर समझौते हुए। इस काल म रेलवे का विकास तीव्र गति स हुआ। सन् १९०२ मे विभिन्न प्रकार के रेलमार्गों की लम्बाई निम्नलिखित थी

(१) ब्राड गेज—१४ ००० मील,

(२) मीटर गेज—११,००० मील, और

(३) नैरो गेज—९६८ मील।

इस काल म कई रेलवे लाइनो को सरकार ने अपने अधिकार मे ले लिया। इस काल के अन्तिम समय म रेलवे से घाटे के स्थान पर लाभ प्राप्त होने लगा। सन् १८९९ म १९०२ तक रेलवे को कुल १ ७५ करोड रुपये का लाभ हुआ।

(४) **तीव्र प्रगति और विकास का काल (१९००-१९१४)**—इस समय तक रेलवे एक लाभप्रद उद्योग माना जाने लगा था अत रेलो की कार्यक्षमता वृद्धि पर भी ध्यान दिया गया। सन् १९०१ म रेलवे प्रबन्ध तथा कार्यक्षमता की जाँच के लिए थामस राबर्टसन नियुक्त किये गये। उन्होने रेलवे बोर्ड स्थापित करने, रेलवे मे सुधार के लिए सामान्य राजस्व से अलग एक रेल कोष स्थापित करने तथा सरकार और कम्पनियो के दोहरे प्रबन्ध की समाप्ति के लिए सुझाव दिया। सरकार ने इन सुझाव को नही माना। फिर भी सन् १९०५ मे रेलो के प्रबन्ध के लिए रेलवे बोर्ड बनाया गया। सन् १९०७ मे सर जेम्स मैके की अध्यक्षता मे एक समिति नियुक्त की गयी। इस समिति ने तत्कालीन रेलमार्गों को देश की आवश्यकता से कम बताया। प्रथम महायुद्ध के समय भारत में कुल रेलमार्गों की लम्बाई ३५ २८५ मील थी।

(५) प्रथम महायुद्ध काल (१९१४-१९१९)—इस अवधि में रेलों के विकास की गति रुक गयी। आवश्यक सामान का आयात बन्द हो जाने के कारण नवीनीकरण का कार्य रोक देना पड़ा। इस प्रकार रेलवे की कार्यक्षमता में ह्रास हुआ। इस समय सरकार के पास धन की भी कमी थी। अतः रेल-भाड़े में वृद्धि की गयी। इस प्रकार युद्ध का प्रभाव रेलवे पर प्रतिकूल पड़ा।

(६) विकास एवं उन्नति का नया काल (१९२०-१९२९)—युद्ध के समय रेलवे की अवस्था खराब हो गयी थी, उसमें सुधार लाना आवश्यक था। अतः नवम्बर १९२० में रेलवे विशेषज्ञ विलियम एकवर्थ की अध्यक्षता में एक समिति नियुक्त की गयी। इस समिति का भारत के रेल इतिहास में एक महत्वपूर्ण स्थान है। इस समिति ने रेलवे यातायात के सभी पक्षों का अध्ययन कर एक विस्तृत रिपोर्ट सन् १९२१ में प्रस्तुत की। समिति ने रेलों की दयनीय अवस्था का वर्णन इस प्रकार किया है, "बीसियों ऐसे पुल हैं जिन पर से आधुनिक भारी बोझों से लदी गाड़ियाँ नहीं चल सकतीं और कितने मील ऐसी रेलें, सैकड़ों ऐसे इंजन और हजारों ऐसे डिब्बे हैं जिनको बदलने की सही तारीख बहुत दिन पहले बीत चुकी है।" समिति के प्रमुख सुझाव निम्नलिखित थे :

(१) रेलवे बोर्ड के संगठन तथा कार्यप्रणाली में सुधार किया जाय। सुधार के सम्बन्ध में समिति ने कई महत्वपूर्ण सुझाव रखे। समिति ने रेलवे बोर्ड का नाम बदलकर रेलवे कमीशन रखने का सुझाव दिया।

(२) एक रेट ट्रिब्यूनल (Rate Tribunal) संगठित किया जाय जिसका कार्य रेल-भाड़ा निश्चित करना तथा झगड़ों का निपटारा करना हो।

(३) रेलवे अपना बजट पृथक बनाये। आय-व्यय का उत्तरदायित्व रेलवे पर हो। रेलवे बजट रेलवे सदस्य द्वारा विधान सभा के समक्ष प्रस्तुत किया जाय। इस प्रकार समिति ने रेलवे वित्त को सामान्य राजस्व से अलग करने का सुझाव दिया।

(४) प्रबन्ध व्यवस्था के सम्बन्ध में समिति के सदस्यों में मतभेद था। बहुमत यह था कि कम्पनियों के अनुबन्ध की समाप्ति पर रेलवे का प्रबन्ध सरकार अपने हाथ में ले ले। अल्पमत का सुझाव था कि सरकारी प्रबन्ध तथा कम्पनियों का प्रबन्ध, दोनों को जारी रखा जाय। समिति के अध्यक्ष रेलवे के राष्ट्रीयकरण के पक्ष में थे।

(५) रेलवे प्रबन्ध व्यवस्था में भारतीय जनता का सहयोग केन्द्रीय तथा स्थानीय परामर्शदात्री समितियों की स्थापना कर प्राप्त किया जाय।

(६) रेलवे ह्रास कोष (Depreciation Fund) तथा संचित कोष (Reserve Fund) की स्थापना की जाय।

सरकार ने वस्तुतः इस समिति के सभी सुझावों को मान लिया। रेट ट्रिब्यूनल के स्थान पर रेल-भाड़ा सलाहकार मण्डल (Railway Rates Advisory Committee) संगठित किया गया। फरवरी १९२३ में रेलवे के राष्ट्रीयकरण की नीति अपनायी गयी। १ सितम्बर, १९२४ से रेलवे वित्त को सामान्य राजस्व से अलग कर दिया गया। इस नयी प्रथा को पृथक परम्परा (Separate Convention) कहते हैं। इसके अनुसार रेलों पर लगी पूँजी का १ प्रतिशत वार्षिक, रेलों की आय में सामान्य राजस्व को दिया जाने लगा। इसके अतिरिक्त इसका निश्चित प्रतिशत भाग या इसकी पिछली बाकी (Accumulate Balances) को देने के पश्चात् शेष लाभ का २०% भाग भी सामान्य राजस्व को देना आवश्यक था। एक संचित कोष भी स्थापित किया गया तथा ह्रास कोष की भी व्यवस्था की गयी। समिति के सुझावों के अनुसार रेलवे बोर्ड का पुनर्गठन किया गया।

इस प्रकार इस काल में रेलवे-व्यवस्था में महत्वपूर्ण परिवर्तन किये गये। रेलवे का विकास भी अधिक हुआ। इसका अनुमान निम्नलिखित तथ्यों से लगाया जा सकता है :

वर्ष	रेलवे लम्बाई	विनियोजित पूंजी	आय
१९१९-२०	३६,७३५ मील	५६६.३८ करोड़ रु०	८६.१५ करोड़ रु०
१९२९-३०	४१,७२४ मील	८५६.७५ ,, ,,	११६.०८ ,, ,,

(७) आर्थिक मन्दी का समय (१९३०–१९३९)—सन् १९२९ की आर्थिक मन्दी का प्रभाव भारतीय रेलवे पर भी पड़ा। रेलवे की आय में कमी तथा व्यय में वृद्धि हुई। सन् १९३०-३१ से १९३५-३६ तक रेलवे के लिए अवसाद का समय था। घाटे की पूर्ति के लिए संचित कोष तथा ह्रास कोष का सहारा लेना पड़ा। रेलवे द्वारा सामान्य राजस्व को अंशदान देना बन्द कर दिया गया। रेलवे व्यय में कमी करने का भी प्रयत्न किया गया। सन् १९३२ में रेलवे लागतों के खर्चों में कमी के लिए सुझाव देने हेतु पोप समिति नियुक्त की गयी। इस समिति ने कई सुझाव दिये जिनसे रेलवे व्यय में कमी हुई। २० अक्तूबर, १९३६ को रेलों की आर्थिक स्थिति की जाँच करने के लिए वैजवुड समिति नियुक्त की गयी। इसने रेलवे आय में वृद्धि, सड़क-रेल समन्वय तथा रेलवे वित्त-व्यवस्था के सम्बन्ध में महत्वपूर्ण सुझाव दिये। इस समिति के प्रमुख सुझाव निम्नलिखित थे

(१) रेलवे व्यय में बचत करने के लिए एक केन्द्रीय बचत अनुसन्धान समिति (Central Economy Research Committee) की स्थापना की जानी चाहिए।

(२) मितव्ययता लाने के लिए भविष्य में रेलों को आठ क्षेत्रों में बाँट दिया जाय।

(३) रेलवे द्वारा सामान्य राजस्व को दिया जाने वाला अंशदान कुछ समय के लिए स्थगित कर दिया जाय। सामान्य संचित व ह्रास कोष की राशि देने के बाद जो आय शेष हो उसका उपयोग रेल-भाड़े में कमी करने तथा यात्रियों को सुविधाएँ देने के लिए किया जाय।

(४) रेलवे ह्रास कोष व संचित कोष की उचित व्यवस्था की जाय।

(५) रेलों के पास जो इंजन तथा डिब्बे बेकार पड़े हैं उनका समुचित उपयोग किया जाय।

(६) समिति ने कुछ सुझाव रेल-सड़क प्रतिस्पर्द्धा को कम करने के सम्बन्ध में थे।

सरकार ने समिति के कुछ सुझावों को मान लिया। विभिन्न प्रयत्नों के फलस्वरूप सन् १९३५-३६ में रेलवे को १.२१ करोड़ रुपये की बचत हुई। इस अवधि में रेलों की लम्बाई में कुल १,३०० मील की वृद्धि हुई। परन्तु सन् १९३७ में बर्मा भारत से पृथक हो गया। अतः २,००० मील रेल-मार्ग बर्मा में चला गया। सन् १९३९-४० में भारतीय रेलवे की कुल लम्बाई ४१,१५६ मील थी तथा उसमें ८५२.५६ करोड़ रुपये की कुल पूंजी लगी हुई थी।

(८) द्वितीय महायुद्ध काल (१९३९-१९४५)—द्वितीय महायुद्ध के समय परिवहन सुविधाओं की माँग में वृद्धि हुई। फलस्वरूप रेलवे की आय में भी वृद्धि हुई। रेलवे द्वारा दी जाने वाली सभी प्रकार की सुविधाएँ बन्द कर दी गयीं। युद्धकाल में रेलवे का नवीनीकरण कार्य बन्द कर दिया गया। २६ ब्रांच लाइनें उखाड़ी गयीं तथा रेलवे सम्बन्धी बहुत सा सामान अन्य देशों को भेजा गया। १९४२ में युद्ध परिवहन बोर्ड (War Transport Board) की स्थापना की गयी। रेलवे ने प्राथमिकता पद्धति (Priority System) को अपनाया जिसके अनुसार रेल द्वारा आवश्यक वस्तुएँ भेजने में प्राथमिकता दी जाने लगी।

इस काल म रेलवे की आर्थिक दशा मे पर्याप्त सुधार हुआ। सन् १६३६-४० मे रेलवे की आय १११५ करोड रुपये थी जो १६४४-४५ म बढकर २३२ ६५ करोड रुपये हो गयी। सन् १६४४ मे एक सुधार कोष (Betterment Fund) भी स्थापित किया गया।

(६) प्रथम पञ्चवर्षीय योजना के पूर्व का काल (१६४५-१६५१)—१५ अगस्त, १६४७ को भारत स्वतन्त्र हुआ तथा देश का विभाजन हुआ। विभाजन के कारण लगभग ७,००० मील लम्बा रेलमार्ग, जिसकी पूंजीगत लागत १३६ करोड रुपय थी, पाकिस्तान मे चला गया। रेलवे के अन्य समान जैसे इजन, डिब्बे आदि का वितरण लम्बाई तथा ट्रैफिक के आधार पर किया गया। वर्कशाप का विभाजन स्थिति के आधार पर किया गया। विभाजन के कारण प्रशिक्षित कर्मचारियों का अभाव हो गया क्योंकि पाकिस्तान मे जाने वाले *प्रशिक्षित कर्मचारियो की सख्या अधिक थी।* विभाजन के प्रभाव का अनुमान निम्नलिखित सारणी से लगाया जा सकता है :

देश	इजन	सवारी के डिब्बे	माल के डिब्बे	रेलमार्ग (मील)
भारत	७,२४८	२०,१६६	२,१०,०६६	३०,०१७ १५
पाकिस्तान	१,३३६	४,२८०	४०,२२१	६,६५७ ८८

विभाजन के पश्चात् प्रथम ७½ महीनों मे रेलवे को २७४ करोड रुपये का घाटा हुआ। शरणार्थी समस्या का प्रभाव भी रेलवे पर पडा। इस प्रकार स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् रेलवे के सामने कई प्रमुख समस्याएँ थी। समस्याओं पर विचार करने तथा रेलवे की *कार्यक्षमता बढाने व* मितव्ययता लाने के लिए सन् १६४६ मे के० सी० नियोगी की अध्यक्षता मे एक समिति नियुक्त की गयी थी। परन्तु विभाजन के कारण यह समिति मार्च १६४८ स प० हृदयनाथ कुंजरू की अध्यक्षता म कार्य करन लगी। समिति ने अपनी रिपोर्ट १६४६ मे प्रस्तुत की। कुंजरू समिति के मुख्य सुझाव निम्नलिखित थे

(१) रेलवे कर्मचारियों की कार्यक्षमता अत्यन्त कम है। उसे बढाने का प्रयत्न किया जाय।

(२) रेलवे मे कार्य विश्लेषण पद्धति (Job Analysis System) अपनायी जानी चाहिए।

(३) रेलों के सचालन एव प्रबन्ध के लिए एक वैधानिक सगठन (Statutory Organization) स्थापित किया जाना चाहिए।

(४) रेलो का विद्युतीकरण किया जाय तथा अनुसन्धान पर अधिक ध्यान दिया जाय।

(५) रेलवे द्वारा सामान्य राजस्व को दिया जाने वाला अशदान स्थायी रूप से जारी रखना उचित है।

(६) कर्मचारियों को खाद्यान्न सम्बन्धी मिलने *वाली सुविधाएँ* समाप्त कर दी जाएँ तथा इसके परिणामस्वरूप महँगाई भत्ते मे वृद्धि की जानी चाहिए।

(७) रेलों के पुनर्वर्गीकरण (Regrouping) का कार्य पांच वर्षों के लिए स्थगित रखा जाय।

सरकार ने खाद्यान्न सम्बन्धी सुविधा के विषय मे दिये गये सुझाव के अतिरिक्त सभी सुझावों को मान लिया। सन् १६४६ मे भारत सरकार ने रेलो की पुनर्स्थापना के लिए विश्व बैंक से ३४ करोड डालर का ऋण लिया। तीसरी श्रेणी के यात्रियों की सुविधाओं मे वृद्धि की गयी। ३१ मार्च, १६५१ को भारतीय रेलवे की लम्बाई ३४,०७६ मील थी तथा उसमे विनियोजित कुल पूंजी ८३८·१७ करोड रुपये थी।

भारतीय रेलों का पुनर्वर्गीकरण
(Regrouping of Railways)

स्वतन्त्रता के पश्चात् देशी रियासतों की रेलवे भी भारतीय सघ मे आ गयी। अगस्त १९४९ मे भारत मे कुल ३७ रेलवे व्यवस्थाएँ (Railway Systems) थी, अत तत्कालीन व्यवस्था मे सुधार करना आवश्यक हो गया। कुँजरू समिति ने पुनर्वर्गीकरण (Regrouping) के कार्यों को पाँच वर्ष तक स्थगित करने का सुझाव दिया था। परन्तु सन् १९५० मे पुन सामूहीकरण के सम्बन्ध मे सुझाव देने के लिए एक समिति नियुक्त की गयी। इस समिति ने रेलवे को ६ क्षेत्रों मे बाँटने का सुझाव दिया। परन्तु विभिन्न समस्याओ के कारण रेलवे को ८ समूहों मे विभाजित किया गया। वर्तमान समय मे रेलवे के ९ क्षेत्र हैं। १ अक्तूबर, १९६६ को रेलवे का नवाँ क्षेत्र 'दक्षिण-केन्द्रीय रेलवे' बनाया गया जिसका मुख्य कार्यालय सिकन्दराबाद है। रेलवे क्षेत्रों का विवरण निम्नलिखित है

रेलो का वर्गीकरण[1]

क्षेत्र तथा स्थापन तिथि	सम्मिलित रेलवे	प्रधान कार्यालय	रेलमार्ग (३१ मार्च १९६१ तक) (किलोमीटर मे)	
१ दक्षिण रेलवे	एम० एस० एम० रेलवे	मद्रास	ब्रॉड गेज	२,३३४
१४-४-१९५१	सदर्न इण्डियन रेलवे		मीटर गेज	४,९५७
	मैसूर रेलवे		नैरो गेज	१५३
२ मध्य रेलवे	जी० आई० पी० रेलवे	बम्बई	ब्रॉड गेज	४,५६३
५-११-१९५१	निजाम स्टेट रेलवे		मीटर गेज	३८३
	सिन्धिया स्टेट रेलवे		नैरो गेज	७९६
	धौलपुर रेलवे			
३. पश्चिमी रेलवे	बी० बी० एण्ड सी० आई०	बम्बई	ब्रॉड गेज	२,७६१
५-११-१९५१	रेलवे, सौराष्ट्र, कच्छ		मीटर गेज	६,०७६
	राजस्थान और जयपुर		नैरो गेज	१,२०२
४ उत्तरी रेलवे	ई० पी० रेलवे	नई दिल्ली	ब्रॉड गेज	६,८९९
१४-४-१९५२	जोधपुर, बीकानेर तथा		मीटर गेज	३,४३२
	ई० आई० आर० के तीन		नैरो गेज	२६०
	विभाग			
५ उत्तरी पूर्वी रेलवे	ओ० टी० रेलवे	गोरखपुर	ब्रॉड गेज	५२
१४-४-१९५२	बी० बी० एण्ड सी० आई० का		मीटर गेज	४,९१३
	फतेहगढ जिले का विभाग			
६ पूर्वी रेलवे	तीनों समूहो को छोड़कर	कलकत्ता	ब्रॉड गेज	४,०१३
१-८-१९५५	शेष ई० आई० रेलवे		नैरो गेज	१३१
७ दक्षिणी पूर्वी रे०	बी० एन० रेलवे	कलकत्ता	ब्रॉड गेज	५,३२३
१-८-१९५५			नैरो गेज	१,४७६

१ इण्डिया, १९७०, पृष्ठ ३९५।

		मालीगांव		
८ उ० पू० सीमान्त रेलवे १५-१-१९५८	आसाम रेलवे	गौहाटी	ब्रॉड गेज	६४५
			मीटर गेज	२,८९६
			नैरो गेज	८७
९ दक्षिण केन्द्रीय रेलवे २-१०-१९६६	दक्षिण तथा मध्य रेलवे के भाग	सिकन्दराबाद	ब्रॉड गेज	२,६०६
			मीटर गेज	३,१८३
			नैरो गेज	३७०

पुन सामूहीकरण करते समय इस बात का ध्यान रखा गया था कि (१) जहाँ तक सम्भव हो प्रत्येक रेलवे प्रबन्ध सम्पूर्ण क्षेत्र के लिए उपयुक्त हो, (२) सामूहीकरण इस प्रकार से किया जाय कि तत्कालीन प्रबन्ध व्यवस्था एव कार्यक्षमता पर कम से कम प्रभाव पडे, तथा (३) प्रत्येक क्षेत्र इतना विस्तृत हो कि उसमें एक मुख्य केन्द्र स्थापित किया जा सके। पुन सामूहीकरण के समय कुछ आपत्तियाँ भी उठायी गयी थीं। इन आपत्तियो का सक्षिप्त विवरण निम्नलिखित है

पुनर्वर्गीकरण के विपक्ष मे तर्क—(१) विरोध व्यक्त करने वालो ने कुँजरू समिति का सहारा लिया। इस समिति ने पुनर्गठन को स्थगित करने का सुझाव दिया था। (२) प्रत्येक क्षेत्र विस्तृत रखना था, अत यह तर्क प्रस्तुत किया गया कि जिस क्षेत्र म पाँच-छह हजार मील लम्बा रेलमार्ग होगा उस क्षेत्र का नियन्त्रण एक केन्द्र से करना कठिन हो जायेगा। (३) पुन सामूहीकरण के कारण कर्मचारियो के स्थानान्तर सम्बन्धी कठिनाइयाँ पडेगी। इनमे कर्मचारियो के आवास की व्यवस्था मे भी कठिनाई आयेगी। (४) प्रत्येक क्षेत्र पृथक होने के कारण वर्कशाप, सांख्यिकी, अन्वेषण आदि के लिए अलग-अलग केन्द्र स्थापित करने पडेंगे। इससे कार्य दोहरा (duplicate) हो जायेगा तथा व्यय म वृद्धि हो जायगी। (५) नियन्त्रण तथा निरीक्षण पर्याप्त न होने से कार्य मे देर लगेगी तथा इसका प्रभाव कार्यक्षमता पर प्रतिकूल पडेगा। (६) पुन सामूहीकरण द्वारा प्राप्त मितव्ययता का जो अनुमान सरकार ने लगाया था वह भी बहुत कम था। (७) सामूहीकरण से रेल परिचालन मे भी कठिनाइयाँ आयेंगी।

पक्ष मे तर्क—इन तर्कों के होते हुए भी सरकार ने पुनर्वर्गीकरण पर जोर दिया। सरकार ने यह तर्क प्रस्तुत किया कि (१) सामूहीकरण से विभिन्न प्रबन्ध एव वित्त-व्यवस्था मे एकरूपता आयेगी। इसके अतिरिक्त ट्रैफिक, सामान तथा शक्ति व्यवस्था सम्बन्धी कठिनाइयाँ दूर होंगी। (२) पुन सामूहीकरण प्रबन्ध मे मितव्ययता होगी तथा कार्यक्षमता में वृद्धि होगी। उस समय रेलवे में ४२ विभिन्न व्यवस्थाएँ लागू थीं। पुन सामूहीकरण से प्रबन्ध व्यवस्था सरल हो जायेगी तथा सेवाओं के स्तर मे समानता होगी। (३) एक रेलवे क्षेत्र का निर्देशन एक केन्द्रीय स्थान से होगा जिससे एक विस्तृत क्षेत्र मे उपलब्ध सभी सामान का समुचित उपयोग हो सकेगा। इससे पूँजीगत व्यय मे कमी होगी। (४) परिचालन व्यवस्था तथा वर्कशाप का अभिनवीकरण (rationalisation) होगा। इससे प्रत्येक क्षेत्र मे अनुसन्धान तथा कार्य विधि मे सुधार होगा। (५) विभिन्न रेलवे सगठनों के मिलने के स्थानों पर दोहरा प्रबन्ध समाप्त हो जायेगा। इसमे कार्य मे शीघ्रता होगी तथा कम कर्मचारियो की आवश्यकता होगी।

वस्तुत पुन सामूहीकरण से रेलवे को लाभ तथा हानियाँ दोनों ही हुई हैं। भाडा दरो तथा प्रशासन सम्बन्धी व्यय मे वृद्धि हुई है। सन् १९५१-५२ मे कार्यशील व्यय कुल आय का ७८·८% था जो १९६७-६८ मे बढकर ८४ प्रतिशत हो गया। परन्तु पुन सगठन के पश्चात् रेलवे की आय में वृद्धि अवश्य हुई है। रेल दुर्घटनाओं की घटती हुई सख्या कार्यक्षमता मे लाभ की ओर सकेत करती है। पुन सगठन के आधारभूत सिद्धान्त अच्छे थे और इस कार्य की सफलता का अनुमान

इतने अल्पकाल में नहीं लगाया जा सकता। दक्षिणी क्षेत्र को दो भागों में विभाजित करने की समस्या पर विचार किया जा रहा है।

योजनाकाल में रेलवे का विकास

प्रथम पंचवर्षीय योजना—सन् १९४८ में ही रेलवे की अवस्था ठीक नहीं थी। आर्थिक मन्दी, द्वितीय विश्वयुद्ध तथा देश-विभाजन का रेलवे पर बुरा प्रभाव पड़ा था, अतः प्रथम पंचवर्षीय योजना के प्रारम्भ के समय रेलवे की सबसे बड़ी समस्या पुनर्स्थापन (Rehabilitation) की थी। इसके अतिरिक्त रेलवे के समक्ष कुछ अन्य समस्याएँ भी थीं, जैसे—नये क्षेत्रों में रेलवे का निर्माण करना, ८५८ मील लम्बी रेलवे लाइनें जो युद्धकाल में उखाड़ दी गयी थीं, पुनः बनाना तथा भारत और आसाम के बीच रेल सम्बन्ध जारी करने के लिए नयी रेलवे लाइन का निर्माण करना। इन समस्याओं को ध्यान में रखते हुए रेलों के पुनर्वास तथा विस्तार के लिए ४०० करोड़ रुपये की व्यवस्था की गयी।

प्रगति—इस योजनाकाल में रेलों के विकास पर कुल ४२४ करोड़ रुपये व्यय हुआ। योजनाकाल में ८३० मील लम्बे पुराने रेलमार्गों को चालू किया गया तथा ३८० मील लम्बे नये रेलमार्गों का निर्माण किया गया। इसके अतिरिक्त ४६ मील लम्बे रेलमार्ग को नैरो गेज से मीटर गेज में परिवर्तित किया गया। योजनाकाल में आसाम में रेल लिंक बनायी गयी जो १४२ मील लम्बी है। इसके अतिरिक्त गंगा ब्रिज प्रोजेक्ट पर कार्य जारी था।

प्रथम योजना में आत्मनिर्भरता की दिशा में रेलवे ने महत्त्वपूर्ण कार्य किया। चितरंजन लोकोमोटिव वर्क्स तथा टाटा इंजीनियरिंग तथा लोकोमोटिव की स्थापना प्रति वर्ष क्रमशः २०० तथा १०० इंजन बनाने के लिए की गयी। पेरम्बूर में Integral Coach Factory स्थापित की गयी। योजना के अन्तिम वर्ष में भारतवर्ष के डिब्बों का वार्षिक उत्पादन १४,५०० था। रेलवे वर्कशाप में भी सुधार किया गया। विद्युतीकरण के क्षेत्र में भी सन्तोषजनक प्रगति हुई। तृतीय श्रेणी के यात्रियों की सुविधाओं में वृद्धि हुई। योजनाकाल में कर्मचारियों के लिए ६६,००० क्वार्टर बनवाये गये तथा उनके वेतन-स्तर में सुधार किया गया। योजना अवधि में रेलवे की आय में भी सन्तोषजनक वृद्धि हुई।

प्रथम योजना के अन्त में (१९५५-५६) रेलमार्गों की लम्बाई ३४,७३६ मील थी।

द्वितीय पंचवर्षीय योजना—द्वितीय योजनाकाल में व्यापार तथा उद्योग की बढ़ती हुई आवश्यकताओं को ध्यान में रखते हुए रेलवे विस्तार पर अधिक ध्यान दिया गया। इस योजनाकाल में रेलवे पर १,१२५ करोड़ रुपये व्यय करने की व्यवस्था की गयी जिसमें से १५० करोड़ रुपये रेलवे की आय से, ७५० करोड़ रुपये केन्द्रीय बजट से तथा २२५ करोड़ रुपये घिसावट कोष से व्यय करना था। रेलवे की योजना पर कुल व्यय १,८८५ करोड़ रुपये होना था। यदि रेलवे की आय में वृद्धि हो तो १,१२५ करोड़ रुपये से अधिक व्यय भी किया जा सकता था।

प्रगति—द्वितीय योजनाकाल में ४०८ मील लम्बी ब्रॉड गेज तथा ३८२ मील लम्बी मीटर गेज की नयी रेलवे लाइनें बनायी गयीं। १,००६ मील ब्रॉड गेज तथा २५१ मील मीटर गेज की लाइनों पर निर्माण कार्य चल रहा था। ६,२२३ मील लम्बे मार्ग का नवीनीकरण किया गया।

द्वितीय पंचवर्षीय योजना के अन्त में (सन् १९६०-६१) भारत में रेलवे लाइनों की कुल लम्बाई ५६,६३२ किलोमीटर थी। रेलवे में पूँजी (capital at charge) १,५२८ करोड़ रुपये लगी हुई थी। सन् १९६०-६१ में रेलवे की कुल आय ४५६ करोड़ रुपये थी। इस वर्ष कार्यशील व्यय ३६२ करोड़ रुपये था।

द्वितीय योजनाकाल में यात्रियों की सुविधाओं में पर्याप्त वृद्धि की गयी। पैसेंजर ट्रैफिक में २७% तथा माल ढुलाई में २६% की वृद्धि हुई। इस योजनाकाल में रेल विकास कार्यक्रमों पर (१०० करोड़ रुपये के लक्ष्य में से) कुल ८६० करोड़ रुपये व्यय किये गये।

तृतीय पंचवर्षीय योजना—इस योजना में रेलवे के लिए ८९० करोड़ रुपये की व्यवस्था की गयी थी। इसके अतिरिक्त ३५० करोड़ रुपये ह्रास कोष तथा ३५ करोड़ रुपये स्टोर सस्पेंस एकाउन्ट से विकास कार्यक्रम पर व्यय करने का प्रावधान था।

निम्नलिखित सारणी द्वारा विभिन्न योजनाओं के अन्तर्गत रेलवे विकास का ज्ञान होता है :

योजनाओं के अन्तर्गत रेलवे की क्षमता में वृद्धि[1]

	१९५०-५१	१९६८-६९
१ रेलमार्ग (हजार कि० मी०)	६१	७१
२ इंजनों की संख्या (हजार)	९	१२
३ डिब्बों की संख्या (लाख)	२.१	३.८
४ यातायात		
करोड़ यात्री (किलोमीटर)	६,६५१	११,३३८
माल-(करोड़ टन)	७.३	१७.८

वर्तमान स्थिति—भारतीय रेलों के विकास को देखने से पता लगता है कि उनकी क्षमता में सर्वांगीण वृद्धि हुई है किन्तु रेलों के खर्च में तेजी से वृद्धि हो रही है। उदाहरण के तौर पर १९५०-५१ में रेलों पर खर्च कुल आय का ७९.९ प्रतिशत था जो १९७०-७१ में ८४.३ प्रतिशत तक बढ़ गया है। रेलों में बचत बिल्कुल समाप्त हो गयी है। १९७०-७१ में रेलों पर लगायी गयी कुल पूँजी पर ०.७ प्रतिशत का घाटा था। १९७१-७२ में भी घाटा रहने का अनुमान लगाया गया है। यह स्थिति निश्चय ही असन्तोषजनक है।

भारतीय रेलों द्वारा योजनाकाल में निम्नलिखित सुविधाएँ दी गयी हैं :

(१) यात्रियों की भीड़ कम करने के लिए अधिक गाड़ियाँ चलायी गयी हैं। अनेक मार्गों पर लाइनों को दोहरा किया गया है।

(२) लम्बी यात्रा के मुसाफिरों के लिए रिजर्वेशन (आरक्षण) व्यवस्था आरम्भ की गयी है।

(३) नयी गाड़ियों के अतिरिक्त अनेक क्षेत्रों में गाड़ियों की गति बढ़ायी गयी है।

(४) लम्बी यात्रा वाली गाड़ियों में सोने की सुविधाएँ उपलब्ध करायी गयी हैं।

(५) वातानुकूलित तथा कुछ तृतीय श्रेणी की जनता गाड़ियाँ चलायी गयी हैं, जिससे सामान्य जनता को बहुत राहत मिली है।

(६) चलती गाड़ियों में भोजन व्यवस्था में वृद्धि तथा सुधार किये गये हैं।

(७) गाड़ियों में पंखे, स्टेशन पर शीतल जल, प्रतीक्षालय तथा नये प्लेटफार्म और पुल आदि व्यवस्थाओं में सुधार किये गये हैं।

(८) *यात्रियों के लिए विशेष अवसर पर वापसी टिकट सुविधा चालू की गयी है।*

(९) *अधिक क्षेत्रों में बिजली से चलने वाली गाड़ियों की व्यवस्था की गयी है।*

---

[1] (रेलवे बजट १९७१-७२)

उपर्युक्त सुविधाओ से भारतीय रेलो द्वारा प्रदत्त सेवाओ के स्तर मे निश्चय ही उन्नति हुई है और जनता को लाभ पहुँचा है।

रेलवे वित्त
(Railways Finance)

सन् १६२४-२५ मे रेलवे राजस्व को सामान्य राजस्व से अलग कर दिया गया। सामान्य राजस्व द्वारा रेलवे निर्माण के लिए धन दिया जाता है, अत यह निश्चय किया गया कि रेलवे द्वारा सामान्य राजस्व को प्रति वर्ष कुल पूंजी पर एक निश्चित दर से लाभाश दिया जाने लगा। इस लाभाश की दर का निश्चय समय समय पर किया जायगा। रेलवे की वित्तीय नीति के सम्बन्ध मे स्वतन्त्रता प्रदान की गयी। लाभाश की दर का निश्चय सन् १६४६, १६५४, १६६० तथा १६६५ मे किया गया। वर्तमान समय म १६६५ के निर्णय के अनुसार रेलवे द्वारा सामान्य राजस्व को लाभाश दिया जाता है जिसके निर्णय निम्नलिखित हैं

(i) ३१ मार्च १६६४ तक रेलवे मे लगी हुई पूंजी पर ५ ५% से सामान्य राजस्व को लाभाश दिया जायगा (इसके पूर्व यह दर ४ ५% थी)।

(ii) ३१ मार्च, १६६४ के पश्चात् लगायी गयी पूंजी पर लाभाश की दर ६% होगी (इपले यह दर ५ ७५% थी)।

(iii) उपर्युक्त दरें १ अप्रैल, १६६५ से लागू की गयी हैं।

(iv) यात्री-कर को समाप्त कर दिया गया है।

प्रति वर्ष रेलवे बजट, रेल मन्त्री द्वारा ससद मे प्रस्तुत किया जाता है

वित्तीय परिणाम—निम्नलिखित सारणी द्वारा रेलवे की वित्तीय दशा पर प्रकाश पडता है

रेलवे की वित्तीय स्थिति (करोड रुपये मे)

विवरण	१६५०-५१	१६७१-७२ (बजट के अनुसार)
१ पूंजी	८२७	३,४७३
२ कुल आय	२६३	१,०७०
३ कुल व्यय	२१५	६०३
४ शुद्ध आय	४८	१६७
५ पूंजी पर शुद्ध आय%	५ ८	४ ८

सन् १६७०-७१ में कुल आय १ ००४ करोड रुपये थी। रेलवे का व्यय कुल आय का ८४ ३% था। सामान्य कोष व सामान्य राजस्व मे हिस्सा देने तथा अन्य व्ययो के पश्चात् रेलवे का घाटा २४ करोड रुपया था।

रेलवे ने निम्न प्रकार के कोषो का भी निर्माण किया है .

(१) ह्रास सचित कोष (Depreciation Reserve Fund)—इस कोष मे प्रति वर्ष रेलवे द्वारा धन जमा किया जाता है। सन् १६६६-७१ की अवधि मे, सन् १६६५ के निर्णय के अनुसार प्रति वर्ष १३० करोड रुपया जमा करने की व्यवस्था की गयी। वित्तीय दशा के अनुसार इस राशि मे परिवर्तन भी किया जा सकता है।

(२) विकास कोष (Development Fund)—इस कोष का निर्माण रेलवे उपभोक्ताओं की सुविधाओ मे वृद्धि, श्रम कल्याण आदि के लिए किया गया है।

(३) आगम संचित कोष (Revenue Reserve Fund)—इसका निर्माण सामान्य राजस्व को निश्चित रकम दिये जाने के लिए (यदि आय कम हो) तथा रेलवे के घाट की पूर्ति के लिए किया गया है। सन् १९५६-५७ से इस कोष मे नयी राशि जमा नही की गयी है।

(४) रेलवे पेंशन कोष (Railway Pension Fund)—इसका निर्माण अप्रैल सन् १९६४ में, रेलवे कर्मचारियो को पेंशन देने हेतु किया गया है।

रेलवे की समस्याएँ—वर्तमान समय मे भारतीय रेलो के समक्ष निम्नलिखित समस्याएँ हैं, जिनका निवारण आवश्यक है

(१) बिना टिकट यात्रा,
(२) यात्रियो को दी जाने वाली सुविधाओ मे वृद्धि की आवश्यकता,
(३) रेल दुर्घटनाएँ,
(४) गेज (Gauge) की समस्या,
(५) रेलो की सम्पत्ति की पुनर्स्थापना, और
(६) विद्युतीकरण की समस्या, आदि।

उपर्युक्त समस्याओ के समाधान हो जाने पर भारतीय रेलवे की तुलना संसार के किसी भी देश की रेलवे मे की जा सकती है। रेलवे भारत का सबसे बडा सार्वजनिक उद्योग है। अत इसकी कार्यक्षमता बनाये रखना तथा निरन्तर विकास करना सरकार का प्रमुख कर्तव्य है।

अभ्यास-प्रश्न

१ स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद भारत म रेल परिवहन की क्या प्रगति हुई है ?
(इलाहाबाद, १९६०)

२ स्वतन्त्रता प्राप्ति के उपरान्त भारत मे रेलो का जो विकास और उन्नति हुई है उसका वर्णन कीजिए। रेलो के क्षेत्रो मे सामूहीकरण से रेलो की कार्यक्षमता म कहाँ तक वृद्धि हुई है ? इस पर अपना मत व्यक्त कीजिए। (आगरा, बी० ए० १९६१)

३ हमारे देश म द्वितीय पचवर्षीय योजना मे रेल परिवहन के विकास का विवरण दीजिए।
(विक्रम, बी० ए० १९६२)

४ देश विभाजन के पश्चात् रेल परिवहन की क्या समस्याएँ रही हैं ? इन समस्याओ के समाधान के लिए सरकार ने क्या कदम उठाया है ? (बिहार, बी० ए० १९६१)

५ पचवर्षीय योजनाओ के अन्तर्गत रेलवे परिवहन के विकास के विषय में लिखिए ? भारतीय रेलवे की *वर्तमान समस्याएँ क्या हैं ?* (बिहार, बी० ए०, १९६३)

६ रेलवे के आर्थिक लाभ क्या हैं ? योजनाओ के अन्तर्गत रेलवे विकास के विषय म लिखिए।
(पटना, बी० ए०, १९६३)

43 सड़क परिवहन

(ROAD TRANSPORT)

'All social progress resolves itself into the making of good Roads"
—RUSKIN

सडक विकास

विकसित सडक परिवहन आर्थिक एव सामाजिक प्रगति का द्योतक है। सडको की उन्नति मानव की उन्नति की प्रतीक है। उन्नतिशील देशो मे सडक परिवहन विकसित अवस्था मे पाया जाता है। बेन्थम का यह कथन सर्वथा उपयुक्त है, 'सडक किसी देश की नाडियाँ तथा नसें हैं, जिनसे उस देश का विकास प्रवाहित होता है।' कृषि उद्योग आदि का विकास सडको के विकास पर बहुत कुछ अशो मे निर्भर है। भारत जैसे अर्द्ध-विकसित कृषि-प्रधान देश मे सडको का अत्यधिक महत्त्व है, क्योंकि देश के आन्तरिक भागो को एक-दूसरे से सम्बद्ध करने के लिए सडक उपयुक्त साधन है।

सडक परिवहन की विशेषताएँ—सडक परिवहन की कुछ महत्त्वपूर्ण विशेषताएँ हैं जिनके कारण इसका प्रयोग दिन प्रतिदिन बढता जा रहा है। यह विशेषताएँ निम्नलिखित हैं :

(१) माल भेजना सरल—सडक मार्ग से माल एक द्वार से ठीक दूसरे द्वार तक या एक गोदाम से दूसरे गोदाम तक पहुंचता है। इसमे माल लादने और उतारने में बहुत सुविधा होती है।

(२) सस्ता—सडक परिवहन अधिक सस्ता है क्योंकि इसमे स्टेशन, तार, खम्भे या अन्य व्यवस्थाएँ करना आवश्यक नही है और यह व्यवस्थाएँ की भी जायँ तो सस्ती पडती हैं।

(३) समय की बचत—सडक मार्ग से माल तथा यात्री अधिक शीघ्रता से यथास्थान पहुँच सकते हैं जिससे समय की बहुत बचत होती है।

(४) टूट-फूट का भय नहीं—सडक परिवहन मे गेज की कठिनाई नही है अत माल रास्ते मे उतारना नही पडता जिससे माल की टूट-फूट होने का भय नही रहता तथा इस क्रिया मे व्यय होने वाला समय भी बच जाता है।

(५) निर्माण सरल—सडक मार्ग अत्यन्त दुर्गम क्षेत्रो मे भी बनाये जा सकते हैं और अन्य साधनो की तुलना मे सरल एव सुविधाजनक रूप मे निर्मित किये जा सकते हैं।

(६) संरक्षण आसान—सड़क मार्गों का मम्मरण या संरक्षण भी कम खर्चीला एवं सरल है।

भारत में सड़कों का विकास—प्राचीनकाल में भारत में बड़ी-बड़ी सड़कें थीं। मौर्यकाल में विभिन्न प्रकार की सड़कें पायी जाती थीं जिनका उल्लेख कौटिल्य के अर्थशास्त्र में किया गया है। हिन्दूकाल में भी कृषि, व्यापार, प्रशासन, युद्ध आदि के कारण सड़कों का विकास किया गया। मुगलकाल में कुछ महत्त्वपूर्ण सड़कों का निर्माण किया गया; शेरशाह सूरी का नाम सड़क निर्माण के लिए इतिहास में प्रसिद्ध है परन्तु मुगलकाल में देश के आन्तरिक भागों की सड़कों की अवस्था शोचनीय थी।

ब्रिटिशकाल के आरम्भ में सड़कों पर ध्यान नहीं दिया गया। ईस्ट इण्डिया कम्पनी का प्रमुख उद्देश्य व्यापार एवं शासन रहा, अतः सड़कों के विकास सम्बन्धी दायित्व को कम्पनी ने नहीं समझा। फिर भी इस दशा में कुछ व्यक्तिगत प्रयत्न किये गये। लार्ड विलियम बैंटिंक ने ग्राण्ड ट्रंक रोड को पूरा कराया जिसके द्वारा कलकत्ता, दिल्ली और पंजाब सड़क द्वारा सम्बद्ध हो गये। लॉर्ड डलहौज़ी के समय से भारत के सड़क यातायात के इतिहास में नये युग का प्रारम्भ हुआ। डलहौज़ी ने यातायात के साधनों के महत्त्व को स्वीकार किया और सन् १८५५ में केन्द्रीय सार्वजनिक निर्माण विभाग की स्थापना की गयी।

देश में राजनीतिक शान्ति बनाये रखने तथा देश के विभिन्न भागों से कच्चा माल इंगलैण्ड भेजने हेतु रेल परिवहन का विकास किया गया। सरकार ने रेल परिवहन के विकास पर अधिक ध्यान दिया तथा सड़कों की उपेक्षा की गयी। सड़कों के विकास का कार्य प्रान्तीय सरकारों का दायित्व माना गया। केवल सैनिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण सड़कों के विकास का दायित्व केन्द्रीय सरकार का रहा। प्रान्तीय सरकारों ने भी अपना दायित्व स्थानीय सरकारों (Local Self Governments) पर छोड़ दिया। इस प्रकार प्रथम महायुद्ध के समय तक भारतीय सड़कों की अवस्था सन्तोषजनक नहीं थी।

सन् १९२७ में डॉ० एम० आर० जयकर की अध्यक्षता में सड़क विकास समिति (Road Development Committee) नियुक्त की गयी। इस समिति ने अपनी रिपोर्ट में सड़क विकास एवं उसके प्रबन्ध के सम्बन्ध में महत्त्वपूर्ण सुझाव दिये। समिति ने इस बात पर जोर दिया कि सड़कों के विकास का कार्य स्थानीय एवं प्रान्तीय सरकारों की क्षमता के बाहर है। अतः केन्द्रीय सरकार को यह दायित्व लेना चाहिए। समिति के सुझावों के अनुसार सन् १९२९ में केन्द्रीय सड़क विकास कोष (Central Road Development Fund) प्रारम्भ किया गया। पैट्रोल पर आयात-कर तथा उत्पादन-कर लगाकर इस कोष में धन संग्रह किया जाता था। इस कोष की सहायता से सन् १९३९ तक सड़कों का विकास धीरे-धीरे किया जाता रहा। सन् १९३४ में केन्द्रीय सरकार द्वारा भारतीय सड़क काँग्रेस (Indian Road Congress) गठित की गयी। इस काँग्रेस में केन्द्रीय, प्रान्तीय तथा सेना विभाग के इन्जीनियर थे, जिनका सम्बन्ध सड़कों से था। द्वितीय विश्वयुद्ध काल में सैनिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण सड़कों का सुधार किया गया।

नागपुर योजना—भारतीय सड़क काँग्रेस के सुझाव पर केन्द्रीय सरकार ने सन् १९४३ में चीफ इन्जीनियरों का एक सम्मेलन नागपुर में किया। इस सम्मेलन में सड़कों के विकास के लिए एक विस्तृत बीसवर्षीय योजना बनायी गयी जो नागपुर योजना के नाम से प्रसिद्ध है। इस योजना में देश की आवश्यकताओं को ध्यान में रखते हुए विभिन्न प्रकार की सड़कों के निर्माण के लक्ष्य निर्धारित किये गये। इस योजना के मुख्य तत्त्व अग्रलिखित थे :

(१) योजना के अन्तर्गत सडको को पाँच वर्गों मे विभाजित किया गया जिनके नाम इस प्रकार थे—राष्ट्रीय मार्ग (National Highways), प्रादेशिक मार्ग (Provincial Highways), बडी जिला सडकें (Major District Roads), छोटी जिला सडकें (Minor District Roads) तथा ग्राम सडकें (Village Roads)।

(२) योजना का यह उद्देश्य था कि विकसित कृषि क्षेत्र मे कोई भी गाँव सडक से पाँच मील दूर तथा अविकसित कृषि क्षेत्र मे दस मील से अधिक दूर न हो। योजना के पूर्ण होने पर सडकें देश की आवश्यकताओ को कम से कम आगामी बीस वर्षों तक पूरा कर सकेंगी।

(३) सडको के लिए आवश्यक भूमि प्राप्त करने के लिए उचित कार्यवाही करने तथा इजीनियरो के प्रशिक्षण, तकनीकी सहायता आदि का उत्तरदायित्व केन्द्रीय सरकार पर रखा गया।

(४) नागपुर योजना के प्रमुख लक्ष्य निम्नलिखित थे

(करोड रुपयो मे)

	लम्बाई (हजार मीलो मे)	व्यय
राष्ट्रीय सडकें	२५	५०
राज्य की सडकें	६५	१२१
जिले की बडी सडकें	६०	६२
जिले की छोटी सडकें	४००	८०
ग्रामो की सडकें	१५०	३०
युद्ध के वर्षों की कमी पूरा करने के लिए	—	१०
पुल बनाने के लिए	—	४५
भूमि प्राप्त करने के लिए	—	५०
योग	७००	४४८

देश-विभाजन के कारण भारतीय सघ मे नागपुर योजना के अनुसार ३,३१,००० मील लम्बी सडको का निर्माण करना था जिसमे से पक्की सडकें १,२३,००० मील तथा कच्ची सडकें २,०८,००० मील करने का लक्ष्य था।

केन्द्रीय सरकार ने नागपुर योजना के कुछ सुझावो को स्वीकार कर लिया तथा केन्द्रीय और राज्य सरकारो द्वारा इस योजना पर १ अप्रैल, १९४७ से कार्य प्रारम्भ कर दिया गया। एक केन्द्रीय सडक सगठन (Central Road Organisation) की स्थापना की गयी परन्तु आर्थिक कठिनाइयो, सडक-निर्माण सामग्री की कमी तथा प्रशिक्षित कर्मचारियो के अभाव के कारण इस योजना की प्रगति धीमी रही। प्रथम योजना के प्रारम्भ होने तक राष्ट्रीय मार्गों पर कुल ६ ३ करोड रुपये तथा अन्य प्रकार की सडकों पर २७ ११ करोड रुपये व्यय किये गये। नागपुर योजना की प्रगति का अनुमान निम्नलिखित तथ्यो से लगाया जा सकता है

वर्ष	पक्की सडकें	कच्ची सडकें
१९४७	८८,००० मील	१,३२,००० मील
१९५०-५१	९८,००० ,,	१,५१,००० ,,

प्रथम पंचवर्षीय योजना—प्रथम पंचवर्षीय योजना मे सडक विकास के लिए १५६ करोड रुपये की व्यवस्था की गयी। योजनाकाल मे ६८,१५६ मील लम्बी नयी सडकों का निर्माण हुआ जिसमे से २४,०७१ मील पक्की सड़कें तथा ४४,०८८ मील लम्बी कच्ची सड़कें बनायी गयी। नयी सडको के निर्माण के अतिरिक्त १७,३११ मील लम्बी सडको का सुधार किया गया। योजनाकाल मे सडको के विकास पर वास्तविक व्यय १४७ करोड रुपये हुआ।

द्वितीय पंचवर्षीय योजना—द्वितीय पचवर्षीय योजना मे सडक के विकास के लिए २२६ करोड रुपये की व्यवस्था की गयी परन्तु वास्तविक व्यय २२४ करोड रुपये हुआ। योजनाकाल मे पिछड़े हुए क्षेत्रो का विशेष ध्यान रखा गया। सामुदायिक विकास योजनाओं तथा राष्ट्रीय प्रसार सेवा क्षेत्रो मे जनसहयोग द्वारा सडको के विकास का ज्ञान निम्नलिखित सारणी मे होता है

वर्ष	पक्की सड़कें	कच्ची सड़कें
नागपुर योजना के लक्ष्य	१,२३,०००	२,०८,०००
अप्रैल १, १९५१	९८,०००	२,४७,०००
मार्च ३१, १९६१	१,४४,०००	२,५०,०००

इस प्रकार द्वितीय पचवर्षीय योजना के अन्त मे भारत मे कुल ३,९४,००० मील लम्बी सडक थी, जो नागपुर योजना के लक्ष्य से अधिक थी।

सडक विकास की पचवर्षीय योजना—सन् १९६१ मे प्रान्तीय तथा केन्द्रीय मुख्य इंजीनियरो ने सडक विकास के लिए एक बीसवर्षीय योजना (१९६१-१९८१) तैयार की। आगामी योजनाओं मे सडक विकास कार्यक्रम इस योजना के लक्ष्यों को ध्यान मे रखकर तैयार किया जायेगा। इस योजना के लक्ष्य निम्नलिखित थे :

(१) सन् १९८१ मे देश मे पक्की सडको की लम्बाई ३,५२,००० मील तथा कच्ची सडकों की लम्बाई ४,०५,००० मील होनी चाहिए।

(२) विकसित तथा कृषि-प्रधान क्षेत्रो मे कोई भी गाँव पक्की सडक से चार मील से अधिक दूर तथा किसी भी प्रकार की सडक से डेढ मील से अधिक दूर नहीं होगा।

(३) समस्त महत्त्वपूर्ण केन्द्र पक्की सडको से मिले होगे।

(४) अर्द्ध-विकसित क्षेत्र मे कोई गाँव पक्की सडक से ८ मील तथा किसी भी सडक से ३ मील से अधिक दूर नही होगा।

(५) अर्द्ध-विकसित व कृषि के अयोग्य क्षेत्र मे कोई भी गाँव पक्की सडक से १२ मील तथा किसी भी सडक से ५ मील से अधिक दूर नही होगा।

इस योजना पर ४,७०० करोड रुपये व्यय होंगे जिसे पचवर्षीय योजनाओं के अनुसार निम्न प्रकार बाँटा गया है :

(करोड रुपये)

योजना	व्यय
द्वितीय पचवर्षीय योजना	
तृतीय ,, ,,	४७०
चतुर्थ ,, ,,	९४०
पंचम ,, ,,	१,४१०
	१,८८०

तृतीय पचवर्षीय योजना—तृतीय योजना का सडक विकास कार्यक्रम बीसवर्षीय योजना का एक भाग था। योजनाकाल मे सडक विकास पर कुल ३२४ करोड रुपये व्यय करने की व्यवस्था थी जिसमे से २४४ करोड रुपये प्रान्तीय सरकारो द्वारा तथा ८० करोड रुपये केन्द्रीय सरकार द्वारा व्यय होने थे। बाद मे यह राशि बढ़ाकर ४५४ करोड रुपये कर दी गयी। इस योजना के मुख्य लक्ष्य निम्नलिखित थे

(१) २५,००० मील लम्बी पक्की सडको का निर्माण करना।

(२) १,००० मील पुरानी सडको का सुधार तथा ३५० मील लम्बी शाखा सडकें बनाना।

(३) देश के सीमावर्ती भागो मे सडको की व्यवस्था करना तथा पिछडे हुए भागो म सडक निर्माण को प्राथमिकता देना।

(४) सडक अनुसन्धान कार्य को गतिशील बनाना।

तृतीय योजनाकाल तक प्रगति तथा वर्तमान अवस्था—परिवहन तथा जहाजरानी मन्त्रालय की सन् १९६६ ६७ की रिपोर्ट के अनुसार प्रथम, द्वितीय तथा तृतीय योजनाकाल मे सडक विकास पर कुल ८२५ करोड रुपया व्यय किया गया, जिसमे से तृतीय योजनाकाल मे ४४५ करोड रुपये व्यय किये गये। सन् १९५१-६६ की अवधि मे सडको की निम्नलिखित स्थिति थी

एक अप्रैल	भारत में सडको का विकास		(लाख किलोमीटर म)
	पक्की सडकें	कच्ची सडकें	योग
१९५१	१ ४६	२ ४२	३ ८८
१९६६	३ २५	६ ४७	९ ७२

तृतीय योजना मे सडको के विकास पर किये जाने वाले व्यय को ३२४ करोड रुपये से बढाकर ४५४ करोड रुपये कर दिया गया। परन्तु योजना के अन्त तक (३१ मार्च, १९६६) तृतीय योजनाकाल मे कुल ४४५ करोड रुपये व्यय किये गये। तृतीय योजना के अन्त मे भारत म सडको की कुल लम्बाई ८ ९ लाख किलोमीटर थी, जिसमे से २ ८३ लाख किलोमीटर पक्की सडकें तथा ६ ०७ लाख किलोमीटर लम्बी कच्ची सडकें थी। अप्रैल १९६६ मे पक्की सडको की लम्बाई ३ २४ लाख किलोमीटर थी।

चतुर्थ योजना तथा सडकें—चतुर्थ योजना मे सडको के विकास सम्बन्धी सुझाव देने के लिए एक कार्यशील दल की नियुक्त की गयी थी। इस दल ने अपनी रिपोर्ट मे चतुर्थ योजना मे सडको पर कुल १,१५० करोड रुपये व्यय करने का सुझाव दिया है (५०० करोड रुपये केन्द्रीय सरकार तथा ६५० करोड रुपये प्रान्तीय सरकारो द्वारा)। भारतीय सडक परिवहन विकास सघ (I R T D A) ने चतुर्थ योजनाकाल मे सडक विकास कार्यक्रमो पर कुल १,७०० करोड रुपये व्यय करने का सुझाव दिया है। चतुर्थ योजना (१९६९-७४) की रूपरेखा मे ४१८ करोड रुपये केन्द्रीय सरकार द्वारा तथा ४११ करोड रुपये राज्य सरकारो का द्वारा व्यय करने का प्रस्ताव किया गया है।

अन्तरराष्ट्रीय तुलना—भारत सडक विकास की दृष्टि से अब भी अन्य देशो की तुलना में बहुत पीछे है। इस तथ्य का अनुमान अग्र सारणी से लगाया जा सकता है.

विभिन्न देशों में सड़कों की स्थिति

देश	कुल सड़कें (हजार मील)	प्रति वर्गमील क्षेत्र में सड़कों की लम्बाई (मील)	प्रति लाख जनसंख्या पर सड़कों की लम्बाई (मील)
जापान	५६७०	४०	७२८
ब्रिटेन	१३८६	२०	३८१
अमरीका	३,०५५४	११	२,११४
आस्ट्रेलिया	५०००	०२	६,६०२
भारत	५९८०	०५	१०६

सारिणी से स्पष्ट है कि भारत सड़क विकास की दृष्टि से बहुत पीछे है।

सड़क परिवहन का विकास (मोटर परिवहन)

(१) **द्वितीय विश्वयुद्ध के प्रारम्भ होने तक**—भारत में मोटर परिवहन का विकास प्रथम विश्वयुद्ध के पश्चात प्रारम्भ हुआ। सन् १९१३ तक केवल ३,०९८ मोटरों का आयात किया गया। जनसेवा के रूप में मोटरों का प्रयोग प्रथम विश्वयुद्ध के पश्चात ही किया गया। धीरे-धीरे मोटरों की संख्या में वृद्धि होने लगी। सन् १९२०-२१ में मोटरों की संख्या ३७,००० हो गयी। सन् १९३५-३६ तक यह संख्या बढ़कर १,१८,००० हो गयी।

मोटर यातायात के नियमन के लिए सर्वप्रथम सन् १९१४ में Motor Vehicles Act पास किया गया। इस एक्ट के द्वारा मोटरों के रजिस्ट्रेशन, ड्राइवरों को लाइसेंस देने आदि के विषय पर नियम बनाये गये। स्थानीय निकायों को भी मोटर परिवहन के सम्बन्ध में नियम बनाने का अधिकार दिया गया। युद्ध के पश्चात मोटरों की संख्या में तेजी से वृद्धि होने लगी। आर्थिक मन्दी (सन् १९२९) के समय से ही रेल तथा मोटर यातायात में प्रतिस्पर्द्धा प्रारम्भ हो गयी। मोटर यातायात अपनी विशेषताओं के कारण अधिक लोकप्रिय सिद्ध हुआ। सन् १९३२ में इस प्रतियोगिता की समस्या पर विचार करने के लिए मिचेल किर्कनेस समिति नियुक्त की गयी। इस समिति ने मोटर यातायात के कड़े नियमन पर जोर दिया। सन् १९३७ में नियुक्त वैजवुड समिति ने भी मोटर यातायात के नियमन का सुझाव दिया। इन सुझावों को कार्यान्वित करने के लिए सन् १९३९ में मोटरवाहन अधिनियम (Motor Vehicles Act) पास किया गया। इस विधान द्वारा मोटरों के लिए परमिट लेना अनिवार्य कर दिया गया। राज्य परिवहन अधिकारी नियुक्त किये गये। इस एक्ट में मोटर यातायात के नियमन तथा नियन्त्रण के लिए विस्तृत नियम बनाये गये। सन् १९६५-६६ में इस विधान में संशोधन किया गया।

(२) **द्वितीय विश्व-युद्धोत्तरकाल**—द्वितीय विश्वयुद्ध काल में मोटर यातायात के समक्ष कठिनाइयाँ आयीं। यातायात के साधनों की माँग बढ़ी परन्तु मोटरों का आयात बन्द हो गया, पेट्रोल मिलना कठिन हो गया तथा आवश्यक पुर्जे भी मिलने बन्द हो गये। सन् १९४५ में सिद्धान्त व्यवहार संहिता (Code of Principles and Practices) लागू की गयी जिसके द्वारा मोटरों की सेवा ७५ मील तक सीमित कर दी गयी। मोटरों पर करों में भी भारी वृद्धि की गयी तथा अनेक प्रतिबन्ध लगाये गये। इन प्रतिबन्धों की कड़ी आलोचना की जाने लगी। अतः सन् १९५० में मोटरवाहन कर जाँच समिति नियुक्त की गयी। समिति ने करों में कमी करने, सिद्धान्त व्यवहार संहिता को ३ वर्षों तक स्थगित करने आदि के सम्बन्ध में सुझाव दिया परन्तु सरकार इन सुझावों को कार्यान्वित न कर सकी।

(३) योजनाकाल में विकास—सन् १९५३ मे नियुक्त परिवहन अध्ययन दल (Study Group on Transport) ने मोटर यातायात की समस्याओ का अध्ययन किया तथा मोटरो के सेवाक्षेत्र का ७५ से १५० मील कर देने व करो में कमी करने का सुझाव दिया। सन् १९५६ में मोटर परिवहन अधिनियम मे आवश्यक सशोधन किये गये। सन् १९५८ में केन्द्रीय सरकार ने श्री मसानी की अध्यक्षता मे सडक परिवहन पुनर्गठन समिति (Road Transport Re-organisation Committee) नियुक्त की। समिति ने सडक परिवहन को रेलवे से अधिक आवश्यक बताया तथा मोटर यातायात की उन्नति के लिए महत्त्वपूर्ण सुझाव दिये। मई १९५९ मे श्री नियोगी की अध्यक्षता म परिवहन नीति एव समन्वय समिति (Transport Policy and Co ordination Committee) नियुक्त की गयी (सन् १९६३ में श्री नियोगी ने समिति से त्यागपत्र दे दिया तथा इस समिति के अध्यक्ष श्री तरलोकसिंह हुए)। समिति की रिपोर्ट के अनुसार सरकारी नियमो द्वारा ही परिवहन के साधनो मे समन्वय स्थापित किया जा सकता है। समिति ने इस बात पर जोर दिया है कि सडक परिवहन का विकास इस प्रकार किया जाय कि उसके द्वारा निश्चित योजनाओ तथा क्षेत्रो मे उचित लागत पर सेवाएँ प्रदान की जा सकें।

भारत मे मार्च १९४७ में कुल २ १२ लाख मोटरगाडियाँ चालू थीं। इनकी सख्या मार्च १९६८ म १३ लाख हो गयी। वस्तुत देश मे भारवाहक ट्रको का अभाव है। सन् १९६२ में इनकी सख्या केवल १ ७७ लाख थी। तृतीय योजना के अन्त में ट्रको की सख्या ३ ५० लाख हो गयी। भारत म सडक-परिवहन की आवश्यकताएँ तेजी से बढती जा रही हैं। परिवहन मन्त्रालय की सन् १९६६ ६७ की रिपोर्ट के अनुसार भारत मे सडक परिवहन का योजनाओ के अन्तर्गत विकास निम्न सारणी के अनुसार हुआ है

भारत मे सडक परिवहन का विकास

वर्ष	माल-सेवाएँ (मि० टन किलोमीटर)	यात्री सेवाएँ (मि० पैसेंजर किलोमीटर)
१९५० ५१	५,५००	२३,१३३
१९५५ ५६	८,९५०	३१,४७७
१९६० ६१	१७,३००	४८,०००
१९६५ ६६	३५,०००	८५,०००

केन्द्रीय सडक परिवहन निगम (Central Road Transport Corporation Ltd)—इस निगम का सगठन सावजनिक क्षेत्र मे किया गया है। इसका कार्य सडक परिवहन द्वारा माल-सेवाओ का कार्य करना है। वर्तमान समय मे निगम मुख्यत उत्तरी-पूर्वी क्षेत्र मे कार्यशील है। अप्रैल,१९६६ म निगम के पास २८० ट्रक थे। यह निगम रेलवे के साथ सामजस्य रखते हुए गौहाटी तथा उसके आगे माल सेवाएँ प्रदान करता है।

सरया समिति के सुझाव[1]—१९६५ म परिवहन विकास परिषद् की सिफारिश पर भारतीय सडको के लिए वित्त व्यवस्था सम्बन्धी सुझाव देने के लिए ६ विशेषज्ञो की एक समिति नियुक्त की गयी। इस समिति की रिपोर्ट फरवरी १९६८ मे प्रस्तुत की गयी। इसके मुख्य सुझाव अग्रलिखित है

[1] *Economic Times* Feb 12, 1968

(१) भारतीय सडक परिवहन को प्राथमिक श्रेणी का व्यवसाय माना जाना चाहिए।
(२) सडक परिवहन की नयी कम्पनियो को आयकर से 'विकास छूट' दी जानी चाहिए।
(३) सडक परिवहन सहकारी समितियो को प्रोत्साहन दिया जाना चाहिए।
(४) सडको का सुधार किया जाना चाहिए।
(५) सडक परिवहन से सम्बन्धित क्षेत्रो मे बहुमुखी करो मे कमी की जानी चाहिए।

सरकार इन सुझावो पर विचार कर रही है। सम्भवत चतुर्थ योजनाकाल मे इनको कार्यान्वित किया जा सकेगा।

सडक परिवहन की समस्याएँ तथा कठिनाइयाँ—भारत मे सडक परिवहन का विकास प्रथम पचवर्षीय योजना के प्रारम्भ तक मन्द गति से हुआ। गत कुछ वर्षों मे इसके विकास मे तीव्रता आयी है, परन्तु कुछ कठिनाइयो के कारण इसका विकास अपेक्षित सीमा तक नही हो पाया है। वे कठिनाइयाँ निम्नलिखित है

(१) अच्छी तथा पर्याप्त सडको की कमी, (२) असगठित स्थिति, (३) सरकार की ढिल-मिल नीति, (४) करो की अत्यन्त ऊँची दर, (५) मोटरो का अधिक मूल्य तथा उच्च सचालन व्यय, और (६) राष्ट्रीयकरण—विभिन्न राज्यो मे सरकारी सेवा प्रारम्भ की गयी है तथा राज्य सरकारो द्वारा मोटर यातायात का धीरे-धीरे राष्ट्रीयकरण किया जा रहा है। परन्तु अब भी सम्पूर्ण माल यातायात तथा ७०% यात्री यातायात निजी क्षेत्र के अन्तर्गत है। माल सेवाओ का राष्ट्रीयकरण पचम पचवर्षीय योजना से प्रारम्भ होगा। राष्ट्रीयकरण के भय के कारण मोटर यातायात का विकास कम हो रहा है। फिर भी सस्तापन, सडको का सुधार, पिछडे हुए क्षेत्रो का विकास, राष्ट्र रक्षा, भाडे मे एकरूपता तथा जन-सुविधा आदि की दृष्टि से सडक परिवहन का राष्ट्रीयकरण करना उचित है।

रेल-सडक स्पर्द्धा तथा समन्वय
(Rail-Road Competition and Co-ordination)

प्रथम महायुद्ध तक भारत मे रेलवे का विकास पर्याप्त सीमा तक हो चुका था। आन्तरिक यातायात के साधनो के रूप मे रेलवे एक महत्त्वपूर्ण साधन था। इसके अतिरिक्त कोई ऐसा अन्य साधन नही था जो रेलवे के साथ स्पर्द्धा कर सके। परन्तु महायुद्ध के पश्चात् मोटर यातायात का विकास प्रारम्भ हुआ। अत जनता के समक्ष आन्तरिक यातायात के दो साधन थे—रेल परिवहन और मोटर परिवहन। इस प्रकार इन दोनो साधनो मे स्पर्द्धा प्रारम्भ हुई। यह स्पर्द्धा सन् १९३० तक बहुत बढ गयी तथा रेलवे को अधिक हानि होने लगी। इसका प्रभाव सडक यातायात पर भी प्रतिकूल पडा क्योंकि रेलवे को घाटा होने के कारण केन्द्रीय सरकार सडक विकास तथा मोटर यातायात की उपेक्षा करने लगी तथा सडक विकास कार्य प्रान्तीय विषय बना दिया गया।

देश के आर्थिक विकास के लिए सडक तथा रेल यातायात दोनो का महत्त्व है। इनमे से एक की भी उपेक्षा नही की जा सकती। वस्तुत रेल और सडक एक-दूसरे के प्रतिस्पर्द्धी नहीं, बल्कि पूरक है। इस सम्बन्ध मे कृषि आयोग के शब्द विचारणीय है—"सडकें किसानो की जोतो को बाजारो और पास के स्टेशनो मे सयुक्त करती हैं। इसके विपरीत, रेलें उत्पादन-क्षेत्र और दूर के उपभोक्ताओ के बीच सम्बन्ध स्थापित करती हैं तथा नगर के उत्पादको और हल कृत्रिम खाद और कपडा खरीदने वाले किसानो को मिलाती हैं। अच्छी और पर्याप्त सडको के बिना कोई भी रेलवे, परिवहन के लिए पर्याप्त सामग्री इकट्ठी नही कर सकती। इसके विपरीत, सबसे अच्छी सडकें भी फसल का उत्पादन करने वालो को उपभोक्ताओ के सम्पर्क मे नही ला सकतीं।"

प्रतिस्पर्द्धा के कारण—यद्यपि सडक तथा रेल यातायात के कार्य क्षेत्र अलग अलग हैं परन्तु सडक यातायात की कुछ विशेषताओ के कारण उपभोक्ता सडक यातायात का अधिक प्रयोग करते हैं। मोटर यातायात की कुछ विशेषताएँ है, जो रेल यातायात मे नही पायी जाती, जैसे—(१) मोटर यातायात रेलवे की अपेक्षा सस्ता है। (२) इसके द्वारा माल को उपभोक्ता के स्थान तक सरलता से पहुँचाया जा सकता है। (३) मार्ग परिवर्तन की भी स्वतन्त्रता रहती है। (४) यात्रा मे किसी भी स्थान पर माल को चढाया व उतारा जा सकता है। (५) इसके लिए कम समय तथा कम पूँजी की आवश्यकता होती है। (६) माल व्यक्तिगत दायित्व पर भेजा जाता है, अत नुकसान की सम्भावना कम रहती है। पहले मोटर यातायात पर नियन्त्रण भी नही था, कर्मचारियो के काम के घण्टे निश्चित नही थे और माल तथा सवारी ले जाने की कोई सीमा भी नही थी। अत मोटर यातायात रेल यातायात की अपेक्षा अधिक सुविधाजनक था। इन सभी कारणो से मोटर यातायात तथा रेल यातायात मे प्रतिस्पर्द्धा बढती गयी। १९३० के पश्चात् यह समस्या इतनी गम्भीर हो गयी कि सरकार को जाच कराने के लिए समितियाँ नियुक्त करनी पडी।

रेल-सडक की प्रतिस्पर्द्धा की जाँच के लिए सन् १९३२ मे सरकार ने मिचेल किर्कनेस समिति नियुक्त की। सर के० जी० मिचेल भारत सरकार के सडक इन्जीनियर और एच० एल० किर्कनेस रेलवे बोर्ड के विशेष अधिकारी इस समिति के सदस्य थे। समिति ने अपनी रिपोर्ट १९३३ म प्रस्तुत की। इस समिति के प्रमुख सुझाव निम्नाकित थे

(१) प्रतिस्पर्द्धा को दूर करने के लिए मोटर यातायात पर पूर्ण नियन्त्रण रखा जाय तथा मोटरो के आने जाने के क्षेत्र निश्चित कर दिये जायें।

(२) रेलवे को सडको पर अपनी मोटरें चलाने का अधिकार दिया जाय।

(३) सयोजन के लिए प्रान्तो मे केन्द्रीय परामर्शदात्री परिषद तथा कमिश्नरियो मे विभागीय समितिया सगठित की जायें।

सन् १९३३ म शिमला म रेल सडक सम्मेलन (Rail Road Conference) हुआ। इस सम्मेलन म रेल सडक समन्वय के लिए कुछ प्रस्ताव पास किये गये। इस सम्मेलन का यह सुझाव था कि सडक यातायात को ग्रामीण क्षेत्रो म एकाधिकार प्रदान किया जाय तथा केन्द्र और प्रान्तो मे समाजन के लिए विशेष विभाग स्थापित किय जायें।

सन १९६३ म एक रेलवे एक्ट पास किया गया तथा समन्वय सम्बन्धी प्रस्ताव को कार्यान्वित करन का प्रयत्न किया गया। इस एक्ट के द्वारा भारतीय रेलो को समानान्तर सडको पर अपनी मोटर चलाने का अधिकार दिया गया। सन् १९३५ म परिवहन मन्त्री की अध्यक्षता में एक परिवहन परामर्शदात्री समिति की स्थापना की गयी जिसका कार्य यातायात के समस्त साधनो को सयोजित कर ऐसी नीति प्रस्तुत करना था जो प्रान्तो द्वारा अपनायी जा सके। सन् १९३७-३८ म केन्द्रीय परिवहन विभाग स्थापित किया गया तथा परिवहन के समस्त साधन—रेल, सडक, जल तथा वायु और डाक व तार विभाग इसके अधीन कर दिये गये। इस विभाग की स्थापना से समन्वय का कार्य अत्यन्त सरल हो गया।

वैजवुड समिति—यह समिति सन् १९३६ मे रेलो की जांच के लिए नियुक्त की गयी थी। समिति न रेल मोटर स्पर्द्धा के प्रश्न पर भी विचार किया। इस समिति ने यह मत व्यक्त किया कि—(१) प्रान्तीय सरकारो द्वारा किया गया सडक परिवहन का नियमन तथा नियन्त्रण अपर्याप्त था, (२) प्रान्तीय सरकारो की दोषपूर्ण नीति के कारण असगठित तथा अकार्यक्षम मोटर परिवहन को प्रोत्साहन मिला है। समिति ने सडक तथा रेल दोनो के महत्व को स्वीकार किया तथा दोनो

को ही देश के विकास के लिए आवश्यक बताया । समिति का मत था कि सड़क परिवहन का नियमन केवल रेलवे की सुरक्षा के लिए ही न किया जाय बल्कि उसका नियमन उसके विकास की गति को सुदृढ बनाने के लिए भी आवश्यक था । अनुचित प्रतिस्पर्द्धा से रेलों को बचाने के लिए इस समिति ने मोटर परिवहन को नियन्त्रित करने का सुझाव दिया । प्रमुख सुझाव इस प्रकार थे

(१) जनता की आवश्यकताओं के अनुसार मोटरों को लाइसेंस देना, (२) मोटरों द्वारा ले जाने वाले यात्रियों व माल की सीमा निर्धारित करना, (३) माल ढोने वाली मोटरों के लिए प्रादेशिक लाइसेंस प्रणाली को अपनाना, (४) टाइम-टेबिल और किराये का निश्चित होना, (५) प्रान्तीय सरकारों की मोटर-कर नीति में एकरूपता लाना, (६) व्यक्तिगत और सार्वजनिक दोनों प्रकार की मोटरों पर एक-से नियम लागू करना, आदि ।

इस समिति ने रेलवे को भी सड़क परिवहन में भाग लेने का सुझाव रखा तथा रेल व सड़क के बीच सम्भावित समन्वय पर जोर दिया । इन सुझावों को कार्यान्वित करने के लिए सन् १९३९ में मोटरगाड़ी अधिनियम (Motor Vehicles Act) पास किया गया । इस एक्ट द्वारा मोटर यातायात को नियन्त्रित किया गया । इस एक्ट के दो प्रमुख उद्देश्य थे । प्रथम, मोटर यातायात का नियमन करना तथा द्वितीय, समन्वय स्थापित करना ।

मोटरगाड़ी अधिनियम की विशेषताएँ

(१) प्रत्येक राज्य में रीजनल ट्रासपोर्ट ऑफीसर नियुक्त किये जायें जो अपने क्षेत्र में लाइसेंस जारी करेंगे । समन्वय के लिए सम्पूर्ण प्रान्त में एक प्रान्तीय परिवहन अधिकारी होगा ।

(२) प्रत्येक मोटर के पास परमिट होना अनिवार्य है । परमिट पाने वाले को मोटर चलाने के पूर्व मोटरगाड़ी की उपयुक्तता (fitness) का एक प्रमाण पत्र देना पड़ता है । उसके अतिरिक्त गति की सीमा को पार न करना, अधिक भीड़ न करना आदि शर्तों को भी मानना पड़ता है ।

(३) मोटरों के ड्राइवरों के काम के घण्टे निश्चित किये गये । ड्राइवरों के लिए काम के ६ घण्टे प्रतिदिन तथा ५४ घण्टे प्रति सप्ताह निश्चित किये गये तथा पाँच घण्टे काम करने के पश्चात् आधा घण्टा विश्राम देना अनिवार्य कर दिया गया ।

(४) प्रत्येक मोटरगाड़ी का तीसरे पक्ष के प्रति नुकसान के लिए बीमा कराना अनिवार्य कर दिया गया ।

(५) परमिट देते समय परिवहन अधिकारी निम्नलिखित बातों का ध्यान रखते है—हानिकारक प्रतिस्पर्द्धा को रोकना, मोटरों के लिए सड़क की उपयुक्तता, जनता की आवश्यकता और सुविधा । साधारणतया मोटरों का कम दूरी तथा शीघ्रता से नष्ट होने वाले पदार्थों को ले जाने के लिए लाइसेंस दिया जाता है ।

इस अधिनियम द्वारा मोटर यातायात पर सरकार का नियन्त्रण कड़ा हो गया । द्वितीय विश्वयुद्ध काल में यातायात के साधनों की माँग अधिक होने के कारण रेल तथा सड़क में कोई प्रतिस्पर्द्धा नहीं हुई । सन् १९४५ में सिद्धान्त व्यवहार संहिता (Code of Principles and Practices) लागू किया गया । इसके अनुसार मोटर व्यवसाय का क्षेत्र ७५ मील तक सीमित कर दिया गया । ७५ मील से अधिक दूरी तक मोटर द्वारा माल ले जाने की अनुमति उसी समय दी जाती थी जब रेलें माल ले जाने में असमर्थ हों ।

सन् १९५० में मोटर वाहन कर जाँच समिति नियुक्त की गयी । अन्य प्रश्नों के साथ समिति ने रेल-सड़क समन्वय के प्रश्न पर भी विचार किया । समिति ने यह मत व्यक्त किया कि मोटर परिवहन पर जब तक कर-भार अधिक है तब तक रेल-सड़क प्रतिस्पर्द्धा की कोई सम्भावना नहीं

है। इसके अतिरिक्त उपभोक्ता को किसी भी साधन का प्रयोग करने की स्वतन्त्रता होनी चाहिए। सन् १९५३ में परिवहन आयोजन अध्ययन दल (Study Group on Transport Planning) की नियुक्ति की गयी। इस अध्ययन दल ने बताया कि एक ओर रेलवे की क्षमता देश की माँग के लिए अपर्याप्त है, दूसरी ओर ३०% से ४०% तक सडक-मार्ग क्षमता का उपयोग नहीं हो रहा है, अत समिति ने सुझाव दिया कि यातायात के विभिन्न साधनो मे समन्वय की आवश्यकता है।

सन् १९५८ मे सडक परिवहन की जाँच के लिए मसानी समिति की नियुक्ति की गयी। इस समिति ने भी यह विचार व्यक्त किया कि यातायात के ऐसे साधन को सहायता देना जो कार्यक्षम नही है, राष्ट्र हित के विरुद्ध है। उपभोक्ता को यातायात के किसी भी साधन का प्रयोग करने की स्वतन्त्रता होनी चाहिए। इस समिति ने सडक परिवहन प्रशासन व्यवस्था मे सुधार लाने के लिए महत्त्वपूर्ण सुझाव दिया। इन सुझावो के अनुसार अन्तर-राज्य मार्गों पर सडक परिवहन सेवाओ के विकास, समन्वय एव नियमन के लिए भारत सरकार द्वारा अन्तर्राज्य परिवहन आयोग (Inter-State Transport Commission) की स्थापना की गयी।

परिवहन नीति और समन्वय समिति (Committee on Transport Policy and Co-ordination)—इस समिति की नियुक्ति के० सी० नियोगी की अध्यक्षता मे जुलाई १९५९ मे की गयी। समिति ने अन्तरिम रिपोर्ट अक्टूबर १९६१ मे प्रस्तुत की। श्री नियोगी के त्यागपत्र दे देने के कारण श्री तरलोकसिंह की अध्यक्षता मे इस समिति ने कार्य किया तथा फरवरी १९६६ मे अन्तिम रिपोर्ट प्रस्तुत की गयी। समिति ने भारत मे परिवहन सम्बन्धी समस्त समस्याओ पर विचार किया तथा परिवहन के समस्त साधनो के समन्वित विकास पर जोर दिया। समिति के विचार तथा सुझाव निम्नलिखित थे

(i) परिवहन विकास के लिए एक राष्ट्रीय नीति अपनायी जानी चाहिए। इस नीति का उद्देश्य देश की परिवहन सम्बन्धी भावी आवश्यकताओ की पूर्ति करना तथा परिवहन साधनो के उचित महत्त्व को स्वीकार करना होना चाहिए।

(ii) परिवहन समन्वय की दृष्टि से विभिन्न परिवहन साधनो के बीच ट्रैफिक का उचित बटवारा ही पर्याप्त नही होगा, बल्कि ऐसे मापदण्ड निर्धारित किये जाने चाहिए जिनसे यह बटवारा उचित रूप से किया जा सके, साथ ही साथ विभिन्न परिवहन साधनो के स्वरूप (structure) तथा उनके सगठन (organisation) पर भी ध्यान देना चाहिए, जिससे उन साधनो की कार्यक्षमता ऊँची हो सके तथा उनका समुचित उपयोग हो सके।

(iii) यदि परिवहन प्रणाली को हम एक मानते हैं तो समन्वय का उद्देश्य विभिन्न परिवहन साधनो का एक-दूसरे के पूरक के रूप म ऐसे अनुपात म विकास करना होना चाहिए जिससे समाज की कुल आवश्यकताओं की न्यूनतम लागत पर प्रत्येक अवस्था मे पूर्ति हो सके तथा अर्थ-व्यवस्था को न्यूनतम व्यय वहन करना पडे।

(iv) उपयुक्त प्रकार म समन्वय के लिए एक "परिवहन समन्वय परिषद्" (Council for Transport Co-ordination) सगठित की जानी चाहिए जिसका प्रमुख कार्य विभिन्न परिवहन साधनो मे समन्वय स्थापित करना होना चाहिए।

(v) परिवहन के विभिन्न साधनो के बीच समन्वय स्थापित करने के उद्देश्य की पूर्ति, पचवर्षीय योजनाओ के अन्तर्गत परिवहन पर किये जाने वाले विनियोजन को विभिन्न परिवहन साधनो के बीच उचित रूप में वितरण द्वारा की जा सकती है।

(vi) उचित समन्वय के लिए एक ऐसा सगठन होना चाहिए जो परिवहन साधनो के

विषय में स्वतन्त्र रूप से अध्ययन करता रहे तथा तुलनात्मक लागत, आवश्यकता आदि के सम्बन्ध में आवश्यक समंक (Data) प्रस्तुत करता रहे।

(viii) परिवहन की दीर्घकालीन समस्याओं के अध्ययन के उद्देश्य से तथा परिवहन सम्बन्धी शोधकार्य एवं प्रशिक्षण के लिए "परिवहन शोध एवं प्रशिक्षण केन्द्र" (Transport Research and Training Centre) स्थापित किया जाना चाहिए।

(viii) विभिन्न परिवहन साधनों के सम्बन्ध में आवश्यक सूचना, समंक आदि के संग्रह एवं विश्लेषण पर विशेष ध्यान देने की आवश्यकता है जिससे माँग में परिवर्तन, परिवहन-लागत आदि का नियमित ध्यान रखा जा सके।

(xi) समिति ने सुझाव दिया है कि (क) सड़क परिवहन के नियमन सम्बन्धी कार्यप्रणाली एवं नियमों को सरल बनाना चाहिए तथा उनमें एकरूपता लानी चाहिए। (ख) मोटरों पर कर की मात्रा का नियमन सम्पूर्ण देश में केन्द्रीय सरकार द्वारा किया जाना चाहिए। (ग) कृषि तथा ग्रामीण उद्योगों के विकास के लिए तथा ग्रामीण परिवहन की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए सड़क परिवहन का और अधिक विकास किया जाना चाहिए। (घ) सड़क परिवहन का विकास एक सुसंगठित उद्योग के रूप में होना चाहिए। समिति ने मोटर परिवहन के क्षेत्र में छोटे-छोटे चालकों (operators) के संघ बनाने पर भी जोर दिया है, जिससे लागत में कमी की जा सके।

समिति के सुझाव प्रशंसनीय हैं। सरकार ने इन सुझावों को सिद्धान्त रूप में स्वीकार कर लिया है। चतुर्थ पंचवर्षीय योजना की रूपरेखा बनाते समय इनका ध्यान रखा गया है।

वस्तुतः भारत में परिवहन समन्वय की समस्या की जड़ सड़क परिवहन है। भारत में, सड़क परिवहन की अपेक्षाकृत उपेक्षा की गयी है। इस तथ्य का अनुमान हम केवल इस बात से लगा सकते हैं कि भारत में कुल ढोये जाने वाले माल का केवल २२ प्रतिशत ही मोटरों द्वारा ढोया जाता है जबकि संयुक्त राज्य अमरीका में यह प्रतिशत ६२, इटली में ७२ तथा इंगलैण्ड में ५६ है।

दूसरी उल्लेखनीय बात यह है कि भारत में प्रति मोटर गाड़ी पर औसत वार्षिक कर ३,७०० रुपये है जबकि यह कर इंगलैण्ड में १,३०० रुपये, पश्चिमी जर्मनी में १,२०० रुपये, फ्रांस में ८०० रुपये तथा अमरीका में केवल ५०० रुपये हैं।[1] मोटर परिवहन का विकास करने के लिए इस कर में कमी करना बहुत आवश्यक है। मोटरों पर लगाये जाने वाले करों की समस्या के अध्ययन के लिए श्री केसकर की अध्यक्षता में एक समिति नियुक्त की गयी है।

सड़क परिवहन और रेल परिवहन—रेलों के भूतपूर्व कमिश्नर एफ० सी० बदनार के अनुसार सड़कें रेलों की तुलना में अनेक दृष्टिकोणों से महत्त्वपूर्ण हैं। उनके विचार उद्धृत करना सर्वथा युक्तिसंगत होगा

(१) **अधिक सेवा**—एक सड़क रेल लाइन से तिगुनी ट्रैफिक के लिए उपयुक्त होती है। ऐसा इसलिए है कि एक लाइन पर एक समय में एक ही गाड़ी गुजर सकती है जबकि सड़क पर निरन्तर मोटरें चलती रहती हैं, उन्हें न तो कहीं रुकना पड़ता है, न दूसरी मोटर के गुजर जाने की प्रतीक्षा करनी पड़ती है।

(२) **व्यय**—अनुमान लगाया गया है कि एक बढ़िया दो पटरी वाली सड़क बनाने में ३.५ लाख रुपये प्रति मील खर्च आता है, जबकि चौड़े गेज की एक मील लम्बी लाइन डालने पर १० लाख रुपये व्यय होता है।

[1] *Economic Times*. Dec 22, 1967

श्री बघवार का अनुमान पूर्णतः सही नहीं है क्योंकि वास्तव में रेल मार्ग सड़क मार्ग से छः गुना अधिक महँगा है, क्योंकि न केवल रेल मार्ग बनाने में तिगुना खर्च आता है, बल्कि सड़कों पर उसी समय में रेलों से दुगुना माल ढोया जा सकता है।

(३) गति एवं लाभ—रेलों की औसत दैनिक गति केवल ५० मील है जबकि सड़कों (मोटरों) की गति इससे ३ से ६ गुनी है। इसका तात्पर्य यह है कि सड़क मार्गों पर लगायी गयी पूँजी पर रेलों में लगायी गयी पूँजी से अधिक एवं तीव्र गति से लाभ प्राप्त होता है। हिन्दुस्तान लीवर ने यह अनुमान लगाया है कि अपनी कुल बिक्री का आधा भाग सड़क मार्ग से भेजने पर उनकी कुल आय में २५ प्रतिशत की वृद्धि हो गयी है।

एक अन्य अनुमान के अनुसार रेल व्यवसाय में पूँजी पर पाँच प्रतिशत प्राप्ति होती है जबकि सड़कों (मोटरों) पर लगायी गयी पूँजी पर लाभ की मात्रा १६ प्रतिशत है।

(४) रोजगार—यह अनुमान लगाया गया है कि समान मात्रा में सामान ढोने पर मोटर व्यवसाय में रेलों की तुलना में सात गुना रोजगार मिल सकता है।

(५) संचालन व्यय—जहाँ तक मोटर व्यवसाय पर संचालन व्यय का प्रश्न है, रेल तथा सड़क, दोनों व्यवसायों का संचालन व्यय समान ही होता है किन्तु मोटर की हालत अच्छी होनी चाहिए।

उपर्युक्त सभी गुणों का ध्यान रखते हुए एवं भारत के आर्थिक साधनों को दृष्टिगत रखते हुए, सड़क परिवहन का अधिक विकास करना भारत की आर्थिक उन्नति के लिए अधिक श्रेयस्कर होगा। भारत जैसे विस्तृत देश में सब जगह रेल सुविधा दी भी नहीं जा सकती, अतः सड़कों के विस्तार द्वारा ही देश में परिवहन की सुविधाओं का पर्याप्त विकास किया जा सकता है।

अभ्यास-प्रश्न

१ हमारे परिवहन के साधन ग्रामीण क्षेत्रों की आवश्यकता कहाँ तक पूर्ण करते हैं? उनके विकास के उपाय बताइए। **(इलाहाबाद, बी० ए० (पूरक), १९६१)**

२ हमारी ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था में सड़कों के महत्त्व को समझाइए। **(आगरा, बी० कॉम, १९६२)**

३ भारत में सड़क यातायात का क्या महत्त्व है? गत वर्षों में राज्यों द्वारा सम्पन्न मोटर यातायात के राष्ट्रीयकरण से प्राप्त लाभों का विवेचन कीजिए। **(आगरा, बी० ए० (प्रथम वर्ष), १९६३)**

४ भारत में सड़क यातायात के राष्ट्रीयकरण के लाभों और हानियों को समझाकर लिखिए। **(विक्रम, बी० ए०, १९६३)**

५ भारत में सड़क यातायात के महत्त्व एवं विकास पर प्रकाश डालिए। देश में मोटर यातायात के राष्ट्रीयकरण के लाभ बतलाइए। **(राजस्थान, बी० ए० (प्रथम वर्ष), १९६४)**

६ भारत में रेल-सड़क समन्वय की आवश्यकता और महत्त्व का परीक्षण कीजिए। **(विक्रम, बी० ए०, १९६०)**

७ "सड़क यातायात अधिक लोकप्रिय हो रहा है जिससे रेलों की आमदनी कम होती जा रही है।" इस कथन की व्याख्या करते हुए रेल-सड़क यातायात के समन्वय के लिए अपने सुझाव दीजिए। **(आगरा, बी० ए०, १९६०)**

८ भारत मे सडक यातायात के महत्व का वर्णन कीजिए। देश मे रेल-सडक यातायात की समस्याओ का विवेचन कीजिए। (बिहार, बी० ए०, १६६१)

६ यातायात सामजस्य से क्या अभिप्राय है। यह भारत में कहाँ तक स्थापित हो पाया है ? (आगरा, बी० ए०, १६६२)

१० "भारत मे केवल यातायात सेवाओ की ही आवश्यकता नही है बल्कि उनमे यथोचित समन्वय की भी आवश्यकता है।" विवेचना कीजिए। (पटना, बी० ए०, १६६२)

११ भारत मे यातायात साधनो के सामजस्य के मुख्य तत्वो का विवेचन कीजिए। (नागपुर, बी० कॉम० (द्वितीय वर्ष), १६६४)

१२ भारत जैसे एक विकासशील देश के लिए 'सडक परिवहन' के महत्त्व पर प्रकाश डालिए। योजनाओ के अन्तर्गत सडक परिवहन के विकास की समीक्षा कीजिए। (राजस्थान, बी० कॉम०, (अन्तिम वर्ष), १६६८)

१३ "भारतीय यातायात की मुख्य समस्या विकास नही समन्वय है।" समझाइए। (इलाहाबाद, बी० कॉम० (प्रथम वर्ष), १६६५)

44 भारत मे जल परिवहन

(WATER TRANSPORT IN INDIA)

'A country st lik. iuppwa a pnong th iast contiunt of the old world with a coast-line of over 4 000 miles and with a productn-ness of numerous articles of grat use, unsurp ssed elsewher, is by nature mant to be a sa-faring country —S N HAJI

भारतीय जलपोत विश्वप्रसिद्ध—प्राचीनकाल मे भारत का समुद्री यातायात तथा जहाज-निर्माण उद्योग उन्नति के शिखर पर था। डॉ० राधाकुमुद मुकर्जी के शब्दो मे, "प्राचीन भारतीय सभ्यता ससार के कोने-कोने मे इसलिए पहुँच सकी कि भारत के पास विशाल समुद्री शक्ति थी। हमारे शक्तिशाली जल-जहाजी उद्योग के कारण ही ससार के लोग हमारे धर्म एव संस्कृति से प्रभावित हुए।" इस उद्योग की नीव इतनी मजबूत थी कि सोलहवी शताब्दी मे भी भारत मे निर्मित जहाजो का प्रयोग इगलैण्ड, फ्रास तथा अन्य यूरोपीय देशो मे किया जाता था। अठारहवी शताब्दी के अन्त तक भारत जहाज-निर्माण उद्योग के क्षेत्र मे ससार का अग्रणी रहा। परन्तु उन्नीसवी शताब्दी के मध्य से इस प्रसिद्ध भारतीय उद्योग का पतन प्रारम्भ हुआ तथा यह पतन इस सीमा तक हुआ कि वर्तमान समय मे भारत की कुल जहाजी शक्ति समस्त विश्व की जहाजी शक्ति का केवल २% मात्र है।

भारतीय जहाजी व्यवसाय का पतन—भारतीय जहाजरानी की अवनति का प्रमुख कारण विदेशी स्पर्द्धा एव ब्रिटिश सरकार की अन्यायपूर्ण नीति थी। महात्मा गाँधी के शब्दो मे, "भारतीय जहाजरानी को समाप्त होना पडा, ताकि ब्रिटिश जहाजरानी उन्नति कर सके।"[1] अग्रेजी जहाजी कम्पनियो की विद्वेषपूर्ण नीति को ब्रिटिश सरकार ने प्रोत्साहन दिया। उन कम्पनियों को विभिन्न प्रकार की सुविधाएँ दी गयी। भारतीय उद्योगो को नष्ट करना ब्रिटेन की नीति का मुख्य आधार था तथा भारतीय जहाजी उद्योग इस नीति का शिकार हुआ। ब्रिटेन ने Navigation Laws पास किये थे जिनकी व्यवस्था के अनुसार एशिया, अफ्रीका तथा अमरीका का कोई भी सामान केवल ब्रिटिश जहाजो द्वारा ही ब्रिटेन ले जाया जा सकता था। इन अधि-नियमो द्वारा भारतीय जहाजो का मार्ग इगलैण्ड मे अवरुद्ध हो गया। अग्रेजी कम्पनियाँ भारतीय जहाजी कम्पनियो के साथ अनुचित स्पर्द्धा करती थी। उनका सबसे बडा शस्त्र, भाडा युद्ध (rate

[1] "Indian shipping had to die so that British shipping may prosper"

war) था। इस स्पर्द्धा के कारण अंग्रेजी कम्पनियो ने भाडे की दरें इतनी घटा दी कि भारतीय कम्पनियों का टिकना असम्भव हो गया।

उपर्युक्त कार्यों के अतिरिक्त बन्दरगाहो के अधिकारी भारतीय कम्पनियो को परेशान किया करते थे तथा अंग्रेजी कम्पनियो को सभी आवश्यक सुविधाएँ प्रदान करते थे। अंग्रेजी कम्पनियो द्वारा ग्राहक को कई प्रकार के प्रलोभन दिये जाते थे। इन प्रलोभनो में कटौनी प्रथा (Deferred Rebate System) प्रमुख थी। इसके अनुसार जो भारतीय व्यापारी वर्ष भर अपना माल केवल अंग्रेजी कम्पनियो द्वारा ही भेजते थे उन्हें भाडे में १५ प्रतिशत तक छूट दी जाती थी। अंग्रेजी बैंक तथा बीमा कम्पनियाँ भी भारतीय जहाजो के साथ उचित व्यवहार नही करते थे। इस प्रकार ब्रिटिश सरकार की नीति, अंग्रेजी कम्पनियो द्वारा अनुचित स्पर्द्धा तथा अन्यान्य कारणो से भारतीय जहाजरानी को अपार क्षति हुई।

भारत में आधुनिक जहाजरानी का प्रारम्भ—भारत मे आधुनिक जहाजरानी का वास्तविक प्रारम्भ सन् १६१६ मे हुआ जबकि वालचन्द हीराचन्द के प्रयत्नो मे सिन्धिया स्टीम नैवीगेशन कम्पनी की स्थापना की गयी। परन्तु इस कम्पनी की स्थापना के पहले भी कुछ प्रयत्न किये गये थे। उदाहरणार्थ, सन् १८६३ मे टाटा ने चीन और जापान से सूत का व्यापार करने के लिए जहाजी कम्पनी प्रारम्भ की थी। इसी प्रकार सन् १६०६ मे चिदाम्बरम् पिल्लई ने तूतीकोरन मे स्वदेशी शिपिंग कम्पनी की स्थापना श्रीलंका मे व्यापार करने के लिए की थी। पिल्लई के विरुद्ध विद्रोह का आरोप लगाकर काले पानी की सजा दी गयी तथा यह कम्पनी समाप्त हो गयी। टाटा कम्पनी भी कठिन स्पर्द्धा का सामना न कर सकी।

भारतीय जहाजरानी के इतिहास में सिन्धिया कम्पनी का नाम उल्लेखनीय है। प्रारम्भिक दिनो मे इस कम्पनी को स्पर्द्धा के कारण अत्यधिक हानि उठानी पडी। १६२२ म एक अंग्रेजी कम्पनी ने इसे खरीदने का प्रस्ताव रखा परन्तु सिन्धिया कम्पनी ने इस प्रस्ताव को ठुकरा दिया। सन् १६२४ मे बाध्य होकर अंग्रेजी कम्पनी ने सिन्धिया कम्पनी के साथ एक समझौता किया।

तटीय व्यापार के सुरक्षा सम्बन्धी प्रयत्न—प्रथम महायुद्ध के पश्चात भारत मे राष्ट्रीय भावनाएँ जोर पकडने लगी। भारतीय जनता ने भारतीय जहाजी बेडे के विकास की मांग की। धारासभा मे कई बार इस सम्बन्ध मे बिल पास कराने के असफल प्रयत्न किये गये। इस असफलता का प्रमुख कारण विदेशी सरकार की उदासीनता थी। बढते हुए विरोध के कारण सन् १६२३ मे सरकार ने हैंडराम की अध्यक्षता मे भारतीय व्यापारिक जहाजी बेडा समिति (Indian Mercantile Marine Committee) नियुक्त की। इस समिति की मुख्य सिफारिशें निम्नलिखित थी

(१) भारत का समुद्रतटीय व्यापार भारतीय जहाजो के लिए सुरक्षित किया जाय तथा इसका लाइसेंस केवल भारतीय जहाजो को ही दिया जाय।

(२) सरकार किसी एक ब्रिटिश मार्ग को खरीदकर उसे किसी मान्यताप्राप्त भारतीय कम्पनी को सौंप दे।

(३) भारतीयो को प्रशिक्षण देने के लिए एक प्रशिक्षण जहाज (Training Ship) की व्यवस्था की जाय।

सरकार की उदासीनता—इन महत्त्वपूर्ण सुझावो पर सरकार ने कोई ध्यान नही दिया। तटीय व्यापार की सुरक्षा सम्बन्धी सुझाव को भेदभाव की नीति कहा गया। दो वर्ष पश्चात् प्रशिक्षण सम्बन्धी सुझाव को स्वीकार किया गया तथा सन् १६२७ मे ट्रेनिंग-शिप डफरिन की व्यवस्था की गयी जिसमे भारतीयो को प्रशिक्षण देने का प्रबन्ध किया गया। परन्तु इस कार्य मे अधिक सफलता नही मिली क्योंकि अंग्रेजी कम्पनियाँ भारतीय कर्मचारियो की सेवाएँ समाप्त करने के

लिए तैयार नहीं थी। सरकार द्वारा भी अंग्रेजी कम्पनियों को ही प्रोत्साहन दिया जाता रहा। इसप्रकार भारतीय जनता की माँगें सरकार की नीति में परिवर्तन लाने में असफल रहीं।

भारतीयों द्वारा प्रयत्न—सन् १९२८ में एम० एन० हाजी ने विधान सभा में भारतीय तटीय व्यापार को भारतीय जहाजों के लिए सुरक्षित करने के लिए एक बिल पेश किया। ब्रिटेन समर्थकों तथा राष्ट्रीय नेताओं के बीच गरमागरम बहस हुई। फलस्वरूप इस बिल पर कोई कार्यवाही नहीं की जा सकी। सन् १९३० में लार्ड इरविन ने एक शिपिंग कान्फ्रेंस आमन्त्रित की परन्तु अंग्रेजी कम्पनियों की उदासीनता के कारण इसका कोई फल नहीं निकला। सन् १९३५ के विधान में यह स्पष्ट घोषणा की गयी कि विदेशी हितों के विरोध में तटीय व्यापार के क्षेत्र में भेदभाव की नीति नहीं अपनायी जायेगी।

सन् १९३७ में सर अब्दुल गजनवी ने जहाजी क्षेत्र में अनुचित प्रतियोगिता की समाप्ति के लिए बिल प्रस्तुत किया। सरकार ने प्रतियोगिता रोकने के कार्य को कठिन बताया परन्तु इस बात का आश्वासन दिया कि तटीय शिपिंग का नियमन किया जायेगा। फलतः भारतीय शिपिंग के विकास के लिए एक विभाग खोला गया।

द्वितीय विश्वयुद्ध तथा युद्धोत्तरकाल—द्वितीय विश्वयुद्ध के पूर्व भारत में कई छोटी-छोटी जहाजी कम्पनियाँ बनायी गयी थीं। ब्रिटिश इण्डिया कम्पनी ने इन कम्पनियों को भाड़ा-युद्ध द्वारा समाप्त करना चाहा परन्तु इन कम्पनियों को सिन्धिया कम्पनी द्वारा सहायता मिलती रही, अतः वे नष्ट होने से बच गयीं। सन् १९३९ में भाड़ा-युद्ध का मामला पंच निर्णय के लिए सर जोसेफ भोर (भारत के तत्कालीन वाणिज्य मन्त्री) को सौंपा गया। सर भोर ने यह निर्णय दिया कि भारतीय कम्पनियाँ भारत के पश्चिमी तट पर व्यापार चालू रख सकती हैं। इस प्रकार भारतीय कम्पनियों को तटीय व्यापार का एक सीमित भाग प्राप्त हो गया किन्तु सिन्धिया कम्पनी विदेशी व्यापार में भाग लेने से वंचित करदी गयी।

इस प्रकार द्वितीय विश्वयुद्ध के समय तक भारतीय कम्पनियाँ केवल तटीय व्यापार में भाग ले रही थीं। युद्धकाल में भारतीय कम्पनियों के बहुत से जहाज सरकार द्वारा ले लिये गये। युद्धकाल में भारतीय जहाजी कम्पनियों ने सरकार की बहुत सहायता प्रदान की। सन् १९४१-४२ में केवल सिन्धिया कम्पनी द्वारा ही बर्मा से ६४,००० यात्री भारत लाये गये। युद्ध के समय भारतीय जहाजरानी के महत्त्व को स्वीकार किया गया तथा जहाज-निर्माण उद्योग की स्थापना करना आवश्यक समझा गया। जब सन् १९४१ में सरकार ने सिन्धिया कम्पनी को विशाखापत्तनम में जहाजों का निर्माण करने के लिए एक शिपयार्ड बनाने को प्रोत्साहित किया।

युद्धोत्तर पुनरुत्थान उपसमिति—द्वितीय विश्वयुद्ध ने सरकार की आँखें खोल दी तथा अब यह स्वीकार किया जाने लगा कि भारतीय जहाजी बेड़े का विकास करना आवश्यक है। अतः जहाजी परिवहन की समस्या पर विचार करने के लिए सर सी० पी० रामास्वामी अय्यर की अध्यक्षता में एक युद्धोत्तर पुनर्निर्माण नीति उपसमिति नियुक्त की गयी। इस समिति ने सन् १९४६ में अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत की। रिपोर्ट में इस समिति ने सरकारी नीति की कटु आलोचना की। जहाजी परिवहन के इतिहास पर प्रकाश डालते हुए इस समिति ने यह मत व्यक्त किया कि "भारतीय जहाजरानी का इतिहास वचन-भग, पूर्ण न किये जाने वाले आश्वासन एवं अवसरों की उपेक्षा की दुखद कहानी है।"[1] जहाजी यातायात के विकास के लिए इस समिति के मुख्य सुझाव अग्रलिखित थे .

---

1 "History of Indian Shipping is a tragic tale of broken promises, unredeemed assurances and neglected opportunities"

(१) भारत की आवश्यकताओं को ध्यान में रखते हुए २० लाख टन क्षमता के जहाजों की आवश्यकता है। आगामी ५-७ वर्षों में इस लक्ष्य की पूर्ति की जानी चाहिए।

(२) भारतीय जहाजरानी की परिभाषा में परिवर्तन किया जाए तथा केवल उसी जहाजी कम्पनी को भारतीय माना जाय जिस पर भारतीयों का स्वामित्व, नियन्त्रण एवं प्रबन्ध हो।

(३) विदेशी एवं तटीय व्यापार में भारतीय कम्पनियों का भाग सुरक्षित किया जाय। यह सुरक्षित भाग तटीय यातायात का १००%, पड़ोसी देशों के साथ यातायात का ७५%, दूरवर्ती देशों के साथ यातायात का ५०% तथा जर्मनी आदि शत्रु राष्ट्रों के खोये हुए व्यापार का ३०% होना चाहिए।

(४) आँकड़ों के संग्रह एवं प्रकाशन सम्बन्धी दोष को दूर किया जाय।

(५) भारतीय जहाजी कम्पनियों को सरकार द्वारा आर्थिक सहायता मिलनी चाहिए।

(६) इन सुझावों को कार्यान्वित करने के लिए व्यापारिक जहाजी कम्पनियों के प्रतिनिधियों तथा सरकार द्वारा एक Shipping Board संगठित किया जाना चाहिए, जिसे लाइसेंस देने, आर्थिक सहायता के सम्बन्ध में सुझाव देने तथा एकाधिकार जनित दोषों को दूर करने का अधिकार होना चाहिए।

(७) पोर्ट ट्रस्ट का प्रबन्ध वाणिज्य विभाग द्वारा किया जाना चाहिए।

सरकारी कार्यवाही—भारत सरकार ने इन सुझावों को स्वीकार कर लिया। नवम्बर १९४७ में सी० एच० भाभा की अध्यक्षता में भारतीय जहाज मालिकों का एक सम्मेलन बम्बई में हुआ। इस सम्मेलन में जहाजरानी की मूल समस्याओं पर विचार-विमर्श किया गया तथा यह निर्णय किया गया कि सरकार इन समस्याओं के समाधान के कार्य में पूर्ण सहयोग तथा आर्थिक सहायता देगी। इस सम्मेलन में यह भी निर्णय किया गया कि तीन जहाजी निगम (Shipping Corporations) स्थापित किए जायें, जिनमें से प्रत्येक की पूँजी १० करोड़ रुपये हो। पूँजी में सरकार, शिपिंग कम्पनी तथा जनता का भाग क्रमशः ५१, २६ और २३% होगा। इन निगमों के परिवहन क्षेत्र सरकार द्वारा निर्धारित करने का सुझाव दिया गया। निगमों का उद्देश्य टन क्षमता एवं जहाजी परिवहन में वृद्धि करना होगा।

जहाज निगमों की स्थापना—धनाभाव तथा अन्य परिस्थितियों के कारण केवल दो जहाजी निगम स्थापित किये जा सके। सर्वप्रथम मार्च १९५० में पूर्वी जहाजी निगम (Eastern Shipping Corporation) स्थापित किया गया तथा सिन्धिया कम्पनी इस निगम की प्रबन्ध अभिकर्ता नियुक्त की गयी। इसकी चुकता पूँजी २ करोड़ रुपया थी। बाद में यह पूँजी बढ़ाकर ५.५ करोड़ रुपये कर दी गयी। १५ अगस्त, १९५६ को सरकार ने इस निगम का प्रबन्ध अपने हाथ में ले लिया। दूसरा निगम पश्चिमी जहाजी निगम (Western Shipping Corporation) जून १९५६ में स्थापित किया गया। अक्टूबर १९६१ में इन दोनों निगमों को मिलाकर भारतीय जहाजी निगम (Shipping Corporation of India) की स्थापना की गयी।

भारतीय जहाजी निगम—१९७० तक इस निगम के पास ७१ जहाज थे, जिनका भार लगभग ७ लाख टन था। चतुर्थ योजनाकाल में निगम ७० जहाज खरीदेगा, जिनमें से १२ जहाज हिन्दुस्तान शिपयार्ड से खरीदे जायेंगे। तदनुसार निगम ने हिन्दुस्तान शिपयार्ड को १२ जहाजों का आर्डर दिया है। इसके अतिरिक्त भार ढोने वाले ४ जहाज पोलैण्ड से तथा कोयला ढोने वाले तीन पोत यूगोस्लाविया से प्राप्त किये जा रहे हैं। आशा है कि हिमाची शिपयार्ड इस निगम के लिए एक तेलवाहक टैंकर भी बना रहा है।

मुगल लाइन (कम्पनी) जो जहाजी निगम के अधीन है के जहाज भारत से हज यात्रियो को बम्बई से जद्दा तक लाते ले जाते हैं। इस कम्पनी का विस्तार किया जा रहा है। वर्तमान मे इसकी भार क्षमता ४२,५०० टन है। सन् १९६५-६६ से जहाजी निगम ने 'जयन्ती शिपिंग कम्पनी' का प्रबन्ध भी अपने हाथो म ले लिया है। इस कम्पनी के पास १८ जहाज हैं जिनकी क्षमता ३ ०७ लाख टन है। ५ वर्ष के पश्चात इस प्रश्न पर पुन विचार किया जायेगा।

जहाजी निगम के अतिरिक्त ३० अन्य जहाजी कम्पनियाँ है जिनमे सिंधिया, जयन्ती, इण्डियन स्टीमशिप ग्रेट ईस्टर्न, रत्नाकर तथा चौगुले प्रमुख हैं। भारतीय जहाजी कम्पनियाँ कुल मिलाकर लगभग १३ लाख टन माल वार्षिक ढोती हैं।

प्रबन्ध व्यवस्था—उपर्युक्त विवरण मे स्पष्ट है कि राष्ट्रीय सरकार जहाजरानी के विकास के लिए सदैव तत्पर है। सन १९४७ मे शिपिंग एक्ट पास किया गया जिसके द्वारा जहाजो के लिए लाइसेंस लेना अनिवार्य कर दिया गया। वाणिज्य विभाग के अन्तर्गत बम्बई मे डाइरेक्टर जनरल ऑफ शिपिंग की स्थापना की गयी है जो जल नीति को कार्यान्वित करता है। इसके अतिरिक्त कई समितियाँ बनायी गयी हैं जो जल यातायात के क्षेत्र मे कार्य करती हैं। अगस्त १९५८ मे Merchant Shipping Act पास किया गया। इस एक्ट द्वारा भारतीय जहाजी कम्पनी की परिभाषा मे परिवर्तन किया गया जिसके अनुसार किसी कम्पनी के जलयानो को भारतीय होने के लिए यह आवश्यक है कि कम्पनी की कम से कम ७५% अंश पूँजी भारतीयो की होनी चाहिए तथा कम से कम तीन-चौथाई सचालक तथा चेयरमैन भारतीय होने चाहिए। इसके अतिरिक्त निजी जहाज पूर्ण रूप से भारतीयो का होना चाहिए। प्रबन्ध अभिकर्ता भी भारतीय होना चाहिए तथा कम्पनी का मुख्य व्यापारिक स्थान भारत मे होना चाहिए।

इस प्रकार जल यातायात को हर सम्भव सहायता एव प्रोत्साहन दिया गया है। फिर भी देश की आवश्यकताओ को ध्यान मे रखते हुए इसकी दशा सन्तोषजनक नही कही जा सकती। वर्तमान समय म कुल विदेशी व्यापार का केवल १५% भाग ही भारतीय जहाजो द्वारा किया जाता है जो ५०% के लक्ष्य से बहुत दूर है। तटीय व्यापार के क्षेत्र मे जलयानो की उन्नति सन्तोषप्रद है। सन् १९५० से ही तटीय व्यापार भारतीय जहाजो के लिए सुरक्षित कर दिया गया है। विदेशी व्यापार के क्षेत्र मे हम लक्ष्य से अभी बहुत दूर हैं।

योजनाओ मे सामुद्रिक यातायात का विकास

प्रथम पचवर्षीय योजना का लक्ष्य—प्रथम पचवर्षीय योजना के प्रारम्भ मे भारत मे कुल ३,९०,७०७ G R T के जहाज थे। इनमे से आधे से अधिक जहाज २० साल से अधिक पुराने थे, अत जहाजी शक्ति को बढाने के साथ ही साथ पुराने जहाजो को बदलना भी आवश्यक था। भारतीय कम्पनियो के पास विकास के लिए कोई रक्षित कोष नही था। प्रथम योजनाकाल मे जहाजी टनेज बढाकर ६ लाख G R T करने का लक्ष्य निर्धारित किया गया। जहाजी कम्पनियो को अपनी क्षमता बढाने के लिए १९ ' करोड रुपये सहायता देने की व्यवस्था थी। इसके अतिरिक्त भारत के प्रमुख बन्दरगाहो—कलकत्ता, बम्बई मद्रास, विशाखापत्तनम और कोचीन—की माल उठाने की क्षमता २ करोड टन तक बढाने के लिए १२ करोड रुपये की व्यवस्था की गयी। इसके अतिरिक्त बन्दरगाहो के लिए निजी अधिकारियो को अपने साधनो से १५ ५ करोड रुपये व्यय करने थे। करांची बन्दरगाह के पाकिस्तान मे चले जाने के कारण भारत के पश्चिमी तट पर प्रमुख बन्दरगाह बनाने की भी समस्या थी, अत कांडला बन्दरगाह के विकास के लिए १२ ०५

करोड रुपये की व्यवस्था की गयी। भारत के पश्चिमी क्षेत्र मे तेल के नये क्षेत्र पाये गये अत तेल कारखानो को बन्दरगाहो की सुविधा प्राप्त कराने के लिए ८ करोड रुपये की अतिरिक्त व्यवस्था की गयी।

योजना आयोग ने सरकार के समक्ष यह सुझाव रखा था कि सरकार जहाज उद्योग के विकास के लिए आर्थिक सहायता प्रदान करे तथा 'दि हिन्दुस्तान शिपयार्ड, विशाखापत्तनम' को योजना का एक अग माना जाय। इसके अतिरिक्त आयोग ने यह भी सुझाव दिया था कि सरकार को जहाजी क्षेत्र मे प्रतियोगिता समाप्ति तथा भाडे की उचित दरे निर्धारित करने के लिए भी प्रयत्न करना चाहिए। सरकार ने इन सभी सुझावो को सिद्धान्त रूप मे स्वीकार किया था। टन क्षमता वृद्धि के लक्ष्य को पूरा करने के लिए योजना मे २६ ३ करोड रुपये की व्यवस्था की गयी।

प्रगति—प्रथम पचवर्षीय योजना के अन्त मे कुल जहाजी टन क्षमता बढकर ४ ८० लाख G R T हो गयी। योजना के अन्तिम चरण मे १ २० लाख टन के जहाज तैयार हो रहे थे जो सन् १९५७ तक प्राप्त होने थे। इस प्रकार ६ लाख टन के लक्ष्य की पूर्ति कुछ समय पश्चात् हो जानी थी। टन क्षमता वृद्धि के लिए २६ ३ करोड रुपये की व्यवस्था थी परन्तु योजनाकाल मे केवल १८ करोड रुपये व्यय किये जा सके। शेष धन द्वितीय पचवर्षीय योजना मे व्यय किया गया। प्रथम योजनाकाल मे भारतीय कम्पिनियो को २३ ७२ करोड रुपये ऋण के रूप मे सुविधाजनक शर्तों पर दिये गये। इस योजना मे काडला बन्दरगाह का निर्माण पूर्ण हो गया। इस प्रकार बन्दरगाहो की माल उठाने की क्षमता २ ६ करोड टन हो गयी।

द्वितीय पंचवर्षीय योजना का लक्ष्य—द्वितीय पचवर्षीय योजना मे भारतीय जहाजी बेडे के विकास के लिए लक्ष्य निर्धारित किया गया कि योजना के अन्त तक तटीय व्यापार की आवश्यकताओ की पूर्ति की जायेगी तथा विदेशी व्यापार का अधिक से अधिक भाग भारतीय जहाजो के नियन्त्रण मे लाने का प्रयत्न होगा। द्वितीय पचवर्षीय योजना के प्रारम्भ मे पडोसी देशो के साथ किये जाने वाले व्यापार का ४०% तथा अन्य विदेशी व्यापार का ६', भाग भारतीय जहाजो द्वारा किया जाता था। योजना के अन्तर्गत यह भाग बढाकर क्रमश १२ से १५% और ५० कर देने का लक्ष्य रखा गया। हिन्दुस्तान शिपयार्ड विशाखापत्तनम के विकास की भी व्यवस्था की गयी। इसकी क्षमता बढाकर ४ जहाज प्रति वर्ष बनाने का लक्ष्य निर्धारित किया गया। इसके अतिरिक्त जहाज-निर्माण के लिए एक और केन्द्र पर प्रारम्भिक कार्य शुरू करना था।

जहाजी शक्ति के लिए योजना मे ३७ करोड रुपये का आयोजन किया गया। इसके अतिरिक्त कलकत्ता, बम्बई, मद्रास, विशाखापत्तनम तथा कोचीन बन्दरगाहो की माल उठाने की क्षमता मे ३०% की वृद्धि करने के लिए ४० करोड रुपये की व्यवस्था की गयी। अन्य बन्दरगाहो के विकास के लिए ५ करोड रुपये का आयोजन किया गया।

जहाजी टनेज के सन्दर्भ मे एक लाख G. R T का लक्ष्य निर्धारित हुआ। यह प्रस्ताव रखा गया कि योजनाकाल मे ९०,००० G R T जहाज जो पुराने हो जायेंगे उनके स्थान पर नये जहाज लिए जायेंगे तथा ३,०१,००० G R T. के अतिरिक्त जहाज लिए जायेंगे।

प्रगति—द्वितीय पचवर्षीय योजना के लक्ष्यो की पूर्ति हो गयी। वस्तुत योजना के प्रथम वर्ष ही ३७ करोड रुपये व्यय किये गये जो योजना की पूरी अवधि मे व्यय किये जाने थे। अग्रलिखित सारणी से प्रथम एव द्वितीय पचवर्षीय योजनाकाल मे जहाजी टनेज वृद्धि का अनुमान होता है

प्रथम एव द्वितीय योजनाकाल मे जहाजी टनेज

(लाख जी० आर० टी०)

	१९५० ५१	१९५५-५६	१९६० ६१
तटीय	२ १७	२ ४०	२ ९२
समुद्रपारीय	१ ७४	२ ४०	६ १३
योग	३ ९१	४ ८०	९ ०५

आडर दिये गये जहाजो को सम्मिलित कर योजना के अन्त म ९ ०५ लाख G R T के जहाज होने का अनुमान था। द्वितीय पचवर्षीय योजना के अन्त मे भारत का वास्तविक जहाजी टनेज ८ ०५७ लाख G R T था जो योजना के लक्ष्य के बहुत निकट था। योजना काल म जहाजी सेवा (Shipping Programme) पर कुल व्यय ५ २७ करोड रुपये किये गये। द्वितीय योजनाकाल म स्वकीय वित्त-व्यवस्था के आधार (self financing basis) पर जहाज खरीदने का कार्य प्रारम्भ किया गया। जहाजी क्षेत्र म इस प्रकार क्रय करने की नीति का अपनाया जाना एक महत्त्वपूर्ण घटना थी। इसके अनुसार जहाजो का मूल्य जहाजो से प्राप्त लाभ म से किस्तो म चुकाया जायेगा।

द्वितीय योजनाकाल म कुछ अन्य महत्त्वपूर्ण कार्य भी किये गये जिनका जहाजरानी क्षेत्र म महत्त्वपूर्ण स्थान है। उन कार्यों का सक्षिप्त विवरण निम्नलिखित है

(१) नेशनल शिपिंग बोर्ड—सन् १८५८ के मर्चेण्ट शिपिंग एक्ट के अन्तर्गत इस बोर्ड का सगठन १ मार्च, १९५९ को किया गया। यह बोर्ड सरकार को शिपिंग के सम्बन्ध म सलाह देता है। इसकी स्थापना के पश्चात् बोर्ड ने ए० रामास्वामी मुदालियर की अध्यक्षता म एक समिति नियुक्त की जिसे तृतीय योजनाकाल म जहाजरानी के विकास के लिए सुझाव देना था।

(२) जहाजी विकास कोष—जहाज निर्माण एव जहाजी यातायात की उन्नति के लिए सरकार न १९५७ ५८ मे इस कोष का प्रारम्भ एक करोड रुपये से किया। यह धन भारत की सचित निधि म से दिया गया। इस कोष म से जहाजी कम्पनियो को जहाज खरीदने के लिए ऋण दिय जाते हैं।

(३) मर्चेन्ट नेवी ट्रेनिंग बोर्ड—इस बोर्ड की स्थापना अगस्त १९५९ मे सरकार को प्रशिक्षण के विषय म सलाह देने के लिए तथा ट्रेनिंग योजनाओ की देखरेख करने के लिए की गयी। भारत म प्रशिक्षण के लिए सन् १९२७ म ट्रेनिंगशिप डफरिन की स्थापना की गयी थी। वतमान समय म इसके अतिरिक्त ६ प्रशिक्षण केन्द्र हैं।

तृतीय पचवर्षीय योजना—तृतीय पचवर्षीय योजना मे जहाजरानी के लिए ५५ करोड रुपय की व्यवस्था की गयी थी।[1] इसके अतिरिक्त जहाजी विकास कोष से ४ करोड रुपये तथा जहाजी कम्पनियो के निजी साधनो द्वारा ७ करोड रुपये प्राप्त करने थे। इस योजनाकाल म जहाजरानी विकास के लिए कुल ६६ ५० करोड रुपये की व्यवस्था की गयी थी। इस आयोजित धनराशि का लगभग आधा भाग सार्वजनिक क्षेत्र म तथा शेष निजी क्षेत्र म व्यय किया जाना था।

---

1 *Third Five Year Plan* p 557

नेशनल शिपिंग बोर्ड ने सुझाव दिया था कि योजनाकाल में जहाजी टनेज बढ़कर १५० लाख G R T हो जाना चाहिए। परन्तु साधनों की कमी तथा विदेशी विनिमय सम्बन्धी कठिनाइयों के कारण योजना आयोग ने यह लक्ष्य स्वीकार नहीं किया।

अनुमान लगाया गया था कि योजना के अन्त तक प्रमुख बन्दरगाहों की क्षमता ४६ करोड़ टन हो जायेगी। योजना का मुख्य उद्देश्य बड़े बन्दरगाहों का विस्तार करना था। योजनाकाल में बन्दरगाहों के विकास पर ११५ करोड़ रुपये व्यय किये जाने थे जिसमें से ८० करोड़ रुपये बड़े बन्दरगाहों पर, १० करोड़ रुपये मंगलौर और तूतीकोरन के नये बन्दरगाहों के विकास पर तथा २५ करोड़ रुपये फरक्का बाँध पर व्यय करने थे। योजनाकाल में प्रकाश-स्तम्भों एवं प्रकाश जहाजों के विकास के लिए ६ करोड़ रुपये की व्यवस्था भी गयी थी।

प्रगति—द्वितीय योजना के अन्त में जहाजरानी का कुल टनेज ८,५७,००० G R T था, जिसमें तटीय व्यापार के लिए २९२,००० G R T तथा विदेशी व्यापार के लिए ५,६५,००० G R T सम्मिलित था। तृतीय योजनाकाल में लगभग ३,३५,००० टन के जहाज खरीदे थे। इसमें से पुनर्स्थापना के लिए खरीदे जाने वाले जहाजों को यदि निकाल दिया जाय तो योजनाकाल में टनेज में अतिरिक्त वृद्धि लगभग १,८१,००० G R T (तटीय ३२,५००+समुद्रपारीय १,४८,५००) करनी थी।

सन् १९६२ में भारतीय जहाजरानी के लक्ष्य में वृद्धि कर दी गयी और यह निर्णय किया गया कि तृतीय योजना के अन्त तक ११ लाख टन के स्थान पर १३ लाख टन जहाजी क्षमता प्राप्त करने की चेष्टा की जायेगी। सन्तोष की बात है कि ३० नवम्बर, १९६४ को ही यह लक्ष्य पूरा किया जा चुका था क्योंकि उस तिथि को भारतीय जहाजी कम्पनियों के पास १३.८७ लाख G R T के जहाज थे। तृतीय योजनाकाल में जहाजरानी पर ८१ करोड़ रुपया व्यय किया गया।

		जी० आर० टी०	जहाजों की संख्या
१	तृतीय योजना के प्रारम्भ में	८,५७,८२८	—
२	३० नवम्बर, १९६४	१३,८७,०००	२१६
३	मार्च १९६६	१५,४०,६६६	—
४	जनवरी १९६९	२०,८४,४८२	२५०

वर्तमान व्यवस्था—१९७० में भारत के पास कुल २५८ जहाज थे जिनकी क्षमता लगभग २३ लाख टन थी। वर्तमान समय में भारतीय जहाजों की टनेज विश्व की कुल जहाजी टनेज की एक प्रतिशत है। भारत का विदेशी व्यापार कुल विश्व व्यापार का ८ प्रतिशत है। आवश्यकता की तुलना में भारत का जहाजी टनेज बहुत कम है। सन् १९६९-७० में भारत के विदेशी व्यापार का १८% भाग भारतीय जहाजों द्वारा ढोया गया (सन् १९६२-६३ में यह भाग ८.२% था)। वर्तमान समय में भारत में कुल ३२ भारतीय जहाजी कम्पनियाँ कार्य कर रही हैं। भारतीय जहाजों में कुल ३२,००० भारतीय काम करते हैं।

तटीय जहाजी दल के सुझाव—राष्ट्रीय जहाजी मण्डल ने तटीय परिवहन सम्बन्धी सुझाव देने के लिए तीन व्यक्तियों का एक दल नियुक्त किया था जिसने जून १९६८ में अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत कर दी। इस दल के सुझाव निम्नलिखित हैं :

(१) तटीय परिवहन सम्बन्धी पुराने जहाजों को बदलने के लिए ७० करोड़ रुपये की राशि की व्यवस्था की जानी चाहिए।

(२) यह राशि १९६८ ६९ से आरम्भ होकर १२ वर्षों में खर्च की जानी चाहिए।

(३) २३ नये जहाजो के लिए तत्काल आर्डर दे दिये जाने चाहिए।

(४) जहाजी भाडे का निर्धारण करने के लिए एक समिति का निर्माण किया जाना चाहिए जो समय-समय पर भाडे की दरो की समीक्षा कर उनमे परिवर्तन सम्बन्धी सुझाव दे सके।

(५) तटीय जहाजी व्यवसाय की प्रगति के लिए बन्दरगाहो की क्षमता मे वृद्धि तथा सुधार किया जाना चाहिए।

सरकार चतुर्थ योजना म इन सुझावो पर ध्यान दे सकेगी, ऐसी आशा है।

समस्याएँ—वर्तमान समय म भारतीय जहाजरानी के समक्ष निम्नलिखित समस्याएँ है

(१) जहाजी क्षमता का अभाव—भारत म जहाजी क्षमता का अभाव है। भारत का विदेशी व्यापार कुल विश्व व्यापार का लगभग १ प्रतिशत है, और भारत की जहाजी क्षमता भी विश्व क्षमता का केवल एक प्रतिशत है। अत जहाजी टनज बढाने की आवश्यकता है ताकि विदेशी व्यापार से लाभ कमाया जा सके।

ससार के विभिन्न देशो की जहाजी शक्ति का अनुमान निम्नलिखित तथ्यो से होता है

विश्व की जहाजी शक्ति

देश	लाख टनो में	कुल का प्रतिशत
१ लाइबेरिया	२५७	१३ २५
२ ग्रेट ब्रिटेन	२१९	११ २९
३ सयुक्त राज्य अमरीका	१९७	१० १३
४ नार्वे	१९७	१० १३
५ जापान	१९६	१० ०९
६ ग्रीस	७४	३ ८२
७ इटली	६६	३ ४१
८ पश्चिमी जर्मनी	६५	३ ३६
९ फ्रास	५८	२ ९९
१० नीदरलैंड्स	५३	२ ७१
११ भारत	२०	१ ००
अन्य देश	५३९	२७ ८२
योग	१ ९४१	१०० ००

(२) विदेशी जहाजो से स्पर्द्धा—भारत मे विदेशी जहाजो की क्रियाशीलता बढ गयी है। सन् १९५३ ५४ मे भारत के आयात व्यापार मे ब्रिटेन, अमरीका तथा जापान के जहाजो का क्रमश ५१ ७४, ७ ७१ तथा ५ ४८% भाग था। भारत के निर्यात व्यापार मे इन देशो का प्रतिशत क्रमश ४६ ३२, ९ २२ तथा ८ ६९% था। उस वर्ष भारतीय जहाज हमारे आयात व निर्यात व्यापार का क्रमश ४ ०२ तथा ४ ८३% ले जाते थे। गत कुछ वर्षो मे इन देशो के अतिरिक्त जर्मनी तथा इटली भी इस क्षेत्र मे आ गये हैं। भारतीय जहाजो को विदेशी जहाजो मे प्रतिस्पर्द्धा करनी पडती है। सरकार को इस ओर ध्यान देने की आवश्यकता है। भारत के तटीय व्यापार का शत प्रतिशत तथा विदेशी व्यापार का कम से कम ५०% भाग भारतीय जहाजो द्वारा किया जाना चाहिए। इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए बहुत अधिक प्रयत्नो की आवश्यकता है।

(३) राष्ट्रीयकरण—वर्तमान समय मे भारत मे जहाजरानी के क्षेत्र मे सार्वजनिक (सरकारी) तथा निजी दोनो प्रकार के जहाज हैं। सरकार कभी-कभी निजी कम्पनियो के राष्ट्रीयकरण की बात करती है। इसमे अनिश्चितता का वातावरण बना हुआ है तथा निजी कम्पनियाँ अपना विकास करने मे हिचक रही है। इसके सम्बन्ध मे सरकार को अपनी दीर्घकालीन नीति घोषित करनी चाहिए।

(४) तडागपोतो (Tankers) तथा यात्रीपोतो (Passenger Ships) का अभाव—वर्तमान समय मे विश्व मे जितने जहाज है उनमे ५६% तडागपोत हैं। भारत को प्रति वर्ष लगभग १५ लाख टन तेल समुद्री मार्ग से मँगाना पडता है (कुल तेल ५० लाख टन मँगाना पडता है)। भारत के पास केवल ४ तडागपोत हैं। इसी प्रकार यात्रीपोतो का भी अभाव है। भारत मे प्रशीतनपोतो (Refrigerator Ships) का भी अभाव है। इन सब दिशाओ मे प्रयत्न किये जाने चाहिए।

(५) रेल से प्रतियोगिता—तटीय सामुद्रिक मार्गो द्वारा सीमेण्ट, तिलहन, कपास, नमक, चावल आदि भेजन मे रेलवे की अपेक्षा कम व्यय पडता है परन्तु रेलवे कम दर पर इन वस्तुओ को एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाती है। रेलवे को इस कार्य मे घाटा भी पडता है। जहाजी कम्पनियो से व्यर्थ की प्रतिस्पर्द्धा होती है। इस प्रतिस्पर्द्धा को समाप्त करने की आवश्यकता है। जून १९५५ म एक समिति Rail-Sea Co-ordination Committee नियुक्त की गयी थी। इस समिति ने यह सुझाव दिया था कि रेल-भाडे लागत व्यय के अनुसार निश्चित किये जायें, परन्तु रेलो की प्रतियोगिता अब भी जारी है। इस समस्या को हल करने की आवश्यकता है।

(६) जहाजो की ऊँची लागत—गत वर्षो म जहाजो की लागत व्यय मे बहुत वृद्धि हुई है। ब्रिटेन म नये जहाजो का मूल्य सन् १९६५ की अपेक्षा १९% अधिक है। भारत मे जहाजो के मूल्य ब्रिटेन से भी २०% अधिक हैं। विश्व मे जहाजो की माँग अधिक है, अत उनका मूल्य तीव्र गति से बढता रहता है। इससे हमारी योजना के अनुमान गलत सिद्ध होते है। भारत सरकार द्वारा जहाज-निर्माण कार्य मे अधिक आर्थिक सहयोग प्रदान किया जाना चाहिए।

जहाज-निर्माण उद्योग का भारत में विकास

भारत मे वर्तमान समय मे जहाज-निर्माण के लिए केवल एक शिपयार्ड है, जिसमे प्रथम जहाज-निर्माण मार्च १९४८ मे प्रारम्भ किया गया। यह शिपयार्ड विशाखापत्तनम मे सिन्धिया कम्पनी द्वारा सन् १९४० मे प्रारम्भ किया गया था। मार्च १९५२ मे भारत सरकार ने इसे खरीद लिया तथा इसकी प्रबन्ध व्यवस्था के लिए हिन्दुस्तान शिपयार्ड लिमिटेड की स्थापना की गयी जिसके सभी अंश (shares) सरकार के पास हैं। वर्तमान समय मे यह यार्ड प्रतिवर्ष ४ जहाज निर्माण कर सकता है। यार्ड ने १९६६-६७ से अपनी जहाज-निर्माण क्षमता ६ जहाज तक बढाली है। ३१ दिसम्बर, १९७० तक यह यार्ड कुल ५६ जहाजो का निर्माण कर चुका है।

दूसरा शिपयार्ड जापान की एक कम्पनी की सहायता से कोचीन मे स्थापित किया जा रहा है, जिसकी प्रारम्भिक वार्षिक उत्पादन क्षमता ६०,००० G R T वार्षिक होगी तथा इसे बढाकर ८०,००० G R T वार्षिक किया जा सकेगा।

देश की आवश्यकताओ को देखते हुए भारत मे जहाज-निर्माण क्षमता बहुत कम है, अत जहाज निर्माण उद्योग का विकास करना आवश्यक है। इन समस्याओ के अतिरिक्त भारतीय शिपिंग के समक्ष विदेशी विनिमय, बन्दरगाहो मे भीड होना तथा उनका आधुनिक न होना, श्रम सम्बन्धी समस्याएँ और सचालन व्यय मे वृद्धि की भी समस्याएँ हैं, जिनका हल निकालना

अत्यावश्यक है। सरकार इन समस्याओं के प्रति जागरुक है, अत यह कहा जा सकता है कि भारतीय जहाजरानी का भविष्य उज्ज्वल है।

बन्दरगाहों का विकास

सन् १९५१-५२ में भारत में प्रमुख बन्दरगाह केवल ५ थे—बम्बई, कलकत्ता, कोचीन, मद्रास तथा विशाखापत्तनम्। प्रथम योजनाकाल में गुजरात में कांडला बन्दरगाह का निर्माण एक प्रमुख बन्दरगाह के रूप में किया गया। द्वितीय योजनाकाल में कोचीन, मद्रास तथा विशाखापत्तनम बन्दरगाहों की क्षमता (Berthing Capacity) बढ़ायी गयी। तृतीय योजनाकाल में पारादीप बन्दरगाह का निर्माण किया गया, मद्रास, विशाखापत्तनम तथा कांडला का विकास किया गया। प्रथम, द्वितीय तथा तृतीय योजनाकाल में बन्दरगाहों के विकास तथा निर्माण पर कुल १६५ करोड़ रुपया व्यय किया गया। प्रथम, द्वितीय तथा तृतीय योजनाओं के प्रारम्भ में भारत के प्रमुख बन्दरगाहों की क्षमता (Traffic Handling Capacity) क्रमश २०, २८ तथा ३८ मिलियन टन थी। तृतीय योजना के अन्त में इनकी क्षमता (१९६५-६६) ५० मिलियन टन हो गयी। १९६८-६९ में यह ५६ मिलियन टन थी।

वर्तमान समय में भारत में ८ प्रमुख बन्दरगाह हैं—कलकत्ता, पारादीप, विशाखापत्तनम, मद्रास (पूर्वी तट पर), कांडला, बम्बई, मारमुगांव तथा कोचीन (पश्चिमी तट पर)। इनके अतिरिक्त तूतीकोरन, मंगलौर तथा हल्दिया बन्दरगाहों का विकास किया जा रहा है। सन् १९६८-६९ में भारत के प्रमुख बन्दरगाहों द्वारा लगभग ५ ५ करोड़ टन माल उठाया गया।

आन्तरिक जल परिवहन
(Inland Water Transport)

जल परिवहन की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि यह बहुत सस्ता पड़ता है। अत कोयला, तेल, इस्पात, तथा अन्य भारी सामान ढोने के लिए रेलों के स्थान पर नदियों या बड़ी नहरों को परिवहन के काम में लिया जाना चाहिए।

जेम्स रेनेल ने अपनी पुस्तक, ए मैप ऑफ इण्डिया, में जमुना, सतलज तथा सिंध नदियों में दूर-दूर तक जहाज चलने का जिक्र किया है। रेनेल के अनुसार कलकत्ता से दूर बिहार तक जहाज आते थे और १८४२ में स्थापित होने वाली इण्डिया जनरल नेवीगेशन कम्पनी इस मार्ग से व्यापार करती थी। इसके अतिरिक्त सिंध नदी में अटक तक (लगभग १,००० मील), चिनाव नदी में वजीराबाद तक (८०० मील) और सतलज नदी से लुधियाना तक (८०० मील) जहाज चलते थे। वर्तमान में यह नदियाँ जहाजरानी के उपयुक्त नहीं रह गयी हैं। अनुमान लगाया गया है कि भारत में लगभग २५,००० मील की दूरी में जल-परिवहन की व्यवस्था की जा सकती है और इसकी लगभग एक-तिहाई दूरी में बड़े जहाज तथा शेष में नावें चलायी जा सकती हैं।

भारत सरकार के अनुमान के अनुसार आन्तरिक जलमार्गों की लम्बाई ५,००० मील है जिसमें गंगा-ब्रह्मपुत्र तथा उसकी सहायक नदियाँ, गोदावरी-कृष्णा, तथा उनसे निकली हुई नहरें, केरल राज्य की नहरें, आन्ध्र और मद्रास राज्य की बकिंघम नहर तथा पश्चिमी तटीय नहरें और उड़ीसा राज्य में महानदी से निकाली हुई नहरें उल्लेखनीय हैं। गंगा-ब्रह्मपुत्र तथा उनकी सहायक नदियों में जल परिवहन का विकास करने के लिए १९५२ में गंगा-ब्रह्मपुत्र जल-परिवहन मण्डल (Ganga Brahmaputra Water Transport Board) स्थापित किया गया। सन् १९६७ में आन्तरिक जल परिवहन निदेशालय की स्थापना की गयी।

वर्तमान स्थिति—जनवरी १९७० में कुल १३,१०० किलोमीटर दूरी में नदियों में जहाज चलाये जा सकते थे और ३,१८७ मील तक छोटी नावें अनेक क्षेत्रों में नदियों तथा नहरों में मिट्टी निकालकर उन्हें जहाजरानी के योग्य बनाया जा सकता है।

तृतीय योजना—तृतीय पंचवर्षीय योजना में आन्तरिक जल परिवहन का विकास करने के लिए केन्द्र सरकार द्वारा ७.७ करोड़ रुपये तथा राज्य सरकारों द्वारा १.८८ करोड़ रुपये की व्यवस्था की गयी थी। योजना के अन्तर्गत पाण्डु तथा जोगीगोपा (आसाम) में नदी बन्दरगाहों का निर्माण किया गया तथा ब्रह्मपुत्र, गंगा, महानदी, ताप्ती आदि नदियों और बिजली नहर, राजस्थान नहर, उड़ीसा की तटवर्ती नहर, बकिंघम नहर, कोचीन विजल नहर, तथा गोविन्दसागर झील (हिमाचल प्रदेश) आदि में परिवहन सुविधाओं का विकास करने का प्रावधान किया गया है। भारत सरकार ने आन्तरिक जल परिवहन का विकास करने के लिए उड़ीसा राज्य को ५८ लाख रुपये का ऋण दिया। आन्तरिक जल परिवहन को प्रोत्साहन देने के लिए भारत सरकार ने रिवर स्टीम नेवीगेशन कम्पनी (River Steam Navigation Company), जो ब्रह्मपुत्र नदी में बंगाल और आसाम के बीच परिवहन सेवा प्रदान करती है में अंश पूंजी खरीदने का निश्चय किया है। कलकत्ता में आन्तरिक जल परिवहन सम्बन्धी प्रशिक्षण देने का एक केन्द्र भी स्थापित किया गया है, जिसका संचालन भारत सरकार द्वारा किया जा रहा है।

तृतीय योजनाकाल में आन्तरिक जल परिवहन के विकास पर वास्तविक व्यय ७.७ करोड़ रुपये मात्र हुआ। इससे आन्तरिक जल परिवहन की उपेक्षा का अनुमान लगाया जा सकता है।

भविष्य—तृतीय योजनाकाल में ३२ लाख रुपये की लागत से पाण्डु में नदी बन्दरगाह (Riverport) का निर्माण किया गया। फरवरी सन् १९६७ में The Central Inland Water Transport Corporation Limited की स्थापना ४ करोड़ रुपये की अधिकृत पूंजी से की गयी। इस निगम का प्रमुख कार्य (i) असम में नदी परिवहन की व्यवस्था करना, (ii) कलकत्ता क्षेत्र में गोदामों की व्यवस्था करना, तथा (iii) राजाबागान डाकयार्ड से वर्कशाप का प्रबन्ध करना है।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि भारत में आन्तरिक जल परिवहन की सुविधाओं का विकास करने के लिए महत्त्वपूर्ण प्रयत्न किये जा रहे हैं। इस सम्बन्ध में रिवर स्टीम नेवीगेशन कम्पनी की भाँति अन्य कम्पनियों का संगठन करना उचित होगा। इन कम्पनियों में राज्य तथा केन्द्र सरकारें अंश पूंजी खरीद सकती हैं तथा ऋण सहायता कर सकती हैं। इस प्रकार यदि आन्तरिक जल परिवहन का विकास किया जा सका तो न केवल रेल परिवहन पर भार कम हो जायेगा बल्कि औद्योगिक विकास के लिए दूर दूर स्थानों को सस्ता कच्चा माल तथा कोयला आदि भेजा जा सकेगा जिससे देश के पिछड़े हुए भागों की उन्नति होने का अवसर मिल सकेगा।

चतुर्थ योजना में आन्तरिक जल परिवहन पर ५ करोड़ रुपया व्यय करने का प्रस्ताव किया गया है।

अभ्यास-प्रश्न

१ भारत के आन्तरिक जल परिवहन पर टिप्पणी लिखिए। (विक्रम, बी० ए०, १९६०)
२ भारत में बन्दरगाहों की न्यूनता पर टिप्पणी लिखिए। (आगरा, बी० ए०, १९६०)
३ गत दस वर्षों में भारतीय जहाजरानी के विकास का वर्णन कीजिए। (आगरा बी० ए०, १९६०)
४ भारत में युद्धोत्तरकाल में जल परिवहन के विकास पर एक निबन्ध लिखिए। (राजस्थान, बी० ए०, १९६०, १९६२)

45 वायु परिवहन

(AIR TRANSPORT)

"We have to shed the bullock-cart mentally to justify our citizenship in the age of sputniks"

—NEHRU

भारत मे प्रयोगात्मक उडाने सन् १९११ मे प्रारम्भ की गयी परन्तु वायु परिवहन का वास्तविक प्रारम्भ सन् १९२७ से हुआ जबकि नागरिक उड्डयन विभाग (Civil Aviation Department) की स्थापना की गयी। सन् १९११ मे बम्बई के गवर्नर ने बम्बई व करांची के बीच वायु यातायात प्रारम्भ किया। उसी वर्ष वायुयान द्वारा प्रथम बार इलाहाबाद से नैनी जक्शन तक डाक भेजी गयी। प्रथम महायुद्ध के बाद ही वायु परिवहन का विकास प्रारम्भ किया जा सका। सन् १९२६ में वायु परिवहन बोर्ड सगठित किया गया जिसने वायु परिवहन के विकास के सुझाव दिये। इसी बोर्ड के सुझाव पर सन् १९२७ मे नागरिक उड्डयन विभाग की स्थापना की गयी, हवाई अड्डे बनाये गये तथा फ्लाइग क्लब सगठित किये गये। सन् १९२९ मे ब्रिटेन, फ्रास व हालैण्ड द्वारा Empire Air Services का प्रारम्भ भारत मे भी किया गया। उसी वर्ष इम्पीरियल एयरवेज के जहाज दिल्ली तक चलने लगे। सन् १९३३ मे यह वायु-सेवा सिंगापुर तक बढा दी गयी।

भारतीय साहस—सन् १९३२ मे वायु परिवहन के क्षेत्र मे पहली बार भारतीय साहस का पदार्पण हुआ। टाटा एण्ड सस लिमिटेड ने टाटा एयरवेज कम्पनी की स्थापना की तथा १५ अक्तूबर, १९३२ मे करांची-मद्रास के बीच वायु सेवा प्रारम्भ की गयी। सन् १९३६ तक इस कम्पनी के जहाज कोलम्बो तक जाने लगे। भारत सरकार ने डाक ले जाने का कार्य भी इस कम्पनी को सौपा, जिससे इस कम्पनी की आर्थिक स्थिति मे सुधार हुआ। सन् १९३३ मे इण्डियन नेशनल एयरवेज लिमिटेड की स्थापना की गयी। इस कम्पनी को भी डाक ले जाने का कार्य दिया गया। इसके वायुयान करांची-लाहौर तक चलाये गये। सन् १९३३ मे भारत ने इगलैण्ड तथा ब्रिटिश एयरवेज के साथ स्थाई समझौता किया। फलस्वरूप एक नयी कम्पनी 'इण्डियन ट्रासकाटीनेंटल एयरवेज लिमिटेड' की स्थापना की गयी। सन् १९३७ मे 'एयर सर्विसेज ऑफ इण्डिया' स्थापित हुई तथा इसके वायुयान बम्बई काठियावाड़ मार्ग पर चलाये गये। इस कम्पनी को अधिक हानि होने के कारण इसे १९३९ मे बन्द कर दिया गया।

साम्राज्य हवाई डाक योजना (Empire Air Mail Scheme)—सन् १९३८ से यह योजना प्रारम्भ की गयी। इसके द्वारा साम्राज्य के सभी देशों में वायुयान द्वारा डाक पहुँचाने का निश्चय किया गया। इस योजना के अन्तर्गत टाटा एयरवेज लिमिटेड तथा इण्डियन नेशनल एयरवेज लिमिटेड के साथ १५ वर्ष के लिए समझौता किया गया। टाटा एयरवेज ने १५ लाख रुपये वार्षिक पर कराँची-बम्बई मार्ग पर डाक ले जाना तथा इण्डियन एयरवेज लिमिटेड ने लाहौर-कराँची मार्ग पर ३.७५ लाख रुपये वार्षिक पर डाक ले जाना स्वीकार किया। इस समझौते से इन कम्पनियों को पर्याप्त लाभ हुआ। द्वितीय महायुद्ध काल में साम्राज्य वायु सेवा बन्द कर दी गयी परन्तु युद्ध के समय इन कम्पनियों ने सराहनीय कार्य किया। कम्पनियों की आर्थिक दशा में सुधार हुआ। सन् १९४२ में इन दोनों कम्पनियों को युद्ध परिवहन विभाग के आधीन कर दिया गया। युद्धकाल में विभिन्न मार्गों पर वायु-सेवा आरम्भ की गयी। हवाई अड्डे बनाये गये, जहाज खरीदे गये तथा वायुयान चलाने की शिक्षा का विकास किया गया। सन् १९४४ में १९३८ की अपेक्षा यात्रियों की संख्या तथा ढोये गये माल की मात्रा में क्रमशः ८ गुनी तथा ६ गुनी वृद्धि हुई। इस प्रकार विकास के इस प्रथम चरण में वायु यातायात ने तीव्र गति से उन्नति की।

द्वितीय चरण (१९४५-१९५३)—युद्ध समाप्त होने पर वायु यातायात के विकास के सम्बन्ध में परामर्श देने के लिए डाक एवं उड्डयन पुनर्निर्माण उप-समिति नियुक्त की गयी। इस समिति ने वायु यातायात के विकास के लिए कुछ सुझाव दिये। सरकार की नीति इन्हीं सुझावों पर आधारित थी। ये सुझाव निम्नलिखित थे

(१) वायु यातायात का कार्य निजी कम्पनियों द्वारा किया जाना चाहिए।

(२) कम्पनियों की संख्या अधिक नहीं होनी चाहिए।

(३) प्रत्येक कम्पनी के लिए लाइसेंस लेना अनिवार्य होना चाहिए।

(४) हानि-लाभ का पूरा दायित्व कम्पनियों पर होना चाहिए।

(५) आवश्यकता पड़ने पर विशेष परिस्थितियों में सरकार द्वारा कम्पनियों को आर्थिक सहायता दी जानी चाहिए।

(६) विशेष अवस्थाओं में सरकार कम्पनियों के संचालन में भाग ले सकती है। इसके लिए सरकार कम्पनी के प्रबन्ध-मण्डल में अपना एक संचालक नियुक्त कर सकती है।

सन् १९४६ में वायु परिवहन लाइसेंस मण्डल (Air Transport Licensing Board) बनाया गया जो लाइसेंस देने का कार्य करता था। युद्धोत्तर-काल में वायु परिवहन सम्बन्धी कम्पनियों की संख्या में वृद्धि हुई, जैसे १९४५ में भारत एयरवेज, एयरवेज इण्डिया तथा डेक्कन एयरवेज की स्थापना हुई। सन् १९४६ में अम्बिका एयरलाइन्स तथा १९४७ में कलिंग एयरलाइन्स की भी स्थापना हुई। स्वतन्त्रता के पश्चात् ओरियण्ट एयरवेज पाकिस्तान में चला गया। शरणार्थी समस्या तथा काश्मीर की रक्षा हेतु अधिक वायुयानों की आवश्यकता हुई। इस प्रकार स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् वायु-सेवा की माँग में वृद्धि हुई।

सन् १९४८ में इलाहाबाद में वायुयान चालकों के लिए प्रशिक्षण केन्द्र स्थापित किया गया। सन् १९४९ में सरकार ने रात्रि वायु डाक योजना प्रारम्भ की। सन् १९४८ में ही टाटा ने एयर इण्डिया इण्टरनेशनल नाम की कम्पनी संगठित की जिसमें सरकार ने ४९% पूँजी दी तथा अपनी अंश पूँजी को बढ़ाकर ५१% तक करने का अधिकार रखा। सरकार ने प्रथम पाँच वर्षों में होने वाली हानि को भी ऋण के रूप में पूरा करने का वचन दिया। इस प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय वायुमार्गों पर प्रथम बार भारतीय कम्पनी के जहाज चलाये गये।

सरकार द्वारा वायुयान कम्पनियों को बराबर प्रोत्साहन दिया जाता रहा। फिर भी कम्पनियों की अवस्था ठीक नहीं थी। अत फरवरी १९५० मे वायु परिवहन जाँच समिति (Air Transport Enquiry Committee) की नियुक्ति की गयी जिसने अपनी रिपोर्ट सितम्बर १९५० मे प्रस्तुत की। इस समिति ने वायुयान कम्पनियों की आर्थिक स्थिति का पूर्णरूप से अध्ययन किया। इस समिति के निष्कर्ष तथा मुख्य सुझाव निम्नलिखित थे

(१) प्राय सभी कम्पनियाँ घाटे पर चल रही थीं। केवल एयरवेज इण्डिया की परिस्थिति ठीक थी। कम्पनियों के घाटे पर चलने के कई कारण थे जिनमे कम्पनियों के बीच अनुचित प्रतिस्पर्द्धा, कर्मचारियों का अधिक वेतन, पैट्रोल का ऊँचा मूल्य, बोर्ड द्वारा लाइसेंस देने मे विलम्ब तथा लाइसेंस प्राप्त करने के लिए कम्पनियो द्वारा अधिक मात्रा मे वायुयान तथा सामग्री खरीदना था। उपर्युक्त दोषो को दूर करने के लिए यह आवश्यक था कि कम्पनियों की संख्या मे कमी की जानी चाहिए। उस समय २१ कम्पनियाँ कार्य कर रही थीं। समिति के सुझाव के अनुसार देश की आवश्यकता को ध्यान मे रखते हुए इन कम्पनियो के स्थान पर केवल ४ कम्पनियाँ ही होनी चाहिए थीं जिनके मुख्य कार्यालय बम्बई, कलकत्ता, दिल्ली तथा हैदराबाद मे स्थापित हों।

(२) जिन कम्पनियो की लाइसेंस की अवधि समाप्त हो जाय उनके लाइसेंस का नवीनीकरण नहीं करना चाहिए।

(३) कम्पनियो के भाडे इस प्रकार निर्धारित किये जायें कि कम्पनियों को अपनी पूंजीगत स्थायी सम्पत्ति का १० प्रतिशत लाभ प्राप्त हो। नागरिक उड्डयन विभाग के महा-सचालक द्वारा भाडे की न्यूनतम दरे निर्धारित की जानी चाहिए।

(४) कम्पनियों को सरकार द्वारा आर्थिक सहायता देने की नीति जारी रखनी चाहिए। यह आर्थिक सहायता दिसम्बर १९५२ तक दी जानी चाहिए।

(५) लाइसेंस बोर्ड का पुनर्गठन होना चाहिए।

(६) वायु परिवहन का राष्ट्रीयकरण करना व्यावहारिक दृष्टि से न्यायसगत नहीं है। यदि पुनर्गठन योजना के पश्चात् भी कम्पनियाँ पाँच वर्ष तक घाटे पर चलती हैं तो इनका राष्ट्रीयकरण करने के प्रश्न पर विचार करना चाहिए। यदि राष्ट्रीयकरण किया जाय तो प्रबन्ध व्यवस्था एक वैधानिक निगम द्वारा की जानी चाहिए।

वायु परिवहन का राष्ट्रीयकरण—उपर्युक्त रिपोर्ट के पश्चात भी कम्पनियों की आर्थिक स्थिति खराब होती गयी अत सरकार ने वायु परिवहन का राष्ट्रीयकरण करने का निश्चय किया तथा उपर्युक्त रिपोर्ट पर कोई कार्यवाही नहीं की जा सकी। मई १९५३ मे Air Corporation Act पास किया गया जिसके द्वारा वायु परिवहन का राष्ट्रीयकरण कर दिया गया। राष्ट्रीयकरण के कार्य को सम्पन्न करने के लिए दो निगम स्थापित किये गये

(१) इण्डियन एयरलाइन्स कारपोरेशन (Indian Airlines Corporation)—इस कारपोरेशन की स्थापना ८ वायुयान कम्पनियों को मिलाकर की गयी। इसका मुख्य कार्यालय दिल्ली मे है। इस निगम के वायुयान देश के आन्तरिक वायुमार्गों तथा पडौसी देशों मे चलाये जाते हैं।

(२) एयर इण्डिया इण्टरनैशनल कारपोरेशन (Air India International Corporation)—इस निगम को देश के बाह्य मार्गों पर वायुयान चलाने का अधिकार दिया गया। इसके वायुयान प्राय विश्व के समस्त मुख्य वायुमार्गों पर चलाये जाते हैं। अब इसका नाम केवल 'Air I'ndia' है।

जिस समय वायु परिवहन का राष्ट्रीयकरण किया गया उस समय वह एक विवादग्रस्त विषय था। राष्ट्रीयकरण के सम्बन्ध म किसी न किसी रूप मे सन् १९४७ से ही विचार चल रहा था परन्तु इसे कार्य रूप नही दिया जा सका। योजना आयोग ने भी सन् १९५१ ५२ मे आर्थिक सहायता के प्रश्न पर मत व्यक्त किया था कि वायु परिवहन का राष्ट्रीयकरण कर दिया जाय। राष्ट्रीयकरण के पक्ष एव विपक्ष मे कुछ तर्क प्रस्तुत किये गये

राष्ट्रीयकरण के पक्ष मे तर्क

(१) कम्पनियो की सख्या अत्यधिक है। कार्य-केन्द्रों, साज सज्जा तथा कर्मचारियो का समुचित उपयोग करने के लिए यह आवश्यक है कि वायु परिवहन का राष्ट्रीयकरण किया जाय।

(२) सुरक्षा और राष्ट्रीय सकट के समय वायुमार्गो द्वारा महत्त्वपूर्ण सेवाएँ प्राप्त होनी हैं। अत इन सेवाओ के लिए एक राजकीय सगठन होना आवश्यक है।

(३) वायु परिवहन एक जनहित उद्योग (Public Utility) की स्थिति मे पहुँच गया है, अत इसका राष्ट्रीयकरण करना सर्वथा उपयुक्त होगा।

(४) राष्ट्रीयकरण होने पर देश मे वायुयान-निर्माण उद्योग अधिक उन्नति कर सकेगा। राष्ट्रीयकरण करने से निर्माण तथा प्रशासन एक होने से स्थायी व्यय मे ८½ प्रतिशत की बचत होगी। अत प्रशासन मे मितव्ययता लाने के लिए भी राष्ट्रीयकरण आवश्यक है।

(५) यह उद्योग सदैव सरकारी सहायता पर चलता रहा है। अत व्यक्तिगत पूँजीपतियो को आर्थिक सहायता देने की अपेक्षा राष्ट्रीयकरण करना अधिक उपयुक्त होगा।

(६) वायु परिवहन मे अन्तरराष्ट्रीय कानून तथा प्रतिस्पर्द्धा का सामना करना पडता है, अत इसकी उचित व्यवस्था तथा नियन्त्रण राज्य द्वारा ही किया जा सकता है।

(७) वायु परिवहन के लिए हवाई अड्डे बनाना, परिवहन सम्बन्धी सुविधाएँ देना आदि कार्यक्रम पर सरकार द्वारा काफी धन व्यय किया जाता है अत वायु सेवाओ का सचालन सरकार द्वारा ही किया जाना चाहिए।

विपक्ष में तर्क

(१) राष्ट्रीयकरण करने पर सरकार को मुआवजा देना पडेगा जिससे सरकार के आर्थिक दायित्व मे वृद्धि होगी।

(२) वायु परिवहन व्यवसाय म प्रतिस्पर्द्धा अधिक है। नित्य नये आविष्कारों तथा विकास कार्यक्रमो को कार्यान्वित करना तथा ग्राहको से निकट सम्पर्क स्थापित करना और व्यावसायिक नीतियो के सम्बन्ध मे शीघ्र निर्णय लेना आवश्यक है। सरकार द्वारा इन सब पर शीघ्र निर्णय नही लिया जा सकता।

(३) वायु परिवहन जैसे विशिष्ट उद्योग के लिए सरकार के पास योग्य कर्मचारियो का भी अभाव है।

(४) सन् १९४८ की औद्योगिक नीति मे यह घोषणा की गयी थी कि वायु परिवहन का राष्ट्रीयकरण आगामी १० वर्षों तक नही किया जायेगा, अत बीच म ही राष्ट्रीयकरण करना इस घोषणा के विरुद्ध होगा। इससे निजी क्षेत्र मे असन्तोष फैलेगा।

(५) ससार के सभी देशो मे वायु सेवाएँ सरकार की सहायता से उन्नति करती हैं, अत सरकारी सहायता का तर्क प्रस्तुत करना उपयुक्त नही है।

वस्तुत तत्कालीन परिस्थितियो को ध्यान मे रखते हुए वायु परिवहन का राष्ट्रीयकरण करना आवश्यक था अत सन् १९५३ मे इसका राष्ट्रीयकरण कर लिया गया।

पचवर्षीय योजनाओ के अन्तर्गत वायु परिवहन—प्रथम योजना के आरम्भ तक वायु परिवहन के विकास पर ६ ६ करोड रुपये व्यय किये गये। प्रथम योजनाकाल मे वायु परिवहन के लिए ९ ५ करोड रुपये का आयोजन किया गया था परन्तु वास्तविक व्यय ७ २४ करोड रुपये हुआ। योजनाकाल मे हवाई अड्डो का निर्माण, सचार सुविधाओ तथा यन्त्र-उपकरण आदि की पूर्ति पर विशेष ध्यान दिया गया। योजनावधि मे ६ हवाई अड्डे बनाये गये तथा पुराने हवाई अड्डो का सुधार किया गया।

द्वितीय योजना—द्वितीय पचवर्षीय योजना मे वायु परिवहन पर कुल ३०'५३ करोड रुपये दोनो निगमो पर खर्च करने का लक्ष्य निर्धारित किया गया था जिसमे से १६ करोड रुपये इण्डियन एयरलाइन्स कारपोरेशन पर तथा १४ ५३ करोड रुपये एयर इण्डिया पर व्यय करने थे।

द्वितीय योजनाकाल मे ८ नये हवाई अड्डे बनाने का आयोजन था। इस काल मे वायु परिवहन ने आशातीत उन्नति की। माँग के अनुरूप सुविधाएँ बढाने का प्रयत्न किया गया सान्ताक्रुज, दमदम तथा पालम हवाई अड्डो का विकास किया गया तथा उन्हे जेट वायुयानो के सेवा-योग्य बनाया गया। देश के सभी नगरो को वायु सेवाओ द्वारा सम्बन्धित किया गया। इसके अतिरिक्त वायु सेवा सम्बन्धी ट्रेनिंग व्यवस्था का केन्द्रीयकरण इलाहाबाद मे किया गया। द्वितीय योजना के सभी लक्ष्यो की पूर्ति कर ली गयी।

तृतीय योजना—तृतीय योजना मे नागरिक उड्डयन के लिए ५५ करोड रुपये की व्यवस्था की गयी थी, जिसमे से २५ ५ करोड रुपये नागरिक उड्डयन विभाग के कार्यक्रमो पर व्यय करने थे।

वर्तमान स्थिति एव समस्याएँ—उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट है कि भारत मे वायु परिवहन का विकास स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् अधिक हुआ है। सन् १९५१-१९६९ की अवधि मे वायु यातायात के विकास का अनुमान निम्नलिखित सारणियो से लगाया जा सकता है

अनुसूचित सेवाएँ

वर्ष	उडाने (लाख किमी)	यात्री (लाख)	माल (लाख किलोग्राम)	डाक (लाख किमी)
१९५१	३१४	४ ४६	३९८	३३
१९६१	४४४	९ ७३	४०१	७५
१९६९	६६६	२५	३०८	१२१

गैर-अनुसूचित सेवाएँ

वर्ष	उडान (लाख किमी)	यात्री (सहस्र)	माल (लाख किलोग्राम)
१९५१	१०६	६७	५९७
१९६१	९६	११०	२६१
१९६९	५२	१५०	११४

वर्तमान स्थिति—इण्डियन एयरलाइन्स निगम के पास ७ कारवेल जेट, १४ वाइकाउण्ट, १४ फोकर फ्रेंडशिप, २३ डेकोटा तथा १४ एच-एस ७४८ विमान हैं। इनके माध्यम से भारत के सभी महत्त्वपूर्ण नगर वायु-सेवा द्वारा जुडे हुए हैं। बर्मा, सीलोन, अफगानिस्तान और नेपाल को भी विमान जाते हैं। १९६८-६९ मे निगम के विमानो द्वारा १९ लाख यात्री ले जाये गये और ४०१ करोड किलोमीटर की उडानें की गयी।

एयर इण्डिया के पास १० बोइग जेट है जिनके द्वारा २४ देशो को भारत से वायु सेवाएँ प्रदान की जाती हैं। १९६८-६९ मे इन वायुयानो ने २ ४२ करोड किलोमीटर की उडानें की तथा ३ ३१ लाख यात्रियो को ले जाया गया।

उड्डन क्लब (Flying Clubs)—भारत मे वायुयान उडान सम्बन्धी प्रशिक्षण देने के लिए २५ स्थानो पर उड्डयन क्लब हैं। इसके अतिरिक्त पूना, बगलौर तथा लखनऊ मे तीन सरकारी ग्लाईडिंग केन्द्र है और नई दिल्ली, पिलानी, देवलाली, अहमदाबाद, अमृतसर, जयपुर, रायपुर, पटना तथा कानपुर मे सरकारी सहायता प्राप्त ग्लाईडिंग केन्द्र हैं।

हवाई अड्डे—*भारत मे कुल ८५ अड्डे है जिनमे सान्ताक्रुज (बम्बई), मद्रास, दमदम* (कलकत्ता) तथा पालम (दिल्ली) अन्तरराष्ट्रीय अड्डे है। शेष हवाई अड्डो का प्रयोग आन्तरिक वायु परिवहन के लिए होता है, रक्सॉल तथा जोगबनी (बिहार) मे नये अड्डे निर्माणाधीन हैं।

वैमानिक समझौते—भारत सरकार ने बहुत से देशो से वैज्ञानिक समझौते किये हैं। प्रथम समझौता सन् १९४६ मे अमरीका के साथ हुआ। सन् १९४८ मे भारतीय विमान विदेशो को जाने लगे। सन् १९५४ म अमरीका के साथ किया गया समझौता समाप्त कर दिया गया। वर्तमान समय मे अफगानिस्तान, आस्ट्रेलिया श्रीलका, सयुक्त अरब गणराज्य, फ्रास, इटली, जापान, नीदरलैण्ड, पाकिस्तान, फिलीपाइन, स्वीडन, स्विटजरलैण्ड, थाइलैण्ड, ईराक, अमरीका, ब्रिटेन, रूस, पश्चिमी जर्मनी ईरान, लेबनान आदि देशो के साथ वैमानिक समझौते जाती है।

विमान निर्माण—भारत मे वायुयान निर्माण करने के लिए सेठ बालचन्द हीराचन्द तथा मैसूर सरकार ने हिन्दुस्तान एयरक्राफ्ट लिमिटेड (बगलौर) स्थापित की। सन् १९४१ मे भारत सरकार ने भी इसम अश पूँजी खरीद ली और जून १९४२ मे बालचन्द हीराचन्द के अधिकार मे स्थित सभी अश भारत सरकार द्वारा खरीद लिए गये। यह कम्पनी वायुयान, एवरो इजन तथा रेल के डिब्बे तैयार करती है। १९५१ मे इसके द्वारा बैंकरपुर मे एक शाखा (फैक्टरी) स्थापित कर दी गयी है जो वायुयानो की मरम्मत करने का कार्य करती है।

१६ अगस्त, १९६३ मे वायुयान बनाने तथा एवरो-इजनो एव विद्युत-पदार्थ प्रक्षेपणास्त्र (Missiles) निर्मित करने के लिए एयरोनॉटिक्स इण्डिया (Aeronautics India Ltd, Bombay) की स्थापना की गयी। इसने कानपुर के एयर वायुयान डिपो को अपने अधिकार मे से लिया है। वर्तमान मे एयरोनाटिक्स इण्डिया के अन्तर्गत निम्नलिखित ५ इकाइयाँ हैं।

(१) बगलौर की हिन्दुस्तान एयरक्राफ्ट फैक्ट्री,
(२) कानपुर का वायुयान उत्पादक डिपो,
(३) नासिक की वायुयान के ढाँचे बनाने वाली फैक्टरी,
(४) कोरापुट (उडीसा) की एयरो-इजन फैक्टरी,
(५) हैदराबाद की विद्युत पदार्थ उत्पादक फैक्टरी।

सोवियत रूस की सहायता से भारत सरकार द्वारा एक 'मिग' विमान निर्माण करने की फैक्टरी स्थापित की गयी है।

समस्याएँ तथा सुझाव—निरन्तर प्रगति होते हुए भी भारतीय वायु परिवहन के समक्ष कुछ समस्याएँ है जिनका समाधान आवश्यक है

(१) दो निगम—वायु यातायात क्षेत्र मे दो निगम (A I. और I A C) कार्य कर रहे हैं। राज्याध्यक्ष समिति ने केवल एक निगम स्थापित करने का सुझाव दिया था। दो निगमो के कारण प्रबन्ध-व्यय अधिक पडता है। ससद की Estimates Committee ने भी एक निगम

बनाने का सुझाव दिया है। विश्व के कुछ बड़े देशों में भी एक ही प्रबन्ध-व्यवस्था के अन्तर्गत राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय वायु सेवाएँ प्रदान की जाती हैं। अत भारत में भी एक ही निगम द्वारा वायु परिवहन की व्यवस्था की जानी चाहिए।

(२) **प्रशिक्षण एव अन्वेषण**—भारत मे प्रशिक्षण तथा अन्वेषण सम्बन्धी सुविधाओ का अभाव है। देश म केवल वायु परिवहन प्रशिक्षण केन्द्र इलाहाबाद मे है अत और प्रशिक्षण केन्द्रो की स्थापना की जानी चाहिए। अन्वेषण के क्षेत्र मे कोई भी कार्य नही हो रहा है अत इस दिशा मे भी प्रयत्न की आवश्यकता है। अन्वेषण कार्य मे Indian Air Force से सहायता ली जा सकती है।

(४) **उडान क्लब**—वर्तमान समय मे देश मे २३ उडान क्लब (Flying Clubs) हैं। वायु परिवहन की उन्नति के लिए यह आवश्यक है कि ऐसे क्लबो को प्रोत्साहन दिया जाय तथा उनकी सख्या मे वृद्धि की जाय।

(५) **परिवहन परिषद तथा परामर्श समितियाँ**—सन् १६५४ म दोनो विमान निगमो के कार्यो मे सामजस्य स्थापित करने के लिए एक विमान परिषद की स्थापना की गयी। परिषद समय-समय पर सरकार को सेवा सचालन, वायुमार्ग, किराया भाडा आदि के सम्बन्ध मे सुझाव देती है। इसके अतिरिक्त हिसाब, शैक्षिक ज्ञान, अन्वेषण आदि विषयो पर भी सरकार परिषद से सलाह लेती है। परन्तु इन क्षेत्रो म परिषद ने सन्तोषजनक कार्य नही किया है अत परिषद की कार्यप्रणाली मे सुधार की आवश्यकता है। इसी प्रकार दोनो निगमो की एक एक परामर्श समिति भी है जो विमान यात्रियो की सुविधाओ मे सुधार, समय सारिणी, नये स्टेशन खोलने आदि के सम्बन्ध मे सुझाव देती है। इन परामर्श समितियो को भी अधिक कार्यशील बनाने की आवश्यकता है।

चतुर्थ योजना (१६६६-७४) काल म वायु परिवहन पर २०२ करोड रुपये विनियोजित करने का प्रस्ताव किया गया है। इण्डियन एयरलाइन्स की क्षमता २२ करोड टन किलोमीटर से बढ कर ३६ करोड टन किलोमीटर और एयर इण्डिया की क्षमता ४४ करोड टन किलोमीटर से बढाकर ६६ टन किलोमीटर कर दी जायेगी। एयर इण्डिया द्वारा चार जम्बो जेट विमान खरीदे जायेंगे। इनम से एक खरीदा जा चुका है।

अभ्यास-प्रश्न

१ भारत म वायु यातायात की वर्तमान स्थिति तथा भविष्य की सम्भावनाओं पर प्रकाश डालिए।
(राजस्थान, बी० ए०, १६६२)

२ भारत म वायु परिवहन के राष्ट्रीयकरण के बाद के सगठन का सक्षिप्त विवरण दीजिए।
(आगरा, बी० कॉम०, १६६३)

३ भारत म वायु यातायात के विकास पर एक सक्षिप्त निबन्ध लिखिए।

४ वर्तमान युग म वायु यातायात के महत्त्व पर प्रकाश डालिए तथा भारत मे उसके विकास की विवेचना कीजिए।

५ भारत के वायु परिवहन की वर्तमान स्थिति कैसी है ? इसकी प्रगति के लिए सुझाव दीजिए।
(राजस्थान, बी० कॉम०, (अन्तिम वर्ष) १६६७)

46 भारतीय मुद्रा का इतिहास–1 (१८३५-१९३९)

(HISTORY OF INDIAN CURRENCY–I)

किसी देश में मुद्रा-व्यवस्था का विकास उस देश की सभ्यता के साथ-साथ होता है। भारतीय सभ्यता वैदिककाल में ही अपने चरम उत्कर्ष पर थी। उस समय देश में सोने की मुद्राएँ चलन में थीं। उसके पश्चात् भी शताब्दियों तक देश में स्वर्ण मुद्राओं का प्रचलन रहा। मुगल शासनकाल में उत्तर भारत में चाँदी की मुद्राएँ प्रचलित की गयीं और ब्रिटिश शासनकाल में कागज के नोट प्रचलित किये गये। वास्तव में, प्रत्येक नये शासन के साथ मुद्रा का आकार-प्रकार तथा रूप-रंग बदलता रहा है जिसके फलस्वरूप अनेक प्रकार की मुद्राएँ चलन में आती रही हैं। इस बात का प्रमाण इस तथ्य से मिलता है कि ईस्ट इण्डिया कम्पनी के प्रारम्भिक शासनकाल में भारत में ९९४ किस्म की मुद्राएँ चलन में थीं जिनका मूल्य धातु मूल्य के अनुसार घटता बढ़ता रहता था। ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने सन् १८३५ में अपने सम्पूर्ण शासन क्षेत्र में १८० ग्रेन तोल का (जिसमें १६५ ग्रेन शुद्ध चाँदी थी) रुपया चालू कर दिया।

(१) सन् १८३५ से १८७०—ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने अपने शासन क्षेत्र में १८० ग्रेन का रुपया चालू कर रजतमान (Silver Standard) की स्थापना तो कर दी किन्तु उसके साथ ही १८४१ के एक आदेश के अनुसार सरकारी भुगतान में १५ रुपए के मूल्य की सोने की मोहरें भी ली जाने लगीं। १८४८-४९ में आस्ट्रेलिया तथा कैलीफोर्निया में सोने की खानें मिल गयीं जिसके फलस्वरूप स्वर्ण का मूल्य गिरना आरम्भ हो गया। फलतः सरकार ने २५ दिसम्बर, १८५२ की एक घोषणा के अनुसार सोने के सिक्के भुगतान में लेना बन्द कर दिया।

मैन्सफील्ड आयोग—स्वर्ण के निरन्तर गिरते हुए मूल्यों के कारण अधिकांश लेन-देन चाँदी की मुद्रा में होने लगा जिससे देश में मुद्रा की कमी की स्थिति उत्पन्न हो गयी। अतः सन् १८६६ में सरकार द्वारा मैन्सफील्ड आयोग की नियुक्ति की गयी जिसने ५, १०, १५ रुपये के मूल्य की स्वर्ण मुद्राएँ तथा चाँदी के सिक्के चालू करने की सिफारिश की। सरकार ने आयोग की सिफारिशें स्वीकार कर लीं और ५ रुपये तथा १० रुपये के मूल्य की स्वर्ण मुद्राएँ चालू की गयीं।

(२) सन् १८७० से १८९३ (चाँदी के मूल्यों में गिरावट)—सन् १८७० के पश्चात् चाँदी के अन्तर्राष्ट्रीय मूल्यों में गिरावट आनी आरम्भ हो गयी। इसके कारण निम्नलिखित थे :

(क) चाँदी की मुद्रा का परित्याग—सन् १८७३ के पश्चात् जर्मनी, फ्रांस, बेल्जियम आदि अनेक यूरोपीय देशों ने चाँदी की मुद्रा का त्याग कर दिया और स्वर्णमान अपना लिया। अतः चाँदी की पूर्ति में वृद्धि हो गयी जिससे उसके मूल्य में गिरावट आने लगी।

(ख) नयी खानों की खोज—मैक्सिको तथा अन्य देशों में चाँदी की नयी खानें मिल जाने से भी चाँदी की पूर्ति में वृद्धि हो गयी।

(ग) अमरीका द्वारा चांदी खरीदना बन्द—शर्मन अधिनियम के अन्तर्गत अमरीका प्रति वर्ष ५.४ करोड़ औंस चांदी खरीदता था। वह खरीद बन्द करने पर चांदी की मांग बहुत कम हो गयी।

चांदी के गिरते हुए मूल्यों का प्रभाव—उपर्युक्त तीनों कारणों से चांदी की कीमतें गिरती चली गयी जिससे भारत की अर्थ-व्यवस्था को निम्नलिखित हानियाँ हुई :

(१) भारतीय रुपया चांदी का था अतः चांदी की कीमत गिरने से भारतीय रुपये की विनिमय दर गिर गयी। अतः भारत द्वारा इंगलैण्ड को दिये जाने वाले गृह शुल्क का भुगतान कठिन हो गया क्योंकि १.७ करोड़ पौण्ड के इस भुगतान के लिए अब पहले से अधिक रुपये देना आवश्यक हो गया। इस कमी की पूर्ति के लिए नये कर लगाने पड़े।

(२) भारतीय मुद्रा की दर निरन्तर गिरने से उस पर विदेशियों का विश्वास कम हो गया जिससे विदेशी पूंजी का आयात कम हो गया।

(३) भारत स्थित विदेशी कर्मचारियों के वास्तविक वेतनों में कमी हो गयी अतः उन्होंने अधिक वेतन के लिए मांग आरम्भ कर दी।

(३) सन् १८९३ से १९१४—उपर्युक्त कठिनाइयों से छुटकारा पाने के लिए सुझाव देने की दृष्टि से सरकार ने १८९२ में हर्शल समिति की नियुक्ति की। इस समिति ने चांदी का स्वतन्त्र टंकण बन्द करने का सुझाव दिया। सरकार ने इस सुझाव को स्वीकार कर लिया और १५ रुपये तथा ७.५ रुपये की स्वर्ण मुद्राएँ चालू कर दी। चांदी का स्वतन्त्र टंकण न होने से चांदी की मुद्राओं की कमी आ गयी जिससे रुपये की विनिमय दर कुछ बढ़नी आरम्भ हो गयी।

फाउलर समिति—रुपये की विनिमय-दर में सुधार होने पर सरकार ने हेनरी फाउलर की अध्यक्षता में एक और समिति नियुक्त कर दी जिसका काम देश की मुद्रा व्यवस्था के सम्बन्ध में सुझाव देना था। फाउलर समिति ने सन् १८९८ में रिपोर्ट प्रस्तुत की तथा निम्नलिखित सुझाव दिये

(क) भारत में स्वर्णमान की स्थापना की जानी चाहिए—इस उद्देश्य के लिए स्वर्ण की मुद्राएँ चलन में डाली जानी चाहिए और उनका प्रचार बढ़ाने का प्रयत्न किया जाना चाहिए।

(ख) चांदी का स्वतन्त्र टंकण कुछ समय के लिए बन्द रखा जाना चाहिए।

स्वर्ण विनिमय मान—सरकार ने फाउलर समिति की सिफारिशों को स्वीकार कर लिया और रेलवे तथा डाक विभाग के माध्यम से सोने के सिक्के चलन में डालने आरम्भ किये परन्तु कुछ समय के भीतर ही वह सब सिक्के सरकार के पास लौट आये। इसका कारण यह था कि दो-तीन वर्ष तक निरन्तर अकाल पड़ने के कारण जनता ने स्वर्ण के बड़े सिक्कों को काम में नहीं लिया। अतः सरकार ने चांदी के सिक्के चलन में डालना आरम्भ कर दिये। इसके अतिरिक्त ब्रिटेन को माल निर्यात करने पर जो आय होती थी उसे सरकार ने लन्दन में ही जमा करना आरम्भ कर दिया। इस प्रकार स्वर्ण धातुमान के स्थान पर भारत में स्वर्ण विनिमय मान की स्थापना हो गयी जिसकी विशेषताएँ निम्नलिखित थीं :

(१) देश में स्वर्ण मुद्राएँ चलन में नहीं थीं, चांदी के सिक्के चलते थे।

(२) विदेशी भुगतान के लिए स्वर्ण मिल सकता था परन्तु व्यवहार में विदेशी भुगतान के लिए स्टर्लिंग ड्राफ्ट या प्रतिकोषागार विपत्र (Reverse Council Bills) दिये जाते थे। जिस व्यक्ति को इंगलैण्ड में भुगतान करना होता उसमें भारत के ही किसी खजाने में रुपये जमा कर बदले में उतनी रकम के पौंडों का एक अधिकार पत्र दे दिया जाता था जिसे दिखाकर विदेशी व्यापारी लन्दन स्थित भारत सचिव के कार्यालय से निर्धारित रकम ले लेता था।

(३) भारत का स्वर्ण कोष लन्दन में रखा जाता था।

इस प्रकार भारत मे अनायास ही विनिमय मान की स्थापना हो गयी। इस व्यवस्था के अन्तर्गत भारत का स्वर्णकोष (निर्यातो से कमायी गयी रकम) लन्दन मे रखा जाता था जिसका भारतवासियो द्वारा बहुत विरोध किया गया। अनेक क्षेत्रो द्वारा देश मे स्वर्ण धातुमान की स्थापना की माँग की गयी। अत: मुद्रा-व्यवस्था के सम्बन्ध मे उचित सुझाव देने के लिए चैम्बरलेन आयोग की नियुक्ति की गयी।

चैम्बरलेन आयोग के सुझाव—इस आयोग ने १६१४ मे रिपोर्ट प्रस्तुत की जिसमे निम्नलिखित सुझाव दिये गये

(१) भारत के लिए स्वर्ण विनिमय मान सर्वोत्तम मुद्रा-व्यवस्था है।

(२) रुपये की विनिमय-दर १ शिलिंग ४ पेंस होनी चाहिए।

(३) स्वर्णमान कोष लन्दन मे ही रखा जाना चाहिए।

(४) देश मे पत्र मुद्रा का प्रचार बढाया जाना चाहिए।

(४) प्रथम युद्धकाल (१६१४-१६१८)—भारत सरकार चैम्बरलेन की सिफारिशो पर पूर्णत विचार भी नही कर पायी थी कि प्रथम महायुद्ध आरम्भ हो गया। युद्धकाल की मुद्रा सम्बन्धी मुख्य घटनाओं का ब्यौरा निम्नलिखित है

(क) स्वर्ण विनिमय मान का पतन—युद्ध प्रारम्भ होने के कुछ समय पश्चात् ही भारत से अत्यधिक माल निर्यात होना आरम्भ हो गया। व्यापार सन्तुलन पक्ष मे होने के कारण भारतीय रुपये की विनिमय-दर बढनी आरम्भ हो गयी। अत ब्रिटिश सरकार को १ शि० ४ पेंस की दर से काउंसिल बिल (Council Bills) बेचना बन्द करना पडा। परिणामस्वरूप, स्वर्ण विनिमय मान समाप्त हो गया।

(ख) मुद्रा की कमी—रुपये की विनिमय-दर बढने के साथ-साथ युद्धकाल मे चाँदी के मूल्यो मे भी वृद्धि होनी आरम्भ हो गयी जिससे भारत सरकार को रुपये ढालने मे कठिनाई हुई। फलत देश मे मुद्रा की कमी दृष्टिगोचर होने लगी। इस कमी की पूर्ति के लिए सरकार द्वारा निम्न कार्य किये गये .

(क) चाँदी तथा सोने के निर्यात पर रोक लगा दी गयी।

(ख) चाँदी तथा सोने के सिक्के गलाना दण्डनीय अपराध घोषित कर दिया गया।

(ग) सरकार द्वारा १ रुपये तथा २½ रुपये के नोट निकाले गये।

(घ) रेजगारी के अभाव की पूर्ति के लिए २ आने, ४ आने तथा ८ आने के गिलट के सस्ते सिक्के निकाले गये।

(ट) रुपये की विनिमय दर निरन्तर बढती गयी और सन् १६१६ मे २ शि० ४ पेंस तथा १६२० मे २ शि० ११ पेंस तक पहुँच गयी।

(५) सन् १६२०-१६२७ का काल—युद्ध समाप्त होते ही भारत सरकार ने हेनरी बेबिंगटन स्मिथ की अध्यक्षता मे एक समिति नियुक्त की जिसका कार्य भारतीय मुद्रा-व्यवस्था के सम्बन्ध मे सुझाव देना था। समिति ने यह सिफारिश की कि रुपये की विनिमय दर २ शिलिंग स्वर्ण के तुल्य निश्चित की जानी चाहिए। उस समय पौण्ड स्वर्ण पर आधारित नही था, अत: २ शिलिंग स्वर्ण २ शिलिंग ११ पेंस स्टर्लिंग के समान था। इतनी ऊँची दर रखने का सुझाव निम्नलिखित कारणो से दिया गया .

(क) सस्ते आयात—विनिमय दर ऊँची रखने से भारत मे विदेशी माल सस्ता पड़ेगा जिससे अधिक मशीनें आदि आयात करके देश का आर्थिक विकास सरलता से किया जा सकेगा।

(ख) गृह-शुल्क में कमी—ऊँची दर रखने से सरकार को गृह-शुल्क (Home charges) का भुगतान करने मे सरलता होगी क्योकि पहले २ ५ करोड पौण्ड का भुगतान करने के लिए ३७.५

करोड रुपये देने पडते थे, अब यह भुगतान केवल २५ करोड रुपये अथवा उससे भी कम हो जायेगा।

इस मत के विपरीत समिति के एक भारतीय सदस्य श्री दादीबा दलाल ने मत प्रकट किया कि रुपये की विनिमय-दर १ शिलिंग ४ पैंस ही होनी चाहिए जो वर्षों से स्वाभाविक दर रही है। ऊँची दर अधिक समय तक स्थिर नहीं रह सकेगी और इससे भारत के निर्यातों को बहुत हानि होगी।

भारत सरकार ने समिति के बहुमत को स्वीकार कर लिया और रुपये की विनिमय-दर २ शिलिंग स्वर्ण निश्चित कर दी गयी। किन्तु भारत का व्यापार सन्तुलन विपक्ष मे होने से शीघ्र ही विनिमय दर गिरनी प्रारम्भ हो गयी और मार्च १९२१ मे १५ पैंस से भी नीचे गिर गयी। इसका परिणाम यह निकला कि अनेक भारतीय आयातकर्ताओ के दिवाले निकल गये क्योंकि उनको आयातो का भुगतान करने के लिए बहुत अधिक रकम चुकानी पडी। १९२२ से भारतीय व्यापार मे एक नया मोड आया और निर्यातो मे कुछ वृद्धि होने लगी। फलत विनिमय दर १९२४ मे १ शिलिंग ६ पैंस तक पहुंच गयी। १९२५ मे ब्रिटेन ने स्वर्णमान अपना लिया। अत भारत के लिए अब यह निश्चित करना आवश्यक हो गया कि वह कौन-सा मुद्रामान अपनायेगा तथा रुपये की विनिमय-दर क्या रहेगी? इस सम्बन्ध म सुझाव देने के लिए सरकार ने हिल्टन यग की अध्यक्षता मे एक समिति नियुक्त कर दी।

(६) हिल्टन यग आयोग की सिफारिशें (Recommendations of the Hilton Young Commission)—हिल्टन यग आयोग ने १९२६ मे अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत की जिसकी मुख्य सिफारिसें निम्नलिखित थी

(१) रुपये की विनिमय दर १ शिलिंग ६ पैंस होनी चाहिए।

(२) देश मे स्वर्ण पाट मान (Gold Bullion Standard) अपनाया जाना चाहिए।

(३) एक केन्द्रीय बैंक—रिजर्व बैंक ऑव इण्डिया – स्थापित किया जाना चाहिए।

१ विनिमय-दर

हिल्टन यग आयोग के अधिकाश सदस्य रुपये की १ शिलिंग ६ पैंस विनिमय-दर के पक्ष मे थे किन्तु आयोग के एक सदस्य श्री पुरुषोत्तमदास ठाकुरदास का मत था कि विनिमय-दर १ शिलिंग ४ पैंस होनी चाहिए। दोनो वर्गों के तर्क आगे प्रस्तुत किये जाते हैं

१ शिलिंग ६ पैंस के पक्ष मे तर्क

(क) स्वाभाविक—१ शिलिंग ६ पैंस की दर के पक्ष मे पहला तर्क यह दिया गया कि यह दर दो तीन वर्ष से स्थायी हो गयी है और मजदूरी तथा मूल्य इस दर पर स्थिरता ग्रहण कर गये हैं। अत इसमे परिवर्तन करना उचित नही होगा।

(ख) मूल्यो में साम्य—दूसरा तर्क यह दिया गया कि १८ पैंस की विनिमय दर पर भारत का मूल्य स्तर अन्तरराष्ट्रीय मूल्य स्तर के समान हो गया है। यदि विनिमय दर को घटाया गया तो विदेशो से आने वाले माल के मूल्यो म १२ ५ प्रतिशत वृद्धि हो जायेगी और सहानुभूतिस्वरूप देश मे अन्य वस्तुओ के भाव भी बढ जायेंगे जिससे निर्धन जनता का कष्ट होगा।

(ग) गृह-शुल्क में कमी—१८ पैंस की विनिमय-दर के पक्ष मे एक तर्क यह दिया गया कि ऊँची दर पर भारत सरकार को गृह-शुल्क की रकम रुपयो म कम चुकानी पडेगी। १६ पैंस दर निर्धारण करने पर सरकार का व्यय बढ़ जायेगा और जनता पर अधिक कर लगाने पडेंगे।

(घ) चाँदी की मुद्रा की सुरक्षा—आयोग का यह मत था कि यदि रुपये की विनिमय-दर १८ पैंस रखी जाय तो चाँदी का भाव ४८ पैंस प्रति औंस होने तक रुपये की मुद्रा गलाने का भय नही होगा जबकि विनिमय-दर १६ पैंस रखने पर चाँदी का भाव ४३ पैंस प्रति औंस होने ही लोग

रुपये की मुद्रा गलाकर चांदी के रूप मे बचने लगेंगे। अत १८ पेंस की दर रखने पर रुपये की मुद्रा गलाने का भय कम है।

(ट) ठेके तथा उधार सौदे—आयाग का यह मत था कि विदेशो से माल आयात करने तथा उधार आदि के सौदे गत ३-४ वर्षो मे बहुत हुए हैं जबकि विनिमय-दर १८ पेंस थी। इस दर को बदलने से आयातकर्त्ताओ को अधिक रुपय देन पडेंगे। इसी प्रकार ऋणो का भुगतान करन मे भी अधिक रकम का भुगतान करना पडेगा।

१ शिलिंग ६ पेंस के विपक्ष मे (अथवा १ शिलिंग ४ पेंस के पक्ष में) तर्क

(१) अवास्तविक—सर पुरुषोत्तमदास ठाकुरदास का कथन था कि १८ पेंस की दर वास्तविक नही है क्योकि इसे सरकारी नीति द्वारा बनाकर रखा गया था। वास्तविक दर तो १६ पेंस ही थी जो वर्षो तक स्थिर रह चुकी थी।

(२) मूल्य तथा मजदूरी में साम्य नहीं—बहुमत के विपरीत आंकडे देकर सर पुरुषोत्तमदास ठाकुरदास न यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया कि मूल्य तथा मजदूरी १ शिलिंग ६ पेंस की दर के अनुरूप स्तर पर नही आये हैं। अत उनमे गिरावट की अत्यधिक आशका है।

(३) विदेशी विनिमय का सकट—१८ पेंस की दर के विरोध मे यह भी कहा गया कि ऊँची दर से निर्यातो को धक्का लगेगा जिससे विदेशी विनिमय सकट उत्पन्न होने का खतरा है। इसके विपरीत, १६ पेंस की विनिमय दर से निर्यातो को प्रोत्साहन मिलेगा।

(४) स्वर्ण निर्यात का भय—१६ पेंस की विनिमय-दर के समर्थको का मत था कि आगामी कुछ वर्षो मे स्वर्ण के मूल्यो मे वृद्धि होना आवश्यक है। यदि विनिमय दर १६ पेंस रही तो निर्यात ऊँचे स्तर पर बन रहेंगे जिससे स्वर्ण निर्यात की आशका नही होगी।

सरकारी निर्णय और औचित्य—भारत सरकार ने बहुमत की सिफारिश स्वीकार कर ली और १९२७ म चलन अधिनियम (Currency Act) पास करके रुपये की विनिमय-दर १ शिलिंग ६ पेंस स्वीकार कर ली। इस निर्णय का औचित्य इस बात से सिद्ध हो जाता है कि १९२७ मे निश्चित की गयी १ पेंस की विनिमय दर ४ जून, १९६६ तक बनी रही।

२. स्वर्ण धातुमान
(GOLD BULLION STANDARD)

हिल्टन यग आयोग न यह विचार किया कि देश मे स्वर्ण मुद्रामान, स्वर्ण विनिमय मान, स्वर्ण धातुमान और स्टर्लिंग विनिमय मान मे कौन-सा मान अपनाया जाय ? आयोग ने इन सबमे स्वर्ण धातुमान को सबसे उपयुक्त समझा। इस मान की विशेषताएं निम्नलिखित थीं :

(i) देश म स्वर्ण मुद्रा चलन मे रखना आवश्यक नही था।

(ii) सभी मुद्राएं स्वर्ण मे परिवर्तनशील थी।

(iii) सरकार द्वारा मुद्रा की परिवर्तनशीलता के लिए स्वर्ण-कोष रखा जाता था।

स्वर्ण धातुमान के निम्नलिखित लाभ थे :

(क) मुद्रा स्वर्ण मे परिवर्तनशील थी, अत मुद्रा-स्फीति का भय नही था।

(ख) इसके अन्तर्गत विनिमय-दर मे उतार-चढाव आने की आशका नहीं थी।

(ग) यह सरल था और इससे जनता का विश्वास बना रहने की सम्भावना थी।

(घ) स्वर्ण कोष मे रहने के कारण उसके अपकर्ष की आशका नहीं थी।

(ङ) देश मे यथेष्ट स्वर्ण कोष मे रहने के कारण भविष्य मे स्वर्ण मुद्रामान भी अपनाया जा सकता था।

सरकारी निर्णय—वास्तव मे, स्वर्ण धातुमान मे स्वर्ण मुद्रामान के सब गुण थे और एक भी अवगुण नही था। यह सरल, सुरक्षित, विश्वासयोग्य तथा मुद्रा व्यवस्था मे स्थायित्व लाने वाला मान था। अत भारत सरकार ने आयोग की इस सिफारिश को स्वीकार कर लिया। तदनुसार

सरकार ने यह घोषणा की कि वह २१ रुपये २४ पैसे प्रति तोले की दर से कम से कम १,०६५ तोले (४०० औंस) स्वर्ण खरीदने या बेचने को सदा तैयार रहेगी। यह स्वर्ण ४०-४० तोले की छड़ों मे होना चाहिए। इस प्रकार रुपये के बदले मे स्वर्ण लेने या देने की घोषणा द्वारा स्वर्ण धातुमान स्थापित कर दिया गया।

३ रिजर्व बैंक की स्थापना

आयोग की तीसरी महत्त्वपूर्ण सिफारिश यह थी कि देश मे एक केन्द्रीय बैंक की स्थापना की जानी चाहिए जिसका नाम रिजर्व बैंक ऑव इण्डिया रखने का सुझाव दिया गया। सरकार ने इस सुझाव को भी स्वीकार कर लिया, किन्तु कुछ कारणों से इससे सम्बन्धित अधिनियम सन् १९३४ मे ही पास किया जा सका, जिसके फलस्वरूप १ अप्रैल, १९३५ से रिजर्व बैंक की विधिवत् स्थापना कर दी गयी।

स्टर्लिंग विनिमय मान की स्थापना—भारत ने १९२७ मे स्वर्ण धातुमान अपना लिया। ब्रिटेन म भी स्वर्ण धातुमान प्रचलित था। अत दोनों देशो मे व्यापार तथा लेन-देन मे कोई कठिनाई उत्पन्न नही हुई। २१ सितम्बर, १९३१ को ब्रिटेन ने स्वर्णमान का परित्याग कर दिया। अब भारत के सामने समस्या यह थी कि वह अपनी मुद्रा का सम्बन्ध स्टर्लिंग से स्थापित कर ले अथवा स्वर्ण से ही बनाये रखे। भारत का अधिकांश व्यापार इगलैण्ड से था, अत व्यापार एव भुगतान की सुविधा की दृष्टि से रुपये का सम्बन्ध स्टर्लिंग से ही बनाये रखने का निर्णय किया गया। अत देश मे स्टर्लिंग विनिमय मान की स्थापना हो गयी।

स्वर्ण-निर्यात—विश्वव्यापी मन्दी क कारण ससार के सभी महत्त्वपूर्ण देशो ने अपनी मुद्राओं की विनिमय दरो म कमी कर दी अर्थात् स्वर्ण का मूल्य जो पहले २१ ६७ डॉलर प्रति औंस था, बढाकर ३५ डॉलर प्रति औंस कर दिया गया। इधर इगलैण्ड तथा भारत मे स्वर्ण के मूल्यो मे वृद्धि होने लगी। इगलैण्ड मे स्वर्ण का मूल्य विशेष रूप मे बढ गया। अत भारतीय व्यापारियो ने लाभ कमाने के लिए इगलैण्ड मे स्वर्ण निर्यात करना आरम्भ कर दिया।

भारत मे स्वर्ण-निर्यात का अत्यधिक विरोध किया गया क्योंकि स्वर्ण कोष कम हो जाने से भारत म भविष्य मे भी स्वर्णमान अपनाये जाने की सम्भावनाएँ कम होने लगी थी। किन्तु सरकार का यह मत था कि स्वर्ण एक ऐसी वस्तु है जिसे सकट मे सहायक होने के लिए जमा किया जाता है। मन्दी क कारण जनता के पास क्रय-शक्ति का अभाव था, अत वह स्वर्ण बेच रही थी। यह एक स्वाभाविक स्थिति थी। अत जनता का विरोध होने पर भी १९३१ से १९३८ तक भारत से लगभग ३१८ करोड रुपये का स्वर्ण निर्यात कर दिया गया।

47 भारतीय मुद्रा का इतिहास—२ (द्वितीय युद्धकाल)

(HISTORY OF INDIAN CURRENCY—2)

द्वितीय महायुद्ध की घोषणा ३ सितम्बर, १९३९ को की गयी और इसकी समाप्ति सन् १९४५ में हुई। इन छः वर्षों में भारतीय मुद्रा-व्यवस्था की निम्नलिखित प्रवृत्तियाँ उल्लेखनीय हैं :

१ मुद्रा पूर्ति
(SUPPLY OF MONEY)

युद्ध आरम्भ होते ही जनता को पत्र-मुद्रा में अविश्वास उत्पन्न हुआ और कागज के नोटों के बदले चाँदी के रुपयों की माँग बढ़ गयी। जून से अगस्त १९४० के लगभग तीन मास के काल में रिजर्व बैंक द्वारा लगभग २२ करोड़ रुपये की चाँदी की मुद्रा जनता को दी गयी। दूसरी उल्लेखनीय बात यह थी कि उत्पादन तथा व्यवसाय में वृद्धि के फलस्वरूप भी देश में मुद्रा की माँग बहुत बढ़ गयी। इसकी पूर्ति के लिए सरकार द्वारा निम्नलिखित कार्यवाहियाँ की गयीं :

(१) चाँदी की मुद्रा का निकृष्टीकरण—सरकार ने चाँदी के रुपये, अठन्नी, चवन्नी आदि में शुद्ध चाँदी की मात्रा क्रमशः कम कर दी। पहले तो उसने रुपये में चाँदी की मात्रा ११/१२ भाग से घटाकर १/२ करदी किन्तु १९४३ में नाममात्र की चाँदी वाले रुपये चालू कर दिये गये। इससे पूर्व शुद्ध चाँदी वाले रुपए तथा अठन्नियों को खजाने में वापस लेने की घोषणा कर दी गयी और उन मुद्राओं को अवैधानिक घोषित कर दिया गया। इसके फलस्वरूप रुपये के सिक्कों का गलाना भी बन्द हो गया।

(२) कागज के नोटों का चलना—रुपये की कमी को दूर करने के लिए सरकार ने १९४० में एक रुपये के नोट और फरवरी १९४३ में दो रुपये के नोट चलन में डाल दिये।

(३) नयी रेजगारी—छोटे सिक्कों को भी लोगों ने संग्रह करना तथा गलाना आरम्भ कर दिया था। सरकार ने एक ओर तो सिक्के गलाना तथा संग्रह करना अपराध घोषित कर दिया, दूसरी ओर निकिल की इकन्नी तथा दुअन्नी और छेद वाला ताँबे का पैसा निकाला। बाद में छेद वाले पैसे के स्थान पर ताँबे का बहुत छोटे आकार का पैसा प्रचलित किया गया।

२. मुद्रा-स्फीति
(INFLATION)

द्वितीय युद्धकाल की सम्भवतः सबसे उल्लेखनीय घटना थी मुद्रा स्फीति। अगस्त १९३९ में देश में कुल लगभग १७८ करोड़ रुपये की पत्र-मुद्रा चलन में थी, जो बढ़कर जून १९४५ में १,१५२ करोड़ रुपये तक पहुँच गयी। इस वृद्धि के मुख्य कारण अग्रलिखित थे :

(१) लाभ में वृद्धि—व्यापार में आशातीत वृद्धि हो रही थी तथा व्यापारियों के लाभ बढ़ते जा रहे थे। लाभ की यह रकम बैंकों में जमा की जा रही थी जिससे साख का प्रसार तेजी से हो रहा था।

(२) ब्रिटेन को सामान—भारत सरकार ने ब्रिटेन को युद्ध संचालन के लिए अनेक प्रकार का उपभोक्ता सामान दिया। सरकार ने इस माल का भुगतान व्यापारियों को तो नये नोट निकाल कर कर दिया किन्तु ब्रिटिश सरकार ने इस माल का भुगतान युद्धोपरान्त के लिए स्थगित कर दिया।

(३) रक्षा-व्यय में वृद्धि—भारत सरकार का रक्षा-व्यय भी बढ़ गया था जिससे मुद्रा-स्फीति को प्रोत्साहन मिला। १९३९-४० में भारत सरकार रक्षा पर केवल ५० करोड़ रुपये खर्च करती थी जबकि १९४५-४६ में यह व्यय बढ़कर लगभग ३९१ करोड़ रुपये तक पहुँच गया। रक्षा-व्यय अधिकांशतः अनुत्पादक होता है, अतः इसकी वृद्धि से मुद्रा-स्फीति को प्रोत्साहन मिलता है।

(४) उत्पादन में शिथिलता—देश में व्यापार तथा उद्योगों के लिए मुद्रा की माँग में तो वृद्धि होती गयी जिससे निरन्तर स्फीति को प्रोत्साहन मिला परन्तु उत्पादन में वृद्धि की गति शिथिल रही। अतः बढ़ती हुई मुद्रा-स्फीति को प्रभावहीन नहीं बनाया जा सका।

(५) माल की पूर्ति में कमी—देश में उपभोग्य वस्तुओं के उत्पादन में जो भी वृद्धि हुई उसका अधिकांश भाग सेनाओं के प्रयोग के लिए भेज दिया गया। अतः वस्तुओं के अभाव के कारण मुद्रा-स्फीति उत्पन्न हो गयी।

उपचार—मुद्रा-स्फीति के परिणामस्वरूप लगभग सभी वस्तुओं के मूल्यों में वृद्धि हो गयी। मूल्यों का सूचकांक ३८६ (१९३९=१००) तक पहुँच गया। इस स्थिति का सामना करने के लिए निम्नलिखित प्रयत्न किये गये :

(१) सभी आवश्यक वस्तुओं के मूल्यों पर नियन्त्रण लगाकर राशन-व्यवस्था लागू कर दी गयी।

(२) आय तथा लाभ पर कर लगाये गये तथा पुराने करों में वृद्धि की गयी।

(३) रेल, डाक, तार आदि के शुल्कों में वृद्धि की गयी।

(४) विभिन्न प्रकार की बचत योजनाएँ लागू की गयीं।

(५) कर्मचारी-वर्ग की आर्थिक कठिनाइयाँ दूर करने के लिए महँगाई भत्ते चालू किये गये।

उपयुक्त योजनाओं में से अधिकतर का उद्देश्य जनता के हाथ में स्थित क्रय शक्ति को कम करना था ताकि वस्तुओं की माँग कम हो और स्फीति का प्रभाव कम दिखायी पड़े। विभिन्न बचत योजनाओं से सरकार ने युद्धकाल में ८५८ करोड़ रुपये जमा किये जिससे मुद्रा-स्फीति का प्रभाव कम करने में सहायता मिली।

३ विनिमय नियन्त्रण
(EXCHANGE CONTROL)

द्वितीय युद्ध आरम्भ होते ही सरकार ने भारत रक्षा नियमों के अन्तर्गत विदेशी व्यापार पर नियन्त्रण लगा दिये और विदेशी विनिमय के लेन-देन के लिए लाइसेंस लेना अनिवार्य कर दिया गया। इस नियन्त्रण तथा लाइसेंस व्यवस्था का संचालन भार रिजर्व बैंक को सौंपा गया। इस व्यवस्था की मुख्य बातें निम्नलिखित थीं :

(१) विदेशी मुद्रा सम्बन्धी लेन देन केवल रिजर्व बैंक द्वारा अधिकार प्राप्त व्यापारिक बैंकों के माध्यम से हो सकता था।

(२) सम्पूर्ण विदेशी मुद्रा की आय रिजर्व बैंक अथवा अधिकृत व्यापारिक बैंकों को सौंपना अनिवार्य कर दिया गया।

(३) विदेशों में किये जाने वाले भुगतान के लिए रिजर्व बैंक की अनुमति लेना आवश्यक कर दिया गया।

(४) विदेशी व्यापार पर प्रतिबन्ध लगा दिये गये।

(५) जापानी व्यापारिक संस्थाओं के जमा खातों के भुगतान पर रोक लगा दी गयी।

उपर्युक्त नियन्त्रण व्यवस्थाएँ वर्तमान समय में भी लागू हैं। इनका संचालन विदेशी विनिमय नियमन कानून (Foreign Exchange Regulations Act) के अधीन रिजर्व बैंक ऑफ द्वारा किया जाता है।

४ साम्राज्य डॉलर कोष
(EMPIRE DOLLAR POOL)

युद्धकाल में अमरीका ही एक देश था जो युद्धरत देशों को सभी प्रकार का सामान दे सकता था। अतः भुगतान के लिए अमरीकन डॉलर की माँग बहुत बढ़ गयी और डॉलर को प्रायः सभी देशों में दुर्लभ मुद्रा (Hard Currency) घोषित कर दिया गया। डॉलर की इस बढ़ती हुई माँग के कारण ब्रिटिश साम्राज्य के सभी देशों ने मिलकर यह समझौता किया कि जो भी देश जितने डॉलर कमायेगा वह एक कोष में डाल दिये जायेंगे। यह कोष साम्राज्य डॉलर कोष के नाम से पुकारा गया।

साम्राज्य डॉलर कोष से प्रत्येक देश को आवश्यकतानुसार डॉलर मिल सकते थे, परन्तु आवश्यकता का निर्धारण मिल-जुलकर सोच विचार के पश्चात् ही किया जाता था और अत्यन्त आवश्यक कार्यों के लिए ही डॉलर देने की स्वीकृति दी जाती थी। भारत ने डॉलर कोष में ४५३ करोड़ रुपये के तुल्य विदेशी मुद्रा जमा की थी जिसमें से ४०५ करोड़ रुपये के तुल्य डॉलर थे। इस रकम में से भारत द्वारा ३३६ करोड़ डॉलर का प्रयोग कर लिया गया और शेष रकम कोष में जमा रही। साम्राज्य डॉलर कोष एक युद्धकालीन व्यवस्था थी जिसका महत्त्व अब समाप्त हो गया है। वर्तमान युग में प्रत्येक देश अपने विदेशी विनिमय सम्बन्धी कोषों का स्वतन्त्र रूप से प्रयोग करना चाहता है। अतः अब इस कोष का कोई महत्त्व नहीं है।

५. पौण्ड पावने
(STERLING BALANCES)

युद्धकाल में ब्रिटिश सरकार ने मित्रराष्ट्र तथा राष्ट्रमण्डल के देशों से अत्यधिक मात्रा में सामान खरीदा। इस सामान का भुगतान तत्काल न देकर इन देशों को स्टर्लिंग प्रतिभूतियाँ दे दी गयी। इन प्रतिभूतियों के आधार पर इन देशों ने अपनी मुद्रा निर्मित कर ली। इस प्रकार *१९४५ के अन्त तक इंग्लैण्ड विभिन्न देशों का ३०७ करोड़ पौण्ड का कर्जदार हो गया।*

ब्रिटिश शासन के अधीन होने के कारण भारत को ब्रिटिश युद्ध प्रयत्नों में सक्रिय सहयोग देना पड़ा। यह सामान भारत सरकार ने अपने देश के व्यापारियों से खरीदकर इंग्लैण्ड को निर्यात कर दिया। इसकी रकम व्यापारियों को तो नये नोट निर्गमन द्वारा चुका दी गयी किन्तु उनका मूल्य इंग्लैण्ड के खाते में नाम लिख दिया गया। इस प्रकार भारत युद्ध से पहले इंग्लैण्ड का लगभग ३६ करोड़ पौण्ड से कर्जदार था किन्तु युद्ध की समाप्ति पर भारत ब्रिटेन से लगभग १,६६२ करोड़ रुपये का लेनदार हो गया। यह लेनदारी पौण्ड पावना कहलाती है।

कारण—पौण्ड पावनों की रकम जमा होने के मुख्य कारण निम्नलिखित थे :

(१) ब्रिटिश सरकार को युद्ध-संचालन के लिए उधार माल बेचा गया।

(२) भारत ने अपनी डॉलर की कमाई साम्राज्य डॉलर कोष में स्थानान्तरित कर दी थी।

(३) युद्धकाल में भारत का व्यापार-सन्तुलन भी पक्ष में था जिसका भुगतान लन्दन में स्टर्लिंग में जमा कर दिया गया था।

(४) भारत से (१९३१-१९३८ में) जो स्वर्ण निर्यात आरम्भ हुआ वह युद्ध आरम्भ होने के कुछ समय पश्चात् तक चलता रहा। उसकी रकम लन्दन में स्टर्लिंग में ही जमा हो गयी।

कुल जमा—पौण्ड पावनों की रकम की प्रगति निम्नलिखित थी

(करोड रुपयों में)

वर्ष	रकम	वर्ष	रकम
१९३९	६४	१९४४	७५५
१९४०	९१	१९४५	१,१८२
१९४१	१९९	१९४६	१,५४९
१९४२	२११	१९४७	१,६६२
१९४३	३९४		

उपर्युक्त तालिका से स्पष्ट है कि १९४७ में भारत इंगलैण्ड से १,६६२ करोड रुपये का लेनदार था।

भुगतान की समस्या—युद्ध समाप्त होते ही भारतीय पौण्ड पावनों के भुगतान का प्रश्न उत्पन्न हो गया। इंगलैण्ड के कुछ अर्थशास्त्रियों तथा राजनीतिज्ञों का मत था कि पौण्ड पावने की रकम कम की जानी चाहिए क्योंकि द्वितीय युद्ध भारत की सुरक्षा के वास्ते भी लडा गया था। भारत के अर्थशास्त्रियों तथा राजनीतिज्ञों ने इसका घोर विरोध किया और यह मत व्यक्त किया कि पौण्ड पावना भारत के खून पसीने की कमाई है, यह रकम अत्यन्त कष्ट एवं त्याग से जमा हुई है अतः इसमें कमी करना बहुत अन्याय होगा। इस विवाद के फलस्वरूप पौण्ड पावनों के भुगतान के सम्बन्ध में जनवरी १९४७ में प्रथम समझौता हुआ जिसके फलस्वरूप उनके भुगतान सम्बन्धी सभी शंकाओं का अन्त हो गया।

(१) सन् १९४७ का समझौता—अगस्त १९४७ में भारत और इंगलैण्ड में एक समझौता हुआ जिसके अन्तर्गत भारत को पौण्ड पावनों की राशि द्वारा स्टर्लिंग क्षेत्र से माल खरीदने का अधिकार दिया गया। इस समझौते की मुख्य बातें निम्नलिखित थीं

(क) पौण्ड पावनों की कुल रकम १,६३४ करोड रुपये (११७.५ करोड पौण्ड) आँकी गयी जिसे दो खातों में विभाजित किया गया। खाता नं० १ में ८७ करोड रुपये (६.५ करोड पौण्ड) डाले गये जिनका प्रयोग किसी भी देश से कोई माल खरीदने में किया जा सकता था।

(ख) शेष १,५४७ करोड रुपये (११६ करोड पौण्ड) खाता नं० २ में रखे गये जिनका प्रयोग केवल पूँजीगत माल खरीदने में किया जा सकता था।

इस समझौते की अवधि ३१ दिसम्बर को समाप्त हो गयी, अतः इसे जून १९४८ तक बढ़ा दिया गया। इन छः महीनों में खाता नं० २ में से २४ करोड रुपये खाता नं० १ में हस्तान्तरित कर देने की व्यवस्था थी। दुर्भाग्य से इस अवधि में भारत को जितनी रकम (८.३ करोड पौण्ड) स्वतन्त्र रूप से व्यय करने की अनुमति थी उसका प्रयोग वह नहीं कर सका। उसने केवल २० लाख पौण्ड ही काम में लिए क्योंकि भारत के पास न तो औद्योगिक विकास की कोई योजना तैयार थी और न ही इस अल्पावधि में मशीनें आदि निर्मित माल आयात किया जा सकता था।

(२) जुलाई १९४८ का समझौता—प्रथम समझौते की अवधि समाप्त होने पर एक नया समझौता किया गया जिसकी शर्तें निम्नलिखित थीं

(क) इस समय भारत का कुल पौण्ड पावना लगभग १,५५० करोड रुपये आँका गया। इस रकम में से अनेक कटौतियाँ करने के पश्चात् भारत का शुद्ध हिस्सा केवल १,०६७ करोड रुपये रह गया जिसका ब्यौरा अग्रलिखित है

		करोड़ रुपये
(i) कुल पौण्ड पावना		१,५५०
(ii) कटौतियाँ		
(क) अंग्रेजों द्वारा भारत में छोड़े गये सैनिक सामान का मूल्य	१३३	
(ख) भारत में रिटायर होने वाले अंग्रेजों की पेंशनों के लिए एकमुश्त रकम	२२८	
(ग) पाकिस्तान का भाग	१२६	४८३
	शेष	१,०६७

(ख) समझौते के अनुसार आगामी तीन वर्षों में भारत को १६ करोड़ पौण्ड (२१४ करोड़ रुपये) की रकम स्वतन्त्र रूप में प्रयुक्त करने की अनुमति दी गयी। इस राशि में से प्रति वर्ष २० करोड़ रुपये के तुल्य राशि ही स्टर्लिंग के अतिरिक्त अन्य मुद्रा में बदली जा सकती थी।

इस समझौते से भारत के अर्थशास्त्री तथा व्यापारी सन्तुष्ट नहीं हुए क्योंकि इसमें भारत को बहुत कम राशि प्रयोग करने की छूट दी गयी थी अतः इसकी अवधि समाप्त होने से पूर्व जुलाई १९४९ में एक नया समझौता किया गया।

(३) जुलाई १९४९ का समझौता—सन् १९४८ के समझौते में १९४९ के लिए पूंजीगत माल खरीदने के लिए कोई राशि निर्धारित नहीं की गयी थी। इस समझौते के अनुसार भारत को १९४९ में ८ १० करोड़ पौण्ड मूल्य का पूंजीगत माल पौण्ड पावना की राशि में से खरीदने का अधिकार मिल गया। सन् १९५० और १९५१ में ८ करोड़ पौण्ड का माल खरीदने का अधिकार १९४८ के समझौते के अनुसार ही दे दिया गया था। इस राशि को अब १० करोड़ पौण्ड कर दिया गया। संक्षेप में, १९४९ से १९५१ तक १८ १ करोड़ पौण्ड रकम पूंजीगत माल के लिए तथा १६ करोड़ पौण्ड की राशि खुली खरीद के लिए पौण्ड पावनों में से व्यय की जा सकती थी। इसके अतिरिक्त लगभग ५ करोड़ पौण्ड की राशि १९४९ तक आयात किये माल का भुगतान करने के लिए स्वीकृत की गयी।

उपर्युक्त राशि अवधि समाप्त होने से पूर्व ही खर्च कर दी गयी क्योंकि भारत को १९५१ में अत्यधिक अन्न का आयात करना पड़ा। १९४९ में रुपये के अवमूल्यन होने के कारण पौण्ड पावनों की जो राशि डॉलर में परिवर्तित की गयी उसका मूल्य भी ३० ५ प्रतिशत कम हो गया।

(४) सन् १९५२ का समझौता—सन् १९४९ के समझौते की अवधि समाप्त होने पर फरवरी १९५२ में एक नया समझौता किया गया जिसकी अवधि ३० जून, १९५७ तक निश्चित की गयी। इस समय भारत के पौण्ड पावना की रकम लगभग ५७ करोड़ पौण्ड या ७६१ करोड़ रुपये थी। इस समझौते की मुख्य बातें निम्नलिखित थीं

(क) ३१ करोड़ पौण्ड की राशि खाता नं० १ में डालने की व्यवस्था की गयी किन्तु इसका प्रयोग केवल चलन निधि के कोष के रूप में रखने के लिए हो सकता था। यदि इसमें से किसी भाग का प्रयोग करना आवश्यक होता हो तो उसके लिए ब्रिटिश सरकार की अनुमति लेना आवश्यक था।

(ख) प्रति वर्ष ३ ५ करोड़ पौण्ड के तुल्य रकम खाता नं० २ से खाता नं० १ में स्थानान्तरित करने की व्यवस्था की गयी। इस रकम का प्रयोग स्वतन्त्र रूप में किया जा सकता था और इसमें से जिस भाग का प्रयोग एक वर्ष में नहीं होता उसे दूसरे वर्ष में काम में लिया जा सकता था। अधिक आवश्यकता पड़ने पर एक वर्ष में ३·५ करोड़ पौण्ड के स्थान पर ४ करोड़ पौण्ड

की रकम भी काम में ली जा सकती थी। इससे भी अधिक रकम खर्च करने के लिए ब्रिटिश सरकार से अनुमति लेना आवश्यक था।

(ग) १ जुलाई, १९५७ को खाता नं० २ में जो भी राशि हो वह खाता नं० १ में हस्तान्तरित करने की व्यवस्था की गयी। इस राशि का प्रयोग भारत सरकार स्वेच्छापूर्वक कर सकती थी।

वर्तमान स्थिति और भविष्य—सन् १९५२ के समझौते के पश्चात् भारत सरकार पौण्ड पावनों का प्रयोग करने में प्रायः स्वतन्त्र रही है। योजनाकाल में विदेशी विनिमय की कठिनाइयाँ दूर करने के लिए पौण्ड पावनों का मुक्तहस्त से ही प्रयोग करना पड़ा है। यद्यपि प्रथम योजनाकाल में पौण्ड पावना की राशि पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा, किन्तु द्वितीय तथा तृतीय योजनाकाल में प्रयोग हो जाने के कारण पौण्ड पावनों की राशि लगभग समाप्त हो गयी है। अतः अब इनका केवल ऐतिहासिक महत्त्व रह गया है।

48 भारतीय मुद्रा का इतिहास–३ (युद्धोत्तरकाल)

(HISTORY OF INDIAN CURRENCY)

द्वितीय युद्धोत्तरकाल मे भारतीय मुद्रा-व्यवस्था की निम्नलिखित घटनाएँ उल्लेखनीय हैं।

१. बड़े नोटों का विमुद्रीकरण
(DEMONETISATION)

द्वितीय युद्धकाल मे चोरबाजारी तथा घूसखोरी द्वारा व्यापारियों तथा सरकारी अधिकारियों ने बहुत धन कमाया था। सरकार का अनुमान था कि यह धन बडे मूल्य के नोटों मे रखा गया होगा, अत बडे मूल्य के नोटो को अवैधानिक घोषित करने या उनकी विधिग्राह्यता समाप्त करने से राष्ट्र-विरोधी तत्वों का पता चल सकेगा। अत दो अध्यादेश जारी कर सौ रुपये से ऊपर की राशि के सभी नोटों का चलन बन्द करने की घोषणा कर दी गयी। इन नोटों को रिजर्व बैंक अथवा किसी अनुसूचित बैंक मे बदलवाया जा सकता था।

बड़े नोटो के विमुद्रीकरण की योजना चोरबाजारी, घूसखोरी तथा करो की चोरी करने वालो का पता लगाने के लिए थी परन्तु इसके प्रकाशित होने से पूर्व ही कुछ व्यक्तियो को इसका पता चल गया और उन्होने बडे नोटो को बैंकों के माध्यम से निकाल दिया। इस प्रकार इस योजना मे उच्च वर्ग के लोगों ने लाभ कमाया क्योंकि उन्होंने बडे नोटो को बट्टे पर खरीद लिया और उन्हें बैंकों के माध्यम से निकाल दिया। अत योजना के उद्देश्य की सिद्धि नहीं हो सकी।

२. रुपये का अवमूल्यन
(DEVALUATION OF THE RUPEE)

द्वितीय युद्धकाल मे प्रारम्भ होने वाली मुद्रा-स्फीति का क्रम युद्धोत्तरकाल में भी चालू रहा जिसके फलस्वरूप ब्रिटेन तथा पश्चिमी यूरोप के कुछ अन्य देशो की व्यापारिक स्थिति क्रमश. बिगडती चली गयी। मुद्रा प्रसार, भुगतान शेषों के असन्तुलन तथा अत्यधिक मात्रा मे डॉलर ऋणों के कारण इन देशो की मुद्रा की विनिमय-दर निरन्तर गिरती चली गयी। अन्तरराष्ट्रीय मुद्रा-कोष की १९४९ की रिपोर्ट के अनुसार, "बचत तथा घाटे वाले देशो मे अन्तर इतना अधिक हो गया था कि वह अवमूल्यन के सिवाय किसी तरीके से ठीक नही किया सकता था।"

३० देशों के द्वारा अवमूल्यन—स्टर्लिंग क्षेत्र के अगुआ होने के नाते ब्रिटेन मे भुगतान घाटे की मात्रा सबसे अधिक थी। अत १८ सितम्बर, १९४९ म ब्रिटेन ने पौण्ड का ३०.५ प्रतिशत अवमूल्यन कर दिया जिसके अनुसार पौण्ड की विनिमय-दर ४.०३ डॉलर से घटाकर २.८० डॉलर कर दी गयी। ब्रिटेन स्टर्लिंग क्षेत्र का केन्द्र बिन्दु था और अनेक देशों ने अपनी मुद्राओं का तत्काल अवमूल्यन कर ब्रिटेन का अनुसरण करने का निर्णय किया। कुछ दिन पश्चात् ही १० अन्य देशों ने भी अपनी मुद्राओं का अवमूल्यन करने की घोषणा की। अन्तरराष्ट्रीय मुद्रा-कोष की रिपोर्ट (सन्

१९४९) के अनुसार, सितम्बर १९४९ मे जिन देशो ने अपनी मुद्राओ का अवमूल्यन किया उनका सामूहिक व्यापार अन्तरराष्ट्रीय व्यापार का लगभग ६५% था। इस दृष्टि से १९४९ का अवमूल्यन युद्धोत्तरकालीन अर्थ व्यवस्था की एक अभूतपूर्व घटना थी।

भारत द्वारा अवमूल्यन—भारत ने भी २२ सितम्बर, १९४९ से रुपये का अवमूल्यन करने की घोषणा कर दी जिसके अनुसार रुपया अब ३० २२५० सेंट के बजाय २१ सेंट के तुल्य हो गया। रुपये का अवमूल्यन सामान्यत इतना शीघ्र न होता परन्तु ब्रिटेन द्वारा पौण्ड का अवमूल्यन करने पर भारत को उसका अनुसरण करना पडा। वास्तव मे, भारतीय रुपये का स्टर्लिंग से सम्बन्ध बनाये रखने के वही कारण थे जिनके आधार पर सन् १९३१ मे स्टर्लिंग से गठबन्धन किया गया था। एक नया कारण यह भी था कि भारत को ब्रिटेन से लगभग १,७०० करोड रुपये पौण्ड पावने वसूल करने थे। यदि रुपये का मूल्य ऊँचा रख लिया जाता तो स्वभावत. भारत के पौण्ड पावनो का रुपयो मे मूल्य कम हो जाता। अत स्टर्लिंग देशो से व्यापार का स्तर बनाये रखने तथा पौण्ड पावनो की सुरक्षा के लिए रुपये का भी पौण्ड के समान ही अवमूल्यन कर दिया गया।

अवमूल्यन का प्रभाव—रुपये का अवमूल्यन करने मे भारत के निर्यात एक वर्ष मे ही ४८० करोड रुपये से बढकर ६११ करोड रुपय के तुल्य हो गये। डॉलर क्षेत्र के व्यापार को यदि अलग से लिया जाय तो भारत के डॉलर क्षेत्र के निर्यात भी इसी अवधि मे ११५ करोड रुपये के तुल्य हो गये। इस प्रकार कुल व्यापार मे लगभग २७ ५% की वृद्धि हो गयी और व्यापार शेष का घाटा २३२ करोड रुपये से घटकर लगभग ५ करोड रह गया।

अवमूल्यन का यह लाभ अल्पकालीन रहा क्योकि आगामी वर्षो मे व्यापार सन्तुलन भारत के अत्यधिक विपक्ष मे होता गया। इसके निम्नलिखित कारण थे

(१) विदेशो से आयात किये गये अन्न का रुपयो मे बहुत अधिक मूल्य देना पडा। यह उल्लेखनीय है कि सन् १९५१ ५४ मे सर्वाधिक अन्न आयात करना पडा था।

(२) पाकिस्तान ने अपनी मुद्रा का अवमूल्यन नही किया था, अत भारत पाकिस्तान व्यापार लगभग समाप्त हो गया।

(३) भारत को विकास योजनाओ के लिए आवश्यक मशीनो तथा उद्योगो के लिए महत्त्वपूर्ण कच्चे माल रुई तथा पटसन का अधिक मूल्य चुकाना पडा।

दूसरा अवमूल्यन, जून १९६६—योजनाकाल मे भारत द्वारा विकास कार्यो पर अत्यधिक राशि व्यय की गयी। इसके लिए उसे २,५०० करोड रुपये से भी अधिक का हीनार्थ प्रबन्धन करना पडा जिसके फलस्वरूप मई १९६६ के अन्त तक मूल्यो मे लगभग ८०% की वृद्धि हो गयी। दूसरी उल्लेखनीय बात यह रही कि भारत का व्यापार सन्तुलन निरन्तर विपक्ष मे रहा है। १९६५-६६ मे ही असन्तुलन की राशि लगभग ४४५ करोड रुपये थी। इसका परिणाम यह हुआ कि भारतीय रुपये की विनिमय दर अन्तरराष्ट्रीय मुद्रा-बाजार मे लगभग ६ रुपये प्रति डॉलर हो गयी जबकि अधिकृत दर ४ ७५ रुपये प्रति डॉलर थी।

उपर्युक्त परिस्थितियो का सामना करने के लिए ६ जून, १९६६ से भारतीय रुपये का एक बार फिर अवमूल्यन कर दिया गया। इस बार अवमूल्यन की मात्रा ३६ ५ प्रतिशत थी। नयी दरो के अनुसार एक भारतीय रुपया जो २१ सेंट के तुल्य था १३ ३३ सेंट के तुल्य घोषित कर दिया गया। इसका अर्थ यह था कि अब ७ ५ रुपये १ डॉलर तथा २१ रुपये १ पौण्ड के तुल्य हो गये।

अवमूल्यन के कारण—सन् १९६६ के अवमूल्यन के मुख्य कारण निम्नलिखित थे:

(१) मूल्य वृद्धि—गत दस वर्षों म मूल्यो मे ८० प्रतिशत की वृद्धि हो गयी थी। भारत

के तत्कालीन वित्तमन्त्री श्री शचीन चौधरी के शब्दों में, "मूल्यों को नीचे लाना सम्भव नहीं था।" ऊँचे मूल्यों के कारण भारतीय माल की विदेशों में माँग कम हो गयी थी।

(२) व्यापार सन्तुलन—सन् १९५१-५२ से ही भारत का व्यापार-सन्तुलन निरन्तर विपक्ष में चला आ रहा था। १९५०-५१ में यह असन्तुलन केवल ५० करोड़ रुपये के लगभग था किन्तु १९६५-६६ में यह ५४५ करोड़ रुपये तक पहुँच गया। अतः निर्यात बढ़ाने के लिए अवमूल्यन का सहारा लेने का निर्णय किया गया।

(३) निर्यात संवर्द्धन नीति की असफलता—भारत सरकार ने निर्यात बढ़ाने के लिए जिन नीतियों (आयात नियन्त्रण, निर्यातों पर सहायता आदि) का पालन किया उनमें सफलता नहीं मिल सकी, अतः रुपये का अवमूल्यन करने का निर्णय किया गया।

(४) विदेशी दबाव—विश्व बैंक अन्तरराष्ट्रीय मुद्रा कोष तथा ऋणदाता देशों ने भारत को रुपये का अवमूल्यन करने की सलाह दी। वास्तव में, देश की आर्थिक स्थिति की हीनता के कारण विदेशी सहायता मिलनी लगभग बन्द हो गयी थी। अतः पुनः सहायता प्राप्त करने के लिए अवमूल्यन के सिवाय कोई मार्ग नहीं रह गया था।

अवमूल्यन के उद्देश्य—१९६६ के अवमूल्यन के मुख्य उद्देश्य निम्नलिखित थे

(१) अधिक निर्यात—अवमूल्यन के फलस्वरूप भारतीय माल विदेशों में सस्ता हो जायगा जिससे भारत के निर्यातों में वृद्धि होगी।

(२) आयातों में कमी—विदेशी आयातों के बदले में भारत को अधिक रकम देनी पड़ेगी जिसके फलस्वरूप भारत में आयातों की मात्रा कम हो जायेगी।

इन दोनों उद्देश्यों की पूर्ति से भारत का व्यापार सन्तुलन पक्ष में हो सकेगा तथा जो माल पहले आयात हो रहा था उसकी जगह भारत में ही अच्छा माल बनने लगेगा।

(३) विदेशी पूंजी को प्रोत्साहन—विदेशी माल का आयात कम होने से कुछ विदेशी पूंजीपति भारत में ही पूंजी लगाकर माल बनाने में प्रोत्साहित होंगे।

(४) अवांछनीय क्रियाओं का अन्त—रुपये के अवमूल्यन से भारत में स्वर्ण के तस्कर व्यापार में कमी होगी तथा विदेशी विनिमय की चोरी कम हो जायेगी।

(५) विदेशी सहायता—भारत को विकास के लिए विदेशी सहायता प्राप्त होने लगेगी।

विश्लेषण—भारतीय रुपये का अवमूल्यन बहुत ही विवशता की स्थिति में किया गया। किन्तु इसके द्वारा जिन उद्देश्यों की पूर्ति का अनुमान लगाया गया था उनमें सफलता मिलने की सम्भावना बहुत कम थी। इसके निम्नलिखित कारण थे

(क) भारत में बढ़ते हुए मूल्यों पर रोक नहीं लगायी जा सकी। जून १९६६ से अगस्त १९६७ तक भी मूल्यों में लगभग २३ प्रतिशत की वृद्धि हो गयी। अतः निर्यातों में विशेष वृद्धि होने की सम्भावना बहुत कम थी। वास्तव में, अवमूल्यन के पश्चात् पटसन के माल तथा वस्त्र के निर्यात में कुछ कमी हुई।

(ख) निर्यात वृद्धि के लिए उत्पादन में वृद्धि होना बहुत आवश्यक है किन्तु अनेक क्षेत्रों में मशीनों को चालू रखने के लिए अतिरिक्त पुर्जे आदि आयात करना आवश्यक है। इससे आयात में वृद्धि होगी किन्तु उत्पादन बढ़ना आवश्यक नहीं है।

(ग) अवमूल्यन से भारतीय अर्थ-व्यवस्था में विदेशियों का विश्वास डगमगा गया, अतः देश में विदेशी विनियोग अथवा ऋण पूंजी आयात होने की आशा बहुत-कम हो गयी।

वास्तव में, सरकार को वस्तु मूल्यों को कड़ाई से नियन्त्रित करना चाहिए तथा उत्पादन बढ़ाने के लिए विशेष कदम उठाने चाहिए अन्यथा कुछ समय पश्चात् ही रुपये का पुनः अवमूल्यन करने की परिस्थितियाँ उत्पन्न हो सकती हैं।

३ विदेशी विनिमय संकट
(FOREIGN EXCHANGE CRISIS)

स्वतन्त्रता के पश्चात भारत को जिन समस्याओ का सामना करना पडा उनमे सम्भवत सबमे महत्त्वपूर्ण समस्या विदेशी विनिमय की है। यह एक मान्य तथ्य है कि योजनाओ के तत्वाऽधान मे विकास करने के लिए भारत को विदेशो से काफी अधिक माल मँगवाना पडा है। इस माल का भुगतान करने मे अत्यन्त कठिनाई आयी है क्योकि तीनो योजनाओ की अवधि मे आयातो की मात्रा निर्यातो की तुलना मे निरन्तर बढ़ती गयी है जिसका अनुमान निम्नलिखित आंकडो से हो सकता है

(करोड रुपयो मे)

	प्रथम योजनाकाल	द्वितीय योजनाकाल	तृतीय योजनाकाल	१९६६-६७ से १९७०-७१
आयात	३,६१५	४,९२६	६,१७७	९,०२६
निर्यात	३,०४४	३,११०	३,७६०	६,५९५
घाटा	५७१	१,८१६	२,४१७	२,४३१

इस प्रकार योजना के बीस वर्षो मे देश को लगभग ७२०० करोड रुपये की विदेशी विनिमय की कमी का सामना करना पडा। इस कमी की पूर्ति के लिए सरकार ने पौण्ड पावनो का प्रयोग किया तथा शेष घाटे की पूर्ति के लिए विदेशी सरकारो तथा अन्तरराष्ट्रीय वित्त संस्थाओ (विश्व बैंक तथा मुद्रा-कोष) मे ऋण लिये। सम्पूर्ण योजनाकाल (१९५१-७१) मे सरकार को १० १८० करोड रुपये के तुल्य राशि के विदेशी ऋण स्वीकृत किये गये जिनमे से ८,५२९ करोड रुपये की रकम प्रयोग मे लायी गयी। शेष कमी की पूर्ति पौण्ड पावनो से कर ली गयी।

चतुर्थ योजनाकाल (१९६९ ७४) मे लगभग ९,६३० करोड रुपये का माल आयात होने की सम्भावना है और २,२८० करोड रुपये की विदेशी विनिमय ऋणो मे ब्याज आदि चुकाने के लिए आवश्यकता होगी इसके अतिरिक्त २८० करोड रुपये अन्तरराष्ट्रीय मुद्रा कोष को चुकाने होगे तथा १४० करोड रुपये अदृश्य मदो पर खर्च करने होगे। इस प्रकार चतुर्थ योजना की अवधि में देश को कुल १२,३५० करोड रुपय की विदेशी विनिमय की आवश्यकता होगी, इसमें ४,०३० करोड रुपये की प्राप्ति विदेशी सहायता से हो सकती है। शेष ८,३०० करोड रुपये की पूर्ति निर्यातो द्वारा करनी होगी। वास्तव मे, चतुर्थ योजना मे विदेशी विनिमय का घाटा पहली तीनो योजनाओ के सामूहिक घाटे से भी रहा है। अवमूल्यन के कारण देश की आर्थिक प्रतिष्ठा को जो धक्का लगा है और बैंको के राष्ट्रीयकरण से जो वातावरण बना है उसके फलस्वरूप पांच वर्ष मे ४,०३० करोड रुपये की सहायता (ऋण या पूंजी के रूप म) प्राप्त होना कठिन प्रतीत होता है। अत सरकार को इस समस्या का समाधान करने के लिए निम्नलिखित कदम उठाने चाहिए

(१) अनावश्यक आयातो पर कडे प्रतिबन्ध लगाने चाहिए।
(२) निर्यात बढाने के लिए अधिक प्रयत्न करने चाहिए।
(३) देश मे युद्धस्तरीय प्रयत्नो द्वारा उत्पादन बढाने की चेष्टा की जानी चाहिए।
(४) विदेशी विनिमय का व्यय करने मे अत्यन्त कडाई से काम लेना चाहिए।

प्रसिद्ध अर्थशास्त्री डॉ० टॉमस के शब्दो मे, "सैद्धान्तिक उपदेश देने के स्थान पर भारतीय शासको को चाहिए कि उन्ही उपदेशो को स्वय ग्रहण कर कार्यान्वित करने की चेष्टा करें क्योंकि उदाहरण सदैव उपदेश से अधिक प्रभावशाली होता है।"

३ भारत की वर्तमान मुद्रा-व्यवस्था
(PRESENT SYSTEM OF INDIAN CURRENCY)

भारत में सन् १८६१ से पूर्व बम्बई, कलकत्ता तथा मद्रास के प्रेसीडेन्सी बैंक नोट निर्गमन का कार्य करते थे। यह नोट अपने-अपने सीमित क्षेत्रों में ही चलन में थे। भारत सरकार ने व्यवस्था की कि ४ करोड़ रुपये तक की पत्र-मुद्रा तो केवल सरकारी प्रतिभूतियाँ कोष में रखकर निकाली जा सकती थी, परन्तु इससे अधिक मुद्रा निकालने के लिए शत-प्रतिशत स्वर्ण या चाँदी कोष में रखनी आवश्यक थी। इस प्रकार देश में नोट निकालने की विश्वासाश्रित प्रणाली (Fiduciary System) अपनायी गयी।

आनुपातिक कोष प्रणाली (Proportional Reserve System)—बेबिंग्टन स्मिथ समिति की सिफारिश पर भारत सरकार ने १९२० में यह निश्चय किया कि कुल नोटों के पीछे ५० प्रतिशत कोष सोने या चाँदी के रूप में रखे जायेंगे तथा शेष नोटों के पीछे सरकारी प्रतिभूतियाँ, कोषागार विपत्र अथवा स्टर्लिंग प्रतिभूतियाँ कोष में रखी जायेंगी। इस व्यवस्था के लागू होने के कुछ समय पश्चात् ही देश में मुद्रा की कमी की स्थिति उत्पन्न हो गयी। अतः सरकार ने यह निश्चय किया कि इम्पीरियल बैंक के माध्यम से कुल ११ करोड़ के नोट चलन में डाले जा सकते थे। यह व्यवस्था १९३५ तक चालू रही।

रिजर्व बैंक की स्थापना और नयी आनुपातिक कोष प्रणाली—सन् १९३५ में रिजर्व बैंक की स्थापना हुई और नोट निकालने का काम रिजर्व बैंक को सौंप दिया गया। इस प्रकार नोट निकालने की आनुपातिक कोष प्रणाली स्थापित की गयी जिसकी मुख्य विशेषताएँ निम्नलिखित थीं :

(१) रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया जितने नोट निकालता है उनके पीछे कम-से-कम ४०% कोष रखना आवश्यक था। यह कोष स्वर्ण, चाँदी अथवा विदेशी प्रतिभूतियों में रखा जा सकता था।

(२) कोष के ४० प्रतिशत भाग में कम से कम ४० करोड़ रुपये का स्वर्ण होना आवश्यक था। इसका तात्पर्य यह है कि यदि रिजर्व बैंक ५०० करोड़ रुपये के नोट निकालता तो २०० करोड़ रुपये के तुल्य सोना, चाँदी या विदेशी प्रतिभूतियाँ कोष में रखनी आवश्यक थीं, परन्तु इन २०० करोड़ रुपये के मूल्य में से कम-से-कम ४० करोड़ रुपये का स्वर्ण होना आवश्यक था। शेष १६० करोड़ रुपये के कोष चाँदी अथवा विदेशी प्रतिभूतियों में हो सकते थे।

(३) नोटों का ४० प्रतिशत भाग स्वर्ण, रजत तथा विदेशी प्रतिभूतियों द्वारा सुरक्षित होना था परन्तु शेष ६० प्रतिशत के पीछे भारत सरकार की प्रतिभूतियाँ हो सकती थीं।

वर्तमान पद्धति—वर्तमान समय में प्रचलित भारत की मुद्रा व्यवस्था को दो भागों में बाँटा जा सकता है—(i) नोट निर्गमन प्रणाली, (ii) धातु मुद्रा-व्यवस्था।

नोट निर्गमन प्रणाली न्यूनतम कोष पद्धति (Minimum Deposit System) पर आधारित है। वास्तव में, ५ अक्टूबर, १९५६ तक देश में आनुपातिक कोष प्रणाली ही अपनायी जाती रही परन्तु योजनाओं के अन्तर्गत विकास के लिए बहुत अधिक रकम की आवश्यकता पड़ी। इस रकम की पूर्ति के लिए आनुपातिक कोष की व्यवस्था करना कठिन था। अतः ६ अक्टूबर, १९५६ से देश में न्यूनतम कोष पद्धति अपना ली गयी। इस पद्धति के अन्तर्गत रिजर्व बैंक के लिए कम-से-कम ११५ करोड़ रुपये का स्वर्ण तथा ४०० करोड़ रुपये की विदेशी प्रतिभूतियाँ कोष में रखना अनिवार्य कर दिया गया। इतना कोष रखने के पश्चात् वह चाहे जितने नोट निकाल सकता था। ३१ अक्टूबर, १९५७ से कोष की कुल मात्रा २०० करोड़ रुपये निश्चित कर दी गयी जिसमें कम-से कम ११५ करोड़ रुपये का स्वर्ण तथा विदेशी प्रतिभूतियाँ हो सकती थीं। वर्तमान में रिजर्व बैंक इसी व्यवस्था के आधार पर नोट निर्गमन करता है। ३१ जनवरी, १९६९ तक रिजर्व बैंक में रखे गये स्वर्ण का मूल्य ५३.५८ रुपये प्रति दस ग्राम की दर से निर्धारित किया जाता था। उसके पश्चात् ८४.३९ रुपये प्रति दस ग्राम की दर पर किया जा रहा है।

नोट निकालने के सम्बन्ध में इस तथ्य का उल्लेख करना भी आवश्यक है कि भारत का रिजर्व बैंक २, ५, १०, ५०, १००, ५००, १,०००, ५,००० तथा १०,००० रुपये के नोट निर्गमित कर सकता है। १ रुपये का नोट भारत सरकार द्वारा निकाला जाता है तथा यह एक रुपये की धातु मुद्रा का स्थानापन्न माना जाता है।

धातु मुद्रा—विभिन्न राशियों की पत्र-मुद्रा के अतिरिक्त देश में दशमलव प्रणाली के अनुसार धातु मुद्रा भी निकाली गयी है। धातु-मुद्रा भारत सरकार निकालती है और इसका प्रचलन रिजर्व बैंक अथवा सरकारी खजानों के माध्यम से किया जाता है। धातु-मुद्रा के सभी अंश (१, २, ३, ५, १०, २०, २५, ५० तथा १०० पैसे) सांकेतिक सिक्के हैं जिनमें हल्की मिश्रित धातु का प्रयोग किया जाता है।

भारतीय मुद्रा व्यवस्था की विशेषताएँ—भारत की वर्तमान मुद्रा-प्रणाली की निम्नलिखित विशेषताएँ हैं

(१) देश में कागज तथा धातु की सांकेतिक मुद्राएँ चलन में हैं। एक रुपये के अतिरिक्त सभी नोट रिजर्व बैंक निकालता है तथा एक रुपये का नोट और सभी धातु-मुद्राएँ भारत सरकार निकालती है।

(२) मुद्रा-व्यवस्था खर्चीली नहीं है क्योंकि पत्र-मुद्रा के पीछे बहुत कोष की आवश्यकता नहीं है तथा धातु मुद्रा हल्के और सस्ते पदार्थों की बनी हुई है।

(३) मुद्रा प्रणाली सरल है।

(४) इसमें पर्याप्त लोच है, अतः यह देश की विकासशील अर्थ-व्यवस्था के लिए सर्वथा उपयुक्त है।

49 भारतीय बैंकिंग व्यवस्था

(INDIAN BANKING SYSTEM)

भारतीय मुद्रा-बाजार को निम्न दो भागों में बाँटा जा सकता है .

(१) असगठित भाग (Unorganised Sector),

(२) सगठित भाग (Organised Sector) ।

असगठित भाग मे देशी बैंकर तथा साहूकार सम्मिलित हैं जबकि सगठित भाग मे रिजर्व बैंक, स्टेट बैंक, विदेशी विनिमय बैंक, भारतीय व्यापारिक बैंक तथा सहकारी बैंक सम्मिलित हैं। देशी बैंकर तथा साहूकारों के कार्यों का विवेचन एवं सहकारी बैंको की प्रगति एव प्रवृत्तियों का विश्लेषण 'कृषि वित्त' नामक अध्याय मे किया जा चुका है, अत. इस अध्याय मे शेष सस्थाओं का ब्यौरा दिया जा रहा है।

१. रिजर्व बैंक ऑव इण्डिया
(RESERVE BANK OF INDIA)

भारतीय रिजर्व बैंक की स्थापना १ अप्रैल, १९३५ को की गयी थी। इसकी अधिकृत एव प्रदत्त पूँजी ५ करोड़ रुपये रखी गयी जिसका अधिकाश भाग निजी अशधारियों के अधिकार मे था। स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् १ जनवरी, १९४९ मे रिजर्व बैंक को सरकारी अधिकार मे ले लिया गया।

प्रबन्ध—बैंक का सचालन भार एक केन्द्रीय सचालकमण्डल मे निहित है जिसके २० सदस्य हो सकते हैं। इनमे से एक गवर्नर और चार डिप्टी गवर्नर ५ वर्ष के लिए केन्द्रीय सरकार द्वारा नियुक्त किये जाते हैं। चार सचालक चारो स्थानीय मण्डलो (प्रत्येक से एक) से मनोनीत होते हैं। दस सचालकों की नियुक्ति केन्द्रीय सरकार इस प्रकार करती है कि वे व्यापार, उद्योग, सहकारिता आदि क्षेत्रो के विशेषज्ञ होते हैं। इनकी नियुक्ति चार वर्ष के लिए होती है। सरकारी अधिकारी प्राय सरकार का वित्त सचिव होता है। उसका कार्यालय सरकार की इच्छा पर निर्भर करता है।

केन्द्रीय सचालकमण्डल के अतिरिक्त चार स्थानीय मण्डल कलकत्ता, बम्बई, तमिलनाडु तथा नई दिल्ली मे हैं। इसमे पाँच-पाँच सदस्य होते हैं जिनकी नियुक्ति भारत सरकार ही करती है। ये सदस्य अपने मे से एक अध्यक्ष चुन लेते हैं। इनका कार्यकाल चार वर्ष होता है।

रिजर्व बैंक के कार्य—भारतीय रिजर्व बैंक द्वारा निम्नलिखित कार्य सम्पन्न किये जा सकते हैं .

(१) नोट निर्गमन (Note Issue)—ससार के अन्य केन्द्रीय बैंको की भाँति रिजर्व बैंक को नोट निकालने का एकाधिकार है। यह २, ५, १०, ५०, १००, ५००, १,०००, ५,००० तथा

१०,००० रुपये की राशियो के नोट निकाल सकता है। एक रुपये का नोट भारत सरकार निकालती है किन्तु इसका प्रमारण रिजर्व बैंक के माध्यम से होता है।

रिजर्व बैंक अधिनियम की धारा ३३ के अनुसार, रिजर्व बैंक जितने नोट निकालता है उनके पीछे कम से-कम २०० करोड रुपय के मूल्य का कोष होना चाहिए। इसमे से ११५ करोड रुपये का स्वर्ण तथा शेष विदेशी प्रतिभूतियाँ हो सकती हैं।

(२) साख नियमन—नोट निकालने के अतिरिक्त रिजर्व बैंक साख नियमन का कार्य भी करता है। साख नियमन के लिए अब तक बैंक ने बैंक-दर, खुले बाजार की क्रियाएँ, तरल के यानुपात प्रवृत्य साख नियन्त्रण तथा नैतिक दबाव की क्रियाएँ अपनायी हैं।

(क) बैंक दर—रिजर्व बैंक द्वारा सितम्बर १९७१ तक अनेक बार बैंक दर मे परिवर्तन किया गया है जिसमे पाँच बार दर मे वृद्धि की है। इन परिवर्तनो तक एक बार कमी का ब्यौरा निम्न प्रकार है

	वृद्धि की तिथि	नयी दर
१	१५ नवम्बर, १९५१	३·० से ३ ५ प्रतिशत
२	१६ मई, १९५७	४ ० ,,
३	२ जनवरी, १९६३	४·५ ,,
४	२५ सितम्बर, १९६४	५ ,,
५	१७ फरवरी, १९६५	६ ,,
६	४ मार्च, १९६८	६ से ५ ,,
७	८ जनवरी, १९७१	५ से ६ ,,

भारत मे बैंक दर परिवर्तन की निम्नलिखित विशषताएँ रही है

(अ) बैंक-दर मे अधिक बार वृद्धि ही की गयी है।

(ब) बैंक-दर का प्रयोग केवल साख स्फीति का नियन्त्रण करने के लिए किया गया है।

(स) भारतीय बैंक-दर बाजार दरो का अनुमरण करती रही है।

(द) भारतीय बैंक दर मे परिवर्तन अत्यन्त कायरतापूर्वक किये गये हैं, उसमे तीन बार को छोडकर आधा प्रतिशत से अधिक परिवतन कभी नहीं किया गया। इसका परिणाम यह हुआ कि बैंक-दर का प्रभाव बहुत लाभदायक सिद्ध नही हो सका।

(ख) खुले बाजार की क्रियाएँ—रिजर्व बैंक अधिनियम के अनुसार वह किसी भी प्रकार की सरकारी प्रतिभूतियाँ तथा अल्पकालीन बिल खरीद या बेच सकता है।

रिजर्व बैंक प्राय सरकारी प्रतिभूतियो का लेन-देन ही करता है। इस लेन-देन के प्राय तीन उद्देश्य होते हैं। प्रथम उद्देश्य प्रतिभूतियो की माँग बनाये रखना होता है। दूसरा उद्देश्य यह है कि रिजर्व बैंक की क्रय विक्रय की क्रियाओ के फलस्वरूप सरकारी प्रतिभूतियो के मूल्यों में स्थायित्व रहता है, तथा तीसरा उद्देश्य मुद्रा बाजार मे साख-नियन्त्रण होता है। गत वर्षो मे रिजर्व बैंक द्वारा इन तीनो उद्देश्यो के लिए ही खुले बाजार की क्रियाएँ (अर्थात प्रतिभूतियो का क्रय-विक्रय) की गयी हैं। गत पाँच वर्षों के प्रतिभूतियो के शुद्ध विक्रय की कुल राशि लगभग १५० करोड रुपये थी। वास्तव मे, साख स्फीति का नियन्त्रण करने के लिए गत वर्षों मे विक्रय का कार्य ही अधिक हुआ है। आगामी वर्षों मे भी सरकारी प्रतिभूतियो की बिक्री बढने की सम्भावनाएँ अधिक है।

(ग) प्रवृत्य साख नियन्त्रण (Selective Credit Controls)—भारतीय रिजर्व बैंक द्वारा बैंकिंग कानून की धारा २१ के अनुसार किसी भी बैंक को ऋणो सम्बन्धी कोई भी आदेश दिया जा सकता है। इस धारा के अनुसार ही रिजर्व बैंक अनाज, रुई, मूँगफली, तेल, कम्पनियों के

अंश तथा अन्य वस्तुओं की धरोहर पर रकम उधार देने सम्बन्धी प्रतिबन्ध लगाता रहा है। यह प्रतिबन्ध सीमान्तर (Margin) घटाने-बढ़ाने अथवा विशेष सम्पत्ति की धरोहर पर दिये जाने वाले ऋणों की सीमा निश्चित करने के द्वारा लगाये गये हैं।

(घ) नैतिक दबाव—रिजर्व बैंक के गवर्नर द्वारा समय-समय पर बैंकों को पत्र लिखकर साख नियन्त्रण करने की सलाह दी जाती है। अनेक बार बैंक अधिकारियों के सम्मेलनों में भी गवर्नर द्वारा साख नीति के लिए मार्ग दर्शक तत्वों का विवेचन किया जाता है। इन सुझावों का बैंकों की साख नीति पर प्रायः स्वस्थ प्रभाव पड़ा है।

(३) सरकार का बैंकर, प्रतिनिधि तथा सलाहकार (Banker, Agent and Advisor to the Government)—रिजर्व बैंक केन्द्रीय सरकार तथा राज्य सरकारों का बैंकर है जिसका तात्पर्य यह है कि बैंक द्वारा सरकार की करों से प्राप्त कुल आय जमा की जाती है तथा उनकी ओर से कुल खर्चों का भुगतान किया जाता है। इसके अतिरिक्त जब भी केन्द्रीय अथवा राज्य सरकार ऋण लेती है, रिजर्व बैंक उस ऋण के विज्ञापन से लेकर वसूली तक का कुल प्रबन्ध करता है सरकार द्वारा लिए गए ऋणों के ब्याज समय पर चुकाने की व्यवस्था करता है तथा अवधि बीत जाने पर ऋणों का भुगतान करने का प्रबन्ध करता है।

भारत सरकार विदेशों से ऋण अथवा पूंजी सम्बन्धी लेन-देन के जितने समझौते सम्पन्न करती है, वे सब रिजर्व बैंक के माध्यम से ही कार्यान्वित किये जाते हैं। इसके अतिरिक्त सभी वित्तीय क्रियाओं के लिए रिजर्व बैंक एजेन्ट का कार्य करता है। समय समय पर रिजर्व बैंक के अधिकारी भारत सरकार को ग्रामीण वित्त, औद्योगिक वित्त, कर-नीति, आर्थिक नीति अथवा प्रशुल्क नीति सम्बन्धी सलाह देते रहते हैं। आवश्यकता पड़ने पर रिजर्व बैंक अपने कर्मचारियों को भारत सरकार के किसी संस्थान में प्रबन्ध या सलाह देने के कार्य के लिए नियुक्त कर देता है। वर्तमान में रिजर्व बैंक के अनेक अधिकारी अन्तरराष्ट्रीय मुद्रा कोष, विश्व बैंक, औद्योगिक विकास बैंक, कृषि पुनर्वित्त निगम तथा यूनिट ट्रस्ट में काम कर रहे हैं।

(४) बैंकों का नियन्त्रण—भारतीय रिजर्व बैंक को भारतीय बैंकिंग कानून (Banking Regulation Act) द्वारा ऐसे अनेक अधिकार दिये गये हैं जिनके द्वारा वह भारत में कार्यशील सभी व्यापारिक बैंकों की नीति तथा क्रियाओं का नियमन करता है। इन अधिकारों में मुख्य निम्नलिखित हैं :

(क) लाइसेंस—प्रत्येक व्यापारिक बैंकों को लाइसेंस के लिए रिजर्व बैंक को प्रार्थनापत्र देना पड़ता है। रिजर्व बैंक द्वारा सम्बन्धित बैंक के प्रबन्ध तथा आर्थिक स्थिति की जांच कर ली जाती है और उसके आधार पर लाइसेंस सम्बन्धी निर्णय किया जाता है। इस सम्बन्ध में यह बात स्मरण रखना आवश्यक है कि रिजर्व बैंक को लाइसेंस के लिए प्रार्थनापत्र देना यथेष्ट है। उसके बाद लाइसेंस की वास्तविक प्राप्ति के लिए प्रतीक्षा किये बिना ही नया बैंक कार्य आरम्भ कर सकता है, किसी बैंक को उस समय कार्य बन्द कर देना पड़ेगा, जबकि रिजर्व बैंक उसे लाइसेंस देने से इन्कार कर दे। एक बार लाइसेंस प्राप्त करने के बाद यदि कोई बैंक ठीक प्रकार से कार्य नहीं करता तो उसका लाइसेंस रद्द किया जा सकता है।

(ख) प्रबन्ध—रिजर्व बैंक इस बात का ध्यान रखता है कि (i) कोई व्यक्ति एक से अधिक बैंक का संचालक न हो, तथा (ii) किसी व्यक्ति के पास किसी व्यापारिक बैंक के एक प्रतिशत से अधिक अंश न हों।

उपर्युक्त दोनों नियम भारतीय बैंकिंग व्यवस्था को अधिक प्रजातन्त्रीय तथा सुव्यवस्थित रखने के लिए बनाये गये हैं।

(ग) पूंजी—भारत का कोई नया बैंक ५ लाख से कम पूंजी से स्थापित नहीं किया जा

सकता। इसके अतिरिक्त किसी बैंक की प्रार्थित पूंजी अधिकृत पूंजी के ५० प्रतिशत और प्रदत्त पूंजी प्रार्थित पूंजी के ५० प्रतिशत से कम नहीं होनी चाहिए।

(घ) शाखा विस्तार—रिजर्व बैंक से अनुमति प्राप्त किये बिना कोई बैंक नयी शाखा नहीं खोल सकता। यह व्यवस्था बैंकों की शाखा व्यवस्था का नियन्त्रण करने के लिए है।

(ङ) नकद कोष—प्रत्येक अनुसूचित बैंक के लिए यह आवश्यक है कि वह अपनी कुल जमाओं का कम से कम ३ प्रतिशत रिजर्व बैंक के पास नकद रूप में जमा रखें। यह राशि जमाओं की १५ प्रतिशत तक बढ़ाई जा सकती है।

(च) तथ्यों की माँग—रिजर्व बैंक किसी भी बैंक से किसी भी समय कोई भी सूचना माँग सकता है। इन सूचनाओं के अतिरिक्त प्रत्येक बैंक के लिए अपने अन्तिम खातों (स्थिति विवरण तथा लाभ-हानि खाता) की तीन प्रतियाँ रिजर्व बैंक के पास भेजनी आवश्यक हैं।

(५) समाशोधन व्यवस्था (Clearing Arrangement)—बैंकों का बैंक तथा अन्तिम ऋणदाता होने के नाते रिजर्व बैंक अपने स्थापनकाल से ही समाशोधन का कार्य कर रहा है। रिजर्व बैंक की स्थापना के वर्ष (१९३५) में कुल ४ समाशोधन गृह थे जिनकी संख्या १९७१ में १०४ हो गयी। समाशोधन गृह में शोधित चैकों की संख्या १९५१-५२ में लगभग २८ करोड़ थी जो १९७०-७१ में बढ़कर ११.२१ करोड़ हो गयी। शोधित चैकों की रकम १९५१-५२ में लगभग ७९ अरब रुपये थी जो १९७०-७१ में बढ़कर लगभग ३३२ अरब रुपये हो गयी। बैंकों के पारस्परिक लेन देन सम्बन्धी सम्पूर्ण शोधन रिजर्व बैंक के माध्यम से हो रहा है।

(६) बैंकों का बैंक (Bankers' Bank)—रिजर्व बैंक अनुसूचित बैंकों के नकद कोष जमा रखता है, उनके बिलों की पुनर्कटौती करता है तथा उन्हें सरकारी प्रतिभूतियों की धरोहर पर ऋण देता है। रिजर्व बैंक अनुसूचित बैंकों को अल्पकालीन तथा कुछ विशेष कार्यों के लिए मध्यमकालीन ऋण देने की व्यवस्था करता है। वास्तव में, व्यस्त काल (नवम्बर से अप्रैल मई तक) में व्यापारिक तथा राज्य सहकारी बैंकों की सम्पूर्ण वित्तीय आवश्यकताओं की पूर्ति रिजर्व बैंक द्वारा की जाती है।

(७) विदेशी विनिमय की व्यवस्था (Administration of Foreign Exchange)—रिजर्व बैंक केन्द्रीय तथा राज्य सरकारों और भारत के विदेश स्थित दूतावासों के लिए विदेशी विनिमय की व्यवस्था करता है। भारतीय रुपये की विदेशी विनिमय दर बनाये रखने के लिए रिजर्व बैंक द्वारा आवश्यक कार्यवाही की जाती है। रिजर्व बैंक का विनिमय-नियन्त्रण विभाग देश की विदेशी विनिमय सम्बन्धी आवश्यकताओं की पूर्ति का सम्पूर्ण लेखा-जोखा रखता है और माँग और पूर्ति में सन्तुलन बनाये रखने की चेष्टा करता है।

रिजर्व बैंक और ग्रामीण साख (Reserve Bank and Rural Credit)—रिजर्व बैंक द्वारा ग्रामीण साख की विशेष व्यवस्था के लिए निम्नलिखित सुविधाएँ हैं

(१) कोषों की स्थापना—कृषि या ग्रामीण साख की सुविधा देने के लिए रिजर्व बैंक में राष्ट्रीय कृषि साख (दीर्घकालीन) कोष (National Agricultural Credit—Long-term Operations—Fund) तथा राष्ट्रीय कृषि साख (स्थिरीकरण) (National Agricultural Credit—Stabilisation—Fund) स्थापित किये गये हैं। ३१ मार्च, १९६९ को इन कोषों में जमा रकम क्रमश: १७२ करोड़ रुपये तथा ३५ करोड़ रुपये थी।

दीर्घकालीन कोष में से सहकारी बैंकों तथा भूमिबन्धक बैंकों को ऋण दिये जाते हैं तथा भूमिबन्धक बैंकों के ऋणपत्र और सहकारी समितियों के अंश खरीदे जा सकते हैं। स्थिरीकरण कोष का प्रयोग सूखा पड़ने की स्थिति में किसानों द्वारा दीर्घकालीन कोष के ऋण चुकाने में सहायता के लिए किया जाता है।

(२) साख गारण्टी योजना—सन् १९६० मे सरकार द्वारा लघु उद्योगो को आर्थिक सहायता देने के लिए साख गारण्टी योजना (Credit Guarantee Scheme) लागू की गयी। इस योजना का सचालन रिजर्व बैंक करता है। इसके अन्तर्गत व्यापारिक बैंक तथा सहकारी बैंक लघु उद्योगो को मध्यमकालीन ऋण दे सकते हैं। इन ऋणो पर यदि कोई हानि हो तो उसके आधे भाग की क्षतिपूर्ति रिजर्व बैंक द्वारा (भारत सरकार की ओर) की जाती है।

रिजर्व बैंक की सफलताएँ—रिजर्व बैंक ने अपने कार्यकाल मे निम्नलिखित कार्यो मे सफलता प्राप्त की है

(क) सरकारी बैंकर, प्रतिनिधि तथा सलाहकार के रूप मे उसने सराहनीय कार्य किया है।

(ख) कृषि साख के लिए रिजर्व बैंक द्वारा विशेष व्यवस्थाएँ की गयी हैं।

(ग) रिजर्व बैंक द्वारा औद्योगिक वित्त निगमो के अश खरीदे गये हैं तथा वह इन निगमो को ऋण आदि भी देता है। इससे औद्योगिक विकास के लिए यथेष्ट वित्तीय सहायता की व्यवस्था की जा सकी है।

(घ) समाशोधन व्यवस्था करने मे भी रिजर्व बैंक ने तत्परता का प्रदर्शन किया है। देश के १०७ स्थानो मे, जिनकी जनसख्या एक लाख या अधिक है, १०४ समाशोधन-गृह स्थापित किये जा चुके हैं जिससे बैंकिंग विकास को बहुत बल मिला है।

(ङ) रिजर्व बैंक द्वारा अपनी मासिक पत्रिका तथा चार वार्षिक प्रतिवेदनो (Report on Currency and Finance, Trend and Progress of Banking in India, Statistical Tables relating to Banks in India, and Statistical Statements relating to Cooperative Movement in India) मे देश की आर्थिक प्रगति, बैंकिंग विकास तथा सहकारी क्षेत्र की प्रगति सम्बन्धी महत्त्वपूर्ण आँकडे प्रस्तुत किये जाते हैं।

रिजर्व बैंक की असफलताएँ—रिजर्व बैंक निम्न क्षेत्रो मे विशेष सफलता प्राप्त नही कर सका है

(१) **मुद्रा-स्फीति**—रिजर्व बैंक मुद्रा-स्फीति का नियन्त्रण करने मे सफल नहीं हुआ है। वस्तुत १९५१ ५२ मे देश मे कुल मुद्रा (नोट धातु-मुद्रा तथा बैंको की चालू जमा) पूर्ति लगभग १,८४८ करोड रुपये के तुल्य थी जो जून १९७१ मे ७,४४६ करोड रुपये से भी ऊपर हो गयी। इसके फलस्वरूप ही वस्तु मूल्यो का सूचकाक जो १९५१-५२ में ११८ था, बढकर २०७ तक पहुँच गया।

(२) **रुपये का विदेशी मूल्य**—रिजर्व बैंक भारतीय रुपये की विदेशी विनिमय स्थिर रखने में भी सफल नही हुआ है। इसका प्रमाण यह है कि स्वतन्त्रता के पश्चात् भारतीय रुपये का दो बार अवमूल्यन करना पडा। सितम्बर १९७१ मे ही खुले बाजार मे एक डॉलर का मूल्य साढ़े बारह रुपया था।

(३) **बैंक व्यवस्था**—रिजर्व बैंक ने देश की व्यवस्था को सुदृढ बनाने मे बहुत सतर्कता मे काम नही लिया। जो कुछ प्रयत्न किये गये हैं वे १९६० मे पलाई सैण्ट्रल बैंक की असफलता के पश्चात् ही किये गये हैं। इनके परिणामस्वरूप देश मे अनेक दुर्बल तथा बिना लाइसेंस प्राप्त बैंक काम कर रहे हैं।

(४) **प्रकाशन**—रिजर्व बैंक के प्राय सभी प्रकाशन देर से निकलते हैं और उनके मूल्य भी बहुत ऊँचे हैं।

(५) **देशी बैंकर**—रिजर्व बैंक देशी बैंकरो को अपने नियन्त्रण मे लाने मे असफल रहा है।

स्टेट बैंक ऑव इण्डिया
(STATE BANK OF INDIA)

स्थापना—ग्रामीण साख सर्वेक्षण समिति (Rural Credit Survey Committee) ने यह सिफारिश की थी कि भारत के इम्पीरियल बैंक तथा देशी राज्यों में स्थापित दस बैंकों (Bank of Baroda, Bank of Bikaner, Bank of Hyderabad, Bank of Indore, Bank of Jaipur, Bank of Mysore, Bank of Patiala, Bank of Rajasthan, Bank of Saurashtra Bank of Travancore) को मिलाकर स्टेट बैंक ऑव इण्डिया की स्थापना कर दी जानी चाहिए। तदनुसार भारत सरकार ने एक विशेष कानून (State Bank of India Act) पास कर १ जुलाई, १९५५ से स्टेट बैंक ऑव इण्डिया की स्थापना करदी। इस बैंक से बैंक ऑव बड़ौदा तथा बैंक ऑव राजस्थान अलग रखे गये क्योंकि बड़ौदा बैंक भारत के पाँच बड़े बैंकों में से था और राजस्थान बैंक ने स्टेट बैंक में मिलने से इन्कार कर दिया। शेष आठ बैंकों को भी स्टेट बैंक में सम्पूर्ण रूप से नहीं मिलाया गया बल्कि उन्हें स्वतन्त्र रूप में स्टेट बैंक के सहायक (Subsidiary) का रूप दे दिया गया। इन बैंकों के नाम के पहले 'स्टेट' शब्द जोड़ दिया गया। जनवरी १९६३ में स्टेट बैंक आव बीकानेर तथा स्टेट बैंक आव जयपुर को मिलाकर स्टेट बैंक ऑव बीकानेर एण्ड जयपुर नाम रख दिया गया। इस प्रकार अब स्टेट बैंक परिवार में स्वयं स्टेट बैंक तथा उसके सात सहायक बैंक हैं।

पूँजी तथा प्रबन्ध—स्टेट बैंक की अधिकृत पूँजी २० करोड़ रुपये रखी गयी है जो १००-१०० रुपये के अंशों में विभाजित है। बैंक की प्रदत्त पूँजी ५६२५०,००० रुपये निश्चित की गयी है।

स्टेट बैंक की प्रबन्ध व्यवस्था एक केन्द्रीय सचालकमण्डल (Central Board of Directors) द्वारा की जाती है। सचालकमण्डल में निम्नलिखित सदस्य होते हैं

(१) एक अध्यक्ष तथा एक उपाध्यक्ष की नियुक्ति सरकार द्वारा की जाती है।

(२) अधिक से अधिक दो प्रबन्ध सचालक सरकार के अनुमोदन पर सचालकमण्डल द्वारा नियुक्त किये जाते हैं।

(३) प्रत्येक स्थानीय मण्डल का सभापति—वर्तमान में ७ स्थानीय मण्डल हैं।

(४) दो सचालकों की नियुक्ति निजी अंशधारियों द्वारा की जाती है। वर्तमान में निजी अंशधारियों के पास स्टेट बैंक के कुल अंशों का ८ प्रतिशत है।

(५) रिजर्व बैंक की सलाह से भारत सरकार कम से कम दो और अधिक से अधिक छह सचालक नियुक्त कर सकती है। ये व्यक्ति सहकारिता वाणिज्य उद्योग, बैंकिंग अथवा वित्त सम्बन्धी विशेषज्ञ होते हैं।

स्थानीय मण्डल—स्टेट बैंक का केन्द्रीय कार्यालय बम्बई में है जहाँ से केन्द्रीय सचालक मण्डल बैंक की नीति निर्धारित करता है। इसके अतिरिक्त इसके सात स्थानीय मण्डल हैं जो कलकत्ता, कानपुर, बम्बई अहमदाबाद, नई दिल्ली मद्रास और हैदराबाद में हैं।

स्थानीय मण्डलों का गठन निम्न प्रकार होता है

(१) एक अध्यक्ष—स्टेट बैंक के अध्यक्ष ही पदेन अध्यक्ष होते हैं।

(२) केन्द्रीय सचालकमण्डल के सदस्य जो सम्बन्धित स्थानीय मण्डल के क्षेत्र में रहते हैं।

(३) छह सचालक—रिजर्व बैंक की सलाह से भारत सरकार नियुक्त करती है।

(४) दो सचालक—निजी अंशधारियों द्वारा, यदि उनके पास स्टेट बैंक के कम से कम २५ प्रतिशत अंश हों अन्यथा उन्हें कोई प्रतिनिधित्व नहीं मिलता।

(५) स्थानीय मण्डल का कोषाध्यक्ष तथा सचिव।

स्थानीय मण्डल के सदस्यों में से ही एक को रिजर्व बैंक से परामर्श द्वारा सरकार नियुक्त कर दिया जाता है।

स्टेट बैंक के उद्देश्य एवं पूर्ति—स्टेट बैंक के निम्नलिखित उद्देश्य थे जिनकी पूर्ति का ब्योरा नीचे दिया जा रहा है

(१) ग्रामों में बैंकिंग विस्तार—स्टेट बैंक की स्थापना का प्रथम उद्देश्य यह था कि यह देश में बैंकिंग सुविधाओं का विस्तार करेगा तथा ग्रामों में बैंकिंग सुविधाओं की विशेष व्यवस्था करेगा। तदनुसार यह निश्चित किया गया कि यह प्रथम पाँच वर्षों में (३० जून, १९६० तक) कम से कम ४०० नयी शाखाएँ खोलेगा। स्टेट बैंक ने जून १९६० को ही इस लक्ष्य की पूर्ति कर ली। तत्पश्चात् कर्वे समिति की सिफारिश पर आगामी पाँच वर्षों में ३०० नयी शाखाएँ खोलने का निश्चय किया गया। इस लक्ष्य की भी पूर्ति कर ली गयी है। तदनुसार ३१ दिसम्बर, १९७० तक स्टेट बैंक की शाखाओं की संख्या २,१२२ हो गयी। इसके पश्चात् भी शाखा विस्तार का कार्य जारी रहा है।

(२) एक शक्तिशाली बैंक का निर्माण—स्टेट बैंक की स्थापना का एक उद्देश्य यह था कि इसमें कुछ बैंकों का विलयन करके देश में एक अत्यन्त शक्तिशाली बैंक की स्थापना की जाय जो देश के उद्योग, व्यापार तथा विदेशी विनिमय आदि क्षेत्रों में महत्त्वपूर्ण योगदान कर सके। वास्तव में, एक साधनसम्पन्न बैंक देश के सभी क्षेत्रों में वित्तीय योगदान दे सकता है। इस दृष्टि से ही देश के आठ (बीकानेर, जयपुर, पटियाला, इन्दौर, सौराष्ट्र, हैदराबाद, मैसूर तथा ट्रावनकोर बैंक) को स्टेट बैंक का सहायक बैंक बना दिया गया है जिसके फलस्वरूप स्टेट बैंक परिवार एक शक्तिशाली बैंक संगठन का रूप धारण कर गया है। इस तथ्य का अनुमान निम्नलिखित आँकड़ों से हो सकता है :

स्टेट बैंक का संगठन

३१ दिसम्बर, १९७०　　(करोड़ रुपयों में)

	स्टेट बैंक	सहायक बैंक	योग	कुल बैंकिंग प्रणाली का प्रतिशत
१. कार्यालय	२,१०२	१,१६९	३,२७१	३०
२. जमा रकम	१,२२७	३३४	१,५५७	२८
३. ऋण व अग्रिम	१,०४०	२९१	१,३३१	३०
४. सरकारी प्रतिभूतियों में विनियोग	३३७	७२	४०९	३०

उपर्युक्त तालिका से स्पष्ट है कि स्टेट बैंक परिवार भारतीय बैंकिंग व्यवस्था की शाखाओं, जमा रकमों तथा ऋण मदों के लगभग ३० प्रतिशत का नियन्त्रण करता है। यह निश्चय ही उसकी शक्ति का प्रतीक है।

(३) ग्रामीण साख के लिए सुविधाएँ—स्टेट बैंक की स्थापना का एक महत्त्वपूर्ण उद्देश्य यह था कि यह भारत के ग्रामीण क्षेत्रों में साख सुविधाओं का विस्तार करेगा ताकि उन भागों में कृषि, उद्योग तथा व्यवसाय की प्रगति हो सके। स्टेट बैंक ने अपने कार्यकाल में ग्रामीण साख के विकास के लिए निम्नलिखित सुविधाओं का विस्तार किया है :

(क) प्रेषण एवं ऋण—स्टेट बैंक ने राज्य सहकारी बैंकों के लिए एक स्थान से दूसरे स्थान पर रकम भेजने की सुविधा [illegible] में एक बार से बढ़ाकर तीन बार कर दी है। इसके अतिरिक्त यह केन्द्रीय सहकारी बैंकों, राज्य सहकारी बैंकों, आदि को आधा प्रतिशत कम ब्याज पर ऋण देता है।

(ख) क्रय विक्रय तथा विधायन साख—स्टेट बैंक क्रय विक्रय समितियों को माल की धरोहर पर अथवा विशेष परिस्थितियों में बिना धरोहर ऋण देता है।

(ग) गोदामों के लिए वित्त—स्टेट बैंक द्वारा अधिकृत मालगोदामों की रसीदों के आधार पर ऋण दिये जाते हैं। बैंक द्वारा केन्द्रीय मालगोदाम निगम के १ करोड़ रुपये के अंश भी खरीदे गए हैं जिससे देश में मालगोदाम बनाने में मदद मिली है।

(घ) भूमिबन्धक बैंकों को सहायता—स्टेट बैंक द्वारा भूमिबन्धक बैंकों के ऋणपत्रों की धरोहर पर ऋण दिये जाते हैं तथा उनके ऋणपत्रों की खरीद भी की जाती है।

(ङ) लघु उद्योगों को ऋण—साख गारण्टी योजना के अन्तर्गत स्टेट बैंक ने अब तक सर्वाधिक ऋण दिये हैं। वह अपनी प्रत्येक शाखा पर लघु उद्योगों को उनके माल की धरोहर पर ऋण देता है।

३१ दिसम्बर १९७० तक स्टेट बैंक द्वारा विभिन्न कार्यों के लिए दी गयी सहायता का ब्यौरा निम्नलिखित है

(i) लघु उद्योगों के लिए सहायता—खातों की संख्या ५१,३०००, स्वीकृत रकम ३३१ करोड़ रुपये, ऋण शेष १९६ करोड़ रुपये।

(ii) सहकारी संस्थाओं को सहायता—खातों की संख्या ३,१००, स्वीकृत रकम २६६ करोड़ रुपये ऋण शेष १४१ करोड़ रुपये।

(iii) माल गोदामों की रसीदों पर ऋण—खातों की संख्या १,५०० स्वीकृत रकम ५ करोड़ रुपये, ऋण शेष १ करोड़ रुपये।

(४) विदेशी विनिमय की व्यवस्था—स्टेट बैंक को आर्थिक दृष्टि से शक्तिशाली बनाने का उद्देश्य यह था कि वह संसार के किसी देश में भुगतान की सुविधा प्रदान कर सके। वर्तमान में स्टेट बैंक २० महत्वपूर्ण विदेशी मुद्राओं में लेन देन की व्यवस्था करता है जिससे संसार के किसी भी देश में भुगतान करना सम्भव है।

उपर्युक्त ब्यौरे से स्पष्ट है कि बैंक को अपने सभी उद्देश्यों में महत्वपूर्ण सफलता मिली है।

विदेशी विनिमय बैंक
(FOREIGN EXCHANGE BANKS)

भारत में कुछ ऐसे बैंक भी कार्यशील हैं जिनकी स्थापना विदेशों में हुई है और भारत में उनकी शाखाएँ हैं। ऐसे बैंकों की संख्या १५ है जिनमें ६ ब्रिटिश ३ अमरीकन, २ जापानी २ पाकिस्तानी[1] १ हांगकांग १ हालैण्ड तथा १ फ्रांस के हैं। इन बैंकों की भारत में कुल १२८ शाखाएँ हैं जिनमें से अधिकांश बन्दरगाहों अथवा बहुत बड़े व्यापारिक नगरों में हैं। इन बैंकों को भारत में विदेशी विनिमय बैंक या केवल विनिमय बैंक कहा जाता है।

कार्य—विदेशी विनिमय बैंकों के मुख्य कार्य निम्नलिखित हैं

(१) विदेशी व्यापार में सहायता—यह बैंक विदेशी लेन देन में बहुत अनुभवी हैं अतः यह आयात तथा निर्यात व्यापार के लिए धन की व्यवस्था करते हैं।

(२) देशी व्यापार में सहायता—विदेशी व्यापार की भाँति ही विदेशी विनिमय बैंक देशी व्यापार के लिए भी धन की व्यवस्था करते हैं। देशी बिलों, हुण्डियों आदि के भुगतान के अतिरिक्त वह व्यापारियों तथा साहूकारों को ऋण भी दे देते हैं जिससे व्यापार को बहुत प्रोत्साहन मिलता है। विदेशी विनिमय बैंक मुलतानी हुण्डियों की धरोहर पर नियमित रूप से ऋण देते हैं।

(३) व्यापारिक बैंकों के कार्य—विनिमय बैंक प्रायः रकम जमा करने, ऋण देने, बिलों की कटौती करने आदि व्यापारिक बैंकों के सब प्रकार के कार्य करते हैं।

---

[1] पाकिस्तानी आक्रमण के समय से कस्टोडियन के अधिकार में हैं।

विदेशी-विनिमय बैंकों की प्रगति—योजनाकाल में भारत में विदेशी बैंकों की प्रगति का ब्यौरा निम्नलिखित है :

(करोड़ रुपयों में)

वर्ष	बैंकों की संख्या	शाखाएँ	जमा राशि	ऋण शेष	सरकारी प्रतिभूतियों में विनियोग
१९५१-५२	१६	६५	१६२	१५८	४५
१९७०-७१	१५	१३०	५५०	३६८	१५३

ऊपर दिये हुए ब्यौरे से स्पष्ट है कि विनिमय बैंकों की शाखाएँ, जमा राशि, ऋण शेष तथा सरकारी प्रतिभूतियों में विनियोजित रकम की राशि में बहुत वृद्धि हुई है। इस सम्बन्ध में उल्लेखनीय बात यह है कि विनिमय बैंकों ने भारत में जितनी जमा रकम प्राप्त की है उससे अधिक रकम भारत में विनियोजित कर रखी है।[1] इसका अर्थ यह है कि इन बैंकों का भारतीय व्यावसायिक प्रगति में समुचित योगदान है।

विनिमय बैंकों की सेवाएँ—भारत स्थित विदेशी विनिमय बैंकों की उल्लेखनीय सेवाएँ निम्नलिखित हैं

(१) वह ग्राहकों को उच्चस्तरीय सेवाएँ प्रदान करते हैं।

(२) वह विदेशी व्यापार के लिए वित्तीय व्यवस्था करते हैं तथा इस क्षेत्र में अपने विशेष अनुभव से देश को लाभ पहुँचाते हैं।

(३) वह भारतीय व्यापारियों तथा बैंकों का सम्पर्क विदेशी व्यापारियों तथा बैंकों से स्थापित करने में माध्यम का काम करते हैं।

विनिमय बैंकों की आलोचनाएँ और उनका विश्लेषण—स्वतन्त्रता से पूर्व भारतीय बैंकों की अनेक आलोचनाएँ की जाती थीं किन्तु अब उनमें से किसी भी आलोचना में सत्यांश नहीं रह गया है, जिसका अनुमान निम्नलिखित तथ्यों से लग सकता है

(१) **गुप्त लेन देन**—यह बैंक अपने लेन देन गुप्त रखते थे और भारत में अपने व्यवसाय सम्बन्धी बातें प्रकाशित नहीं करते थे, किन्तु अब इन बैंकों को भी रिजर्व बैंक के अनुशासन में काम करना पड़ता है और भारतीय कानून के अन्तर्गत इन्हें अपने सम्पूर्ण भारतीय लेन-देन का विवरण प्रकाशित कर उसकी तीन प्रतियाँ रिजर्व बैंक को भेजनी पड़ती हैं।

(२) **विदेशों को लाभ**—इन बैंकों पर यह आरोप था कि वह भारत में जमा प्राप्त कर विदेशों में विनियोजित कर देते थे। यह स्थिति भी अब बदल गयी है। भारतीय बैंकिंग कानून के अनुसार सभी विदेशी विनिमय बैंकों को अपनी भारतीय जमाओं का कम से कम ७५ प्रतिशत भारत में रखना पड़ता है। वास्तविक स्थिति यह है कि अब यह बैंक भारत में पूँजी आयात करते हैं जैसा कि इसमें पूर्व दिये गये आँकड़ों से स्पष्ट है।

(३) **विदेशी व्यापार में एकाधिकार**—विदेशी बैंकों को विदेशी व्यापार सम्बन्धी लेन देन का बहुत अनुभव है, अतः इस दिशा में उनका एकाधिकार हो सकता है, परन्तु वास्तविक स्थिति

---

[1]

भारत में ऋण	३६८ करोड़ रुपये
सरकारी प्रतिभूतियों में विनियोग	१५३ ,, ,,
नकद तथा याचना राशि	३९ ,, ,,
योग	५६० करोड़ रुपये

ऐसी नही है। वर्तमान मे १५ विदेशी बैंको के अतिरिक्त २७ भारतीय बैंक भी विदेशी व्यापार के लिए वित्तीय व्यवस्था करते हैं ।

(४) **पक्षपात**—विदेशी विनिमय बैंक विदेशियो तथा विदेशी कम्पनियो का पक्ष लेते थे और उन्हे अधिक सुविधा देते थे तथा अपने यहाँ उच्च पदो पर भी विदेशियो को ही नियुक्त करते थे। यह स्थिति स्वतन्त्रता के पश्चात सर्वथा बदल गयी है।

(५) **आन्तरिक व्यवस्था मे स्पर्द्धा**—भारत के बैंको से विदेशी बैंको की स्पर्द्धा अत्यन्त तीव्र रही है। वास्तव म स्पर्द्धा करना कोई बुरी बात नही है क्योकि इससे सेवाओ के स्तर मे सुधार होता है। इस दृष्टि म यह आलोचना तर्कसगत नही है। वर्तमान समय मे भारत के बैंक भी यथेष्ट शक्तिशाली हो गये हैं और वह विदेशी बैंको से बिना कठिनाई के स्पर्द्धा कर सकते हैं।

विदेशी विनिमय बकों पर नियन्त्रण—भारतीय बैंकिंग कानून द्वारा भारतीय बैंको की भाति विदेशी विनिमय बैंको पर भी निम्नलिखित नियन्त्रण लगा दिये गये हैं

(१) उन्हे कम स कम १५ लाख रुपये नकद या उस मूल्य की सरकारी प्रतिभूतियाँ रिजर्व बैंक क पास जमा रखनी पडती है। यदि बैंक की शाखा कलकत्ता या बम्बई मे है तो इस रकम की मात्रा २० लाख रुपय है।

(२) विदेशी विनिमय बैंकों को भी रिजर्व बैंक से लाइसेंस लेने के लिए प्रार्थना पत्र देना पडता है। रिजर्व बैंक की आज्ञा के बिना कही कोई शाखा भी नही खोली जा सकती।

(३) विदेशी बैंको को अपनी भारतीय जमाओं का कम से-कम ७५% भारत मे ही विनियोजित करना पडता है।

(४) उन्हे अपने भारतीय व्यवसाय का अकेक्षण करवाना पडता है तथा उसका खाता-विवरण प्रकाशित करना पडता है और उसकी तीन प्रतियाँ रिजर्व बैंक को भेजनी पडती हैं।

(५) रिजर्व बैंक इन बैंकोका जब चाहे निरीक्षण कर सकता है तथा कोई अनियमितता (विशेषत भारत विरोधी) पाने पर उन्हे भारत म अपना व्यवसाय बन्द करने का आदेश दे सकता है।

विदेशी बैंक अब भी व्यवसाय म स्वतन्त्र हैं क्योकि उनका राष्ट्रीयकरण नही किया गया है। उनके लिए भारत मे एक सलाहकार मण्डल की नियुक्ति करना आवश्यक है।

व्यापारिक बैंक
(COMMERCIAL BANKS)

भारत म कार्यशील व्यापारिक बैंको को दो श्रेणियो मे रखा गया है—(१) अनुसूचित बैंक (Scheduled Banks) तथा (२) गैर-अनुसूचित बैंक (Non Scheduled Banks)।

अनुसूचित बैंक वह हैं (१) जिनकी प्रदत्त पूँजी तथा कोष कम से-कम ५ लाख रुपये है।

(२) जिनकी आर्थिक नीति रिजर्व बैंक के मतानुसार सन्तोषजनक है।

इन शर्तों का पालन न करने वाले बैंक गैर-अनुसूचित बैंक हैं।

व्यापारिक बैंकों की प्रगति—गत पन्द्रह वर्षों मे भारतीय बैंको की प्रगति निम्न प्रकार हुई है

व्यापारिक अनुसूचित बैंक

	भारतीय अनुसूचित बैंक		गैर-अनुसूचित बैंक	
	१९५१-५२	१९७०-७१	१९५१-५२	१९७०-७१
१ सख्या	७८	५८	४४२	१२
२ जमा राशि (करोड रु०)	६६०	५,३४४	३६	१५
३ ऋण, अग्रिम आदि ,	५२२	४,१९७	३१	३
४ विनियोग (सरकारी प्रतिभूतियाँ)	२५१	१,२१०	१३	५

योजनाकाल में भारतीय बैंकिंग व्यवस्था में निम्नलिखित प्रवृत्तियाँ दृष्टिगोचर होती हैं

(१) भारतीय अनुसूचित तथा गैर-अनुसूचित बैंकों की संख्या में कमी आयी है। गैर-अनुसूचित बैंकों की संख्या तो ४८२ से केवल १२ रह गयी है। इसका कारण यह है कि बहुत से बैंक तो बन्द हो गये हैं, शेष को बड़े बैंकों के साथ मिला दिया गया है।

(२) अनुसूचित बैंकों की जमा राशि लगभग आठ गुनी हो गयी है जबकि गैर-अनुसूचित बैंकों की जमा राशि बहुत कम हो गयी है। इसका कारण गैर अनुसूचित बैंकों का विलयन है। वास्तव में, विनियोग तथा ऋणों के सम्बन्ध में भी यही स्थिति उल्लेखनीय है।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि भारतीय बैंकिंग व्यवस्था में योजनाकाल में आमूल चूल परिवर्तन हो गये हैं। इन परिवर्तनों का मूल कारण रिजर्व बैंक की नीति है जिसके अनुसार दुर्बल बैंकों में मिला दिया गया है। इस क्रिया से बैंकिंग संगठन में निश्चय ही सबलता एवं शक्ति आयी है।

भारतीय व्यापारिक बैंकों का राष्ट्रीयकरण

भारत के व्यापारिक बैंकों का राष्ट्रीयकरण—भारतीय व्यापारिक बैंकों के राष्ट्रीयकरण की माँग कई वर्षों से हो रही थी। इस माँग के उद्देश्यों की पूर्ति के लिए ही १ फरवरी, १९६९ से भारतीय व्यापारिक बैंकों पर सामाजिक नियन्त्रण सम्बन्धी योजना लागू की गयी। इस योजना के लागू होने पर भी वामपक्षी नेताओं तथा समाजवाद के समर्थकों को सन्तोष नहीं हुआ और उन्होंने जहाँ भी अवसर मिला, बैंकों के राष्ट्रीयकरण की माँग को दोहराया। जुलाई १९६९ में अखिल भारतीय कांग्रेस का अधिवेशन बंगलौर में हुआ जिसके कुछ दिन पूर्व कांग्रेस के कुछ वामपक्षी नेताओं ने देश में लागू करने के लिए एक समाजवादी कार्यक्रम प्रसारित किया जिसमें बैंकों के राष्ट्रीयकरण की माँग भी की गयी थी। बंगलौर अधिवेशन के पहले दिन ही भारत की प्रधानमन्त्री इन्दिरा गांधी ने भी देश में समाजवादी कार्यक्रम लागू करने की दृष्टि से एक नोट प्रसारित किया जिसमें देश के प्रमुख निजी बैंकों का राष्ट्रीयकरण भी सम्मिलित था। इस नोट की सभी बातों को सर्वसम्मति से स्वीकार कर लिया गया। अधिवेशन के समाप्त होते ही वित्त मन्त्रालय का भार श्री मोरारजी देसाई से प्रधानमन्त्री ने ले लिया ताकि बंगलौर अधिवेशन में पारित प्रस्ताव के सभी मुद्दों को प्रभावशाली ढंग से लागू किया जा सके। तदनुसार १९ जुलाई, १९६९ को मध्यरात्रि एक अध्यादेश निकाला गया जिसके अनुसार भारत के १४ प्रमुख निजी व्यापारिक बैंकों का राष्ट्रीयकरण करने की घोषणा की गयी। यह अध्यादेश तत्काल लागू कर दिया गया। इसे तुरन्त ही लोकसभा द्वारा पारित करवाकर अधिनियम का रूप दे दिया गया।

राष्ट्रीयकरण की उल्लेखनीय विशेषताएँ—इस अधिनियम की प्रमुख विशेषताएँ निम्नलिखित हैं :

(१) भारत के १४ निजी व्यापारिक बैंकों का स्वामित्व, जिनकी जमा राशि ५० करोड़ रुपये से अधिक थी, सरकारी अधिकार में ले लिया गया। इन बैंकों के नाम निम्नलिखित हैं :

(i) सेन्ट्रल बैंक ऑव इण्डिया,

(ii) बैंक ऑव इण्डिया;

(iii) पंजाब नेशनल बैंक,

(iv) बैंक ऑव बड़ौदा,

(v) यूनाइटेड कॉमर्शियल बैंक,

(vi) कनारा बैंक,

(vii) यूनाइटेड बैंक ऑव इण्डिया,

(viii) देना बैंक,

(ix) सिण्डीकेट बैंक,
(x) यूनियन बैंक ऑव इण्डिया,
(xi) इलाहाबाद बैंक,
(xii) इण्डियन बैंक,
(xiii) बैंक ऑव महाराष्ट्र,
(xiv) इण्डियन ओवरसीज बैंक।

(२) इन चौदह बैंकों की सम्पूर्ण सम्पत्ति दायित्व तथा कोष आदि सरकारी अधिकार मे आ गये हैं।

(३) इन बैंकों के अंशधारियों को ८७ ५ करोड रुपये की क्षतिपूर्ति देने का निश्चय किया गया है।

(४) प्रत्येक बैंक के मुख्य अधिकारी उसके परिरक्षक (custodian) नियुक्त कर दिये गये किन्तु केन्द्रीय सरकार किसी अन्य व्यक्ति को भी परिरक्षक नियुक्त कर सकती है।

(५) प्रत्येक बैंक के अध्यक्ष अथवा प्रबन्ध सचालक अथवा सचालकमण्डल के सभी सदस्यों को उनके पदो से मुक्त कर दिया गया और नये मण्डलो की नियुक्ति कर दी गयी।

(६) इन बैंको के अन्य कर्मचारी तथा अधिकारी अपने पदों पर यथावत् बने रहेंगे। वे भारतीय दण्ड विधान के नवें अध्याय के अनुसार सरकारी कर्मचारी मान लिए गये हैं।

(७) इन बैंकों के सचालन के लिए सरकार द्वारा नियम बनाये जा रहे हैं।

सरकार का दायित्व—राष्ट्रीयकरण के फलस्वरूप भारत सरकार को इन चौदह बैंकों के अंशधारियो को ८७ ५ करोड रुपया क्षतिपूर्ति के रूप मे देना पड़ा है।

आर्थिक दायित्व के अतिरिक्त सरकार पर मुख्य भार प्रबन्ध व्यवस्था का है। सरकार को इन बैंको के लिए अध्यक्ष तथा अन्य अधिकारियो की खोज करनी पडेगी तथा नये सचालकमण्डल या सलाहकार मण्डल नियुक्त करने पड़ेंगे। यह कार्य रिजर्व बैंक तथा स्टेट बैंक की सलाह से किया जाना चाहिए। इस सम्बन्ध मे मुख्य रूप से ध्यान देने की बात यह है कि अब सरकार के स्वामित्व मे २२ व्यापारिक बैंक (१४ नये १ स्टेट बैंक तथा ७ सहायक बैंक हैं)। इन बैंको के कुशल सचालन के लिए भारतीय प्रशासनिक सेवा (I. A S) के समानान्तर भारतीय बैंकिंग सेवा (Indian Banking Service) की स्थापना होनी चाहिए। वर्तमान मे भी बैंको के मुख्य अधिकारियों की नियुक्ति पुरातनपन्थी एव सरकारी नौकरशाही की आदतो से युक्त सरकारी अधिकारियों मे से नहीं की जानी चाहिए। सरकार को विशेष योग्यता वाले युवक अथवा बैंकिंग क्षेत्र मे अनुभवी एव तपे हुए व्यक्तियों को ही इन बैंको के सचालन का भार सौंपना चाहिए।

जहाँ तक इन बैंको की जमा रकमो का प्रश्न है, सरकार के सामने कोई कठिनाई नहीं होगी क्योंकि सामान्य जनता उन्ही स्थानो मे नियमित लेन देन करती रहेगी, जहाँ वह पहले करती रही है।

जहाँ तक बैंको के कार्यालयों का प्रश्न है, राष्ट्रीयकरण के पश्चात् सरकार के अधिकार मे लगभग ६,२०० बैंकिंग कार्यालय आ गये (जिनमे लगभग २ ४०० स्टेट बैंक मे और ३,८०० निजी बैंको मे सम्बद्ध थे) जिनमे से धीरे-धीरे नगरों मे स्थित कुछ कार्यालयो को कम किया जा सकता है। इससे अनावश्यक खर्च मे बचत होगी और ग्रामों मे नये कार्यालय स्थापित करने मे आसानी रहेगी।

इन सब दायित्वों मे भी महत्त्वपूर्ण दायित्व इन बैंको की नीति नियम आदि निर्धारित करना है। इस सम्बन्ध मे इन बैंको को कुछ समय के भीतर ही स्टेट बैंक के समकक्ष लाना

आवश्यक है। उचित तो यह है कि तीन वर्ष के भीतर इन बैंकों में वे सब नियम, उपनियम लागू कर दिये जायें जो स्टेट बैंक में लागू हैं।

एक उल्लेखनीय तथ्य—भारतीय बैंकों के राष्ट्रीयकरण के सम्बन्ध में एक महत्वपूर्ण तथ्य उल्लेखनीय है। देश में कार्यशील १५ विदेशी बैंकों (जिनके निक्षेप लगभग ४५० करोड रुपये के तुल्य थे), ४४ भारतीय अनुसूचित बैंकों तथा १७ गैर अनुसूचित बैंकों के रूप में कार्य करते रहने की स्वतन्त्रता दी गयी। इनमें गैर अनुसूचित बैंकों का विशेष महत्व नहीं है क्योंकि उनकी कुल सख्या घटकर १२ और जमाएँ घटकर लगभग १५ करोड रुपये के तुल्य रह गयी हैं। विदेशी बैंकों को राजनीतिक कारणों से छोड दिया गया है। वास्तव में, यह निर्णय समाजवादी धारणा से मेल नहीं खाता। जब राष्ट्रीयकरण का निर्णय लेना ही था तो देश की सम्पूर्ण बैंक-व्यवस्था को सरकारी स्वामित्व में लेना चाहिए था। यह सही है कि १४ निजी बैंकों के राष्ट्रीयकरण के पश्चात् देश की बैंकिंग व्यवस्था का लगभग ८५ प्रतिशत भाग सरकारी स्वामित्व में आ गया है किन्तु शेष १५ प्रतिशत को निजी क्षेत्र में छोडने के लिए कोई उचित तर्क नहीं दिया जा सकता। यदि बैंकों का राष्ट्रीयकरण राष्ट्रीय हित में किया गया तो निश्चय ही सभी बैंकों के राष्ट्रीयकरण से राष्ट्रीय हित भी अधिक ही होता, कम नहीं। बैंकों के राष्ट्रीयकरण सरीखे क्रान्तिकारी कदम बार-बार नहीं उठाये जा सकते, अत कुछ बैंकों को निजी क्षेत्र में छोडना उचित नहीं कहा जा सकता।

बैंकों के राष्ट्रीयकरण के प्रभाव

भारत के १४ प्रमुख बैंकों के राष्ट्रीयकरण से विभिन्न वर्गों तथा क्षेत्रों पर अलग अलग प्रभाव पडा है जो निम्नलिखित हैं :

(१) बैंकिंग विकास—देश में बैंकिंग विकास की गति में तेजी आयी है और ग्रामीण क्षेत्रों में बैंकों की अधिक शाखाएँ खुली हैं क्योंकि लोक-क्षेत्र के बैंकों को ग्रामीण क्षेत्रों में खुलने वाली शाखाओं से होने वाली हानि की विशेष चिन्ता नहीं है, इसी कारण ३१ दिसम्बर, १९७० तक चौदह बैंकों की २,८७८ नयी शाखाएँ खोली गयी हैं।

(२) कर्मचारी-वर्ग—इन बैंकों में कार्यशील कर्मचारियों में क्लर्क वर्ग पर विशेष प्रभाव नहीं पडेगा क्योंकि उसके, वेतन, भत्ते आदि देसाई निर्णय (Desai Award) के अनुसार नहीं दिये जाते हैं। परन्तु इन भत्तों में भविष्य में वृद्धि आदि की सम्भावनाएँ कम हैं क्योंकि लोक-क्षेत्र के उपक्रमों में होने वाले आन्दोलनों को सरकार प्राय सख्ती से दबा देती है। जून १९६९ में स्टेट बैंक के अधिकारियों का आन्दोलन इस तथ्य का ज्वलन्त प्रमाण है। इस आन्दोलन को सख्ती से दबा दिया गया और अशधारियों की एक भी माँग को स्वीकार नहीं किया गया।

जहाँ तक इन बैंकों के अधिकारियों का प्रश्न है, उन पर मिश्रित प्रभाव पडेगा। इन बैंकों के अधिकारियों को मुख्य लाभ यह होगा कि इन्हें प्रतिदिन बहुत देर तक काम नहीं करना पडेगा। यह प्राय देखा गया है कि निजी बैंकों के अधिकारी रात्रि को ८ ९ बजे तक काम करते हैं। इस स्थिति का स्वाभाविक अन्त हो जायगा। किन्तु दूसरी ओर बहुत योग्य और कुशल व्यक्तियों के लिए उन्नति के अवसर सीमित रह जाएँगे। निजी बैंकों में प्राय योग्यता और कुशलता के आधार पर पदोन्नति की परम्परा रही है। राजकीय क्षेत्रों के बैंकों में पदोन्नति निश्चित नियमों या वरिष्ठता के आधार पर मिलती है। अत वहाँ श्रेष्ठ कार्य करने वालों के लिए विशेष प्रोत्साहन नहीं होता।

अधिकारियों की पदोन्नति के सम्बन्ध में एक और उल्लेखनीय बात यह है कि निजी बैंकों में जिस पक्षपात अथवा व्यक्तिगत पूर्वाग्रहों के आधार पर पदोन्नति होती थी, उसका लोक-क्षेत्रों में चलना कठिन होगा क्योंकि लोक-क्षेत्र में होने वाली अनियमितताओं के विरुद्ध उच्च अधिकारियों अथवा न्यायालय में अपील द्वारा न्याय प्राप्त किया जा सकता है। लोकसभा में प्रश्न उठाकर भी इन अनियमितताओं को रोका जा सकता है।

(३) पूंजीवादी वर्ग—भारतीय बैंकों में भी अन्य देशों की भांति पूंजीवादी प्रभाव अत्यधिक रहा है। जिन बैंकों को लोक-क्षेत्र में ले लिया गया है उनके प्रबन्ध तथा सचालन में पूंजीवादी प्रभाव का अन्त हो जायगा। इससे निश्चय ही आर्थिक सत्ता का सकेन्द्रण कम होगा, सट्टे की प्रवृत्तियों में कमी आयेगी तथा देश की बचतों का योजनाओं द्वारा निर्धारित प्राथमिकताओं के अनुसार विनियोजन करवाना सरल होगा।

(४) आर्थिक नीतियों का पालन—चौदह प्रमुख बैंकों के राष्ट्रीयकरण का एक अत्यन्त महत्वपूर्ण प्रभाव यह होगा कि सरकार द्वारा जो भी आर्थिक नीतियाँ निर्धारित की जाएँगी या तत्सम्बन्धी निर्देश दिये जाएँगे उनका पालन उसी रूप में होता रहेगा और सरकार या रिजर्व बैंक को बार बार बैंकिंग व्यवस्था का निरीक्षण या परीक्षण करने की आवश्यकता नहीं रहेगी।

(५) जनता—बैंकों के राष्ट्रीयकरण से कर्मचारी वर्ग में जो स्वाभाविक शिथिलता आयेगी, उससे इन बैंकों के सेवास्तर में गिरावट आना स्वाभाविक है। इसके परिणामस्वरूप जनता को बहुत कष्ट होने की सम्भावना है। इन बैंकों में शिथिलता, लापरवाही तथा भ्रष्टाचार की शिकायतें आनी आरम्भ हो गयी हैं।

(६) निक्षेप बीमा योजना—चौदह महत्वपूर्ण बैंकों के राष्ट्रीयकरण के पश्चात् बैंकों की निक्षेप बीमा योजना बिल्कुल व्यर्थ हो गयी है क्योंकि बैंकों में रकम जमा करने वालों में से अधिकांश की रकमों को कोई खतरा नहीं है। इस दृष्टि से निक्षेप बीमा निगम को बनाये रखना व्यर्थ है।

(७) ऋण नीतियों में समन्वय—लोक-क्षेत्र में बैंकिंग का विस्तार होने से ग्रामों में बैंकिंग सुविधाओं का विकास हुआ है, निजी व्यापारिक बैंकों तथा सहकारी और सरकारी क्षेत्र प्रायः पर्यायवाची हो गये हैं, अब कृषि साख और लघु उद्योगों की वित्तीय समस्याएँ लोक-क्षेत्र में बैंकिंग विस्तार से बहुत कुछ दूर हो सकेंगी क्योंकि जहाँ सहकारी क्षेत्र के पास धन की कमी रहेगी, वहाँ सरकारी क्षेत्र उसकी पूर्ति कर देगा।

बैंकिंग आयोग के लिए नया आधार—भारत में बैंकों का राष्ट्रीयकरण न तो सैद्धान्तिक आधार पर नया है, न ही उसमें व्यावहारिक नवीनता है। वास्तव में चौदह और बैंकों के राष्ट्रीयकरण द्वारा देश में लोक-क्षेत्र की बैंक-व्यवस्था का विस्तार मात्र किया गया है। भारत सरकार ने देश की बैंकिंग व्यवस्था के पुनर्गठन के लिए एक बैंकिंग आयोग (Banking Commission) नियुक्त किया है। इस आयोग को चाहिए कि वह देश की बैंकिंग समस्याओं का (राष्ट्रीयकरण से उत्पन्न स्थिति के आधार पर) नये सिरे से अध्ययन करे और विस्तृत सुझाव दे। सरकार द्वारा भी आगे के कदम बहुत सूझ-बूझ और विचार-विमर्श के पश्चात् उठाने चाहिए ताकि लोक क्षेत्रीय बैंकिंग, देश की जनता के मानस और राष्ट्र के आर्थिक विकास पर भार न बनकर उनकी अधिकाधिक एवं श्रेष्ठतम सेवा कर सके। तभी राष्ट्रीयकरण का उद्देश्य सही अर्थों में सफल हो सकेगा।

50

केन्द्रीय वित्त

(CENTRAL FINANCE)

केन्द्रीय वित्त
(CENTRAL FINANCE)

किसी देश के केन्द्रीय वित्त का अध्ययन करने में उसकी आय, व्यय तथा लोक ऋण की जानकारी करनी पडती है, अत यहां भारत सरकार की वित्तीय व्यवस्था के विभिन्न अगो का ब्यौरा प्रस्तुत किया जा रहा है।

भारत सरकार का आय-व्यय, १९७१-७२

(करोड रुपयो मे)

प्राप्तियाँ (Revenue Receipts)	बजट अनुमान १९७०-७१	सशोधित अनुमान १९७०-७१	बजट अनुमान १९७१-७२
करों मे प्राप्तियाँ			
(१) सीमा (Customs)	४६५	४८८	५३४
(२) सघीय आबकारी कर (Union Excise)	१,८१३	१,८०५	२,०८३
(३) निगम-कर (Corporation Tax)	३८२	३६५	४११
(४) आय-कर (Income-Tax)	४३७	४६०	४६१
(५) अन्य कर	७७	८०	१०४
कुल राजस्व	३,१३४	३,१९८	३,६२३
कर से भिन्न राजस्व			
(६) ऋण व्यवस्था (Debt Services)	६११	६३०	६६२
(७) सामाजिक तथा विकास सेवाएँ (Social and Developmental Services)	३३	३५	४०
(८) मुद्रा और टकसाल (Currency and Mint)	९८	९९	१२४
(९) विविध	१५८	१८५	१८४
कर से भिन्न कुल राजस्व	९००	९४९	१,०१०

प्राप्तियाँ (Revenue Receipts)		बजट अनुमान १९७०-७१	संशोधित अनुमान १९७०-७१	बजट अनुमान १९७१-७२
	सम्पूर्ण राजस्व	४,०३४	४,१४७	४,६३३
घटाइए	राज्यों का भाग			
	(i) आबकारी कर	३८९	३९०	४६५
	(ii) आय पर कर	३४८	३५९	४२१
	(iii) सम्पदा कर	७	६	७
	योग	७४४	७५५	८९३
	शुद्ध केन्द्रीय राजस्व	३,२९०	३,३९२	३,७४०

भारत सरकार का आय-व्यय, १९७१-७२

(करोड़ रुपयों में)

व्यय	बजट अनुमान १९७०-७१	संशोधित अनुमान १९७०-७१	बजट अनुमान १९७१-७२
(१) रक्षा सेवाएँ (Defence)	१,०१८	१,०४०	१,०७९
(२) अंशदान और समायोजन	६३६	६२९	७८३
(३) ऋण सेवाएँ	५९७	६०४	६४८
(४) सामाजिक और विकास सेवाएँ	३२०	३१४	३७६
(५) प्रशासनिक सेवाएँ	१९०	२७१	२३७
(६) कर तथा शुल्क संग्रह	४९	४८	५१
(७) विविध	३४२	३५७	४१३
योग	३,१५२	३,१९३	३,५८७
राजस्व खाते में अधिशेष	+१३८	+१९९	+१५३
जोड़	३,२९०	३,३९२	३,७४०

अब इन सभी मदों पर क्रमशः विचार किया जायगा।

आय के मद

(१) आय-कर (Income Tax)—यह एक प्रत्यक्ष कर है और व्यक्तियों की आय पर लगाया जाता है। कम्पनियों अथवा व्यावसायिक संस्थानों की आय पर लगाये गये कर को निगम-कर कहा जाता है। व्यक्तियों के अतिरिक्त संयुक्त हिन्दू परिवार (Hindu undivided family) तथा अपंजीकृत व्यवसाय (Unregistered Firms) पर भी आय कर लगता है। व्यक्तिगत आय का कुछ भाग कर-मुक्त होता है और निश्चित सीमा के पश्चात आय-कर लगना प्रारम्भ होता है। तत्पश्चात बढ़ती हुई आय पर बढ़ती हुई दर में कर लगता है। उदाहरणतः, भारत में प्रत्येक व्यक्ति की ५,००० रुपये तक की आय कर से मुक्त है। इसके पश्चात बढ़ती हुई दर पर कर देना पड़ता है।

आय-कर का प्रभाव करदाता की जेब पर प्रत्यक्ष पड़ता है और भारतीय आय-कर विभाग द्वारा कर की माँग यथासमय नहीं की जाती। नौकरी-पेशा लोगों का आय-कर उनके वेतन में से

ही कट जाता है, परन्तु यदि उनकी और किसी साधन से भी आय हो तो उस पर कर की माँग में प्राय बहुत देर होती है और उसका भुगतान करने मे भी असुविधा होती है ।

भारत सरकार जितना आय-कर वसूल करती है उसका एक भाग राज्य सरकार को दे दिया जाता है । इस सम्बन्ध मे प्रथम वित्त आयोग ने यह सुझाव दिया था कि आय-कर की कुल प्राप्ति का ५५ प्रतिशत भाग राज्यों में बाँट दिया जाना चाहिए । दूसरे आयोग ने यह भाग ६० प्रतिशत तथा तीसरे आयोग ने ६६⅔ प्रतिशत कर देने का सुझाव दिया । चतुर्थ तथा पचम वित्त आयोग ने आय-कर का ७५ प्रतिशत भाग राज्य सरकारो को हस्तान्तरित करने का सुझाव दिया जिसे भारत सरकार ने स्वीकार कर लिया । कुल प्राप्ति के ७५ प्रतिशत भाग का वितरण राज्यों म, ८० प्रतिशत जनसंख्या के आधार पर तथा २० प्रतिशत क्षेत्रीय वसूली के आधार पर किया जाता है । १९७१ ७२ मे आय-कर से कुल ४६१ करोड रुपये की प्राप्ति होने का अनुमान है जिसमे से ४२१ करोड रुपया राज्य सरकारो को वितरित कर दिया जायगा ।

(२) निगम कर (Corporation Tax)—देशी तथा विदेशी कम्पनियों की आय पर जो कर लगता है उसे निगम कर कहा जाता है । निगम कर प्राय सम्पूर्ण आय पर एक निश्चित दर से लगाया जाता है और सम्पूर्ण आय ज्ञात करते समय व्यावसायिक खर्चों तथा निश्चित दर पर अपकर्ष (Depreciation) आदि की छूट दी जाती है ।

निगम कर से भारत सरकार को ४२० करोड रुपये वार्षिक से अधिक प्राप्ति होती है । १९७०-७१ म इस मद स ३६५ करोड रुपये की प्राप्ति हुई और १९७१-७२ मे इससे ४११ करोड रुपये प्राप्त होने की आशा है । भारत मे निजी कम्पनियों (Private companies) को आय के पहल १० लाख रुपय पर ५५ प्रतिशत तथा शेष पर ६५ प्रतिशत कर देना पडता है । सार्वजनिक कम्पनियों (Public companies) को प्रथम २५,००० रुपये पर ४५ प्रतिशत तथा शेष पर ५५ प्रतिशत कर देना पडता है ।

(३) सीमा शुल्क (Custom Duties)—सरकार द्वारा अनेक वस्तुओ पर आयात अथवा निर्यात कर लगाये जाते हैं । कभी कभी आयात कर लगाने का उद्देश्य देशी उद्योगों को सरक्षण देना होता है, किन्तु कभी कभी आय प्राप्ति के लिए भी आयात शुल्क लगा दिया जाता है । इसी प्रकार विभिन्न वस्तुओ के निर्यातों को प्रोत्साहित करन के लिए अथवा आय प्राप्त करने की दृष्टि से निर्यात शुल्क लगाये जाते हैं । निर्यात शुल्क प्राय ऐसी वस्तुओं पर ही लगाये जाते हैं जिनकी विदेशी माँग कम लोचदार होती है ।

भारत सरकार को सीमा-शुल्को स प्राप्त आय म निरन्तर वृद्धि होती जा रही है क्योंकि भारत का विदेशी व्यापार गत पन्द्रह वर्षों मे लगभग दुगुना हो गया है । १९७०-७१ मे सरकार को सीमा शुल्क मे प्राप्त आय ४८८ करोड रुपये थी । १९७१ ७२ मे इस मद मे लगभग ५३४ करोड रुपय प्राप्त होन का अनुमान है ।

(४) सघीय उत्पादन-शुल्क (Union Excise Duties)—भारत सरकार ७० से भी अधिक वस्तुओं पर उत्पादन शुल्क लगाती है । इस शुल्क की यह विशेषता है कि यह एक अप्रत्यक्ष कर है और उत्पादनकर्ता से वस्तु के परिमाण अथवा मूल्य के आधार पर वसूल किया जाता है । भारतीय सविधान के अनुसार सघीय उत्पादन शुल्क का एक भाग राज्यों को हस्तान्तरित करना अनिवार्य नहीं है । यदि ससद चाहे तो कुल वसूली का एक अश राज्यो को दिया जा सकता है ।

सन् १९६५-६६ तक राज्यों को केवल ३४ वस्तुओ पर लगाये गये सघीय उत्पादन शुल्क में हिस्सा मिलता था परन्तु चतुर्थ वित्त आयोग ने यह सुझाव दिया कि सभी वस्तुओं (जिनकी सख्या ७० से अधिक है) पर प्राप्त उत्पादन शुल्क का २० प्रतिशत राज्य सरकारो को वितरित कर दिया जाना चाहिए और वस्त्र, तम्बाकू तथा शक्कर पर वसूल किया गया सम्पूर्ण उत्पादन कर

राज्यो को हस्तान्तरित होना चाहिए। इस सुझाव से राज्यो की नियमित आय मे पर्याप्त वृद्धि हो गयी है।

गत वर्षो मे योजनाओ की कार्यान्विति के कारण प्राय. सभी क्षेत्रो मे उत्पादन मे वृद्धि हुई है, अत सघीय उत्पादन शुल्क से प्राप्त आय भी बढ गयी है। १६७०-७१ मे सघीय आबकारी कर की कुल वसूली १८०५ करोड रुपये थी जिसमे से लगभग ३६० करोड रुपये की राशि राज्य सरकारो को वितरित कर दी गयी। १६७१ ७२ मे इस मद से २,०८३ करोड रुपये प्राप्त होने की आशा है जिसमे से ४६५ करोड रुपया राज्यो को अन्तरित कर दिया जायगा।

(५) सम्पत्ति तथा पूँजीगत व्यवसाय पर कर (Taxes on Property and Capital Transactions)—इस मद मे कर सम्पदा शुल्क (Estate duty), सम्पत्ति-कर (Wealth-tax), उपहार-कर (Gift-tax), मुद्राक तथा रजिस्ट्री (Stamps and Registration) और भूमि पर लगान (Land Revenue) सम्मिलित हैं।

सम्पदा शुल्क (Estate Duty)—यह १५ अक्टूबर, १६५३ से लगाया गया था। इस शुल्क को मृत्यु-कर के नाम से भी पुकारा जाता है। इसके अनुसार जब किसी व्यक्ति का देहान्त हो जाता है तो वह भूमि, मकान, नकद रकम, स्वर्ण, अश अथवा अन्य किसी भी रूप मे जो सम्पत्ति छोड जाता है उस सम्पूर्ण सम्पत्ति पर कर देना पडता है। भारत मे कृषि भूमि (जो उत्तराधिकार मे मिलती है) पर राज्य सरकार कर लगा सकती है। सम्पदा-शुल्क ५०,००० रुपये से अधिक की सम्पत्ति पर ही लगाया जाता है। सम्पदा शुल्क स प्राप्त कुल रकम को विभिन्न राज्यो मे बाँट दिया जाता है। केवल २ प्रतिशत भाग केन्द्र शासित प्रदेशो के हिस्से के रूप मे भारत सरकार द्वारा रख लिया जाता है। राज्यो को वितरित रकम (कुल वसूली का ६८ प्रतिशत) जनसख्या के अनुपात मे बाँटी जाती है। इस शुल्क से सरकार को कुल लगभग ७ करोड रुपये वार्षिक की प्राप्ति होती है, अतः भारत सरकार का शुद्ध भाग नाममात्र ही है।

सम्पत्ति-कर (Wealth Tax)—यह प्रो० निकलसन काल्डर के सुझाव पर १ अप्रैल, १६५७ से लागू किया गया। यह कर व्यक्तियो की सम्पत्ति पर लगाया गया है (प्रारम्भ मे यह कम्पनियो की सम्पत्ति पर भी लागू किया गया था परन्तु बाद मे हटा लिया गया)। इसके अनुसार किसी व्यक्ति के पास जितनी कुल सम्पत्ति है (भवन नकद, कृषि भूमि अथवा अन्य वस्तुएँ आदि) उसमे से उसके ऋणो की रकम घटा देने से जो शुद्ध रकम निकलती है उस पर कर लगाया जाता है। इस कर से व्यक्तियो की १ लाख रुपय तथा सयुक्त हिन्दू परिवार की २ लाख रुपय तक की सम्पत्ति को मुक्त रखा गया है। कर की दरे सम्पत्ति की रकम के अनुसार ऊँची रखी गयी हैं। सम्पत्ति कर से वार्षिक आय लगभग ३० करोड रु० है।

उपहार कर (Gift-Tax)—यह कर भी निकलसन काल्डर के सुझाव पर १ अप्रैल, १६५८ से लागू किया गया। यह कर सम्पदा शुल्क तथा सम्पत्ति कर की प्रवचना (Evasion) अथवा चोरी समाप्त करने की दृष्टि से आवश्यक था क्योकि बहुत-से व्यक्ति इन करो से बचने के लिए सम्पत्ति के विभिन्न भाग अपने सम्बन्धियो के नाम उपहार के रूप मे हस्तान्तरित करने लगे थे।

उपहार-कर भी बढती हुई दर पर लगाया गया है। उदाहरणत ५,००० रुपये तक के मूल्य के उपहार पर कोई कर नही है। उपहार कर से भारत सरकार को लगभग २ करोड रुपये की वार्षिक आय होती है।

मुद्राक तथा रजिस्ट्री (Stamps and Registration) **तथा भूमि पर लगान** (Land Revenue)—इसमे वह आय सम्मिलित होती है जो केन्द्र प्रशासित प्रदेशो से मुद्राक या रजिस्ट्री अथवा लगान से प्राप्त होती है। सर्वोच्च न्यायालय को प्राप्त मुद्राक आदि की आय भी भारत सरकार की ही आय होती है। मुद्राक तथा रजिस्ट्री से लगभग ७ करोड रुपये की वार्षिक आय होती है।

(६) सार्वजनिक व्यावसायिक संस्थानों से आय (Net Contribution of Public Undertakings)—इस मद के अन्तर्गत उन व्यावसायिक संस्थानों से प्राप्त आय सम्मिलित होती है जिन्हें भारत सरकार चलाती है। उदाहरणतः रेलों के संचालन पर भारत सरकार का एकाधिकार है। अतः आवश्यक खर्चे, संचालन-व्यय तथा कोषों की व्यवस्था करने के पश्चात् कुछ रकम लाभांश के रूप में सरकार को हस्तान्तरित की जाती है। यह १९७०-७१ में लगभग २६ करोड़ रुपये थी जिसके १९७१-७२ में २६ करोड़ रुपये ही होने की आशा है।

डाक-तार विभाग यद्यपि लाभ की दृष्टि से संचालित नहीं किया जाता परन्तु फिर भी यत्किंचित् आय इस विभाग का हो जाती है। १९७०-७१ में इस विभाग की शुद्ध आय २.६ करोड़ रुपये से कुछ अधिक थी किन्तु डाक दरें बढ़ जाने के कारण १९७१-७२ में यह आय ३ करोड़ रुपये हो जाने की आशा है।

(७) मुद्रा तथा टकसाल (Curreney and Mint) से भी भारत सरकार को प्रति वर्ष कुछ रकम प्राप्त होती है। रिजर्व बैंक एक सरकारी बैंक है अतः नोट निकालने अथवा बैंकिंग व्यवसाय से उसे प्रति वर्ष जो शुद्ध आय होती है वह भारत सरकार को हस्तान्तरित कर दी जाती है। वास्तव में, इस मद में रिजर्व बैंक को जो लाभ होता है उसमें से टकसालों को होने वाली हानि की पूर्ति करनी पड़ती है। १९७०-७१ में इस मद से सरकार को १०० करोड़ रुपये की आय हुई। १९७१-७२ में इस मद से सरकार को लगभग १२४ करोड़ रुपये की रकम प्राप्त होने की आशा है।

उपर्युक्त प्राप्तियों के अतिरिक्त भारत सरकार द्वारा संचालित अनेक कारखानों से प्राप्त शुद्ध लाभ इसी मद में सम्मिलित किये जाते हैं। इनके अतिरिक्त केन्द्र के अधीन क्षेत्रों के वनों, अफीम, सिंचाई तथा यातायात से प्राप्त आय भी इस मद का भाग है।

(८) विविध (Miscellaneous)—उपर्युक्त मदों के अतिरिक्त भारत सरकार को आय में अनेक फुटकर मदों से आर्थिक प्राप्तियाँ होती हैं।

सामाजिक तथा विकास क्षेत्रों में भी शुल्क तथा फीस आदि के रूप में कुछ आय प्राप्त होती है। इसके अतिरिक्त भारत सरकार राज्यों को जो रकम उधार देती है उसका ब्याज नियमित रूप से वसूल कर लिया जाता है। सरकारी तथा गैर-सरकारी व्यावसायिक संस्थानों को भी सरकार द्वारा रकमें उधार दी जाती हैं जिन पर ब्याज वसूल किया जाता है। आयोजन-काल में केन्द्रीय सरकार द्वारा राज्यों तथा व्यावसायिक संस्थानों को दिये गये ऋण की रकम में आशातीत वृद्धि हुई है। अतः ब्याज की आय भी बहुत बढ़ी है। उदाहरणतः, १९७०-७१ में इस मद में भारत सरकार को लगभग ६३० करोड़ रुपये की आय हुई जिसकी रकम १९७१-७२ में ६६२ करोड़ रुपये तक पहुँच जाने की आशा है।

व्यय के मद

केन्द्रीय सरकार के खर्च के मदों में मुख्य निम्न हैं :

(१) प्रतिरक्षा सेवाएँ (Defence Services)—भारत सरकार के प्रतिरक्षा-व्यय में गत वर्षों में बहुत वृद्धि हुई है क्योंकि पाकिस्तान और चीन से राजनीतिक सम्बन्ध अच्छे न रहने के कारण स्थल, जल और वायु सेनाओं का विस्तार तेजी से करना पड़ा है। इसके अतिरिक्त हथियारों तथा सैनिक सामान पर भी व्यय की मात्रा बढ़ गयी है। फलतः भारत सरकार का रक्षा-व्यय कुल व्यय का लगभग ३२ प्रतिशत हो गया है।

भारत सरकार को अन्तरराष्ट्रीय क्षेत्र में शान्ति बनाये रखने के लिए भी कोरिया, वियतनाम, कांगो तथा साइप्रस आदि में सैनिक भेजने पड़े जिन पर कुछ व्यय सरकार को करना

पड़ा। इन सब प्रवृत्तियों का परिणाम यह निकला कि भारत का रक्षा-व्यय जो १९५५-५६ में लगभग २०३ करोड रुपये था, बढ़कर १९७१-७२ में लगभग १,०७९ करोड रुपये होने की आशा है।

(२) ऋण सेवाएँ (Debt Services)—गत वर्षों में भारत सरकार को रक्षा एवं विकास कार्यों के लिए अत्यधिक रकम उधार लेनी पड़ी है। फलत लोक ऋण की मात्रा जो जनवरी १९५१ में १,२५८ करोड रुपये थी, १९७० के अन्त में लगभग १६,००० करोड रुपये हो गयी है। स्वभावत इस ऋण पर दिये जाने वाले ब्याज की रकम भी बहुत बढ़ गयी है और सरकार की आय का लगभग २० प्रतिशत भाग ले लेती है। १९७०-७१ में भारत सरकार को ब्याज के रूप में लगभग ६०४ रुपये चुकाने पड़े। यह दायित्व १९७१-७२ में लगभग ६४८ करोड रुपये तक पहुँचने की सम्भावना है।

(३) राज्यों को अनुदान आदि (Contributions to States etc)—भारतीय राज्यों की बढ़ती हुई विकास की माँग कभी-कभी उनके व्यक्तिगत साधनों द्वारा पूरी नहीं हो पाती है, अत भारत सरकार से अनुदान की माँग की जाती है। वित्त आयोगों ने राज्यों को अनुदान देने के लिए निम्न दृष्टिकोण अपनाने पर बल दिया है

(i) राज्यों के बजटों का कहाँ तक प्रमापीकरण किया गया है ?

(ii) राज्यों ने अपनी आय-वृद्धि के लिए कहाँ तक प्रयत्न किया है।

(iii) सरकारी व्यय में कमी करने के लिए क्या प्रयत्न किये गये हैं ?

(iv) विभिन्न राज्यों में सामाजिक सेवाओं के स्तर में कितनी विभिन्नता है ?

(v) राज्यों की माग राष्ट्रीय दृष्टि से कितनी महत्वपूर्ण है ?

(vi) अनुदान देने में प्राथमिकताओं पर ध्यान दिया जाना चाहिए।

उपर्युक्त शर्तों से यह ज्ञात होता है कि राज्यों को अनुदान देते समय आर्थिक विकास की प्राथमिकताओं पर ध्यान दिया जाता है तथा सरकारों को अपने व्यय की स्वयं पूर्ति करने के लिए प्रोत्साहित किया जाता है।

सन् १९५०-५१ में केन्द्र द्वारा राज्यों को दिये गये अनुदानों की रकम लगभग १६ करोड रुपये थी। १९७०-७१ में यह बढ़कर ५९२ करोड हो गयी और १९७१-७२ में ७८३ करोड रुपये तक पहुँच जाने की आशा है। इस वृद्धि के निम्न कारण हैं

(i) कुछ राज्य बहुत पिछड़े हुए हैं अत उनका आर्थिक स्तर ऊँचा करने के लिए अधिक अनुदान देना आवश्यक है। उन राज्यों में जनता की कर-दान क्षमता भी न्यूनतम है, अत विकास के लिए आन्तरिक साधनों में यथेष्ट राशि प्राप्त करना कठिन है।

(ii) गत वर्षों में विकास योजनाओं का आर्थिक दबाव बहुत बढ़ गया है अत केन्द्रीय सहायता बढ़ानी पड़ी है।

(४) सामाजिक तथा विकास सेवाएँ (Social and Developmental Services)—इस मद के अन्तर्गत सिंचाई तथा बहुमुखी नदी घाटी योजना, बन्दरगाह, प्रकाश-स्तम्भ (जहाजों के लिए), वैज्ञानिक विभाग (कृषि रसायन, भौतिकशास्त्र, औषधि आदि से सम्बन्धित अनुसन्धान कार्य), शिक्षा, स्वास्थ्य, चिकित्सा, कृषि, ग्राम्य विकास, पशु-पालन, सहकारिता, उड्डयन, रेडियो प्रसारण, विद्युत् योजनाएँ, सामुदायिक विकास, श्रम तथा रोजगार तथा समुद्र पार संचार आदि से सम्बन्धित कार्यों पर किये गये व्यय सम्मिलित हैं। एक कल्याणकारी राज्य में इन सेवाओं के विकास एवं विस्तार का बहुत महत्त्व है क्योंकि जनता के मानसिक, सामाजिक, भौतिक तथा शारीरिक विकास के बिना प्रजातन्त्र एक हास्यास्पद कल्पना मात्र रह जाता है। गत वर्षों में (विशेषत योजनाओं के उद्भरण में) इन मदों पर किये गये व्यय में निरन्तर वृद्धि हो रही है। सन्

१९७०-७१ मे इन सेवाओ पर कुल ३१४ करोड रुपये व्यय किये गये जबकि सन् १९७१-७२ मे इन पर लगभग ३७६ करोड रुपये व्यय होने का अनुमान है।

(५) **प्रशासनिक व्यय** (Civil Administration)—सरकार को शासन-व्यवस्था को उचित रूप मे सचालन करने के लिए अनेक विभाग स्थापित करने पडते हैं जिनमे कर्मचारियो की सेवाओ तथा मकान किराया, परिवहन, कार्यालय-सचालन आदि सम्बन्धी अनेक व्यय करने पडते हैं। इन खर्चो मे मुख्यत सामान्य प्रशासन, अकेक्षण (Audit), न्याय-व्यवस्था जेल, पुलिस तथा विदेशी सेवाओ (दूतावास आदि) पर किये गये खर्च महत्त्वपूर्ण हैं। सरकारी दायित्वो मे निरन्तर वृद्धि होने के कारण इस मद के अन्तर्गत भी व्यय मे निरन्तर वृद्धि हो रही है। १९७०-७१ मे इस मद पर कुल व्यय की राशि लगभग २०१ करोड रुपये थी जिसके सन् १९७१-७२ मे २३७ करोड रुपये तक पहुँच जाने का अनुमान है।

(६) **कर वसूली आदि** (Collection of Taxes etc)—केन्द्रीय सरकार जितने कर तथा अधिभार लगाती है उनकी वसूली करने के लिए अनेक विभाग स्थापित करने पडते हैं। आय-कर विभाग, सीमा शुल्क विभाग, आबकारी विभाग आदि केवल विभिन्न करो की प्राप्ति के लिए ही निर्मित किये गये हैं। इन विभागो के कर्मचारियो तथा कार्यालयो पर सरकार को प्रतिवर्ष लगभग ६०-७० करोड रुपया व्यय करना पडता है।

(७) **विविध** (Miscellaneous)—उपर्युक्त सब खर्चो के अतिरिक्त सरकार को अनेक दूसरे मदो पर भी व्यय करने पडते हैं। इनमे से एक मद है सरकारी कर्मचारियो की पेंशनें तथा पुराने शासको के प्रिवी पर्स (Privy Purses) जिन पर लगभग ११ करोड रुपया वार्षिक व्यय किया जाता है। इसके अतिरिक्त राज्य सरकारो को कुछ असाधारण अनुदान (Extraordinary Grants) दिये जाते हैं जो अधिक अन्न उपजाओ आन्दोलन या अकाल, बाढ, सूखा अथवा अन्य प्राकृतिक सकटो से छुटकारा पाने के लिए होते हैं। इन अनुदानो की रकम आवश्यकतानुसार घटती-बढती रहती है। उपर्युक्त कार्यो के अतिरिक्त सरकार मुद्रा तथा टकसाल, सार्वजनिक निर्माण (सडकें, नहरें तथा उनकी मरम्मत), कागज, छपाई आदि अनेकानेक कार्यो पर व्यय करती है। इन मदों की रकम विकास की माँग के अनुसार घटती बढती रहती हैं। गत वर्षो मे अन्य खर्चों की भाँति इन पर भी राष्ट्रीय व्यय मे वृद्धि हुई है।

पूँजी बजट

केन्द्रीय सरकार सदा दो बजट तैयार करती है, **राजस्व बजट** (Revenue Budget) जिसमे करो से प्राप्त आय तथा नियमित मदो पर किये जाने वाले व्यय का ब्यौरा होता है दूसरा **पूँजी बजट** (Capital Budget) जिसमे सरकार द्वारा किये जाने वाले पूँजीगत खर्च (विभिन्न मदो पर विनियोग, ऋण भुगतान आदि) तथा पूँजीगत प्राप्तियाँ (ऋण तथा दिये हुए ऋणो की वापसी की रकम) सम्मिलित है। यह बजट राजस्व बजट से अलग इसलिए बनाया जाता है कि इसके तथाकथित आय के स्रोत करो से नही बल्कि ऋणो आदि से प्राप्त होते हैं जिनका वापस भुगतान करना आवश्यक होता है जबकि करो से प्राप्त आय सदा के लिए सरकार की हो जाती है, उसे लौटाना नहीं पडता।

भारत सरकार का पूँजी बजट

(करोड रुपयो मे)

	१९५०-५१ (वास्तविक)	१९७१-७२ (अनुमानित)
प्राप्तियाँ (Receipts)		
१. ऋण (देशी-विदेशी आदि)	३८	९३७
२. राज्यो द्वारा ऋण भुगतान	८	९३०
३ अल्प बचत	३४	१८०
४. विविध	२४	३०८
योग	१०४	२,३५५

भुगतान (Disbursements)		
१ रेलो मे विनियोग	२५	१५१
२ औद्योगिक विकास	६	३०६
३ प्रतिरक्षा	४	१६२
४ डाक तार	७	३६
५ सार्वजनिक निर्माण	६	१८६
६ राज्यो को ऋण	६१	६६६
७ ऋण भुगतान	४६	३३२
८ अन्य ऋण (सरकारी निगम आदि)	४	५८७
९ विविध	१८	—४
योग	१८३	२,७२८
घाटा		३७३

(१) पूंजी बजट की प्राप्तियों के मदो से स्पष्ट है कि उसका अधिकाश भाग देश तथा विदेश के ऋणों के रूप मे प्राप्त किया जाता है। इन ऋणो मे विश्व बैंक परिवार तथा सरकारी स्तर पर प्राप्त किये गये अन्य ऋण भी सम्मिलित हैं। इन ऋणो पर दिया जाने वाला ब्याज राजस्व बजट मे दिखाया जाता है और राजस्व खाते से ही उसका भुगतान होता है।

उपर्युक्त मदो के अतिरिक्त राज्य सरकारो द्वारा लिये गये ऋणो की वसूली से भी रकम उपलब्ध होती है, जनता से अल्प-बचत योजनाओ के अन्तर्गत जमा की गयी रकमें प्राप्त होती हैं।

(२) पूंजीगत भुगतान मे पूंजीगत मदो पर किये गये विनियोग तथा ऋणो के भुगतान प्रमुख हैं। उदाहरणत रेल उद्योग, डाक तार तथा सार्वजनिक निर्माण कार्यों मे ही १९७१-७२ मे लगभग ६०० करोड रुपया विनियोजित किया गया। इसके अतिरिक्त प्रतिरक्षा मे विनियोग की रकम मे भी आशातीत वृद्धि हो रही है क्योंकि नये-नये हथियार तथा गोला बारूद बनाने के कारखानो मे पूंजी लगाना आवश्यक हो गया है। राज्यो के नये ऋण, पुराने परिपक्व ऋणों के भुगतान तथा व्यवसायों के लिए ऋण की मदें गत वर्षो मे बहुत बढ गयी हैं। यह एक विकासशील अर्थव्यवस्था का निश्चित सकेत चिह्न है।

सार्वजनिक व्यय की वृद्धि के कारण—योजनाकाल मे भारत के सार्वजनिक व्यय मे तीव्र गति से वृद्धि हुई है जिसका अनुमान निम्नाकित तालिका से लग सकता है :

भारत सरकार का व्यय

	१९५०-५१	१९६०-६१	१९७१-७२
१ राजस्व खाता	३४७	८२६	३,५८७
२ पूंजी खाता	१८३	१,००१	२,७२८
योग	५३०	१,८२७	६,३१५

उपर्युक्त अको से स्पष्ट है कि राजस्व खाते मे सरकारी व्यय लगभग दस गुना तथा पूंजी खाते मे केन्द्रीय व्यय लगभग १५ गुना हो गया है। इस अप्रत्याशित वृद्धि के निम्नलिखित कारण हैं।

(१) **प्रतिरक्षा व्यय में वृद्धि**—सरकारी व्यय मे, विशेषत राजस्व खाते मे, वृद्धि का एक महत्वपूर्ण कारण प्रतिरक्षा व्यय मे हुई निरन्तर वृद्धि है। उदाहरणत, १९५०-५१ मे सरकार का प्रतिरक्षा व्यय केवल १६४ करोड रुपये था जो १९६०-६१ मे २४८ करोड रुपये हो गया किन्तु १९६२ ६३ मे यह अकस्मात ४२५ करोड रुपये हो गया। इसका मुख्य कारण भारत और

पाकिस्तान मे बढता हुआ राजनीतिक तनाव रहा है। अक्टूबर १९६२ मे चीन द्वारा भारत की सीमाओं का खुलेआम अतिक्रमण किया गया जिससे प्रतिरक्षा-व्यय में तत्काल वृद्धि करना स्वाभाविक था। इसके पश्चात् अगस्त १९६५ में पाकिस्तानी सेनाओ ने भी भारतीय सीमा-रेखा में प्रवेश कर दिया अत १९६५-६६ मे प्रतिरक्षा-व्यय लगभग ७६६ करोड रुपये हुआ। इसी प्रकार प्रतिरक्षा से सम्बन्धित अनेक पुरानी औद्योगिक इकाइयो का विस्तार तथा नयी इकाइयो की स्थापना की गयी जिसमें प्रतिरक्षा मे सम्बन्धित पूँजी-व्यय मे भी वृद्धि हो गयी। १९५०-५१ म पूँजी खाते मे लगभग ४ करोड रुपया प्रतिरक्षा पर व्यय किया गया था जबकि इस मद का वर्तमान वार्षिक विनियोग लगभग १३० करोड रुपया है। १९७१-७२ मे प्रतिरक्षा के मद मे कुल लगभग १,२४१ करोड रुपया खर्च होने का अनुमान है।

(२) **प्रशासनिक व्यय में वृद्धि**—स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् विशेषत नियोजनकाल मे, सरकार ने अनेक नये विभागो की स्थापना की है तथा पुराने विभागो का विस्तार किया है। केन्द्रीय मन्त्रिमण्डल, सचिवालय, पुनर्वास तथा पुनर्संस्थापन तथा आयोजन क्षेत्र मे स्थापित विभागो का अत्यधिक विस्तार किया गया है जिससे सरकारी व्यय में अप्रत्याशित वृद्धि हुई है। राज्यों मे गवर्नरों के पद स्थापित करने, केन्द्र मे राज्य सभा (Upper House) की व्यवस्था करने तथा अनेक देशों में दूतावासो की स्थापना करने सरीखे राजनीतिक निश्चयो का देश की अर्थ-व्यवस्था पर बहुत भार पडा है। गत वर्षों मे बढती हुई महँगाई के फलस्वरूप महँगाई भत्ते में अनेक बार वृद्धि करनी पडी है। फलत प्रशासनिक व्यय की राशि १९५०-५१ से २१ करोड रुपये से बढकर अब २३७ करोड रुपये तक पहुँच गयी है।

(३) **समाज सेवाओं का विकास**—गत वर्षों में सरकार द्वारा शिक्षा, चिकित्सा, जनस्वास्थ्य मनोरजन, सहकारिता सामुदायिक विकास आदि सामाजिक लाभ की अनेकानेक नयी योजनाएँ लागू की गयी हैं। देश मे समाजवादी समाज की स्थापना की दृष्टि से योजनाओ का विकास एव विस्तार सर्वथा स्वाभाविक एव समयानुकूल है। सामाजिक सेवाओ पर व्यय १९५०-५१ मे केवल ४० करोड रुपये था जिसकी राशि १९७१-७२ मे २७६ करोड रुपया होने की आशा है।

(४) **विकास कार्यों का विस्तार**—राजनीतिक स्वतन्त्रता को वास्तविक स्वतन्त्रता का रूप देने के लिए यह आवश्यक है कि देश का आर्थिक विकास तीव्र गति से किया जाय, जनता की आय एव जीवन स्तर में त्वरित गति से वृद्धि की जाय तथा यातायान, सवादवहन एव सिंचाई आदि की सुविधाओं को गतिशीलता प्रदान की जाय। भारत सरकार की योजना नीति इन उद्देश्यो के अनुकूल ही है। स्वभावत नयी नयी बाँध योजनाओ, विद्युत विकास, यात्रा, यातायात सुविधाओ, कल-कारखानों तथा अन्य विकास कार्यों पर अधिकाधिक धनराशि व्यय की जा रही है। उदाहरणत रेलो के विस्तार पर १९५० ५१ म केवल २५ करोड रुपये की रकम विनियोग की गयी थी जिसकी मात्रा बढकर १९७१-७२ मे १५१ करोड रुपये हो जायगी, डाक तार योजनाओ पर किये गये विनियोग ७ करोड रुपये से ३९ करोड रुपये तक पहुँच गये, निर्माण कार्यों पर व्यय ९ करोड रुपये मे बढ़कर १०० करोड रुपय और औद्योगिक विकास मे विनियोग १८ करोड रुपये से बढकर ३०० करोड रुपये तक पहुँच गये हैं।

(५) **राजनीतिक उपद्रवों की शान्ति**—स्वतन्त्रता के पश्चात् सरकार को समय समय पर आन्तरिक कलह का सामना करना पडा है। विभाजन से उत्पन्न उपद्रवो के अतिरिक्त मजदूरो के उपद्रव, भाषावार राज्यो की समस्याएँ, राज्यो की सीमा समस्या, अकाल आदि से उत्पन्न दंगे तथा आर्थिक विपत्तियो के फलस्वरूप हडतालें, तालाबन्दी आदि को रोकथाम या समाधान पर सरकार को अनेक बार बहुत रकम खर्च करनी पडी है क्योंकि स्वतन्त्र राष्ट्र मे जनता की माँगो को यथोचित महत्व देना आवश्यक होता है। अत सरकारी व्यय मे निरन्तर वृद्धि होती गयी है।

उपर्युक्त कारणो मे कुछ एक-दूसरे से सम्बन्धित हैं परन्तु प्रतिरक्षा, विकास तथा समाज सेवाओ का विस्तार समाजवादी प्रजातन्त्र के उद्धरण मे आवश्यक रहा है, अत इस प्रकार व्यय मे वृद्धि होना सर्वथा स्वाभाविक है।

(६) अकुशल प्रशासन—कुछ आलोचकों का कथन है कि स्वतन्त्रता-प्राप्ति के पश्चात् भारत सरकार ने प्रशासन मे अनेक विभाग केवल राजनीतिक कारणों से स्थापित किये हैं जिनमें राजनीतिक प्रभाव वाले व्यक्तियों को नियोजित किया गया है। प्रशासन मे इस राजनीतिक हस्तक्षेप के कारण अकुशलता बढ़ गयी है जिसमे सुधार करने के लिए नये-नये पद स्थापित किये जाने लगे हैं, अनेक प्रकार की समितियाँ और आयोग नियुक्त किये जाने लगे हैं जिन पर करोड़ो रुपया व्यय हो जाता है। इन समितियो तथा आयोगो की सिफारिशें प्राय रद्दी की टोकरी मे डाल दी जाती हैं क्योंकि इनमे अनेक बार प्रभावशाली पूँजीपतियो (जिनके धन से शासक दल चुनाव मे विजय प्राप्त करता है) अथवा भ्रष्ट किन्तु सत्तारूढ राजनीतिज्ञों की आलोचना होती है। सरकार को चाहिए कि देश की गरीब जनता की गाढे पसीने की कमाई (जो सरकार के पास करो के रूप मे जमा होती है) का दुरुपयोग रोका जाय। इससे अनेक आर्थिक कठिनाइयाँ तथा कष्ट दूर हो जायेंगे। राष्ट्रीय हितों की दृष्टि से देश के नेतृत्व को कथनी और साम्य का आदर्श उपस्थित करना चाहिए।

भारतीय कर-व्यवस्था की विशेषताएँ

इस अध्याय को समाप्त करने से पूर्व यह आवश्यक है कि भारतीय कर-व्यवस्था के लक्षणो अथव विशेषताओ पर भी संक्षिप्त विचार कर लिया जाय। अत इसका विवेचन यहाँ किया जा रहा है। सामान्य रूप में भारतीय कर-व्यवस्था की निम्नलिखित विशेषताएँ दृष्टिगोचर होती हैं

(१) सन्तुलित करारोपण (Balanced Taxation)—भारत मे जनसंख्या अधिक होने के कारण सरकार ने यह ध्यान रखा है कि जो व्यक्ति जितना कर सरलता से चुका सके उससे उतनी ही राशि वसूल की जाय। यह समता के सिद्धान्त के अनुकूल है तथा इस दृष्टि से भी महत्वपूर्ण है कि देश के आर्थिक विकास मे प्रत्येक व्यक्ति का यथाशक्ति योगदान होना चाहिए। इस प्रकार सम्पूर्ण कर-प्रणाली मे प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष करो का सन्तुलित मिश्रण है।

(२) प्रगतिशील (Progressive)—भारतीय कर-प्रणाली इस ढग से व्यवस्थित की गयी है कि वह देश म समाजवादी समाज की स्थापना के लक्ष्य की पूर्ति मे सहयोगी हो। इस दृष्टि से आय-कर की दरें प्रगतिशील आधार पर निश्चित की जाती हैं और अधिक आय वाले व्यक्तियों पर बढती हुई दर से कर लगाया जाता है। इसके अतिरिक्त सम्पत्ति-कर (Wealth-tax), सम्पदा कर अथवा मृत्यु-कर (Estate duty or death duty), पूँजीगत लाभ-कर (Capital gains tax) आदि लगाये गये हैं जिनसे देश मे व्याप्त आर्थिक विषमता कुछ कम हो सके।

(३) कर क्षेत्र का विभाजन (Division of Area of Taxation)—भारतीय गणराज्य मे संघीय व्यवस्था होने के कारण केन्द्र तथा राज्यो मे करो का विभाजन कर लिया गया है। इसका अर्थ यह है कि कुछ कर केवल केन्द्रीय क्षेत्र मे रखे गये हैं और उनकी सम्पूर्ण आय भी केन्द्र की ही मानी जाती है। कुछ अन्य करों की वसूली केन्द्रीय सरकार द्वारा की जाती है किन्तु उनमें राज्य सरकारो को हिस्सा मिलता है, तथा कुछ करो की वसूली केन्द्रीय सरकार करती है जबकि उनकी सम्पूर्ण राशि राज्यो को हस्तान्तरित कर दी जाती है। इस प्रकार का क्षेत्रीय विभाजन आर्थिक एव राजनीतिक दोनों दृष्टिकोणों से अनिवार्य है।

(४) अनुदान (Grants)—भारतीय कर-व्यवस्था मे केन्द्रीय, राजकीय तथा स्थानीय तीनों वर्गों के वित्त का स्वतन्त्र अस्तित्व है। केन्द्र सरकार की अपनी स्वतन्त्र आय है, राज्य सरकार अपने

निर्धारित क्षेत्र में कर लगाती है, तथा स्वायत्त शासन संस्थाएँ (पंचायतें और नगरपालिकाएँ) अपने क्षेत्रों में अलग कर लगाती हैं। इस स्वतन्त्र अथवा मुक्त कर-प्रणाली का अर्थ यह नहीं है कि इनका परस्पर कोई सम्बन्ध नहीं है। वास्तविक स्थिति यह है कि समय-समय पर विशेष योजनाओं के लिए तथा कभी-कभी नियमित व्यय की पूर्ति के लिए केन्द्र सरकार राज्यों को तथा राज्य सरकार स्वायत्त संस्थाओं को सहायता अनुदान देती है। विकासशील अर्थ-व्यवस्थाओं में यह अनुदान एक नियमित क्रम बन जाते हैं क्योंकि विकास-क्रम एक दीर्घकालीन क्रिया है जिसमें प्रायः असाधारण मात्रा में धनराशि का विनियोजन करना पड़ता है। यह असाधारण धनराशि सामान्य एवं नियमित साधनों से प्राप्त करना असम्भव है, अतः अनुदानों की व्यवस्था करना बहुत आवश्यक है।

(५) लोचदार प्रणाली (Elastic System)—भारतीय कर-व्यवस्था में प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष करों का पर्याप्त सामंजस्य होने के कारण यह प्रणाली लोचदार हो गयी है। इसका एक स्पष्ट प्रमाण यह है कि गत वर्षों में आर्थिक भार के कारण देश की राजस्व आय में वृद्धि करने की आवश्यकता थी जिसे नये कर तथा पुराने करों में सामान्य संशोधन कर प्राप्त कर लिया गया है। यह एक लोचदार कर-प्रणाली का स्वरूप है।

(६) जनता पर आर्थिक भार (Incidence of Taxation)—भारतीय कर-व्यवस्था के सम्बन्ध में दो सर्वथा विरोधी मत हैं। एक मत के अनुसार देश की जनता पर कर-भार बहुत अधिक बढ़ गया है और अब अधिक कर लगाने की गुंजाइश नहीं रह गयी है। दूसरा मत यह है कि भारत में कर की दरें अनेक देशों से कम हैं अतः करों द्वारा अधिक आय प्राप्त की जानी चाहिए। इन दोनों मतों में सैद्धान्तिक विवाद अधिक और व्यावहारिक बुद्धि का अभाव प्रतीत होता है। वास्तविक स्थिति यह है कि कर-भार के औचित्य का निर्णय राष्ट्रीय आय की प्रतिव्यक्ति के आधार पर करना उचित नहीं है। भारतीय जनता की वार्षिक आय बहुत ही कम है और अधिकांश जनता निम्नतम स्तर का जीवन निर्वाह कर रही है जिस पर किसी भी प्रकार का कर लगाना सर्वथा अनुचित एवं अन्यायपूर्ण है। अतः भारतीय जनता पर लगाये गये कर (विशेषतः उपभोक्ता वस्तुओं के उत्पादन तथा विक्रय पर लगाये गये कर) अधिक हैं जिन्हें कम किया जाना चाहिए।

(७) करों की वंचना (Tax Evasion)—सामान्यतः प्रत्यक्ष कर अप्रिय एवं असुविधाजनक होता है कि किन्तु यदि करों की मात्रा उचित हो तथा उनके आरोपण में सरलता एवं वसूली में सुविधा का ध्यान रखा जाय तो जनता उसकी चोरी करना उचित नहीं समझती। भारतीय कर-व्यवस्था में सरलता का अभाव है, उसे प्रति वर्ष उलझन भरा बनाया जा रहा है जिसका परिणाम यह है कि कर-विभाग के कर्मचारियों में अत्यधिक भ्रष्टाचार व्याप्त है तथा जनता कर-वंचना के रोग से ग्रस्त हो गयी है। यह एक दुखद स्थिति है जिसकी ओर सरकार का ध्यान जाना आवश्यक है।

भारतीय कर प्रणाली में सर्वाधिक उल्लेखनीय तत्त्व उसकी प्रगतिशीलता है, किन्तु उसमें सरलता, सुविधा एवं मितव्ययिता के तत्त्वों का समावेश करना भी अत्यन्त आवश्यक है ताकि वह देश की जनता के स्तर के सर्वथा अनुकूल बन सके। कर-प्रणाली में मानवीय तत्त्वों का समावेश किये बिना उसे न्यायपूर्ण एवं उचित नहीं कहा जा सकता।

51 राज्य वित्त

(STATE FINANCE)

केन्द्रीय आय तथा व्यय के स्रोतो का गत अध्याय मे विचार किया जा चुका है। इस अध्याय मे भारतीय राज्यो के आय-व्यय के मदो का विवेचन किया जा रहा है।

राज्यो का राजस्व (१९७०-७१)

(करोड रुपयों मे)

आय के मद	१९६८-६९	१९६९-७०	१९७०-७१
१ कर राजस्व			
(I) राज्यों का राजस्व			
(क) भूमि तथा आय पर कर	१२३	११७	१२६
(ख) सम्पत्ति पर कर	१०५	११२	११८
(ग) वस्तुओ तथा सेवाओ पर कर	९७७	१,०६९	१,१५५
योग	१,२०५	१,२९८	१,३९९
(II) केन्द्रीय करों मे अशदान			
(क) आय-कर	१९५	२८२	३२२
(ख) सम्पदा-कर	६	७	७
(ग) सघीय उत्पादन शुल्क	२८७	३२२	३५२
योग	४८८	६११	६८१
२ कर के अतिरिक्त राजस्व			
(I) राजकीय अ-कर राजस्व			
१ प्रशासकीय प्राप्तियां	३३	३२	३१
२ वन	५९	५७	५९
३ लोक सस्थाओं से प्राप्तियां	६५	८६	१०८
४ ब्याज प्राप्ति	१७७	१७५	१८८
५ खनिज	२०	२७	२८
६ सामाजिक सेवाएँ	१३८	१४४	१३९
७ लाटरी	१२	२८	३६
८ सिचाई तथा बिजली	—८८	—१००	१०६
९ अन्य	६८	५८	५७
योग	४८४	५०७	५४०
(II) केन्द्र से अनुदान	४९४	५६७	५३४
कुल राजस्व	२,६७१	२,९८३	३,१५४

उपर्युक्त सारणी से स्पष्ट है कि राज्य सरकारो की कुल वार्षिक आय लगभग भारत सरकार की वार्षिक आय के तुल्य है। विभिन्न मदों से प्राप्त आय का विवेचन निम्न प्रकार है

(१) आय-कर (Taxes on Income)—इस मद मे राज्य सरकारो को केन्द्रीय सरकार द्वारा वसूल की गयी आय-कर की रकम मे से जो भाग मिलता है वह सम्मिलित है। इसकी वार्षिक रकम लगभग ४०० करोड रुपये है। इसके अतिरिक्त कुछ राज्यो (असम बिहार, केरल, मद्रास, महाराष्ट्र, मैसूर, उडीसा, राजस्थान, उत्तर प्रदेश तथा पश्चिमी बगाल) मे कृषि आय-कर भी लगाया गया है जिसकी वार्षिक आय लगभग ११ करोड रुपये है। यह रकम भी इसी मद मे सम्मिलित की गयी है।

(२) सम्पत्ति तथा पूंजीगत व्यवसाय पर कर (Taxes on Property and Capital Transaction)—इस मद मे सबसे महत्वपूर्ण कर भू राजस्व अर्थात् भूमि पर लगान है। जागीरदारी, जमीदारी तथा विस्वेदारी आदि प्रथाओ के अन्त के फलस्वरूप प्राय सभी राज्यो मे कृषि-भूमि का अधिकाश भाग राज्य सरकारो के अधिकार मे आ गया है, अत भू राजस्व से प्राप्त आय ४८ करोड रुपये (१९५१-५२) से बढकर (१९७१ ७२ मे अनुमानत.) १२६ करोड रुपये तक पहुंच गयी है।

इस मद मे दूसरी महत्त्वपूर्ण आय मुद्राक तथा रजिस्ट्री (Stamp and Registration) से है। राज्यो मे जितने न्यायलय अथवा तहसील कार्यालय हैं उनमे सम्पत्तियो की रजिस्ट्री अथवा मुकदमो आदि के सम्बन्ध मे जो मुद्राक फीस लगती है उसस बहुत आय होती है। गत वर्षो मे इस मद की आय भी निरन्तर बढती गयी है। १९५१ ५२ मे मुद्राक तथा रजिस्ट्री से केवल २६ करोड रुपये की आय थी जो बढकर १९५५-५६ मे २९ करोड रुपये, १९६०-६१ मे ४३ करोड रुपये तथा १९६५-६६ मे ७२ करोड रुपय हो गयी है। १९७०-७१ मे इस मद स ९३ करोड रुपये प्राप्त होने की आशा है।

सम्पत्ति सम्बन्धी आय म एक आय नगरीय अचल सम्पत्ति कर (Urban Immovable Property Tax) से है। नगरो म कही-कही मकानो पर नगरपालिका के अतिरिक्त राज्य सरकार भी कर लगाती है। इस कर स राज्य सरकारो को लगभग ४ करोड रुपये वार्षिक आय प्राप्त हो जाती है।

(३) वस्तुओं तथा सेवाओं पर कर (Taxes on Commodities and Services)—इस मद में अनेक वस्तुओ तथा सेवाओ पर कर सम्मिलित है जिनका ब्यौरा निम्न प्रकार है

सघीय उत्पादन-कर—भारत सरकार जिन वस्तुओ पर उत्पादन कर (Excise duty) लगाती है उससे प्राप्त रकम का एक भाग राज्यो को बांटने की परम्परा है। १९६५-६६ तक केवल ३५ वस्तुओं पर प्राप्त सघीय उत्पादन-कर का २० प्रतिशत भाग राज्यो म वितरित किया जाता था, किन्तु चतुर्थ वित्त आयोग ने यह सिफारिश की कि सभी वस्तुओ (जिनकी सख्या ७८ से भी अधिक है) पर प्राप्त सघीय उत्पादन कर का २० प्रतिशत भाग राज्यो मे बांटा जाना चाहिए और शेष ८० प्रतिशत केन्द्र सरकार को रख लेना चाहिए। पांचवें वित्त आयोग ने भी इसे बनाये रखने का सुझाव दिया।

यह आधार विभिन्न राज्यो की जनसख्या तथा आर्थिक एव सामाजिक पिछडेपन को ध्यान मे रखकर निश्चित किया गया है। गत वर्षों मे सघीय उत्पादन कर के आकार मे आशातीत वृद्धि हुई है फलत राज्यो के हिस्से मे भी महत्वपूर्ण प्रगति सम्भव हो सकी है। इसका अनुमान इस तथ्य से लगता है कि १९५१ ५२ मे राज्यो को सघीय उत्पादन-कर (Union excise duty) मे कुल ७ करोड रुपये प्राप्त होते थे जिसकी राशि १९५५-५६ मे लगभग १७ करोड रुपय, १९६०-६१ मे ७५ करोड रुपये तथा १९६५ ६६ मे १४५ करोड रुपये हो गयी है। १९७१-७२ मे यह राशि ४६५ करोड रुपये हो जाने का अनुमान है।

राज्य उत्पादन-कर—राज्य सरकारें स्वयं भी शराब, अफीम तथा अन्य मादक पदार्थों पर उत्पादन कर लगा सकती हैं। इन करों से १९५१-५२ में राज्य सरकारों को लगभग ४९ करोड़ रुपये की आय होती थी जो १९६८-६९ में लगभग १३८ करोड़ रुपये तक पहुँच जायगी। कुछ राज्यों (महाराष्ट्र, गुजरात, आन्ध्र प्रदेश आदि) में सम्पूर्ण अथवा आंशिक मद्य निषेध होने पर भी मादक पदार्थों का उत्पादन बढ़ता जा रहा है जिससे सरकारी आय में निरन्तर वृद्धि हो रही है। वास्तव में, यह पदार्थ जनता के स्वास्थ्य एवं सामाजिक जीवन पर बहुत बुरा प्रभाव डालते हैं अतः इनका प्रयोग अधिकाधिक सीमित करने की दृष्टि से इनके उत्पादन पर ऊँची दरों से कर लगाये जाने चाहिए ताकि यह वस्तुएँ बहुत महँगी हो जायें और इनका प्रयोग तथा उत्पादन कम-से-कम हो।

सामान्य बिक्री-कर—राज्यों के पुनर्गठन से पूर्व अनेक देशी राज्यों ने अपने क्षेत्र में आने वाले माल पर सीमाशुल्क (Custom duty) लगा रखा था जिससे इन राज्यों को पर्याप्त आय प्राप्त हो रही थी। भारतीय संविधान लागू होने पर अन्तरराज्यीय सीमा-शुल्क हटाना अनिवार्य हो गया जिससे इन राज्यों की आय को बहुत धक्का लगा। अतः आय की एक नयी रीति निकाली गयी जिसके अनुसार विभिन्न उपभोक्ता वस्तुओं पर बिक्री-कर लगाया गया। क्रमशः प्रत्येक राज्य में बिक्री-कर की दरें तथा उससे प्रभावित वस्तुओं की संख्या बढ़ती गयी, फलतः बिक्री-कर से प्राप्त आय भी बढ़ती गयी है। १९५१-५२ में राज्यों को सामान्य बिक्री-कर से केवल ५४ करोड़ रुपये की आय थी जो १९५५-५६ में ८० करोड़ रुपये, १९६०-६१ में १०१ करोड़ रुपये तथा १९६५-६६ में ३३९ करोड़ रुपये हो गयी। १९७०-७१ में बिक्री-कर से प्राप्त आय का अनुमान लगभग ६०० करोड़ रुपये है। इस प्रकार भारतीय राज्यों की आय का सबसे महत्त्वपूर्ण साधन बिक्री-कर है। इस कर की वसूली पर भी सरकार को विशेष रकम व्यय नहीं करनी पड़ती क्योंकि इसकी वसूली माल के विक्रेता द्वारा कर ली जाती है और कर-भार ग्राहक पर डाल दिया जाता है।

मोटर तेल—इस पर प्रायः प्रत्येक राज्य में अलग बिक्री-कर लगाया जाता है और बजट में उसकी रकम को अलग से दिखाया जाता है। सड़क यातायात की उन्नति के साथ साथ मोटर तेल पर बिक्री-कर से प्राप्त आय भी निरन्तर बढ़ती रही है। इसका प्रमाण इस बात से मिलता है कि १९५१-५२ में इस कर से कुल ४.५ करोड़ रुपये की आय थी जबकि वह आय अब (१९७०-७१ के अनुमान के अनुसार) ५० करोड़ रुपये हो गयी है।

मोटरगाड़ी कर—प्रत्येक राज्य में चलने वाली मोटरगाड़ियों, बसों तथा ट्रकों पर कर लगाया जाता है। इस कर की वसूली प्रायः वार्षिक रूप में की जाती है। सड़कों पर चलने वाली गाड़ियों की संख्या में वृद्धि होने के कारण इस कर से प्राप्त आय (१९५१-५२ में) १० करोड़ रुपये से बढ़कर (१९७०-७१ में अनुमानित) १०० करोड़ रुपये हो गयी है।

मनोरंजन-कर—राज्य सरकारों द्वारा अपने क्षेत्रों में संचालित सिनेमा चित्रों, थियेटरों के नाटकों तथा अन्य प्रदर्शनों पर प्रायः कर लगाये जाते हैं। यह कर मनोरंजन-कर के नाम से होते हैं और प्रायः टिकट के साथ वसूल कर लिये जाते हैं। गत वर्षों में सिनेमा का अत्यधिक प्रचार बढ़ने के कारण राज्य सरकारों की मनोरंजन-कर से प्राप्त आय में निरन्तर वृद्धि हो रही है। प्रायः सभी राज्यों में मनोरंजन-कर की दरों में भी वृद्धि की गयी है। फलतः इस कर से प्राप्त आय की रकम जो १९५१-५२ में केवल ६ करोड़ रुपये के लगभग थी १९७०-७१ के अनुमान के अनुसार ३६ करोड़ रुपये तक पहुँच गयी है। मनोरंजन-कर एक लोचदार कर है क्योंकि सिनेमा का प्रचार बहुत बढ़ गया है और कर में तनिक-सी वृद्धि करने से सरकार की आय में आशातीत वृद्धि हो जाती है।

विद्युत कर—प्रायः सभी राज्यों में विद्युत मण्डलों (Electricity Board) द्वारा जनता को बिजली दी जाती है जिसका निश्चित दर पर प्रति इकाई (Unit) शुल्क लिया जाता है। इस

शुल्क की रकम तो राज्य सरकार को मिलती है परन्तु राज्य सरकार प्रति इकाई बिजली पर अधिभार लगा देती है जिसकी वसूली तो विद्युत मण्डल के बिल में ही हो जाती है परन्तु इसकी रकम वास्तव में राज्य सरकार को मिलती है। उदाहरणत जयपुर विद्युत मण्डल विद्युत उपभोक्ताओं से प्रति इकाई बिजली के उपभोग का शुल्क ४० पैसे लेता है। इसके अतिरिक्त ५ पैसे प्रति इकाई (Per unit) राज्य सरकार विद्युत-शुल्क (Electricity duty) के रूप में लेती है। विद्युत शक्ति का विकास एवं प्रचार निरन्तर बढ जाने से गत वर्षों मे राज्यो की विद्युत शुल्क से आय लगभग २० गुनी (१९५१-५२ मे ३ ४ करोड, १९७०-७१ में अनुमानत ६० करोड रुपये) हो गयी है।

अन्य कर एवं शुल्क—उपर्युक्त करो के अतिरिक्त कुछ कर ऐसे हैं जो विभिन्न राज्यों में स्थानीय परिस्थितियों के अनुसार लगाये जाते हैं। उदाहरणत उत्तर प्रदेश तथा बिहार में गन्ने पर अधिभार (Sugarcane cess) लगाया जाता है जो लगभग उत्पादन कर की भाँति ही है। प्राय. सभी राज्यों मे बस में यात्रा करने वाले यात्रियों को यात्री कर (Passenger tax) देना पडता है। इसके अतिरिक्त लाटरी तथा घुडदौड पर कर लगाये जाते हैं। उपर्युक्त करो के अतिरिक्त कच्चे पटसन पर कर, तम्बाकू पर कर तथा अन्यान्य करो का भी यथास्थान महत्त्व है।

(४) प्रशासनिक प्राप्तियाँ (Administrative Receipts)—राज्यों को प्रशासनिक कार्यों पर प्राय अत्यधिक रकम खर्च करनी पडती है किन्तु अनेक प्रशासनिक विभागो से फीस, शुल्क आदि के रूप में बहुत-सी आय भी प्राप्त होती है। उदाहरणत शिक्षा, चिकित्सा तथा जन स्वास्थ्य विभागों को फीस तथा शुल्क के रूप में काफी आय प्राप्त होती है। इन विभागो के विस्तार से सरकारी व्यय में तो वृद्धि हुई ही है किन्तु आय भी बढी है।

(५) राजकीय व्यवसाय से शुद्ध आय (Net Contribution of Public Enterprises)—राज्य सरकारें प्राय कुछ व्यावसायिक कार्यों का नियन्त्रण करती हैं जिनसे उन्हे प्रतिवर्ष कुछ महत्त्वपूर्ण रकम प्राप्त होती है। उदाहरणत वनो से प्राप्त लकडी, घास, फलफूल, अनेक प्रकार की जडी बूटियाँ, गोंद, गन्दा बिरोजा, तारपीन का तेल आदि सरकार की आय के महत्त्वपूर्ण साधन हैं। इसके अतिरिक्त सिंचाई के लिए जो जल किसानो को उपलब्ध कराया जाता है उसका शुल्क वसूल किया जाता है। विद्युत योजनाओं से भी सरकार को आय प्राप्त होती है तथा जल एवं स्थल यातायात पर करो से भी कुछ रकम वसूल होती है। कुछ राज्य सरकारो ने कुछ औद्योगिक इकाइयाँ भी स्थापित कर दी हैं जैसे उत्तर प्रदेश सरकार द्वारा चुर्क मे स्थापित सीमेण्ट का कारखाना अथवा मध्य प्रदेश सरकार द्वारा नेपानगर मे स्थापित अखबारी कागज की मिल। इस प्रकार की व्यावसायिक इकाइयों से भी कुछ वार्षिक लाभ उपलब्ध होता है। प्रस्तुत मदो की आय के सम्बन्ध मे विशेष उल्लेखनीय तथ्य यह है कि इन विभागो की आय मे से भी विभागीय-व्यय निकाल दिये जाते हैं और जो शुद्ध आय (अथवा लाभ) बच जाती है वह सरकार को हस्तान्तरित हो जाती है। योजनाकाल मे इस मद से प्राप्त आय भी तिगुनी (१९५१-५२ मे लगभग २५ करोड रुपये से १९७०-७१ मे अनुमानित लगभग १०८ करोड रुपये) से अधिक हो गयी है।

(६) अन्य राजस्व (Other Revenue)—राज्य सरकारें प्राय अपने क्षेत्र मे स्थित व्यावसायिक संस्थाओं को ऋण देती रहती हैं। उन पर प्राप्त ब्याज तथा सामान्य फुटकर प्राप्तियाँ इस मद में सम्मिलित हैं। गत वर्षों मे राज्यो द्वारा दिये गये ऋणों की मात्रा में आशातीत वृद्धि हुई है जिसके फलस्वरूप सरकार को इस मद से प्राप्त आय में भी विशेष प्रगति हुई है। १९५१-५२ में इस मद में कुल २७ करोड रुपये की रकम जमा हुई जबकि १९७०-७१ मे उसकी राशि ५७ करोड रुपये हो गयी थी।

(७) सहायता अनुदान (Grants in-Aid)—राज्य सरकारो को केन्द्रीय सरकार से जो सहायता अनुदान मिलते हैं वह इस मद में दिखाये जाते हैं। एक विकासशील अर्थ-व्यवस्था में राज्यों को प्राय इस प्रकार की सहायता की अधिकाधिक आवश्यकता होती है। इसका प्रमाण इस

तथ्य से मिलता है कि १९५१-५२ म राज्य सरकारो की सहायता अनुदानो से कुल प्राप्ति केवल २५ करोड रुपये के तुल्य थी जो बढकर १९६५-६६ मे ३५४ करोड रुपये हो गयी। १९७० ७१ मे यह प्राप्ति ५३४ करोड रुपये निर्धारित की गयी है।

राज्य सरकारो के व्यय के मद—राज्य सरकारो के राजस्व खाते मे व्यय के मद निम्न-लिखित हैं

राज्य सरकारो का व्यय १९७०-७१

(करोड रुपयों मे)

	१९६९-७० (संशोधित)	१९७०-७१ (अनुमानित)
(क) विकास व्यय (योग)	१,३२०	१,३९९
१ शिक्षा	४५९	५०९
२. चिकित्सा आदि	२६७	२८६
३ कृषि, पशु चिकित्सा आदि	२०७	२१८
४ सिंचाई	३२	२८
५ ग्राम्य एव सामुदायिक विकास	४८	४९
६ नागरिक निर्माण	१६४	१५९
७ उद्योग	३२	३३
८ अन्य विकास कार्य	१११	११६
(ख) स्वायत्त सस्थाओ को अनुदान	३७६	३८३
(ग) अन्य व्यय (योग)	१,४०९	१,३५५
९ कर सग्रहण व्यय	१३५	१३९
१० ऋण सेवाएं ब्याज	३७४	३८९
११ नागरिक प्रशासन	४०९	४२०
१२ ऋण भुगतान	१८०	१८०
१३ अकाल सहायता	१५४	४९
१४ अन्य अ-विकास व्यय	१५७	१६८
कुल व्यय का योग	२,७२९	२,७५४

उपर्युक्त तालिका से स्पष्ट है कि गत वर्षों मे आय की भाँति राज्य सरकारो का व्यय भी तीव्र गति से बढता जा रहा है। व्यय के मुख्य मदो का सक्षिप्त विवेचन निम्नलिखित है

(क) विकास व्यय—इस शीर्षक के अन्तर्गत दिये गये सभी मद ऐसे है जो राज्यों की सामाजिक तथा आर्थिक उन्नति म सहायक होते है। उनमे सबसे महत्त्वपूर्ण मद शिक्षा है। गत वर्षों मे शिक्षा का प्रसार करने के लिए विद्यालयो, कॉलेजो तथा विश्वविद्यालयो की एक बाढ-सी आ गयी है। विश्वविद्यालयों को प्राय बडी बडी राशियाँ अनुदान म देनी पडती हैं परन्तु निजो उत्साह से स्थापित किय गय कालजो के भी कुल वार्षिक व्यय का लगभग ७०-८० या कहीं-कहीं ९० प्रतिशत तक सरकार अनुदान मे दे देती है। कई राज्यो मे प्राथमिक शिक्षा अनिवार्य हो गयी है, अत शिक्षा पर व्यय बढना स्वाभाविक है। वास्तव मे, एक शिक्षित राष्ट्र के बिना प्रजातन्त्र अथवा समाजवाद की कल्पना करना आत्मप्रवचना ही नही देश की जनता के साथ गहरा खिलवाड है, अत इस मद पर बढते हुए व्यय का स्वागत किया जाना चाहिए। १९५१-५२ मे शिक्षा पर सभी राज्य सरकारें मिलकर लगभग ६० करोड रुपया व्यय करती थी। १९६५-६६ मे यह व्यय ३७३ करोड रुपय और १९७०-७१ मे ५०९ करोड रुपये हो गया है।

दूसरा महत्त्वपूर्ण मद **चिकित्सा और जन-स्वास्थ्य है**। जन-जागृति का एक निश्चित परिणाम यह होना है कि शासन को कल्याणकारी प्रवृत्तियाँ अधिकाधिक अपनानी पडती हैं। फलतः राज्य सरकारो को नये-नये चिकित्सालय सुदूर गाँवो तक ले जाने पडे हैं। अनेक स्थानो पर जन-स्वास्थ्य के लिए चिकित्सा केन्द्र स्थापित किये गये हैं तथा गन्दे नालो और रोग-प्रसारक तत्वो का शमन करने के लिए प्रयत्न करना पडा है। इसके फलस्वरूप राज्य सरकारो का स्वास्थ्य एव चिकित्सा पर व्यय २६ करोड रुपय (१६५१-५२ मे) से बढकर (१६७०-७१ मे) २८६ करोड रुपया हो गया है।

कृषि विकास तथा **पशुपालन** ग्रामीण भारत की आर्थिक प्रगति के आधार-स्तम्भ हैं और इनके समुचित विकास के लिए साख या धन की व्यवस्था करना आवश्यक है जिसकी पूर्ति सहकारी सस्थाओ द्वारा करने का प्रयत्न किया जा रहा है। इन तीनो कार्यों पर राज्य सरकार का व्यय १६५१-५२ मे २६ करोड रुपये से बढकर १६७०-७१ मे लगभग २१८ करोड रुपये हो गया है।

सिंचाई की अधिकाधिक सुविधाएँ देश की कृषि व्यवस्था को सबल एव सशक्त बनाने के लिए आवश्यक हैं क्योंकि देश के अनेक भागो मे मानसून अत्यन्त अनियमित एव अनिश्चित है जिसके कारण फसलो मे अनिश्चितता रहती है। इसी दृष्टि से सभी राज्यो मे नयी-नयी नहरें, कुएँ नलकूप तथा तालाब आदि निर्मित किये जा रहे हैं। सिंचाई की सुविधाएँ उपलब्ध कराने के लिए राज्य सरकारें जो ऋण लेती हैं उसके ब्याज की रकम इसी मद मे दिखायी जाती है। कृषि की बढती हुई माँग के कारण ही योजनाकाल मे सिंचाई पर व्यय की राशि १८ करोड रुपये से बढकर २८ करोड रुपये हो गयी है।

प्रथम योजनाकाल मे ही ग्रामो के सर्वांगीण विकास के लिए **सामुदायिक विकास योजनाएँ** आरम्भ की गयी थी जिनमे ग्रामो की सफाई एव स्वच्छता स लेकर शिक्षा, कृषि तथा औद्योगिक विकास के कार्यक्रम तक सम्मिलित हैं। इन योजनाओ पर जनता द्वारा निश्चित योगदान के साथ-साथ ही सरकार धन खर्च करती है। सामुदायिक विकास पर राज्य सरकारो का वार्षिक व्यय लगभग ४६ करोड रुपये होता है।

नागरिक निर्माण के अन्तर्गत प्राय सडकें, सरकारी भवन तथा उनकी नियमित मरम्मत का खर्च सम्मिलित है। इस मद का व्यय भी योजनाकाल मे ४१ करोड रुपये वार्षिक से बढकर १५६ करोड रुपये वार्षिक हो गया है।

राज्य सरकारें अपन शासन क्षेत्र मे कुछ **उद्योग** भी स्थापित करने लगी हैं तथा अनेक आवश्यक वस्तुएँ, जैसे सीमेण्ट, चीनी, अनाज आदि के यथोचित वितरण की व्यवस्था भी करती हैं। इसके अतिरिक्त कुछ लघु एव विकासशील उद्योगो को यथावश्यक अनुदान भी देती हैं। १६७०-७१ मे इस मद पर लगभग ३३ करोड रुपये व्यय होने का अनुमान है।

उपर्युक्त मदो के अतिरिक्त वैज्ञानिक विभागो तथा बन्दरगाहो एव अनेक विभागो पर व्यय बढ गया है। इस व्यय की रकम विविध शीर्षक के अन्तर्गत दिखायी जाती है। १६६८ ६६ मे इनकी सम्भावित व्यय-राशि लगभग ११६ करोड रुपये थी।

(ख) विकास के अतिरिक्त कार्यों पर व्यय (Non-Develpoment Expenditure)—इस शीर्षक के अन्तर्गत **सर्वाधिक व्यय ऋण सेवाओं** पर हो रहा है। राज्य सरकारें अनेक प्रकार के नियमित एव असाधारण कार्यों के लिए ऋण लेती हैं जिन पर उन्हे जनता तथा सरकार को ब्याज चुकाना पडता है। योजनाकाल (१६५१ ५२ से १६७०-७१) मे ही इस व्यय की रकम ६ करोड रुपये से बढकर लगभग ३८६ करोड रुपय तक पहुँच गयी है।

विकासेत्तर व्यय मे दूसरा स्थान प्रशासनिक व्यय का है। केन्द्रीय सरकार की भाँति राज्य सरकारो के प्रशासन मे भी अनेकानक नये विभागो की स्थापना तथा पुराने विभागो का विस्तार किया गया है। न्याय, पुलिस, सचिवालय आदि पर भी व्यय की मात्रा बढी है। फलत इस मद

का व्यय (१९५१-५२ मे) १०७ करोड रुपये से बढकर (१९७०-७१ मे अनुमानत) ४२० करोड रुपये हो गया है।

राज्य सरकारो को विविध करो की वसूली पर भी प्रति वर्ष पर्याप्त व्यय करना पडता है। करो की विविधता एव जटिलता के कारण इस मद का व्यय योजनाकाल में लगभग छह गुना (२६ करोड रुपये से १४६ करोड रुपये) हो गया है।

देश के विभिन्न राज्यो में से कुछ ऐसे हैं जिन पर अकाल की दूषित छाया प्राय मंडराती रहती है। राजस्थान, बिहार, उडीसा, असम तथा पश्चिमी उत्तर प्रदेश एव दक्षिण भारत के कुछ भागों मे अकाल का प्राय नियमित प्रकोप दृष्टिगोचर होता है। इस मद का व्यय प्रकृति के प्रकोप की सीमा पर निर्भर करता है।

उपर्युक्त मदो के अतिरिक्त राज्य सरकारो को सेवामुक्त कर्मचारियो की पेंशन, कार्यालय व्यय (कागज, पेंसिल, स्याही, छपाई) आदि पर भी पर्याप्त रकम खर्च करनी पडती है। इस व्यय की मात्रा १६८ करोड रुपये वार्षिक तक पहुँच गयी है।

राज्यों के पूंजी बजट
(CAPITAL BUDGETS OF THE STATES)

राज्यों का पूंजी बजट भी केन्द्रीय बजट की भाँति ही है। इसमे विनियोग के लिए विविध साधनो से रकमे प्राप्त की जाती हैं। प्राप्तियो के मुख्य साधन केन्द्र से ऋण, देश मे स्थापित विभिन्न निगमों से प्राप्त ऋण तथा जनता से प्राप्त ऋण सम्मिलित होते हैं। भुगतानो के अन्तर्गत विभिन्न योजनाओ के अन्तर्गत विनियोग की जाने वाली राशियाँ तथा ऋणों के भुगतान की रकमे सम्मिलित हैं।

राज्यों का पूंजी बजट

(करोड रुपयो मे)

	१९५१-५२ (वास्तविक)	१९७०-७१ (अनुमानित)
प्राप्तियाँ		
१. स्थायी ऋण	१२	१६०
२ केन्द्र से ऋण	७४	७५२
३ अन्य ऋण	—	६०
४ आकस्मिक एव तरल ऋण	३	४३
५ दिये हुए ऋणो की वसूली	२४	२१०
६ विविध	१२	२१६
कुल प्राप्तियाँ	१२५	१,४४१
भुगतान		
७ विकास व्यय	१००	५६०
८ राजकीय व्यवसाय	२५	—३
९. ऋण भुगतान	६२	७१६
१० राज्यो द्वारा ऋण	—	३८१
११ विविध	२	६
कुल	१८९	१,६६३

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि राज्यो के पूंजी आगम (प्राप्तियो) मे ऋण तथा ऋणो की वसूली मे प्राप्त की गयी रकम बहुत महत्वपूर्ण है। भुगतान के मद मे विकास व्यय के अन्तर्गत नदी घाटी योजना, सिंचाई तथा नौकानयन, कृषि विकास एव शोध, विद्युत योजनाएँ सडक

परिवहन, भवन निर्माण तथा औद्योगिक विकास पर पूंजीगत व्यय की रकमें सम्मिलित हैं। अन्य मदो में राज्यो द्वारा सचालित उद्योगो मे विनियोग, जमीदारी प्रथा के अन्त के फलस्वरूप दिये गये क्षतिपूर्ति सम्बन्धी भुगतान तथा केन्द्र एव जनता से लिये गये ऋणो के भुगतान की राशियां सम्मिलित हैं। राजस्व बजट की भांति राज्यो के पूंजी बजट मे भी निरन्तर वृद्धि हो रही है और योजनाकाल के फलस्वरूप उत्पन्न विकास सम्बन्धी दायित्वो के कारण पूंजीगत व्यय निरन्तर बढ़ रहा है।

कुछ चुने हुए राज्यों के बजट १९७०-७१

(करोड़ रुपयो मे)

	बिहार	मध्य प्रदेश	पजाब	राजस्थान	उत्तर प्रदेश
आय					
१ भूमि पर लगान	९	८	२	९	१८
२. सम्पत्ति पर कर	९	६	८	३	१३
३. वस्तुओ पर बिक्री कर	४२	३८	३०	२८	५५
४. राज्य उत्पादन शुल्क	१२	१४	२२	८	२६
५. केन्द्र से अशदान	७८	५२	१७	२९	११९
६ प्रशासनिक प्राप्तियां	८	७	६	८	१६
७ वन	२	१८	—	—	१२
८. ब्याज	१०	१४	१०	१०	२५
९. खानें	७	३	—	२	—
१०. केन्द्र से अनुदान	१४	३२	१२	४५	६०
११. अन्य	८	२०	२९	१५	४६
योग	२१९	२१२	१३६	१५७	३९०
व्यय					
१. विकास व्यय	७९	१२४	६७	७४	१४४
२. ऋण पर ब्याज	३५	२६	१५	३१	४६
३ नागरिक प्रशासन	२६	२६	१५	१८	५०
४ स्वायत्त सस्थाओ को अनुदान	३२	६	१	१५	४२
५ ऋण चुकाने के लिए व्यवस्था	३३	३	६	३	२४
६. विविध	१५	१९	१२	३५	२६
योग	२२०	२०४	११६	१७६	३४२

राज्य वित्त की विशेषताएं (Characteristics of State Finance)—ऊपर दिये गये आंकड़ों से राज्य सरकारों के वित्त की निम्नलिखित विशेषताएँ प्रकट होती हैं :

(१) राज्य सरकारों की आय का सबसे महत्वपूर्ण स्रोत वस्तुओं तथा सेवाओं पर कर अर्थात अप्रत्यक्ष बिक्री-कर है। इसके पश्चात सहायता अनुदानो तथा भूमि पर लगान (जो सम्पत्ति कर मे सम्मिलित है) का नम्बर आता है।

(२) राज्य सरकारो की आय का ५० प्रतिशत अथवा अधिक विकास कार्यों अर्थात शिक्षा, स्वास्थ्य, कृषि विकास, सिंचाई, नागरिक निर्माण, विद्युत योजना तथा उद्योगों पर व्यय किया जाता है। शेष ५० प्रतिशत मे से लगभग २० प्रतिशत ऋणों का ब्याज चुकाने में तथा लगभग १०-१५ प्रतिशत नागरिक प्रशासन पर व्यय हो जाता है।

(३) राज्य सरकारों के पूंजी बजट मे अधिकांश प्राप्तियां सरकार तथा जनता से प्राप्त ऋणो द्वारा होती हैं।

(४) राज्यों सरकारों के पूंजीगत व्यय का अधिकांश भाग विकास कार्यों तथा पुराने ऋणों का भुगतान करने में किया जाता है।

राज्य वित्त की आधुनिक प्रवृत्तियाँ—योजनाकाल में राज्य सरकारों के वित्त में निम्न प्रवृत्तियाँ विशेष रूप में प्रकट होनी हैं

(१) आय तथा व्यय में वृद्धि—इस अध्याय में अन्यत्र दिये गये अंकों से स्पष्ट है कि गत वर्षों से राज्यों की आय तथा व्यय में निरन्तर वृद्धि होती जा रही है। १९५१-५२ में भारत के सभी राज्यों की राजस्व आय केवल ३९६ करोड़ रुपये के तुल्य थी। १९५५-५६ में यह ५५४ करोड़ रुपये, १९६०-६१ में १,०१२ करोड़ रुपये तथा १९७०-७१ में ३,१५४ करोड़ रुपये हो गयी है। इस प्रकार आय लगभग आठ गुनी हो गयी है। व्यय भी लगभग इतना ही बढ़ गया है। इस वृद्धि के कारण निम्नलिखित हैं।

(i) योजनाओं के अन्तर्गत विकास कार्यक्रमों में वृद्धि हो गयी है।

(ii) मुद्रा-स्फीति के कारण कर्मचारियों के वेतन तथा वस्तुओं के मूल्य बढ़ जाने से सरकारी व्यय बढ़ गया है।

(iii) सरकारों द्वारा अनेक नये पुराने क्षेत्रों में नये विभाग स्थापित किये गये हैं जिन पर अधिक रकम खर्च करनी पड़ रही है।

(२) केन्द्र पर अधिक निर्भरता—प्रजातन्त्र का एक उल्लेखनीय दोष यह है कि सरकार जनता के लिए अहितकर कार्य नहीं करना चाहती। प्रत्येक नया कर जनता के लिए अहितकर होता है अतः राज्य सरकारें विकास के लिए आवश्यक रकम करों द्वारा प्राप्त करने में असफल रही हैं। फलतः उनकी केन्द्रीय सरकार पर निर्भरता निरन्तर बढ़ती जा रही है। अभी तक नियुक्त सभी वित्त आयोगों ने केन्द्रीय सरकार द्वारा राज्यों को दिये गये कर-भाग तथा अनुदानों में निरन्तर वृद्धि करने की सिफारिश की है और केन्द्र ने उन्हें सहर्ष स्वीकार किया है।

राज्यों की केन्द्र पर निर्भरता का अनुमान निम्न आँकड़ों से हो सकता है

केन्द्रीय सरकार द्वारा राज्यों को धन हस्तान्तरण

(करोड़ रुपये में)

	१९५०-५१	१९७१-७२ (अनुमानित)
१ राज्यों का कर-भाग	५०	८५०
२ राज्यों का अनुदान	१६	७३६
३ राज्यों को ऋण	६१	२८२
योग	१२७	१,८६८

इस प्रकार राज्यों की केन्द्र पर निर्भरता लगभग १५ गुनी हो गयी है। इसका कारण यह है कि राज्यों का विकास एवं प्रशासनिक दायित्व निरन्तर बढ़ता जा रहा है जिसे नियमित वित्तीय साधनों से पूरा करना अत्यन्त कठिन है।

(३) करों में वृद्धि—राज्यों के दायित्व बढ़ने के कारण स्वभावतः सभी सरकारों द्वारा पुराने करों की दरों में वृद्धि तथा नये करों का आरोपण किया गया है।

(४) सामाजिक सेवाओं पर अधिक व्यय—देश में समाजवादी समाज स्थापित करने का व्रत लेने के कारण सभी राज्यों को केन्द्र की भाँति सामाजिक सेवाओं पर अधिकाधिक व्यय करना पड़ रहा है। आगामी वर्षों में भी इस मद में व्यय बढ़ने की आशा है।

(५) केन्द्र तथा राज्यों में सहयोग वृद्धि—प्रायः सभी राज्यों तथा केन्द्र में एक ही दल की सत्ता बनी रहने के कारण तथा केन्द्र का प्रादेशिक राजनीति एवं प्रशासन में हस्तक्षेप बढ़ जाने के फलस्वरूप केन्द्र तथा राज्यों की वित्त नीतियों में सहयोग निरन्तर बढ़ रहा है। यह एक शुभ लक्षण है किन्तु इसका एक कारण राज्यों की केन्द्र पर बढ़ती हुई निर्भरता भी है।